KALYAN

FEB-DEC 1972 — G.K.U.

कल्याण
स्वामी

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, फरवरी १९७२

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

दशरथके मूर्तिमान् भागधेय

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र, ३१

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर फाल्गुन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, फरवरी १९७२ { संख्या २
पूर्ण संख्या ५४३

मन-मंदिरमें बिहरैं

तन की दुति स्याम सरोरुह, लोचन कंज की मंजुलताई हरैं ।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं ॥
दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यौं, किलकैं कल बालविनोद करैं ।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी-मन-मंदिर में बिहरैं ॥

(कवितावली, बाल० ३)

महर्षि वसिष्ठकृत श्रीरामस्तवन

वसिष्ठ उवाच

त्वत्पादसलिलं धृत्वा धन्योऽभूद् गिरिजापतिः। ब्रह्मापि मत्पिता ते हि पादतीर्थहताशुभः॥
इदानीं भाषसे यत्त्वं लोकानामुपदेशकृत्। जानामि त्वां परात्मानं लक्ष्म्या संजातमीश्वरम्॥
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं भक्तानां भक्तिसिद्धये। रावणस्य वधार्थाय जातं जानामि राघव॥
तथापि देवकार्यार्थं गुह्यं नोद्घाटयाम्यहम्। यथा त्वं मायया सर्वं करोपि रघुनन्दन॥
तथैवानुविधास्येऽहं शिष्यस्त्वं गुरुरप्यहम्। गुरुर्गुरूणां त्वं देव पितॄणां त्वं पितामहः॥
अन्तर्यामी जगद्यात्रावाहकस्त्वमगोचरः। शुद्धसत्त्वमयं देहं धृत्वा स्वाधीनसम्भवम्॥
मनुष्य इव लोकेऽस्मिन् भासि त्वं योगमायया। पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्यं दूष्यजीवनम्॥
इक्ष्वाकूणां कुले रामः परमात्मा जनिष्यते। इति ज्ञातं मया पूर्वं ब्रह्मणा कथितं पुरा॥
ततोऽहमाशया राम तव सम्बन्धकाङ्क्षया। अकार्षं गर्हितमपि तवाचार्यत्वसिद्धये॥
ततो मनोरथो मेऽद्य फलितो रघुनन्दन। त्वदधीना महामाया सर्वलोकैकमोहिनी॥
मां यथा मोहयेन्नैव तथा कुरु रघूद्वह। गुरुनिष्कृतिकामस्त्वं यदि देह्येतदेव मे॥

(अध्यात्मरामायण, अयोध्या० २। २२–३२)

वसिष्ठजी कहते हैं—हे राम! आपके पादोदकको मस्तकपर धारणकर पार्वतीवल्लभ भगवान् शंकर धन्य-धन्य हो गये तथा मेरे पिता ब्रह्माजी भी आपके पादतीर्थका सेवन करनेसे ही निष्पाप हो गये हैं। इस समय केवल संसारको यह उपदेश करनेके लिये कि 'गुरुके साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये', आप इस प्रकार सम्भाषण कर रहे हैं। मैं भली प्रकार जानता हूँ, आप लक्ष्मीके सहित प्रकट हुए साक्षात् परमात्मा विष्णु हैं। हे राघव! मैं जानता हूँ कि आपने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये, भक्तोंकी भक्ति सफल करनेके लिये और रावणका वध करनेके लिये ही अवतार लिया है, तथापि देवताओंकी कार्य-सिद्धिके लिये मैं इस गुप्त रहस्यको प्रकट नहीं करता। हे रघुनन्दन! जिस प्रकार मायाके आश्रयसे आप सब कार्य करेंगे, उसी प्रकार मैं भी तुम शिष्य हो और मैं गुरु हूँ'—इस सम्बन्धके अनुकूल व्यवहार करूँगा। किंतु हे देव! वास्तवमें तो आप ही गुरुओंके गुरु और पितृगणोंके पितामह हैं। आप अन्तर्यामी, जगद्व्यवहारके प्रवर्त्तक और मन-वाणीके अविषय हैं तथा स्वेच्छासे यह शुद्ध सत्त्वमय शरीर धारणकर इस लोकमें अपनी योगमायासे मनुष्यके समान प्रतीत होते हैं। मैं यह जानता हूँ कि पुरोहिताई अति निन्दनीय और दूषित जीविका है; तो भी जब पूर्वकालमें ब्रह्माजीके कहनेसे मुझे यह मालूम हुआ कि 'इक्ष्वाकुवंशमें परमात्मा राम अवतार लेंगे।' तब हे राम! आपसे सम्बन्ध जोड़नेकी इच्छासे आपका आचार्य बननेके लिये इस निन्दनीय पदको भी मैंने स्वीकार कर लिया। हे रघुनन्दन! आज मेरी इच्छा पूर्ण हो गयी। अब यदि गुरु-ऋणसे उऋण होना चाहते हैं तो मुझे यही दीजिये कि 'आपके अधीन रहनेवाली आपकी सर्वलोकविमोहिनी महामाया मुझे मोहित न करे।'

'रामो विग्रहवान् धर्मः'

(लेखक—श्री एन० कनकराज अय्यर, एम० ए०)

ऋषि वाल्मीकिको श्रीरामचन्द्रजीको केवल 'धर्मविग्रह' कहनेसे संतोष नहीं है। इसलिये काव्यमयी भाषामें वे उनका निज मनोगत चित्र इस पदावलीमें उतारते हैं—'विग्रहवान् धर्म श्रीराम'—जो मानवीय चरित्रकी पवित्रतम मूर्ति थे और जिन सर्वशक्तिमान्ने भक्ति एवं निःस्वार्थ भगवत्सेवा-के अवतार श्रीआञ्जनेयको गूढ़ भाषामें हमारे उच्चतम दार्शनिक ज्ञानका सार बतानेकी कृपा की।

भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश श्रीगीता एक स्मृति-मात्र है, श्रुति नहीं; किंतु 'रामतापिनी उपनिषद्' एक श्रुति है और उपनिषदोंके बीच इसको यथोचित स्थान प्राप्त है। श्रीकृष्णने अर्जुनको अपना शिष्य मानकर उसे समस्त मानव-जातिके प्रतीकके स्थानपर स्थापित किया, श्रीरामने मानवताके प्रति अपने उदात्त संदेशामृतको भरनेके लिये हनुमान्के पवित्र हृदयको चुना। यही कर्म उनका महत्तम धर्मोपदेश है। उन्होंने केवल धर्ममय जीवन ही नहीं व्यतीत किया, धर्मका अनुभव ही नहीं किया, वरं धर्मके तत्त्वका प्रतिपादन भी किसी ऐसे-वैसेके सामने न करके धर्मवीर श्रीआञ्जनेयके प्रति किया। इस छोटे-से उपनिषद्में वह सारा दार्शनिक तत्त्व भरा है, जो ऋषियोंके मुँहसे महत्तम, गम्भीरतम तथा गूढ़तम उपनिषदोंमें अभिव्यक्त हुआ है।

श्रीरामके धर्म-विग्रहका यह एक रूप है। उनकी धर्म-मूर्तिका एक दूसरा तथा मानवीय रूप भी है। वाल्मीकि एक गम्भीर विद्वान्, गम्भीरतर भक्त तथा गम्भीरतम दार्शनिक हैं। उन्होंने राम-विग्रहको अपनी लेखनीरूपी तूलिकासे चित्रितकर हम-जैसे आत्माके दरिद्र जीवोंको उन महान् मानव अवतारके सर्वोत्तम रूपको दिखानेकी चेष्टा की है। श्रीराम स्वयं स्वीकार करते हैं कि अपनी त्रुटियोंको लिये-दिये वे केवल एक मनुष्य हैं। रामायणके श्रीरामचन्द्रजी नायक हैं। उस विशाल नाटकके कई भागोंमें उनको अभिनय करना पड़ता है। शैशवसे लेकर जबतक वे इस संसारसे विदा नहीं हो जाते, उनका धर्ममूर्तिस्वरूप ही सामने आता है।

अपने राज्यमें प्रजाजनके प्रति उनके प्रेमका गान राम-कथाके कवियोंने सुन्दर ढंगसे किया है। बचपनमें सब प्रकार-के लोगोंके साथ वे स्वच्छन्दतापूर्वक विचरते थे। किसी भी बहानेसे अपने पास आनेवाले सभी व्यक्तियोंसे वे स्वयं ही उनका कुशल-क्षेम पूछते थे। प्रजा कहती थी—'कुमार! आपको अपने स्वामीके रूपमें पाकर हमलोग धन्य हो गये हैं, वर्तमान अथवा भविष्यकी सारी चिन्ता-व्याकुलतासे हम मुक्त हो गये हैं। हमारा भूत आपके पिताके कल्याणप्रद शासनसे धन्य बना था।'

कहा जाता है कि कैकेयीकी कुबड़ी दासी मन्थराके मनमें पवित्रात्मा, सरल-हृदय बालक रामके प्रति कुछ खोट थी। इस दासीको कैकेयी अपने पिताके घरसे लायी थी। कैकेयी सतीत्व तथा रामके प्रति पवित्रानुरागकी मूर्ति थी। अपने पेटसे जनमाये भरतकी अपेक्षा रामके प्रति उसके मनमें अधिक स्नेह है। किंतु कुबड़ी उसकी मति फेर देती है।

भगवान्की उक्ति है—'**धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।**' (गीता ४।८) वसुधापर धर्मकी नींव दृढ़ करनेके लिये उन्हें प्रत्येक उपायका अवलम्बन ग्रहण करना पड़ता है। इस अवतारमें उनके उद्देश्यकी पूर्तिके लिये मन्थराको एक यथार्थ यन्त्र बनना पड़ता है। भगवान् रामका अवतार हुआ था रावण तथा उसके अनुयायियोंको दण्ड देनेके लिये एवं उसके अत्याचारसे साधुजनोंकी रक्षा करनेके लिये। वनवासके द्वारा ही उनके उद्देश्यकी पूर्ति हो सकती थी। अतः अदृष्ट-प्रेरित मन्थरा रानी कैकेयीको उकसाती है और उसके द्वारा उकसायी गयी कैकेयी राजा दशरथसे राम-वनवासका वरदान माँगती है।

पितृवाक्य-परिपालन रामका सर्वप्रथम धर्म था, जिसके लिये उन्होंने वनवास स्वीकार किया। सीता और लक्ष्मण उनके अनुगामी हुए। वनमें बड़े-बड़े महात्माओंने श्रीरामका स्वागत किया; उनके सामने लङ्काधिपति रावणके खर, दूषण और त्रिशिरा नामक मुखियोंके अधीनस्थ राक्षसदलद्वारा अपने संतापित होनेका दुखड़ा रोया। श्रीरामने उनकी प्रार्थना सुनी और उसी समय राक्षसोंका नाश करके सात्त्विक जनसमाज एवं तापस-परम्पराकी रक्षा करनेका वचन दिया। लक्ष्मण पास ही खड़े थे। प्रभु, स्वामी एवं अग्रजके निश्चयके पक्ष अथवा विपक्षमें उनको कुछ नहीं कहना था।

किंतु श्रीसीताजीके मनमें एक भारी संदेह उठा, जिसका निराकरण राम ही कर सकते थे। रामके द्वारा ऋषियोंको

दिये हुए वचनोंपर सोच-विचार करके वे बोलीं—'धर्मात्मन् ! इन वनवासियोंके हल्के उपालम्भके थोड़े-से शब्दोंको सुनकर आपके लिये सम्पूर्णजातिका संहार करनेका व्रत ले लेना क्या धर्मसंगत है ? स्वामिन् ! क्या आप जानते हैं कि राक्षसोंने वास्तवमें इन लोगोंका अहित किया है ? यदि उन्होंने मुनियोंका अहित किया भी है तो बिना उनकी बात सुने उन्हें मारनेका आपको क्या अधिकार है ? क्या मैं आपसे यह बतानेके लिये प्रार्थना कर सकती हूँ कि आपके हृदयमें उन लोगोंने कौन-सी पीड़ा पहुँचायी है, जिसके कारण आप इस धर्म-विरुद्ध युद्धमें प्रवृत्त होने जा रहे हैं ?'

श्रीराम सीताजीके तर्कको सुनकर थोड़ी देर चुप रहे। फिर मधुर एवं युक्तियुक्त शब्दोंमें उत्तर देते हुए बोले—'प्रिये सीते ! तुमने अपनी शङ्का स्पष्ट शब्दोंमें मेरे सामने रख दी। अपने पिताके सत्यधर्मकी रक्षा करनेकेलिये मैंने वनवासका वरण किया है। इस अवतारमें मेरा मुख्य धर्म है, दुष्ट-निग्रह। शिष्ट-परिपालन तो उसका सहज अनुगामी है। ऋषियोंने अपनी समस्त सात्त्विक शक्तियोंसे समवेत होकर अपनी कहानी कही थी। राक्षसोंने यहाँ महात्माओंका वध किया है। इधर-उधर अस्थि-शैल दृष्टिगोचर हो रहे हैं। साधुओंपर राक्षसोंद्वारा किये गये अत्याचारके ये मूर्तिमान् प्रमाण हैं। दुर्बल तथा पीड़ित व्यक्तियोंकी सहायता करना ही मेरे जीवनका प्रथम एवं प्रधान कर्तव्य है। खर-दूषणके राक्षस-दलद्वारा ऋषिगण अपने असंख्य स्वजनोंसे हाथ धो बैठे हैं। ऋषियोंको इस समय आवश्यकता है एक त्राता, जीवन-रक्षक तथा न्याय एवं मानवताके सच्चे सेवककी। पद-दलितोंके हित-साधनके लिये ही मैं यहाँ आया हूँ। थोड़े भी सात्त्विक तथा तपस्वी आत्माओंकी रक्षा करनेके लिये तामसी जीवोंके समूचे समूहसे भिड़नेको तैयार हूँ। मेरे जीवनका सर्वप्रथम सिद्धान्त है—मानवताके प्रति अतुलित प्रेम एवं शरणागत-रक्षण। यदि मैं संसारमें अपने इस आदिकर्तव्यको ही भूल जाता हूँ तो मेरा अवतार लेना ही व्यर्थ हो जायगा। मैं किसी निरीह प्राणीके प्रति शर-संधान नहीं करूँगा। धर्म मेरा जीवन है। धर्म ही मेरी साँस है। धर्म ही मेरी सत्ताका प्रमुख विधान है।' यह सुनकर सीताजी आश्वस्त हो गयीं।

सीता-परिणयके पूर्व भी श्रीरामको एक धार्मिक प्रश्नसे उलझना पड़ा था। विश्वामित्र उनको अपने यज्ञरक्षकके रूपमें वनमें ले गये। सुबाहु और मारीच उस समय ऋषियोंका उत्पीड़न कर रहे थे। यज्ञारम्भके पूर्व ही रामको ताटकाके रूपमें एक राक्षसीसे टक्कर लेनी पड़ी। रूप और आकृतिसे स्त्री होनेपर भी उसके शरीरमें सहस्र हाथियोंका बल था तथा दस सहस्र वृकोंका क्रोध। वह रास्ता रोककर खड़ी हो गयी और रामको युद्धके लिये ललकारा। रामके मनको स्त्रीका वध करना स्वीकार नहीं था। तब विश्वामित्र रामके सम्मुख धर्मके रूपको प्रस्तुत करते हैं—'यह केवल रूप और आकृतिसे स्त्री है, वास्तवमें तो राक्षसी है। इस क्षेत्रमें कितने ही साधुजनोंका वध करके यह उन्हें उदरसात् कर गयी है। इसने अपनी अपहरण-प्रवणता, क्रूरता तथा बुभुक्षाके द्वारा एक बड़े उपजाऊ भू-भागको उजाड़ बना दिया है। इस राक्षसीको देखकर हम सभी थर-थर काँप रहे हैं। मैं कहता हूँ, इसे मारो। मैं तुम्हारा गुरु हूँ। यह मेरी अनन्य और अकाट्य इच्छा है कि तुम इसको लक्ष्य बनाकर चाप चढ़ाओ। यदि तुम मेरे वचनोंकी अवज्ञा करोगे तो धर्मसे च्युत होओगे।' यह है सच्चा सनातन-धर्म। श्रीरामने गुरुकी धर्ममूलक आज्ञाको सिर चढ़ाया और ताटकाका तुरंत वध कर दिया। गुरु-भक्ति एवं आज्ञापालनके इस महान् कृत्यसे धर्मकी रक्षा हुई।

कौसल्याने रामसे आग्रह किया कि वे वनको न जायँ; पर यदि उन्होंने वनवासका ही निश्चय कर लिया हो तो उनको भी साथ ले जायँ। धर्ममूर्ति राम माताको समझाते हैं कि जीवनकी उस बेलामें वे पतिकी सेवा करें तथा उन दुर्बल एवं जराग्रस्त पुरुषसे अलग होनेकी बात मनमें भी न लायें। उन्हींके शब्दोंमें भलीभाँति व्यक्त हुआ है, उनका धर्मरक्षण।

वनगमनके पश्चात् जब श्रीराम चित्रकूटमें निवास कर रहे थे, उन्हें लौटानेके लिये भरत चित्रकूट आये और, जैसा कि धर्मवीरको करना चाहिये, उनसे अयोध्या लौटकर राज्यशासनको सँभालनेके लिये प्रार्थना की। किंतु रामने अयोध्या वापस जाना अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने भरतसे कहा कि उन्हें बड़े भाईकी आज्ञा माननी चाहिये और उन्हें अयोध्या लौट जानेके लिये बाध्य किया। श्रीरामने यहाँ अपने वनवासका यथार्थ कारण व्यक्त किया है। उन्होंने कहा—हमारे पिता अब नहीं हैं, 'किंतु उनकी अन्तिम इच्छा यही थी कि मैं वनवासी बनूँ और तुम शासनकी बागडोर सँभालो।' भरतको यह व्यवस्था पसंद नहीं आयी। इसलिये उन्होंने श्रीरामपादुकाओंको ले जाकर सिंहासनपर

बैठा दिया। श्रीरामकी पादुकाओंने राजपदपर तथा राज्यपर आनेवाली सभी विपदाओंको अपास्त कर दिया। श्रीरामकी धार्मिक वृत्ति उनकी पादुकाओंमें संक्रमित हो गयी, जो तत्कालीन कोसलकी धार्मिक स्थितिकी रक्षा कर रही थी। यदि पादुकाओं-को श्रीरामसे यह महान् शक्ति न मिली होती तो संसारमें और कौन मानवताकी रक्षा करनेमें समर्थ था ? अयोध्या चौदह वर्षोंतक पादुकाओंके शासनमें रही। यह कहा जाता है कि उन चौदह वर्षोंमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष भी अयोध्यामें अपने पुनीततम रूपमें विराजमान रहे—स्वयं रामके शासनकालसे भी अधिक थी उनकी पावनता। इस प्रकार अयोध्याके समीप नन्दिग्राममें स्थापित श्रीरामकी पादुकाओंने राम-धर्मका यशोवर्द्धन किया।

शूर्पणखाके प्रसङ्गमें भी श्रीरामने अपना औचित्ययुक्त तथा संयमित रूप उपस्थित किया है। राक्षसीने उनसे सहवासकी याचना की; परंतु एकपत्नी-व्रती होनेके कारण उन्होंने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी। जब वह सीताजीको ही लेकर चम्पत होनेको उद्यत हुई, तब लक्ष्मणने उसको दण्ड दिया। श्रीरामने सदैव ही एकपत्नीव्रतके धर्मका दृढ़तापूर्वक निर्वाह किया।

खर-दूषणके साथ युद्धमें श्रीराम धर्मके प्रतिनिधिके रूपमें अकेले खड़े हुए। अधर्मके प्रत्येक कोनेमें,खड़ी राक्षसी—सेनाका उस धर्मवीरने अकेले सामना किया। धर्मकी एक सात्त्विक शक्ति अधर्मके चौदह सहस्र और तीनका अस्तित्व विलीन करनेमें समर्थ हुई। श्रीरामने सिद्ध कर दिया कि वे वास्तवमें 'धर्म-विग्रह' थे।

मारीच-प्रसङ्गमें सीताकी स्वर्ण-मृगविषयक तीव्र लालसाके कारण श्रीराम मारीचके पीछे गये। लक्ष्मणने स्पष्टरूपसे बता दिया था कि वह मृग प्राकृत मृग नहीं था। श्रीरामने लक्ष्मण-की इस बातपर ध्यान नहीं दिया, जिससे रावण-वधका मार्ग प्रशस्त हुआ। रावण संन्यासी-वेषमें श्रीरामकी पर्णशालापर उस समय आया, जब कि सीताजी वहाँ अकेली रह गयी थीं। मायामृगका वध करके श्रीराम आश्रमको लौट रहे थे। उन्हें छोड़कर श्रीरामके पास जानेके लिये सीताने लक्ष्मणको विवश कर दिया। इस प्रकार यहाँसे रामावतारके वास्तविक उद्देश्यका श्रीगणेश होता है।

मृत्युकी यन्त्रणामें पड़े हुए मारीचने तुमुल चीत्कार करते हुए पुकारा—'हा सीते ! हा लक्ष्मण ! सीताने इसको सुनकर रामके अकेलेपनपर उनको चिन्ता हुई और उन्होंने लक्ष्मणको उनके पीछे भेजा। यहाँ लक्ष्मणको सीतादेवीका आज्ञा-पालन करना ही था। यह जानते हुए भी कि क्या होने जा रहा है, उनको सीताको अकेले छोड़ना पड़ा। यह स्वयं भगवान्का विधान था।

रावण आश्रमसे सीताको हर ले गया। गृध्रराज जटायुने राक्षससे लोहा लिया और अपने जीवनको उत्सर्ग कर दिया। श्रीरामने जटायुके साथ अपने पिता दशरथके समान व्यवहार किया।

लङ्कामें विभीषण ही एकमात्र पवित्र व्यक्ति था। जब रस्सियोंसे बँधे हनुमान् रावणके दरबारमें उपस्थित किये गये, तब उनकी मुक्तिके लिये उसने ही अनुरोध किया। उसने ही अपने भाईसे प्रार्थना की कि वे सीताजीको रामको लौटाकर युद्धका अन्त कर दें। रावणने उनकी बात मानना तो दूर रहा, उन्हें अपमानपूर्वक देशसे निकाल दिया। युद्धकाण्डमें विभीषण-शरणागतिका प्रसङ्ग बड़ा ही पावन है। निर्वासित भाईने श्रीरामके सम्मुख करबद्ध उपस्थित होकर कहा—

> निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
> सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥
> (वा० रा० ६। १७। १७)

लक्ष्मण, सुग्रीव, जाम्बवान् तथा अङ्गदादि विभीषणको पुण्यमूर्ति भगवान्के सम्मुख ले जानेके पक्षमें नहीं थे, किंतु विभीषणके मन-प्राणको जाननेवाले आञ्जनेयने उसे श्रीरामकी सांनिध्य-सीमामें ले जानेकी प्रार्थना की। मनकी तुलापर श्रीरामने दोनों पक्षोंको तौला और शरणागतरक्षाके कई उदाहरण देकर अन्ततोगत्वा उसको अपने एक भाईके रूपमें स्वीकार करनेका, निश्चय किया। इस अवसरपर उनके विचारोंकी कम्बन् सुन्दर अभिव्यञ्जना करते हैं—'जब मैंने गुहको अपनी परिधिमें लिया, तब हम पाँच भाई हुए, जब मैंने सुग्रीवके साथ यह पवित्र सम्बन्ध अङ्गीकार किया, तब हम छः हुए, और अब जब पवित्र हृदय एवं पवित्रतर आत्मासे युक्त तुम हमारे पक्षमें आ गये हो, तब हम सात हो गये हैं। इस प्रकार हमारे पिता दशरथने हमें वनमें भेजकर अपने पुत्रोंकी संख्या बढ़ायी है।' लक्ष्मणने विभीषणको लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त किया।

विभीषण-शरणागतिने यह सिद्ध कर दिया कि श्रीराम सर्वश्रेष्ठ शरण्यमूर्ति हैं तथा शरणागतोंमें विभीषण सबसे अधिक [illegible] यहीं सर्वोच्च शिखरपर चढ़कर

देदीप्यमान होता है। श्रीरामकी साधुता और महानता उनसे कहलाती हैं—'यदि रावण इस बातके लिये तैयार हो जाय कि वह यहाँ आकर मुझसे कृपाकी भीख माँगे तो मैं उसे भी अपनी परिधिमें लेनेको प्रस्तुत हूँ।'

युद्धके पहले दिन ही रावणके सारे शस्त्रास्त्र नष्ट हो गये और वह रिक्त-हस्त खड़ा था। यह श्रीरामकी ही महानता थी कि उसे घर जानेकी अनुमति देकर दूसरे दिन फिर युद्धके लिये कटिबद्ध होकर आनेके लिये कहा। यह श्रीरामके धार्मिक मनका सच्चा चित्र प्रस्तुत करता है।

युद्धकी अन्तिम स्थितिमें रावण स्वयं श्रीरामकी महानताकी प्रशंसा करता है। मन्दोदरी भी श्रीरामके धर्ममय चरित्रकी प्रशंसा करती है। रावण तथा उसकी सेनाओंकी सारी शक्ति धर्ममूर्ति श्रीरामके हाथों पराजित होती है। युद्धके सभी क्षेत्रोंमें असाधुताके ऊपर साधुताकी विजय होती है। राम थे साधुताकी मूर्ति और रावण असाधुताकी।

रामधर्मके इस अध्ययनमें सीताजीका अग्नि-प्रवेश तथा रामका पट्टाभिषेक ऐसा प्रसङ्ग है, जिसे हम छोड़ नहीं सकते। सीता तो गुणोंकी खान थीं, पवित्रताकी प्रतिमा थीं। उनके हृदय-मन्दिरमें रामकी ही आलोकमयी मूर्ति विराजित थी। उन्हें विवश होकर रावणके कारावासमें एक वर्षतक घुलना पड़ा था। एक पवित्रतम चरित्रके अन्तर्गत ऐसा प्रसङ्ग कलङ्करूप है। श्रीरामने अग्नि-संस्कारके द्वारा उनका शुद्धीकरण करना चाहा। अतः उन्होंने लक्ष्मणको ईंधनकी एक विशाल राशि एकत्रित करके उसको प्रज्वलित करनेके लिये कहा। सीताने धधकती आगमें प्रवेश किया। देवताओं तथा अन्य जनोंने भी इस शोधन-संस्कारका दर्शन किया। दिव्यरूपमें पधारे हुए अपने पिताकी आज्ञासे श्रीरामने उनको अपनी पत्नीके रूपमें पुनः स्वीकार किया।

अयोध्या लौटते समय श्रीराम सुग्रीव एवं उनके अनुयायियों और इसी प्रकार विभीषण और उनके अनुयायियोंको भी अपने साथ ले जाते हैं। इस स्थलपर रामके नृपोचित कर्तव्योंका बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है।

पट्टाभिषिक्त राम अपने सब मित्रोंको उपहार प्रदान करते हैं। हनुमान्‌को एक विशेष उपहार मिलता है।

अपनी नर-लीलाके अवसानके समय श्रीराम सरयूजीमें प्रवेश करते हैं। मोक्षकी कामनावाले सभी लोगोंसे वे अपनेसे पहले सरयूमें अवगाहन करनेकी प्रार्थना करते हैं। प्रायः सभी प्राणी इस वरदानका लाभ उठाते हैं। श्रीरामने एक हनुमान्‌को अलग कर लिया कि इस संसारमें रहकर वे जगत्‌में रामधर्मकी सत्यताका प्रतिनिधित्व करें।

'श्रीराम जय राम, जय-जय राम!'

मिथिलाकी झाँकी

(रचयिता—पं० स्वामी श्रीअवधकिशोरदासजी 'प्रेमनिधि')

सरस श्रीमिथिला की झाँकी।
मन भावत मोहि जनक-लली की, भूमि चरन-रज-आँकी॥
बेद-पुरान, महेस-सेस नित बरनत महिमा जाकी।
निसि-दिन ध्यावत, प्रभु-गुन गावत सुभ, सारद मति थाकी॥
मंजुल भूमि सजल सर सोभित, सरिता मनहुँ सुधा की।
क्रीडत खग सीता रटि सुंदर, सदा प्रेम-रस-छाकी॥
जहँ-तहँ संत मगन मन सुमिरत मूरति राम-सिया की।
जहँ-तहँ बिपुल लगीं अमराईं, जो अवधी सुषमा की॥
सखि सीता कहुँ ललित नाम ध्वनि कूजत चिड़ी जहाँ की।
'प्रेमनिधी' प्रभु-प्रेम-भक्तिप्रद, चाहत रज मिथिला की॥

श्रीरामचरित्रमें नाट्यसौन्दर्य

(लेखक—डॉ० श्रीधर भास्कर वर्णेकर, एम्० ए०, डी० लिट्)

नाट्यका मुख्य प्रयोजन

नाट्यशास्त्रके प्रवर्तक श्रीभरतमुनिने नाटकका निम्नलिखित प्रयोजन बताया है—

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥
(१ । ११४)

इस वचनके अनुसार दुःखार्त, श्रमार्त और शोकार्त तपस्वियोंको विश्रान्तिसुख देना—यही नाट्यका मुख्य प्रयोजन भारतीय संस्कृतिने माना है । नाटकोंसे चतुर्विध पुरुषार्थोंका तथा विविध कलाओंका भी ज्ञान पाठकको हो सकता है, परंतु यह उसका मुख्य प्रयोजन नहीं हो सकता । पुरुषार्थों और कलाओंका ज्ञान इतिहास-पुराणादिके अध्ययनसे अच्छी तरह हो सकता है; परंतु दुःखार्त, श्रमार्त तथा शोकार्त सज्जनोंको ब्रह्मानन्दसहोदर आनन्दानुभव देनेकी सामर्थ्य केवल काव्यमें—और उसमें भी अधिक **'काव्येषु नाटकं रम्यम्'**—इस वचनानुसार नाटकमें प्रतीत होती है । अतः वही इसका मुख्य प्रयोजन है ।

नाट्यवाङ्मयकी जो अपनी निजी विशेषता है, उसीके कारण उसमें दुःखार्त, शोकार्त और श्रमार्त अन्तःकरणोंमें आनन्दका निर्झर निर्माण करनेकी सामर्थ्य आती है । नाटककी इसी अनोखी विशेषताके कारण अनादिकालसे सभी प्रकारका मानव-समूह नाट्यमन्दिरोंमें संकुलता उत्पन्न करता आ रहा है और आगे भी करता रहेगा ।

'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्'—यह कवि-कुलगुरु कालिदासका नाट्यविषयक प्रशंसोद्गार निरपवाद सत्य है । भिन्न-भिन्न रुचिकी जनताको एक साथ प्रसन्न—आनन्दित करनेकी नाटकोचित विशेषता श्रीरामचरित्रमें आद्योपान्त भरी हुई है । नाटकमें रसवत्ताका निर्माण करनेके लिये जिन तत्त्वोंकी आवश्यकता नाट्यशास्त्रमें मानी गयी है, वे सभी शास्त्रोक्त तत्त्व रामचरित्रमें अत्यधिक मात्रामें विद्यमान हैं । उन नाटकीय तत्त्वोंके कारण ही बालकसे वृद्धतक तथा अपढ़से महापण्डिततक—सभी प्रकारके मानवोंको रामचरित्र अनादिकालसे परम प्रिय होता आ रहा है और अनन्त कालतक परम प्रिय होता रहेगा । रामकथाका आनन्द शाश्वत और सनातन है और उस आनन्दमयताका रहस्य उसकी नाट्यात्मकतामें ही है । वह नाट्यात्मकता रामकथामें न होती तो केवल रामोपासकोंको ही रामकथामें आनन्द आता; परंतु नितान्त नास्तिकोंको भी रामकथा आनन्द देती है । प्रस्तुत लेखमें उस सर्वानन्द-दायक नाट्यतत्त्वकी दृष्टिसे रामकथाका चिन्तन कर्तव्य है ।

नाट्यशास्त्रमें नाट्य-वाङ्मयका वस्तु, नेता और रस—इन तीन तत्त्वोंमें विभाजन करते हुए विविध प्रकारके रूपकोंमें आनन्ददायकता विकसित करनेकी दृष्टिसे विधि-निषेधात्मक मार्गदर्शन किया गया है । उस मार्गदर्शनका अनुपालन जिन साहित्यिकोंने किया है, उनके नाटक सर्वत्र सहृदय सामाजिकोंमें निरन्तर मान्य हुए हैं । जिनकी कलाकृतियोंमें उस मार्गदर्शनका उल्लङ्घन हुआ है, वे कृतियाँ सहृदयोंके अन्तःकरणोंमें स्थान नहीं प्राप्त कर सकीं ।

रामायणकी कथावस्तु

किसी भी नाट्यकृतिकी मनोहरता उसकी कथावस्तुपर प्रधानतासे निर्भर होती है । चतुर्विध अभिनयकला तथा संगीत-नृत्यादिके विशेषज्ञोंको छोड़कर प्रायः सभी सामान्य दर्शक नाट्यकी कथावस्तुमें अधिकमात्रामें तन्मय होते हैं । नाट्यप्रयोग देखनेके पश्चात् वे आपसमें चर्चा करते हैं कथावस्तुकी । अन्य मित्रोंसे नाटकका विषय-कथन करते समय निवेदन करते हैं तो कथावस्तुका ही । नाटककी कथावस्तुमें दो भागोंकी आवश्यकता होती है—(१) आधिकारिक कथावस्तु और (२) प्रासङ्गिक कथावस्तु ।

'आधिकारिक कथावस्तु' नायकके जीवनप्रवाहसे साक्षात् सम्बन्ध रखती है; इसलिये वह मुख्य होती है; और 'प्रासङ्गिक कथावस्तु' उससे दूरान्वयसे सम्बन्ध रखती है अतः वह गौण होती है । रामायणमें प्रभु रामचन्द्रजीकी जीवनकथा आधिकारिक वस्तुके रूपमें महर्षि वाल्मीकिने वर्णन की है और उस आधिकारिक कथावस्तुको गति देनेके लिये तथा उसकी रोचकता अधिक बढ़ानेके लिये उसमें वालि-सुग्रीवकी कथा तथा श्रमणा शबरीकी कथा प्रासङ्गिक कथावस्तुके रूपमें वर्णन की है । मूल-रामायण ग्रन्थमें इन दो प्रासङ्गिक कथाओंके समान कई प्रासङ्गिक कथाएँ हमें पढ़नेको मिलती हैं, जिसके कारण प्रभु रामचन्द्रजीकी

प्रमुख चरित्रधारामें अन्यान्य प्रकारके संगमतीर्थोंका निर्माण होनेके कारण उसकी रोचकता बढ़ती गयी है।

नाट्यशास्त्रमें प्रासङ्गिक कथावस्तुके दो भेद माने गये हैं—(१) पताका और (२) प्रकरी। उनके लक्षण हैं— **'सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्।'** (दशरूपक १। १३) **'दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका, यदल्पं सा प्रकरी।'** (उसकी प्रभानाम्नी टीका) अर्थात् जो प्रासङ्गिक कथा रूपकमें दूरतक चलती रहती है, वह 'पताका' कहलाती है और जो केवल एक ही प्रदेशतक सीमित रहती है, वह 'प्रकरी' कहलाती है।

नाट्यशास्त्रविषयक 'दशरूपक' ग्रन्थके टीकालेखकको आदर्श कथावस्तुके उदाहरणरूपमें रामायणसे ही आधिकारिक और द्विविध प्रासङ्गिक [(१) पताका, (२) प्रकरी] कथावस्तुके उदाहरण देनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। इसका यही कारण है कि रामायणके लेखकने कथावस्तुकी रोचकता बढ़ानेवाले इस तत्वका ठीक रीतिसे अनुपालन किया है।

रामायणकी उपरिनिर्दिष्ट दो प्रासङ्गिक कथाओंमें सुग्रीवकी प्रासङ्गिक कथा प्रदीर्घताके कारण 'पताका'-रूपा है और शबरीकी कथा अल्पताके कारण 'प्रकरी'-रूपा है। इनके अतिरिक्त श्रवणकुमारकी कथा, रावण-कुम्भकर्णादि राक्षसों तथा जनक-परशुराम, हनुमान्, अगस्त्य, वसिष्ठ, जटायु इत्यादि अनेकोंके कथावृत्त पताका-प्रकरीके स्वरूपमें आधिकारिक रामकथाकी मनोहरता शतगुणित करते हैं।

इस प्रकारकी आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक कथावस्तुमें (१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य और (३) मिश्र अंश होनेसे तथा उनमें (१) दिव्य, (२) मर्त्य और (३) दिव्यादिव्य व्यक्तित्वका चित्रण होनेसे कथाकी रोचकता बढ़ती है। वाल्मीकिविरचित रामायणमें—

आदौ रामतपोवनादिगमनं हत्वा मृगं काञ्चनं
वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीवसम्भाषणम्।
वालेर्निग्रहणं समुद्रतरणं लङ्कापुरीवेष्टनम्
पश्चाद् रावणकुम्भकर्णहननं चैतद्धि रामायणम्॥

(समयादर्शरामायण, २)

—इस प्रसिद्ध श्लोकमें वर्णित सरल इतिवृत्तको अनेक उत्पाद्य और मिश्र कथावृत्तोंसे सजाया गया है और उनमें दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य व्यक्तित्वोंसे सम्बन्धित कतिपय घटनाएँ जोड़ देनेसे कथाकी रोचकता बढ़ी है।

नाट्यशास्त्रकी दृष्टिसे उत्कृष्ट रूपककी कथावस्तुमें जिन गुणोंकी आवश्यकता मानी गयी है, वे समस्त गुण रामायणकी कथामें प्रचुर मात्रामें हमें दिखायी देते हैं।

रामकथाका प्रयोजन

रूपककी कथावस्तुमें केवल रोचकता होते हुए यदि विशेष प्रयोजन न हो तो वह कथावस्तु निष्फलताके कारण सज्जनोंको उपादेय नहीं होगी। इसलिये नाट्यशास्त्रकारोंका आदेश है कि **'कार्यं त्रिवर्गः'** (दशरूपक १। १६)—रूपककी कथावस्तुका कार्य अर्थात् प्रयोजन या फल (धर्म, अर्थ तथा कामरूपी) 'त्रिवर्ग' है। यह प्रयोजन इस त्रिवर्गमेंसे कभी केवल धर्म, कभी धर्म और अर्थ—दोनों तथा कभी धर्म, अर्थ और काम—तीनों होता है।

रामायणकी आधिकारिक कथाका प्रयोजन अखिल मानवजातिको आदर्श आचारधर्मका ज्ञान देना ही है। रामचरित्रका आदर्श रखते हुए संसारके सभी मानव अपनी चारित्र्यशुद्धि करें। **'रामादिवद् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्'** यही रामकथाका निर्गलितार्थ है।

प्रभु रामचन्द्र एक आदर्श राजा होनेके कारण उनकी जीवन-कथाका प्रयोजन अर्थ और कामका स्वरूप-निर्देश भी है। अर्थ-कामनिष्ठ राजजीवनपर धर्मका नियन्त्रण कितनी मात्रामें होना चाहिये, धर्ममूलक अर्थ और कामकी प्राप्ति किस प्रकार करनी चाहिये—इसका सर्वोत्कृष्ट ज्ञान मानवजातिको आजतक रामकथाने दिया है। भारतीय जन-जीवनका वही सनातन आदर्श रहा है।

कथावस्तुका प्रयोजन सिद्ध होनेके लिये जिन तत्त्वोंकी आवश्यकता होती है, उन्हें नाट्यशास्त्रमें 'अर्थप्रकृति' संज्ञा दी गयी है (अर्थ=प्रयोजन, प्रकृति=मूलकारण)।

रामकथामें प्रमुख कार्य (अथवा प्रयोजन, अर्थ) है—रावणका वध। उसकी सिद्धिके लिये (१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य नामक पाँच प्रकारकी अर्थप्रकृतियोंका अवलम्बन कथाकी रचनामें यथावत् हुआ है, जिनमें पताका और प्रकरीके उदाहरण ऊपर निर्दिष्ट किये गये हैं।

रावणवधके लिये विभीषणका सख्य आवश्यक था। वह अवान्तर 'कार्य'-रूप अर्थ-प्रकृतिके रूपमें हमें रामायणमें मिलता है। विभीषणका सख्य प्राप्त न होता तो रामकथाका मुख्य प्रयोजन (रावणवध) पताका (सुग्रीव-कथा) और प्रकरी (शबरी-कथा) रूप अर्थप्रकृतियोंके विद्यमान रहते भी सिद्ध नहीं होता।

मारीच-प्रसङ्गमें सीताका अपहरण होनेके बाद प्रमुख कथा खण्डित-सी होती है। इस अवस्थामें उसे जोड़ने और आगे बढ़ानेके लिये जटायुकी कथा आती है, जो 'बिन्दु' नामक (**अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्**) अर्थप्रकृति मानी जा सकती है।

अहंकारी रावणने अमरत्वका वरदान माँगते हुए मानव-शक्तिकी उपेक्षा की थी। इसी घटनामें मुख्य प्रयोजनकी सिद्धिकी 'बीज' नामक (**स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यते कथा।**) अर्थप्रकृति हमें दिखायी देती है।

इस प्रकार नाटकीय कथावस्तुमें हृद्यता या आनन्द-दायकता निर्माण करनेके लिये जिन पाँच तत्त्वोंकी आवश्यकता नाट्यशास्त्रने प्रतिपादन की है, वे सभी उत्कृष्टरूपमें हमें रामायणकी कथामें दिखायी देते हैं।

कथाका मुख्य प्रयोजन सिद्ध करनेवाली पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ जिस तरह उपादेय होती हैं, उसी तरह साथ ही मुख्य प्रयोजनकी सिद्धि पाँच अवस्थाओंमें बतानेसे कथाकी रोचकता बढ़ती है। (१) आरम्भ, (२) यत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम—ये पाँच अवस्थाओंकी अन्वर्थक संज्ञाएँ नाट्यशास्त्रमें बतायी गयी हैं। इन पाँच अवस्थाओंको टालकर सहसा किसी अद्भुत उपायके कारण 'फलप्राप्ति' या मुख्य प्रयोजनकी सिद्धि कथामें वर्णन करनेपर कथावस्तुकी रोचकता तत्काल समाप्त हो जाती है। रावणवध या सीताप्राप्तिरूप फलकी प्राप्तिके लिये आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा और नियताप्ति—इन चार कार्यावस्थाओंकी ओर रामायणमें भरपूर ध्यान दिया गया है। विशेषतः सीताहरणके बादकी कथामें ये पाँच कार्यावस्थाएँ उत्कृष्ट रूपसे हमें प्रतीत होती हैं और उनके कारण आधिकारिक कथावस्तुकी रोचकता क्रमशः बढ़ती ही जाती है। इन पाँच अवस्थाओंके बाद जब 'फलयोग'—(**समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगे यथोदितः**)—यानी प्रभु रामचन्द्र-का अयोध्याके रिक्त सिंहासनपर राज्याभिषेक होता है, तब रामायणके प्रत्येक वाचकका अन्तःकरण आनन्दसे ओत-प्रोत हो जाता है। इसी परमानन्दके लिये पाठकगण रामायणका अवगाहन करते हैं। रामायणके महनीय लेखकने नाट्यतत्त्वोंका कथाविषयक पूरा-पूरा अवधान रखते हुए कथा लिखी है और इसी कारण वह संसारके समस्त सहृदयोंके लिये आनन्ददायिनी सिद्ध हुई है।

उपरिनिर्दिष्ट पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच अवस्थाओं-के यथाक्रम समन्वयसे प्रसन्न (१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) अवमर्श और (५) उपसंहार नामक पाँच संधियोंमें कथावस्तुकी व्यवस्था नाट्यशास्त्रमें आवश्यक मानी गयी है। रूपकोंके दस प्रकारोंमें नाटक तथा प्रकरण नामक दो प्रकार श्रेष्ठ माने जाते हैं, जिनमें पाँचों संधियाँ होती हैं। इनके अतिरिक्त भाण-व्यायोगादि गौण-रूपक-प्रकारोंमें कम-से-कम एक और अधिक-से-अधिक चार संधियाँ होती हैं। रामायणकी आधिकारिक कथावस्तुमें पाँच संधियाँ स्पष्ट दिखायी देती हैं और अन्यान्य प्रासङ्गिक कथाओंमें यथावसर एक, दो या तीन संधियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। यही कारण है कि जिससे रामायणके सारे आख्यान-उपाख्यान सुनते या पढ़ते समय हमें आरम्भसे अन्ततक आनन्द मिलता है।

प्रस्तुत सीमित लेखमें रामायणकी आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक कथावस्तुओंका पञ्च अर्थप्रकृति, पञ्च अवस्था तथा पञ्च संधियोंकी दृष्टिसे सविस्तर विमर्श करना असम्भव है। साथ ही रामचरित्रका नाट्यशास्त्रीय दृष्टिसे विमर्श करनेके लिये नायक-नायिका, रस इत्यादिकी दृष्टिसे सविस्तर विमर्श करना आवश्यक है। इस लेखमें वह असम्भव है। तथापि हम निश्चितरूपसे यह कह सकते हैं कि महर्षि वाल्मीकिने नाटकीय तत्त्वोंका पूरा अवधान रखकर ही अपनी रामकथा लिखी और उसीके कारण उसमें विश्वजनीन रोचकता निर्माण हुई है।

मेरी दृष्टिमें तुलसीके राम

(लेखक—श्रीबालकोबा भावे)

मैं पूज्य गांधीजीके साबरमती आश्रममें सन् १९१९ से १९३१ तक बारह साल रहा। उस समय मुझे ज्ञात हुआ कि संत तुलसीदासजीकी रामायण—रामचरितमानसपर पूज्य गांधीजीकी श्रद्धा, जब वे दक्षिण अफ्रिकामें थे, तभीसे थी। दक्षिण अफ्रिकामें उन्होंने तुलसी-रामायणके उत्तम अंशोंका चुनाव शुरू किया और वहाँपर बालकाण्डके चुने हुए अंश पुस्तकके रूपमें छप भी गये थे। वह पुस्तक सेवाग्राममें मुझे देखनेको मिली थी। समयाभावके कारण आगेके अंशोंका चुनाव वे नहीं कर सके।

सन् १९३१के बाद मैं पूज्य विनोबाजीद्वारा स्थापित वर्धा आश्रममें रहने आया, तब मुझे तुलसी-रामायण पढ़नेकी प्रेरणा हुई और मैं मराठी अनुवादके साथ पूरी रामायण पढ़ भी गया। मगर उनका यह कथन कुछ जँचा नहीं कि 'सारे ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त जो परमात्मा है, वही अयोध्यानिवासी दशरथके पुत्र श्रीरामचन्द्रजी हैं।' लेकिन एक सालके बाद जब मैंने फिरसे रामायणको बारीकीसे पढ़ा, तब बालकाण्डकी नीचे दी हुई चौपाइयों तथा दोहेके पढ़नेसे मेरी धारणा बदल गयी। चौपाइयाँ इस प्रकार हैं—

कथा अलौकिक सुनहिं जे ग्यानी। नहिं आचरजु करहिं अस जानी॥
रामकथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥

× × ×

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह कें बिमल बिचार॥

× × ×

अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान।
जे मतिमंद बिमोह बस हृदयँ धरहिं कछु आन॥

(मानस १।३२।२–३½; ३३; ४९)

राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥
जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन गाना॥

(मानस १।११३।२)

जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥
आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

(वही, १।११७।२–४)

'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्ब रहित सब उर पुर बासी॥'

(वही, १।११९।३)

'अति प्रचंड रघुपति कै माया। जेहि न मोह अस को जग जाया॥'

(वही, १।१२७।४)

'हरि अनंत हरि कथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता॥'

(वही, १।१३९।२½)

उपर्युक्त वचन अयोध्यानिवासी नरदेहधारी रामचन्द्रको लक्ष्य करके नहीं कहे गये हैं। ये वचन सारे ब्रह्माण्डमें पूर्णतः परिव्याप्त परमात्माके अनुसंधानमें ही कहे गये हैं, ऐसा मनमें स्पष्ट हुआ।

सन् १९३३ सालमें पूज्य गांधीजी पूज्य विनोबाजीद्वारा संचालित वर्धा आश्रममें रहे थे। सात साल मैंने संगीतका अभ्यास किया है और साबरमती आश्रममें मैं प्रार्थनाके समय भजन बोला करता था, यह सब पूज्य गांधीजी जानते ही थे। अतः एक दिन उन्होंने मुझे कहा कि 'दक्षिण अफ्रिकामें जो सज्जन तुलसी-रामायण मुझे जिस रागमें गाकर सुनाया करते थे, मुझे वही राग अच्छा लगता है। वह राग तुम भी सीख लो और रोजाना सुबह आधा घंटा मुझे उसी रागमें रामायण सुनाया करो।' वह राग उनके पुत्र स्व० देवदास गांधीको आता था। उनसे सुनकर मैंने उस रागको सरगमपर बैठा लिया। बादमें थोड़ा संगीत जाननेवाली दो बहनोंको भी सिखा दिया। हम तीनों सुबह सात बजे रामायण सुनाने गये। वनवासका प्रसङ्ग था। श्रीरामचन्द्रजी आश्रममें आये और उन्होंने वाल्मीकि ऋषिसे प्रार्थना की कि 'आप हमें कोई ऐसा स्थान बताइये, जहाँ कुटिया बनाकर हम कुछ दिन निवास कर सकें।' वाल्मीकि ऋषिने पहले भक्तोंके हृदयमें निवास करनेकी बात कहकर फिर चित्रकूट स्थान बताया। वह वर्णन अति सुन्दर है। उसे सुननेके बाद पू० गांधीजी बोले—'फिरसे सुनाओ।' वह वर्णन इस प्रकार है—

काम कोह मद मान न मोहा । लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया । तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया ॥
सब के प्रिय सब के हितकारी । दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी । जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं । राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
जननी सम जानहिं परनारी । धन पराव बिष तें बिष भारी ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी । दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी ॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रान पिआरे । तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे ॥

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात ।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं । बिप्र धेनु हित संकट सहहीं ॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका । घर तुम्हार तिन्ह कर मन नीका ॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥
राम भगत प्रिय लागहिं जेही । तेहि उर बसहु सहित बैदेही ॥
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई । प्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई । तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई ॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना । जहँ तहँ देख धरें धनु बाना ॥
करम बचन मन राउर चेरा । राम करहु तेहि कें उर डेरा ॥

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥
(वही, २ । १२९ । १-४ से १३१)

यह वर्णन बोधप्रद और प्रासादिक है । इस तरह जगह-जगहपर रामायणमें व्यापक परमात्माकी महिमा गायी गयी है । ऐसे वर्णनोंको पढ़नेसे मेरे ध्यानमें यह पूरी तरहसे आ गया कि सामान्य आदमियोंके लिये सहज बोधगम्य बनानेके उद्देश्यसे अयोध्यानिवासी दशरथके पुत्र प्रभु रामचन्द्र जो सारे ब्रह्माण्डमें परिव्याप्त परमात्माके अवतारी पुरुष हैं, उनकी स्थूल कथाको सर्वसाधारण लोगोंके सामने रखनेके बहाने व्यापक परमात्माकी महिमाको गाकर, सबको उसी अलौकिक परमात्माके सामने झुकानेकी कोशिश की गयी है । इस विचारके स्पष्ट होनेके बाद तुलसी-रामायणपर मेरी श्रद्धा सुदृढ़ हो गयी और सारी रामायणमेंसे उत्तम अंशोंका चुनाव करके उन चुने हुए दोहे-चौपाइयोंको मैंने काफी कण्ठस्थ भी कर लिया ।

ज्ञानी पुरुषका सहज लक्षण नम्रताकी पराकाष्ठा होना चाहिये । रामचन्द्रजीका जो चित्र तुलसी-रामायणने प्रस्तुत किया है, उसमें यह लक्षण सती-प्रसङ्गमें स्पष्टरूपसे प्रकट हुआ है । बालकाण्डमें वर्णन आता है—जब रामचन्द्रजी सीताजीको खोजते हुए बनमें भटक रहे थे, तब शंकरजी रामचन्द्रजीको रास्तेमें देखते ही बोल पड़े—'जय सच्चिदानन्द जग पावन।' (मानस १ । ४९ । १$\frac{3}{4}$) यह कहकर चलते हुए उनका शरीर पुलकायमान हो रहा था और बार-बार रामचन्द्रजीके स्मरणसे मनमें प्रेम पैदा हो रहा था । इन लक्षणोंको देखकर सतीके मनमें यह विचार आया कि 'जो व्यापक ब्रह्म है, क्या वह देह धारण करके प्रकट हो सकता है और यदि ऐसा सम्भव है तो सर्वत्र व्याप्त एवं सबके अंशीरूप रामचन्द्रजी सीताकी खोजमें अज्ञानी व्यक्तिकी तरह क्यों लगे हुए हैं ?' ऐसे देहधारी पुरुष रामचन्द्रजीको देखकर, श्रीशंकरके मुँहसे उपर्युक्त वचन निकलना और उनके शरीरका पुलकायमान होना आदिमें क्या वास्तविकता है, यह सतीकी समझमें ठीक प्रकारसे नहीं आया । सतीके मनमें इस प्रकारके विचार चल रहे थे । शंकरजीने इस बातको जान लिया और सतीसे कहा—'यदि तुम्हें रामचन्द्रजीके बारेमें शङ्का होती है कि ये परमात्माके अवतार कैसे हो सकते हैं तो तुम उनकी परीक्षा क्यों नहीं ले लेती ?' यह सुनकर परीक्षा लेनेकी दृष्टिसे सती सीताका वेष धारण करके; जिस रास्तेसे रामचन्द्रजी आ रहे थे; उसी रास्तेसे उनके सामने होकर निकलीं । सतीने सीताजीका वेष धारण किया है—यह रामचन्द्रजीने पहचान लिया और बड़ी नम्रतासे इस प्रकार बोले—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू । पिता समेत लीन्ह निज नामू ॥
कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू । बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू ॥
(वही, १ । ५२ । ४)

यह वचन सुनते ही—

राम बचन मृदु गूढ़ सुनि उपजा अति संकोचु ।
सती सभीत महेस पहिं चलीं हृदयँ बड़ सोचु ॥

मैं संकर कर कहा न माना । निज अग्यानु राम पर आना ॥
जाइ उतरु अब देहउँ काहा । उर उपजा अति दारुन दाहा ॥
(वही, १ । ५३; १ । ५३ । १)

तुलसी-रामायण अत्यन्त प्रासादिक भक्तिसे भरा हुआ ग्रन्थ है । बार-बार पढ़ते हुए कभी थकावट या ऊब महसूस नहीं होती । संत तुलसीदासजी भक्तहृदय होनेसे मानशून्यताकी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए पुरुष थे । गांधीजीमें भी इस

मान-शून्यताकी पराकाष्ठा उनके दीर्घकालके सहवासमें मैंने अनुभव की ।

संत तुलसीदासजी अपने बारेमें वर्णन कर रहे हैं—

जे जनमे कलिकाल कराला । करतब बायस बेष मराला ॥
चलत कुपंथ बेद मग छाँड़े । कपट कलेवर कलिमल भाँड़े ॥
बंचक भगत कहाइ राम के । किंकर कंचन कोह काम के ॥
तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । धींग धरमध्वज धंधक धोरी ॥
जौं अपने अवगुन सब कहऊँ । बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ ॥
ताते मैं अति अलप बखाने । थोरे महुँ जानिहहिं सयाने ॥
कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ । मति अनुरूप राम गुन गावउँ ॥
कहँ रघुपति के चरित अपारा । कहँ मति मोरि निरत संसारा ॥

(वही, १ । ११ । १-३, ४४½)

श्रीरामके चरित्रपर कतिपय आक्षेप और उनका समाधान

(लेखक—श्रीतारिणीशजी झा, व्याकरण-वेदान्ताचार्य)

त्रिकालदर्शी ब्रह्मर्षि वाल्मीकिने अपने रामायण-महाकाव्यमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रके आदर्श चरित्रका चित्रण किया है । इस महाकाव्यमें चित्रित श्रीरामकी लीला—पुत्र-मर्यादा, भ्रातृ-मर्यादा, न्याय-मर्यादा, ब्रह्मचर्य-मर्यादा, सत्य-मर्यादा आदि कतिपय मर्यादाओंसे पूर्ण है । इस कारण तथा वेदादि शास्त्रोंके प्रमाणसे हम भगवान् श्रीरामचन्द्रको परमात्माके मर्यादावतार या पूर्णावतार मानते हैं ।

यहाँ हम रामावतारके सम्बन्धमें किये जानेवाले कतिपय आक्षेपोंका निराकरण वाल्मीकि-रामायणके आधारपर करेंगे ।

कुछ लोगोंका कहना है कि 'राम ईश्वरके अवतार नहीं थे; क्योंकि वाल्मीकिने इनको ऐसा नहीं माना है ।'

यह कथन नितान्त असंगत है । यदि वाल्मीकिने श्रीरामको अवतारी नहीं माना तो अपनी रामायणमें बीसियों जगह इनके अवतारी होनेकी बात कैसे लिखी ? उदाहरणके लिये देखिये, वाल्मीकिरामायण, बालकाण्डके १५वें अध्यायके ये श्लोक—

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम् ।
एवं दत्त्वा वरं देवो देवानां विष्णुरात्मवान् ॥
मानुष्ये चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः ।

(२९-३१)

अर्थात् 'मैं दस हजार वर्ष और दस सौ वर्षतक इस पृथ्वीका पालन करते हुए मनुष्यलोकमें निवास करूँगा'—इस प्रकार देवताओंको वरदान देकर श्रीविष्णु मनुष्य-योनिमें अपने जन्म-ग्रहणकी बात सोचने लगे ।

फिर कुछ लोग आक्षेप करते हैं कि—'ताटकाका वध करके रामने स्त्री-हत्याका पाप क्यों किया ? वालीको छिपकर क्यों मारा ? शूर्पणखाको विरूप क्यों किया ? सीताकी अग्नि-परीक्षा कराकर फिर उन्हें निर्वासित क्यों किया ? यदि रामचन्द्र साक्षात् भगवान्के अवतार थे तो ऐसे अनुचित कार्य उन्होंने क्यों किये ?'

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है—

श्रीरामचन्द्रने ताटकाको अपनी इच्छासे नहीं मारा । ऋषि विश्वामित्रने उनसे आग्रह किया था कि 'इसे अवश्य मारिये । अत्यन्त पापिनी स्त्रीकी हत्या करना राजाका धर्म है । यह राक्षसी निरपराध ऋषियोंको बहुत सताती है । इसलिये इसे मारनेमें कोई दोष नहीं है । पहलेके राजाओंने भी ऐसी नृशंस स्त्रियोंको मारा है । उन्हें कोई पाप नहीं लगा ।' ऋषिकी बात सुनकर श्रीराघवेन्द्रने सोचा—"ऋषियोंके वचन ही धर्मशास्त्र हैं । विश्वामित्र महर्षि स्वयं कह रहे हैं और पिताजीकी भी आज्ञा है कि 'महर्षि विश्वामित्र जो कुछ कहें, वह बिना विचारे करना ।' ऐसी स्थितिमें मुझे ताटकाका वध करना ही होगा ।" बस, यही कारण है कि श्रीरामने ताटकाका वध किया ।

दूसरा प्रश्न है कि 'वालीको छिपकर क्यों मारा ?' इसका उत्तर वाल्मीकिरामायणके किष्किन्धाकाण्डके १८ सर्गमें दिया गया है ।

वहाँके कथनसे सिद्ध होता है कि भगवान्ने वालीको राजदण्ड दिया था न कि उसके साथ युद्ध किया था, जिससे युद्धका नियम लागू होता । अथवा यदि युद्ध

ही मान लिया जाय तो भी उनका यह युद्ध संकुल-युद्ध था न कि द्वन्द्व-युद्ध; क्योंकि वाली रावणका मित्र एवं अपने सखा सुग्रीवका शत्रु होनेके कारण भगवान् रामका शत्रु था और राम-रावणका युद्ध 'संकुल-युद्ध' माना गया है । इस दृष्टिसे राम-वालीका युद्ध भी 'संकुल-युद्ध' माना जायगा । इस युद्धमें द्वन्द्व-युद्धकी तरह शत्रुके मारनेके नियम नहीं हैं । इसमें तो, चाहे किसी भी रीतिसे हो, शत्रुका मारना या उसकी सामर्थ्य कम करना ही कर्तव्य निर्धारित किया गया है । इसलिये रामने उसे छिपकर क्यों मारा या उसका सामना क्यों नहीं किया, यह प्रश्न ही नहीं उठता ।

तीसरे प्रश्नके उत्तरके सम्बन्धमें वाल्मीकि-रामायण, अरण्यकाण्डके १८वें सर्गका अध्ययन करनेसे पता चलता है कि शूर्पणखा कामवश होकर तथा सीताजीको अपने मार्गका कण्टक समझकर उन्हें खा जानेके लिये तैयार हो चुकी थी । इस कारण वह वध्य थी । फिर भी करुणासागर श्रीरामने उसे प्राण-दण्ड न देकर केवल विरूप करवा दिया । यह तो उसका उपकार ही हुआ । ऐसी स्थितिमें उसको विरूप क्यों किया, यह प्रश्न ही अनर्गल है ।

चौथे प्रश्नका उत्तर यह है कि मर्यादापुरुषोत्तम रामने भगवती सीताको उनके सतीत्वमें संदेह करके वनवास नहीं दिया, बल्कि जनापवादकी निवृत्तिके लिये अत्यन्त दुःखके साथ सीताका परित्याग किया; क्योंकि श्रीराम लोकाराधक राजा थे । लोकाराधनके लिये वे सब कुछ त्याग सकते थे । महाकवि भवभूतिने उनके बारेमें लिखा है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥

(उत्तररामचरित १ । १२)

अर्थात् 'प्रजाओंके अनुरञ्जन या संतोषके लिये स्नेह, दया अथवा जानकीतकको छोड़नेमें मुझे कष्ट नहीं है ।'

उस समयकी साधारण जनताको सीताकी अग्नि-परीक्षामें विश्वास नहीं हुआ था । इसलिये वह सीताजीकी शुद्धिपर काना-फूसी करने लग गयी थी । यह बात मर्यादापुरुषोत्तमके लिये असह्य थी । अतएव उन्होंने तत्काल सीताजीको राजमहलसे हटाकर वाल्मीकिमुनिके आश्रममें भिजवा देना ही उचित समझा ।

इस प्रकार भगवान् श्रीरामके चरित्रपर जो कुछ भी आक्षेप किये जाते हैं, वे सब अवास्तविक हैं । महाकवि कालिदासने अपने कुमारसम्भव महाकाव्यमें लिखा है—**'द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्'** (५ । ७५) अर्थात् मूर्खलोग महापुरुषोंके चरित्रपर आक्षेप किया करते हैं । भगवान् श्रीराम कैसे महापुरुष थे, इसे महानाटककारके शब्दोंमें, जिसे उन्होंने श्रीदशरथके मुखसे कहलाया है, पढ़िये—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च ।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

(३ । २५)

अर्थात् जब मैंने रामको राज्याभिषेकके लिये बुलाया और जब वनमें वास करनेके लिये भेजा, दोनों समय उनके चेहरेपर तनिक भी अस्थिरता नहीं देखी ।

हे राम ! मेरा उद्धार क्यों नहीं करते ?

अहल्या पाषाणः प्रकृतिपशुरासीत् कपिचमू-
र्गुहोऽभूच्चण्डालस्त्रितयमपि नीतं निजपदम् ।
अहं चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे
क्रियाभिश्चण्डालो रघुवर न मामुद्धरसि किम् ॥

—रहीम खानखाना

अहल्या पाषाण बनी हुई थी, बंदरोंकी सेना प्रकृतिसे पशु थी और गुह चण्डाल (अस्पृश्य) था । तीनोंको आपने निज लोकमें स्थान दिया । इधर मैं चित्तसे पत्थर हूँ, आपकी पूजादि करनेमें पशु हूँ और क्रियासे चण्डाल हूँ । यद्यपि मुझमें उक्त तीनों गुण हैं; फिर भी हे राम ! मेरा उद्धार क्यों नहीं करते ?

व्रजमें श्रीरामभक्ति

(लेखक—पं० श्रीरामदासजी शास्त्री)

लोकाभिराम श्रीरामकी कल्याणमयी पावन भक्तिसे व्रजभूमि सदा ही अनुप्राणित रही है। व्रजभूमिमें जन्मनेवाले अथवा यहाँके प्रवासी साधक-संतोंने भी लोकोत्तर पुरुषोत्तम श्रीरामके गुणानुवाद गाये हैं।

व्रजभूमिमें श्रीरामभक्तिका एक अनोखा रूप दिखायी देता है। व्रजवासियोंकी अपनी एकान्त-साधनामें, उनके अन्तर्हृदयकी गुह्य उपासनामें, जहाँ श्रीकृष्णका ही रूप प्रतिबिम्बित होता है, वहाँ उनका बाह्य लौकिक जीवन, व्यावहारिक समाजपद्धति तथा सामान्य लोकाचार श्रीरामके आदर्शोंसे व्याप्त प्रतीत होता है।

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिसे रामायण-प्रणेता ऋषि वाल्मीकि एवं पुराणप्रणेता श्रीवेदव्यासमें लंबे समयका अन्तर है, फिर भी कृष्णावतारसे पूर्वतक माथुर-प्रदेशोंमें श्रीरामभक्तिका प्रचुर प्रभाव दिखायी देता है। पुराणोंमें इसकी झलक स्पष्ट है। स्वयं श्रीकृष्ण भी अपनी बाललीलाओंमें श्रीरामचरित्रका अनुकरण 'राम-रावण-युद्ध'के रूपमें करते थे। कामवन आदिमें सेतुबन्ध और लङ्का-दहनके स्थान श्रीकृष्णलीलाके अङ्ग माने जाते हैं। शान्ति एवं स्वान्तःसुखके उद्देश्यसे प्रणीत श्रीमद्भागवतमें वेदव्यासजीने नवमस्कन्धके अतिरिक्त एकादशमें भी श्रीरामको गौरवपूर्ण शब्दोंमें स्मरण किया है—

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥
(११।५।३४)

'भगवन्! आपके चरणकमलोंकी महिमा कौन कहे? रामावतारमें अपने पिता दशरथजीके वचनोंसे देवताओंके लिये भी वाञ्छनीय और दुस्त्यज राज्यलक्ष्मीको छोड़कर आपके चरणकमल वन-वन घूमते फिरे! सचमुच आप धर्मनिष्ठताकी सीमा हैं और महापुरुष! अपनी प्रेयसी सीताजीके चाहनेपर जान-बूझकर आपके चरणकमल मायामृगके पीछे दौड़ते रहे। सचमुच आप प्रेमकी सीमा हैं। प्रभो! मैं आपके उन्हीं चरणारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ।'

श्रीकृष्णावतारसे आजतक अनेक कृष्णभक्त संतों, भक्तों तथा कवियोंने श्रीरामभक्तिका वर्णन किया है। व्रजलीलाका तात्त्विक एवं रसमय विवेचन जितना गौड़ीय-सम्प्रदायके आचार्य षड्गोस्वामियोंने किया है, उतना स्यात् ही कहीं हो। वे भी श्रीरामभक्तिसे अप्रभावित नहीं हैं। 'बृहद्भागवतामृत'के रचयिता श्रीसनातनगोस्वामीने तो श्रीकृष्णप्राप्तिकी अनुकूलतामें श्रीरामकी कृपाको सिद्धान्ततः स्वीकार किया है। वे गोपकुमारके अयोध्याप्रवेशके समय कहते हैं—

श्रीरामपादाब्जयुगेऽवलोकिते
शाम्येन्न चेत् सा तव दर्शनोत्सुका।
तेनैव कारुण्यभरार्द्रचेतसा
प्रहेष्यते द्वारवतीं सुखं भवान्॥
(बृहद्भा० २।४।२४५)

'यदि श्रीरघुनाथजीके चरण-दर्शनसे आपकी अपने इष्ट श्रीकृष्णके दर्शनके प्रति उत्कण्ठा निवृत्त नहीं हुई तो वे श्रीरामके करुणार्द्रहृदय आपको सुखपूर्वक द्वारका भेज देंगे।'

गौड़ीय-सम्प्रदायके एक अन्य आचार्य श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने अपने 'हरिभक्तिविलास' ग्रन्थमें 'रामनवमी-व्रत-प्रकरण'में कहा है कि जो रामनवमीके दिन अन्न भोजन करता है, उसे कुम्भीपाक-नरककी प्राप्ति होती है—

यस्तु रामनवम्यां हि भुङ्क्ते मोहाद् विमूढधीः।
कुम्भीपाकेषु घोरेषु पच्यते नात्र संशयः॥

उन्होंने जन्माष्टमी और एकादशी-व्रतकी भाँति 'रामनवमी-व्रत'के माहात्म्यमें श्रीराम-कृष्णमें अभेद माना है। व्रजमें रामनवमीका त्यौहार भी घर-घर मनाया जाता है। अयोध्या आदिमें तो अनेक लोग उस दिन मध्याह्नमें ही जन्मोपरान्त अन्नभोग लगाते हैं, परंतु व्रजके गौड़ीय संत अष्टप्रहरपर्यन्त निष्ठाके साथ व्रती रहते हैं। दूसरे दिन ही अन्नप्रसाद लेते हैं। व्रजके गौड़ीय वैष्णवोंमें श्रीरामभक्तिका बड़ा समादर है। वे रामनवमीके दिन श्रीचैतन्यमहाप्रभुको श्रीरामका राजवेष धारण कराके उनके आगे नृत्य करते हैं।

व्रजमें श्रीकृष्णका अनन्यनिष्ठासे भजन करनेवाले वल्लभसम्प्रदायी वैष्णवोंने भी श्रीरामका गुण-गान किया है। अष्टछापके कवि संत सूरदास, नन्ददास आदिके पदोंमें

श्रीरामचरित्र वर्णित है । सूरदासजीने तो सम्पूर्ण रामचरित्र-गायनके पश्चात् श्रीरामके दरबारमें अपनी पहुँचको असम्भव बताकर चिट्ठी लिखनेकी ठान ली है—

बिनती केहि बिधि प्रभुहि सुनाऊँ ।
महाराज रघुबीर धीर कौ समय न कबहूँ पाऊँ ॥
जाम रहत जामिनि के बीतें, तिहि औसर उठि धाऊँ ।
सकुच होत सुकुमार नींद तें, कैसें प्रभुहि जगाऊँ ॥
दिनकर-किरन उदित ब्रह्मादिक, रुद्रादिक इक ठाऊँ ।
अगनित भीर अमर-मुनि-गन की, तिहि तें ठौर न पाऊँ ॥
उठत सभा दिन मध्य सियापति, देखि भीर फिरि आऊँ ।
न्हात-खात सुख करत साहिबी, कैसें करि अनखाऊँ ॥
रजनी-मुख आवत गुन गावत नारद-तुम्बुरु नाऊँ ।
तुमही कहौ कृपन हौं रघुपति किहि बिधि दुख समझाऊँ ॥
एक उपाय करौं कमलापति, कहौ तो कहि समझाऊँ ।
पतित-उधारन 'सूर' नाम प्रभु, लिखि कागद पहुँचाऊँ ॥
(सूर-रामचरितावली १९८)

वल्लभ-सम्प्रदायके भक्तोंमें एक रामभक्तका रोचक उदाहरण मिलता है । श्रीवल्लभाचार्यजीसे कृष्णदीक्षाप्राप्त उनका एक सेवक श्रीरामदर्शनके लिये तड़फड़ाता रहता था । उसकी तीव्र अभिलाषा देखकर गोस्वामीजीने उसे अयोध्या जानेकी आज्ञा प्रदान कर दी । भक्त अयोध्या पहुँचा; श्रीरामके भोले-सलोने गम्भीर मुखारविन्दका अवलोकन कर स्तब्ध रह गया । बार-बार प्रार्थना करनेपर भी सकुचीले श्रीरामने उसपर दृष्टि नहीं डाली । भक्तका मन खिन्न हो गया । 'यह कैसा भगवान् है—जो न देखता है, न सुनता है ! इससे अच्छे तो मेरे श्रीनाथ (कृष्ण)जी ही हैं—चञ्चल नेत्र, त्रिभङ्गललित, नटखट ।' और वह श्रीरामको पीठ देकर खड़ा हो गया । उसी समय उसके शरीरसे कोढ़ फूट पड़ा । भक्तको अनुभव हुआ कि 'मुझसे अपराध हुआ है ।' भक्तने पुनः श्रीरामसे प्रार्थना की—'प्रभो ! मेरे शरीरमें कीड़े और पड़ जायँ, तभी अपराधका प्रायश्चित्त होगा ।' करुणा-वरुणालय श्रीरामने दृष्टि उठायी और कहा—'भक्त ! मेरी ओर देख ।' तभी उसे श्रीरामके विग्रहमें श्रीनाथ (श्रीकृष्ण)जीके दर्शन हुए ।

व्रजभावनाके उपासक अन्य सम्प्रदायोंमें भी श्रीरामभक्तिका उल्लेख हुआ है । विस्तारभयसे लिखना सम्भव नहीं । एक और प्राचीन रामभक्त संत श्रीरामसखेजीका नाम व्रजमें प्रसिद्ध है । प्रथम उन्होंने अयोध्यामें श्रीराममन्त्रकी दीक्षा ली । जब व्रजदर्शनको आये तो रासविहारीके रासको देखकर लट्टू हो गये । व्रजमें ही रम गये । अयोध्यासे गुरुजीने पत्र लिखा कि 'हमारे रघुनाथजीके घरमें कौन-सी वस्तु कम थी, जो तुम्हें व्रजमें मिली है ?' उन्होंने उत्तरमें यह दोहा लिखकर भेज दिया—

कहा कमी रघुनाथ घर, क्यों यह छोड़ी बान ।
मन बैरागी हो गया, सुनि मुरली की तान ॥

पीछे रामसखेजी व्रजसे नहीं गये । नन्दगाँव, बरसाना और गोवर्धनकी उपत्यकामें भ्रमण करते, विरहमें श्रीकृष्णको पुकारा करते थे—

अरे सिकारी निर्दयी करिया नंदकिसोर ।
क्यों तरसावत दरस कों रामसखे-चित-चोर ॥

रामसखेजी श्रीरामको भी अपना सखा मानते हैं—

बाँको हमारो यार साँवलिया ।
बाँकी लटपटि पीत लपेटें, बाँकी बाँधें तलवार सँवलिया ॥
बाँके सीस जरी की पगिया, बाँके घोड़े असवार सँवलिया ।
'रामसखे' को मन हर लीनो दसरथसुत सरदार सँवलिया ॥

इसी प्रकारके कई रामभक्त संत और भी हैं, जिन्होंने व्रजमें वास करके श्रीराम और कृष्णकी समान आराधना की है । ऐसे संतोंमें श्रीरामदास, कान्हरदास, मेहरदास आदि उल्लेखनीय हैं ।

श्रीरामदासजी तो राजा रामसे अपनी गोविन्दचरणविषयक प्रीतिकी प्रतिज्ञाको निबाहनेकी प्रार्थना करते हैं—

मेरी प्रीति गोविंद सों ना घटे ।
मैं तो मोल मँहगे में लीनो, मेरो चित न हटे ॥

अन्तमें वे कहते हैं—

'कहत रामदास इक बिनती प्रभु सों, पैज राखो राजाराम मेरी ।'

व्रजके लोकजीवनमें श्रीरामभक्तिकी छाप प्रत्यक्ष दीखती है । यहाँके प्रत्येक नगर-ग्रामके मन्दिरोंमें श्रीराधाकृष्णके साथ श्रीसीतारामके विग्रह भी स्थापित हैं । अनेक प्राचीन मन्दिरोंमें केवल श्रीसीतारामके ही स्वरूप हैं । प्रातः-सायं ग्रामीण नर नारी मन्दिरोंमें बैठकर रामनामकी माला जपते हैं । वे परस्पर एक-दूसरेको 'राम-राम जी, राम-राम' कहकर अभिवादन करते हैं । वे शोक-मोहमें अथवा अन्य संकटकी घड़ियोंमें 'राम-राम' उच्चारण करते हैं । व्रजके ग्राम-ग्राममें

रामलीलाओंके आयोजन बड़े उत्साह एवं उल्लासके साथ होते हैं। मथुराके चौबे-समाजमें रामलीला-अभिनय सदियोंसे चला आ रहा है। व्रजके भिन्न-भिन्न स्थानोंपर रामचरितमानसकी कथाके नवाह्नपारायण होते ही रहते हैं। वृन्दावनमें श्रीराम-उपासकोंके कई ऐतिहासिक स्थल हैं, जिनमें ज्ञानगुदड़ी, खाकचौक, रामबाग आदि प्रमुख हैं। स्वामी संकर्षणदासजीने गोवर्धनकी तरैटीमें लंबे समयतक तपस्या की थी। मानस-प्रचारके वर्तमान स्वरूपको अग्रसर करनेमें वृन्दावनवासी गोस्वामी बिन्दुजीका नाम लिया जाता है। आज भी मानस-चतुश्शतीके उपलक्षमें गौड़ीय सम्प्रदायके प्रमुख स्थान चार-सम्प्रदाय आश्रममें तथा सुदामाकुटीमें अनुष्ठान चल रहा है। इसी प्रकार श्रीइन्दुगोस्वामीने भी मानस-चतुश्शतीका विशाल आयोजन चला रक्खा है। इस प्रकार व्रजके लोग अन्तर्हृदयमें श्रीकृष्णको अपना सगा-सम्बन्धी मानते हुए भी व्यावहारिक जीवनमें श्रीरामको ही आदर्श मानकर चलते हैं।

व्रजप्रदेशमें श्रीरामभक्तिके अप्रत्याशित प्रभावका श्रीगणेश सदियों पूर्व गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके व्रजागमनसे ही माना जायगा। इतिहासको देखनेसे पता चलता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी कई बार व्रजमें आये थे। लगता है, एक बार उन्होंने पूरे व्रजकी यात्रा की थी। एक बार वे गोकुल-महावन पधारे थे और एक बारकी यात्रामें उन्होंने ज्ञानगुदड़ीमें निवास कर रामचरितमानसकी कथा भी कही थी। उक्त धारणाएँ गोस्वामीजीके विभिन्न चरित्रोंसे ही पुष्ट होती हैं। 'बावन वैष्णवोंकी वार्ता' और बेनीमाधवलिखित गोस्वामीजीकी जीवनीसे यही ध्वनि निकली है। ज्ञानगुदड़ीमें वह स्थान आज भी जर्जर अवस्थामें विद्यमान है, जहाँ गोस्वामीजी संत परशुरामजीके स्थानमें आकर ठहरे थे, जहाँ उन्हें एक विनोदपूर्ण परिहासमें श्रीराधाकृष्णके विग्रहमें श्रीरामके दर्शन हुए थे। यह दोहा उसी समयसे प्रसिद्ध है—

> कित मुरली, कित चंद्रिका, कित गोपिन को साथ।
> अपने जन के कारनै, कृष्न भए रघुनाथ॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने मथुराके चौबोंके आग्रहपर मथुरामें भी एक जगह भगवान् सीतारामकी प्रतिष्ठा की थी, जो आज भी गवर्नमेंट कालेजके पास तुलसीदासजीके स्थानके नामसे प्रसिद्ध है।

निस्संदेह संस्कृत-साहित्यके पश्चात् हिंदीमें लिखित रामचरितमानस ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसने व्रजके समाजमें समानरूपसे प्रवेश किया और उसका फल श्रीरामभक्तिके रूपमें प्रकट हुआ तथा यह कहनेमें संकोच नहीं है कि गोस्वामी तुलसीदासजी और उनके मानसके द्वारा व्रजमें श्रीरामभक्तिका प्रभाव दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है।

श्रीराम-नामकी महिमा

> पूरन सक्ति दुवर्न को मन्त्र है, जाहि सिवादि जपैं सब कोऊ।
> पावक पौन समेत लसै, मिलि जारत पाप-पहार कितोऊ॥
> 'दास' दिनेस-कलाधर भेष बने जग के निसतारक जोऊ।
> मुक्ति-महीरुह के द्रुम हैं, किधौं राम के नाम के अच्छर दोऊ॥
> पावतो पार न वार कोऊ, परिपूरन पाप कौ पानिप जोतो।
> बूड़तो झूँठ-तरंगन में, मिलि मोहमई सरितान कौ सोतो॥
> 'दास' जू त्रास-तिमिंगल सों, तमग्राह के ग्रास सु बाँचतो को तो।
> जो भव-सिंधु अथाह निवाह कों राम कौ नाम मलाह न होतो॥
> सिद्धन कौ सिरताज भयौ कबि-कोबिद नाम ही की सिवकाई।
> गीध गयंद अजामिल से तरिगे सब नाम ही की प्रभुताई॥
> 'दास' कहै पैहलाद उबारत, राम हू ते पैहलैं किहि ठाईं।
> राम-बड़ाई न नाम बड़ौ भयौ, राम बड़ौ निज नाम बड़ाई॥

—आचार्य भिखारीदास ('काव्य-निर्णय')

लोककल्याणकारी रामकी आज आवश्यकता है

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेशव्रत राय डी० फिल०, एल-एल० बी०)

अपने धन-ऐश्वर्य और शक्तिके बावजूद असफल होनेपर मानव अदृश्य शक्तिकी ओर उन्मुख होकर कातर आर्तनाद कर उठता है, तब वह अदृश्य शक्ति किसी-न-किसी रूपमें रक्षा कर अपने आर्तत्राणके विरदकी पुष्टि करती है। इतना ही नहीं; असुरोंके अत्याचारोंसे त्रस्त मानवताके कल्याणार्थ ईश्वरीय शक्ति इस पृथ्वीपर अवतरित भी होती है। ढाई अक्षरोंका पुनीत नाम 'राम' इस अदृश्य शक्तिके लोक-कल्याणकारी रूपको प्रतिबिम्बित करता है।

राजपरिवारमें जन्म लेनेपर भी रामका जीवन त्याग, तपस्या और कष्टोंमें व्यतीत हुआ। सुकुमारावस्थामें ही ताड़का, सुबाहु, मारीच आदि असुरोंसे संघर्ष और उनके दमनके साथ आरम्भ होनेवाले जीवनका प्रारम्भिक भाग वनखण्डों, संघर्षोंमें ही समाप्त हुआ तथा कठोर शासन-भारके साथ अन्तमें सीताके वनवास और पाताल-प्रवेश और लक्ष्मणके परित्यागके साथ रामके त्याग और वेदनाकी चरम परिणति हुई और अन्तमें वे स्वयं भी सम्पूर्ण अयोध्यावासियोंके साथ सरयूमें प्रवेश कर गये—इस प्रकार रामका सम्पूर्ण जीवन अपने लिये न होकर जनकल्याणके लिये था। रामके लिये अयोध्या या जनकपुरीके समीपवर्ती वन-प्रदेशमें चौदह वर्षोंकी अवधि बिताना कोई कठिन न था; पञ्चवटी तथा राक्षसोंके अन्यान्य क्षेत्रोंमें जाकर युद्ध करने-जूझनेकी उन्हें कोई आवश्यकता न थी। न वे उन अन्धकार-पूर्ण बियावान वनखण्डोंमें जाते, न संघर्ष होते और न सीताहरण होता। समीपवर्ती वनप्रदेशमें समय बितानेसे पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन भी न होता; क्योंकि आज्ञा किसी भी वनखण्डमें चौदह वर्ष वास करनेतक सीमित थी। परंतु रामका अभीष्ट कुछ और ही था।

दण्डकारण्यमें ऋषि-मुनियोंसे श्रीराम कह रहे हैं—'राक्षसोंद्वारा जो आपको कष्ट पहुँच रहा है, इसे दूर करनेके लिये ही मैं पिताके आदेशका पालन करता हुआ इस वनमें आया हूँ। आपकी सेवाका अवसर मिलनेसे मेरे लिये यह वनवास महान् फलदायक होगा।' उनके लोककल्याणकारी जीवनमें नीति और शासन-सम्बन्धी गुत्थियोंके अनेक प्रसङ्ग आते हैं, जिनसे अनेक वर्तमान समस्याएँ सुलझ सकती हैं। इन गुत्थियोंको उन्होंने मानवीय रूपमें ही सुलझाया। वाल्मीकि तो उन्हें श्रेष्ठ मानवके रूपमें ही देखते हैं। यही कारण है कि रामचरित 'दैवी' होकर भी 'मानवी' है। भगवान् राम अन्य अवतारोंकी अपेक्षा मानवी धरातलके अधिक समीप हैं। निर्बलके बल और निर्धनके धन राम हैं।

श्रीरामका युग राजनीतिक संघर्षोंकी दृष्टिसे आजकल-जैसा था। मांसाहार, मदिरापान और परस्त्रीगमनद्वारा 'खाओ, पीओ और मौज करो' वाली भौतिक विचारधाराको लेकर राक्षस जाति अपने साम्राज्यका विस्तार कर रही थी। निशाचरोंका राज्य विन्ध्याचलके आस-पासतक फैला था। खर-दूषण, विराध, कबन्ध, सुबाहु और मारीच-जैसे निशाचर तथा शूर्पणखा-अयोमुखी-जैसी राक्षसियाँ निष्कण्टक इधर-उधर घूमा करती थीं। इनके भयसे दूरतकके जनप्रदेश निर्जन हो गये। जहाँ-तहाँ नर-कङ्कालोंके ढेर दृष्टिगोचर होते थे। प्रतिदिनका जीवन अत्याचारोंसे दूभर हो गया था। सीमातिक्रमणकी घटनाएँ साधारण-सी बात हो गयी थीं। ताड़का, सुबाहु एवं मारीच-जैसे निशाचर अयोध्या तथा जनकपुरीके आस-पास पहुँच गये थे। इन्हें रोकनेकी शक्ति उस समयके शासकोंमें नहीं थी। दशरथ-जैसे पराक्रमी योद्धाओंतक यह कहने लगे थे—'नहि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः। (वा० रा० १। २०। २०)—मैं उस दुष्टसे युद्ध करनेमें असमर्थ हूँ।' निराशावादी धारणा बन गयी थी। भारतभूमि अत्याचारी असुरोंसे पदाक्रान्त हो रही थी। उनका साम्राज्य बेरोक-टोक बढ़ता चला आ रहा था। ऋषियोंका छद्मरूप धारणकर राक्षस आँखमें धूल झोंक रहे थे। उन्हें रोकनेमें प्रशासन प्रायः असफल हो गया था। ऐसे संकटपूर्ण समयमें रामने देशको भय, अशान्ति और अत्याचारोंसे मुक्त करनेका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया।

राम स्वयं असाधारण पराक्रमके प्रतीक थे। बिना पराक्रमके लोककल्याण तो क्या, आत्मकल्याण भी सम्भव नहीं है। रामायण उनके पराक्रमकी यशो-गाथासे भरी पड़ी है। श्रीरामद्वारा पराक्रमकी कहीं आत्मप्रशंसा नहीं मिलती। रामके पराक्रमकी प्रशंसा स्वयं हनुमान्‌जीने इन शब्दोंमें की है कि 'महायशस्वी राम चराचर प्राणियोंसहित लोकोंका संहार करके फिर उनका नये सिरेसे निर्माण करनेकी शक्ति रखते हैं। ... तुल्य पराक्रमी हैं। कोई भी ऐसा

व्यक्ति नहीं है, जो राघवेन्द्रसे लोहा ले सके।' (वा० रा० सु० ५१ । ३८-४१)

हनुमान्‌जी-जैसे गम्भीर और विचारशील व्यक्तिकी रायको हम भले भक्तिप्रधान कहकर अतिशयोक्तिपूर्ण मान लें, परंतु श्रीरामके शत्रुओंका अनुभव हनुमान्‌के मतकी पुष्टिके लिये पर्याप्त है। मारीचने रामके पराक्रमका वर्णन करते हुए रावणको समझानेका प्रयत्न किया है। किशोरावस्थामें ही रामने ताड़का तथा अन्य राक्षसोंको मार गिराया। वे मारीचका वध नहीं करना चाहते थे। अतः बिना फलका बाण मारा, जिससे वह स्वयं कई सौ योजन दूर जा गिरा। शत्रु होनेपर भी उसने रामके पराक्रमकी प्रशस्ति की। दूसरे राक्षस अकम्पनने भी रामके पराक्रमका वर्णन किया है, जो रामसे परिचित था। उसने रावणके क्रोधकी चिन्ता न करके स्पष्ट शब्दोंमें कहा—'राम अजेय सुदृढ़ चट्टानकी भाँति हैं, जिससे टकराकर लङ्काकी सारी वाहिनी चूर-चूर हो जायगी। उनके बाण गरुड़के समान राक्षसरूपी सर्पोंका भक्षण कर सकते हैं।'

यहाँ स्मरण रखना चाहिये—रामका पराक्रम केवल संहारतक सीमित नहीं है। इसीलिये कहा गया है कि वे संहार करके नये सिरेसे सृष्टि कर सकते हैं। युगपुरुष प्राचीन भ्रामक मान्यताओं, अकल्याणकारी तत्त्वोंके संहारक और युग-स्रष्टा होते हैं। पराक्रम और आत्मविश्वास उनके अस्त्र हैं। रावणके गुप्तचरों—शुक और सारणने एक बार देखनेमात्रसे रामके अतुलित बल और पराक्रमका अनुमान कर लिया। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'श्रीरामचन्द्रजीका जैसा रूप है और जैसे उनके अस्त्र-शस्त्र हैं, उनसे तो यही प्रतीत होता है कि वे अकेले ही सारी लङ्कापुरीका वध कर डालेंगे।'

पराक्रम चाहे जिस प्रकारका हो—आर्थिक हो, सामाजिक हो अथवा शारीरिक—जब दूसरे लोग उसकी प्रशंसा करें, तभी उसे वास्तविक और फलदायक माना जा सकता है। आत्मप्रशंसा अथवा अपने अधीनस्थ व्यक्तियोंद्वारा भयके कारण की गयी प्रशंसा सदैव अवनतिकी ओर ले जानेवाली होती है। राम स्वयं पराक्रमी और पुरुषार्थी थे। पराक्रमी यशस्वी पूर्वजों—दिलीप, रघु एवं दशरथका गुणगान करनेकी अपेक्षा उन्होंने स्वयं पराक्रम और पुरुषार्थमें सामञ्जस्य उत्पन्न किया, जो उनकी सफलताका कारण है। पुरुषार्थके अभावमें पराक्रम निष्प्राण, स्पन्दनहीन शवकी भाँति बेकार सिद्ध होता है। ताड़का, सुबाहु, मारीच आदिके दमनके साथ किशोरा-

वस्थामें ही श्रीरामने अपने पराक्रमका परिचय दिया। धनुर्भङ्गके साथ उसकी चर्चा देश-देशान्तरोंमें होने लगी। विराध, खर, दूषण, कबन्धके अतिरिक्त सहस्रों दुष्ट राक्षसोंके वधसे उनके शौर्यका चारों ओर बोलबाला हो गया। उनका पुरुषार्थ ही यश और पराक्रमका सबसे बड़ा प्रचार-साधन था। उनकी मान्यता थी, 'जो शासक प्रदेशकी प्रजाका पालन न कर सके और जिसमें देशकी रक्षा करनेकी सामर्थ्य और पुरुषार्थ न हो, उसे देशपर शासन करनेका कोई अधिकार नहीं है।' यदि सुग्रीवसे उनकी मैत्री हुई तो केवल बातचीत अथवा वाक्पटुताके सहारे नहीं; अपने पुरुषार्थके बलपर रामने सुग्रीवका सहयोग प्राप्त किया। सालके सात विशाल वृक्षोंको एक साथ भेदकर अपने पुरुषार्थका परिचय देनेके बाद ही राम सुग्रीवके साथ मैत्री स्थापित कर सके थे और फिर वालिवधके उपरान्त ही उन्हें सुग्रीवका पूर्ण सहयोग मिला था। पुरुषार्थी और पराक्रमी होनेपर भी राम कभी उद्धत रूपमें सामने नहीं आये। उनका स्वभाव गम्भीर, संयत, शान्त और विवेकपूर्ण था। सुग्रीवके भोग-विलासमें लीन हो जानेपर लक्ष्मण सीधे उनके वध करनेके लिये तैयार हो गये; परंतु रामने उन्हें धैर्यशील और शान्त रहनेका ही आदेश दिया। इसपर भी 'न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः'—(वा० रा० ४। ३०। ८१) यह चेतावनी दिये बिना उनसे न रहा गया। सुग्रीवको पता चल गया कि इनकी कथनी और करनीमें अन्तर नहीं है और उसने प्रतिज्ञापालनमें ही अपनी कुशल समझी।

एक ओर क्षमाशील, तापसवेषधारी रूप और दूसरी ओर शस्त्रास्त्रसे युद्धावाहन—इस विरोधाभाससे सीताको भी संदेह हुआ था। श्रीसीताजीने कहा—'कहाँ शस्त्रधारण और कहाँ वनवास! कहाँ क्षत्रियका हिंसामय कठोर कर्म और कहाँ सब प्राणियोंपर दया करना (अहिंसा-धर्म)! अतः हमलोगोंको देशधर्मका ही आदर करना चाहिये, अर्थात् तपोवनमें निवास करनेके कारण पूर्णतः अहिंसावादी रहना चाहिये।' व्यावहारिक रामको अहिंसाकी यह कायर परिभाषा मान्य नहीं थी। तापस-जीवनमें भी कमण्डलुके साथ दण्डके समन्वयको उन्होंने साधनाका अङ्ग माना। 'चाहे जहाँ, जिस स्थितिमें तपस्वी रहे, उसे यज्ञकी रक्षाके लिये संनद्ध रहना चाहिये और क्षत्रिय तो अपने धर्मसे और भी बँधा है।' श्रीरामने कहकर उन्होंने गुत्थीको सुलझाते हुए समझाया—

'देवि ! तुम्हें मैं क्या उत्तर दूँ ? तुमने ही पहले यह बात कही है कि क्षत्रियलोग इसलिये धनुष धारण करते हैं कि किसीको दुखी होकर हाहाकार न करना पड़े । दण्डकारण्यमें रहकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे मुनि बहुत दुःखी हैं—इसलिये ऋषियोंकी रक्षा करना मेरे लिये आवश्यक कर्तव्य है ।' अहिंसाका अर्थ कायरता नहीं है और न एकाङ्गी विकास ही कल्याणकारी हो सकता है ।

सशक्त और समर्थ होनेपर भी रामने प्रत्येक अवसरपर अन्तिम क्षणतक शान्तिका प्रयत्न किया । विरोधपत्र भेजे, परंतु उनके शान्ति-प्रयत्न और विरोधपत्र हमारे दुर्बल और प्रभावहीन विरोध-पत्रोंसे भिन्न थे । प्रतिपक्षीको यह विश्वास होना चाहिये कि विरोधपत्र केवल मौखिक न होकर प्रभावशाली कार्यरूपमें परिणत हो सकता है । तीन दिनोंतक समुद्रसे मार्ग देनेके लिये अनुनय-विनय करनेपर भी कार्य सिद्ध न होते देखकर रामको अपनी भूलका अनुभव हुआ । अनुनय-विनय उसी सीमातक उचित है, जबतक क्षमाशीलता दुर्बलता, असमर्थताका द्योतक न प्रतीत हो । श्रीलक्ष्मणसे श्रीरामने कहा—'यह समुद्र मुझे क्षमासे युक्त समझकर असमर्थ समझने लगा है । ऐसे मूर्खोंके प्रति की गयी क्षमाको धिक्कार है ।' —यों कहकर श्रीरामने भयंकर बाणको ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित-कर अपने श्रेष्ठ धनुषपर चढ़ाकर डोरीको खींचा । श्रीरघुनाथजी-के द्वारा सहसा उस धनुषके खींचे जाते ही पृथ्वी और आकाश मानो फटने लगे और पर्वत डगमगा उठे । सारे संसारमें अन्धकार छा गया । किसीको दिशाओंका ज्ञान न रहा, सरिताओं और सरोवरोंमें तत्काल हलचल पैदा हो गयी । सहसा समुद्र भयानक वेगसे युक्त हो गया और प्रलयकालके बिना ही तीव्रगतिसे अपनी मर्यादा लाँघकर एक-एक योजन आगे बढ़ गया । इसपर भी राम अपने स्थानपर दृढ़ रहे और अन्तमें अनुनय-विनयसे न माननेवाले सागरको प्रकट होकर सेतुके लिये मार्ग देना पड़ा ।

रामने रावणको अनेक बार कड़ा विरोध-पत्र भेजा; परंतु प्रत्येक विरोधपत्रके पीछे अतुलित पराक्रम और शक्ति थी, जिसका संदेशवाहकोंने समय-समयपर परिचय दिया । हनुमान् गये तो लङ्कादहनद्वारा अपनेको वानर-सेनाका सबसे छोटा एवं अशक्त वानर बताकर लङ्कावासियोंको चेतावनी दी । अङ्गदने शान्तिवार्ताके साथ रावणसभामें पैर रोपकर बड़े-बड़े योद्धाओं एवं वीरोंके हौसले पस्त कर दिये । उन्होंने किसी व्यक्ति अथवा देशविशेषकी मध्यस्थताकी प्रतीक्षा नहीं की और कहीं भी आत्मसम्मानको नहीं छोड़ा । रामने केवल बल और पराक्रमके बलपर शासन किया हो, ऐसी बात भी नहीं थी । उनका सबसे प्रभावशाली शासन हृदयपर था, जिसके कारण एक-एक वानर-रीछ उनके लिये प्राण देनेमें अपना अहोभाग्य समझता था । यदि राम पराक्रम और शौर्यके आदर्श हैं तो लोकप्रियताकी दृष्टिसे भी वे अद्वितीय आदर्श हैं । यदि हम वानरोंको असभ्य और पिछड़ी जंगली जाति भी मान लें, तो भी रामकी संगठन-प्रतिभाकी मुक्तकण्ठसे सराहना करनी पड़ती है । वानर-सेना बड़ी लगनसे सेतुबन्धन-कार्यमें जुट गयी । पर्वत-शिखरों, साल-बाँस आदि वृक्षों एवं शिलाखण्डोंसे समुद्रको पाटकर वानरसेनाने पाँच दिनोंमें सौ योजन तथा दस योजन चौड़ा सेतु तैयारकर असम्भवको सम्भव कर दिखाया । रावणको सहसा विश्वास ही नहीं हुआ; परंतु नलके बनाये हुए उस लंबे और चौड़े पुलको, जिसे बनाना बहुत ही कठिन काम था, देवताओं और गन्धर्वोंने देखा । रावणने शुक और सारणसे कहा—'यद्यपि समुद्रको पार करना अत्यन्त कठिन था, तो भी सारी वानर-सेना उसे लाँघकर इस पार चली आयी । रामके द्वारा सागरपर सेतुका बाँधा जाना अभूतपूर्व कार्य है । लोगोंके मुँहसे सुननेपर भी मुझे किसी तरह यह विश्वास नहीं होता कि समुद्रपर पुल बाँधा गया होगा । वानर-सेना कितनी है, इसका ज्ञान भी मुझे अवश्य प्राप्त करना चाहिये ।' कुशल, त्यागमय, पराक्रमी, पुरुषार्थी और लोककल्याणकारी श्रीरामके नेतृत्वमें वानर-सेना असम्भव कार्य कर सकी, जिसकी किसीको भी आशा नहीं थी । जिस कार्यको सामर्थ्यसे परे मानकर तत्कालीन सारे देवता, योद्धा निराश हो गये थे, उसे मानववपुधारी भगवान् श्रीराम और वानर-सेनाने कर दिखाया । उनके आत्मविश्वास, दृढ़निश्चय, पराक्रम और पुरुषार्थके सामने सारी बाधाएँ शिथिल पड़ गयीं ।

बीसवीं शताब्दीमें बापूद्वारा की गयी आदर्श स्वराज्यकी व्याख्या रामराज्यकी पर्यायवाची है । रामराज्य लोककल्याण—'**बहुजनहिताय बहुजनसुखाय**' के आदर्श एवं शताब्दियोंतक अनुकरणीय शासन-व्यवस्थाका प्रतिनिधित्व करता है ।

अयोध्यापुरीमें कोई भी ऐसा कुटुम्बी नहीं था, जिसके पास उत्कृष्ट वस्तुओंका संग्रह अधिक मात्रामें न हो, जिसे धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ सिद्ध न हो गये हों तथा जिसके पास गाय, बैल, घोड़े, धन-धान्य आदिका अभाव

हो। अयोध्यामें कहीं भी कृपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक मनुष्य देखनेको भी नहीं मिलता था। वहाँके सभी स्त्री-पुरुष धर्मशील, संयमी, सदा प्रसन्न रहनेवाले तथा शील और सदाचारकी दृष्टिसे महर्षियोंकी भाँति निर्मल थे। वहाँ कोई भी कुण्डल, मुकुट और पुष्पहारसे शून्य नहीं था। किसीके पास भोग-सामग्रीकी कमी नहीं थी। कोई भी ऐसा नहीं था, जो नहा-धोकर साफ-सुथरा न हो, जिसके अङ्गोंमें चन्दनका लेप न हुआ हो तथा जो सुगन्धसे वञ्चित हो। रामराज्यमें दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसीको नहीं व्यापते थे। किसीकी छोटी अवस्थामें मृत्यु नहीं होती थी, न किसीको पीड़ा होती थी। सभी नीरोग, सुन्दर और स्वस्थ थे। न कोई दरिद्र था और न दीन ही। वृक्ष फल-फूलोंसे लदे रहते थे, गौएँ मनचाहा दूध देती थीं, धरती सदा खेतीसे भरी रहती थी। पर्वत मणियोंकी खानोंसे भरे पड़े थे, समुद्री लहरें असंख्य रत्न किनारे लाकर डाल देती थीं। पृथ्वी सोना-चाँदी उगलती थी। सारा राज्य प्रत्येक दृष्टिसे आदर्श, सुव्यवस्थित और समृद्ध—धन-धान्यसे पूर्ण था। रामराज्यका शासन एकतन्त्रात्मक होकर भी प्रजातान्त्रिक था। मन्त्रिपरिषद्‌के सदस्य लोककल्याणार्थ पूर्ण निष्ठावान् एवं निःस्वार्थ थे। उनका राम सदैव आदर करते थे। रामने लोक-कल्याणकी शाश्वत मर्यादा और मान्यता प्रतिष्ठित की। रामकथा व्यक्तिगत होकर भी समष्टिगत है, सीमित होनेपर भी व्यापक एवं शाश्वत है—यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। रामने लोक-कल्याणकी शाश्वत मान्यताओंकी प्रतिष्ठा की।

आजके भारतको जैसी आवश्यकता रामकी है, सम्भवतः पहले कभी नहीं थी। भारतकी हजारों वर्गमील भूमिको पड़ोसी देश हथिया चुके हैं। शत्रु इन क्षेत्रोंको पदाक्रान्त कर रहा है और इसके आगे सीमा-विस्तारकी तैयारीमें लगा है। दैनिक जीवनमें जनसाधारणकी स्थिति एकतन्त्र एवं तानाशाही शासनकी अपेक्षा भी अधिक उपेक्षित एवं दयनीय है। कृषिप्रधान देशपर गरीबी और शोषणके कारण अकाल एवं कंगालीकी काली छाया मँडराती रहती है। हड़तालों, सीमाविवादों, पारस्परिक वैमनस्य, लोलुपतापूर्ण संघर्षों, गुटों, हिंसा, तोड़-फोड़, अराजकता, अध्यादेशों, लाठीचार्ज, गोलीवर्षा आदिसे जनजीवन संतप्त हो उठा है। सुरसाकी भाँति बढ़ती मँहगाई, हनुमान्‌जीकी पूँछकी भाँति नित्यप्रति बढ़ते टैक्सोंका असहनीय भार, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, मिलावट, मुनाफाखोरी आदि ही रावण, मेघनाद, कुम्भकर्ण, अहिरावण आदि राक्षस हैं, जिनके अत्याचारोंसे जनता कराह रही है। रामराज्य एक सुखद कल्पनामात्र रह गया है। पड़ोसी शत्रु देशको ललचायी आँखोंसे अवसरकी ताकमें घूरते गिद्धोंकी भाँति घात लगाये बैठे हैं। इन असंख्य दानवोंके, समाजका रक्त चूसकर खोखला करनेवाले असुरोंके संहारके लिये आज पुनः रामकी आवश्यकता है। उसके प्रलयंकारी धनुषके टंकारकी अपेक्षा है। कुछ ऐसे भी विपरीत भावापन्न व्यक्ति हैं, जो रामके अस्तित्वको अस्वीकृत करके या रामके व्यक्तित्वको विकृत करके 'रावणत्व'-के प्रचार-प्रसारमें संलग्न हैं। पश्चिमी चकाचौंधसे जिनकी दृष्टि चकित हो चुकी है, अथवा विदेशियोंद्वारा गलत ढंगसे लिखे गये (Intentionally misinterpreted) भारतीय इतिहास और साहित्यको पढ़कर जिनकी बुद्धि भ्रमित हो चुकी है, अथवा विधर्मियों या विदेशियोंके पैसोंके लोभमें पड़कर जिनकी राष्ट्रनिष्ठा और धर्म-निष्ठाकी भावनाएँ क्रीत हो चुकी हैं, ऐसे ही चकितदृष्टि, भ्रमित-बुद्धि तथा क्रीतभावना-वाले व्यक्ति ही अभद्र आयोजनोंके द्वारा, असामाजिक भाषणोंके द्वारा, अवाञ्छनीय साहित्यके लेखनद्वारा भारतीय जीवनकी उज्ज्वलतापर कालिख पोतना चाहते हैं। विपरीत भावापन्न एवं विपरीत कार्यरत ऐसे व्यक्तियोंके 'उद्धार'-के लिये भी आज 'राम'-की नितान्त आवश्यकता है। परंतु कलियुगमें वह राम हमारे निष्क्रिय होकर बैठने और रामावतारके भरोसे प्रतीक्षा करनेसे आनेवाला नहीं है। आज देशको ४५ करोड़ राम एवं दुर्गाकी आवश्यकता है। भारत-भूमिके जन-जनको सच्चे अर्थोंमें राम बनना होगा। अपने रामका पराक्रम, पुरुषार्थ, लोककल्याणकी सच्ची भावना, दृढ़ता, आत्मविश्वास उत्पन्न करनेके साथ निष्ठाप्रधान दृढ़संकल्पके साथ पुरुषार्थ करना होगा, तभी देशका कल्याण और उसके साथ आत्मकल्याण सम्भव है। रामकथाको ठीक प्रकारसे समझने और जीवनमें उसके अनुशीलनसे ही समस्याओंका समाधान मिल सकता है। राम वह अजस्र प्रेरणा स्रोत है, जिससे नैराश्यपूर्ण एवं प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी साहस और प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी। राम वह चिरन्तन प्रकाश-स्तम्भ है, जो गहनतम अन्धकारमें भी जन-जनका कल्याणकारी मार्गदर्शन करता रहेगा।

रामचरितकी व्यापकता

(लेखक—प्रो० श्रीकृष्णदत्तजी वाजपेयी)

भारतीय सांस्कृतिक निधि जिन जाज्वल्यमान रत्नोंसे परिपूर्ण है, उनमें मर्यादापुरुषोत्तम राम तथा कर्मयोगी कृष्णके उदात्त चरित विशिष्ट स्थान रखते हैं। युग-युगसे इन दोनों लोकनायकोंकी जीवनगाथाएँ विविध रूपोंमें भारत और उसके बाहर अनेक देशोंमें व्याप्त रही हैं।

रामकथाकी लोक-व्यापकता अनेक रूपोंमें मिलती है। कवि और नाट्यकार, शिल्पी तथा संगीतकार—सभीने अपनी-अपनी रुचि और श्रद्धाके अनुसार रामकथाका वर्णन किया और उसके द्वारा अपनी कृतियोंको अमर बनानेकी चेष्टा की। भारतके अनेक क्षेत्रोंसे रामायण-विषयक प्राचीन कलाकृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। झाँसी जिलेके देवगढ़ नामक स्थानके प्रसिद्ध दशावतार-मन्दिरमें रामकथाके कई शिलापट्ट मिले हैं। मध्यप्रदेशके नचना (जिला पन्ना) में हालमें महत्त्वपूर्ण गुप्तकालीन मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें रामकथाके रोचक दृश्य प्रदर्शित हैं। इन दृश्योंमें शूर्पणखाद्वारा प्रलोभन, सीता-हरण, अशोक-वाटिकामें सीता, वानरोंद्वारा सेतु-निर्माण आदि उल्लेखनीय हैं। कलाकी दृष्टिसे ये शिलापट्ट उच्च कोटिके हैं। विन्ध्यक्षेत्रमें गुप्तकालीन मूर्तिकलाका जो अत्यन्त निखरा हुआ रूप मिलता है, उसके ये ज्वलन्त उदाहरण हैं। दक्षिण भारतके अनेक मन्दिरोंमें भी रामकथाको मूर्तरूप प्रदान किया गया है।

रामायण-विषयक अत्यन्त सुन्दर चित्र राजस्थानी तथा पहाड़ी कलाओंमें उपलब्ध हैं। इन चित्रोंमें रामकथाके रोचक रूपोंको लिया गया है। काँगड़ा तथा गुलेर-शैलियोंके चित्र उत्कृष्ट कोटिके हैं। इन चित्रोंमें विविध कथा-दृश्योंको उनके प्राकृतिक परिवेशमें आलेखित करनेमें चित्रकारोंने सराहनीय सफलता प्राप्त की।

रामकथाका उदात्त एवं लोकरञ्जक रूप भारतकी सीमाओं-में ही आबद्ध नहीं रहा, वह समुद्रोंको लाँघकर सुदूर पूर्वके देशोंतक व्याप्त हो गया। इन देशोंमें भारतीय संस्कृतिका प्रसार अबसे लगभग दो हजार साल पहले हो गया था। हिंदचीन तथा हिंदेशियाके अनेक भागोंमें भारतीय बस्तियाँ बस चुकी थीं। यूनानी लेखक टॉलमीके वर्णनोंसे पता चलता है कि "ई० दूसरी शतीतक ताम्रलिप्ति (तमलुक, जिला मिदनापुर, बंगाल) के पूर्वसे लेकर टोंकिनकी खाड़ीतक भारतीय लोग बस गये थे। अधिकांश बस्तियोंके नाम भारतीय प्रान्तों तथा नगरोंके अनुरूप ही रखे गये थे। आधुनिक कम्बोडियाका प्राचीन नाम 'कम्बुज', हिंदचीनके पूर्वी प्रदेशका नाम 'मालव' एवं 'दशार्ण' तथा अनामका नाम 'चम्पा' रखा गया। इसी प्रकार सुमात्राका एक भाग 'श्रीविजय' कहलाया। नगरोंके नाम भी अयोध्या, मथुरा, श्रीक्षेत्र, रामावती, रामपुर, द्वारवती, विक्रमपुर आदि हुए। गुप्तकालतक हिंदचीन तथा हिंदेशियाके अधिकांश क्षेत्रोंमें भारतीय रीति-रिवाज, रहन-सहन, भाषा-साहित्य तथा कलाका व्यापक प्रसार हो गया।"

दक्षिण-पूर्व एशियाके उक्त देशोंमें अनुकूल सामाजिक वातावरण उत्पन्न हो जानेपर वहाँ भारतीय संस्कृतिको विकसित होनेका अच्छा अवसर मिला। स्थानीय शासकवर्गने इस दिशामें बड़ा योग दिया। कम्बुज, चम्पा, सुमात्रा और जावाके शासकोंने भारतीय संस्कृतिको विविध रूपोंमें प्रोत्साहन दिया। इन प्रदेशोंमें हिंदू और बौद्ध स्मारक तथा कलाके जो बहुसंख्यक अवशेष मिले हैं, उनसे इस बातकी पुष्टि होती है। मलाया और हिंदेशियासे विष्णु, शिव, ब्रह्मा, गणेश, कार्तिकेय, दुर्गा आदि देवी-देवताओंकी पुरानी मूर्तियाँ बड़ी संख्यामें प्राप्त हुई हैं। कम्बुजमें बनतेचमर, अंकोरवट, बकुल आदि स्थान भारतीय धर्म और कलाके महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। कम्बुजमें भारतीय ढंगके आश्रम भी थे, जिनमें भारतीय गुरुकुल-प्रणालीसे अध्ययन-अध्यापन होता था।

ई० दसवीं शतीके बाद कम्बुजके भारतीय राज्यकी शक्ति बहुत बढ़ी। राजा जयवर्मा पञ्चमके समयसे कम्बुजमें हिंदूधर्मका विशेष उत्थान हुआ। १११२ ई०में सूर्यवर्मा द्वितीय कम्बुजका शासक हुआ, जिसने वैष्णवधर्मके उत्थानमें बड़ा योग दिया। उसीने कम्बुजकी राजधानी यशोधरपुरमें अंकोरवटका प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। यह मन्दिर वास्तु तथा मूर्तिकलाके सर्वश्रेष्ठ उदाहरणोंमेंसे है। ऊँचाईमें यह जावाके बोरोबुदुर मन्दिरसे भी बड़ा है। अंकोरवटके इस विशाल मन्दिरमें रामायणकी कथा अमर कर दी गयी है। शिलापट्टोंपर श्रीरामजन्म, सीता-स्वयंवर, वनवास, सीता-अपहरण, राम-रावण-युद्ध, राज्याभिषेक आदि घटनाओंको अत्यन्त सजीवता-से चित्रित किया गया है। इन कृतियोंको देखकर कलाकारों-

की प्रतिभाके आगे नत-मस्तक हो जाना पड़ता है। इनमें रामायणकी पूरी कथा मुखरित हो उठी है।

यवद्वीप (जावा) में नवीं शतीमें परंबनं नामक स्थान-पर तीन विशाल मन्दिरोंका निर्माण हुआ। ये क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिवके मन्दिर हैं। शिववाले मन्दिरमें अंकोरवट-के मन्दिरकी भाँति रामकथाको मूर्तरूप प्रदान किया गया है। मन्दिरमें रामायणके विविध दृश्य यथाक्रम सजीवताके साथ प्रदर्शित हैं।

कम्बोडिया और जावाके इन विशाल मन्दिरोंमें रामायणकी लोकरञ्जक कथाको व्यापकरूपसे अङ्कित किया गया और उसे शिल्पके माध्यमसे अमरता प्रदान की गयी। कलाके ये उदाहरण विदेशोंके साथ भारतके दीर्घकालीन सांस्कृतिक सम्बन्धके ज्वलन्त प्रमाण हैं और श्रीरामकी अमर कहानीकी याद आजतक सँजोये हुए हैं। इतने विस्तृतरूपमें रामकथाका प्राचीन शिल्पमें अङ्कन भारतमें कहीं देखनेको नहीं मिलता। ये प्राचीन शिल्प-कृतियाँ विदेशोंमें भारतीय सांस्कृतिक विजयका रोचक प्रतिनिधित्व करती हैं।

केवल शिल्पमें ही नहीं, उक्त देशोंके साहित्य तथा संगीतमें भी रामकथाको गौरवपूर्ण स्थान मिला है। दक्षिण-पूर्व एशियाके प्राचीन साहित्यमें रामकथा-सम्बन्धी कितनी ही गाथाएँ मिलती हैं, जिनसे वहाँके निवासी आनन्द एवं प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं। स्याम, अनाम तथा हिंदेशियाके लोक-साहित्यमें रामकथाके विविध रूप आज भी प्रचुरमात्रामें उपलब्ध हैं। हिंदेशियाके कितने ही भागोंमें अबतक भारतीय संगीत और नृत्यकी परम्परा जीवित है। उसमें रामलीलाका भी स्थान है। विविध परिधानों एवं अलंकारोंसे सजकर आज भी बाली, जावा आदिके स्त्री-पुरुष रामलीला करते हैं। इन द्वीपोंमें ये नाट्यलीलाएँ बड़ी पुरानी हैं। पूर्वमध्यकालमें धनपालद्वारा रचित 'तिलकमञ्जरी' नामक गद्य-आख्यायिकामें आया है कि इन द्वीपोंमें समय-समयपर धार्मिक लीलाएँ हुआ करती थीं, जिन्हें देखनेके लिये अठारह द्वीपोंके लोग एकत्रित हुआ करते थे।'

इन सांध्य नृत्य-लीलाओंकी दूर-दूरतक प्रसिद्धि हो गयी थी—यहाँतक कि सुदूर अयोध्याकी रानी मदिरावतीको भी एक बार यह दोहद-अभिलाषा हुई कि सागरके पार स्थित देव-मन्दिरोंमें इस प्रेक्षा-नृत्यको देखा जाय। इसका रोचक उल्लेख उक्त 'तिलकमञ्जरी' (पृ० ७५) में इस प्रकार मिलता है—

'विबुधवृन्दपरिवृता शश्वतेषु सागरान्तद्वीपसिद्धाय-तनेषु सांध्यमारब्धसम्प्सरोभिः प्रेक्षानृत्यमीक्षितुमकाङ्क्षत्।'

इन तथा अन्य साहित्यिक एवं अभिलेखीय विवरणोंसे ज्ञात होता है कि दक्षिण-पूर्व एशियाके देशोंमें संगीत तथा नाट्यके विविध लोकरञ्जक कार्यक्रम होते रहते थे। ये कार्यक्रम मुख्यतः रामायण, महाभारत, पुराण तथा जातक-ग्रन्थोंकी मनोरञ्जक एवं प्रेरणाप्रद कथाओंपर आधारित रहते थे। इनमें द्वीपस्थ-जनोंके अतिरिक्त आस-पासके देशोंके लोग भी बड़ी संख्यामें सम्मिलित होते थे।

श्रीरामसे याचना

कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥
नमो वेदादिरूपाय ओंकाराय नमो नमः। रामाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥
जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने। भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥
रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम। भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥

(श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद् ४। १२—१५)

कामरूपधारी तथा मायामय स्वरूप ग्रहण करनेवाले श्रीरामको नमस्कार है। वेदके आदिकारण ओंकारस्वरूप श्रीराम-को नमस्कार है। रामा—श्रीसीताजीको धारण करनेवाले अथवा रमणीय अधरोंवाले, आत्मरूप, नयनाभिराम श्रीरामको नमस्कार है। श्रीजानकीजीका शरीर ही जिनका आभूषण है, अथवा जो श्रीजनकनन्दिनीके श्रीविग्रहको स्वयं ही श्रृङ्गार आदिसे विभूषित करते हैं, जो राक्षसोंके संहारक तथा कल्याणमय विग्रहवाले हैं तथा जो दशमुख रावणका अन्त करनेके लिये यमराजस्वरूप हैं, उन मङ्गलमय श्रीरघुवीरको नमस्कार है। हे रामभद्र! हे महाधनुर्धर! हे रघुवीर! हे नृपश्रेष्ठ! हे दशवदन-विनाशक! हमारी रक्षा कीजिये तथा हमें ऐसी श्री—ऐश्वर्य-सम्पदा दीजिये, जिसका सम्बन्ध आपसे हो, अर्थात् जो भगवत्प्रीत्यर्थ ही उपयोगमें लायी जा सके।

श्रीरामकी समदर्शिता तथा भक्त-वत्सलताका रहस्य

(लेखक—वेदान्ती स्वामी श्रीरँगीलीशरण देवाचार्य, साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, मीमांसा-शास्त्री)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९। २९)

परात्पर ब्रह्म सर्वेश्वर भगवान् यदि अपने भजन करनेवाले भक्तोंको ही भोग-मोक्ष प्रदान करते हैं तो फिर वे समदर्शी कैसे ?—इस शङ्काका समाधान करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—'मैं सभी—देव-पशु-पक्षी-मनुष्य अर्थात् उत्तम-मध्यम-अधम प्राणियोंमें समानभावसे व्याप्त हूँ। मैं सबके लिये समदर्शी हूँ, मेरा किसीसे राग-द्वेष नहीं है। किसी भी उपासकके जाति-गुण और ऊँच-नीच भावको बिना देखे ही मैं उसे अपना लेता हूँ।'

जिस प्रकार आम-अनार-अंगूर-अमरूद आदिके बीजोंको अङ्कुरित करनेके लिये जल बीजगत शक्तिको उद्बुद्ध करता है; फिर जैसी जिस बीजमें शक्ति होती है, उसीके अनुकूल फूल-फल, गुण-दोष उस पौधेमें पैदा हो जाते हैं, जल उनमें कोई विषमता नहीं पैदा करता; जैसे अग्निके पास जानेवाले किसी भी प्रकारके प्राणीका शीत एवं अन्धकारजन्य कष्ट दूर हो जाता है, अग्निका किसीसे न द्वेष है और न प्रीति है; वह तो सबके लिये समान है; जैसे कल्पवृक्ष अपने आश्रितजनके मनोरथको बिना भेद-भावके पूर्ण करता है, उसमें कोई विषमता नहीं है, वह सबके लिये समान है; इसी तरह भगवान् राम भी सबके लिये समदर्शी हैं।

या ते धामानि परमाणि यावमा
या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः
स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥

(ऋ० १०। ८१। ५) [गीता ९। २९ पर केशवकाश्मीरी भ० की व्याख्या एवं परमार्थप्रपाका सारांश]

श्रीमद्भागवतमें युधिष्ठिरने कहा है—

न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्
सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः।
संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र॥
(१०। ७२। ६)

अर्थात् आप सबके आत्मा, समदर्शी और स्वयं आत्मानन्दके साक्षात्कार हैं, स्वयं ब्रह्म हैं। आपमें यह मैं हूँ और यह दूसरा; यह अपना है और यह पराया—इस प्रकारका भेद-भाव नहीं है। फिर भी जो आपकी सेवा करते हैं; उन्हें उनकी भावनाके अनुसार फल मिलते ही हैं—ठीक वैसे ही जैसे कल्पवृक्षकी सेवा करनेवालेको उसकी सेवाके अनुरूप फल मिलता ही है। इससे आपमें विषमता आदि दोष नहीं आते—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति।'
(२। १। ३२-३३)

तथा 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु···' (२। ३। ४२)

—आदि सूत्रोंमें भी उपर्युक्त भाव निर्दिष्ट है। जैसे अनेक प्रकारके बीजोंमें बीज-शक्तिके अनुसार ही फल होते हैं, जल उसमें विषमता पैदा नहीं करता, उसी प्रकार पूर्वकर्मस्वभावानुसार ही विभु जीवको भी फल प्रदान करते हैं।

गीतामें भी कहा है—

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥
(१६। १९)

'जो दुष्ट कर्म करनेवाले होते हैं; उन नराधमोंको मैं निरन्तर सूकर-कूकर आदि नीच योनियोंमें डालता रहता हूँ। वे मुझे न प्राप्त होकर संसारकी नीच योनियोंमें घूमते रहते हैं; क्योंकि पुण्यकर्मसे ही पुण्यकर्म होता है और पापकर्मसे मनुष्यको बराबर पापकर्मकी प्रेरणा मिलती है।' (वेदान्तसूत्रपर श्रीनिवासाचार्यके वेदान्तकौस्तुभ भाष्यका सारांश)

कर्ताकी साधुता-असाधुताकी फल-व्यवस्था भक्ति-अभक्तिके अनुसार ही होती है। देवगुरु बृहस्पतिके शब्दोंमें तुलसीदासजीने भी कहा है—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥
(मानस २। २१८। २–२½)

इसीलिये व्याध, कुब्जा, गजेन्द्र, शबरी, गुह-निषाद, वानर-भालु—सभीको प्रभुने अपना लिया। व्याधका कोई पुनीत—पवित्र चरित्र नहीं था। ध्रुव पाँच वर्षके भोले-भाले बालक थे। गजेन्द्र पशु था, कोई विद्या आदि उसके पास नहीं थी। कुब्जा कोई रूपवती युवती नहीं थी। सुदामा

एक निर्धन ब्राह्मण थे। विदुर दासी-पुत्र थे। यादवपति उग्रसेनका कोई पुरुषार्थ नहीं था। किंतु इन सभी महानुभावोंमें प्रभुके प्रति निष्कपट पुनीत प्रेम था, अतः प्रभु प्रसन्न हो गये; जटायुकी भक्तिसे प्रभावित होकर उन्होंने अपनी पवित्र जटाओंसे उसकी धूलतक झाड़ी—'जटायुकी धूर जटान सों झारी'। किसी भक्तने कहा है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नामरूपमधिकं किं तत् सुदाम्नो धनम्।
का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

श्रीहनुमान्‌जीने अपने प्रभुके इस स्वभावका परिचय देते हुए विभीषणसे यही कहा था, जिससे कि विभीषणके हृदयमें लोकरावण रावणके बन्धु होनेका पश्चात्ताप न हो—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥
(मानस ५।६।३-३½)

क्योंकि भगवान् तो भक्तिमान्‌से ही प्यार करते हैं। सेवकके समान उन्हें दूसरा कोई प्रिय नहीं है। चतुर्वेदका प्रवक्ता चतुरानन ब्रह्मा भी यदि भक्तिहीन है तो भगवान् उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। कलिन्दनन्दिनीके कूलपर दुकूलधारी वृन्दावनविहारीने ब्रह्माकी ओर नहीं देखा। जब भक्तोंने देखनेका आग्रह किया, तब ब्रह्माकी कोई बात सुनी। गोस्वामीजीने इसका बहुत सुन्दर चित्रण किया है—

भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥
(वही, ७।८५।५)

हनुमान्‌जीसे स्वयं भगवान् राम भी कहते हैं—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥
(वही, ४।२।४-३)

मुझे लोग समदर्शी कहते हैं; पर मुझे अनन्यगति सेवक परम प्रिय है; और हे हनुमान्! अनन्य भक्त वही है, जिसकी यह बुद्धि कभी नहीं टलती कि जड-चेतन—सारा जगत्—मेरे स्वामी भगवान्‌का रूप है और मैं सेवक हूँ। भागवतमें भी कहा है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(११।२।४१)

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्यादि ग्रह-नक्षत्र, जीव, दिशाएँ, वृक्ष आदि उद्भिज्ज जातिके जीव, नदियाँ और समुद्र तथा जो कोई भी प्राणी हैं, वे सब श्रीहरिका ही शरीर हैं—यह मानकर भगवान्‌का अनन्य भक्त उन्हें प्रणाम करे।

यही बात महारामायणमें भी कही गयी है—

भूमौ जले नभसि देवनरासुरेषु
भूतेषु देव सकलेषु चराचरेषु।
पश्यन्ति शुद्धमनसा खलु रामरूपं
रामस्य ते भुवितले समुपासकाः स्युः॥

'देव! जो भूमि, जल, आकाश, देवता, मनुष्य, राक्षस तथा सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंमें शुद्ध मनसे राम-रूपका दर्शन करते हैं, वे ही इस संसारमें रामके अनन्य उपासक हो सकते हैं।'

भगवान्‌की समदर्शिताको स्पष्ट करते हुए तुलसीदासजी एक उदाहरण देते हैं—

सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥
(रामचरित० उत्तरका० ८६।८७।१-४; क, ख)

'शुचि, सुशील और सुमति सेवक, बताइये, किसे प्रिय न होगा। ऐसा सेवक तो औरोंकी अपेक्षा सदा ही विशेष प्रिय होता है। एक पिताके अनेक लड़के होते हैं। उनमें कोई पण्डित, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई वीर, कोई दानी, कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मपरायण होता है। पिताके लिये सभी समान हैं; किंतु यदि कोई पुत्र पिताकी मन, वाणी और कर्मसे केवल भक्ति करता हो, स्वप्नमें भी किसी अन्य कार्यके प्रति उसकी आसक्ति न हो; भले ही उसमें और किसी प्रकारकी चतुरता नहीं है, तो भी पिताके प्रति उसकी अनन्यता उसे पिताका सबसे अधिक प्रिय बना देती है। भगवान् भी इसी प्रकार सबपर प्रेम करते हैं—चाहे वह पुरुष हो, नपुंसक हो, अथवा नारी हो। किंतु जो भी कोई—सर्वभावसे उन्हें ही सब कुछ समझकर—उनका भजन करता है, वह उन्हें परम प्रिय होता है। इसीलिये कहा गया है कि भगवान्का परमप्रिय बननेके लिये सबकी आशा-भरोसा छोड़कर एकमात्र उन्हींका भजन करना चाहिये।'

प्रसिद्ध संत भक्त भगवतरसिकजी भी ऐसा ही उपदेश देते हैं—

रुचि लै सुचि सेवा करै सेवक कहियै सोय।
तन मन धन अर्पन करै, रहै अपनपौ खोय॥

गीतामें तो इसका स्पष्ट आश्वासन है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

'अर्जुन! जो पुरुष अनन्यचित्तसे निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य योगयुक्त भक्तके लिये मैं सदैव सुलभ हूँ।'

वे सुलभ ही नहीं हैं, बल्कि वे भक्तकी प्रतिज्ञाको अपनी प्रतिज्ञा समझ लेते हैं और यदि उसे पूरा करना आवश्यक होता है तो उसके लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। सभी जानते हैं, महाभारत-युद्धमें भगवान् निरस्त्र होकर अर्जुनके सारथि बने थे। पर एक दिन पितामह भीष्म प्रतिज्ञा कर बैठे कि 'आज ऐसा भयानक युद्ध करूँगा, जिसके कारण भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर शस्त्र धारण करना ही पड़ेगा।' भगवान् ठहरे भक्तवत्सल; उनके लिये अपना कहनेको कुछ नहीं है, सब कुछ भक्तका ही है। भक्तका मान उनका मान है, भक्तका अपमान उनका अपमान है।

भगवान् सदैव सेवककी रुचिका ध्यान रखते हैं—इस विषयमें वेद, पुराण, साधु, देवता सभी इसके साक्षी हैं।

'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥'

(मानस २।२१८।३½)

भक्तका अपराध करनेवालेको वे अपना ही अपराध करनेवाला मानते हैं। उनका कोई अपराध करे तो उसकी उन्हें चिन्ता नहीं; खयाल भी नहीं करते उसका वे; किंतु भक्तका अपराध करनेवाला व्यक्ति तो अपने लिये कालको ही आमन्त्रण दे देता है। (देवगुरु बृहस्पतिद्वारा कथित) गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥

(मानस २।२१७।२-३)

राम-रोष-पावकसे ही सोनेकी लङ्का खाक हो गयी। यह भक्त विभीषणका अपराध ही रावण और लङ्काके लिये अग्नि बन गया।

शङ्कालु इन्द्र भी भक्त भरतके भावको न भाँप सके। भरत ऐसे भक्त हैं, जिनकी जनक-जैसे ज्ञानिशिरोमणि भी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं—

'भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥'

(मानस २।२८८।३)

समता-सिन्धु श्रीरामकी समताकी सीमाको तोड़कर भरतकी मधुमयी ममताने यह कहला दिया कि—

'भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥'

(मानस २।२१७।३½)

अम्बरीषके साथ दुर्वासाके व्यवहारसे प्रायः सभी लोग परिचित हैं। साथ ही दुर्वासाके पीछे पड़नेवाले सुदर्शनकी बात भी लोग जानते ही हैं। आखिर दुर्वासाको अपनी विपत्तिसे मुक्ति पानेके लिये अम्बरीषकी—भगवान्की नहीं, भगवान्के भक्तकी ही शरण लेनी पड़ी थी। श्रीमद्भागवतमें आया है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(९।४।६३)

प्रभु भक्त अम्बरीषके दैन्यादिभावपर दयाद्रवित होकर भक्तापराधी, तीव्र तपस्याभिमानी, चक्रसे भयभीत दुर्वासाकी

दुर्दशा देख बोले—'दुर्वासाजी! क्या बताऊँ, मैं तो पूरी तरहसे भक्तोंके अधीन हूँ, तनिक भी स्वतन्त्र नहीं। मेरे सीधे-सादे भक्तोंने मेरे हृदयको अपने वशमें कर रखा है। वे मुझसे ही प्रेम करते हैं और मैं भी उनसे ही प्रेम करता हूँ।'

'मेरे अनन्य प्रेमी भक्त मेरी सेवा करके ही अपनेको कृतकृत्य समझते हैं और सेवाके फलस्वरूप मिलनेवाली मुक्ति-तकको स्वीकार नहीं करते, फिर नाशवान् अन्य वस्तुओंको लेनेकी तो बात ही नहीं उठती।

'अपने भक्तोंका मैं ही एकमात्र आश्रय हूँ। उनके लिये न मैं अपने आपकी परवा करता और न अपनी परम प्रिय भार्या—लक्ष्मीकी ही। जो भक्त स्त्री, पुत्र, गृह, गुरुजन, प्राण, धन, इहलोक, परलोक—सभीको छोड़कर एकमात्र मेरी ही शरणमें आ गये हैं, उनको छोड़नेकी बात भी मैं कैसे सोच सकता हूँ। जैसे सती स्त्री अपने पातिव्रतसे सदाचारी पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही समदर्शी साधु अपने प्रेमबन्धनमें बाँधकर अपनी भक्तिके द्वारा मुझे वशमें किये रहते हैं।

'मैं अधिक क्या कहूँ। मेरे प्रेमी भक्त मेरे हृदय हैं और उन प्रेमी भक्तोंका हृदय मैं स्वयं हूँ। वे मेरे अतिरिक्त कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता।'

(वही, ९। ४। ६४ से ७१ तक)

इसी विषयमें निषादका उदाहरण देते हुए और श्रीसीतापति प्रभुके भजनका प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाते हुए गोस्वामीजी निषाद और महर्षि वसिष्ठका मिलन कितनी प्रियताके साथ बतला रहे हैं—

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥

जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

(मानस २। २४२। ४; २४३)

गुहराज-जैसे अधम जातिके व्यक्तिको भी वे अपना समझते हैं और वैसा ही व्यवहार उसके साथ करते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

'सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो।'

(मानस ६। १२०। २)

क्योंकि गुहके हृदयमें भगवान्‌के लिये अटूट प्रीति थी—

'प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥'

(मानस ६। १२०। ६)

प्रभुकी कृपा पानेके लिये दीनताका रहना अपेक्षित है—

'कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते।' (वेदान्त-कामधेनु, निम्बार्काचार्य)

दैन्यादि-लक्षणलक्षित भावुक भक्तके ऊपर प्रभुकी कृपा अवतरित होती है। भक्तोंमें धन-जन, रूप-गुण, ऊँचता-चतुराई आदिको लेकर भेद नहीं होता—

'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।'

(नारद-भक्तिसूत्र, ७२)

कोई व्यक्ति अनाचारी, दुराचारी, पापाचारी, भ्रष्टाचारी ही क्यों न हो, यदि वह प्रभुकी अनन्यभावसे निष्ठापूर्वक भक्ति करता है तो भगवान् उसके सब भेदोंको भूलकर उसे स्वीकार कर लेते हैं। दैवयोगसे उसके क्रिया-कलापमें यदि दोष भी आ जाय तो भी प्रभु स्वप्नमें भी उस दोषको ध्यानमें नहीं लाते और 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना' (मानस ५। ४७। २) के अनुसार तुरंत ही उसे रूपान्तरित करके साधु बना देते हैं। गीतामें भी इसी तत्त्वको प्रकट किया गया है—

'साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥'

(९। ३०)

जब सम्पूर्ण सुखोंके राशि प्रभु श्रीराम सकल ज्ञानाभिमानी ऋषि-मुनिवृन्दको छोड़कर गुरु और प्रभुपर विश्वास रखनेवाली, अपनेको सब प्रकारसे साधनहीन, नीच, अधम माननेवाली शबरीके पास पहुँचे, तब वह उदार-शिरोमणि शोच-विमोचन, कमल-दल-लोचन श्रीरामका प्रत्यक्ष दर्शन करके निहाल हो गयी और फल-फूल आदिसे उनका हार्दिक स्वागत करके हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगी—

केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी॥
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

(मानस ३। ३४। १—१½)

'भगवन्! मैं आपकी किस प्रकारसे स्तुति करूँ; क्योंकि मैं तो अधम-से-अधम, मतिमन्द तथा पापकी राशि नारी हूँ।'

शबरीकी इस प्रार्थनाको सुनकर भक्तवत्सल प्रभु रस-मूल, फल-फूलको खाकर सबके प्रति समता और भक्तके प्रति ममता दिखलाते हुए बोले—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥

भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(मानस ३। ३४। २-३)

भक्तके दिये हुए फल-फूल-साग आदि भी भगवान् प्रसन्न होकर स्वीकार करते हैं और अभिमानी दुर्योधनादिकी विविध पकवान-सामग्रीको भी ठुकरा देते हैं। यह कथानक महाभारतके विदुरप्रसङ्गादिमें तथा भक्तमाल आदिमें बहुत प्रसिद्ध है—

स्वयं प्रभु कहते हैं कि पत्र, पुष्प, फल, जल भक्तिपूर्वक कोई भी मुझे दे तो मैं उसका भोग लगाता हूँ—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९। २६)

जिनको वेद—'अनश्नन् अभि चाकशीति' (ऋ० सं० १। १६४। २०) कहता है अर्थात् जो न खाते हुए प्रकाशित होते हैं, वे ही प्रभु सारे भेदभावको भुलाकर शबरीके बेर और विदुरानीके केलेके छिलके माँग-माँगकर खाते हुए नहीं अघाते। इतना ही नहीं, भक्तवत्सल प्रभु भक्तोंके हाथ बिक जाते हैं। यथा—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

यदि निज दास गलिताभिमान होकर श्रीरामप्रभुके पास आकर एक बार भी यह कह दे कि 'भगवन्! मैं आपका हूँ' तो वे सर्वभूतोंसे उसे अभय कर देते हैं—एक बार शरणमें आते ही प्रभु उसे अपना लेते हैं; क्योंकि यह तो उनकी प्रतिज्ञा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा० ६। १८। ३३)

तुलसीदासजीका भी यही कहना है—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किए अपनाए॥

भक्तके सम्बन्धमें कहा गया है—

बिधि-निषेध आदिक जिते कर्म-धर्म तजि तास।
प्रभु के आश्रय आवही, सो कहिये निज दास॥

(महावाणीः श्रीहरिव्यासदेवजी)

"विधि-निषेध आदिके विषय कर्म-धर्मको छोड़कर जो प्रभुकी शरणमें आता है, उसीको 'निज दास' कहते हैं।"

प्रभु अपने भक्तोंके लिये निर्भीकपणसे स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—'तुम्हारे समान संत मुझे प्रिय हैं और संतोंके लिये ही मैं देह धारण करता हूँ। भक्त मुझे भूल जाय तो भी मैं भक्तको नहीं भूलता। जैसे कृपण धनको याद करता है, उसी तरह मैं भक्तको याद करता हूँ; क्योंकि भक्त सर्वभावोंका समन्वय मुझमें ही करता है; उसी प्रकार जैसे अबोध बालक माताके ऊपर निर्भर रहता है। माता हजारों कार्योंको छोड़कर बालककी थोड़ी-सी भी असुविधा देखती है तो उसे पूरा करनेका प्राणपणसे प्रयत्न करती है। जो बड़े बालक माताकी परवा नहीं करते, उनके लिये माता भी चिन्तित नहीं होती।

ऋग्वेदके भी एक मन्त्रने यह बात स्पष्ट कर दी है कि भगवान्‌की कृपा समानरूपसे सबके लिये बराबर उतरती है; किंतु प्राणियोंके कर्मके अनुसार फलमें विषमता हो जाती है—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥

(ऋ० १०। ७१। ७)

अर्थात् जिस प्रकार एक-से कानवाले, एक-सी आँखवाले अनेक शिष्य एक ही गुरुके पास पढ़ते हों और गुरुके द्वारा एक ही समयपर पढ़ाये हुए विषयको अपनी ग्रहणशक्तिके अनुसार कम या अधिक या बिल्कुल नहीं ग्रहण कर पाते, उसी प्रकार सुखके स्रोत परमात्माके एक ही होनेपर भी प्राणी अपनी श्रद्धा और विश्वासके अनुसार उसे उसी मात्रामें ग्रहण करता है। जिस प्रकार जो शिष्य गुरुके जितना समीप होता है तथा उनकी प्रवृत्ति और प्रकृतिसे ऐक्य स्थापित किये रहता है, वह उतना ही अधिक उनकी बातको समझता तथा ग्रहण करता है, उसी प्रकार भगवान्‌से जो व्यक्ति जितना अधिक ऐक्य स्थापित किये रहता है, उसे उतने ही अधिक सुखकी प्राप्ति और अनुभूति होती है।

गुरु सभी शिष्योंको एक-सी ही विद्याका दान देता है। किसीकी ज्ञानशक्तिको न तो वह बढ़ाता है और न किसीकी ज्ञानशक्तिका अपहरण करता है; किंतु फलमें—परिणाममें प्रभूत भेद देखनेमें आता है। जो मेधावी छात्र हैं, वे गुरुके संकेतपर विद्या ग्रहण कर लेते हैं—और जो मन्द बुद्धिवाले हैं, वे नहीं कर पाते। जैसे एक स्वच्छ मणि बिम्बको ग्रहण करनेमें समर्थ है और मिट्टीका ढेर प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं कर सकता। 'नैषधीयचरित' (३। ९१) में तो यहाँतक कहा है—

गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमर्तिः।

तीव्र बुद्धि बिना उपदेशके भी तत्त्व ग्रहण कर लेती है। विशिष्टानुभूति भवभूति इसी विषयको विशेष सुन्दरतासे समझाते हैं—

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति हि पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः॥

(उत्तररामचरित २। ४)

जैसे कल्पतरुके तले जाकर कामना करनेवालेको ही अभिलषित वस्तुकी उपलब्धि होती है, यद्यपि वह सबको समभावसे देता है, किसी व्यक्तिविशेषके साथ विषमता नहीं करता, इसी प्रकार भगवान्‌के लिये न कोई प्रिय है न अप्रिय, न कोई शत्रु है न कोई मित्र और न कोई उपेक्षाका ही पात्र है। वे अपने पास आनेवाले उपासकको उसकी योग्यताकी ओर ध्यान न देकर उसे आत्मसात् कर लेते हैं—

न तस्य कश्चिद्दयितः सुहृत्तमो
न च प्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा।
तथापि भक्तान् भजते यथा तथा
सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३८। २२)

'कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥'

(मानस ५। ४३। १/२)

भगवान् कल्पवृक्षसे भी श्रेष्ठ हैं, इसका एक दृष्टान्त देखिये—

एक लकड़हारा जंगलमें मार्ग भूल गया। वह भूख-प्याससे परिश्रान्त होकर दैवयोगसे एक कल्पतरुके तले बैठ गया। उसे वहाँ शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन मिलनेसे सुख मिला। अब वह उस वृक्षको बिना कल्पपादप जाने ही कल्पना करने लगा कि 'प्यासा हूँ; कहीं पानी मिल जाता।' यों कामना करते ही तुरंत उसके सामने रत्नपात्रमें जल आ गया और वह उसे पीकर प्रसन्न हो गया। फिर उसे क्षुधा मालूम हुई और वह सोचने लगा कि 'कहीं भोजनका आयोजन हो जाता।' ऐसी बात मनमें आते ही रत्नजटित विशाल स्वर्णथालमें स्वर्गीय भव्य भोज्य पदार्थ भी आ गये। फिर वह आगे कल्पना करने लगा कि 'कुछ नींद-सी आ रही है, सोनेके लिये सुन्दर शय्या हो जाती।' इतनी कल्पना करते ही दुग्धफेनके समान शुभ्र, सुरभित चादरसे आच्छादित गद्देवाला एक विशाल पलंग आ गया। इसी प्रकारकी अनेक कल्पनाएँ करते हुए उसके मनमें आया कि 'घोर जंगल है, कहीं सिंह न आ जाय।' बस, यह सोचते ही उसके सामने सिंह प्रकट हो गया, जिसने उसका काम तमाम कर दिया। अतः संकल्प-कल्पतरु लोकाभिराम श्रीरामकी शरण जाओ। जो लोग मायिक पदार्थोंकी याचना करते हैं, वे उन्हींमें उलझ-पुलझकर समाप्त हो जाते हैं। पर भगवान् तो लाखों कल्पवृक्षोंसे भी श्रेष्ठ हैं—**'भक्तकल्पपादप आरामः।'** वे सोच-समझकर परम श्रेष्ठ पदार्थ ही देते हैं।

अकारण-करुणा करुणा-वरुणालय जगज्जननी जनक-किशोरी जानकी और जानकीवल्लभ कौसलकिशोर श्रीराम—इन युगल सरकारकी निर्हेतुकी कृपा स्वातीके सलिलसदृश सबके ऊपर समानभावसे बरसती रहती है। इसमें कोई विषमता नहीं। विषमता पात्रविशेषके अनुसार प्राप्त होती है। पात्र चार प्रकारके होते हैं—विषयी, ज्ञानी, भक्त और उपासक। इनमें विषयी जीवोंको कदली-खंभकी उपमा दी गयी है। स्वाती-जलके कदली-खंभपर पड़नेपर कपूर पैदा होता है और वह क्षणस्थायी होता है। दूसरे—अभेदवादी ज्ञानी हैं। उसको कमलदलकी उपमा दी गयी है। उसके हृदयमें भगवत्कृपाका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार जैसे कमलदलपर गिरा हुआ जल बिना कोई गुण पैदा किये लुढ़क जाता है। तीसरे—भक्तको उपमा दी जाती है चातकके साथ। चातक स्वाती-जलका अनन्य भक्त अवश्य होता है, किंतु उसका स्थायी रूपान्तर नहीं होता। वही जल उपासकरूपी सीपीमें प्रवेश करनेपर अपने स्वभाव आदिको छोड़कर दिव्य ज्योतिवाला मोती बन जाता है। जल एक ही है; परंतु उससे चार प्रकारके परिणाम पैदा होते हैं। श्रीभगवतरसिकजी महाराज कहते हैं कि जैसा भूमिका भाग्य होता है, भगवान् रामकी कृपाका फल वैसा ही होता है—

यह रस रीति प्रिया-प्रियतम की दिव्य स्वाति जल जैसैं।
बिषई ग्यानी भक्त उपासक प्राप्त सबन को कैसैं॥
कदली कमल पपीहा सीपी, पात्र भेद बहु जैसैं।
'भगवत' बीज बिषमता नाहीं, भूमि भाग फल तैसैं॥

भगवान् श्रीरामका वन-गमन-मार्ग

(लेखक—डॉ० श्रीश्यामनारायणजी पाण्डेय, एम्० ए०, पी-एच्०, डी०)

आजकल रामवनवासके भूगोलकी बहुत चर्चा हो रही है । पत्र-पत्रिकाओंमें समय-समयपर लेख भी प्रकाशित होते रहते हैं । डॉ० एच्० डी० संकालियाने कहा है कि 'रामायणके कवि या कवियोंने दक्षिण भारत देखा ही नहीं था।' श्री आर्० एस्० चक्रवर्तीने लङ्काको उड़ीसामें बताया है । श्रीरायकृष्णदासने लङ्काको अमरकण्टकके समीप सिद्ध किया है । श्री वी० एच्० वडेर तथा श्री एफ्० ई० पार्जिटरने भी 'रामायणकालीन भौगोलिक दिग्दर्शन' अपने-अपने ढंगसे कराया है । यहाँ भगवान् श्रीरामके वन-गमन-मार्ग तथा लङ्काकी स्थितिके बारेमें कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है ।

अयोध्यासे शृङ्गवेरपुर—

अयोध्यासे शृङ्गवेरपुरतक भगवान् श्रीराम रथपर आये हैं । इससे इस भूभागमें सड़कोंका अच्छा प्रबन्ध रहा होगा, ऐसा स्पष्ट होता है । श्रीरायकृष्णदास अयोध्यासे चलकर पहले दो पड़ावोंकी स्थिति संदिग्ध बताते हैं । श्री वी० एच्० वडेरने वेदश्रुतिको तमसा मानकर और इस नदीकी स्थिति सरयू एवं गोमतीके बीच बताकर प्रारम्भिक भ्रमका निवारण कर दिया है । वे अपने मतके प्रतिपादनमें रघुवंश ९ । २० का प्रमाण भी पा जाते हैं । सरयूके दक्षिण स्थित अयोध्यासे १५ मील दक्षिण वर्तमान तमसा (वेदश्रुति) या टौंसके तटपर पहुँचकर श्रीरामजीने पहला पड़ाव डाला था ।

गोमती और स्यन्दिका (सई) नदियोंको पारकर दूसरे दिन सुमन्त्रसहित सब लोग गुह निषादके राज्यकी राजधानी शृङ्गवेरपुर पहुँचकर गङ्गातटपर ही रातभर ठहरे । शृङ्गवेरपुरको 'सिंगरौर' कहा जाता है, जो प्रयागसे १८ मील उत्तरकी ओर है । भगवान् श्रीराम शृङ्गवेरपुरमें नहीं गये । दूसरे दिन उन्होंने सुमन्त्रको अयोध्या भेजा और सखा गुहको साथ लेकर दिनके उत्तरार्धमें गङ्गाको पार किया ।

भरद्वाज-आश्रम—

गङ्गाके दक्षिणतटपर पहुँचनेके बाद वाल्मीकीय रामायण २ । ५४ । २ के अनुसार पूर्वकी ओर मार्गमें एक बड़ा वन मिलनेका संकेत है । इस वनमें ६-७ मील चलनेपर दिन बीतता देख वे एक वृक्षके नीचे विश्राम करते हैं और प्रातःकाल भरद्वाज-आश्रमके लिये चल पड़ते हैं । गङ्गा-यमुना-संगमपर भरद्वाजजीका आश्रम था । वहीं प्रयाग क्षेत्र था । भरद्वाज-आश्रम आजकल आनन्द-भवनके सामने माना जाता है । श्रीरायकृष्णदासने लिखा है कि 'अकबरके समयतक गङ्गा उसके नीचे बहती थी; परंतु अकबरने अपना किला बनानेके लिये बाँध बाँधकर गङ्गाकी धार हटा दी थी । यह भरद्वाज-आश्रम शृङ्गवेरपुर (सिंगरौर) से लगभग बाईस मीलपर है । पहले दिन ६-७ मील चलकर; फिर दूसरे दिन सोलह-सत्रह मील तय करके रामका तीसरे पहर भरद्वाज-आश्रम पहुँचना उक्त आश्रमकी दूरीके साथ ठीक बैठनेवाली बात है ।

चित्रकूट—

महर्षि भरद्वाजने श्रीरामको अपने आश्रमसे दस कोसपर स्थित चित्रकूट जानेके लिये कहा । श्रीराम यमुना पार करते हैं । यमुना पार करनेके बाद एक कोस जानेपर उन्हें नील-कानन मिला । श्रीबेगलरने सर ए० कनिंघमद्वारा प्रकाशित 'आर्किऑलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट' भाग १३ के पृष्ठ ४२—५४ तक अपने विचार प्रकट करते हुए चित्रकूटको छत्तीसगढ़की रामगढ़ पहाड़ी बतानेका आग्रह किया है । भगवान् श्रीरामके वन-गमन-मार्गमें चित्रकूट बहुत ही सूक्ष्म विचारकी अपेक्षा रखता है । ध्यान देनेकी बात है कि कनिंघमद्वारा प्रकाशित रिपोर्टमें श्रीबेगलरके विचारको स्वयं श्रीकनिंघमने उसी सर्वे-रिपोर्टके २१ वें भागमें १०—१२ पृष्ठोंपर काट दिया है और आधुनिक चित्रकूटको ही मान्य ठहरा दिया है । पार्जिटर महोदय तो साफ-साफ कह रहे हैं कि रामगढ़को चित्रकूट नहीं माना जा सकता, यह असम्भव है ।

वाल्मीकि-रामायणमें चित्रकूटमें दो नदियों—मन्दाकिनी और मालिनीके होनेका वर्णन आया है । पहाड़ीके उत्तर ओर मन्दाकिनीकी बड़ी धारा बतायी गयी है । श्रीकनिंघमने मन्दाकिनीको आजकी मन्दाकिनीके रूपमें और मालिनीको पयस्विनीके रूपमें पहचाना है, जो पश्चिम ओर बहती हुई आजकल 'परसोनी' कही जाती है ।

चित्रकूट रेल्वे-स्टेशनसे तीन-चार मील दूर आजका कामतानाथगिरि है । चित्रकूटके उत्तरकी उपत्यकापर जो एक चौकोर शिला है, वही 'सीता-सेज' है, जिसका वर्णन वाल्मीकिरामायण २ । ९६ । १ में हुआ है । यह बसौदा स्टेशनके समीप ही दक्षिणमें है ।

अत्रि और शरभङ्ग मुनिका आश्रम—

चित्रकूट-निवासके समय जब भरत श्रीरामकी आज्ञासे अयोध्या लौट गये, तब खर राक्षसद्वारा जनपदके सब तपस्वियों-के भगाये और सताये जानेकी शिकायत भगवान् श्रीरामके

पास आयी; अतएव उनका नाश करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी अत्रि-आश्रमकी ओर चल पड़े। वनमें प्रवेश करनेपर पहले विराध नामक राक्षस मिला। इसे मारकर वे शरभङ्ग मुनिके आश्रममें पहुँचे। चित्रकूटसे दक्षिण १० मीलपर अत्रि या अनसूया-आश्रम है। उससे तीन मील दक्षिण विराध-कुण्ड है। वहाँसे दक्षिण नरवर भोपालकी ओर शरभङ्ग-आश्रम है। रामायण (३।४।२१) के अनुसार दी हुई विराध-कुण्डसे शरभङ्ग-आश्रमकी डेढ़ योजनकी दूरी ठीक बैठती है। साथ ही एक नदी दक्षिण-पूर्वसे आकर मन्दाकिनीमें मिलती है, जिसे आज भी 'शरभङ्गा' कहते हैं। इस तरह इतनी भौगोलिक सामग्रीका साक्ष्य मिल जाता है। महामहोपाध्याय डॉ० वा० वि० मिराशीने अपने शोधकार्यसे इस क्षेत्रका महत्त्व बहुत बढ़ा दिया है।

सुतीक्ष्ण मुनिका आश्रम—

भगवान् श्रीराम शरभङ्ग मुनिसे मिलकर उनकी आज्ञासे सुतीक्ष्ण मुनिके आश्रमकी ओर जानेके लिये तैयारी कर ही रहे थे कि इसके पूर्व ही शरभङ्ग मुनिने भगवान् श्रीरामके समक्ष अग्निप्रवेश कर देहत्याग कर दिया। सुतीक्ष्ण मुनिका आश्रम मन्दाकिनी नदीके उद्गमकी ओर था। वाल्मीकिरामायण (३।५।३७)में श्रीरामके मन्दाकिनीके प्रतिस्रोत अर्थात् उद्गमकी ओर जाने और कई नदियोंको पार करनेकी बात लिखी गयी है। वहाँ एक ऊँचे शैलपर सुतीक्ष्ण मुनिका निवास था (३।७।२)। उक्त वेगवती नदी श्रीरायकृष्णदासकी दृष्टिमें 'केन' ठहरती है और श्रीपार्जिटर नर्मदाकी ऊपरी धाराको महाजव या वेगवती नदी मानते हैं, जो सोहागपुर और नरसिंहपुरके बीच पड़ती है। इनके हिसाबसे पँचमढ़ीमें नीलवन और वेनगंगाके ऊपरी भागमें सुतीक्ष्ण-आश्रम होना चाहिये, जो समीचीन जान पड़ता है।

दण्डकारण्य, पञ्चवटी और जनस्थान

सुतीक्ष्ण मुनिका आश्रम दण्डकारण्यके उत्तरी भागमें बिजावर राज्यमें मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है। यहींसे श्रीरामचन्द्रजी समग्र दण्डकारण्य तथा उसमें वास करनेवाले ऋषियोंके आश्रम देखने चले। मार्गमें उन्होंने ८ वर्गमीलका एक महान् सरोवर देखा। धर्मभृत् नामक मुनिने श्रीरामसे कहा कि "यह सरोवर माण्डकर्णि मुनिकी घोर तपस्याके फल-स्वरूप निर्मित हुआ है और इसका नाम 'पञ्चाप्सर-सरोवर' है एवं यह सार्वकालिक है।" (देखिये—वाल्मीकि० ३।११।११–२०) इस सरोवरके बारेमें श्रीनन्दलाल देका कहना है कि 'छोटा नागपुरके माण्डलिक क्षेत्रके उदयपुर नामक स्थानमें यह सरोवर था। इस सरोवरका अधिकांश सूख गया है और वहाँ कपु-बन्धनपुर आदि गाँव बस गये हैं।' पार्जिटर महोदय बुन्देलखण्डसे दक्षिण कृष्णा नदीतकके पूरे क्षेत्रको 'दण्डकारण्य' कहते हैं और वाल्मीकि-रामायण (अयोध्या० ९१।५९) के अनुसार इसे यमुना नदीतक विस्तृत कर देते हैं।

सुतीक्ष्ण मुनिने भगवान् श्रीरामको बताया कि 'चार योजन दक्षिण पिप्पलीके वनमें अगस्त्यजीके भाईका आश्रम है। उससे एक योजन दक्षिण अगस्त्याश्रम है। दो योजनपर पञ्चवटी है। पास ही गोदावरी है। महुआ और वट वृक्षोंके निकट जो ऊँची भूमि है, वही पञ्चवटी है।' (वा० रा० ३/१३।१३, १८, २१) पद्मश्री रायकृष्णदासके विवेचनके अनुसार पञ्चवटी केन नदीके उद्गमपर स्थित थी।

केनके उद्गमके निकट पञ्चवटी माननेमें बाधा यह है कि अगस्त्यने उसे गोदावरी-तीरपर बताया है। इस प्रदेशपर राक्षसोंका बारंबार आक्रमण होता था। पञ्चवटी जाते हुए श्रीरामकी एक महाकाय गीध पक्षी (जटायु)से भेंट हुई। इस प्रदेशका वर्णन वाल्मीकि-रामायण ३।१५ में है। पञ्चवटीमें पर्णशाला बनाकर उन्होंने एक चातुर्मास्य व्यतीत किया। तत्पश्चात् हेमन्त ऋतुका आरम्भ होनेपर एक दिन प्रातःकाल रावणकी भगिनी शूर्पणखा उस आश्रममें पहुँची थी। जब लक्ष्मणने नाक-कान काटकर उसे निकाल बाहर किया, तब वह खर-दूषणके पास जाकर उन्हें श्रीरामसे युद्ध करनेके लिये प्रोत्साहितकर अपने साथ ले आयी। खर और दूषण १४ हजार सैनिक लेकर जनस्थानसे चले।

पञ्चवटी और जनस्थानके बारेमें न तो पद्मश्री रायकृष्ण-दास और न श्रीवडेर ही कुछ निश्चयपूर्वक कहनेकी स्थितिमें हैं। डॉ० संकलिया और श्रीचक्रवर्ती भाषा और अँगूठी आदिके सहारे जो कुछ कह रहे हैं, उनसे पञ्चवटी और जन-स्थानके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात होनेकी आशा नहीं है। पञ्चवटी और जनस्थानके बारेमें विद्वानोंको बड़ा भ्रम हो रहा है। इसकी स्थिति ढूँढ़नेमें उड़ीसाकी ओर या मध्यप्रदेशके उत्तर-पूर्वकी ओर वे विद्वान् भटकते रह जाते हैं।

पञ्चवटी और जनस्थानकी स्थितिका संकेत श्रीपार्जिटर महोदयके एक स्वीकारात्मक वाक्यसे और पद्मश्री रायकृष्ण-दासके एक नकारात्मक वाक्यसे मिलता है। महाभारतके द्रोणपर्वमें कहा गया है कि 'जनस्थान राक्षसोंद्वारा आक्रान्त था। श्रीरामने राक्षसोंको मारकर इसे फिर राक्षसरहित बनाया।' महर्षि वाल्मीकिने भगवान् श्रीरामके लौटते समयके वर्णनमें कितना स्पष्ट कर दिया है कि गोदावरी नदी आनेके

पहले ही जनस्थान आया। पार्जिटर महोदयने यहाँतक सम्भावना व्यक्त कर दी है कि जनस्थान गोदावरीके दोनों ओर बसा था—जहाँ प्राणहिता या वेनगंगा गोदावरीमें मिलती हैं।

इस तरह दण्डकारण्य भोपालके आस-पासका क्षेत्र है; जहाँसे गोदावरी निकलती है। नदीके दोनों ओर जनस्थान हुआ। गोदावरीके उत्तर अगस्त्याश्रम हुआ और नासिक-पञ्चवटी हुई।

क्रौञ्चारण्य और मतंगाश्रम-वन—

रोहिण पर्वतकी उपत्यकामें श्रीरामने स्वर्णमृगका वध किया। भगवान् श्रीरामको जनस्थानसे तीन कोस चलनेपर क्रौञ्चारण्य मिला। रावणके सीतापहरण करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें खोजनेके लिये जनस्थान छोड़ा। क्रौञ्चारण्यके पूर्व तीन कोसपर मतंगाश्रम-वन था। आगे एक गहरे दर्रेमें उन्हें अयोमुखी राक्षसी मिली। उसे मारकर श्रीराम-लक्ष्मणने गहन वनमें प्रवेश किया। वहाँ कबन्ध राक्षस मिला; जिसने मुक्ति पानेके पूर्व श्रीराम-लक्ष्मणको सलाह दी कि वे लोग सुग्रीवसे मित्रता करें।

बेलारीसे पूर्वकी ओर समुद्र-तटतक छोटे-बड़े पर्वतोंकी पूर्वसे पश्चिम ओर फैली हुई श्रेणियाँ हैं। बेलारीसे पूर्व छः मीलपर लोहाचल नामका एक पर्वत है। इसे ही प्राचीन समयमें 'क्रौञ्चपर्वत' कहते थे। वहाँ एक तीर्थ है। उस क्षेत्रमें प्राचीन कालमें अगस्त्य ऋषि आये थे। क्रौञ्चारण्य अति गहन था, ऐसा रामायणमें वर्णन मिलता है। श्रीवडेरके अनुसार कृष्णा नदीके दक्षिणी तटके गुंटकल और नंदयाल प्रदेशोंको प्राचीन समयमें क्रौञ्चारण्य कहते होंगे। क्रौञ्चरवा नदी तो निस्संदेह गोदावरीके दक्षिण होगी। प्राचीन ग्रन्थोंमें कृष्णा नदीका नाम कहीं भी दिखलायी नहीं देता। वास्तवमें इसका पूर्वी भाग उस समय जलमग्न रहा है और ऊपरी छोटी नदी कृष्णावेणी आज भी इसकी शिखाके रूपमें उद्घोष कर रही है।

महाभारतके रामोपाख्यानके एक वर्णनसे विद्वानोंमें भ्रम फैला है। दण्डकारण्यमें जहाँ कबन्ध मिला, वह क्रौञ्चालय था—ऐसा विवरण इस भ्रामक तथ्यके साथ जुड़ गया है कि कबन्धसे मिलनेके पूर्व मन्दाकिनी नदीको श्रीरामने पार किया। कहाँ तो यह मन्दाकिनी नदी दक्षिणापथमें मिलती है और विद्वानोंने इसका मेल चित्रकूटसे बैठाना शुरू कर दिया है। गोदावरीकी दक्षिणी सहायक नदी मञ्जीराका पुराना नाम मन्दाकिनी है। कौलासके निकट श्रीरामने मञ्जीराको पार किया होगा, ऐसा श्रीपार्जिटरका विचार है। फिर वे बालाघाटकी पहाड़ियोंके दक्षिणी छोरपर पहुँचे होंगे; जो मञ्जीरा और गोदावरीके बीच है। इसके पश्चिमी ढालके बीच ही कहीं कबन्ध मिला होगा; जहाँसे उसने उन्हें पम्पा और ऋष्यमूक जानेकी सलाह दी होगी और कुछ दूर चलकर मार्ग दिखा दिया होगा।

पम्पासर और ऋष्यमूक पर्वत—

भगवान् श्रीरामने नन्दनवनके समान एक सुन्दर वनमें प्रवेश किया। वे पम्पासरके पश्चिमी तटपर जा पहुँचे। पम्पासरके सामने ऋष्यमूक पर्वत था। पम्पाके पश्चिम तटपर उन्होंने कुछ कालतक निवास किया। वहाँ शबरी श्रीरामके चित्रकूट छोड़नेके समयसे उनकी प्रतीक्षामें आश्रम बनाकर रहती थी। इस प्रदेशका नाम रामायणमें मतङ्ग-वन दिया हुआ है। इतनी दूर आ जानेपर ऊपर दिये हुए वर्णनमें जो 'मतंगाश्रम-वन'का वर्णन आया है; उसको इससे पृथक् समझना चाहिये। मतंग नामके ऋषिके दो स्थानपर रहनेसे या दो पृथक्-पृथक् ऋषियोंके नामपर इसका नामकरण हुआ होगा। यहाँ सप्तसागर है, जिसमें भगवान् रामने स्नान और पितृतर्पण किया था। (वा० रा० ३। ७५। ४)

पम्पाके लिये महाभारतके रामोपाख्यान (३। २७९। ४४)में लिखा है कि जहाँ कबन्ध मिला था; वहाँसे थोड़ी ही दूरीपर पम्पा दिखायी दे रही थी। वाल्मीकि-रामायण (३। ७४। ३) में लिखा है कि यह दूरी दो दिनमें तय करनेयोग्य थी। इस तरह दो दिन पूर्व जानेपर श्रीराम पम्पा पहुँचे। पार्जिटर महोदयका कथन ठीक लगता है कि ऋष्यमूक पर्वतके पश्चिम दिशामें स्थित पम्पा पहुँचनेके लिये पश्चिमकी ओरसे ही घूमकर जाना पड़ा होगा। अहमदनगरसे नलदुर्ग और कल्याणीकी ओर मञ्जीरा और भीमा नदियोंके बीचकी पहाड़ी और पश्चिमकी ओर शोलापुरके निकट पम्पासर होना चाहिये। आजकल उसकी स्थिति विजयनगरके समीप अनागुदि ग्रामसे लगभग दो मीलपर बतलायी जाती है।

किष्किन्धा—

मलय, प्रस्रवण एवं माल्यवान् पर्वतोंके सम्बन्धमें विद्वानोंद्वारा की गयी अनेक प्रकारकी धारणाएँ किष्किन्धाको कई जगह उठा ले जाती हैं। इस तरह किष्किन्धा 'भगवान् श्रीरामके वन-गमन-मार्ग'का बहुत ही विवेच्य स्थान बन जाता है। पहले अन्य छोटी-छोटी समस्याओंको सुलझाकर फिर किष्किन्धापर एक साथ सब समस्याओंसहित विचार किया जाय तो अच्छा होगा—

१—माल्यवान् और प्रस्रवण एक ही पर्वतके नाम हैं। इस तरह चित्रकूटके पासवाले प्रस्रवणका दक्षिणके इस पर्वतके साथ भ्रमवश जो एकीकरण किया गया है, उसका निराकरण होगा। महाभारतका 'रामोपाख्यान' इस समस्याका समाधान प्रस्तुत करता है। कृष्णा और भीमा नामकी नदियोंके संगमके पास ही श्रीरामके हाथों वालीका वध हुआ था, ऐसी वहाँके लोगोंकी धारणा है तथा जहाँ भगवान्ने उसके बाद चार मास विश्राम किया था, उसका सम्बन्ध प्रस्रवण और माल्यवान्—इन दोनोंके साथ जोड़ा जाता है, जो एक ही पर्वतके नाम हैं। (देखिये, वा० रा० ४ । २७ । १, ४ । २९ । १)

२—मलयपर्वतके उत्तरी शिखरपर वालीके कूदकर जानेका वर्णन मिलता है। ट्रावंकोरकी पहाड़ियोंका नाम भी 'मलय' है। पश्चिमी घाटके सबसे दक्षिणमें स्थित पहाड़ोंका नाम भी 'मलय' है। माल्यवंत ही 'मलयपर्वत' है और द्रविड़ भाषामें मलयका अर्थ पर्वत भी है।

इस तरह माल्यवंत, प्रस्रवण और मलय जब एक ही पर्वतके पर्यायवाची शब्द हो जाते हैं तो लङ्काके विभिन्न क्षेत्रोंमें माने जानेका भेद खुल जाता है। पार्जिटर महोदयने इस गूढ़ विषयका विस्तारसे प्रतिपादन किया है।

वाल्मीकि-रामायणके अनुसार किष्किन्धा देशमें ही माल्यवंत पर्वत रहा है। यह ऋष्यमूकके नजदीक ही रहा होगा, नहीं तो सुग्रीवकी सुरक्षा कैसे होती। किष्किन्धा देशकी राजधानीका नाम भी किष्किन्धा था। माल्यवंत पर्वतको किष्किन्धाके फाटकके नामसे भी कहा गया है।

माल्यवंत पर्वत श्रीपार्जिटरके अनुसार रायचूरके निकट है और किष्किन्धा बेलारी है। यहाँ तुङ्गभद्रा और वेदवती—दो मुख्य नदियाँ हैं। सीवेल किष्किन्धाको विजयनगरके समीप बताते हैं।

किष्किन्धाके सम्बन्धमें श्रीवडेरने और भी तथ्य जुटाये हैं। अञ्जनी पर्वत और वालीकी गुहा भी समीप ही हैं। भवभूति और बालरामायणकार कवि राजशेखर भी किष्किन्धाको तुङ्गभद्राके समीप ही मानते हैं। महाभारतमें दक्षिणके देशोंकी सूचीमें किष्किन्धाका नाम आया है।

लङ्का—

सम्पातिसे श्रीहनुमान्जीको लङ्काका परिचय इस प्रकार मिलता है—

इतो द्वीपे समुद्रस्य सम्पूर्णे शतयोजने।
तस्मिँल्लङ्का पुरी रम्या निर्मिता विश्वकर्मणा॥

(वा० रा० ४ । ५८ । २०)

'यहाँसे पूरे चार सौ कोसके अन्तरपर समुद्रमें एक द्वीप है, जहाँ विश्वकर्माने अत्यन्त रमणीय लङ्कापुरीका निर्माण किया है।'

चाक्षुष्मती विद्याके प्रभावसे वह सौ योजन दूरका दृश्य भी देख सकता था। उसी विद्यासे प्राप्त दिव्यदृष्टिके कारण यह पता उसने विन्ध्यपर्वतपर बैठे-बैठे देखकर बताया था। केरलके उत्तरी भागका मलयपर्वत भी जब (द्वितीय) विन्ध्य सिद्ध हो गया, तब यहाँसे देखनेपर समुद्रमें आज जहाँ लक्कादिव-मालदिव हैं, वहाँ लङ्का १०० योजनपर केरलके पश्चिम होनी चाहिये। भौगोलिक दृष्टिसे वर्तमान लङ्का या सिंहल तो दक्षिणी भारतका मिला हुआ भाग रहा है। प्रश्न लङ्काकी स्थितिके बारेमें है। कुछ लोग वर्तमान सिलोनको ही प्राचीन लङ्का मानते हैं, परंतु मेरे विचारसे वर्तमान सिलोन या सिंहलके रहते हुए एक और लङ्का थी, जो समुद्रमें डूब चुकी है और जिसकी भौगोलिक स्थिति केरलके पश्चिममें थी। इसीका अवशेष लक्कादिव-मालदिवके रूपमें है। इस मान्यताके आधार इस प्रकार हैं—

(१) बालरामायणकार कवि राजशेखरने राम-वनवासका बहुत ही व्यवस्थित वर्णन किया है। उन्होंने किष्किन्धाको तुङ्गभद्राके निकट स्वीकार किया है। अतः उनका सीता-स्वयंवरके अवसरपर सिंहलनरेश राजशेखरके साथ लङ्कापति रावणका संवाद कैसे झूठा मान लिया जाय, जब कि पुष्पक विमानसे आते समय लङ्कासे कुछ दूर चलकर विभीषण भी कहते हैं कि यह सिंहल है।

(२) भागवत (१ । १९ । ३०)में श्रीशुकदेवजीने जम्बूद्वीपके आठ उपद्वीप गिनाये हैं। उनमें भी लङ्का एवं सिंहल भिन्न-भिन्न हैं।

(३) मार्कण्डेयपुराणमें दक्षिणके देशोंमें लङ्का एवं सिंहल पृथक्-पृथक् आये हैं।

(४) बृहत्संहितामें वराहमिहिरने भी दोनोंका विवरण दिया है।

(५) भगवान् श्रीकृष्णने वनवासी युधिष्ठिरसे राजसूयके समय आये राजाओंमें भी दोनों द्वीपोंका नाम लिया है—

'सिंहलान् बर्बरान् म्लेच्छान् ये च लङ्कानिवासिनः।'

(६) लङ्काका वर्णन और समुद्रमें स्थलसे दूरी दोनों ही वर्तमान सिंहलसे मेल नहीं खाती।

श्रीरामकी लीला-सम्बन्धी घटनाओंकी तिथिक्रमानुसार तालिका

(१)

श्रीरामजन्मके पूर्वसे विवाहोत्सवपर्यन्त

(प्रेषक—श्रीअवधकिशोरदासजी श्रीवैष्णव)

चैत्र पूर्णिमा—अश्वमेध-यज्ञका कार्यारम्भ (प्रथम वर्षमें)।

चैत्र अमावस्या—यज्ञदीक्षा, अश्वयात्रा (द्वितीय वर्षमें)।

चैत्र शुक्ल १—पुत्रेष्टि-यज्ञ (तृतीय वर्षमें)।

चैत्र शुक्ल ७—प्राजापत्य पुरुषद्वारा पायस-प्रसाद-प्राप्ति तथा श्रीदशरथकी रानियोंका गर्भवती होना।

चैत्र शुक्ल ९—श्रीराम-जन्म। पुनर्वसु, चन्द्रवार (चतुर्थ वर्षमें)।

चैत्र शुक्ल १०—श्रीभरत-जन्म। पुष्य, मङ्गलवार।

चैत्र शुक्ल ११—श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्न-जन्म। आश्लेषा, बुधवार।

चैत्र शुक्ल १४—छठी-उत्सव।

वैशाख कृष्ण ५—बरही, जन्माशौच-निवृत्ति।

वैशाख कृष्ण ६—नामकरण-संस्कार।

आश्विन शुक्लपक्ष—अन्नप्राशन (छठे महीनेमें)।

चैत्र शुक्ल ५—विद्यारम्भ (पाँच वर्षकी आयुमें)।

चैत्र शुक्लपक्ष—यज्ञोपवीत (ग्यारहवें वर्षमें)।

आश्विन कृष्ण ६—पंद्रहवें वर्षमें विश्वामित्र-आगमन।

आश्विन कृष्ण १२—सोलह वर्षकी आयुमें सिद्धाश्रम-प्रस्थान तथा उस दिन श्रीसरयूके उत्तर तटपर ६ कोस चलकर विश्राम एवं बला-अतिबला विद्याकी विश्वामित्रजीद्वारा प्राप्ति।

आश्विन कृष्ण १३—श्रीसरयू-गङ्गा-संगमपर कामाश्रममें निवास।

आश्विन कृष्ण १४—ताड़का-वनकी शापमुक्ति तथा उस रात्रिमें वहीं निवास।

आश्विन अमावस्या—महामुनि विश्वामित्रजीसे सम्पूर्ण अस्त्रोंकी मन्त्र-प्रयोगसहित प्राप्ति तथा उपसंहार-क्रियाका ज्ञान। उसी दिन सिद्धाश्रममें जाना, मुनियोंद्वारा सत्कार। दो घड़ी विश्राम कर विश्वामित्रको यज्ञारम्भके लिये श्रीरामकी सत्प्रेरणा।

आश्विन शुक्ल १ से ६ तक—निरन्तर अहोरात्र यज्ञ-संरक्षण तथा छठे दिन राक्षस-संहार। ऋषियोंद्वारा रामका पूजन।

आश्विन शुक्ल ७—यज्ञ-पूर्णाहुति; विश्वामित्रकी कृतार्थता तथा सिद्धाश्रमको यथानाम सुयश-प्राप्ति एवं श्रीराम-लक्ष्मणको आशीर्वाद-प्राप्ति। रात्रिमें यज्ञशालामें ही विश्राम।

आश्विन शुक्ल ८ से ९—सिद्धाश्रममें निवास।

आश्विन शुक्ल १०—विजयादशमीको विजयमुहूर्तमें श्रीमिथिला-यात्रा तथा शोणभद्र-तटपर रात्रि-निवास।

आश्विन शुक्ल ११—गङ्गातटपर निवास।

आश्विन शुक्ल १२—विशालापुरीमें राजा सुमतिका आतिथ्य-ग्रहण।

आश्विन शुक्ल १३—गौतमाश्रममें अहल्या-उद्धार तथा अहल्या एवं गौतममुनिद्वारा श्रीरामका पूजन। जनकपुर पहुँचना तथा श्रीविदेहराजद्वारा सत्कार।

आश्विन शुक्ल १४—बाग-तड़ाग-दर्शन; प्रिया-प्रियतमका प्रेम-दर्शन; नगर-दर्शन; धनुर्यागभूमिका निरीक्षण।

आश्विन शुक्ल १५—शरत्पूर्णिमाके दिन शिव-धनुर्भङ्ग; विजय-माल्यार्पण; मन्त्रियोंको अयोध्याजी भेजना; विवाह-मण्डप-निर्माण तथा विवाहकी सम्पूर्ण तैयारी-हेतु विदेहराजद्वारा आज्ञा।

कार्तिक कृष्ण ४—राजा दशरथको विदेहराजके मन्त्रियोंद्वारा श्रीराम-लक्ष्मणके समाचारकी प्राप्ति तथा श्रीरामविवाहार्थ श्रीचक्रवर्ती महाराज दशरथजीको आमन्त्रण। उस दिन विदेहमन्त्रियोंका सत्कारपूर्वक वहीं निवास तथा बरातकी तैयारीकी आज्ञा।

कार्तिक कृष्ण ५—मन्त्रियोंका पुनः जनकपुरको प्रस्थान।

कार्तिक कृष्ण ८—बरातका मिथिलाकी ओर मङ्गल मुहूर्तमें प्रस्थान।

कार्तिक कृष्ण १३—बरातका जनकराजद्वारा जनकपुरधाममें श्रेष्ठ सत्कार।

कार्तिक कृष्ण १४—जनवासामें यथोचित सत्कारसहित निवास।

कार्तिक कृष्ण १५—दीपावलीके दिन गृह-लक्ष्मीस्वरूप कन्याका निरीक्षण तथा पूजन एवं चक्रवर्ती राजराजेन्द्र दशरथके सत्कारमें दीपावलीका आयोजन।

मार्गशीर्ष शुक्ल ४ तक—एक महीना सात दिन बरातियोंका जनकपुरमें सानन्द निवास।

मार्गशीर्ष शुक्ल ५—श्रीविवाह-पञ्चमीके दिन मङ्गल-मोदमय शुभ मुहूर्तमें सच्चिदानन्द दिव्य-दम्पति श्रीसीतारामजीका वेद-विधानपूर्वक शुभ विवाहोत्सव।

मार्गशीर्ष शुक्ल ७—श्रीरामकलेवा, जेवनार।

(२)

श्रीराम-वनवाससे राज्याभिषेकपर्यन्त*

(लेखक—स्वामीजी श्रीपुरुषोत्तमाश्रमजी उपनाम शतपथजी महाराज)

प्रतिवर्ष दीपावलीके दिनोंमें अनेकों सज्जन समाचार-पत्रोंद्वारा रावण-वध तथा अयोध्यापति भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी विजयके तिथि-मासको जाननेकी इच्छा प्रकट करते रहते हैं। उनकी इस शुभेच्छासे प्रेरित होकर महर्षि वाल्मीकिकृत रामायणके वचनोंके आधारपर यह लेख लिखा गया है। विद्वान् महानुभाव इस लेखका मनन करें। यहाँ यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि प्रत्येक कल्पमें राम-रावण-युद्ध होता है और भगवान् श्रीरामके हाथोंसे मृत्यु पाकर रावण पुनरागमनसे रहित भी हो जाता है। इसीलिये किसी कल्पमें जय-विजय तो अन्य कल्पोंमें जलन्धर-प्रतापभानु तथा नारदके शापसे पतित दो शिवगण आदि रावण-कुम्भकर्ण बने थे (देखिये तुलसीकृत रामचरितमानस)। इसके अतिरिक्त प्रति कल्पके राम-रावण-युद्ध तथा रामचरित आदिमें भी थोड़ा-बहुत अन्तर रहता ही है, फलतः भिन्न-भिन्न पुराणोंमें भिन्न-भिन्न रीतिसे इनका वर्णन मिलता है। जैसे अग्निवेशकृत रामायणमें रावण-वध और रामविजयकी जो तिथियाँ लिखी गयी हैं, उनसे कालिकापुराणोक्त रावण-वध और रामविजयकी तिथियाँ भिन्न हैं एवं इन दोनोंसे महर्षि वाल्मीकिप्रणीत रामायणके रावण-वध और रामविजयकी तिथियोंमें अन्तर है। मैंने केवल महर्षि वाल्मीकिके मूल श्लोकोंके आधारपर ही राम-रावण-युद्ध और श्रीरामचन्द्रजीकी विजयके तिथि-मासका निर्णय करनेकी चेष्टा की है। पाठक महोदयोंको इसे ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

जिस दिन रावणने श्रीसीताजीका पञ्चवटीसे अपहरण कर विमानद्वारा उन्हें लङ्काकी अशोकवाटिकामें पहुँचाया था, उसी दिन उसने उनको धमकी दी थी कि यदि तुम बारह महीनेके भीतर मुझे अङ्गीकार नहीं कर लोगी तो तुम्हारा सिर काटकर उसका भोजन बनाया जायगा।[1] उसके बाद जब श्रीहनुमान्जी श्रीसीताजीकी खोज करते हुए लङ्काकी उस अशोकवाटिकामें पहुँचे, तब श्रीसीताजीने भी उनसे रावणकी वह धमकी सुनायी और कहा कि 'रावणने बारह मासतक मेरे जीवनकी अवधि बतलायी थी, उसमेंसे केवल दो मास बाकी रह गये हैं। आज दसवाँ महीना समाप्त हो रहा है। इन दो महीनोंके भीतर यदि रावणका वध और भगवान् श्रीरामकी प्राप्ति मुझे नहीं हो जायगी तो अवश्य ही मेरी मृत्यु होगी।'[2] श्रीसीताजी और भी शपथपूर्वक कहने लगीं—'मेरे स्वामी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे कहना कि मैं केवल दो महीनेतक और जीवित रहूँगी। भगवान् श्रीरामजी लङ्कामें स्वयं पधारकर रावणका वध करें और मुझे प्राणदान दें।'[3]

* रामचरित्र-सम्बन्धी मुख्य घटनाओंके तिथि-निर्णयपर महर्षि अग्निवेशका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जिसे 'अग्निवेश-रामायण', 'समयादर्श-रामायण', 'सार-रामायण', या 'रामायण-सार-संग्रह' भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त 'कालिकापुराण', 'देवीभागवत', 'स्कन्दपुराण (धर्मारण्यखण्ड),' 'महानाटक', 'भट्टिकाव्य' एवं श्रीमद्वाल्मीकि-रामायणकी 'भूषण-तिलक' तथा 'शिरोमणि' नामकी टीकाओंमें भी जगह-जगहपर लीलाओंका तिथि-निर्देश किया गया है। 'कल्याण'के 'रामायणाङ्क'में भी पृष्ठ ३०२ से ३०६ तक इस विषयपर दो लेख प्रकाशित हो चुके हैं। प्रायः सबने 'वाल्मीकिरामायण'को ही मुख्य आधार मानकर अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार समय-निर्णयकी चेष्टा की है। हमारी इन सबके प्रयत्नोंके प्रति श्रद्धाबुद्धि है और अपने परिश्रमके लिये सभी साधुवादके पात्र हैं। —सम्पादक

१. शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान् द्वादश भामिनि ॥
कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि ।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः ॥
(वाल्मीकीय रामायण, अर० ५६ । २४-२५)

२. अयं संवत्सरः कालस्तावद्धि मम जीवितम् ॥
वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवंगम ।
रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम ॥
(वा० रा०, सु० का० ३७ । ७-८)

३. इदं ब्रूयाश्च मे नाथं शूरं रामं पुनः पुनः ।
जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज ॥

अस्तु, श्रीसीताजीकी इस सत्यप्रतिज्ञासे यह बात निश्चितरूपसे प्रतीत होती है कि सीता-हनुमान्-सम्भाषणके दो महीने अर्थात् ६० दिनके भीतर ही रावणका वध हुआ और भगवान् श्रीरामको श्रीसीताजी प्राप्त हो गयीं।

'चैत्रवैशाखौ वसन्तर्तुः। ज्येष्ठाषाढौ ग्रीष्मर्तुः। श्रावणभाद्रपदौ वर्षर्तुः। आश्विनकार्तिकौ शरदृतुः। मार्गशीर्षपौषौ हेमन्तर्तुः। माघफाल्गुनौ शिशिरर्तुः।'

—इन ऋतु-परिभाषाओंको पाठक याद रक्खें और यह भी याद रक्खें कि आश्विन-पौर्णमासीके दिन अश्विनी, कार्तिक-पौर्णमासीके दिन कृत्तिका, मार्गशीर्ष-पौर्णमासीके दिन मृगशिरा नक्षत्र प्रायः होता है। साथ-ही-साथ यह भी याद रखनेकी बात है कि महाभारतके विराट-पर्वमें वनवास चाहनेवाले पाण्डवोंको भीष्मने जिस प्रकार वर्ष-मास गिननेकी रीति[४] बतलायी है, उसी प्रकार श्रीराम-वनवासके वर्ष-मास भी गिने गये थे। वह रीति इस प्रकार है—जिस वर्ष अधिक मास आता था, उस वर्ष १३ महीने और जिस वर्ष क्षयमास आता था, उस वर्ष ११ महीने माने जाते थे। श्रीराम-वनवासके १४ वर्षोंमें अधिक मास ५ हो सकते हैं, परंतु इतने दिनोंके बीचमें क्षयमास एक भी नहीं आया, इसलिये अधिक मास ५ रहे। इन पाँच अधिक मासोंको १४ वर्षमेंसे घटानेसे १३ वर्ष ७ महीने हुए, जिनको भगवान् श्रीरामकी २५ वीं वर्ष-गाँठके तिथि-मास (चैत्रशुक्ला ९, पुष्य नक्षत्र) में मिलानेसे यह सिद्ध होता है कि ३८ वीं वर्षगाँठ (चैत्र शु० ९) के अनन्तर ठीक ७ महीनेमें, अर्थात् कार्तिकशुक्ला नवमीको वनवास समाप्त हो जाना चाहिये। परंतु २५ वीं वर्षगाँठके दिन, जब भगवान् श्रीराम वनवासके लिये विदा हुए थे, पुष्य नक्षत्र पड़ा था। इसलिये पुष्य नक्षत्र आनेपर ही वनवासकी समाप्ति मानी जायगी। यह पुष्य नक्षत्र बादमें मार्गशीर्ष कृष्ण ६ को (आजकल भी प्रायः मार्गशीर्ष कृष्ण ५ या ६ को ही पुष्य नक्षत्र आया करता है) आया, इसलिये श्रीरामचन्द्रजी मार्गशीर्ष कृष्ण ६को ही अयोध्यामें पधारकर श्रीभरतजीसे तथा माताओंसे मिले। उस समय भगवान् श्रीरामकी उम्र ३९ वर्ष, ८ महीने ११ दिनकी थी। श्रीरामचन्द्रजीकी वर्षगाँठ प्रतिवर्ष उनके जन्मदिन अर्थात् चैत्र शुक्ला ९ को ही मनायी जाती थी। २६ वें वर्षकी उम्रमें[६] चैत्र[७] शुक्ला नवमी, पुष्य[८] नक्षत्रके दिन उनका राज्याभिषेक होनेवाला था, परंतु दैववशात् उसी दिन उन्हें

ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते।
(वा० रा०, सु० का० ३८। ६४-६५)

नोट—यहाँ 'मासात्' पदसे 'द्वाभ्यां मासाभ्यां' समझना चाहिये। टीका देखिये।

४. पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः।
एषामभ्यधिका मासाः पञ्चमे द्वादश क्षपाः॥
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः॥
(महाभारत, विराटपर्व, ५२। ३-४)

५. पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पञ्चम्यां लक्ष्मणाग्रजः।
भरद्वाजाश्रमं प्राप्य ववन्दे नियतो मुनिम्॥
(वा० रा०, यु० का० १२४। १)

तदा भरद्वाज आह—
अर्घ्यं प्रतिगृहाणेदमयोध्यां श्वो गमिष्यसि॥
(यु० का० १२४। १७)

भरतं प्रति हनुमद्वचनम्—
तां गङ्गां पुनरासाद्य वसन्तं मुनिसंनिधौ।
अविघ्नं पुष्ययोगेन श्वो रामं द्रष्टुमर्हसि॥
(यु० काण्ड १२६। ५४)

(अर्थात् कल षष्ठी तिथि और पुष्य नक्षत्र है।)

६. सीतोवाच—
मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः॥
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते।
उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी॥
तत्र त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः॥
(अर० का० ४७। १०-११, ४-५)

७. चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम्॥
(अयो० का० ३। ४)

८. उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते॥
अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम्।
(अयो० का० १५। ३, ४)

वनवासके लिये प्रस्थान करना पड़ा। वनवास-समाप्तिके वर्ष अधिक तथा शुद्ध मिलाकर कुल ६० दिनका आश्विन मास था। इसलिये पाठकोंकी सुविधाके लिये इस लेखमें प्रारम्भके ३० दिनको प्रथम आश्विन और पीछेके ३० दिनमें द्वितीय आश्विनके नामसे कहा गया है।

वर्षाऋतुके कुछ दिन पूर्व ज्येष्ठ शुक्लपञ्चमीको श्रीराम-हनुमान्-सुग्रीव-मिलन, दशमीको वालीका वध तथा द्वादशीको सुग्रीवका राज्याभिषेक हुआ था। उसके बाद वर्षाऋतु बितानेके लिये भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजीके साथ प्रस्रवण (प्रवर्षण) गिरिकी गुफामें रहने लगे और उधर सुग्रीवजी किष्किन्धामें रहकर राज्यसुख भोगने लगे। वर्षाऋतु[९] समाप्त हुई। शरद्ऋतु[१०]के चिह्न दिखायी पड़ने लगे। उस समय श्रीरामने लक्ष्मणजीको सुग्रीवके पास भेजकर यह संदेश पहुँचाया कि 'आपने वर्षा-ऋतुके पूर्व जो प्रतिज्ञा (सुग्रीवने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं नानाद्वीपवासी वानरोंको शीघ्र ही इकट्ठा करूँगा और उनको श्रीसीताजीके अन्वेषणार्थ भेजूँगा।) की थी, उसे क्या भूल गये ?' लक्ष्मणजीके द्वारा इस संदेशको सुनकर सुग्रीवजी-ने कहा कि 'मैं नानाद्वीपोंके वानरोंको बुलानेके लिये बहुत-से दूत भेज चुका हूँ। अब वे शीघ्र ही यहाँ आ जानेवाले हैं। वे वानर बहुत बलिष्ठ तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले हैं एवं श्रीरामके कार्यके लिये ही पैदा हुए हैं।' यह सुनकर लक्ष्मणजी प्रसन्न हुए और सुग्रीवजीको साथ लेकर श्रीरामजीके पास आये। सुग्रीवजीने अपना किया हुआ कार्य श्रीरामजीको भी सुनाया, जिससे श्रीरामजी संतुष्ट हुए। इतनेमें श्रीरामचन्द्रजीने बाहर देखा तो नानाद्वीप-वासी वानरगण आते हुए दिखायी पड़े। उन सबने समीप आकर श्रीरामजीको तथा अपने राजा सुग्रीवजीको प्रणाम किया और अपना कर्तव्य-कार्य पूछा। सुग्रीवजीने आये हुए वानरोंको अलग-अलग दलोंमें विभक्त करके उन्हें चारों दिशाओंमें श्रीसीताजीके अन्वेषणार्थ भेजा। विदा करते समय उन्होंने सब वानरोंसे कहा कि 'जो वानर एक मासके[११] भीतर सीताजीका पता लगाकर उसका समाचार मुझे नहीं सुनायेगा, वह मेरे हाथोंसे मारा जायगा।' अङ्गद, नल, नील, जाम्बवन्त, हनुमान् आदि दक्षिण दिशामें भेजे गये। सीताजीको विश्वास दिलानेके लिये श्रीरामजीने अपनी अँगूठी[१२] हनुमान्जीको दी। हनुमान्जी सुग्रीवके मन्त्री भी थे। जिस दिन वे लोग सीताजीकी खोजमें चले थे, वह शरद्-ऋतुके तथा प्रथम आश्विन मासके प्रारम्भका दिन था अर्थात् उस दिन प्रथम आश्विनके कृष्णपक्षकी प्रतिपदा थी। सीताके अन्वेषणार्थी अङ्गद-हनुमान् प्रभृति दक्षिण दिशामें चले गये। प्रथम आश्विन मास बीत गया। एक महीनेकी अवधि समाप्त हो गयी, किंतु सीताजीका पता नहीं लगा। तब अङ्गदजी चिन्तित होकर हनुमान्जीसे कहने लगे—'सुग्रीवजी मेरा वध अवश्य करेंगे। हम सभी सीताजीकी खोज लगानेमें विफल रह गये। अब मैं किष्किन्धामें जाकर सुग्रीवजीके हाथों मरनेके बदले यहाँ अन्न-जलका त्याग करके प्राण छोड़ दूँगा[१३]।'

---

९. चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः।
मम शोकाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः॥
(कि० का० ३०। ६४)

नोट—'पक्षा एव मासाः'—चार पक्षोंके वर्षाऋतुके दो महीनोंको ही यहाँ 'चातुर्मास्य'के नामसे कहा गया है। आश्विन तथा कार्तिकको भी चातुर्मास्यके अन्तर्गत माननेमें यह आपत्ति आती है कि आश्विन कृष्णके आरम्भमें अँगूठी देकर हनुमान् तथा अङ्गद भेजे गये थे और उसके पहले श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे यह कहा था कि 'वर्षाऋतुके चार मास पूरे हो चुके हैं, शरद्ऋतु आ गयी है, सीताजीकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न होना चाहिये।' ऐसी दशामें भगवान्का उपर्युक्त वचन गलत हो जाता है। इसलिये श्रीरामजीकी युक्ति तथा अन्य शास्त्रकारोंकी भी सम्मतिके अनुसार वर्षाऋतुके दो महीनोंके चार पक्षोंको ही 'चातुर्मास्य' समझना चाहिये। इस विषयको समझनेके लिये वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डका ३०वाँ सर्ग देखिये।

१०. पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम्।
शारदीं रजनीं चैव दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम्॥
(कि० का० ३०। २)

११. अभिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
मासे पूर्णे निवर्तध्वमुदयं प्राप्य पर्वतम्॥
ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम।
(कि० का० ४०। ६९-७०)

१२. ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम्।
अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परंतपः॥
(कि० का० ४४। १२)

१३. युवराजो महाप्राज्ञ अङ्गदो वाक्यमब्रवीत्॥
. . . .
मासः पूर्णो बिलस्थानां हरयः किं न बुध्यत॥
वयमाश्वयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः।
प्रस्थिताः सोऽपि चातीतः किमतः कार्यमुत्तरम्॥
(किष्किन्धा० ५३। ७-९)

अङ्गदजीको इस प्रकार चिन्तित देखकर सब लोग निराश होकर बैठे थे कि सम्पाति नामका एक पक्षी दीख पड़ा। अङ्गदजीके पूछनेपर उसने सीताजीका ठीक-ठीक पता बताया। उसको सुनकर वानरलोग आपसमें कहने लगे कि 'सौ योजनके समुद्रको लाँघनेमें हम तो असमर्थ हैं; वायुपुत्र हनुमान्जी इस समुद्रको फाँदकर सीताजीका समाचार ला सकते हैं; इसलिये उन्हींको भेजा जाय।' जाम्बवान्जीने भी इस प्रस्तावको स्वीकार किया और उन्होंने सबकी ओरसे हनुमान्जीको समुद्र-पार जानेके लिये कहा। हनुमान्जी जाम्बवान्की आज्ञा पाकर उत्साहित हो गये और तत्काल आकाश-मार्गसे लङ्काकी ओर चल पड़े। लङ्कामें पहुँचकर उन्होंने रातों-रात[14] सीताजीका पता लगा लिया। उनके पास जाकर उन्हें श्रीरामजीका कुशल-समाचार सुनाया और उनको श्रीरामकी भेजी हुई अँगूठी दी। सीताजीने भी प्रसन्नमनसे अपनी चूड़ामणि उतारकर हनुमान्जीको दिया और कहा कि 'मेरा यह चूड़ामणि श्रीरामजीको दे देना तथा यहाँका सब समाचार भी सुनाना, जिससे दो महीनोंके भीतर-भीतर रावणका वध[15] हो जाय और मुझको श्रीरामजी यहाँसे ले जायँ।' यह ऊपर लिखा ही जा चुका है।

हनुमान्जीने इस प्रकार रात्रिमें ही सीताजीकी खोज कर ली और प्रातःकाल अशोकवाटिकाको उजाड़ दिया तथा कुछ राक्षसोंको भी मारा। पश्चात् रावणने उन्हें पकड़वा लिया और उनकी पूँछमें आग लगवा दी। हनुमान्जीने अपनी पूँछकी उस आगको लङ्कामें फैलाकर उसका बहुत-सा हिस्सा जला दिया। तत्पश्चात् वे स्वयं समुद्रमें कूद पड़े और अपनी पूँछकी आग बुझाते हुए बहुत प्रसन्न हुए। पश्चात् वे शीघ्र ही आकाश-मार्गसे चल पड़े और तुरंत जाम्बवान् अङ्गद आदिके पास आ पहुँचे। सभी वानर-भालू हनुमान्जी द्वारा सीताजीका पता लगानेका समाचार पाकर बहुत प्रसन्न हुए। अनन्तर हनुमान्जी सबके साथ किष्किन्धाके मधुवनमें आ पहुँचे। वहाँ सबने यथेष्ट मधुपान किया। पश्चात् हनुमान् समेत अङ्गदजी सुग्रीवसे आकर मिले। सुग्रीवजी उस समय प्रवर्षण पर्वतपर श्रीरामजीके पास ही बैठे थे। हनुमान्जीने सीताजीका समाचार सुग्रीवको तथा श्रीरामजीको सुनाया और चूड़ामणि दे दिया। श्रीरामजी इसपर अत्यन्त संतुष्ट हुए। उन्होंने हनुमान्जीको प्रगाढ़ आलिङ्गन दिया और कहा कि 'मैं तुम्हारे इस उपकारसे कभी उऋण नहीं हो सकता।' उस आनन्ददायक समाचारको सुनकर सभी रामानुयायी आनन्द-समुद्रमें मग्न हो गये। पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवसे कहा, "इस समय मध्याह्नका 'विजय' मुहूर्त है। आज उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र है और कल हस्त नक्षत्र है। इसलिये आज ही इस शुभ मुहूर्तमें हमलोगोंको सम्पूर्ण वानरसेनाके साथ विजययात्राके लिये प्रस्थान कर देना चाहिये।"

श्रीरामचन्द्रजीकी इस आज्ञाको शिरोधार्य कर सुग्रीव-समेत सभी वानरगण दक्षिणसमुद्रकी ओर (सेतुबन्ध रामेश्वरकी ओर) चल पड़े।[16] श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्जीके कंधेपर और लक्ष्मणजी अङ्गदजीके कंधेपर बैठे तथा आकाश-मार्गसे शीघ्र ही रामेश्वर जा पहुँचे। शेष वानर-सेना भी दिन-रात पैदल चलकर यथासमय रामेश्वर पहुँच

अङ्गदके इस वचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हनुमान्जीको प्रथम आश्विन कृष्णके प्रारम्भमें ही अँगूठी दी गयी थी।

१४. सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।
वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः॥
चन्द्रोऽपि साचिव्यमिवास्य कुर्वं-
स्तारागणैर्मध्यगतो विराजन्।
ज्योत्स्नावितानेन वितत्य लोका-
नुत्तिष्ठतेऽनेकसहस्ररश्मिः॥
(सु० का० २। ४९, ५७)

सूर्यास्त होनेके बाद थोड़ी ही देरमें पूरा चन्द्रमा (अनेकसहस्ररश्मिः) निकला था, इससे मालूम होता है कि वह तिथि द्वितीय आश्विन कृष्ण-द्वितीयाके लगभग थी।

१५. वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवंगम।
रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम॥
यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सराक्षसम्।
मामितो गृह्य गच्छेत तत्तस्य सदृशं भवेत्॥
(सु० का० ३७। ८, ६४)

१६. अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव प्रयाणमभिरोचय।
युक्तो मुहूर्ते विजये प्राप्तो मध्यं दिवाकरः॥
उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते।
अभिप्रयाम सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः॥
ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन च पूजितः।
जगाम रामो धर्मात्मा ससैन्यो दक्षिणां दिशम्॥
(यु० का० ४। ३, ५, २३)

गयी । कोई-कोई अन्य प्रमुख वानर भी आकाश-मार्गसे पहुँचे । तात्पर्य यह कि सारी वानर-सेना रामेश्वरमें श्रीरामचन्द्रजीके निकट आकर इकट्ठी हो गयी ।

पहले लिखा जा चुका है कि जब प्रथम आश्विन मास समाप्त हो गया और द्वितीय आश्विन मासका कृष्णपक्ष आरम्भ हुआ, तब एक महीना बीत जानेके कारण अङ्गदजी चिन्ता करने लगे थे । उन्हें यह चिन्ता प्रायः द्वितीय आश्विन कृष्ण प्रतिपदाको हुई । उस दिन रेवती नक्षत्र रहा होगा । उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र रेवती नक्षत्रसे १३ वें दिन पड़ता है, यह प्रायः नियम-सा है । और इस नियमसे यह सिद्ध होता है कि श्रीरामचन्द्रजीको चूड़ामणिका दर्शन तथा उनके आज्ञानुसार युद्धका प्रस्थान द्वितीय आश्विन कृष्ण १३ को हुआ । इन तेरह दिनोंके भीतर ही किसी दिन हनुमान्‌जीको लङ्कामें श्रीसीताजीका दर्शन प्राप्त हुआ था । मेरे विचारसे द्वितीय आश्विन कृष्णपक्षकी द्वितीयाके लगभग किसी रात्रिमें हनुमान्‌जीने सीताजीका दर्शन किया था । पाठकगण चाहें तो किसी भी वर्षके पञ्चाङ्गको देखकर इन तिथि-मास-नक्षत्रोंकी तुलना कर सकते हैं । तिथि-नक्षत्रोंकी घटिकाओंकी घटा-बढ़ीसे कदाचित् एक-दो दिनका अन्तर पड़ सकता है, अधिक नहीं । उस दिन सूर्यास्तके समय हनुमान्‌जी सूक्ष्मरूप धारणकर लङ्कामें घूम रहे थे और उसी समय आकाशमें चन्द्रमा भी निकला था । बादमें हनुमान्‌जीने मध्यरात्रिके समय रावणके अन्तःपुरमें प्रवेश किया था ।[१७] ये बातें द्वितीयाके आस-पास ही सम्भव हो सकती हैं ।

जिस दिन श्रीरामचन्द्रजी दक्षिण-समुद्रके तटपर पहुँचे, उसी दिन उनका दर्शन करनेके लिये विभीषण तथा रावणका दूत शुक उनके पास पहुँचे थे । श्रीरामचन्द्रजीने उसी समय विभीषणको राज्यतिलक दिया और रावणदूत शुकको बंदी किया । तत्पश्चात् श्रीरामजीने शिवलिङ्ग (रामेश्वर)की स्थापना तथा पूजा की और समुद्रका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करनेके लिये तीन दिनतक मौन-व्रत रक्खा ।[१८] जब समुद्रने तीन दिनमें दर्शन नहीं दिया, तब उन्होंने क्रोध प्रदर्शित समुद्रशोषणके लिये ब्रह्मास्त्र छोड़नेका विचार किया । उस समय समुद्रने भयभीत होकर श्रीरामचन्द्रजीको प्रत्यक्ष दर्शन दिया, उनकी पूजा की और कहा—'भगवन् ! नल नामक वानरके द्वारा सेतु बँधवाया जाय । मैं उसे धारण करूँगा ।' समुद्रके इस कथनके अनुसार नलने अन्य वानरोंके साथ पाँच दिनमें सौ योजन लंबा सेतु तैयार कर दिया ।[१९] उस सेतुपर चढ़कर सभी वानर शीघ्र ही लङ्काके सुवेल पर्वतपर पहुँच गये । श्रीराम-लक्ष्मण क्रमशः हनुमान्-अङ्गदके कंधोंपर बैठकर आकाशमार्गसे वहाँ पहुँचे । जिस दिन श्रीरामजी सुवेल पर्वतपर पहुँचे, उस दिन द्वितीय आश्विनकी पौर्णमासी थी, अर्थात् प्रस्थानके दिनसे १७वें दिन श्रीरामजी सेनासमेत सुवेल पर्वतपर पहुँचे ।[२०] वहाँ पहुँचते ही उन्होंने शुक दूतको बन्धनमुक्त कर दिया और उसी दिनसे वानरों तथा राक्षसोंका युद्ध प्रारम्भ हो गया । राम-

---

१७. परिवृत्तेऽर्द्धरात्रे तु पाननिद्रावशं गतम् ।
क्रीडित्वोपरतं रात्रौ प्रसुप्तं बलवत्तदा ॥
(यु० का० ९ । ३४)

१८. स त्रिरात्रोषितस्तत्र नयज्ञो धर्मवत्सलः ।
उपासत तदा रामः सागरं सरितांपतिम् ॥
(यु० का० २१ । ११)

१९. कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश ।
... ...
द्वितीयेन तथैवाह्ना योजनानि तु विंशतिः ॥
... ...
अह्ना तृतीयेन तथा योजनानि तु सागरे ।
... ...
चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरथापि वा ॥
पञ्चमेन तथा चाह्ना प्लवगैः क्षिप्रकारिभिः ।
योजनानि त्रयोविंशत्सुवेलमधिकृत्य वै ॥
(यु० का० २२ । ६८—७२)

क्षिप्रमद्यैव दुर्द्धर्षां पुरीं रावणपालिताम् ।
अभियाम जवेनैव सर्वैर्हरिभिरावृताः ॥
(यु० का० २३ । १३)

२०. अध्यारोहन्त शतशः सुवेलं यत्र राघवः ।
ते त्वदीर्घेण कालेन गिरिमारुह्य सर्वतः ॥
ददृशुः शिखरे तस्य विषक्तामिव खे पुरीम् ।
... ...
ततोऽस्तमगमत् सूर्यः संध्यया प्रतिरञ्जितः ।
पूर्णचन्द्रप्रदीप्ता च क्षपा समतिवर्तत ॥
(यु० का० ३८ । १४, १५, १९)

तां रात्रिमुषितास्तत्र सुवेले हरियूथपाः ।
लङ्कायां ददृशुर्वीरा वनान्युपवनानि च ॥
(यु० का० ३९ । १)

प्रस्थानके १२ वें दिनसे (द्वितीय आश्विन शुक्ला दशमी—विजयादशमीसे) पाँच दिनमें सेतु-बन्धका कार्य पूरा हुआ और उन १२ दिनोंमें सेनाका किष्किन्धासे रामेश्वर पहुँचना, रामेश्वरकी स्थापना, तीन दिन मौन-व्रतसे रहना आदि कार्य हुए।

जिस रात्रिको लक्ष्मणजीने निकुम्भिला नामक स्थानपर इन्द्रजित् (मेघनाद) का वध किया, उसी रात्रिमें रावण पुत्र-शोकसे पीड़ित होकर अशोकवाटिकामें गया और खड्गसे सीताजीका वध करनेको उद्यत हुआ; परंतु सुपार्श्व नामक मन्त्रीने नाना युक्तियोंसे रावणको समझाकर उसे सीतावधसे निवृत्त किया। उसने कहा कि 'आज कृष्णपक्षकी चतुर्दशी है। कल अमावस्याके दिन आप रामसे युद्ध करें।'[21] सुपार्श्वकी बतायी हुई चतुर्दशी कार्तिककी कृष्णचतुर्दशी थी। राम-प्रस्थानके दिनसे यह ३१ वाँ दिन था। यहाँतक १५ दिनका युद्ध हुआ। इन दिनोंमें बहुत-से प्रमुख-प्रमुख राक्षस कुम्भकर्ण और मेघनादके साथ मारे गये। अब केवल रावण ही मुख्य योद्धा बच गया था। उसका युद्ध अमावस्यासे शुरू हुआ। यह कभी युद्धमें आता था और कभी लङ्कामें पलायन कर जाता था; इस प्रकार कई दिनोंतक उसने युद्ध किया। युद्धभूमि लङ्का-नगरीसे कुछ दूर थी।

पहले लिखा जा चुका है कि मार्गशीर्ष कृष्णा ६ के दिन पुष्य नक्षत्रमें श्रीरामचन्द्रजी सीतासमेत पुष्पक विमानद्वारा अयोध्या पहुँच गये थे। उसके पहले दिन पञ्चमी तिथिको प्रातःकाल वे लङ्कासे चले थे और उसी दिन दोपहरको भरद्वाज मुनिके आश्रममें पहुँचकर उन्होंने मुनियोंकी संनिधिमें निवास किया और हनुमान्‌के द्वारा अयोध्याके निकटवर्ती नन्दिग्राममें भरतके पास समाचार पहुँचाया। उसके पहले दिन चतुर्थीको जब श्रीरामचन्द्रजी लङ्कासे चलनेके लिये तैयार हुए, तब विभीषणने निवेदन किया कि कल दिनमें ही पुष्पक विमानद्वारा प्रस्थान करना अच्छा होगा।[22] श्रीरामचन्द्रजीने इस प्रार्थनाको स्वीकार करके चतुर्थीकी रातको लङ्कामें ही निवास किया। यह मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी तिथि किष्किन्धामें युद्धके लिये प्रस्थानके दिनसे ५१वाँ दिन थी। इस प्रकार सीताजीकी शपथपूर्वक की हुई यह सत्य प्रतिज्ञा कि दो महीनेके अंदर ही रावणका वध तथा श्रीरामजीकी प्राप्ति होनी चाहिये, पूर्ण हुई। मेघनादवधके दिनसे मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थीतक २१ दिनमें रावणका वध, अग्निद्वारा सीताकी शुद्धि, दशरथसे वार्तालाप, ब्रह्मा-शंकर-इन्द्र आदि देवताओंद्वारा भगवान् श्रीरामकी स्तुति, रावणका दाह-संस्कार, विभीषणका राज्याभिषेक, वानरोंका विसर्जन आदि कार्य हुए।

यद्यपि एक वर्षके अंदर वैशाख शुक्ला षष्ठी, ज्येष्ठ शुक्ला षष्ठी, कार्तिक कृष्णा षष्ठी, मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठी—इन चारों तिथियोंमें पुष्य नक्षत्रका योग होना सम्भव है, तथापि मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठीको छोड़कर इन मासोंकी षष्ठी तिथियोंमें पुष्य-नक्षत्रका योग इसलिये नहीं मानना चाहिये कि उनसे राम-वनवासकी समाप्तिका दिन किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। वनवासकी समाप्ति जाननेकी रीति ऊपर लिखी जा चुकी है।

मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमीके दिन भी कुछ घटिकाओंतक पुष्य नक्षत्र अवश्य था, इसीलिये उस दिन प्रातःकाल महर्षि वसिष्ठने सुग्रीव, हनुमान्, अङ्गद आदिके द्वारा चारों समुद्रोंका जल मँगवाया था[23] और उसी दिन रामराज्याभिषेक भी किया था। वाल्मीकिरामायणकी रामाभिरामी टीकामें भी सप्तमीको ही रामराज्याभिषेक लिखा गया है।[24] यद्यपि टीकाकारोंने अनेक पुराणोंके आधारपर रावण-वध तथा रामराज्याभिषेककी भिन्न-भिन्न तिथियाँ और मास लिखे हैं; तथापि वे सब तिथि-मास कल्पभेदसे ठीक हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है। चाहे जिस कल्पके रामावतारका चरित्र हो, उसका पठन-पाठन करनेसे चित्त-शुद्धि होकर भगवत्प्राप्ति हो सकती है। हाँ, मैंने केवल महर्षि वाल्मीकिके मतानुसार ही रावण-वध,

---

२१. अभ्युत्थानं त्वमद्यैव कृष्णपक्षचतुर्दशी।
कृत्वा निर्याह्यमावास्यां विजयाय बलैर्वृतः॥
(यु० का० ९२। ६६)

२२. तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्।
न मे स्नानं बहु मतं वस्त्राण्याभरणानि च॥
एवमुक्तस्तु काकुत्स्थं प्रत्युवाच विभीषणः।
अह्ना त्वां प्रापयिष्यामि तां पुरीं पार्थिवात्मज॥
(यु० का० १२१। ६, ८)

२३. तथा प्रत्यूषसमये चतुर्णां सागराम्भसाम्।
पूर्णैर्घटैः प्रतीक्षध्वं तथा कुरुत वानराः॥
—इति सुग्रीवं प्रति भरतवचनम् (यु० का० १२८। ५०)

२४. नन्दिग्रामे तु षष्ठ्यां वै भरतेन समागतः।
सप्तम्यामभिषिक्तोऽसौ अयोध्यायां रघूत्तमः॥
(यु० का० टीका ११०, श्लोक ३४

युद्धारम्भ एवं युद्धसमाप्ति और श्रीरामचन्द्रजीके अयोध्यापुरीमें प्रवेश तथा भरत-सम्मिलनका समय दिखलानेकी चेष्टा की है।

युद्ध-समाप्तिके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीके साथ लङ्कासे पुष्पक विमानद्वारा आयी हुई सारी भक्तमण्डली अर्थात् सुग्रीव, अङ्गद, हनुमान्, नल, नील, जाम्बवन्त, उनकी स्त्रियाँ तथा विभीषण आदि अयोध्यामें रामराज्याभिषेक होनेके बाद दो महीनोंतक रहे।[२५] दूसरा महीना शिशिरऋतु (माघ) का था। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीव आदि वानरोंको तथा विभीषण आदि राक्षसोंको अपने-अपने देशमें जाकर राज्य करनेके लिये कहा। भगवान् श्रीरामकी इस आज्ञाके अनुसार सुग्रीव और विभीषण आदिकी मण्डली उनका चिन्तन करती हुई अपने-अपने स्थानको चली गयी।[२६] श्रीरामचन्द्रजीने ११ हजार वर्षतक राज्य किया। श्रीरामजीके राज्यमें मनुष्योंकी पूर्णायु एक हजार वर्षकी थी। श्रीरामचन्द्रजी-का वर प्राप्त करके विभीषण तथा हनुमान्जी कल्पान्तजीवी हुए। अयोध्यावासी सभी जीव ब्रह्मलोकसे भी ऊपर

२५. एवं तेषां निवसतां मासः साग्रो ययौ सदा।
... ...
रामोऽपि रेमे तैः सार्द्धं वानरैः कामरूपिभिः।
... ...
एवं तेषां ययौ मासो द्वितीयः शिशिरः सुखम्।
वानराणां प्रहृष्टानां राक्षसानां च सर्वशः॥
(उ० का० ३९। २७—२९)

कृतप्रसादास्तेनैवं राघवेण महात्मना।
जग्मुः स्वं स्वं गृहं सर्वे देही देहमिव त्यजन्॥
(उ० का० ४०। ३०)

२६. सुग्रीव आदि दो महीनोंतक अयोध्यामें रहकर शिशिरऋतुमें विदा हुए; इससे भी यही सिद्ध होता है कि मार्गशीर्षमें ही श्रीरामजीका राज्याभिषेक हुआ था। राज्याभिषेकके दिनसे ५३वें दिन शिशिर-ऋतु (माघ) का प्रारम्भ हुआ था।

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् रामो राज्यमकारयत्॥
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति॥
(यु० का० १२८। १०६,१०१)

दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥
(बालकाण्ड १। ९७)

सान्तानिक नामक लोकको प्राप्त हुए। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाविष्णु हुए। श्रीसीताजी लक्ष्मी बन गयीं। श्रीलक्ष्मणजी शेष बन गये और श्रीभरत तथा श्रीशत्रुघ्न शङ्ख-चक्र बन गये।

पूरे लेखका सारांश यह है कि श्रीराम-वनवास-समाप्तिके वर्ष प्रथम आश्विनके कृष्णपक्षका प्रारम्भ होते ही हनुमान्, अङ्गद आदि वानर श्रीरामजीसे अँगूठी प्राप्त करके श्रीसीताजी-के अन्वेषणार्थ निकले थे। प्रथम आश्विन मास समाप्त हो जानेके बाद द्वितीय आश्विन मासके कृष्णपक्षकी द्वितीयाके लगभग हनुमान्जीने लङ्कामें श्रीसीताजीका दर्शन प्राप्त किया। द्वितीय आश्विन मासकी कृष्णा त्रयोदशी एवं उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके दिन श्रीरामचन्द्रजीने किष्किन्धासे सैन्यसमेत युद्धके लिये प्रस्थान किया। द्वितीय आश्विन शुक्ला दशमीसे प्रारम्भ-कर कुल ५ दिनमें वानरोंने सेतु तैयार किया, जिसके द्वारा सारी सेना शीघ्र ही लङ्कामें पहुँच गयी। द्वितीय आश्विन शुक्ला पूर्णिमाकी शामको श्रीरामचन्द्रजीने सैन्यसमेत सुवेलपर्वतपर निवास किया और उसी दिनसे युद्धारम्भ हो गया। सबसे पहले प्रधान सेनानायक सुग्रीवजी रावणके स्थानपर जाकर उससे लड़े। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीको इन्द्रजित् (मेघनाद) का वध हुआ। कार्तिक कृष्णा अमावस्यासे रावण तथा श्रीरामजीकी लड़ाई शुरू हुई। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीयाके दिन श्रीराम-रावण-युद्धकी समाप्ति हुई।[२७] इन ३२ दिनोंके अंदर रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद-प्रभृति असंख्य राक्षस मारे गये। बचे हुए राक्षसोंका राज्य

२७. अष्टादशदिने रामो द्वैरथे रावणं वधीत्।
(यु० का० टी० ११० श्लोक० ३४)

यह रामाभिरामी टीकाका मत है। 'द्वैरथ युद्ध' उसे कहते हैं, जिसमें केवल दो ही रथोंसे आपसमें युद्ध किया जाय—'द्वाभ्यां रथाभ्यां क्रियत इति द्वैरथम्।' इस मतके अनुसार केवल १८ दिनों-तक राम-रावणका युद्ध होता रहा। यह मत भी किसी-न-किसी कल्पके रामावतारसे सम्बन्ध रखनेके कारण ठीक ही है। यदि हम इसका अवलम्बन करें, तब भी यही निश्चय होता है कि कार्तिक कृष्णा अमावस्यासे मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीयातक राम-रावण-युद्ध होता रहा और उसी दिन रावणका वध हो जानेसे युद्धकी समाप्ति हो गयी। मेघनाद-वधके दिनसे १९वें दिन रावणका वध हुआ। रावण-वधके बाद उसका दाह-संस्कार हुआ तथा विभीषणका राज्या-भिषेक हुआ। पश्चात् एक-दो दिनमें श्रीरामचन्द्रजीने पुष्पक विमानद्वारा अयोध्याकी ओर प्रस्थान किया और मार्गमें पञ्चमीके दिन प्रयागमें भरद्वाजमुनिके आश्रममें निवास किया, इत्यादि।

विभीषणको सौंपा गया। मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमीके दिन पुष्पक विमानके द्वारा लङ्कासे चलकर श्रीरामचन्द्रजी सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव, अङ्गद, हनुमान्, विभीषण आदिके साथ दोपहरको भरद्वाजमुनिके आश्रम प्रयागमें पहुँचे और उस दिन रात्रिमें भी वहीं निवास किया। मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठी, पुष्य नक्षत्रके दिन पूर्वाह्णकालमें अयोध्याके नन्दिग्राममें जाकर श्रीरामचन्द्रजी सबके साथ श्रीभरतजीसे मिले। मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमीको कुलगुरु महर्षि वसिष्ठजीने अयोध्यामें श्रीरामचन्द्रजीका राज्याभिषेक किया। उसके बाद दो मासपर्यन्त विभीषण तथा सुग्रीव आदिकी मण्डली अयोध्यामें श्रीरामजीकी संनिधिमें रही। अनन्तर शिशिर-ऋतुमें श्रीरामचन्द्रजीने आज्ञा देकर विभीषण, सुग्रीव आदि सारी मण्डलीको बिदा किया। उसके पश्चात् ११ हजार वर्षोंतक श्रीरामचन्द्रजीने राज्य किया और तदनन्तर अपने परमधामकी यात्रा की तथा अयोध्यावासी लोग 'सांतानिक' नामक लोकमें पहुँचाये गये।

उपसंहार

वनवास-समाप्तिके वर्ष दोनों आश्विन मासके ६० दिन हुए। इनमें पहलेके १५ दिन तथा अन्तिम १५ दिन शुद्ध मासके और बीचके ३० दिन मलमासके होने चाहिये। अर्थात् ऐसे समझना चाहिये कि प्रथम आश्विन मासके आदिके १५ दिन शुद्धपक्षके तथा बाकी १५ दिन मलपक्षके थे और द्वितीय आश्विन मासके आदिके १५ दिन मलपक्षके तथा शेष १५ दिन शुद्धपक्षके थे। इस प्रकार भाद्रपदकी पूर्णिमासे ३१वें दिनपर्यन्त प्रथम आश्विन मास था और ३१वें दिनसे ६१वें दिनतक द्वितीय आश्विन मास था। ६१वें दिनसे ९१वें दिनतक कार्तिक था और ९८वें दिन मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी तिथि थी, जिस दिन रामराज्याभिषेक हुआ। भाद्रपदकी पूर्णिमाको वर्षा-ऋतुकी समाप्ति हुई और शरद्-ऋतुका आरम्भ हुआ। इसी पूर्णिमाके दूसरे दिन श्रीहनुमान्‌जी-प्रभृति अँगूठीके साथ दक्षिण-दिशाकी ओर भेजे गये थे। ३२वें दिन अङ्गदने चिन्ता की थी। ३३वें दिन लङ्कामें रात्रिके समय हनुमान्‌जीने सीताजीका दर्शन किया। ४४वें दिन श्रीरामजीने किष्किन्धासे ससैन्य प्रस्थान किया। ५६वें दिन विजयादशमीको सेतुबन्धनका कार्य आरम्भ हुआ। ६१वें दिन पूर्णिमाको श्रीरामजी सेनासमेत सुवेल पर्वतपर पहुँचे। ७५वें दिन मेघनाद मारा गया। ७६वें दिनसे राम-रावणका घोर युद्ध प्रारम्भ हुआ। ९३वें दिन रावणका वध हुआ। ९६वें दिन श्रीरामचन्द्रजी भरद्वाजके आश्रममें (प्रयाग) पहुँचे। ९८वें दिन मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमीको रामराज्याभिषेक हुआ। अस्तु—

इन मुख्य-मुख्य बातोंको ध्यानमें रखना चाहिये—१—वर्षा-ऋतुकी समाप्ति तथा शरद्-ऋतुके प्रारम्भमें हनुमान्‌जी-प्रभृतिको अँगूठी देकर सीताजीके अन्वेषणार्थ भेजा गया था। २—लङ्कामें हनुमान्‌जीके पहुँचनेपर सीताजीने यह शपथपूर्वक कहा था कि यदि दो महीनोंमें राम-प्राप्ति न होगी तो मैं प्राण-त्याग कर दूँगी। ३—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रको रामने प्रस्थान किया। ४—पूर्णिमाको लङ्काके सुवेल पर्वतपर श्रीरामका सेनासहित निवास हुआ। ५—कृष्णपक्षकी अमावास्याको रावण युद्ध-भूमिपर उतरा था। ६—पुष्य नक्षत्रयुक्त षष्ठी तिथिको श्रीरामजी भरतजीसे मिले तथा उसी दिन वनवास-विधिके अनुसार वनवास पूरा हुआ। कुल १३ वर्ष ८ मास-तक वनवास रहा। ७—पुष्य नक्षत्रयुक्त षष्ठी तिथिके २ महीने बाद शिशिर-ऋतु आयी और उसी ऋतुमें सुग्रीव तथा विभीषणादि अयोध्यासे बिदा हुए।

कैसे अपनाओगे ?

औगुन अनंत खर-दूषन लौं दोषवंत, तुच्छ त्रिसिरा लौं जाको एकहू न जस है।
कहै 'पदमाकर' कबंधलौं मदंध, महापापी हौं मरीच लौं, न दाया को दरस है॥
मंथरा लौं मंथर, कुपंथी पंथ-पाहन लौं, बालि हू लौं बिषई, न जान्यौ और रस है।
ब्याध हू लौं बधिक, बिराध, लौं बिरोधी राम, एते पै न तारौ तौ हमारौ कहा बस है॥
ब्याध हू तें बिहद, असाधु हौं अजामिल तें, ग्राह तें गुनाही, कहौ तिनमें गनाओगे।
स्यौरी हौं न सुद्र हौं न केवट कहूँ को त्यौं न, गौतमी तिया हौं जापै पग धरि आओगे॥
राम सों कहत 'पदमाकर' पुकारि, तुम मेरे महापापन को पार हू न पाओगे।
सीता-सी सतीकों तज्यो झूठोई कलंक सुनि, साँचोई कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे॥

(पद्माकर)

रामकथाके आद्य गायक

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे)

रामभक्त भगवान् शंकर और माता पार्वती

कर्पूरगौर भगवान् शंकर एवं नीलोत्पल-श्याम श्रीराममें भेद नहीं है। दोनों ही सदा अभिन्न हैं। दोनों सदा एक दूसरेके आराध्य और आराधक हैं। कहीं अहिभूषण सीतापतिकी आराधना करते हैं तो कहीं जगदाधार श्रीराम गङ्गाधरकी पूजामें तल्लीन रहते हैं। श्रीरामको संतुष्ट करनेके लिये, उनकी कृपाप्राप्तिके लिये त्रिशूलधारीकी कृपा आवश्यक है। भगवान् विभूति-भूषणसे द्रोह करनेवालेसे नव-जलधर-सुन्दर श्रीराम कभी तुष्ट नहीं होते। उन्होंने अपने मुखारविन्दसे स्वयं कहा है—

'सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहिं न पावा ॥'
(मानस ६। १। ३½)

देवर्षि नारदने क्षीराब्धिशायी प्रभुको शाप दे दिया, पर मोह-निवारण होनेपर जब वे पश्चात्ताप करने लगे, तब प्रभुने उन्हें शान्ति प्राप्त करनेका मार्ग बताते हुए कहा—

जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदयँ तुरत बिश्रामा ॥
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें ॥
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥
(मानस १। १३७। ३-३½)

'जाकर शंकरजीके शतनामका जप करो इससे हृदयमें तुरंत शान्ति मिलेगी। शिवजीके समान मुझे कोई प्रिय नहीं है, इस विश्वासको भूलकर भी न छोड़ना। हे मुनि! पुरारि (शिवजी) जिसपर कृपा नहीं करते, वह मेरी भक्ति नहीं पाता।'

समुद्र-पार जानेके पूर्व प्रभु श्रीरामने भगवान् शंकरकी स्थापना कर उनकी सविधि पूजा की और बोले 'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा ॥' (मानस ६। १। ३) और श्रीगङ्गाधरके तो दशरथतनय श्रीराम प्राण ही हैं। वे जब-जब प्रभु श्रीराम अवतरित होते हैं, तब-तब वे प्रभु श्रीरामकी मधुर, मनोहर और मङ्गलमयी लीलाके दर्शनार्थ धरतीपर आते रहते हैं और उनकी अलौकिक लीलाओंको देख-देखकर मुग्ध होते हैं। प्रभुका 'राम' नाम तो उन्हें प्राणाधिक प्रिय है। तभी तो—

ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि ॥
(मानस १। २५)

"(राम-) नाम (निर्गुण) ब्रह्म और (सगुण) राम दोनोंसे बड़ा है। यह वर देनेवालोंको भी वर देनेवाला है। श्रीशिवजीने अपने हृदयमें यह जानकर ही सौ करोड़ रामचरित्रमेंसे इस 'राम' नामको (साररूपसे चुनकर) ग्रहण किया है।"

सच तो यह है कि 'राम'-के नामका महत्त्व पार्वतीवल्लभ शंकरजी ही अच्छी तरह जानते हैं—

'नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को ॥'
(मानस १। १८। ४)

'नामके प्रभावको श्रीशिवजी भलीभाँति जानते हैं, जिस (प्रभाव)-के कारण कालकूट जहरने उन्हें अमृतका फल दिया।'

भगवान् शंकरने अपना अनुभव बताते हुए माता पार्वतीसे कहा था—

'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना ॥'
(मानस ३। ३८। २½)

श्रीशंकरजी द्वादश भागवताचार्योंमें प्रमुख एवं भगवान् श्रीरामके भक्त और स्वामी दोनों हैं। अपने अविमुक्तक्षेत्र वाराणसीमें प्राण-परित्याग करनेवाले प्रत्येक प्राणीको अपने प्रभु श्रीरामके 'राम'—इस तारकमन्त्रका उपदेश प्रदानकर उसे सदाके लिये जन्म-जरा-मरणके कष्टकर बन्धनसे मुक्त कर देते हैं।

पतिव्रताशिरोमणि माता पार्वती भी अपने पतिदेव भगवान् शंकरकी ही भाँति भगवान् श्रीरामकी बड़ी ही भक्त हैं। भगवती सीताने इन्हींकी आराधनासे भगवान् श्रीरामको पतिके रूपमें प्राप्त किया था। रामचरितमानसकी मङ्गलमयी कथा इन्हींकी दी हुई है। भगवान् शंकरने योग्यतम पात्र समझकर सम्पूर्ण रामचरित्र अत्यन्त विस्तारपूर्वक प्रेम एवं आनन्दसे पुलकित होकर सर्वप्रथम इन्हें ही सुनाया था—

'...न्ति महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥'
(मानस १। ३४। ५½)

राम-गुण-गायक श्रीनारद

'बंदौं श्रीनारद मुनिनायक। करतल बीन राम-गुन-गायक॥'
—भक्तमा[ल]

श्रीभगवान्‌के मन एवं भक्तिके एक प्रधान आचार्य श्रीनारदजी पूर्वजन्ममें दासीपुत्र थे। महात्माओंकी पत्तलमें बची जूठन खाते रहनेसे आप निष्पाप हो गये। इनकी पाँच वर्षकी आयुमें ही सर्पदंशसे इनकी माताका शरीरान्त हो गया। इसे भगवदनुग्रह मानकर नारदजी हिमालयकी ओर चले गये और वहाँ एक पीपल-वृक्षके नीचे बैठकर ध्यान करने लगे। ध्यान जमा नहीं, पर एक क्षणके लिये प्रभुका दर्शन हो गया। पुनः दर्शन न होनेपर आप व्याकुल हो गये।

'अब अगले जन्ममें दर्शन होंगे'—आकाशवाणी सुनकर आप मृत्युकी प्रतीक्षा करने लगे। उक्त शरीरके नष्ट होनेपर मरीचि आदि ऋषियोंके साथ आपकी उत्पत्ति ब्रह्माके मनसे हुई। तबसे आप संन्यासाश्रमोचित जीवन बिताते, वीणापर प्रभुका नाम-गुणगान करते हुए त्रैलोक्यमें विचरण किया करते हैं। श्रीनारदजी अत्यन्त सत्यवादी हैं। वे सुर-असुर ही नहीं, जीवमात्रके परम कल्याणके लिये तत्पर रहते हैं। प्रभु-पथपर चलनेवाले सत्पुरुषोंका आप कृपापूर्वक मार्ग-दर्शन कर सहयोग-प्रदान किया करते हैं। एक कल्पमें श्रीरामके अवतारके निमित्त आप ही थे। आपने क्रुद्ध होकर क्षीराब्धिशायी प्रभुको शाप दे दिया था*—

बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा॥
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी॥
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी॥
(मानस १। १३६। ३-४)

एक बार जब नीलोत्पलदलश्याम भगवान् श्रीराम रत्न-सिंहासनपर विराजित थे और भगवती सीता उन्हें चँवर डुला रही थीं, तब श्रीनारदजी वहाँ आकाशमार्गसे उतरे—

शुद्धस्फटिकसंकाशः शरच्चन्द्र इवामलः।
अतर्कितमुपायातो नारदो दिव्यदर्शनः॥

तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय रामः प्रीत्या कृताञ्जलिः।
ननाम शिरसा भूमौ सीतया सह भक्तिमान्॥
(अ० रा०, अयो० १। ४-५)

'शुद्ध स्फटिकमणिके समान स्वच्छ और शरच्चन्द्रके समान निर्मल दिव्यमूर्ति श्रीनारदजीको इस प्रकार अचानक आते देख भगवान् राम सहसा उठ खड़े हुए और सीताजीके सहित प्रेम और भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर पृथिवीपर सिर रखकर भगवान्‌ने उन्हें प्रणाम किया।'

श्रीभगवान्‌की मधुर वाणीसे अत्यन्त उपकृत हो श्रीनारदजीने प्रभुकी स्तुति करते हुए कहा—

त्वत्त एव जगज्जातं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
त्वय्येव लीयते कृत्स्नं तस्मात्त्वं सर्वकारणम्॥
त्वत्पादभक्तियुक्तानां विज्ञानं भवति क्रमात्।
तस्मात्त्वद्भक्तियुक्ता ये मुक्तिभाजस्त एव हि॥
त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा मे जनकः प्रभो।
अतस्तवाहं पौत्रोऽस्मि भक्तं मां पाहि राघव॥
(अ० रा०, अयो० १। २५, २९, ३१)

'यह सम्पूर्ण जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है, आपमें ही स्थित है और आपमें ही लीन होता है। इसलिये आप ही सबके कारण हैं।...आपके चरण-कमलोंकी भक्तिसे युक्त पुरुषोंको ही क्रमशः ज्ञानकी प्राप्ति होती है। अतः जो पुरुष आपकी भक्तिसे युक्त हैं, वे ही वास्तवमें मुक्तिके पात्र हैं।...प्रभो! आपके नाभि-कमलसे उत्पन्न हुए ब्रह्माजी मेरे पिता हैं, अतः मैं आपका पौत्र हूँ। राघव! मुझ भक्तकी रक्षा कीजिये।'

फिर श्रीनारदजीने कमलनयन श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'प्रभो! मुझे ब्रह्माजीने आपके पास भेजा है। आपका राज्याभिषेक होनेवाला है; पर आपने तो रावणका वध कर धरती-को पापमुक्त करनेके लिये अवतार लिया है। राज्य-भार स्वीकार करनेपर आपकी प्रतिज्ञाकी रक्षा कैसे होगी?'

'निस्संदेह मैं अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करूँगा।' श्रीरामके इस दृढ़ वचनको सुनकर श्रीनारदजीने प्रसन्न होकर प्रभुकी तीन परिक्रमाएँ कीं और उनके भक्त-भय-हरण चरण-कमलोंमें दण्डवत्-प्रणाम कर देवलोकके लिये प्रस्थित हुए।

फिर सीता-हरणके पश्चात् जब श्रीराम वियोगी पुरुषकी लीला करते हुए एक वृक्षकी घनी छायामें विश्राम कर रहे थे, तब श्रीनारदजीके मनमें बड़ा विचार हुआ। उन्होंने सोचा—

* यह प्रसङ्ग तुलसीकृत श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डके आदिमें विस्तारसे वर्णित है।

मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥
ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई। पुनि न बनिहि अस अवसरु आई॥
(मानस ३। ४०। ३-३½)

'मेरे ही शापको स्वीकार करके श्रीरामजी नाना प्रकारके दुःखोंका भार सह रहे हैं। मैं ऐसे प्रभुको जाकर देखूँ। फिर ऐसा अवसर न बन आयेगा।'

इस विचारसे वीणापर हरिगुण-गान करते हुए श्रीनारदजी प्रभु श्रीरामके समीप पहुँचकर उनके चरणोंमें लोट गये। भक्तवत्सल प्रभु श्रीरामने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। अनेक प्रकारसे प्रभुकी स्तुति-प्रार्थना कर श्रीनारदजीने अत्यन्त विनम्रतासे निवेदन किया—'अस बर मागउँ करउँ ढिठाई॥' (मानस० ३। ४१। ३)—'नाथ! आप कृपापूर्वक मुझे ऐसा वर दीजिये।' प्रभु श्रीरामने श्रीनारदजीसे अपना स्वभाव बताया—

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी। जो मुनिबर न सकहु तुम्ह मागी॥
जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें॥
(मानस ३। ४१। २-२½)

श्रीरामजीने कहा—'मुनि! तुम मेरा स्वभाव जानते ही हो! क्या मैं अपने भक्तोंसे कभी कुछ छिपाता हूँ? मुझे ऐसी कौन-सी वस्तु प्रिय लगती है, जिसे हे मुनिश्रेष्ठ! तुम नहीं माँग सकते? मुझे भक्तके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। ऐसा विश्वास भूलकर भी मत छोड़ना।'

तब श्रीनारदजीने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—'प्रभो! मैं धृष्टता कर ऐसा वर चाहता हूँ—

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥
(मानस ३। ४१। ४)

'प्रभो! यद्यपि आपके अनेक नाम हैं और वेद कहते हैं कि वे सब एक-से-एक बढ़कर हैं, तो भी हे नाथ! रामनाम सब नामोंसे बढ़कर हो और पापरूपी पक्षियोंके समूहके लिये वह बधिकके समान हो।'

'एवमस्तु!' भगवान् श्रीरामके मुखारविन्दसे ये शब्द सुनकर हर्षोल्लासमें श्रीनारदजीने प्रभुसे पूछा—'प्रभो! आपकी मायासे मोहित होकर जब मैं विवाह करना चाहता था, तब आपने मुझे विवाह क्यों नहीं करने दिया?'

भगवान् श्रीरामने उत्तर दिया—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
(मानस ३। ४२। २-३)

अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि॥
(मानस ३। ४४)

'मुनि! सुनो, मैं तुम्हें हर्षके साथ कहता हूँ कि जो समस्त आशा-भरोसा छोड़कर केवल मुझको ही भजते हैं, मैं सदा उनकी वैसे ही रखवाली करता हूँ, जैसे माता बालककी रक्षा करती है। छोटा बच्चा जब दौड़कर आग और साँपको पकड़ने जाता है, तब वहाँ माता उसे (अपने हाथों) अलग करके बचा लेती है।'

'युवती स्त्री अवगुणोंकी मूल, पीड़ा देनेवाली और सब दुःखोंकी खान है। इसलिये हे मुनि! मैंने जीमें यही सोचकर तुमको विवाह करनेसे रोका था।'

श्रीनारदजी दयामय प्रभुके वचन सुनकर कृतार्थ हो गये, उनके हर्षकी सीमा नहीं रही। उन्होंने प्रभु श्रीरामसे और कुछ प्रश्न किया और उनके उत्तरसे आप्यायित होकर प्रभुके चरणोंमें बार-बार प्रणाम किया। तदनन्तर वहाँसे वे ब्रह्मपुरके लिये चले गये।

अपौरुषेय वेदके बाद संस्कृत-साहित्यका प्राचीनतम ऐतिहासिक ग्रन्थ महर्षि वाल्मीकिविरचित रामायण है, जिसे 'आदि काव्य' होनेका गौरव प्राप्त है। उस श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी रचना मूलरामायणके आधारपर हुई है। मूल रामायण श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणके आदिकाण्डका प्रथम अध्याय है। उसमें महर्षि वाल्मीकिजीने श्रीनारदजीसे सोलह प्रश्नोंमें पूछा है कि 'इस समय मर्त्यलोकमें प्रशस्त गुणयुक्त कौन पुरुष है?' श्रीनारदजीने तपस्विप्रवर श्रीवाल्मीकिजीको उत्तरमें बताया कि 'आपने जिन गुणोंसे संयुक्त महापुरुषको पूछा है, यद्यपि उनमें बहुत-से ऐसे गुण हैं, जिनका होना मनुष्योंमें दुर्लभ है, तथापि आपके पूछे हुए गुणोंसे संयुक्त इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न श्रीराम नामक महापुरुष है।' और वहाँ श्रीनारदजीने भगवान् श्रीरामके दुर्लभ गुणोंको बताते हुए संक्षिप्त रामचरित्रका वर्णन किया है। श्रीनारदजीके उत्तरको सुनकर महर्षि वाल्मीकिने शिष्योंके साथ उनकी पूजा की।

कुछ दिनों बाद क्रौञ्च-वधसे महर्षिके मुँहसे 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्' (वा० रा० १ । २ । १५) श्लोकबद्ध वाणी निकलनेपर वे तमसा-तीरपर विचारमग्न बैठे थे कि चतुर्मुख ब्रह्माजीने आकर उनसे कहा—

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम ।
धर्मात्मनो भगवतो लोके रामस्य धीमतः ॥
वृत्तं कथय धीरस्य यथा ते नारदाच्छ्रुतम् ।
रहस्यं च प्रकाशं च यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥
(वा० रा० १ । २ । ३२-३३)

अर्थात् 'संसारमें उन सर्वव्यापी भगवान् श्रीरामके चरितको आप कहिये, जो परम धर्मात्मा और परम बुद्धिमान् हैं। यदि आप इस कठिन कार्यको अपने लिये असम्भव समझें तो हम कहते हैं; वह कठिन नहीं है। प्रकाश्य या गुप्त जो कुछ श्रीरामचन्द्रका चरित आपने नारदजीसे सुना है, उसीको विस्तारके साथ कहिये।'

इस प्रकार आदिकाव्यके द्वारा मङ्गलमय श्रीरामचरित्रके प्रचार-प्रसारके मूलमें भी प्रभु-गुण-गायक श्रीनारदजी ही हेतु हैं।

श्रीनारदजीने अपनी स्थितिके सम्बन्धमें स्वयं कहा है—

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः ।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥
(श्रीमद्भा० १ । ६ । ३४)

'जब मैं उन परमपावन-चरण उदारश्रवा प्रभुके गुणोंका गान करने लगता हूँ, तब वे प्रभु अविलम्ब मेरे चित्तमें बुलाये हुएकी भाँति तुरंत प्रकट हो जाते हैं।'

ऐसे परम पुण्यमय करुणामूर्ति श्रीराम-गुण-गायक देवर्षि नारदके पवित्रतम चरण-सरोरुहमें हमारे अनन्त दण्डवत्-प्रणाम।

भाग्यवान् भरद्वाज मुनि

अत्यन्त तपस्वी, परम कारुणिक, श्रीरामचरणानुरागी श्रीभरद्वाज मुनिका आश्रम गङ्गा-यमुनाके संगमके समीप तीर्थराज प्रयागमें था। आश्रम एकान्त देशमें बड़ा ही पवित्र एवं रमणीय था। उसकी प्राकृतिक छटा अत्यन्त मनोरम थी। वहाँ श्रीभगवान्की पूजा, उनकी लीला-कथाका गायन एवं श्रवण तथा भजन अहर्निश होता रहता था। आश्रममें यज्ञ धूम आकाशमें उड़ता रहता था और वातावरण दिव्य गन्धसे पूरित रहता था। भगवान् श्रीरामने प्रयागमें पहुँचते समय धूएँको देखकर लक्ष्मणजीसे कहा था—

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुत्तमम् ।
अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये संनिहितो मुनिः ॥
(वा० रा०, अयो० ५४ । ५)

'सुमित्रानन्दन ! वह देखो, प्रयागके पास भगवान् अग्निदेवकी ध्वजारूप उत्तम धूम उठ रहा है। मालूम होता है, मुनिवर भरद्वाज यहीं हैं।'

भरद्वाज मुनिने तपस्याके प्रभावसे तीनों कालोंकी सारी बातें जाननेकी दिव्य शक्ति प्राप्त कर ली थी। भगवान् श्रीरामके प्रति आपकी अद्भुत भक्ति थी। इसी कारण भगवान् श्रीराम अपने भाई लक्ष्मण और पत्नी सती सीतासहित इनके आश्रममें पहुँचे। श्रीरामको दण्डवत्-प्रणाम करते हुए देखकर भरद्वाजजीने अत्यन्त स्नेहसे उन्हें हृदयसे लगा लिया। फिर भरद्वाजजीने प्रभुसे कुशल पूछकर उन्हें पवित्र आसनपर बैठाया और प्रेमपूर्वक उनकी पूजा की। इसके अनन्तर उन्होंने श्रीरामसे कहा—

आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी॥
अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥

करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किएँ कोटि उपचार॥
(रा० च० मा० २ । १०६ । ३-४; १०७)

'राम ! आपका दर्शन करते ही आज मेरा तप, तीर्थसेवन और त्याग सफल हो गया। आज मेरा जप, योग और वैराग्य सफल हो गया और आज मेरा सम्पूर्ण शुभ साधनोंका समुदाय भी सफल हो गया। लाभकी सीमा और सुखकी सीमा (प्रभु-दर्शनके अतिरिक्त) दूसरी कुछ भी नहीं है। आपके दर्शनसे मेरी सब आशाएँ पूर्ण हो गयीं। अब कृपा करके यह वरदान दीजिये कि आपके चरण-कमलोंमें मेरा स्वाभाविक प्रेम हो। जबतक कर्म, वचन और मनसे छल छोड़कर मनुष्य आपका दास नहीं हो जाता, तबतक करोड़ों उपाय करनेसे भी, स्वप्नमें भी वह सुख नहीं पाता।'

प्रभु श्रीरामने रात्रिमें वहाँ निवास किया और प्रातःकाल भरद्वाज मुनिसे मार्ग पूछकर आगे चलनेके लिये ज्यों ही वे उद्यत हुए, त्यों ही भरद्वाजजीका हृदय भर आया। उनके मुँहसे वाणी नहीं निकल रही थी, पर—

तेषां स्वस्त्ययनं चैव महर्षिः स चकार ह ।
प्रस्थितान् प्रेक्ष्य तांश्चैव पिता पुत्रानिवौरसान् ॥
(वा० रा० २ । ५५ । २)

'उन तीनोंको प्रस्थान करते देख महर्षिने उनके लिये उसी प्रकार स्वस्तिवाचन किया, जैसे पिता अपने औरस-पुत्रोंको यात्रा करते देख उनके लिये मङ्गल-सूचक आशीर्वाद देता है ।'

आगे जाते हुए भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणजीसे महर्षि भरद्वाजकी महिमा बताते हुए कहा—

'कृतपुण्याः स्म भद्रं ते मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते ॥'
(वा० रा० २ । ५५ । ११)

'ये मुनि, जो हमारे ऊपर इतनी कृपा रखते हैं, इससे जान पड़ता है कि हमलोगोंने पहले कभी महान् पुण्य किया है ।'

कुछ ही समय बाद श्रीभरतजी भी अयोध्यावासियों-सहित प्रभु श्रीरामको वनसे लौटाने जाते समय महामुनि भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचे । वहाँ महामुनिने अपनी सिद्धियोंके द्वारा भरत एवं उनके साथ सभी स्त्री-पुरुषोंके भोजन एवं विश्रामकी राजोचित व्यवस्था कर दी । भरद्वाजजीके प्रभावको देखकर सभी चकित हो गये । भरद्वाजजीने वहाँ श्रीरामजीके प्रति भरतजीकी भक्तिकी प्रशंसा करते हुए उनसे कहा था—

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं । उदासीन तापस बन रहहीं ॥
सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन राम सिय दरसनु पावा ॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा । सहित पयाग सुभाग हमारा ॥
(मानस २ । २०९ । २-२½)

'भरत ! सुनो, हम झूठ नहीं कहते । हम उदासीन हैं, तपस्वी हैं और वनमें रहते हैं । सब साधनोंका उत्तम फल हमें लक्ष्मणजी, श्रीरामजी और सीताजीका दर्शन प्राप्त हुआ । [सीता-लक्ष्मणसहित श्रीरामदर्शनरूप] उस महान् फलका परम फल यह तुम्हारा दर्शन है । प्रयागराजसहित हमारा बड़ा भाग्य है ।'

भरद्वाज मुनि श्रीराम-कथाके अद्भुत प्रेमी थे । एक बार माघ-स्नानके निमित्त महर्षि याज्ञवल्क्य भरद्वाजजीके आश्रमपर पहुँचे । भरद्वाजजीने उनका बड़ा सत्कार किया और फिर उनके सम्मुख श्रीरामके सम्बन्धमें अनेक शङ्काएँ प्रकट कीं । तब याज्ञवल्क्यजी मुस्कराकर बोले—

.... । तुम्हहि बिदित रघुपति प्रभुताई ॥
रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी । .... ॥
(मानस १ । ४६ । २-२¼)

'तुम तो श्रीरघुनाथजीके प्रतापको जानते हो और तुम मन, वचन और कर्मसे श्रीरामजीके भक्त हो ।' फिर आगे उन्होंने कहा—'तुम इसी बहाने श्रीरामजीके रहस्यमय गुणोंको सुनना चाहते हो, इसी कारण मूढ़की तरह तुमने प्रश्न किया है ।'

फिर सम्पूर्ण राम-कथा भरद्वाजजीने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक श्रवण की । वही श्रीराम-कथा भगवान् शंकरने श्रीपार्वतीजीको सुनायी ।

ऐसे रामभक्त भरद्वाज मुनिके भाग्यकी प्रशंसा कैसे की जाय ! वे निश्चय ही भाग्यवान् थे ।

श्रीराम-भजनकी महिमा

(रचयिता—संत श्रीसुंदरदासजी)

रामनाम मिश्री पियैं, दूरि जाहिं सब रोग । सुंदर औषध कटुक सब जप, तप, साधन जोग ॥
राम-नाम पीयूष तजि बिष पीवैं मतिहीन । सुंदर डोलैं भटकते जन-जन आगैं दीन ॥
राम-नाम भोजन करै, राम-नाम जलपान । राम-नाम सौं मिलि रहै, सुंदर राम-समान ॥
राम-नाम सोवत कहै, जागैं हरि-हरि होइ । सुंदर बोलत ब्रह्म मुख, ब्रह्म-सरीखा सोइ ॥
सुंदर भजिये राम कौं, तजिये माया-मोह । पारस के परसे बिना दिन-दिन छीजै लोह ॥
राम-भजन रामहि मिलै, तामैं फेर न सार । सुंदर भजै सनेह सौं, वाकौं मिलत न बार ॥
सदगुरु दादू राम भजि, सदा रहै लै लीन । सुंदर याही समझि कै राम भजन हित कीन ॥

[सुन्दरग्रन्थावली]

हिंदीके कतिपय अन्य रामभक्त कवि*

(लेखक—श्रीरामलाल)

(१)

महात्मा सहजराम

भगवान्‌के पावन चरित्र-चिन्तनका सौभाग्य बड़े पुण्य और तपके फलस्वरूप ही मिलता है । पृथ्वीपर जन्म लेकर जो प्राणी भगवान्‌के भजनको ही जीवनका ध्येय मानता है, वह धन्य है । महात्मा सहजराम ऐसे ही उच्चकोटिके कवि थे । उन्होंने भगवान् रामके पवित्र लीला-चरित्रोंके चिन्तनसे अपना कवि-जीवन सार्थक और सरस किया । उन्होंने रामके पवित्र यशोगानके लिये 'रघुवंशदीपक' नामक महाकाव्यकी रचना की । अवधी भाषामें लिखा गया यह काव्य रामचरित्रपरक रचनाओंमें अत्यन्त विशिष्ट स्वीकार किया गया है । महात्मा सहजराम उत्तरप्रदेशके सुल्तानपुर जनपदके बँधुवा ग्रामके निवासी थे ।

'रघुवंशदीपक' महाकाव्यमें महात्मा सहजरामजीने चिन्मय युगल-दम्पति श्रीसीतारामके रूप, सौन्दर्य और माधुर्यका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है । वनमें निवासका प्रसङ्ग है । श्रीराम जानकीके साथ स्फटिक-शिलापर विराजमान थे । श्रीरामकी उक्ति है—

बिन भूषन तुम सोहत कैसे । बिन घन सरद चाँदनी जैसे ॥
तन-छबि भूषन लेत छिपाई । सरद-गंग-जल ऊपर काई ॥
हम तुम ते भूषित सियरानी । रति ते काम बिरति ते ग्यानी ॥

इस तरह भगवान् रामने सीताके रूप-सौन्दर्यकी प्रशंसा की ।

पञ्चवटी-निवासके समय एक दिन श्रीलक्ष्मणजीने प्रभुसे निवेदन किया कि 'भव-भयकी हरनेवाली ज्ञान-वैराग्यसहित अपनी भक्तिपर प्रकाश डालिये ।' श्रीराघवेन्द्रने लक्ष्मणजीको समझाया—

बिषइन की इच्छा दुख नाना । सो सुख जानै सपन समाना ॥
बंध-मुक्ति की जानै जुक्ती । सो पंडित पावै सद्‌मुक्ती ॥
मम पद बिमुख देह-अभिमानी । सो जानौ जग मूरख प्रानी ॥
पावै मोहि पंथ सो साँचा । रत परिवर्त कुपंथ असाँचा ॥

सीतल-चित संतोष-रत, तात स्वर्ग सुख सोइ ।
नरक-निवासी तामसी जम-फाँसी बस होइ ॥
(रघुवंशदीपक, अरण्यकाण्ड)

सहजरामने सच्चा सुख तो यही माना कि जीवात्मा सदा परमात्माके सम्मुख रहे । उनकी उक्ति है—

'सहज राम हरि पद बिमुख सुख सपनो है जात ।'
(रघुवंशदीपक, अरण्यकाण्ड)

रामके पदका चिन्तन ही परम सुख है । रामकाव्यकार सहजरामके विचारसे भगवान् राम अपने शरणागतको भक्ति-फल प्रदान करते हैं—

सहजराम जिमि कामतरु, रघुबर सरल सुभाउ ।
सरनागत कहँ देत फल गनत न दाहिन बाउँ ॥
(रघुवंशदीपक, अरण्यकाण्ड)

सबमें श्रीरामको ही परिव्याप्त देखना चाहिये । यही वेद, आगम और पुराणोंद्वारा प्रतिपादित अकाट्य भक्ति-सिद्धान्त है । कविकी उक्ति है—

आगम निगम पुरान, सब को यह सिद्धांत मत ।
अग जग जीव जहान, देखहि सब रघुनाथमय ॥
(रघुवंशदीपक, अरण्यकाण्ड)

महात्मा सहजरामने रामनामको ही सुखद सम्बल बताया है । उनका 'रघुवंशदीपक' महाकाव्य रामचरित-सिन्धुका सनातन स्थायी दीपक है, जिसके प्रकाशमें प्राणी परमात्मा रामके रूप-सौन्दर्य और ऐश्वर्य-माधुर्यका दर्शन करनेमें समर्थ होता है ।

(२)

संत कवि लालदास

संत कवि महात्मा लालदासने 'अवध-विलास' नामक काव्यकी रचना शक संवत् १७३२में श्रीअयोध्यामें पूरी की थी । उन्होंने रामचरितमानसकी अनुकृतिके रूपमें इस रामपरक काव्यको दोहों-चौपाइयोंमें रचा । इसमें बड़ी प्रासादिक

* श्रीरामाङ्कके पृष्ठ ५७३ से ५९९ तक 'भारतीय भाषाओंके कुछ प्रमुख राम-कथाकार' तथा 'हिंदीके मध्यकालीन कतिपय रामभक्त कवि' शीर्षकोंसे कई मध्यकालीन प्रमुख रामभक्त कवियोंकी चर्चा की जा चुकी है । स्थानाभावके कारण सभी कवियोंका समावेश 'श्रीरामाङ्क' में नहीं हो पाया । अतः अवशिष्ट उत्तरकालिक कुछ कवियोंकी चर्चा इस अङ्कमें जा रही है । —सम्पादक

और सरस शैलीमें भगवान् रामके पवित्र चरित्रके अनेक प्रसङ्गोंका चित्रण किया गया है। महात्मा लालदासने भगवान् रामको वनमें तो पहुँचा दिया, पर उनके भक्त हृदयको सीताहरण, रावणवध आदि प्रसङ्गोंका वर्णन अच्छा नहीं लगा। अपने आराध्य श्रीरामकी प्रेरणासे वे जितनी मात्रामें उनका चरित्र-चित्रण कर सके, उतनीसे ही उन्हें संतोष मिला। रामायणोंमें तो रामका चरित्र विस्तारसे भरा पड़ा है। लालदासका कथन है—

रामायन सत कोटि है, रामहि जानत ताहि।
कै कोउ जानत संत जन, राम जनावहिं जाहि॥
(अवध-विलास, पहला विश्राम)

महात्मा लालदास श्रीरामानुजाचार्यके सम्प्रदायके अनुयायी थे। उन्होंने अपने इस काव्यमें बड़े आदरसे श्रीरामानुजाचार्यकी स्तुति और वन्दना की है। 'अवध-विलास' काव्यके नायक भगवान् राम हैं। इसमें बीस विश्रामोंमें राम-चरित्रके अनेक प्रसङ्गोंका चित्रण भक्तिपूर्ण हृदयसे किया है लालदासने।

भगवान् रामके मिथिला-प्रवेशका प्रसङ्ग है। विदेह जनक-ऐसे आत्मज्ञानी श्रीरामके सच्चिदानन्दस्वरूपके सौन्दर्य-माधुर्यसे विमुग्ध हो गये। लालदासका कथन है—

अंग अंग सोभा अवगाहैं। बार-बार नृप देखि सराहैं॥
किधौं ये अगुन ब्रह्म सुखदाई। परघन मोहि सगुन भे आई॥
(अवध-विलास, सत्रहवाँ विश्राम)

महात्मा लालदासने 'अवध-विलास'में अम्बा कैकेयीके राम-वनवासके आयोजन-सम्बन्धी पुण्यकार्यकी बड़ी सराहना की है। भगवान् रामकी प्रेरणासे ही उन्होंने अपने आपको कलङ्किनी सिद्धकर भूमि-भार-हरणके कार्यका भगवान् रामद्वारा सम्पादन कराया। श्रीसीता-स्वयंवरके बाद एक दिन नारदजी श्रीरामका दर्शन करने आये और उन्हें रावण-वधकी प्रेरणा देकर चले गये। श्रीराम चिन्तित हो उठे कि वनवासका किसे निमित्त बनाया जाय। कैकेयीके उदासीका कारण पूछनेपर उन्होंने कहा—'अवध-विलास'के उन्नीसवें प्रकाशका प्रसङ्ग है—

'बोले राम मोहि वनचारी। राजहि कहि कर सो हितकारी॥'
(अवध-विलास, उन्नीसवाँ विश्राम)

कैकेयीने कहा कि 'यदि इस कार्यमें कोई दोष न हो तो आपकी प्रसन्नताके लिये मैं राजाको आपको रावण आदि असुरोंका बध करनेके लिये वन भेजनेकी प्रेरणा दे सकती हूँ। मुझे लोक-अपयशका तनिक भी भय नहीं है।' कैकेयीने श्रीरामकी प्रशंसामें कहा कि 'आप चराचरके प्राणाधार प्रियतम हैं, आपकी ही प्रसन्नताके लिये लोग यज्ञ, योग, तीर्थ, व्रत और दान आदि करते हैं। आप जिस कार्यसे संतुष्ट होंगे, मैं वही करूँगी। आपका भजन करनेवाले अपयशसे नहीं डरते।' श्रीरामने कैकेयीसे कहा—'माँ! आप ठीक ही कह रही हैं। आपने अपने कंधेपर बहुत बड़ा भार स्वीकार कर लिया है।' लालदासने भगवान् रामके मुखसे वन-गमनके बाद होनेवाली अयोध्याकी भावी स्थितिका बड़ा ही करुण चित्रण कराया है—

मेरे बिरहँ पिता पुनि मरिहै। तोहि अजस अति होइ न परिहै॥
भरत भोग तजि जोगी होई। कौसिल्या दुख करिहै सोई॥
× × ×
अवधपुरी के बासी जेते। है हैं सबहि उदासी तेते॥
(अवध-विलास, उन्नीसवाँ विश्राम)

'अवध-विलास'में श्रीराम और कैकेयीके सम्बन्धको लेकर मौलिक चिन्तन मिलता है। महात्मा लालदासने यह नहीं स्वीकार किया कि भगवान् राम वनमें गये। उनकी स्वीकृति है कि 'अन्य कवियोंने इस तरहकी बात कही है, इसलिये मैं भी ऐसा ही मानता हूँ।' उन्होंने वेदान्तदर्शनकी भाषामें कहा—'अवध-विलास'में उक्ति है—

'मम मत राम गये नहिं कतहूँ। और कबिन की कही कहत हूँ॥'

महात्मा लालदासने अपने 'अवध-विलास' काव्यमें राम, लक्ष्मण और सीताके स्वरूप-चिन्तनमें बड़ी व्यापक दृष्टिका उपयोग किया है। उनकी स्वीकृति है—

सीता राम लखन हैं सोई। माया ब्रह्म जीव जे होई॥
ब्रह्माश्रित रहैं जीव रु माया। जैसैं संग वृच्छ की छाया॥
जहँ लगि पुरुष, राम सब जानो। तिय सीता निहचै करि मानो॥
(अवध-विलास, बीसवाँ विश्राम)

समस्त वनप्रान्तमें वनवासी रामके लिये जिस राज्यकी स्थापना प्रकृतिने की, उसका वैभव-वर्णन 'अवध-विलास' में लालदासकी मौलिक देन है—

सित सिंघासन लता बिताना। मंजरि चमर चलत तहँ नाना॥
[illegible] मूल सुहाये। तकिया दै बैठहिं मन भाये॥
पंछी प्रजा करत ब्योहारा। चुहल होत बन-नगर मँझारा॥

× × ×

नाचत मोर, कोकिला गावत । तानैं-भाव अनेक दिखावत ॥
पीपर पात ताल सो बाजत । झरना झरत पखाउज राजत ॥
मंदाकिनी महासुख दीना । उडपति गती लेत है मीना ॥

× × ×

यह सुख देखि राम मुसकाने । हम बन आइ कवन तप ठाने ॥

(अवध-विलास, बीसवाँ विश्राम)

महात्मा लालदासके रामने अन्य रामपरक काव्यकी रचना करनेवाले कवियोंके रामकी ही तरह भूमिका भार उतारनेके लिये अवतार लिया । 'अवध-विलास'के रचयिताकी उक्ति है——

भक्त काज भू-भार उतारन । सगुन सरूप धरत भवतारन ॥

कविने स्वीकार किया है कि——"मेरा 'अवध-विलास' नामक काव्य समुद्रके समान है । साधु-संतोंके लिये यह सुगम है, इसमें भगवान्‌की कथारूपी रत्नराशि भरी पड़ी है ।" काव्यके आरम्भमें ही कविका कथन है——

अवध विलास समुद्र है, साधु-साह तरि जाहिं ।
रतन कथा रघुबीर की लाल बहुत ता माहिं ॥

महात्मा लालदासने गोस्वामी तुलसीदासकी रामकाव्य-परम्पराके अनुगमनमें 'अवध-विलास'का प्रणयन कर भगवान् रामके चरितामृतका आस्वादन किया तथा स्वान्तःसुखकी सिद्धि की ।

(३)

रामभक्त कवि मधुसूदनदास

कवि मधुसूदनदास भगवान् रामके अनन्य भक्त थे । उन्होंने संवत् १८३९ वि० में 'रामाश्वमेध' नामक काव्यकी रचना की । इस काव्यमें भगवान् रामके उत्तरचरित्रका बड़े ही भक्तिपूर्ण ढंगसे वर्णन किया गया है ।

श्रीराम-भरतके मिलन-प्रसङ्गमें मधुसूदनदासने करुण-रसका साकार चित्र प्रस्तुत कर दिया है । भरतजीके दैन्य-युक्त प्रेमकी दशा देख, विमानका त्याग कर वे उनसे मिलनेके लिये दौड़ पड़े । उनके मुखसे केवल 'बन्धु, बन्धु' शब्द ही निकल रहा था, आँखोंसे जलकी वृष्टि हो रही थी । भरतकी दशा भी देखते ही बनती थी । 'रामाश्वमेध'के दूसरे अध्यायका प्रसङ्ग है——

दोउ भुज भरि भेटहिं रघुबीरा । हरष सोक बस सिथिल सरीरा ॥
राम उठाव भरत नहिं उठहीं । बहुत भाँति करुना तहँ करहीं ॥
× × × । उठहिं न भरत मानि हतभागी ॥

उन्होंने श्रीरामसे अपना दैन्य निवेदन किया——

सुनहु बिनय, रघुनाथ उदारा । दुराचार महँ दृष्टि अपारा ॥
अघ-समूह मैं सुनहु कृपाला । रामचंद्र ! तुम दीन दयाला ॥
महाबाहु करुना सुख-सागर । कृपा करहु, प्रभु ! लखि खल आगर ॥

श्रीरामने भरतको हृदयसे लगा लिया । कितनी महनीय भक्तवत्सलताका काव्यगत चित्रण है यह ! भरतके व्याजसे 'रामाश्वमेध'के प्रणेताने अपना दैन्यभाव श्रीरामके चरणोंमें समर्पित कर दिया है ।

श्रीराम लङ्का-विजयके बाद अयोध्या-प्रवेशकालमें अम्बा कैकेयीसे मिलने गये । कैकेयीके मनमें अपनी कृतिपर बड़ी ग्लानि थी । श्रीराम और भरतने उनके चरणोंमें प्रणाम निवेदन किया । अम्बा संकोचमें थीं, उन्होंने प्रणामका उत्तर नहीं दिया । ऐसे अवसरपर रामभक्त मधुसूदन-दासकी सौभाग्यवती काव्य-भारती प्रभुके मुखसे प्रकट होकर श्रीरामके पुण्य-चरित्रका जो शब्दाङ्कन करती है, वह 'रामाश्वमेध'के वैशिष्ट्यका प्रतीक है । भगवान् रामने कैकेयीसे कहा——

जननि-प्रबोधिनि गिरा सुहाई । बोले राम सुजन सुखदाई ॥
तुम प्रसाद जननी रन माहीं । बधे निसाचर मम कृत नाहीं ॥

(रामाश्वमेध, चौथा अध्याय)

अयोध्यामें महर्षि अगस्त्य भगवान् रामका दर्शन करने आये और उन्होंने रावणकी उत्पत्तिकी कथा कही । रावणरूप ब्रह्मराक्षसके वधकी शान्तिके लिये अगस्त्यकी सम्मतिसे उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करनेका निश्चय किया । यज्ञका अश्व छोड़ दिया गया और उसकी रक्षाका भार शत्रुघ्नको सौंपा गया । श्रीरामने उन्हें जो नीति सिखायी, उसमें रामराज्यका पवित्र आदर्श सुरक्षित है——

जो रन माहिं चढ़ैं भट भारी । तिनहिं बधो संग्राम प्रचारी ॥
सैन समेत बाजि प्रतिपालहु । सन्मुख लरहु चढ़ै जो कालहु ॥
परधन बिषसम मानहु भाई । तजहु नारि सब भाँति पराई ॥
नीच संग सब बिधि परिहरहू । साधु-समागम संतत करहू ॥

(रामाश्वमेध, दसवाँ अध्याय)

'रामाश्वमेध' अमितपुण्यप्रद तथा कलुषनाशक राम-काव्य है ।

(४)

महात्मा रामसखा

निस्संदेह वह प्राणी धन्य है, पुण्यशील और भाग्यशाली है, जिसका मन-भ्रमर राघवेन्द्र विश्वविमोहन राम और उनकी प्राणप्रियतमा जनकनन्दिनीके चरणारविन्द-मकरन्दका आस्वादन कर विषयातीत हो उठा है। श्रीअयोध्याके प्रमोदवनमें भगवान् सीतारामके सरस रूप-सौन्दर्यसे समलंकृत और नित्य प्राणमय नृत्यराघवकुञ्ज और श्रावणकुञ्जके दर्शनमात्रसे ही परम रामरसिक रामसखा महाराजका दिव्य भाव-लावण्य नयनोंमें अङ्कित हो जाता है। रामसखा महाराजने विक्रमकी उन्नीसवीं शतीके आरम्भमें अयोध्याको अपनी सरस उपस्थितिसे रस-वृन्दावनमें परिणत कर दिया। वे अयोध्याके श्रीभट्ट थे। जिस तरह वृन्दावनमें श्रीभट्टने प्रिया-प्रियतमका शास्त्रसम्मत शृङ्गार गाया, उसी तरह महात्मा रामसखाने सख्यभावमें आत्म-विभोर होकर रामकी सरस लीला गायी। वे विक्रमकी अठारहवीं शतीके अन्तिम चरणमें राजस्थान प्रदेशके जयपुर नगरमें एक परम पवित्र ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए थे। वे उडुपीके मध्व सम्प्रदायके प्रसिद्ध महात्मा श्रीवसिष्ठतीर्थके शिष्य थे। उन्होंने अवध-निवास-कालमें 'नृत्यराघव-मिलन' नामक सरस ग्रन्थकी रचना की। अयोध्यापति इष्टदेव सीतारामके स्वरूपचिन्तनमें महाराजकी विज्ञप्ति है—

कामरूप सब अवधनिवासी। रघुपति सम छबि भोग-बिलासी॥
तहँ रघुबीर बेष नृप सोहहिं। कोटिन कामन की छबि मोहहिं॥
द्वै भुज राम अखंडित रूपा। तैसहिं द्वै भुज सीय सरूपा॥
बय किसोर दोउ रहत सदाहीं। करत सुराज्य अवध जग माहीं॥

अवध-निवास-कालमें महाराज रामसखा नित्य कनक-भवनमें भगवत्-सखाके आचरणके अनुरूप ही सबेरे-शाम राघवेन्द्र सरकार और जगदम्बा जानकीजीका कुशल-समाचार लेने जाया करते थे। वे कभी कनकभवनमें प्रवेश नहीं करते, बाहरके प्रधान दरवाजेसे ही लौट आया करते थे। उनके मनमें इस बातको लेकर बड़ा स्वाभिमान था कि मैं जगदीश्वर रामका मित्र हूँ। वे आठ कहारोंकी पालकीपर ही कनक-भवन जाया करते थे, यह सोचकर कि उनके सखा भगवान् राम विश्वपति हैं, विश्वहितमें निरन्तर व्यस्त रहते हैं। उन्होंने दर्शन न करनेका नियम लिया था। मन्दिरका द्वारपाल पालकी देखते ही सामने खड़ा हो जाता था; महाराज पालकीसे बाहर निकलकर पूछ लिया करते थे कि 'सरकार सकुशल तो हैं' और जगदम्बा जानकीके चरणोंमें प्रणाम निवेदन कर अपने नृत्य-राघवकुञ्जमें चले आया करते थे। अवधमें रहते समय महाराजके प्रयत्नस्वरूप इस नियममें एक दिनके लिये भी शिथिलता नहीं आने पायी।

अयोध्यामें दर्शनार्थियोंकी भीड़ बढ़ती देखकर रामसखाजी महाराज चित्रकूट चले आये। महाराजकी उक्ति है कि चित्रकूट साक्षात् श्रीरामका स्वरूप है।

'चित्रकूट रघुनाथ-स्वरूपा।'

महाराजने 'नृत्यराघव-मिलन' ग्रन्थमें अपने विचार चित्र-कूटके सम्बन्धमें इन शब्दोंमें व्यक्त किये हैं—

अवध नगर ते आइ के, चित्रकूट की खोर।
रामसखे मन हरि लियो, सुंदर जुगल किसोर॥
बड़े-बड़े नयना मारने, घूँघुरवारे बार।
रामसखे मन बस गयो, सुंदर राजकुमार॥

रामसखाजी नित्य भगवान् रामके सरस सच्चिदानन्द-स्वरूप-चिन्तनमें तत्पर रहते थे। अपने इष्टदेवके दर्शनके लिये वे निरन्तर विकल रहते थे। वे कहा करते थे—

अरे सिकारी निरदइ, करिया नृपति किसोर।
क्यों तरसावत दरस बिनु रामसखे चितचोर॥

रामसखा महाराज रामरसके मर्मज्ञ संत कवि थे। भगवान् रामके रासका विषय उनके चिन्तनका विशिष्ट अङ्ग था। वे सख्य-भाव-भक्तिके माध्यमसे रामके प्रति मधुरभावकी उपासना करते थे। उन्होंने अवधकी सरस भगवदीय लीलामें अप्रकट और प्रकट निकुञ्जरसकी दिव्य भूमिका अपने 'नृत्यराघव-मिलन' ग्रन्थमें इस प्रकार प्रस्तुत की—

बिपिन प्रमोद अवध निज धामा। जहँ नहिं माया कर कहुँ नामा॥
तहँ चिंतामनि भूमि सुहाई। सो रसिकन बाँटे लिखि पाई॥
अद्भुत रत्न पुलिन सरजू तट। झरत तहाँ द्युति-सुधा सोमबट॥
नटत राम तहँ नित्य बिहारी। लीन्हें संग सिया सुकुमारी॥

रामकी प्राप्ति अथवा मिलनमें ही महाराजने पराभक्ति-तत्त्वका निरूपण किया है। रामनामको ही उन्होंने अपनी मधुर-उपासनाका आधार बताया—

'राम-नाम यह रसमय नामा। रसिक अनन्यन को सुख-धामा॥'

रामसखा महाराजने आजीवन श्रीरामकी मधुररसपरक भक्तिका ही प्रचार किया।

(५)

महाराज रघुराजसिंह

मध्यप्रदेशके रीवाँराज्यके अधीश्वररूपमें महाराज रघुराजसिंहने राजवैभवके वातावरणमें रहकर भक्तिपूर्वक भगवान् राम और श्रीकृष्णका यशोगान किया, यह उनका महान् जीवन-वैशिष्ट्य था । उनका राज्यकुल भगवान्‌की कृपासे सम्पूर्ण सम्पन्न था । 'भक्तमाल'की प्रसिद्ध कथा है कि साक्षात् कृपामय भक्तवत्सल भगवान्‌ने इसी कुलके एक राजाको सेन नाईके रूपमें दर्शन देकर अपनी सेवाके प्रसादसे कृतार्थ किया था । महाराज रघुराजसिंहके पिता श्रीविश्वनाथ-सिंहजी भगवान् रामके भक्त थे और उन्होंने उनके सम्बन्धमें काव्यरचना की । महाराज रघुराजसिंहका जन्म संवत् १८८० वि० में हुआ था । वे पृथ्वीपर छप्पन सालतक विद्यमान रहे । उन्होंने जीवनके अन्तिम पाँच साल भगवान्‌के ही चिन्तनमें बिताये । राज्यकार्यसे सम्बन्ध तोड़कर वे अपने इष्टदेवका ही भजन करते रहे ।

संत-महात्माओंमें उनका जन्मजात स्वाभाविक अनुराग था । भगवान्‌के भक्तोंके चरित्र-चिन्तनमें उनका बड़ा मन लगता था । उनकी 'रामरसिकावली' रचना भक्तोंके चरित्र-चिन्तनका सरस फल है । महाराज रघुराजसिंह भगवान् रामके प्रति दास्य-भावसे अनुरक्त थे । वे श्रीवाल्मीकि-रामायण और गोस्वामी तुलसीदासके रामचरितमानससे विशेष प्रभावित थे । उन्होंने विशेषरूपसे इनकी ही कृतियोंके आधारपर अपनी प्रसिद्ध रामचरित्रपरक रचना 'रामस्वयंवर' लिखी, जो रामभक्तिके साहित्यक्षेत्रकी एक विशिष्ट काव्यनिधि है । एक बार अपनी काशी-यात्रामें उन्होंने काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण-सिंहके आमन्त्रणपर रामनगरमें सम्पन्न होनेवाली रामलीलाका दर्शन किया । महाराज ईश्वरीप्रसादनारायणसिंहकी प्रेरणासे उन्होंने रामलीलाको विस्तृत रूप देनेके अभिप्रायसे 'राम-स्वयंवर' ग्रन्थकी रचना कर उसमें भगवान् रामके पवित्र-चरित्रका बड़ी सात्त्विकता और श्रद्धासे चिन्तन किया । यह ग्रन्थ तेईस काव्य-प्रबन्धोंमें संवत् १९३४ वि० में पूरा हुआ; बड़ा ही रसमय राम-काव्य है 'रामस्वयंवर' । इसमें राजकीय वैभवका विशद वर्णन मिलता है और ग्रन्थका अनुशीलन सिद्ध कर देता है कि किन्हीं बहुत बड़े राजराजेश्वरकी सौभाग्यवती लेखनीसे यह काव्यचरित्र प्रवाहित हुआ है । रघुराजसिंहजी-की स्वीकृति है कि श्रीरामका सुयश ही जगतमें परम पवित्र है—

'राम-स्वयंबर ग्रंथ सुहावन । केवल राम सुजस जगपावन ॥'

(रामस्वयंवर, २३ वाँ प्रबन्ध)

'रामस्वयंवर' काव्यमें महाराज रघुराजसिंहने श्रीराघवेन्द्र-के बालचरित्र तथा विवाह आदिका बड़े विस्तारसे वर्णन किया है । महाराजकी उक्ति है—

'रामस्वयंबर रचहुँ मैं, जन्म ब्याह बिस्तार ।'

(रामस्वयंवर, ३ रा प्रबन्ध)

महाराजने भगवान् रामकी बाललीलाका प्रसङ्ग प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'अचल समाधि लगाकर योगी जिनका ध्यान करते हैं और अनेक साधन करके भी जिनकी प्राप्ति अथवा साक्षात्कार नहीं कर पाते; ब्रह्मा, महेश, इन्द्र आदि समस्त देवगण और सिद्ध मुनि जिनकी शरणमें अभय होकर जीवन धारण करते हैं, जो वाणी, मन और इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं, मोह-मायासे जो परे हैं, जो परब्रह्म परमेश्वर और परमप्रकाशमय परमपदपर प्रतिष्ठित हैं तथा जो समस्त विश्वका पोषण करते हैं, वे ही जगदीश्वर अयोध्यापति दशरथके आँगनमें बालरूपमें धूलि-धूसरित होकर बाललीलासे लोगोंको परमानन्द प्रदानकर विहार कर रहे हैं ।'

जोगी जाहि अचल समाधि को लगाइ ध्यावैं
पावैं नहिं साधन अनेकन करत हैं ।
संभु औ स्वयंभु सक्र सकल सुरासुरादि,
सिद्ध मुनि जाकी बाँह-छाँह बिचरत हैं ॥
बाक-मन-गोचर-अतीत, मोह माया जीत
परब्रह्म परधाम विश्व को भरत हैं ।
सोई रघुराज आज अवध अधीस जू के
अजिर में धूरि धूसरित बिहरत हैं ॥

(रामस्वयंवर, छठा प्रबन्ध)

विश्वामित्रके साथ मिथिला पधारनेपर रातमें शयनकालमें श्रीराम और लक्ष्मण मुनिके चरण दबाकर सेवा करने लगे । इस दृश्यको देखकर देवगण आश्चर्यचकित होकर कहने लगे—

जाकी पदरेनु चित्त चाहि कै स्वयंभु-संभु,
सिर में धरन हेत नेति-नेति ठाने हैं ।
जोगी जन जनम अनेकन बितावैं नहिं,
पावैं करि जोग-जाग, जुक्ति बहु आने हैं ॥
भनै रघुराज आजहूँ लौं अंत पाये नाहिं,
नेति-नेति बेद औ पुरानहू बखाने हैं ।
सोई प्रभु बिप्र चारु चापत चरन निज
कोमल करन, धन्य धन्य भगवाने हैं ॥

(रामस्वयंवर, सत्रहवाँ प्रबन्ध)

महाराजने राजा जनकके उपवनमें फूल तोड़नेके लिये विचरण करनेवाले दशरथनन्दन राम और लक्ष्मणके चरणकी कोमलताका वर्णन उसमें नियुक्त मालिनियोंद्वारा जिस भक्ति और अनुरागमयी श्रद्धाके माध्यमसे कराया है, उसमें उनके हृदयकी सरस भावनाका बड़ा सुन्दर काव्य-अभिव्यञ्जन बन पड़ा है। मालिनियोंने कहा—

तुम स्यामल, गौर सुनो दुउ लालन
आये कहाँ से उरायन में।
मिथिलेस की बाटिका में बिहरो,
हियरो हरो हेरि सुभायन में॥
इत कौन पठायो, दया नहिं लायो,
सुफूलन तोरो उपायन में।
रघुराज कहूँ गड़ि जैहैं लला,
पुहपान की पाँखुरी पायन में॥

(रामस्वयंवर, अठारहवाँ प्रबन्ध)

वनवाससे भगवान् रामके लौटनेकी अवधितक नन्दिग्राममें भगवच्चरणपादुकाकी छत्रछायामें जीवन-यापन करनेवाले भरतको हनुमान्‌जीने लङ्कासे प्रत्यागमन-समाचार सुनानेके समय भरतजीको रामके विरह-सागरमें इस तरह मग्न देखा, मानो वे रामप्रेमकी उज्ज्वल निष्कलङ्क मूर्ति हों। रघुराजसिंहजीका कथन है—

'रामप्रेम मूरति अवदाता।'

(रामस्वयंवर, तेईसवाँ प्रबन्ध)

महाराज रघुराजसिंहने अपनी 'रामस्वयंवर' रचनामें अपनी सारी काव्यपटुता, श्रद्धा-भक्तिका सदुपयोग करते हुए स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थकी रचना मैंने नहीं, श्रीरामने की है—'कहौं सत्य करि राम दुहाई। रच्यौ ग्रंथ केवल रघुराई॥'

(रामस्वयंवर, तेईसवाँ प्रबन्ध)

'रामस्वयंवर'-रचना महाराज रघुराजसिंहके हृदयमें स्थित रामभक्तिकी प्रतीक है।

(६)

रामरसिक रूपकला

भगवती सरयूके रमणीय तटसे विचुम्बित अवधक्षेत्रमें निवास करनेका सौभाग्य दशरथनन्दन रामकी ही कृपासे मिलता है। रसिक संत-कवि महात्मा रूपकला भगवान् रामके परम कृपापात्र थे। चरणोंमें पायल बाँधकर अपने प्रत्येक श्वासके कम्पनपर थिरक-थिरककर भगवती सीताके कैंकर्यरससे मत्त तथा श्रीरामके अनन्य उपासक रूपकलाने जो दिव्य यश प्राप्त किया, वह रामभक्तोंकी रस-प्रियताके इतिहासका एक मौलिक अध्याय है। महात्मा रूपकलाका बिहारप्रदेशके छपरा जनपदके मुबारकपुर ग्राममें निवासस्थान था। उनका संवत् १८९७ वि०की श्रावण कृष्ण नवमीको जन्म हुआ था। उन्होंने अपने ८७ सालके जीवनके अन्तिम ४० साल श्रीअवध-क्षेत्रके निवासमें सफल किये। अयोध्यामें रहकर उन्होंने श्रीसीतारामकी मधुर-उपासनासे अपना जीवन धन्य किया। उनकी रसमयी काव्यवाणीमें उनके सरस हृदयके भक्तिमय उद्गारोंका दर्शन होता है। 'रामायण-रस-बिन्दु' तथा 'मानस-अष्टयाम' आदि रचनाओंमें उन्होंने श्रीराम और श्रीसीताके प्रति अपने मधुर-भावकी अभिव्यक्ति की है।

भगवान् श्रीराम और श्रीसीताजीकी प्रेमाभक्ति—मधुर रतिका स्वानुभव ही उनका जीवन-सिद्धान्त था। रूपकलाके उपास्यदेव युगलस्वरूप श्रीसीताराम थे; अपने उपास्यके चरण-कैंकर्यमें उन्होंने परमानन्दका अनुभव किया। हनुमान्‌जीसे उन्होंने श्रीसीतारामकी भक्तिकी याचना की—

पुनि-पुनि बिनवौं जोरि कर, मोहि कृपा करि देहु।
श्रीसिय-सियपिय-पद-कमल अबिरल बिमल सनेहु॥

महात्मा रूपकलाकी एक स्थलपर उक्ति है कि "रसस्वरूप आह्लादिनी आदिशक्ति श्रीजनकनन्दिनीकी विहार-स्थलीका नाम 'साकेत' है; उसके मध्यमें रमणीय विहार-स्थल है, जो 'श्रीभवन' अथवा 'कनकभवन' कहलाता है, पर जो नित्य रससे परिपूर्ण और देश-कालके बन्धनसे परे है। उसके मध्यभागमें एक आयताकार कुञ्ज है, जिसके दक्षिणभागमें रत्नसिंहासन है; उसपर सहस्रों सखियोंसे परिवेष्टित सनातन अनादि ब्रह्म नित्य किशोर-मूर्ति राम पराशक्ति सीताके साथ शोभित होते हैं।" श्रीसीतारामकी भक्तिको ही साधनाके क्षेत्रमें उन्होंने प्रधानता दी। उन्होंने कहा कि 'मैंने ज्ञान, वैराग्य और तप तथा योगको तिलाञ्जलि दे दी है और अपने प्रियतमकी भक्ति ही हृदयमें रख ली है। उनकी बाँकी झाँकी और चितवनमें ही मेरी अक्षय भक्ति-निधि संनिहित है।' उनकी स्वीकृति है—

प्रान तोर, मैं तोर, चित्त-बुद्धि-जस तोर सब।
एक तुही तो मोर, काह निवेदउँ तोहि पिय॥
जिय को फल, पिय! तबहिं, जब आठ पहर तव नाम।
पिय! तेरे सुमिरन बिना, जियबो कौने काम॥

जीवनके अन्तिम दिनोंमें सीताजीके अरुण चरण-कमलमें उनकी अनुरक्ति विशेषरूपसे बढ़ गयी थी; वे कहा करते थे—

सियाजी के अरुनारे दोउ तरवा।
इनसे लगन नहीं तो बिरथा दंड-कमंडल-करवा॥

रूपकलाजीने संत-साहित्यको रामकी मधुर-भक्तिसे सम्पन्न किया। वे उच्चकोटिके रामरसिक संत-कवि थे।

(७)
कविवर रसिकविहारी

रसिकविहारी निस्संदेह कविवर थे । भगवान्‌के पुण्य चरितका गान ही भारतीय कवियोंने आदिकालसे जीवनका पुण्यफल स्वीकार किया और यही काव्य-परम्परा अनन्त कालतक इस पुण्यदेशमें मान्यता प्राप्त करती रहेगी । रसिकविहारीकृत 'रामरसायन' वास्तवमें भवरोगके नाशके लिये अमोघ रसायन है । भगवान् रामके पवित्र चरित्रको सरस और काव्योचित शैलीमें वर्णित कर कविने अपना यश अमिट कर लिया है । इसमें भगवान् रामके अवतरण, विवाह, वनगमन, सीताहरण, रावण-वध आदि प्रसङ्गोंको प्रस्तुत करनेका ढंग बड़ा सुन्दर बन पड़ा है । कविकी 'रामरसायन'के प्रणयनके रूपमें रामकाव्यकारिता सर्वथा सराहनीय है ।

रसिकविहारीका परम सौभाग्य था कि अपने गुरु प्यारेरामजीकी कृपासे वे अयोध्यापति भगवान् रामके विहार-स्थल—कनकभवन मन्दिरके महन्त-पदपर अधिष्ठित थे । उन्हें श्रीरामके विग्रह-सांनिध्य-सुख और लीला-चिन्तनका दैवयोगसे स्वर्णिम अवसर सुलभ हो गया । उनका जन्म उत्तरप्रदेशके झाँसी जनपदमें संवत् १९०१ वि०में एक परम पवित्र कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुलमें हुआ था । राजस्थानके उदयपुर नगरके ही निकट कानोड़के रावतसाहब श्रीनाहरसिंह रसिकविहारीजीका बड़ा आदर करते थे; उन्होंने रावतसाहबकी सम्मतिसे रामरसायन-ऐसे सरस रामकाव्यकी रचनाके द्वारा भगवान् रामके पद-देशमें अपनी निश्चल रसमयी भक्तिकी प्राण-प्रतिष्ठा की । रसिकविहारीजीका नाम महन्त जानकी-प्रसाद था । रसिकविहारीजीने संवत् १९३९ वि० में 'राम-रसायन'की रचना की । कविकी स्वीकृति है—

रामकथा कछु रचत हौं, सुरस सत्य सुख धाम ।
राम-रसायन नाम यह, बरनौं ग्रंथ ललाम ॥
(रामरसायन १ । १ । १०)

उन्होंने श्रीराम-चरित्रके लीलानुक्रमसे अनेक विभाग करके आठ विधानोंमें सम्पूर्ण चरित्रका विवेकपूर्वक बखान किया है । उनका कथन है कि 'यह काव्यग्रन्थ भगवान् श्रीरामकी प्रेरणासे ही रचा गया था ।' एक दिन रसिक-विहारीजी श्रीवाल्मीकिरामायणके सुन्दरकाण्डका अवलोकन कर रहे थे । श्रीजानकीके प्रति रावणके कटुवचन और उनके कारण भगवती सीताको होनेवाले क्लेशसे उनका मन बहुत दुःखी हो गया । उनकी आँख लग-सी गयी । उन्होंने एक वनमें विशाल वटवृक्षके नीचे विराजमान श्रीसीतारामकी झाँकी देखी । भगवान् रामने उन्हें कल्पमणि प्रदान की । घन घिर आया; वृष्टि होने लगी; हवा चलने लगी । स्वप्न समाप्त हो गया । उनके चित्तपर इस स्वप्नका बड़ा प्रभाव पड़ा और प्रभुदत्त कल्पमणि—विमल विवेकके प्रकाशमें उन्होंने रामरसायन-प्रणयनका संकल्प कर लिया ।

भगवान् रामके प्राकट्यका कवि रसिकविहारीने बड़ा ललित वर्णन किया है; इसमें उनकी भक्ति-भावनाका सुन्दर चित्र सुलभ होता है—

अगम सनेह-सिंधु उमगो, बिलोकि जाहि
सज्जन-चकोरन के हीय सुख है गयो ।
रानी अनुमोदिनी कुमोदिनी विकासी मंजु,
भूप-उर-भूमि में प्रकास अति ही छयो ॥
'रसिकविहारी' पाप-ताप-तम टारी लोक
सोक हर सीतकर सीत कर ते दयो ।
पूरन कला को सुद्ध प्राची दिसि कौसिला ते
स्वच्छ रामचंद्र चारु चंद्रमा उदै भयो ॥
(रामरसायन २ । ४ । ८६)

एक ही कवित्तमें भगवान् राम और भगवती सीताके प्राकट्यका कविने बड़ी युक्तिसे सरस वर्णन कर दोनोंके प्रति अपनी जो भक्ति प्रकट की है, वह रामपरक साहित्यमें कविकी अत्यन्त मौलिक देन है—

फूलो हिय-कंज मंजु रानी कौसिला को उत,
महिषी सुनैना इतै नलिनी बिकासी है ।
'रसिकविहारी' धर्म-कोक भो बिसोक उतै,
इतहि चकोरी भक्ति अमित हुलासी है ॥
असुर-अनीति-सीत-भीति उत दूर भई,
सकल त्रिताप-दाप-ताप इत नासी है ।
अवध चहूँघा उत छायो है दिनेस तेज,
इत मिथिलामें चंद्र-चंद्रिका प्रकासी है ॥
(रामरसायन २ । ७ । ६७)

अरण्य-निवास-कालमें श्रीरामका महर्षि वाल्मीकिके आश्रमपर आगमन हुआ । प्रभुने हाथ जोड़कर महर्षिसे अपने रहनेके लिये स्थान पूछा । वाल्मीकिने भगवान्‌से कहा—

मन में मुनीन के, कवीन के सुबैनन में,
नेहिन के नैनन में, प्रान में पुरारी के।
अवध-निवासिन के, मिथिला-विलासिन के
परम उपासिन के, सत्यव्रत धारी के॥
ग्यानी गुनवंतन के, सज्जन अनंतन के,
साँचे सुचि संतन के, पर-उपकारी के।
राम अभिराम सीता लषन समेत सदा
हृदयँ निवास करो 'रसिक बिहारी' के॥
(रामरसायन ४। ५। ९)

उपर्युक्त कवित्तमें सीता-राम-चरित-रस-रसिक कविने प्रकारान्तरसे भगवान्‌से अपने हृदयमें निवास करने—रमण करनेकी प्रार्थना की है। श्रीरामके शवरीके निवास-स्थानपर आने तथा भक्तिमती भीलनीके उन्हें श्रद्धापूर्वक बेर अर्पित करनेके प्रसङ्गमें कविके हृदयमें निवास करनेवाली भागवती कृपा-माधुरीका अलौकिक दर्शन होता है। भगवान्‌ने लक्ष्मणसे कहा कि 'ये बेर बहुत मीठे हैं। मैं ऋषि-मुनियोंके आश्रममें गया, उन लोगोंने विधि-विधानसे मेरा स्वागत किया; पर मुझे कहीं भी तृप्ति नहीं हुई। शवरीके बेर तो अमृतके समान हैं। अयोध्याका परित्याग करनेके बाद आज ही मैंने वनमें पेटभर भोजन किया है।' शवरी रघुनाथजीके वचनसे फूली नहीं समायी, बार-बार मधुर बेर देने लगी। रसिकविहारीजीने इस प्रसङ्गका मधुर चित्र उरेहा है—

बेर बेर बेर कै सराहैं बेर-बेर बहु ,
'रसिकबिहारी' देत बंधु कहँ फेर-फेर।
चाखि-चाखि भाखैं, यह वाहू ते महान मीठो,
लेहु तौ लखन, यों बखानत हैं हेर-हेर॥
बेर-बेर देवै बेर सबरी सु बेर-बेर
तोऊ रघुबीर बेर-बेर तिहि टेर-टेर।
बेर जनि लाओ बेर-बेर जनि लाओ बेर
बेर जनि लाओ, बेर लाओ, कहैं बेर-बेर॥
(रामरसायन ५। ४। ४७)

रसिकविहारीने अपने 'रामरसायन' काव्यमें चिन्मय-युगल श्रीसीतारामके भजनपर बड़ा जोर दिया है। भगवान् रामके नाममें भक्ति और रुचि बढ़ानेकी इस काव्यमें बड़ी प्रेरणा मिलती है। रसिकविहारीजीकी उक्ति है—

प्रीति राम-नाम सों, प्रतीति राम-नाम सों, सु-
रीति राम-नाम सों, सबहि भाँति भाँति ये।
आस राम-नाम सों, बिलास राम-नाम सों, सु-
पास राम-नाम सों, अनेक बिधि जानिये॥
लोक राम-नाम, परलोक राम-नाम सों है
'रसिकबिहारी' सो बिचार चित ठानिये।
राम-नाम को बिहाय पावै जो पियूष, सो है
हालाहलके समान, तामें धूर सानिये॥
(रामरसायन ७। ५। ७२)

रामरसायनकार श्रीरसिकविहारीने विद्या, बुद्धि और विवेकका फल श्रीसीतारामके चरित्रके चिन्तन, गुणानुवाद और कीर्तनमें संनिहित किया है।

(८)

ब्रह्मभट्ट लछिराम

महाकवि ब्रह्मभट्ट लछिराम विक्रमीय बीसवीं शतीके प्रथम चरणके अत्यन्त समर्थ कवियोंमें परिगणित हैं। उनका जन्म संवत् १८९८ वि०में उत्तरप्रदेशके बस्ती जनपदके अमोढ़ा ग्राममें हुआ था। अनेक राजकुलोंसे उनका प्रगाढ़ सम्बन्ध था। अयोध्यानरेश महाराजा मानसिंह उनका बड़ा आदर करते थे और उनके विशेष अनुरोधपर महाकवि लछिरामने जीवनका अधिकांश अयोध्यामें ही बिताया तथा भगवान् रामका यशोगान कर अपना कवि-जीवन सफल तथा सार्थक किया। ऐसे तो उन्होंने अनेक काव्य-ग्रन्थोंकी रचना की, पर उनमें भगवान् रामकी भक्ति और पवित्र चरित्र तथा यशसे परिपूर्ण 'रामचन्द्रभूषण' काव्यग्रन्थको विशिष्ट महत्त्व प्राप्त है। उन्होंने इस काव्यकी रचना श्रीअयोध्यामें संवत् १९४[illegible] वि०में की। अलंकार-वर्णनके ब्याजसे उन्होंने इस काव्यमें अत्यन्त मौलिक ढंगसे भगवान् रामकी विविध लीलाओंका चिन्तन किया। हिंदी-साहित्यकी रीतिकाल-परम्पराके अनेक समर्थ महाकवियोंकी ही तरह उन्होंने भी आत्मसंतोष प्रकट किया था—

सुकवि रीझिहैं करि कृपा, तो कविता लछिराम।
नतरु ब्याज सों मैं रट्यो, श्रीसियवर को नाम॥
(रामचन्द्रभूषण ६२७)

महाकवि लछिरामने 'रामचन्द्रभूषण' काव्यमें अपने अंश—लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नसहित अवतार लेनेवाले भगवान् विष्णु—पूर्ण परात्पर ब्रह्म रामके अयोध्यापुरीमें जन्मके बखानमें कहा कि भूतलका भार हरनेके लिये भगवान् सगुणरूपसे प्रकट हो गये—

जोगबल जागे भाग नाग-नर-देवन के
संतन सरोज को समीर समुदै भयो ॥
लछिराम राम अवतार के अतंक ही में,
असुर अरातिन अमान अमुदै भयो ॥
भासमान अवध-अनंद-उदयाचल पै,
परम प्रताप की प्रभा को प्रमुदै भयो।
चौदहो भुवन अवतंस राजवंस मनि
ब्रह्मरासि कौसिला उदर सों उदै भयो ॥

(रामचन्द्रभूषण ३)

महाकवि लछिरामने सरयू-तटपर विचरण करनेवाले दशरथ-कुमार भगवान् राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नकी छविमयी मनमोहिनी झाँकीका जो भावगर्भित चित्रण किया है, उसमें चारों कुमारोंके प्रति उनके हृदयके सहज-सुलभ सात्त्विक अनुरागका परिचय मिलता है तथा साथ-ही-साथ काव्यगत वर्णन-वैशिष्ट्यका भी पता चलता है—

काछनी कमर लसैं, छोरैं पटुका की पीरे
फहरैं बसन हीरे लाल गुन गथ के।
'लछिराम' ललित हरीरे धनु-बान कर,
लोचन बिसाल भाल भाग समरथ के ॥
रामचंद्र, लखन, भरत, रिपुसूदन पै,
वै रहे अपार ओज आनँद अकथ के।
करत बिहार संग तीर सरजू पै चारों
फल से कुमार महाराज दसरथ के ॥

(रामचन्द्रभूषण १५)

पञ्चवटीमें आगमनके प्रसङ्गमें कविवर लछिरामका बड़ा मार्मिक कथन है कि जब मुनियोंने भगवान् रामके वहाँ पधारनेकी बात सुनी, तब उनका भव-बन्धन समाप्त हो गया, राक्षसोंकी आयुकी रेखाएँ मिट गयीं और असुरोंका भाग्य फूट गया—

पंचबटी के बिहंग उमंग में बोलत बानी सुधारस घूटे।
त्यों लछिराम अदेव ललाट तें आयु की रेख के अंक वे छूटे ॥
आसुरी हाथन तें पल एक में भाग सोहाग के भाजन फूटे।
आगम श्रीरघुनाथ सुनें मुनि-मंडल के भव-बंधन टूटे ॥

(रामचन्द्रभूषण १८०)

वालीके वधके उपरान्त ताराके मनोभावका जो चित्रण महाकवि लछिरामने अङ्कित किया है, उसमें उनके चिन्तन और भक्तिभावनाकी सूक्ष्मता निखर उठी है। राम-काव्यके साहित्यमें बालि-वध-प्रसङ्गकी सीमामें यह अद्भुत उक्ति है विलाप करती हुई ताराकी। बड़ी मौलिकता है इस कथनमें—

धूरि धुरेटे चपेट परे महि, संग न कोउ सहायक गोत है।
भैया सगो भयो बैरी सभै लहि, बूड़ि गयो बल बाहँ उदोत है ॥
और कहा कहिये 'लछिराम' जू सोई मिलै फल, जाकर बोत है।
तारा कही मुख बालि निहारि कै, राम न जानें को यों फल होत है ॥

(रामचन्द्रभूषण २१४)

भगवान् रामके वनवास-कालकी समस्त मङ्गलमयी कीर्तियोंका वर्णन लछिरामने एक ही कवित्तमें बड़ी काव्य-निपुणतासे किया है। माता कौसल्या भगवान् रामके आगमनकी प्रतीक्षामें थीं। वनवासकी अवधि पूरी हो चली थी। अम्बा सगुनका विचार ही कर रही थीं कि भरतजी आ पहुँचे और माताको रावण-वध करनेवाले लङ्काविजयी भगवान् रामके आगमनकी सूचना दी—

तिलक त्रिकूट श्रीबिभीषन बिसाल भाल,
बालि बधि पंपा दै सुकंठहि असंका को।
'लछिराम' सूरपनखा त्यों खर-दूषन के
बदन बिदारि बोरे बीरद के बंका को ॥
जातुधान बंसहि बिधंसन लदक मारे
मेघनाद कुंभकर्न रावन-से बंका को।
कौसिला महल बैठी बूझिबे सगुन, तौ लौं
गरजे भरत, राम आये जीति लंका को ॥

(रामचन्द्रभूषण ४४५)

महाकवि लछिरामके राम सर्वव्यापी परब्रह्म परमेश्वर हैं। वे समस्त भगवद्रूपोंमें अभिव्यक्त हैं। लछिरामका उद्गार है—

गोकुल गोकुलनाथ बने, ब्रज में ब्रजराज सनेह सँवारे।
द्वारिका मंडल द्वारिकानाथ, जगे जगनाथ समुद्र-किनारे ॥
ब्योमथली, महि, सात पताल, लसै लछिराम प्रताप पसारे।
चौदहों लोक सनाथ करैं, रघुनाथ अनाथ के नाथ हमारे ॥

(रामचन्द्रभूषण २४७)

महाकवि लछिरामकी राम-काव्यकारिता धन्य है। रामका यशोगान ही काव्यका पुण्य-फल है।

(९)

बाबा रघुनाथदास रामसनेही

बाबा रघुनाथदास रामसनेहीने विक्रमीय संवत्की बीसवीं शतीके प्रथम चरणमें भगवान् रामकी अवतार-भूमि सौभाग्यवती अयोध्यापुरीमें निवास कर अपनी तपोमयी

राममक्तिसे लोगोंका कल्याण किया था। उन्होंने संवत् १९११ वि० में 'विश्रामसागर'की रचना की। इस ग्रन्थके उत्तरार्धमें उन्होंने सात काण्डोंमें श्रीरामायण तथा अनेक पुराणोंमें वर्णित रामचरितके अनुसार भगवान् रामके दिव्य चरित्रका बखान किया है। इसमें श्रीरामकी भगवत्ताका प्रतिपादन किया गया है। मुनियोंद्वारा श्रीरामके नामकरण-संस्कारके अवसरपर यह व्यक्त कराया गया है कि चराचरमें जिनका तेज सर्वत्र व्याप्त है, उन सुखसागर भगवान्का ही नाम राम है—

जासु तेज चर-अचर में व्यापक व्योम समान।
तासु राम अस नाम, जो सुख सागर भगवान॥

बाबा रघुनाथदासका अपने 'विश्रामसागर' ग्रन्थमें कथन है कि 'राम ही सबमें रमण करते हैं। सर्वत्र उनका ही रमण सिद्ध है। भक्तजन इस तरह रामका दर्शन कर अपनी मनोकामना सफल करते हैं।'

राम रमत जो सबन में, सब जहँ रमै सो राम।
रामहि लखि रघुनाथ जन लहत स्ववांछित काम॥

'विश्रामसागर'के उत्तरकाण्डमें भगवान् रामके राज्याभिषेकके समय शिव और ब्रह्माजीद्वारा स्तुति किये जानेके बाद वेद विप्ररूप धरकर भगवान्का गुणानुवाद करते हैं। इस गुणानुवादमें वेदोंमें वर्णित श्रीरामके निर्गुण-सगुण स्वरूपका बड़ा सुन्दर चित्राङ्कन उपलब्ध होता है। वेदोंकी बड़ी मार्मिक उक्ति है—

'जय जगदीस अजीस पति, निर्गुन-सगुन सरूप।'

बाबा रघुनाथदासजीके गुरु महात्मा देवादास थे। उन्हींकी चरणकृपासे रघुनाथदासने 'विश्रामसागर'-ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थकी रचना कर भगवान् रामके यशोगानसे अपनी पवित्र वाणी सफल की—

श्री गुरु देवादास के चरन-कमल धरि माथ।
रामचरित सुखप्रद कछुक बरनै जन रघुनाथ॥

बाबा रघुनाथदासने 'विश्रामसागर'के अन्तमें स्वीकार किया है कि 'श्रीसीताराम ही हमारे इष्ट हैं और रामका नाम ही हमारे लिये प्रिय माला है।'

बाबा रघुनाथदासका सम्पूर्ण जीवन ही श्रीसीतारामकी निर्मल भक्तिका प्रतीक है।

(१०)

महाकवि हरिऔध

महाकवि हरिऔधने 'उत्तररामचरित'के प्रणेता महाकवि भवभूतिकी तरह अपने काव्यसृजनमें शृङ्गाररसके विप्रलम्भरूपको ही महत्त्व देकर श्रीकृष्ण और भगवान् रामके पवित्र चरित्रका करुण विरहपरक चित्रण किया। उन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य 'प्रिय-प्रवास' और 'वैदेही-वनवास'के प्रणयनमें रस-परिपाकके लिये क्रौञ्चवधके परिणामस्वरूप आदिकवि महर्षि वाल्मीकिके—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।' श्लोकसे ही प्रेरणा ली।

महाकवि हरिऔधने उत्तरप्रदेशके आजमगढ़ जनपदके निजामाबाद स्थानमें संवत् १९२२ वि०में यजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मणकुलमें जन्म लिया था। उन्होंने ८१ वर्षकी अवस्थामें संवत् २००३ वि०में शरीर छोड़ दिया। निस्संदेह वे विक्रमीय संवत्की बीसवीं शतीके हिंदी-काव्य-जगत्के सर्वमान्य सम्राट् थे। भगवान् राम और कृष्ण, भगवती सीता और राधाके प्रति उनके हृदयमें एकरस श्रद्धा-भक्ति थी।

महाकवि हरिऔधकृत 'वैदेही-वनवास' भारतीय साहित्यमें रामपरक काव्य-सृजनकी अविच्छिन्न सनातन परम्परामें बड़ी सफल और सरस काव्यकृति है। इसमें श्रीरामके द्वारा उनके उत्तरचरितकी लोकविश्रुत घटना 'सीतापरित्याग'का वर्णन है, जिसमें प्रजारञ्जन और लोकसंतोषकी भावनासे प्रेरित होकर दुर्मुखद्वारा रजकके अपवादको सुनकर राजा रामने सीताको श्रीवाल्मीकिके आश्रममें भेजकर उदात्त और पवित्र राज्यादर्शका निष्कलङ्क निर्वाह किया। भारतीय साहित्यमें इस विषयको आधार बनाकर विभिन्न भाषाओंमें जितने काव्य और नाटक अबतक लिखे गये हैं, उनमें लोकोत्तरानन्ददायक 'वैदेही-वनवास'को निस्संदेह विशिष्ट स्थान प्राप्त है। महाकवि हरिऔधने 'सीता-परित्याग'का काव्य-विषय बड़े ही मौलिक ढंगसे प्रस्तुत किया है। यह उनकी काव्यगत असाधारण महनीयता है। महाकवि हरिऔधने 'वैदेही-वनवास' के प्राक्कथनमें कहा है कि 'महाराज रामचन्द्र मर्यादा-पुरुषोत्तम, लोकोत्तर-चरित और आदर्श नरेन्द्र अथवा महीपाल हैं, श्रीमती जनकनन्दिनी सतीशिरोमणि और लोकपूज्या आर्य-बाला हैं। इनका आदर्श आर्य-संस्कृतिका सर्वस्व है, मानवताकी महनीय विभूति है और है स्वर्गीय सम्पत्ति-सम्पन्न। इसलिये इस ग्रन्थमें

इसी रूपमें इसका निरूपण हुआ है। महाकवि हरिऔधके राम आजानुबाहु, कमल-लोचन, मर्यादाके धाम और शील-सज्जनताके धुरंधर हैं तथा विदेहनन्दिनी सीता सुकृत-स्वरूपा और समस्त गुणोंकी निधि हैं। एक उपवनके उच्चमण्डपमें विराजित दिव्य युगलमूर्ति—श्रीराम और भगवती सीताके संस्तवनमें महाकविके उद्गार हैं—

उपवनके अति उच्च एक मण्डपमें विलसी,
मूर्ति-युगल इन दृश्योंके देखे थी विकसी।
इनमें से थे एक दिवाकर कुलके मण्डन,
श्याम गात आजानु बाहु सरसीरुह लोचन॥
मर्यादाके धाम शील सौजन्य धुरंधर,
दशरथ नन्दन राम परम रमणीय कलेवर।
थीं दूसरी विदेह नन्दिनी लोक ललामा,
सुकृतिस्वरूपा सती विपुल मञ्जुल गुण धामा॥
(वैदेही-वनवास १। १४-१५)

गुप्तचर दुर्मुखसे भगवान् रामने जनकनन्दिनीके प्रति रजकद्वारा लगाये गये अपवाद—रावणगृह-आवास-कलङ्ककी बात सुनकर प्रजारञ्जन और लोकाराधनकी संकल्प-पूर्तिपर जब गुरु वसिष्ठसे मन्त्रणा की, तब उन्होंने श्रीरामकी नीतिकी सराहना की तथा उस नीतिके अनुरूप ही सीताके आचरणमें विश्वास प्रकट किया। श्रीराम और वसिष्ठजीके कथोपकथनमें हरिऔधजीने बड़ी युक्तिसे श्रीरामकी राजनीति-का समर्थन किया है और सतीशिरोमणि भगवती सीताके पवित्र चरित्रका वर्णन किया है। वसिष्ठजीकी श्रीरामके प्रति उक्ति है—

जो हो, पर पथ आपका अतुलनीय है।
लोकाराधन की उदारतम नीति है॥
आत्मत्याग का बड़ा उच्च उपयोग है।
प्रजा-पुञ्ज की उसमें भरी प्रतीति है॥
(वैदेही-वनवास ४। ९१)

श्रीवसिष्ठजीने रामको सत्प्रेरणा दी कि वे सीताके परित्यागकी बात उनको बता दें—

किंतु आपसे यह विशेष अनुरोध है—
सब बातें कान्ताको बतला दीजिये॥
स्वयं कहेगी वह पतिप्राणा आपसे—
'लोकाराधनमें विलम्ब मत कीजिये'॥

सती-शिरोमणि पति-परायणा पूत-धी।
वह देवी है दिव्य मूर्तियों से भरी॥
है उदारतामयी सुचरिता सद्व्रता।
जनक-सुता है परम पुनीता सुरसरी॥
(वैदेही-वनवास ४। ५९-६०)

श्रीरामने भगवती जनकनन्दिनीका परित्याग कर दिया। वे वाल्मीकिके आश्रममें आ गयीं। रामायणकथाके परम मर्मज्ञ महर्षि वाल्मीकिने भगवती सीताके स्वागत-सत्कारमें जो सहृदयतापूर्ण उद्गार प्रकट किये, उनमें महाकवि हरिऔधकी भक्ति-भावनाका निर्मल दर्शन होता है। महर्षि वाल्मीकिने कहा—

पुत्रि जनकजे! मैं कृतार्थ हो गया हूँ।
आप कृपा करके यदि आयी हैं यहाँ॥
वे थल भी हैं अब पावन-थल हो गये।
आपका परम-शुचि-पग पड़ पाया जहाँ॥
आप मानवी हैं तो देवी कौन है?
महा-दिव्यता किसे कहाँ ऐसी मिली॥
पातिव्रत अति पूत सरोवर-अङ्कमें।
कौन पति-रता पङ्कजिनी ऐसी खिली॥
(वैदेही-वनवास ८। २८-२९)

भगवान् राम त्रिभुवन-पति हैं तो जनकनन्दिनी उनकी प्राणप्रियतमा साक्षात् भक्ति हैं। महाकवि हरिऔधने वाल्मीकि-आश्रमवासिनी सीताके प्रति श्रीशत्रुघ्नद्वारा कहलवाया है—

यदि रघुकुल-तिलक पुरुष हैं, श्रीमती शक्ति हैं उनकी।
जो प्रभुवर त्रिभुवन-पति हैं तो आप भक्ति हैं उनकी॥
(वैदेही-वनवास ११। ३९)

महाकवि हरिऔधने 'वैदेही-वनवास' काव्यके सम्पूर्ण अठारह सर्गोंमें भगवान् रामके पावन उत्तरचरितका काव्यरूप प्रस्तुतकर रामकथामें अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा व्यक्त की है। हरिऔधजीने कहा है, 'वैदेही-वनवास'के सम्बन्धमें प्राक्कथनके अन्तमें—

जिसके सेवन से बने पामर नर-सिरमौर।
राम-रसायनसे सरस है न रसायन और॥

महाकविकी 'वैदेही-वनवास'के रूपमें रामकथाकारिता परम गौरवमयी है।

(११)
महाकवि रामचरित उपाध्याय

महाकवि रामचरित उपाध्यायने श्रीवाल्मीकि-रामायणके आधारपर 'रामचरित-चिन्तामणि' महाकाव्यकी रचना कर भगवान् रामसे सम्बन्धित उपासना-क्षेत्रमें एक मौलिक और नवीन कीर्तिमान स्थापित किया। इस महाकाव्यमें रामके भगवत्स्वरूपकी मर्यादा-वृत्तिकी कविने बड़ी सावधानी और सूक्ष्म दृष्टिसे अभिव्यक्ति की है। यद्यपि रामकी कथा इसमें संक्षेपमें ही वर्णित है, तथापि वर्णनका ढंग अत्यन्त आकर्षक और काव्यके प्रायः सभी गुणोंसे परिपूर्ण है। पण्डित रामचरित उपाध्यायका जन्म संवत् १९२९ वि० में उत्तर प्रदेशके गाजीपुर जनपदमें हुआ था।

अयोध्यानरेश दशरथके घरमें बालकरूपमें पिताकी गोदमें मचल-मचलकर रोनेवाले श्रीरामका बड़ा स्वाभाविक चित्रण किया है कविने, जिसमें भगवान्‌के प्रति उनकी श्रद्धा और महत्त्वबुद्धिका परिचय मिलता है—

मुनि-वृन्द वन में है तरसता हर घड़ी जिसके लिये।
साकेत में वह खेलता है, नृप फिरें किसके लिये॥
जिस श्यामसुन्दर राम को लख ईश होते मोद में।
वह है मचलकर रो रहा, विश्वेश दशरथ-गोदमें॥
जिसकी भृकुटि-इंगित हुए यह नाचता संसार है।
वह ठुमुक करके नाचता अवधेशके आगार है॥
जो विश्वको देकर अशन जगदीश विश्वम्भर हुआ।
वह दूध-रोटीका खवैया अवधपति के घर हुआ॥

(रामचरित-चिन्तामणि १ । ४७-४८)

राक्षसोंके विनाशके लिये श्रीविश्वामित्रजीने दशरथजीसे राम-लक्ष्मणको साथ भेजनेकी याचना की और कहा कि 'राम ही असुरोंको मारकर पृथ्वीपर उनके उत्पात और अत्याचारका नाश कर सकते हैं; असुर मायावी हैं, राम ही उनकी मायाका अन्त कर सकते हैं। वे तीनों लोकोंके नियन्ता हैं।' श्रीविश्वामित्रके उपर्युक्त कथनमें भगवान् रामके अवतारको महाकवि रामचरित उपाध्यायने विदेशी सत्तासे आक्रान्त अपने समकालीन भारतीय राष्ट्रके संरक्षणका निमित्त बनाया है। विश्वामित्रजीकी उक्ति है—

'मायावी हैं असुर, राम माया-नाशक हैं।
नृप! समझें या नहीं, राम त्रिभुवन-शासक हैं॥'

(रामचरित-चिन्तामणि २ । ३०)

महाकवि रामचरित उपाध्यायके रामका अवतार भूमिका भार हरनेके ही लिये हुआ था। भगवान् रामने लक्ष्मणजीसे कहा कि 'अयोध्यामें राज्य करनेकी अपेक्षा भूमिके भारको हरना अधिक महत्त्वका कार्य है।' वन-गमनके प्रसङ्गमें उनकी उक्ति है—

यश को मलिन मैं क्यों करूँ! भू-राज करनेके लिये।
जब जन्म मेरा है हुआ भू-भार हरनेके लिये॥

(रामचरित-चिन्तामणि ७ । १९)

मारीचने सीता-हरणकी कुबुद्धिपूर्ण योजनावाले रावणको लौटकर लङ्कामें राज्य करनेकी सम्मति दी और भगवान् रामकी भगवत्ता और भगवती सीताकी परम दिव्यताकी ओर संकेत किया। कविने दो-ही-चार शब्दोंमें रामतत्त्वकी सूक्ष्मताका मारीचके माध्यमसे जो दिग्दर्शन कराया है, वह अपने आपमें बड़ा ही मार्मिक और अर्थपूर्ण है! मारीचने रावणको समझाया—

पुण्य-पुञ्ज भारतमें, रावण! सुख सोता है साधु-समाज।
बात मान जा, छेड़ न उसको, कर जाकर लङ्का का राज॥
मन्त्री तेरे स्वार्थ-लिप्त हैं, उनकी बातें मान नहीं।
क्या हैं राम, कौन है सीता, इसका तुझको ज्ञान नहीं॥

(रामचरित-चिन्तामणि ११ । ४०)

सम्पूर्ण आसुरी सत्ताके सार्वभौम प्रतिनिधि रावणको अङ्गदजीने श्रीरामकी शरणमें जानेकी जो सत्प्रेरणा प्रदान की थी, उसमें श्रीरामके भागवत ऐश्वर्यका महाकवि रामचरित उपाध्यायद्वारा बड़ा सुन्दर वर्णन हुआ है। अङ्गदने रावणको सावधान किया—

सब सुरासुर हों वश आपके, करगता यदि हों सब सिद्धियाँ।
तदपि हे दनुजेश्वर जानना! निज विनाशक नाशक राम को॥
अखिल-लोक-नृपेश्वर राम को समझ के उनसे मिलिये अभी।
यह पुरी रघुनाथ-रणाग्नि में, दनुज! होम न हो, मन में डरो॥

(रामचरित-चिन्तामणि १९ । ३६-३७)

लव-कुश—दोनों कुमारोंने श्रीरामके सम्मुख रामायणका गान करते हुए काव्यके सम्बन्धमें जो कुछ कहा, वह रामचरित उपाध्यायकी रामकाव्य-सम्बन्धी भावनाका परिचायक है—

सत्काव्य चिन्तामणि-सदृश है, कवि जगद्गुरु तुल्य है।
सत्यकाव्य ही त्रैलोक्य में, बस, एक वस्तु अमूल्य है॥

(रामचरित-चिन्तामणि २५ । ८७)

रामचरित-चिन्तामणि भगवान् रामके पवित्र चरित्रका काव्य है, रामचरित उपाध्यायकी रामभक्ति स्तुत्य है ।

(१२)

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

'भारत-भारती' ऐसे साहसपूर्ण काव्यके रचयिता रामभक्त कवि मैथिलीशरण गुप्तने अपने 'साकेत' महाकाव्यमें नितान्त मौलिक शैलीमें सम्पूर्ण रामचरितका बखान करते हुए बीसवीं शतीकी जागरणभावनासे सम्पन्न भारतीय राष्ट्रीयताको प्राणान्वित कर हिंदी-साहित्य ही नहीं; समस्त भारतीय साहित्यकी श्रीवृद्धिमें अप्रतिम योग दिया है । 'साकेत' महाकाव्यमें अत्यन्त नवीन ढंगसे रामकथा प्रस्तुत की गयी है, यद्यपि श्रीरामचरित्रके वर्णनमें महाकवि मैथिलीशरणजीने आदिकवि वाल्मीकि, महर्षि व्यास और महाकवि कालिदासके रघुवंशपरक काव्य-वर्णनसे प्रेरणा प्राप्त की है, तथापि अनेक स्थलोंपर गोस्वामी तुलसीदासके रामचरितमानसका भी स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है उनकी कृतिमें । राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजीने 'साकेत'महाकाव्यमें सौभाग्यवती उर्मिला, माण्डवी, शत्रुघ्न तथा भरतके चरित्रवर्णनमें व्यापक राष्ट्रहितका आर्यसंस्कृतिसे मर्यादितरूप व्यक्त किया है और कैकेयीके चरित्रको काव्यका उपसंहार करते हुए बहुत सार्थक और महत्त्वपूर्ण परिलक्षित किया है । अपनी दूसरी रामपरक 'पञ्चवटी' नामकी रचनामें मैथिलीशरणजीने श्रीलक्ष्मणकी भगवती सीता और रामके प्रति सेवा-भावनाकी सजीव मूर्ति प्रतिष्ठित कर दी है ।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तका जन्म संवत् १९४३ वि० में उत्तरप्रदेशके झाँसी जनपदके चिरगाँव ग्राममें हुआ था । उनके पिता सेठ रामचरणजी वैष्णव और सनातनी विचारधाराके रामभक्त थे । मैथिलीशरणजीके जीवनको काव्यरचनाकी ओर प्रेरित करनेमें उनका बहुत बड़ा हाथ था. । मैथिलीशरणजी अंग्रेजी दासतासे मुक्त पुण्यमय भारतदेशके प्रथम राष्ट्रकवि थे और स्वतन्त्र भारतकी राज्यपरिषद्के राष्ट्रपतिद्वारा मनोनीत कवि-प्रतिनिधि थे । वे सदा रामकी भक्तिमें भावविभोर रहते थे । उनकी सरल जीवन-वृत्तिमें आस्तिकता भरी पड़ी थी ।

उन्होंने बारह सर्गोंमें अपना 'साकेत' महाकाव्य पूरा किया और उसमें रामका यशोगान कर अपनी वाणी सार्थक की । उन्होंने अपने पिताके कर-कमलमें 'साकेत'का समर्पण करते हुए उन्हींकी सीख दुहराई है—

'वहाँ कल्पना भी सफल, जहाँ हमारे राम ।'

अपने इष्टदेव रामके प्रति मैथिलीशरण गुप्तकी उक्ति है—'हे राम ! आपने मानवरूपमें लीला करनेके लिये सगुणरूप धारण किया । आप सम्पूर्ण विश्वमें रमण करते हैं । यदि आप ईश्वर नहीं हैं तो मैं निरीश्वर हूँ; ईश्वर इसके लिये मुझे क्षमा करें । यदि आप मेरे चित्तमें रमण नहीं करते तो हे राम ! मेरा चित्त ही आपमें—आपके ललित लीला-चिन्तनमें तत्पर रहे ।'

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नहीं हो क्या ?
विश्व में रमे हुए, नहीं सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे ।
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे ॥

भगवान् रामके अवतार धारण करनेके प्रसङ्गमें कविने 'साकेत'के आरम्भमें निवेदन किया है ।

स्वर्ग से भी आज भूतल बढ़ गया ।
भाग्य भास्कर उदयगिरि पर चढ़ गया ॥
हो गया निर्गुण सगुण साकार है ।
ले किया अखिलेश ने अवतार है ॥

भगवान्ने मानवरूपमें प्रकट होकर मानवीका पयपान किया, यह उन लीलाधामकी भक्तवत्सलता है । उन्होंने भूमिका भार हरनेके लिये तथा संसारके लोगोंको सत्पथपर चलानेके लिये अवतार लिया । मैथिलीशरणजीकी उक्ति है—

किस लिये यह खेल प्रभु ने है किया ?
मनुज बन कर मानवी का पय पिया ?
भक्तवत्सलता इसी का नाम है ।
और वह लोकेश लीला धाम है ।

(साकेत, प्रथम सर्ग)

मैथिलीशरण गुप्तने इस तथ्यमें दृढ़ विश्वास प्रकट किया कि श्रीरामका चरित्र काव्य है, इस चरित्रका चिन्तन करना ही कवि बन जाना है । कोई भी हो, यदि उसकी वाणी रामचरित्रका गान करती है, रचना करती है, तो वह निस्संदेह कवि है । कोई भी रामका चरित्र-चिन्तन कर सहज रूपसे कवि होनेकी प्रतिष्ठा पा सकता है । उन्होंने वनवासकी

अवधिमें श्रीरामके श्रीवाल्मीकिजीके आश्रमपर आनेके समय आदिकविके मुखारविन्दसे इस सत्यका प्रतिपादन कराया है—

'राम, तुम्हारा वृत्त आप ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है।'

(साकेत, पञ्चम सर्ग)

'साकेत'में मैथिलीशरणजीने श्रीरामकी जन्मभूमि अयोध्याके प्रति आत्मीयता अथवा भक्तिभावनाका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वनकी सीमामें प्रवेश करते ही वनवासी रामने जन्मभूमिके प्रति जो आत्मीयता प्रकट की, उसमें कविकी अयोध्याके प्रति अनुरक्तिकी झाँकी उपलब्ध होती है। बड़ी पुण्यमयी भावना है यह रामकी अवतार-भूमिके प्रति—

स्वर्गोपरि साकेत ! राम का धाम तू,
रक्षित रख निज उचित अयोध्या नाम तू।
राज्य जाय, मैं आप चला जाऊँ कहीं,
आऊँ अथवा लौट यहाँ आऊँ नहीं,
रामचन्द्र भवभूमि अयोध्या का सदा,
और अयोध्या रामचन्द्र की सर्वदा।

(साकेत, पञ्चम सर्ग)

'साकेत'के राम साक्षात् मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान्, चराचरके पालन-कर्ता विष्णु हैं। गङ्गा-पार उतरनेका प्रसङ्ग है। भगवती सीता पराम्बाने गुह (केवट) को अपनी स्वर्णमुद्रिका उतारकर मिलन-स्मृतिके प्रतीकस्वरूप देनी चाही। गुहने बड़े निष्कपटभावसे कहा कि 'मुझे ऐसी कृपा नहीं चाहिये। हे राम! मुझे तो उस चरण-रजकी ही नितान्त अपेक्षा है, जिसने जड बनी अहल्यामें चेतन मूर्तिका सृजन कर दिया।' कवि मैथिलीशरण गुप्तकी भगवच्चरणरजकी निष्ठा धन्य है। गुहका अत्यन्त भक्तिपूर्ण निवेदन है—

क्षमा करो, इस भाँति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ण नहीं, हे राम! चरण-रज दो मुझे।
जड भी चेतन मूर्ति हुई पाकर जिसे,
उसे छोड़ पाषाण, भला भावे किसे!

(साकेत, पञ्चम सर्ग)

गुरु वसिष्ठने दशरथकी जलती चिता देखकर लोगोंको समझाया कि 'मानव-जीवन क्षण-भङ्गुर है; हमें अपने जीवनमें सत्य, शिव और सुन्दरकी स्थापना करनी चाहिये। राम ही परम सत्य हैं, उनका ही नाम सत्य है—

सत्य है स्वयं ही शिव, राम सत्य-सुन्दर हैं,
सत्य-काम, सत्य और राम-नाम सत्य है।

(साकेत, सप्तम सर्ग)

मैथिलीशरण गुप्तने संजीवनी-ओषधि लेकर अयोध्याके सीमान्त-प्रदेशसे निकलनेवाले हनुमान्‌के मुखसे, जो भरतके बाणसे विद्ध होकर 'हा लक्ष्मण ! हा सीते !' कहकर क्षण-मात्रके लिये भूमिपर आ गये थे, सीताहरण-प्रसङ्गसे लेकर लक्ष्मणकी मूर्च्छाके प्रसङ्गतकके निरूपणमें भगवान् रामके चरित्रका बड़ा मनोरम वर्णन कराया है तथा उसके बादके रावण-वध और लङ्का-विजयके प्रसङ्गका महर्षि वसिष्ठद्वारा वर्णन प्रस्तुत किया है। इस तरह उन्होंने 'साकेत' महाकाव्यमें भगवान् रामके पवित्र चिन्तनसे अपनी भगवद्भक्तिकी पुष्टि की है। हनुमान्‌जीने अपनेद्वारा निरूपित चरित्रके अन्तमें भरतको समझाते हुए सत्य-विग्रह श्रीरामकी शक्तिके विवेचनमें कहा है—

मायावी रावण प्रसिद्ध है, किंतु सत्य-विग्रह श्रीराम।
चिन्ता करें न आप चित्तमें, निश्चित ही है शुभ परिणाम॥

(साकेत, एकादश सर्ग)

अयोध्या लौटनेपर रामने भरतके त्यागकी सराहनामें उनसे मिलते समय जो भाव व्यक्त किया, उसमें कविने भगवान्‌की भक्तवत्सलताका परिचय कराया है—

उठ, भाई! तुल सका न तुझसे, राम खड़ा है।
तेरा पलड़ा बड़ा, भूमिपर आज पड़ा है॥

(साकेत, द्वादश सर्ग)

मैथिलीशरण गुप्तका 'साकेत' और 'पञ्चवटी'में रामचरितका चिन्तन उनकी भगवद्भक्तिकी देन है।

परम पूज्य ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी लिखी हुई ८६ पुस्तकें

पुस्तकका नाम	मूल्य
श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्व-विवेचनी	४.००
भक्तियोगका तत्त्व	१.२५
आत्मोद्धारके साधन	१.२५
कर्मयोगका तत्त्व	१.१२
महत्त्वपूर्ण शिक्षा	१.००
,, सजिल्द	१.३७
परम साधन	१.००
,, सजिल्द	१.३७
मनुष्य-जीवनकी सफलता	१.००
,, सजिल्द	१.३७
मनुष्यका परम कर्तव्य	१.००
परमशान्तिका मार्ग	१.००
,, सजिल्द	१.३७
ज्ञानयोगका तत्त्व	१.००
,, सजिल्द	१.३७
प्रेमयोगका तत्त्व	१.००
,, सजिल्द	१.३७
आत्मोद्धारके सरल उपाय	.७५
तत्त्व-चिन्तामणि बड़ा	
भाग १	.६२
भाग २	.८७
भाग ३	.७०
भाग ४	.८१
भाग ५	.८१
भाग ६	१.००
भाग ७	१.१२
तत्त्व-चिन्तामणि गुटका	
भाग १ सजिल्द	.५०
,, २ सजिल्द	.५६
,, ३ सजिल्द	.५०
,, ४ सजिल्द	.६२
,, ५ सजिल्द	.५६
परमार्थ-पत्रावली	
,, भाग १	.२५
,, भाग २	.२५
,, भाग ३	.५०
,, भाग ४	.५०

पुस्तकका नाम	मूल्य
अध्यात्मविषयक पत्र	.५०
शिक्षाप्रद पत्र	.५०
स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा	.३७
रामायणके कुछ आदर्श पात्र	.३७
बालकोंके कर्तव्य	.३०
महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	.२५
शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	.२५
आदर्श भ्रातृ-प्रेम	.२०
ध्यान और मानसिक पूजा	.२०
ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री	.२०
आदर्श नारी सुशीला	.२०
गीता-निबन्धावली	.१६
नवधा भक्ति	.१२
श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति	.१२
बाल-शिक्षा	.१२
भारतीय संस्कृति एवं शास्त्रोंमें नारीधर्म	.१५
तीन आदर्श देवियाँ	.१२
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	.१०
नारीधर्म	.१०
गीता पढ़नेके लाभ	.१०
श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा	.०८
श्रीप्रेम-भक्ति-प्रकाश	.०६
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय	.०६
सामयिक चेतावनी	.०६
श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन	.०६
गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगका रहस्य	.०५
संत-महिमा	.०५
वैराग्य	.०५
भगवान् क्या हैं ?	.०३
भगवान्की दया	.०३

पुस्तकका नाम	मूल्य
सत्सङ्गकी कुछ सार बातें	.०३
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग	.०३
सत्यकी शरणसे मुक्ति	.०३
भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	.०३
व्यापार-सुधारकी आवश्यकता	.०३
स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग	.०३
परलोक और पुनर्जन्म	.०३
ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन	.०३
अवतारका सिद्धान्त	.०३
चतुःश्लोकी भागवत, सटीक	.०३
धर्म क्या है ?	.०२
तीर्थोंमें पालन करनेयोग्य कुछ उपयोगी बातें	.०२
महात्मा किसे कहते हैं ?	.०२
ईश्वर दयालु और न्यायकारी है	.०२
प्रेमका सच्चा स्वरूप	.०२
हमारा कर्तव्य	.०२
ईश्वर-साक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है	.०२
त्यागसे भगवत्प्राप्ति	.०२
चेतावनी	.०२
कल्याण-प्राप्तिकी कई युक्तियाँ	.०२
शोकनाशके उपाय	.०२
श्रीमद्भगवद्गीताका प्रभाव	.०२
गजल गीता	.०१
English Commentary on Śrimad Bhagavad-Gita	8.00
Gems of Truth Part I	.75
,, ,, Part II	.75
What is God?	.12
What is Dharma?	.05

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीराम-साहित्यकी ४५ पुस्तकें

१—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सटीक (दो खण्डोंमें)	२०.००
२— ,, ,, केवल भाषा	१३.००
३—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (केवल मूल)	९.००
४—श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड मूल	१.००
५— ,, ,, गुटका	१.२५
६—अध्यात्मरामायण	४.००
७—श्रीरामचरितमानस मोटा टाइप सटीक, बृहदाकार	१८.००
८— ,, केवल मूल बृहदाकार	११.००
९—श्रीरामचरितमानस मोटा टाइप सटीक	८.५०
१०—श्रीरामचरितमानस मझला सटीक	४.००
११—श्रीरामचरितमानस मोटा टाइप केवल मूल पाठ	५.००
१२—श्रीरामचरितमानस पाठभेदसहित केवल मूल मोटा टाइप	३.७५
१३—श्रीरामचरितमानस मूल मझला	२.००
१४—श्रीरामचरितमानस (मूल गुटका)	.९०
१५—श्रीरामचरितमानस बालकाण्ड सटीक	१.२५
१६— ,, अयोध्याकाण्ड सटीक	.९०
१७— ,, अरण्यकाण्ड मूल	.२०
१८— ,, ,, सटीक	.३०
१९— ,, किष्किन्धाकाण्ड सटीक	.१५
२०— ,, सुन्दरकाण्ड सटीक	.३०
२१— ,, लङ्काकाण्ड सटीक	.६०
२२—श्रीरामचरितमानस उत्तरकाण्ड सटीक	.६०
२३—मानस-रहस्य	१.५०
,, सजिल्द	१.९०
२४—मानस-शङ्का-समाधान	.६०
२५—विनय-पत्रिका सटीक	१.२५
,, सजिल्द	१.६५
२६—गीतावली सटीक	१.२५
,, सजिल्द	१.६५
२७—कवितावली सटीक	.६५
२८—दोहावली सटीक	.६०
२९—रामाज्ञा-प्रश्न	.४५
३०—श्रीकृष्ण-गीतावली सटीक	.३५
३१—जानकी-मंगल सटीक	.२५
३२—पार्वती-मंगल सटीक	.१५
३३—वैराग्य-संदीपनी सटीक	.१५
३४—बरवै रामायण सटीक	.१५
३५—सूर-रामचरितावली सटीक	.८५
,, सजिल्द	१.२५
३६—भगवान राम भाग १	.३०
३७— ,, ,, भाग २	.३०
३८—बाल-चित्र-रामायण १	.३०
३९— ,, ,, भाग २	.३०
४०—आदर्श भ्रातृ-प्रेम	.२०
४१—श्रीरामसहस्रनामस्तोत्र सटीक	.१८
४२—श्रीरामसहस्रनामस्तोत्र (मूलमात्र)	.१२
४३—मूलरामायण सटीक	.१०
४४—श्रीरामगीता	.०७
४५—मानस-पीयूष (श्रीरामचरितमानसकी विस्तृत व्याख्या) सात खण्डोंमें	८१.००

विशेष जानकारीके लिये सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वर्ष ४६]   * श्रीरामाङ्क—२ *   [अङ्क २

संस्करण १,६५,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, मार्च १९७२

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भक्तोंके परमाराध्य श्रीसीताराम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, मार्च १९७२ { संख्या ३
पूर्ण संख्या ५४४

चरण-सेवाकी प्रार्थना

त्वां तु दयालुमकिंचनवत्सलमुत्पलहारमपारमुदारं
राम विहाय कमन्यमनामयमीश जनं शरणं ननु यायाम् ।
त्वत्पदपद्ममतः श्रितमेव मुदा खलु देव सदाव ससीत
त्वां भजतो रघुनन्दन देहि दयाघन मे स्वपदाम्बुजदास्यम् ॥

(श्रीसीतारामाष्टक)

हे मेरे स्वामी राम ! गलेमें कमलपुष्पोंकी माला धारण करनेवाले आप-सदृश अतिशय उदार, दीनवत्सल और दयामय प्रभुको छोड़कर मैं और किस अनामय पुरुषकी शरण लूँ । अतः मैंने तो आपके ही चरण-कमलोंका आसरा लिया है । हे सीताजीके सहित राम ! आप प्रसन्न होकर मेरी सर्वदा रक्षा कीजिये और हे दयामय रघुनन्दन ! आपका भजन करनेवाले मुझको आपके चरण-कमलोंकी दासता दीजिये ।

श्रीराममङ्गलाशासन

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाब्धये । चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ १ ॥
वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये । पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ २ ॥
विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः । भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ३ ॥
पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया । नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ४ ॥
त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे । सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ ५ ॥
सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे । संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ६ ॥
दण्डकारण्यवासाय खरदूषणशत्रवे । गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायास्तु मङ्गलम् ॥ ७ ॥
सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे । सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिक्ताय मङ्गलम् ॥ ८ ॥
हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायिने । वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ ९ ॥
श्रीमते रघुवीराय सेतूल्लङ्घितसिन्धवे । जितराक्षसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १० ॥
विभीषणकृते प्रीत्या लङ्काभीष्टप्रदायिने । सर्वलोकशरण्याय श्रीराघवाय मङ्गलम् ॥ ११ ॥
आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया । राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १२ ॥
ब्रह्मादिदेवसेव्याय ब्रह्मण्याय महात्मने । जानकीप्राणनाथाय रघुनाथाय मङ्गलम् ॥ १३ ॥
श्रीसौम्यजामातृमुनेः कृपयास्मानुपेयुषे । महते मम नाथाय रघुनाथाय मङ्गलम् ॥ १४ ॥
मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः । सर्वैश्च पूर्वैराचार्यैः सत्कृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १५ ॥
रम्यं जामातृमुनिना मङ्गलाशासनं कृतम् । त्रैलोक्याधिपतिः श्रीमान् करोतु मङ्गलं सदा ॥ १६ ॥

(श्रीवरवरमुनिस्वामिकृत)

प्रशंसनीय गुणोंके सागर कोसलेन्द्र श्रीरामचन्द्रका मङ्गल हो, चक्रवर्ती राजा दशरथके पुत्र अखिलमण्डलेश्वर श्रीरामचन्द्रका मङ्गल हो। जिनका स्वरूप वेदों एवं उपनिषदोंद्वारा जाननेयोग्य है, जो मेघके समान श्याम मूर्तिवाले हैं, जिनका स्वरूप पुरुषोंको भी मोहित करनेवाला है, उन पुण्यश्लोक (पवित्र यशवाले) श्रीरामचन्द्रका मङ्गल हो। जो विश्वामित्र ऋषिके प्रिय और राजा जनकके भाग्योंके फलरूप हैं, उन भव्य रूपवाले श्रीरामचन्द्रका मङ्गल हो। जो सदा पिताकी भक्ति करनेवाले हैं और जिन्होंने अपने भ्राताओं और सीताजीके साथ रहते हुए समस्त लोकोंको आनन्दित किया है, उन श्रीरामभद्रका मङ्गल हो। जिन्होंने अयोध्याका निवास छोड़कर चित्रकूटपर विहार किया और जो सभी मुनियोंके सेव्य हैं, उन धीरोदार श्रीरामभद्रका मङ्गल हो। लक्ष्मण तथा जानकीजी सदा भक्तिपूर्वक जिनकी सेवा करते हैं तथा जो धनुष-बाण और तलवारको धारण किये रहते हैं, उन मेरे स्वामी श्रीरामभद्रका मङ्गल हो। जिन्होंने दण्डकवनमें निवास किया, जो खर-दूषणके शत्रु हैं और अपने भक्त गृध्रराजको मुक्ति देनेवाले हैं, उन श्रीरामभद्रका मङ्गल हो। जो आदरसहित शबरीके भी दिये हुए फल-मूलके अभिलाषी हुए, जो सुलभतासे पूर्ण (अर्थात् थोड़े ही परिश्रमसे प्राप्य) हैं और जिनमें सत्त्वगुणका आधिक्य है, उन श्रीरामभद्रका मङ्गल हो। जो हनुमान्‌से युक्त हैं तथा जो वालीका वध करके कपीश्वर (सुग्रीव) की अभीष्ट-पूर्ति करनेवाले हैं, उन महाधीर श्रीरामभद्रका मङ्गल हो। जो सेतु बाँधकर समुद्रको लाँघ गये और जिन्होंने राक्षसराज रावणपर विजय पायी, उन रणधीर श्रीमान् रघुवीरका मङ्गल हो। जिन्होंने प्रसन्न होकर विभीषणको लङ्काके रूपमें अभीष्टका दान किया और जो सब लोकोंको शरण देनेमें समर्थ हैं, उन श्रीराघव रामभद्रका मङ्गल हो। वनसे अपनी दिव्य नगरी अयोध्यामें लौट आनेपर जिनका सीताजीके सहित राज्याभिषेक हुआ, उन महाराजाओंके राजा श्रीरामभद्रका मङ्गल हो। जो ब्रह्मा आदि देवताओंके भी सेव्य हैं, ब्रह्मण्य (ब्राह्मणों और वेदोंकी रक्षा करनेवाले) हैं, श्रीजानकीजीके प्राणनाथ हैं, उन रघुकुलके नाथ श्रीरामभद्रका मङ्गल हो। जो श्रीसम्पन्न सुन्दर आकारवाले जामाता मुनि (ऋष्यशृङ्ग) की कृपासे हमलोगोंको प्राप्त हुए हैं, उन मेरे महान् प्रभु रघुनाथजीका मङ्गल हो। मेरे आचार्य जिनमें मुख्य हैं, उन अर्वाचीन आचार्यों तथा सम्पूर्ण प्राचीन आचार्योंने मङ्गलाशासनमें परायण होकर जिनका सत्कार किया है, उन श्रीरामभद्रका मङ्गल हो। जामातामुनि (ऋष्यशृङ्ग) ने इस सुन्दर मङ्गलाशासनका निर्माण किया है। इससे प्रसन्न होकर तीनों लोकोंके पति श्रीमान् रामभद्र सदा ही हम सबका मङ्गल करें।

श्रीरामप्रेमाष्टक

श्यामाम्बुदाभमरविन्दविशालनेत्रं बन्धूकपुष्पसदृशाधरपाणिपादम् ।
सीतासहायमुदितं धृतचापबाणं रामं नमामि शिरसा रमणीयवेषम् ॥ १ ॥
पटुजलधरधीरध्वानमादाय चापं पवनदमनमेकं बाणमाकृष्य तूणात् ।
अभयवचनदायी सानुजः सर्वतो मे रणहतदनुजेन्द्रो रामचन्द्रः सहायः ॥ २ ॥
दशरथकुलदीपोऽमेयबाहुप्रतापो दशवदनसकोपः क्षालिताशेषपापः ।
कृतसुररिपुतापो नन्दितानेकभूपो विगततिमिरपङ्को रामचन्द्रः सहायः ॥ ३ ॥
कुवलयदलनीलः कामितार्थप्रदो मे कृतमुनिजनरक्षो रक्षसामेकहन्ता ।
अपहृतदुरितोऽसौ नाममात्रेण पुंसामखिलसुरनृपेन्द्रो रामचन्द्रः सहायः ॥ ४ ॥
असुरकुलकृशानुर्मानसाम्भोजभानुः सुरनरनिकराणामग्रणीर्मे रघूणाम् ।
अगणितगुणसीमा नीलमेघौघधामा शमदमितमुनीन्द्रो रामचन्द्रः सहायः ॥ ५ ॥
कुशिकतनययागं रक्षिता लक्ष्मणाढ्यः पवनशरनिकायक्षिप्तमारीचमायः ।
विदलितहरचापो मेदिनीनन्दनाया नयनकुमुदचन्द्रो रामचन्द्रः सहायः ॥ ६ ॥
पवनतनयहस्तन्यस्तपादाम्बुजात्मा कलशभववचोभिः प्राप्तमाहेन्द्रधन्वा ।
अपरिमितशरौघैः पूर्णतूणीरधीरो लघुनिहतकपीन्द्रो रामचन्द्रः सहायः ॥ ७ ॥
कनकविमलकान्त्या सीतयालिङ्गिताङ्गो मुनिमनुजवरेण्यः सर्ववागीशवन्द्यः ।
स्वजननिकरबन्धुर्लीलया बद्धसेतुः सुरमनुजकपीन्द्रो रामचन्द्रः सहायः ॥ ८ ॥
यामुनाचार्यकृतं दिव्यं रामाष्टकमिदं शुभम् । यः पठेत् प्रयतो भूत्वा स श्रीरामान्तिकं व्रजेत् ॥ ९ ॥

(श्रीयामुनाचार्यकृत)

जो नील मेघके समान श्यामवर्ण हैं, जिनके कमलके समान विशाल नेत्र हैं, जो बन्धूक (दुपहरियाके) पुष्पके समान लाल-लाल ओठ, हथेली और तलवोंसे सुशोभित हैं; जो सीताजीके साथ विराजमान एवं अभ्युदयशील हैं, जो धनुष-बाणको धारण किये रहते हैं, जिनका वेष बड़ा ही सुन्दर है, उन श्रीरामको मैं सिरसे नमस्कार करता हूँ । जो प्रौढ़ मेघके समान धीर-गम्भीर टंकार-ध्वनि करनेवाले धनुषको धारणकर और अपने वेगसे वायुका भी मान-मर्दन करनेवाले एक बाणको तरकससे खींचकर 'मत डरो' यों कहते हुए अपने आश्रितोंको आश्वासन देनेवाले हैं तथा जिन्होंने रणमें दानवराज (रावण) का वध किया, लक्ष्मणके सहित वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सब प्रकार सहायक हैं । जो राजा दशरथके वंशके दीपक (प्रकाशक) हैं, जिनके बाहुबलका प्रताप मापा नहीं जा सकता, जो रावणपर कोप करनेवाले, समस्त पापोंका प्रक्षालन करनेवाले, देवताओंके वैरियोंको ताप देनेवाले और अनेक राजाओंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, अज्ञान और पापसे रहित वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं । जो नील कमल-पत्रके समान वर्णवाले, मेरी अभीष्ट वस्तुओंके दाता, मुनिजनोंकी रक्षा करनेवाले और राक्षसोंके एकमात्र नाशक हैं; जो (अपने) नामके उच्चारणमात्रसे ही पुरुषोंके पापका हरण करनेवाले हैं, समस्त देवताओंके राजराजेश्वर वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं । जो असुरकुल (को भस्म करने)के लिये अग्नि हैं, देवता और मनुष्योंके समूहोंके हृदय-कमलको विकसित करनेवाले सूर्य हैं, असंख्य गुणोंकी सीमा हैं, नील-मेघ-मण्डलीके समान जिनका श्याम शरीर है और जो शम (मनोनिग्रह) में मुनीश्वरोंको भी जीतनेवाले हैं, वे रघुकुलके अग्रणी श्रीराम-चन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं । जिन्होंने लक्ष्मणको साथ लेकर विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षा की और वायुवेगवाले बाणोंके समूहसे मारीच निशाचरकी मायाका नाश किया, जो शिवजीके धनुषका भञ्जन करनेवाले तथा पृथ्वीकी पुत्री (सीता) के नयन-कुमुदको विकसित करनेके लिये चन्द्रमाके समान हैं, वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं । जो हनुमान्‌जीके हाथोंपर अपने चरण-कमलोंको रखे हुए हैं, जिन्होंने अगस्त्य ऋषिके कहनेसे इन्द्रद्वारा प्रदत्त धनुषको

स्वीकार किया, जिनका तूणीर (तरकस) असंख्य वाणोंसे परिपूर्ण है, जो रणधीर हैं और जिन्होंने अति शीघ्रतासे वानरराज वालीको मार गिराया, वे श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं । जो सुवर्णके समान निर्मल गौर कान्तिवाली सीताके साथ जुड़े रहते हैं, ऋषियों और मनुष्योंने भी जिन्हें श्रेष्ठ एवं आदरणीय माना है, जो सम्पूर्ण वागीश्वरोंके वन्दनीय तथा अपने भक्त-समुदायकी बन्धुके समान रक्षा करनेवाले हैं, जिन्होंने लीलासे ही समुद्रपर पुल बाँध दिया था, वे देवता, मनुष्य तथा वानरोंके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी ही मेरे सहायक हैं ।

जो पुरुष यामुनाचार्यद्वारा रचित इस दिव्य तथा कल्याणदायक श्रीरामप्रेमाष्टकस्तोत्रका शुद्धभावसे पाठ करता है, वह श्रीरामचन्द्रजीका सामीप्य प्राप्त करता है ।

श्रीरामनवमी-व्रत-विधि एवं पूजन-विधि

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मीनारायणजी शुक्ल, न्यायवागीश, भट्टाचार्य)

चैत्रशुक्ला नवमीको 'रामनवमी'का व्रत होता है । यह व्रत मध्याह्नव्यापिनी दशमीविद्धा नवमीको करना चाहिये । अगस्त्यसंहितामें कहा गया है कि यदि चैत्रशुक्ला नवमी पुनर्वसु नक्षत्रसे युक्त हो और वही मध्याह्नके समय रहे तो महान् पुण्यदायिनी होती है । अष्टमीविद्धा नवमी विष्णुभक्तोंको छोड़ देनी चाहिये । वे नवमीमें व्रत तथा दशमीमें पारणा करें । चैत्रमासकी नवमीके दिन स्वयं श्रीहरिका रामावतार हुआ । वह पुनर्वसु नक्षत्रसे संयुक्त नवमी तिथि सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है । जो रामनवमीका व्रत करता है, उसके अनेकजन्मार्जित पापोंकी राशि भस्मीभूत हो जाती है और उसे भगवान् विष्णुका परमपद प्राप्त होता है । श्रीरामनवमी-व्रतसे भुक्ति एवं मुक्ति दोनोंकी ही सिद्धि होती है । इस उत्तम व्रतको करके वह सर्वत्र पूज्य होता है ।

श्रीरामनवमीके दिन प्रातःकाल नित्यकर्मसे निवृत्त होकर अपने घरके उत्तर भागमें एक सुन्दर मण्डप बना ले । मण्डपके पूर्वद्वारपर शङ्ख, चक्र तथा श्रीहनुमान्‌जीकी स्थापना करे (अर्थात् चित्र बना ले); दक्षिण द्वारपर वाण, शार्ङ्गधनुष तथा श्रीगरुडजीकी, पश्चिमद्वारपर गदा, खड्ग और श्रीअङ्गदजीकी तथा उत्तरद्वारपर पद्म, स्वस्तिक तथा श्रीनील-जीकी स्थापना करे । बीचमें चार हाथके विस्तारकी वेदिका होनी चाहिये, जिसमें सुन्दर वितान एवं सुन्दर तोरण लगे हों ।

इस प्रकार तैयार किये गये मण्डपके मध्यमें परिकरों-सहित भगवान् श्रीसीतारामको प्रतिष्ठित करनेकी मुख्यतया दो विधियाँ हैं । प्रथम विधि यह है कि मण्डपके मध्यमें अष्टदल-कमल बनाकर केन्द्रमें श्रीसीताराम एवं लक्ष्मणजीको स्थापित करे ।

केन्द्रके पूर्वस्थित दलमें श्रीदशरथजी, दक्षिण-पूर्वके दलमें श्रीकौसल्याम्बा, दक्षिण दलमें श्रीकैकेयी अम्बा, दक्षिण-पश्चिमके दलमें श्रीसुमित्राम्बा, पश्चिम दलमें श्रीभरतजी, पश्चिमोत्तर दलमें श्रीशत्रुघ्नजी, उत्तर दलमें श्रीसुग्रीवजी तथा पूर्वोत्तर दलमें श्रीहनुमान्‌जीको स्थापित करे । दूसरी विधि यह है कि श्रीसीता-राम-लक्ष्मणकी मूर्तियाँ या चित्रपट बीचमें स्थापित करके श्रीदशरथजी, श्रीकौसल्याजी, श्रीकैकेयीजी तथा श्रीसुमित्राजीको एक ओर और श्रीभरतजी, श्रीशत्रुघ्नजी, श्रीसुग्रीवजी तथा श्रीहनुमान्‌जीको दूसरी ओर स्थापित करे । यदि इन अष्ट परिकरोंकी मूर्तियाँ या चित्र न मिलें तो उन्हें भावनाद्वारा स्थापित किया जा सकता है । इस प्रकार इन सबको स्थापित करके श्रीरामनवमी-व्रतके दिन श्रीसीताराम-पूजनका प्रारम्भ करे । पूजन-आरम्भके पूर्व संकल्प करना आवश्यक है । हाथमें जल, अक्षत और फूल लेकर निम्नाङ्कित संकल्प करे—

ॐ तत्सदद्य श्रीब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे कलियुगे प्रथमचरणे (अमुक) संवत्सरे (अमुक) मासे (अमुक) पक्षे (अमुक) तिथौ (अमुक) वासरे (अमुक) नामाहं मम सकलपापक्षय-कामः सकलाभीष्टसिद्ध्यर्थं श्रीसीतारामप्रीत्यर्थं च श्रीराम-नवमीव्रतं करिष्ये । तदङ्गत्वेन परिकरसहितं श्रीसीताराम-पूजनं च करिष्ये ।

फिर फल, पुष्प, अक्षत, जलसे भरे पात्रको हाथमें लेकर कहे—

उपोष्य नवमीं त्वद्य यामेष्वष्टसु राघव ।
तेन प्रीतो भव त्वं भोः संसारात् त्राहि मां हरे ॥

'हे राघव ! आज इस नवमीको मैं आठ पहरका उपवास करूँगा । उससे आप परम प्रसन्न हो जाइये । हे हरे ! संसारसे मेरी रक्षा कीजिये ।' यों कहकर पात्रके फल-पुष्प-अक्षतसहित जलको छोड़ दे ।

फिर श्रीगणेश-गौरीका संक्षिप्त पूजन करके तथा कलशकी स्थापना करके साधक मण्डपमें स्थापित मूर्ति (अथवा चित्र) के कपोल-भागका स्पर्श करता हुआ श्रीराममन्त्र (**ॐ परिकर-सहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय नमः**)का उच्चारण करे, जिससे मूर्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा हो जाय । तदुपरान्त भगवान् श्रीरामचतुष्टयका यों ध्यान करना चाहिये—

वामे भागे जनकतनया राजते यस्य नित्यं
भ्रातृप्रेमप्रवणहृदयो लक्ष्मणो दक्षिणे च ।
पादाम्भोजे पवनतनयः श्रीमुखे बद्धनेत्रः
साक्षाद् ब्रह्म प्रणतवरदं रामचन्द्रं भजे तम् ॥

'जिनके वाम भागमें श्रीजानकीजी नित्य विराजित हैं, दायें भागमें भ्रातृ-प्रेमसे सने हुए हृदयवाले श्रीलक्ष्मणजी सुशोभित हैं और जिनके चरणकमलोंके पास पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जी श्रीमुखकी ओर एकटक दृष्टि लगाये बैठे हैं, उन मूर्तिमान् ब्रह्म भक्तवरदायक रघुनायक श्रीरामचन्द्रकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।'

(१) आवाहन-स्थापन-सांनिध्य—

आवाहयामि विश्वेशं जानकीवल्लभं प्रभुम् ।
कौसल्यातनयं विष्णुं श्रीरामं प्रकृतेः परम् ॥
श्रीरामागच्छ भगवन् रघुवीर नृपोत्तम ।
जानक्या सह राजेन्द्र सुस्थिरो भव सर्वदा ॥
रामभद्र महेष्वास रावणान्तक राघव ।
यावत्पूजां करोम्यद्य तावत्त्वं संनिधौ भव ॥
रघुनायक राजर्षे नमो राजीवलोचन ।
रघुनन्दन मे देव श्रीरामाभिमुखो भव ॥

ॐ परिकरसहितं श्रीसीतारामचन्द्रमावाहयामि स्थापयामि च ।

'जो साक्षात् विष्णु हैं, प्रकृतिसे परे हैं, विश्वके स्वामी हैं, श्रीजनकसुताके परमप्रिय हैं और श्रीकौसल्याम्बाके पुत्र हैं, उन प्रभु श्रीरामजीका मैं आवाहन करता हूँ । हे राजेन्द्र श्रीराम ! हे नृपश्रेष्ठ श्रीरघुवीर ! हे भगवन् ! आप श्रीजानकीजीके साथ पधारें एवं यहाँ सर्वदा वास करें । हे विशाल धनुषधारी श्रीरामभद्र ! हे रावणारि श्रीराघव ! जबतक मेरे-द्वारा पूजा हो रही है, तबतक आप अपना सांनिध्य प्रदान करें । हे कमलनयन राजर्षि रघुकुलनायक ! आपको नमस्कार है । हे मेरे आराध्य रघुनन्दन श्रीराम ! आप मेरे सम्मुख होनेकी कृपा करें ।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर यह भावना करे कि 'मैं मण्डपके मध्य परिकरसहित भगवान् श्रीसीतारामजीका आवाहन करके उन्हें स्थापित कर रहा हूँ ।'

(२) आसन—

राजाधिराज राजेन्द्र रामचन्द्र महीपते ।
रत्नसिंहासनं तुभ्यं दास्यामि स्वीकुरु प्रभो ॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय इदमासनं समर्पयामि ।

'हे राजाधिराज राजेन्द्र ! हे पृथ्वीपते श्रीरामचन्द्र ! मैं आपको रत्नसिंहासन प्रदान करता हूँ । हे प्रभो ! आप इसे स्वीकार करें ।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर आसनके निमित्त पुष्प अर्पित करते हुए यह भावना करे कि मण्डपके मध्यमें भगवान् सीतारामजी रत्नसिंहासनपर तथा उनके सभी परिकर अपने-अपने आसनपर विराजित हो रहे हैं ।

(३) पाद्य—

त्रैलोक्यपावनानन्त नमस्ते रघुनायक ।
पाद्यं गृहाण राजर्षे नमो राजीवलोचन ॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय पाद्यं समर्पयामि ।

'तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले अनन्त रघुनायक ! आपको नमस्कार है । हे राजर्षे ! हे कमलनयन ! आपको पुनः नमस्कार है । आप यह पाद्य ग्रहण करें ।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर जल अर्पित करते हुए यह भावना करे कि रत्नसिंहासनपर आसीन भगवान् श्रीसीतारामजीके श्रीचरणोंको एवं तदनन्तर उनके परिकरोंके चरणोंको भी मैं सुगन्धित जलसे धो रहा हूँ ।

(४) अर्घ्य—

सभीको अलग-अलग अर्घ्य प्रदान करनेका विधान है, अतः जिस-जिस मन्त्रसे जिन-जिनको अर्घ्य दिया जाना चाहिये—इसका विवरण दिया जा रहा है । जिस प्रकार भगवान् श्रीरामके लिये अर्घ्य प्रदान किया जाय, उसी प्रकार अन्योंको भी प्रदान करना चाहिये ।

(क) भगवान् श्रीरामके लिये—

दशग्रीवविनाशाय जातोऽसि रघुनन्दन।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं प्रसीद परमेश्वर॥
ॐ श्रीरामचन्द्राय अर्घ्यं समर्पयामि।

'हे रघुनन्दन! दशकण्ठ रावणका विनाश करनेके लिये ही आपका प्रादुर्भाव हुआ है। हे परमेश्वर! आप मुझपर प्रसन्न हों तथा मेरेद्वारा प्रदत्त अर्घ्यको स्वीकार करें।'

शङ्ख या किसी पात्रमें फल-पुष्प-तुलसीसहित जल लेकर उपर्युक्त श्लोकका पाठ करते हुए श्रीरामजीको अर्घ्य देना चाहिये।

(ख) भगवती सीताके प्रति—

दशग्रीवविनाशाय जाता सावनिसम्भवा।
मैथिली शीलसम्पन्ना पातु नः पतिदेवता॥
ॐ श्रीसीतादेव्यै अर्घ्यं समर्पयामि।

'जो पृथ्वीसे प्रकट हुई हैं, रावणका विनाश ही जिनके प्राकट्यका हेतु है, वे पतिपरायणा शीलसम्पन्ना मिथिलेश-नन्दिनी सीता हमलोगोंकी रक्षा करें।'

(ग) श्रीलक्ष्मणजीके प्रति—

निहतो रावणिर्येन शत्रुजिच्छत्रुघातिना।
स पातु लक्ष्मणो धन्वी सुमित्रानन्दवर्द्धनः॥
ॐ श्रीलक्ष्मणाय अर्घ्यं समर्पयामि।

'जिन्होंने शत्रुओंको मारकर उनपर विजय प्राप्त की है, जिनके द्वारा रावणपुत्र मेघनादका वध हुआ, सुमित्राके आनन्द-को बढ़ानेवाले वे धनुर्धारी श्रीलक्ष्मणजी रक्षा करें।'

(घ) श्रीदशरथजीके प्रति—

नानाविधगुणागार गृहाणार्घ्यं नृपोत्तम।
रविवंशप्रदीपाय दशरथाय ते नमः॥
ॐ श्रीदशरथाय अर्घ्यं समर्पयामि।

'रघुकुलदीपक श्रीदशरथजीको नमस्कार है। हे नाना गुणोंके सदन नृपश्रेष्ठ! आप इस अर्घ्यको स्वीकार करें।'

(ङ) श्रीकौसल्याम्बाके प्रति—

गृहाणार्घ्यं महादेवि रम्ये दशरथप्रिये।
जगदानन्दवन्द्यायै कौसल्यायै नमो नमः॥
ॐ श्रीकौसल्यादेव्यै अर्घ्यं समर्पयामि।

'जगत्के आनन्द देनेवाले भगवान् श्रीरामके द्वारा वन्दनीय माँ कौसल्याको बारंबार प्रणाम है। हे दशरथप्रिये सुन्दरी महादेवि! आप इस अर्घ्यको ग्रहण करें।'

(च) श्रीकैकेयी अम्बाके प्रति—

दृढप्रतिज्ञे कैकेयि मातर्भरतवन्दिते।
गृहाणार्घ्यं महादेवि रक्ष मां भक्तवत्सले॥
ॐ श्रीकैकेयीदेव्यै अर्घ्यं समर्पयामि।

'श्रीभरतजीद्वारा वन्दनीय, दृढ़प्रतिज्ञावाली, भक्तवत्सला, महादेवी माँ कैकेयि! आप इस अर्घ्यको ग्रहण करें एवं मेरी रक्षा करें।'

(छ) श्रीसुमित्राम्बाके प्रति—

शुभलंक्षणसम्पन्ने लक्ष्मणानन्दवर्द्धिनि।
सुमित्रं देहि मे देवि सुमित्रायै नमो नमः॥
ॐ श्रीसुमित्रादेव्यै अर्घ्यं समर्पयामि।

'शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न तथा श्रीलक्ष्मणजीके आनन्दको बढ़ानेवाली देवि! आप मुझे अच्छे मित्र प्रदान करें; आपको बारंबार नमस्कार है।'

(ज) श्रीभरतजीके प्रति—

भक्तवत्सल भव्यात्मन् रामभक्तिपरायण।
भक्त्या दत्तं गृहाणार्घ्यं भरताय नमो नमः॥
ॐ श्रीभरताय अर्घ्यं समर्पयामि।

'हे भक्तवत्सल, पवित्रात्मा, रामभक्तिपरायण श्रीभरतजी! आप भक्तिपूर्वक दिये हुए इस अर्घ्यको स्वीकार करें, आपके लिये बारंबार नमस्कार है।'

(झ) श्रीशत्रुघ्नजीके प्रति—

लवणान्तक शत्रुघ्न शत्रुकाननपावक।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं प्रसीद कुरु मे शुभम्॥
ॐ श्रीशत्रुघ्नाय अर्घ्यं समर्पयामि।

'हे लवणासुरको मारनेवाले तथा शत्रुवनके लिये अग्नि-स्वरूप शत्रुघ्नजी! आप मेरेद्वारा प्रदत्त इस अर्घ्यको स्वीकार करें, मुझपर प्रसन्न हों तथा मेरा मङ्गल करें।'

(ञ) श्रीसुग्रीवजीके प्रति—

सुग्रीवाय नमस्तुभ्यं दशग्रीवान्तकप्रिय।
गृहाणार्घ्यं महाबाहो किष्किन्धानायक प्रभो॥

ॐ श्रीसुग्रीवाय अर्घ्यं समर्पयामि ।

'रावणको मारनेवाले श्रीरामके प्रिय सखा, विशाल भुजावाले, किष्किन्धाके स्वामी सुग्रीवजी ! आप इस अर्घ्यको स्वीकार करें । प्रभो ! आपके लिये प्रणाम है ।'

(ट) श्रीहनुमान्‌जीके प्रति—

कूर्मकुम्भीरसंकीर्णमुत्तीर्णोऽसि महार्णवम् ।
हनूमते नमस्तुभ्यं गृहाणार्घ्यं महामते ॥

ॐ श्रीहनुमते अर्घ्यं समर्पयामि ।

'कछुए, मगर आदिसे परिव्याप्त महासमुद्रको लाँघनेवाले, महाबुद्धिशाली श्रीहनुमान्‌जी ! आपके लिये नमस्कार है । आप इस अर्घ्यको स्वीकार करें ।'

(५) आचमन—

नमः सत्याय शुद्धाय नित्याय ज्ञानरूपिणे ।
गृहाणाचमनं नाथ सर्वलोकैकनायक ॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय आचमनीयं समर्पयामि ।

'नाथ ! आप नित्य-शुद्ध-सत्य हैं, ज्ञानस्वरूप हैं और सभी लोकोंके एकमात्र नायक हैं । आप कृपापूर्वक आचमन स्वीकार करें ।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर सुगन्धित जल अर्पित करते हुए यह भावना करे कि मेरे द्वारा परिकरसहित श्रीसीतारामजीको आचमन कराया जा रहा है ।

(६) स्नान—

नमः श्रीवासुदेवाय तत्त्वज्ञानस्वरूपिणे ।
मधुपर्कं गृहाणेदं जानकीपतये नमः ॥
पञ्चामृतं मयाऽऽनीतं पयो दधि घृतं मधु ।
शर्करा चेति तद्भक्त्या दत्तं ते प्रतिगृह्यताम् ॥
ब्रह्माण्डोदरमध्यस्थतीर्थैश्च रघुनन्दन ।
स्नापयिष्याम्यहं भक्त्या त्वं प्रसीद जनार्दन ॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय मधुपर्कपञ्चामृते दत्त्वा स्नानार्थं जलं समर्पयामि ।

'तत्त्वज्ञानस्वरूप श्रीवासुदेव भगवान्‌को नमस्कार है । जानकीपति श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार है । आप दधि-मधु-घृतरूप इस मधुपर्कको स्वीकार करें । दूध, दही, घी, मधु और चीनीसे निर्मित यह पञ्चामृत आपके (स्नानके) लिये मैं भक्तिपूर्वक लाया हूँ; आप इसे स्वीकार करें । हे रघुनन्दन ! ब्रह्माण्डके सभी तीर्थोंसे लाये गये पवित्र जलसे मैं आपको भक्तिपूर्वक स्नान करा रहा हूँ । जनार्दन ! आप मुझपर प्रसन्न हों ।'

उपर्युक्त श्लोकोंसे परिकरसहित भगवान् श्रीसीतारामजीको मधुपर्क तथा पञ्चामृत अर्पण करनेके बाद शुद्ध जलसे स्नान कराना चाहिये ।

(७) वस्त्र—

तप्तकाञ्चनसंकाशं पीताम्बरमिदं हरे ।
त्वं गृहाण जगन्नाथ रामचन्द्र नमोऽस्तु ते ॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय वस्त्राणि समर्पयामि ।

'हे हरे ! तपे हुए सोनेके समान वर्णवाला यह पीताम्बर है । हे जगन्नाथ ! आप इसे स्वीकार करें । हे श्रीरामचन्द्र ! आपको प्रणाम है ।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर परिकरसहित भगवान् श्रीसीतारामको वस्त्राभूषण समर्पित करने चाहिये ।

(८) यज्ञोपवीत—

श्रीरामाच्युत यज्ञेश श्रीधरानन्त राघव ।
ब्रह्मसूत्रं सोत्तरीयं गृहाण रघुनन्दन ॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय यज्ञोपवीतं समर्पयामि ।

'हे श्रीराम ! हे अच्युत ! हे यज्ञेश (यज्ञफलदाता) ! हे श्रीधर ! हे अनन्त ! हे राघव ! हे रघुनन्दन ! आप उत्तरीय-सहित यह यज्ञोपवीत धारण कीजिये ।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर परिकरसहित भगवान् श्रीसीतारामको उत्तरीय (ओढ़नेकी चादर) के साथ यज्ञोपवीत समर्पित करना चाहिये ।

(९) गन्ध—

कुङ्कुमागुरुकस्तूरीकर्पूरं चन्दनं तथा ।
तुभ्यं दास्यामि राजेन्द्र श्रीराम स्वीकुरु प्रभो ॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय गन्धं समर्पयामि ।

'हे राजेन्द्र श्रीराम ! केसर, अगर, कस्तूरी और कपूरसे मिला हुआ चन्दन आपको समर्पित करता हूँ । हे प्रभो ! आप इसे स्वीकार करें ।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर परिकरसहित भगवान् श्रीसीतारामको कुङ्कुमादियुक्त चन्दन चढ़ाना चाहिये।

(१०) पुष्प—

तुलसीकुन्दमन्दारजातीपुंनागचम्पकैः।
कदम्बकरवीरैश्च कुसुमैः शतपत्रकैः॥
नीलाम्बुजैर्बिल्वपत्रैः पुष्पमाल्यैश्च राघव।
पूजयिष्याम्यहं भक्त्या गृहाण त्वं जनार्दन॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय पुष्पाणि पुष्पमालां च समर्पयामि।

'तुलसी, कुन्द, मन्दार, मालती, पुंनाग, चम्पा, कदम्ब, करवीर, शतपत्र, नीलकमल आदि पुष्पोंसे, बिल्वपत्रोंसे तथा पुष्पमालाओंसे, हे राघव! मैं भक्तिपूर्वक आपका पूजन करता हूँ; हे जनार्दन! आप इसे स्वीकार करें।'

उपर्युक्त मन्त्र पढ़कर परिकरसहित भगवान् श्रीसीतारामचन्द्रजीको नाना प्रकारके पुष्प और पुष्पमालाएँ अर्पित करनी चाहिये।

पुष्पमालार्पणके अवसरपर ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके विभिन्न अङ्गोंकी पूजा होती है। आगे मन्त्र लिखे जा रहे हैं। क्रमशः मन्त्र बोलकर मन्त्रके सामने जिन अङ्गोंके नाम लिखे हैं, उन-उन अङ्गोंपर पुष्प या अक्षत चढ़ाने चाहिये।

ॐ श्रीरामचन्द्राय नमः, पादौ पूजयामि। (चरणोंपर)
ॐ श्रीराजीवलोचनाय नमः, गुल्फौ पूजयामि।(टखनोंपर)
ॐ श्रीरावणान्तकाय नमः, जानुनी पूजयामि।(घुटनोंपर)
ॐ श्रीवाचस्पतये नमः, ऊरू पूजयामि। (जाँघोंपर)
ॐ श्रीविश्वरूपाय नमः, जङ्घे पूजयामि। (पिंडलियोंपर)
ॐ श्रीलक्ष्मणाग्रजाय नमः, कटिं पूजयामि। (कमरपर)
ॐ श्रीविश्वामित्रप्रियाय नमः, नाभिं पूजयामि। (नाभिपर)
ॐ श्रीपरमात्मने नमः, हृदयं पूजयामि। (हृदयपर)
ॐ श्रीकण्ठाय नमः, कण्ठं पूजयामि। (कण्ठपर)
ॐ श्रीसर्वास्त्रधारिणे नमः, बाहू पूजयामि। (भुजाओंपर)
ॐ श्रीरघूद्वहाय नमः, मुखं पूजयामि। (मुखपर)
ॐ श्रीपद्मनाभाय नमः, जिह्वां पूजयामि। (जिह्वापर)
ॐ श्रीदामोदराय नमः, दन्तान् पूजयामि। (दाँतोंपर)
ॐ श्रीसीतापतये नमः, ललाटं पूजयामि। (ललाटपर)
ॐ श्रीज्ञानगम्याय नमः, शिरः पूजयामि। (सिरपर)
ॐ श्रीसर्वात्मने नमः, सर्वाङ्गं पूजयामि। (सारे अङ्गोंपर)

(११) धूप—

वनस्पतिरसोद्भूतो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः।
रामचन्द्र महीपाल धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय धूपमाघ्रापयामि।

'हे पृथ्वीका पालन करनेवाले श्रीरामचन्द्रजी! वनस्पतियोंके रसोंसे और उत्तम गन्धयुक्त द्रव्योंसे बने हुए इस धूपको स्वीकार करें।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर परिकरसहित भगवान् श्रीसीतारामजीको धूप समर्पित करना चाहिये।

(१२) दीपक—

ज्योतिषां पतये तुभ्यं नमो रामाय वेधसे।
गृहाण दीपकं चैव त्रैलोक्यतिमिरापहम्॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय दीपं दर्शयामि।

'हे श्रीराम! आप सभी ज्योतियोंके स्वामी हैं—स्रष्टा हैं, तीनों लोकोंके अन्धकारका अपहरण करनेवाले इस दीपकको स्वीकार करें। आपको प्रणाम है।'

उपर्युक्त श्लोकको पढ़कर परिकरसहित भगवान् श्रीसीतारामचन्द्रजीको प्रज्वलित दीपक दिखलाना चाहिये।

(१३) नैवेद्य—

इदं दिव्यान्नममृतं रसैः षड्भिः समन्वितम्।
रामचन्द्रेश नैवेद्यं सीतेश प्रतिगृह्यताम्॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय नैवेद्यं समर्पयामि।

'हे सीतापते भगवान् श्रीरामचन्द्र! दिव्य अन्नोंसे निर्मित एवं छहों रसोंसे युक्त इस अमृतमय नैवेद्यको आप स्वीकार करें।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर परिकरसहित श्रीसीतारामको नैवेद्य समर्पित करना चाहिये। तदुपरान्त भगवान् श्रीसीतारामके आचमनके लिये शुद्ध जल समर्पित करना चाहिये।

(१४) ताम्बूल—

नागवल्लीदलैर्युक्तं पूगीफलसमन्वितम्।
ताम्बूलं गृह्यतां राम कर्पूरादिसमन्वितम्॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय ताम्बूलं समर्पयामि ।

'हे श्रीरामचन्द्रजी ! आप सुपारी और कपूर आदिसे युक्त नागरबेलके पत्तोंका बना हुआ बीड़ा स्वीकार कीजिये ।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर परिकरसहित भगवान् श्रीसीताराम-को शुद्ध रीतिसे लगाया हुआ पान अर्पित करना चाहिये ।

(१५) आरती--

मङ्गलार्थं महीपाल नीराजनमिदं हरे ।
संगृहाण जगन्नाथ रामचन्द्र नमोऽस्तु ते ॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय कर्पूरारार्तिक्यं समर्पयामि ।

'हे पृथ्वीपालक भगवान् श्रीरामचन्द्र ! आपके सर्वविध मङ्गलके लिये यह आरती है । हे जगन्नाथ ! इसे आप स्वीकार करें । आपको प्रणाम है ।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर किसी शुद्ध पात्रमें कपूर तथा (एक या पाँच या ग्यारह) घीकी बत्ती जलाकर परिकरसहित भगवान् श्रीसीतारामजीकी आरती उतारनी चाहिये और समवेतस्वरमें निम्नलिखित आरतीका गायन करना चाहिये—

आरति कीजै श्रीरघुबरकी,
सत चित आनँद शिव सुंदरकी ॥ टेक ॥

दशरथ तनय कौशिला-नन्दन,
सुर मुनि रक्षक दैत्य-निकन्दन,
अनुगत भक्त भक्त-उर-चन्दन,
मर्यादा-पुरुषोत्तम वरकी ॥

निर्गुण सगुण अरूप रूपनिधि,
सकल लोक वन्दित विभिन्न विधि,
हरण शोक-भय, दायक सब सिधि,
मायारहित दिव्य नर-वरकी ॥

जानकिपति सुराधिपति जगपति,
अखिल लोक पालक, त्रिलोक गति,
विश्ववन्द्य अनवद्य अमित-मति,
एकमात्र गति सचराचरकी ॥

शरणागत वत्सल व्रतधारी,
भक्त कल्पतरु वर असुरारी,
नाम लेत जग पावनकारी,
वानर-सखा दीन-दुख-हरकी ॥

(१६) पुष्पाञ्जलि, प्रदक्षिणा, प्रणाम--

नमो देवाधिदेवाय रघुनाथाय शार्ङ्गिणे ।
चिन्मयानन्तरूपाय सीतायाः पतये नमः ॥

ॐ परिकरसहिताय श्रीसीतारामचन्द्राय पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि ।

'देवोंके देव, शार्ङ्गधनुर्धर, चिन्मय, अनन्त रूप धारण करनेवाले, सीतापति भगवान् श्रीरघुनाथजीको बारंबार प्रणाम है ।'

अञ्जलिमें पुष्प लेकर उपर्युक्त श्लोक पढ़ना चाहिये । श्लोक-पाठ हो जानेपर पुष्पार्पण करके निम्नलिखित श्लोक पढ़ते हुए प्रदक्षिणा करनी चाहिये—

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च ।
तानि तानि प्रणश्यन्ति प्रदक्षिणपदे पदे ॥

'ब्रह्महत्यादि जितने भी पाप हैं, वे सभी प्रदक्षिणाके पद-पदपर निःशेष हो जाते हैं ।'

प्रदक्षिणा करके भगवान् श्रीसीतारामको प्रणाम करना चाहिये एवं उनकी प्रसन्नता-प्राप्तिके लिये कातर-याचना करनी चाहिये ।

मुमुक्षुजनको चाहिये कि आत्मकल्याणके लिये सदा रामनवमीका व्रत करें । श्रीरामनवमी-व्रत करनेवाला सभी पापोंसे मुक्त होकर सनातन ब्रह्म भगवान् श्रीसीतारामजीको प्राप्त कर लेता है ।

श्रीरामनवमीके दिन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रतिमा-दानका अत्यधिक माहात्म्य श्रीअगस्त्य-संहितामें कहा गया है । प्रतिमा स्वर्ण या पाषाण या काष्ठकी हो सकती है । स्वर्ण-पत्रपर भगवान् श्रीसीतारामजीका चित्र या रेखाचित्र अङ्कित करके भी उस चित्र-पत्रका दान किया जा सकता है । प्रतिमा-दानकी विधि विस्तारसे 'व्रतराज' ग्रन्थमें लिखी है, जो वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बईसे प्रकाशित है । विस्तृत विधि जाननेकी जिसे चाह हो, उसे 'व्रतराज' ग्रन्थ देखना चाहिये ।

श्रीसीतानवमी-व्रत एवं पूजन-विधि

(लेखक—पं० श्रीरामव्यासजी पाण्डेय, एम्० ए०, शास्त्री)

हिंदू-समाजमें जिस प्रकार श्रीरामनवमीका माहात्म्य है, उसी प्रकार जानकीनवमीका भी है। जिस प्रकार अष्टमी तिथि भगवती राधा तथा भगवान् श्रीकृष्णके आविर्भावसे सम्बद्ध है, उसी प्रकार नवमी तिथि भगवती सीता तथा भगवान् श्रीरामके आविर्भावकी तिथि होनेसे परमादरणीया है। भगवती राधाका आविर्भाव भाद्र शुक्ल अष्टमीको और भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव भाद्र कृष्ण अष्टमीको अर्थात् दो विभिन्न अष्टमी तिथियोंमें हुआ। उसी प्रकार भगवती सीताका आविर्भाव वैशाख शुक्ल नवमीको और भगवान् रामका आविर्भाव चैत्र शुक्ल नवमीको अर्थात् दो विभिन्न नवमी तिथियोंमें हुआ। हिंदूमात्रके परमाराध्य श्रीसीताराम तथा श्रीराधाकृष्णसे सम्बद्ध आविर्भावके ये चारों दिवस अति पावन एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इन आविर्भाव-दिवसोंपर संयमपूर्वक व्रत करनेवालेको भुक्ति-मुक्तिकी सहज ही प्राप्ति होती है। श्रीजानकीनवमीके पावन पर्वपर जो व्रत रखता है तथा भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-सहित भगवती श्रीसीताका अपनी शक्तिके अनुसार भक्ति-भावपूर्वक विधि-विधानसे सोत्साह पूजन-वन्दन करता है, उसे पृथ्वी-दानका फल, महाषोडश-दानका फल, अखिलतीर्थ-भ्रमणका फल और सर्व-भूत-दयाका फल अनायास ही मिल जाता है। भगवती सीताकी प्रसन्नता समस्त मङ्गलोंका मूल है। अतः श्रीसीतानवमी-व्रत आत्मकल्याणार्थीके लिये सर्वथा आचरणीय है

वैशाखमासकी शुक्ल नवमीको, जब कि पुष्य नक्षत्र था, मङ्गलवारके दिन, संतान-प्राप्तिकी कामनासे यज्ञकी भूमि तैयार करनेके लिये राजा जनक हलसे भूमि जोत रहे थे, उसी समय पृथ्वीसे उक्त देवीका प्राकट्य हुआ। जोती हुई भूमिको तथा हलकी नोकको भी 'सीता' कहते हैं। अतः प्रादुर्भूता भगवती विश्वमें सीताके नामसे विख्यात हुई। इसी नवमीकी पावन तिथिको भगवती सीताका प्राकट्योत्सव मनाया जाता है।

अष्टमी तिथिको ही नित्यकर्मोंसे निवृत्त होकर शुद्ध भूमिपर सुन्दर मण्डप बनाये, जो तोरणादिसे समलंकृत हो। मण्डपके मध्यमें सुन्दर चौकोर वेदिकापर परिकरोंसहित भगवती सीता एवं भगवान् श्रीरामकी स्थापना करनी चाहिये। पूजनके लिये स्वर्ण, रजत, ताम्र, पीतल, काठ एवं मिट्टी—इनमेंसे यथासामर्थ्य किसी एक वस्तुसे बनी हुई प्रतिमाकी स्थापना की जा सकती है। मूर्तिके अभावमें चित्रपटसे भी काम लिया जा सकता है। जो भक्त मानसिक पूजा करते हैं, उनकी तो पूजन-सामग्री एवं आराध्य—सभी भावमय ही होते हैं।

भगवती सीता एवं भगवान् श्रीरामकी प्रतिमाके साथ-साथ पूजनके लिये राजा जनक, माता सुनयना, कुलपुरोहित शतानन्दजी, हल और माता पृथ्वीकी भी प्रतिमाएँ स्थापित करनी चाहिये।

नवमीके दिन नित्यकर्मसे निवृत्त होकर श्रीजानकी-रामके पूजनके लिये साधकको निम्नलिखित रूपसे संकल्प करना चाहिये—

ॐ तत्सदद्य श्रीब्रह्मणोऽह्नि द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराह-कल्पे जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे कलियुगे प्रथमचरणे (अमुक) संवत्सरे (वैशाख) मासे (शुक्ल) पक्षे (नवमी) तिथौ (अमुक) वासरे (अमुक) नामाहं मम सकलपापक्षयकामः सकलाभीष्टसिद्ध्यर्थं श्रीसीतारामप्रीत्यर्थं च श्रीसीतानवमीव्रतं करिष्ये, तदङ्गत्वेन परिकरसहित-श्रीजानकीरामपूजनं च करिष्ये।

संकल्पके बाद पञ्चोपचार (गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य) से श्रीगणेशजी और भगवती पार्वतीका पूजन करना चाहिये। फिर मण्डपके पास ही अष्टदल कमलपर विधिपूर्वक कलशकी स्थापना करनी चाहिये। यदि मण्डपमें प्राणप्रतिष्ठित विग्रह न हो तो मण्डपमें प्रस्थापित प्रतिमा या चित्रमें प्राणप्रतिष्ठा करनी चाहिये। एतदर्थ उपासकको प्रतिमाके कपोलोंका स्पर्श करना चाहिये तथा—'ॐ परिकरसहितश्रीजानकीरामाभ्यां नमः' इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये।

मूलमन्त्र (श्रीं सीतायै नमः) से प्राणायाम करके फिर विनियोग करे।

विनियोग—ॐ अस्य श्रीसीताया मूलमन्त्रस्य जनक ऋषिः, गायत्री छन्दः, सीता देवता, श्रीं बीजम्, नमः शक्तिः, सीतापूजने विनियोगः।

तदुपरान्त न्यास करना चाहिये—

(क)—ऋषिन्यास—

(१) शिरसि जनकर्षये नमः । (इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे सिरका स्पर्श करे ।)

(२) मुखे गायत्रीच्छन्दसे नमः । (इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे मुखका स्पर्श करे तथा हाथ धो ले ।)

(३) हृदि सीतादेवतायै नमः । (इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे हृदयका स्पर्श करे ।)

(४) नाभौ श्रींबीजाय नमः । (इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे नाभिका स्पर्श करे ।)

(५) पादयोः शक्त्यै नमः । (इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे पैरोंका स्पर्श करे ।)

(ख)—करन्यास—

(१) श्रां अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । (दोनों हाथोंकी तर्जनी अँगुलियोंसे दोनों अँगूठोंका स्पर्श करे ।)

(२) श्रीं तर्जनीभ्यां स्वाहा । (दोनों अँगूठोंसे दोनों तर्जनी अँगुलियोंका स्पर्श करे ।)

(३) श्रूं मध्यमाभ्यां वषट् । (दोनों अँगूठोंसे दोनों मध्यमा अँगुलियोंका स्पर्श करे ।)

(४) श्रैं अनामिकाभ्यां हुम् । (दोनों अँगूठोंसे दोनों अनामिका अँगुलियोंका स्पर्श करे ।)

(५) श्रौं कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् । (दोनों अँगूठोंसे दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंका स्पर्श करे ।)

(६) श्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् । (दोनों हाथोंकी हथेलियों एवं उनके पृष्ठभागोंका परस्पर स्पर्श करे ।)

(ग)—अङ्गन्यास—

(१) श्रां हृदयाय नमः । (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे हृदयका स्पर्श)

(२) श्रीं शिरसे स्वाहा । (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे सिरका स्पर्श)

(३) श्रूं शिखायै वषट् । (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे शिखाका स्पर्श)

(४) श्रैं कवचाय हुम् । (दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे बायें कंधेका स्पर्श, बायें हाथकी अँगुलियोंसे दाहिने कंधेका स्पर्श)

(५) श्रौं नेत्रत्रयाय वौषट् । (दाहिने हाथकी अँगुलियोंके अग्रभागसे दोनों नेत्रों एवं ललाटके मध्यभागका स्पर्श)

(६) श्रः अस्त्राय फट् । (इसे पढ़कर दाहिने हाथको सिरके दायीं ओरसे आगेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओर ले आये और तर्जनी तथा मध्यमा अँगुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजा दे ।)

ध्यान—हाथमें पुष्प लेकर भगवती सीताका निम्नलिखित श्लोकके अनुसार ध्यान करना चाहिये—

ॐ ताटङ्कमण्डलविभूषितगण्डभागां
चूडामणिप्रभृतिमण्डनमण्डिताङ्गीम् ।
कौशेयवस्त्रमणिमौक्तिकहारयुक्तां
ध्यायेद् विदेहतनयां शशिगौरवर्णाम् ॥

'मण्डलाकार कर्णाभूषणोंसे जिनके कपोल अति सुन्दर लग रहे हैं, चूड़ामणि आदि अनेकविध आभूषणोंसे जिनके विभिन्न अङ्ग अलंकृत हैं, जो रेशमी वस्त्र तथा मणि एवं मोतीके हारोंसे विभूषित हैं और जिनका चन्द्रमाके समान गौरवर्ण है, उन जनकात्मजा भगवती सीताका ध्यान करना चाहिये ।'

(१) **आवाहन**—श्रीजानकी-रामका आवाहन—

आवाहयाम्यहं सीते सर्वकामार्थसिद्धये ।
अस्यां मूर्तौ समागच्छ स्थितिं मत्कृपया कुरु ॥
ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, श्रीजानकीरामौ आवाहयामि।

'भगवती सीते ! सब कामनाओंकी सिद्धिके लिये मैं आपका आवाहन करता हूँ । मुझपर कृपा करके इस विग्रहमें आकर निवास कीजिये ।'

(२) **आसन**—

नानाप्रभाभिराकीर्णं नानावर्णविभूषितम् ।
आसनं कल्पितं देवि प्रीत्यर्थं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, आसनं समर्पयामि ।

'देवि सीते ! नाना प्रकारकी कान्तियोंसे युक्त तथा विविध रंगोंसे सुशोभित यह आसन आपकी प्रसन्नताके लिये तैयार किया गया है । आप इसपर विराजें ।'

(३) **पाद्य**—

गङ्गादिसर्वतीर्थेभ्य आनीतं तोयमुत्तमम् ।
पाद्यं नेऽइं प्रदास्यामि गृहाण परमेश्वरि ॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, पाद्यं समर्पयामि ।

'परमेश्वरि ! गङ्गा आदि सभी तीर्थोंसे लाये हुए उत्तम जलको मैं आपके पाद-प्रक्षालनके लिये अर्पित करता हूँ । आप इसे स्वीकार करें ।'

(४) अर्घ्य-

उत्पन्नासि महाभागे स्वर्णलाङ्गलपद्धतौ ।
गृहाणार्घ्यं मया दत्तं कृपया मिथिलेशजे ॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, अर्घ्यं समर्पयामि ।

'महाभाग्यवती जनकनन्दिनि ! स्वर्णके हलसे पृथ्वीको जोतते समय आपका प्रादुर्भाव हुआ था । मेरेद्वारा अर्पित अर्घ्यको कृपया स्वीकार करें ।'

(५) आचमन--

कर्पूरवासितं तोयं मन्दाकिन्याः समाहृतम् ।
आचम्यतां महामाये मया दत्तं हि भक्तितः ॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, आचमनीयं जलं समर्पयामि ।

'महामाये ! मन्दाकिनी (स्वर्गस्थित गङ्गा) से लाया हुआ तथा कपूरसे सुवासित जल भक्तिपूर्वक मेरेद्वारा अर्पित है । आप उसका आचमन करें ।'

(६) पञ्चामृतस्नान एवं शुद्ध स्नान-

पयो दधि घृतं चैव मधु शर्करयान्वितम् ।
पञ्चामृतेन स्नपनं गृहाण परमेश्वरि ॥
ज्ञानमूर्ते महामाये दिव्यरूपे सुरेश्वरि ।
स्नानं गृहाण देवि त्वं नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, पञ्चामृतस्नानं शुद्धोदकस्नानं च समर्पयामि ।

'परमेश्वरि ! दूध, दधि, घृत, मधु और शर्करासे विनिर्मित पञ्चामृत मैं आपको स्नानार्थ अर्पण कर रहा हूँ; कृपया इसे स्वीकार करें । हे ज्ञानमूर्ति महामाये ! हे दिव्यरूपे सुरेश्वरि ! मेरेद्वारा शुद्ध जलसे कराये गये स्नानको भी आप स्वीकार करें । भगवती नारायणि ! आपको नमस्कार है ।'

(७) वस्त्र—

तन्तुसंतानसंयुक्तं कलाकौशलकल्पितम् ।
सर्वाङ्गाभरणं वस्त्रयुगलं परिधीयताम् ॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, वस्त्रं समर्पयामि ।

'देवि ! कलाकौशलपूर्वक सूत्रोंद्वारा निर्मित सभी अङ्गोंके आभरणस्वरूप इन दोनों वस्त्रों (अधोवस्त्र एवं उत्तरीय) को आप धारण करें ।'

(८) अलंकार—

अलंकारान् महादिव्यान् नानारत्नविनिर्मितान् ।
गृहाण वरदे देवि प्रसीद परमेश्वरि ॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, अलंकारान् समर्पयामि ।

'वरदायिनी देवि ! नाना रत्नोंसे बने हुए इन महान् दिव्य अलंकारोंको आप ग्रहण करें । परमेश्वरि ! आप प्रसन्न हों ।'

(९) गन्ध एवं सिन्दूर—

मलयाचलसम्भूतं नानागन्धसमन्वितम् ।
शीतलं बहुलामोदं गृहाण वरदे शुभे ॥
सिन्दूरं सर्वसाध्वीनां भूषणाय विनिर्मितम् ।
गृहाण वरदे देवि भूषणानि प्रयच्छ मे ॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, गन्धसिन्दूरे समर्पयामि ।

'मङ्गलविधायिनी एवं वर देनेवाली सीते ! मलयपर्वतपर उत्पन्न हुए तथा केसर, कस्तूरी, कपूर आदि अनेक प्रकारके अन्य गन्धोंसे युक्त, शीतल एवं अत्यधिक सौरभ प्रदान करनेवाले इस चन्दनको आप स्वीकार करें । वरदात्री देवि ! सिन्दूर सभी साध्वी स्त्रियोंके शृङ्गारके लिये बनाया गया है, इसे आप ग्रहण करें एवं (भक्तिभावरूपी) आभूषण मुझे प्रदान करें ।'

(१०) पुष्प एवं पुष्पमाला

सुगन्धीनि सुपुष्पाणि देशकालोद्भवानि च ।
मयाऽऽनीतानि पूजार्थं प्रीत्याऽऽदेहि महेश्वरि ॥
तुलसीं हेमरूपां च रत्नरूपां च मञ्जरीम् ।
भवमोक्षप्रदां तुभ्यमर्पयामि हरिप्रियाम् ॥
नानापुष्पविचित्राढ्यां पुष्पमालां सुशोभनाम् ।
प्रयच्छामि सदा भद्रे गृहाण परमेश्वरि ॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, पुष्पतुलसीपुष्पमालाः समर्पयामि ।

'महेश्वरि ! ये देश-कालानुसार उत्पन्न उत्तम सुरभित पुष्प पूजाके लिये मेरेद्वारा लाये गये हैं । इन्हें आप प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करें । सदा मङ्गलकारिणी देवि ! जन्म-मरणसे मुक्ति दिलानेवाली हेमवर्णा हरिप्रिया तुलसी एवं रत्नोपमा

उनकी मञ्जरीको मैं आपके लिये समर्पित करता हूँ। परमेश्वरि! विविध पुष्पोंसे विनिर्मित सुन्दर एवं रंग विरंगी पुष्पमाला भी मैं अर्पित करता हूँ, आप इसे स्वीकार करें।'

(११) धूप—

दशाङ्गं घृतसंयुक्तं कृष्णागुरुसमन्वितम्।
दशाङ्गं धूपमादेहि सीते देवि नमोऽस्तु ते॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, धूपं समर्पयामि।

'सीते! आप घृत और काले रंगके अगरसे युक्त दशाङ्ग धूपको स्वीकार करें। देवि! आपको प्रणाम है।'

(१२) दीप—

सुप्रकाशो महान् दीपः सर्वतस्तिमिरापहः।
स बाह्याभ्यन्तरज्योतिर्दीपोऽयं प्रतिगृह्यताम्॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, दीपं दर्शयामि।

'देवि! यह महान् दीपक सुन्दर प्रकाश फैलानेवाला, चारों ओरके अन्धकारका अपहरण करनेवाला और बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रदेशोंको ज्योतिर्मय बनानेवाला है; इसे आप ग्रहण करें।'

(१३) नैवेद्य—

दिव्यषड्रससंयुक्तं नानाभक्ष्यैश्च संयुतम्।
चोष्यपेयसमायुक्तं वरान्नं प्रतिगृह्यताम्॥
पानीयं शीतलं स्वच्छं कर्पूरादिसुवासितम्।
भोजने तृप्तिकृत्तस्मात् प्रीत्याऽऽदेहि महेश्वरि॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, नैवेद्यं तदुपरि आचमनीयं समर्पयामि।

'देवि! यह नैवेद्य विविध प्रकारके खाद्यपदार्थोंसे युक्त तथा दिव्य षड्रससे परिपूर्ण है, इसमें चूसनेयोग्य तथा पीनेयोग्य वस्तुओंका सम्मिश्रण है; इसे आप स्वीकार करें। हे महेश्वरि! कर्पूरादिसे सुवासित, शीतल एवं स्वच्छ जल भोजनमें तृप्ति प्रदान करनेवाला होता है, इसलिये आप प्रसन्न होकर इसे स्वीकार करें।'

(१४) ताम्बूल—

पूगीफलं महद्दिव्यं नागवल्लीदलैर्युतम्।
कर्पूरैलासमायुक्तं ताम्बूलं प्रतिगृह्यताम्॥

ॐ श्रीजानकीरामाभ्यां नमः, ताम्बूलं समर्पयामि।

'देवि! सुपारी, कपूर, इलायची तथा नागरबेलके पानसे युक्त इस महान् दिव्य ताम्बूलको ग्रहण करें।'

आरती एवं मन्त्रपुष्पाञ्जलिके पूर्व मण्डपमें प्रतिष्ठित अन्य आराध्योंका भी पूजन कर लेना चाहिये।

(क) श्रीजनकजीका पूजन—

देवी पद्मालया साक्षादवतीर्णा यदालये।
मिथिलापतये तस्मै जनकाय नमो नमः॥

'जिनके गृहमें साक्षात् लक्ष्मी देवी ही उत्पन्न हुई थीं, उन मिथिलापति श्रीजनकजीके लिये बारंबार नमस्कार है।'

उपर्युक्त मन्त्रसे श्रीजनकजीकी वन्दना करके 'ॐ श्रीजनकाय नमः' मन्त्रसे पञ्चोपचार-पूजन करना चाहिये।

(ख) श्रीसुनयनाम्बाजीका पूजन—

सीताया जननी मातर्महिषी जनकस्य च।
पूजां गृहाण मद्दत्तां महाबुद्धे नमोऽस्तु ते॥

'अम्बा! आप श्रीसीताजीकी माता तथा महाराज जनककी पटरानी हैं, मेरेद्वारा की हुई इस पूजाको ग्रहण करें। महामति! आपको प्रणाम है।'

उपर्युक्त मन्त्रसे श्रीसुनयनाजीकी वन्दना करके 'ॐ श्रीसुनयनाम्बायै नमः' मन्त्रसे पञ्चोपचार-पूजन करना चाहिये।

(ग) श्रीशतानन्दजीका पूजन—

निधानं सर्वविद्यानां विद्वत्कुलविभूषणम्।
जनकस्य पुरोधास्त्वं शतानन्दाय ते नमः॥

'शतानन्दजी! आप सभी विद्याओंके आगार, विद्वत् शिरोमणि एवं श्रीजनकजीके पुरोहित हैं। आपको नमस्कार है।'

उपर्युक्त मन्त्रसे श्रीशतानन्दजीकी वन्दना करके 'ॐ श्रीशतानन्दाय नमः' मन्त्रसे पञ्चोपचार-पूजन करे।

(घ) श्रीहलका पूजन—

जीवयस्यखिलं विश्वं चालयन् वसुधातलम्।
प्रादुर्भावयसे सीतां सीर तुभ्यं नमोऽस्तु ते॥

'हे हल! पृथ्वीको जोतते समय तुमने सीताको प्रकट किया है एवं सम्पूर्ण विश्वका तुम्हारे द्वारा पोषण होता है; तुम्हें नमस्कार है।'

उपर्युक्त मन्त्रसे श्रीहलकी वन्दना करके 'ॐ श्रीहलाय नमः' मन्त्रसे पञ्चोपचार-पूजन करे।

(ङ) श्रीपृथ्वीदेवीका पूजन—

त्वयैवोत्पादितं सर्वं जगदेतच्चराचरम्।
त्वमेवासि महामाया मुनीनामपि मोहिनी॥
त्वदायत्ता इमे लोकाः श्रीसीतावल्लभा परा।
वन्दनीयासि देवानां सुभगे त्वां नमाम्यहम्॥

'पृथ्वीमातः! यह सम्पूर्ण चराचर जगत् आपसे ही उत्पन्न हुआ है। आप ही मुनियोंको भी मोहित करनेवाली महामाया हैं। ये सभी लोक आपके अधीन हैं। आप पराशक्ति हैं एवं श्रीसीताजी आपको परमप्रिय हैं। आप देवोंके लिये भी वन्दनीया हैं। सुभगे! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।'

उपर्युक्त मन्त्रसे श्रीपृथ्वी देवीकी वन्दना करके 'ॐ श्रीसुभगायै नमः' मन्त्रसे पञ्चोपचार-पूजन करना चाहिये।

(१५) आरती—

कदलीगर्भसम्भूतं कर्पूरं च प्रदीपितम्।
आरार्तिक्यमहं कुर्वे पश्य मे वरदा भव॥

ॐ परिकरसहितश्रीजानकीरामाभ्यां नमः, कर्पूरार्तिक्यं समर्पयामि।

'हे देवि! कदलीके गर्भसे उत्पन्न हुए कपूरको प्रज्वलित करके मैं आपकी आरती कर रहा हूँ। आप इसे देखें तथा मुझे वर प्रदान करें।'

घीकी बत्ती तथा कर्पूरको प्रज्वलित करके नीचे लिखी आरतीको गाते और वाद्य आदि बजाते हुए परिकरसहित श्रीजानकी-रामजीकी सोत्साह भक्तिपूर्वक आरती करनी चाहिये।

आरति श्रीजनक-दुलारीकी।
सीताजी रघुबर-प्यारीकी॥ टेक॥

जगत-जननि जगकी विस्तारिणि,
नित्य सत्य साकेत विहारिणि,
परम दयामयि दीनोद्धारिणि,
मैया भक्तन हितकारीकी ॥सीताजी०॥

सती-शिरोमणि पति-हित-कारिणि,
पति-सेवा-हित वन-वन-चारिणि,
पतिहित पति-वियोग-स्वीकारिणि,
त्याग-धर्म-मूरतिधारीकी ॥सीताजी०॥

विमल कीर्ति सब लोकन छाई,
नाम लेत पावन मति आई,
सुमिरत कटत कष्ट दुखदाई,
शरणागत-जन-भय-हारीकी ॥सीताजी०॥

(१६) पुष्पाञ्जलि, प्रणाम एवं प्रदक्षिणा—

नानासुगन्धिकुसुमैर्यथाकालसमुद्भवैः च।
पुष्पाञ्जलिं मया दत्तं गृहाण परमेश्वरि॥

ॐ परिकरसहितश्रीजानकीरामाभ्यां नमः, पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि।

'हे परमेश्वरि! ऋतुके अनुसार उत्पन्न हुए नाना प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे युक्त मेरेद्वारा दी जानेवाली इस पुष्पाञ्जलिको स्वीकार करें।'

दशाननविनाशाय जाता धरणिसम्भवा।
मैथिली शीलसम्पन्ना पातु नः पतिदेवता॥

'जो रावणके विनाशके लिये पृथ्वी माताके गर्भसे उत्पन्न हुई हैं, पतिको ही देवता माननेवाली तथा शीलसम्पन्न हैं, वे मिथिलेशकुमारी हमारी रक्षा करें।'

उपर्युक्त श्लोक पढ़कर भगवती सीताकी कृपाकी प्राप्तिहेतु निम्नलिखित 'जानकी-स्तोत्र'का सस्वर पाठ करना चाहिये।

नीलनीरजदलायतेक्षणां लक्ष्मणाग्रजभुजावलम्बिनीम्।
शुद्धिमिद्धदहने प्रदित्सतीं भावये मनसि रामवल्लभाम्॥१॥
रामपादविनिवेशितेक्षणामङ्गकान्तिपरिभूतहाटकाम्।
ताटकारिपरुषोक्तिविक्लवां भावये मनसि रामवल्लभाम्॥२॥
कुन्तलाकुलकपोलमाननं राहुवक्त्रगसुधाकरद्युतिम्।
वाससा पिदधतीं ह्रियाकुलां भावये मनसि रामवल्लभाम्॥३॥
कायवाङ्मनसगं यदि व्यधां स्वप्नजागृतिषु राघवेतरम्।
तद्दहाङ्गमिति पावकं यतीं भावये मनसि रामवल्लभाम्॥४॥
इन्द्ररुद्रधनदाम्बुपालकैः सद्विमानगणमास्थितैर्दिवि।
पुष्पवर्षमनुसंस्तुताङ्घ्रिकां भावये मनसि रामवल्लभाम्॥५॥
संचयैर्दिविषदां विमानगैर्विस्मयाकुलमनोभिवीक्षिताम्।
तेजसा पिदधतीं सदा दिशो भावये मनसि रामवल्लभाम्॥६॥

''नील कमल-दलकी पँखुड़ियोंके सदृश जिनके नेत्र हैं, जिन्हें श्रीरामकी भुजाका ही अवलम्बन है, जो प्रज्वलित अग्निमें अपनी पवित्रताकी परीक्षा देना चाहती हैं, उन रामप्रिया सीताकी मैं मन-ही-मनमें भावना (ध्यान) करता हूँ। जिनके नेत्र श्रीरामजीके चरणोंकी ओर निश्चलरूपसे लगे हुए हैं, जिन्होंने अपनी अङ्गकान्तिसे सुवर्णको मात कर दिया है तथा ताटकाके वैरी श्रीरामके कटुवचनोंसे जो घबरायी हुई हैं, उन रामकी प्रेयसी श्रीसीताकी मैं मनमें भावना करता हूँ। जो लज्जासे हतप्रभ हुई अपने उस मुखको—जिसके कपोल उनके बिखुरे हुए बालोंसे उसी प्रकार आवृत

हैं, जैसे चन्द्रमा राहुके द्वारा ग्रसे जानेपर अन्धकारसे आवृत हो जाता है—वस्त्रसे ढक रही हैं, उन राम-पत्नी सीताकी मैं मनमें भावना करता हूँ। जो मन-ही-मन यह कहती हुई कि 'यदि मैंने श्रीरघुनाथके अतिरिक्त किसी औरको अपने शरीर, वाणी अथवा मनमें कभी स्थान दिया हो, तो हे अग्नि! मेरे शरीरको जला दो' अग्निमें प्रवेश कर गयीं, उन रामकी प्राणप्रिया सीताकी मैं मनमें भावना करता हूँ। उत्तम विमानोंमें बैठे हुए इन्द्र, रुद्र, कुबेर और वरुणद्वारा पुष्प-वृष्टिके अनन्तर जिनके चरणोंकी भलीभाँति स्तुति की गयी है, उन श्रीरामकी प्यारी पत्नी सीताकी मैं मनमें भावना करता हूँ। (अग्नि-शुद्धिके समय) विमानोंमें बैठे हुए देवगण विस्मयाविष्ट चित्तसे जिनकी ओर देख रहे थे और जो अपने तेजसे दसों दिशाओंको आच्छादित कर रही थीं; उन रामवल्लभा सीताकी मैं मनमें भावना करता हूँ।"

उपर्युक्त स्तोत्र पढ़कर भगवती सीता एवं अन्य उपास्य देवी-देवताओंकी प्रदक्षिणा करके उन्हें प्रणाम करना चाहिये तथा भक्ति प्रदान करनेके लिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। तदुपरान्त आगत भक्तोंके मध्य श्रीसीताजीके प्रसादका वितरण करना चाहिये।

जो भक्त रात्रिमें जागते हुए सीताजीके गुणोंकी चर्चामें, लीलाके गायनमें तथा स्वरूपके चिन्तनमें समयका सदुपयोग करते हैं, उन्हें भुक्ति-मुक्तिकी प्राप्ति होती है। दशमीके दिन पारण करके व्रतकी सम्पन्नता करनी चाहिये। जो श्रद्धालु भक्त इस पुण्य-व्रतके अवसरपर भगवान् श्रीसीतारामकी स्वर्ण, रजत या कांस्यकी बनी प्रतिमा अथवा अङ्कित-पत्रका दान करता है; अथवा भूमिदान, गोदान, अन्न-दान आदि करता है, उसे परम पुण्यकी प्राप्ति होती है। दशमीके दिन व्रतकी पूर्णाहुति करके मण्डपका विसर्जन करना चाहिये।

इस प्रकार व्रतोत्सव करनेवालेपर भगवती सीता सदा प्रसन्न रहती हैं। जिसके घर श्रीसीताजीकी प्रतिमा नित्य पूजी जाती हो, वह उसमें भी श्रीसीताजीकी यह पूजा कर सकता है। यदि श्रीसीताजीका कोई अर्चा-विग्रह न हो तो शालग्राममें ही श्रीसीताजीकी भावनासे पूजा करनी चाहिये। इन्द्रादि देवतागण, गन्धर्व, किंनर—सभी इस प्रकार जानकी-जयन्त्युत्सव मनाया करते हैं। उसके आचरणसे भगवान् राघवेन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त होती है तथा अश्वमेधादि यज्ञ एवं सम्पूर्ण पृथ्वीकी यात्राका फल मिलता है।

रङ्गभूमिमें श्रीराम-लक्ष्मण

रंगभूमि आए दसरथ के किसोर हैं।
पेखनो सो पेखन चले हैं पुर-नर-नारि, बारे-बूढ़े, अंध-पंगु करत निहोर हैं॥
नील-पीत नीरज, कनक-मरकत, घन-दामिनि-बरन तनु, रूप के निचोर हैं।
सहज सलोने, राम-लषन ललित नाम, जैसे सुने तैसेई कुँवर सिरमौर हैं॥
चरन-सरोज, चारु जंघा, जानु, ऊरु, कटि, कंधर बिसाल, बाहु बड़े बरजोर हैं।
नीकें कै निषंग कसें, कर कमलनि लसैं, बान-बिसिषासन मनोहर-कठोर हैं॥
काननि कनकफूल, उपवीत अनुकूल, पियरे दुकूल बिलसत आछे छोर हैं।
राजिव-नयन, बिधुबदन, टिपारे सिर, नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर-ठौर हैं॥
सभा-सरवर लोक-कोकनद-कोकगन प्रमुदित मन देखि दिनमनि भोर हैं।
अबुध असैले मन-मैले महिपाल भए, कछुक उलूक, कछु कुमुद-चकोर हैं॥
भाई सों कहत बात, कौसिकहि सकुचात, बोल घन-घोर-से बोलत थोर-थोर हैं।
सनमुख सबहि, बिलोकत सबहि नीकें, कृपा सों हेरत हँसि तुलसी की ओर हैं॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

श्रीरामरक्षास्तोत्रका माहात्म्य एवं प्रयोग-विधि

(लेखक—श्रीतनसुखरायजी शर्मा 'प्रभाकर')

श्रीरामरक्षास्तोत्र अत्यन्त लाभप्रद है । यह पुस्तिकाकारमें गीताप्रेससे प्रकाशित है । यह स्तोत्र जगत्‌को बुधकौशिक ऋषि से प्राप्त हुआ है । बुधकौशिक ऋषिको यह स्वप्नमें भगवान् शंकरसे प्राप्त हुआ था । अनुष्टुप् छन्दमें विरचित इस वज्र पञ्जर स्तोत्रके ऋषि बुधकौशिक हैं, भगवती श्रीसीता इसकी शक्ति हैं, भगवान् श्रीराम इसके देवता हैं तथा श्रीहनुमान्‌जी इसके कीलक हैं । इस स्तोत्रमें विश्वाधार, विश्व-संरक्षक, पतितपावन, सर्वसमर्थ, पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीसीतारामका ध्यान करनेके उपरान्त अङ्ग-प्रत्यङ्गकी रक्षा करनेके लिये उनसे प्रार्थना की गयी है । मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी वन्दना करनेवालेका तथा उनके आश्रित रहने-वालेका सर्वत्र और सर्वदा कल्याण ही होता है । लौकिक कष्टकी तो बात ही क्या, रामाश्रयी भक्तको न यमदूत भयभीत कर सकते हैं और न उसे संसार-चक्रमें पड़ना पड़ता है ।

भगवान् श्रीसीतारामकी प्रसन्नता-प्राप्तिके लिये इस स्तोत्रका पाठ करना चाहिये । भगवान् श्रीसीतारामकी शक्ति अनिर्वचनीय तथा अचिन्त्य है । उनकी कृपासे सांसारिक कष्ट, शारीरिक रोग और मानसिक चिन्ताएँ दूर हो सकती हैं । पाठकर्ताकी श्रद्धा और भावनाके अनुसार न केवल लौकिक, अपितु पारलौकिक और पारमार्थिक लाभ भी श्रीरामरक्षास्तोत्रके पाठसे होता है । इसके सिद्धकर्ताको श्रद्धा-विश्वासके साथ भावपूर्वक अर्थ समझते हुए पुनः पुनः पाठ करना चाहिये, जिससे अभीष्टकी प्राप्ति शीघ्र हो सके ।

सिद्ध करनेकी विधि—

श्रीरामरक्षास्तोत्रका प्रयोग करनेसे पूर्व इसे सिद्ध कर लेना चाहिये, अन्यथा पूर्ण फलकी प्राप्तिमें शङ्का रहती है । इस स्तोत्रको सिद्ध करनेकी संक्षिप्त विधि इस प्रकार है—इसे सिद्ध करनेका समय नवरात्र है । नवरात्र सालमें दो बार आता है; किंतु चैत्र मासमें श्रीरामनवमीपर पूर्ण होनेवाला नवरात्र अधिक उपयुक्त है । चैत्र मास या आश्विन मासके शुक्लपक्षके नवरात्रमें नौ दिनों (अर्थात् प्रतिपदासे नवमी तिथि) तक प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें स्नानादि तथा नित्यकर्मसे निवृत्त होकर, शुद्ध वस्त्र धारणकर, कुशके आसनपर सुखासनसे पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर बैठे । सामने भगवान् रामका दरबार-चित्र या भगवान् श्रीसीतारामका चित्र ('धरें चाप सायक कटि भाथा' के अनुसार) अथवा श्रीहनुमान्‌जीका चित्र होना चाहिये । चन्दन-पुष्पादिसे पूजन करके इस महान् फलदायी स्तोत्रको सिद्ध करनेके लिये इसका ग्यारह बार पाठ नियमित रूपसे प्रतिदिन करना चाहिये । पाठके समय अखण्ड प्रज्वलित दीपक तथा धूप रहना चाहिये । आपकी भगवान् श्रीसीतारामकी कृपाशक्तिके प्रति जितनी अखण्ड निष्ठा-श्रद्धा होगी, उतना ही फल प्राप्त होगा । नवमीके दिन यथाशक्ति ब्राह्मण-भोजन भी करवा देना चाहिये ।

यह स्तोत्र नवरात्रमें सिद्ध किया जाय तो सर्वोत्तम, अन्यथा भारतीय पञ्चाङ्गके अनुसार किसी भी मासके शुक्ल पक्षके प्रथम नौ दिनोंमें अर्थात् प्रतिपदासे नवमी तिथितक उपर्युक्त प्रकारसे नियमित पाठ करके इस स्तोत्रको सिद्ध किया जा सकता है ।

यह स्तोत्र श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा कीलित है । इसके उत्कीलनके सम्बन्धमें मैं तो केवल यह कह सकता हूँ कि इसका उत्कीलन श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे होता है । अतः सिद्ध करते समय या प्रयोग करते समय भी श्रीहनुमान्‌जीका संरक्षण एवं कृपा प्राप्त करनेके लिये प्रारम्भमें और समापनपर श्रीहनुमान्‌जीका ध्यान, कृपाहेतु प्रार्थना-प्रणामादि श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक करते रहना चाहिये । इससे हनुमान्‌जी साधकको संरक्षण एवं सिद्धि देते हैं । वास्तवमें तो उत्कीलनका रहस्य यह है कि हनुमान्‌जीके संरक्षणमें उनके समान ही भक्ति एवं श्रद्धासे पाठ एवं प्रयोग करना चाहिये ।

सिद्ध कर लेनेके बाद एक पाठ नित्य कर लेना चाहिये । इसे सिद्ध करनेसे पूर्व इसे कण्ठाग्र कर लेना भी आवश्यक है । यथा —

'यः कण्ठे धारयेत्तस्य करस्थाः सर्वसिद्धयः ।'

रोगीपर प्रयोग-विधि

सभी प्रकारके मनोरथ पूर्ण करनेमें यह स्तोत्र समर्थ है । अत्यावश्यक [illegible] ही सकाम भावसे पाठ करना उचित

होता है, वैसे भक्ति-भावपूर्वक भगवत्प्रीत्यर्थ एक पाठ नित्य करना ही चाहिये।

किसी भी मनोरथके लिये जप (पाठ)की विधिकी ही प्रधानता होती है। किंतु रोगके निवारणार्थ अभिमन्त्रित जलसे रोगीका मार्जन उत्तम विधि है। मार्जन करनेकी विधि यह है कि कमल या गुलाब अथवा लाल रंगके उपलब्ध सात्त्विक पाँच पुष्प लीजिये। ये शुद्ध रहने चाहिये; क्योंकि गीले वस्त्रमें लपेटने, धोने, सूँघने या अपवित्र हाथोंसे स्पर्श करनेसे पुष्प अशुद्ध एवं अपवित्र हो जाते हैं। जलके लोटेमें चार पुष्प तैरते रहें, एक पुष्प हाथमें रहे अथवा सामने भगवान्के सिंहासनपर रखा रहे। नवरात्रमें जिस विधिसे पाठ किया हो, उसी विधिसे पाठ करें। एक मार्जनके लिये ११ या २१ पाठ करना ठीक है। पाठके बाद हाथवाले पुष्पसे रोगीका मार्जन करें। (लोटेके जलमें पुष्प लगाकर फिर उस जलको पुष्पसे रोगीपर सिरसे पैरतक छींटे।) ग्यारह बार छींटे देकर वह पुष्प भगवान्के पूजा-स्थानपर छोड़ दें, बाकी चारों पुष्प रोगीके सिरहाने रख दीजिये। सिरहानेवाले पुष्पके सूखते-सूखते रोग भी सूख (नष्ट हो) जायगा। मार्जन आवश्यकतानुसार एक, तीन, सात, ग्यारह या इक्कीसकी संख्यामें किया जा सकता है। भगवान्के पास रखे पुष्पको जलाशयमें प्रवाहित कर देना चाहिये। बाकी सूखे पुष्पोंको गाड़ देना चाहिये। मार्जनकर्त्ता उपवासके दिनकी भाँति एक समय भोजन करके पवित्र—संयम एवं ब्रह्मचर्यपूर्वक रहे।

रोगीपर प्रयोग करनेके लिये रोगीका हाथ अपने हाथमें लेकर पाठ करना या पाठ करके जलमें फूँक मारकर अभिमन्त्रित करके वह जल रोगीको पिलाना आदि विधियाँ भी काममें लायी जाती हैं और ये विधियाँ भी श्रेष्ठ हैं; किंतु रोगीके उपचारके लिये मार्जन-विधि ही उत्तम है। इसके कई कारण हैं—

१—जप या पाठ शुद्ध आसनपर बैठकर एकान्तमें भगवान् राघवेन्द्र सरकारके ध्यानपूर्वक एकाग्रचित्तसे करनेपर अधिक शक्ति देता है। रोगीका हाथ अपने हाथमें लेकर पाठ करनेमें कुछ बाधाएँ आयेंगी। पहले तो हर रोगीका इतनी देर स्थिर रहना कठिन होगा। दूसरे पाठकका ध्यान ऐसी स्थितिमें एकाग्र रहनेमें कठिनाई होगी। तीसरे शुद्धतामें भी बाधा रह सकती है; इत्यादि।

२—यद्यपि अभिमन्त्रित जलकी विधि पहलीसे अधिक उचित है (यदि इसमें गङ्गाजल हो तो और भी अच्छा रहे); तथापि बार-बार फूँक मारनेसे जप तैल-धारावत् नहीं हो पाता, जो विशेष शक्ति देता है। साथ ही ध्यान—मन्त्रसहित ध्यान भी पुनः-पुनः करना है।

वैसे सुविधा, रुचि एवं विश्वासानुसार कोई भी विधि अपनायी जा सकती है। यदि किसीके द्वारा स्तोत्र सिद्ध नहीं भी हो अथवा उसे विधि नहीं आती हो, तो भी किसी रोगके निवारणके लिये तो रोगीके पास लगातार कुछ उच्च स्वरसे पाठ चलाना चाहिये, जिससे वहाँके वातावरणमें स्तोत्रके शब्द फैल जायँ। इससे भी कल्याण ही होगा। रोगीके पास न होनेपर भी अथवा अन्य मनोरथोंके लिये भी यह पाठ उपयुक्त होता है।

इस रहस्यके मर्मज्ञ तो श्रीहनुमान्जी ही हैं। किंतु स्वल्प अनुभव एवं अपनी मतिके अनुसार कुछ लिख दिया गया है। बाकी तो पाठक स्वयं अनुभव करके देख सकते हैं। यदि कहीं लिखनेमें त्रुटि हो तो विज्ञजनोंसे क्षमापूर्वक मार्गदर्शनकी प्रार्थना है।

भक्तरक्षक सियावर रामचन्द्रकी जय!

श्रीरामसे विनय

जानकी-जीवन, जग-जीवन, जगत-हित, जगदीस, रघुनाथ, राजीवलोचन राम।
सरद-बिधु-बदन, सुखसील, श्रीसदन, सहज सुंदर तनु, सोभा अगनित काम॥ १॥
जग-सुपिता, सुमातु, सुगुरु, सुहित, सुमीत, सबको दाहिनो, दीनबन्धु, काहूको न बाम।
आरतिहरन, सरनद, अतुलित दानि, प्रनतपालु, कृपालु, पतित-पावन नाम॥ २॥
सकल बिस्व बंदित, सकल सुर सेवित, आगम-निगम कहैं रावरेई गुनग्राम।
इहै जानि तुलसी तिहारो जन भयो, न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब-गुलाम॥ ३॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

श्रीरामरक्षा-यन्त्रराज

(लेखक—महात्मा श्रीअवधकिशोरदासजी वैष्णव)

श्रीरामरक्षा-यन्त्रराज कल्पवृक्षकी भाँति उपासकके लौकिक-पारलौकिक—सभी मनोरथ पूर्ण करता है। जिस प्रकार श्रीरामरक्षा-स्तोत्रका पाठ करनेपर समस्त कामनाएँ फलीभूत होती हैं, वैसे ही श्रीरामरक्षा-यन्त्रराजका विधिवत् पूजन करने तथा उसे धारण करनेसे सभी फल प्राप्त होते हैं। प्राचीन संतजन इसको ताम्रपत्रपर अङ्कित करवाकर मन्दिरमें पूजनमें रखते थे। श्रीरामतापनीयन्त्र कई मन्दिरोंमें अभी भी पूजे जाते हैं।
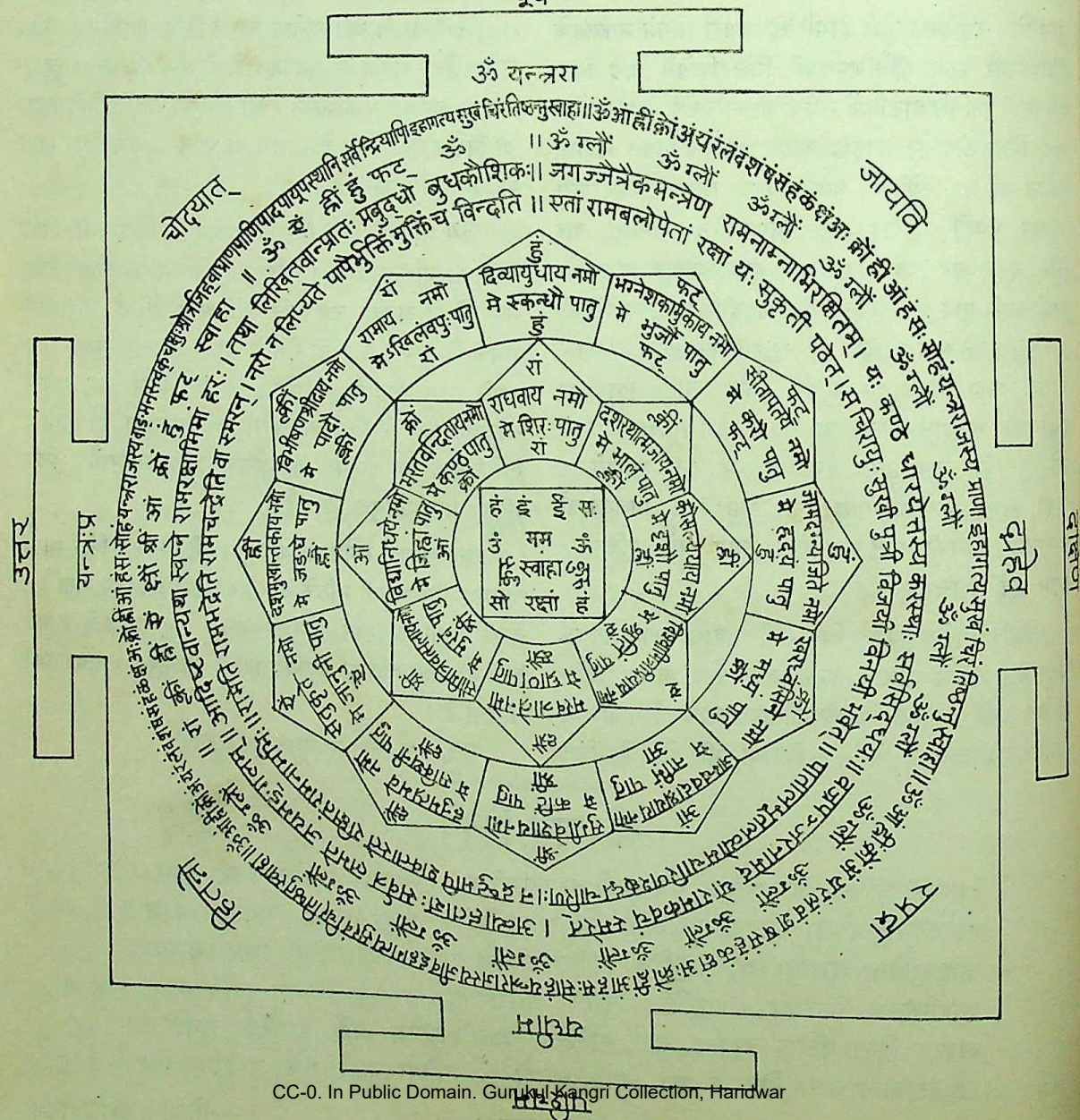
श्रीअगस्त्य-संहितामें इसके माहात्म्यका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

श्रीरामचन्द्रजीके वज्रपञ्जरनामक श्रीरामरक्षा-यन्त्रको धारण करनेसे सर्वसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, सभी पाप नष्ट हो जाते हैं, सभी आपत्तियाँ-विपत्तियाँ समूल नष्ट हो जाती हैं, भूत-प्रेत-पिशाचादि इसके देखते ही भाग जाते हैं, मित्रोंकी मित्रता दृढ़ होती है, शत्रु मित्र बन जाते हैं, क्रूर कष्टप्रद ग्रह प्रसन्न (अतएव शान्त) हो जाते हैं और शासकोंकी अनुकूलता प्राप्त होती है। बहुत क्या कहें, श्रीरामभद्रजूके श्रीरामरक्षा-यन्त्रके पूजन तथा धारण करनेसे कोई भी पदार्थ दुर्लभ नहीं रह जाता।

यावज्जीवं तु सौवर्णं रौप्ये विंशतिवर्षकम्।
भूर्जे द्वादश वर्षाणि तदर्धं ताम्रपत्रके ॥
सौवर्णे राजते पत्रे भूर्जे वा सम्यगालिखेत्।
अथवा ताम्रपत्रे च गुलिकीकृत्य धारयेत् ॥

अगस्त्य-संहिताके अनुसार स्वर्ण-पत्रपर अङ्कित रामरक्षा-यन्त्रराज जीवन-पर्यन्त, रजतपत्रपर अङ्कित बीस वर्ष, भोज-पत्रपर लिखित बारह वर्ष तथा ताम्रपत्रपर अङ्कित छः वर्षतक प्रभावयुक्त रहता है। उपासक अपनी शक्तिके अनुसार सोना, चाँदी, भोजपत्र अथवा ताम्रपत्रपर लिखकर इसे धारण करें। तावीज भी बनाकर धारण कर सकते हैं। यन्त्रको भोजपत्रपर लिखकर तथा प्राण-प्रतिष्ठा करवाकर सोना, चाँदी या ताँबेके तावीजमें धारण किया जा सकता है। यन्त्रराजके दर्शनमात्रसे अनन्त लाभ होता है।

जो नित्यप्रति श्रीरामरक्षा-स्तोत्रका पाठ करते हुए श्रीरामरक्षा-यन्त्रराजपर तुलसी-पत्र अर्पण करता है, वह सैकड़ों दीक्षाओंसे भी दुर्लभ फल प्राप्त करता है। वह आयु-आरोग्य, पुत्र-पौत्र—सभी लौकिक एवं पारलौकिक सुखोंको प्राप्तकर अन्तमें प्रभुके धाममें जाता है।

अत्रिमुनिकृत श्रीरामस्तुति

नमामि भक्त वत्सलं । कृपालु शील कोमलं ॥
भजामि ते पदांबुजं । अकामिनां स्वधामदं ॥
निकाम श्याम सुंदरं । भवाम्बुनाथ मंदरं ॥
प्रफुल्ल कंज लोचनं । मदादि दोष मोचनं ॥
प्रलंब बाहु विक्रमं । प्रभोऽप्रमेय वैभवं ॥
निषंग चाप सायकं । धरं त्रिलोक नायकं ॥
दिनेश वंश मंडनं । महेश चाप खंडनं ॥
मुनींद्र संत रंजनं । सुरारि वृंद भंजनं ॥
मनोज वैरि वंदितं । अजादि देव सेवितं ॥
विशुद्ध बोध विग्रहं । समस्त दूषणापहं ॥
नमामि इंदिरा पतिं । सुखाकरं सतां गतिं ॥
भजे सशक्ति सानुजं । शची पति प्रियानुजं ॥
त्वदंघ्रि मूल ये नराः । भजंति हीन मत्सराः ॥
पतंति नो भवार्णवे । वितर्क वीचि संकुले ॥
विविक्त वासिनः सदा । भजंति मुक्तये मुदा ॥
निरस्य इंद्रियादिकं । प्रयांति ते गतिं स्वकं ॥
तमेकमद्भुतं प्रभुं । निरीहमीश्वरं विभुं ॥
जगद्गुरुं च शाश्वतं । तुरीयमेव केवलं ॥
भजामि भाव वल्लभं । कुयोगिनां सुदुर्लभं ॥
स्वभक्त कल्प पादपं । समं सुसेव्यमन्वहं ॥
अनूप रूप भूपतिं । नतोऽहमुर्विजा पतिं ॥
प्रसीद मे नमामि ते । पदाब्ज भक्ति देहि मे ॥
पठंति ये स्तवं इदं । नरादरेण ते पदं ॥
व्रजंति नात्र संशयं । त्वदीय भक्ति संयुताः ॥ (मानस, अरण्यकाण्ड)

श्रीमानस-पुरश्चरण-यन्त्र

(प्रेषक—परमादरणीय श्रीजानकीशरणजी महाराज 'मधुकर')

किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये निश्चित संख्या या निश्चित अवधितक नियमपूर्वक जो (मन्त्र-जप या स्तोत्र-पाठ या विग्रह-पूजनरूपी) अनुष्ठान किया जाय, उसे 'पुरश्चरण' कहते हैं। अभीष्टकी सिद्धिके लिये श्रीरामचरितमानसका पाठ प्रायः श्रद्धालु लोग किया करते हैं। श्रीरामचरितमानस-पुरश्चरण-रूपमें एकाह्न-पारायण या नवाह्न-पारायण या मास-पारायण या अष्टोत्तरशत-पारायण करनेवाले साधकोंको पाठारम्भके पूर्व स्नानादिसे निवृत्त होकर शुद्ध स्थानमें शुद्ध आसन बिछाकर बैठ जाना चाहिये। दाहिने हाथमें जल, पुष्प और अक्षत लेकर निम्नलिखित संकल्पका पठन करना चाहिये—

ॐ तत्सदद्य ब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे सप्तमे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे प्रथम-चरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे (अमुक) संवत्सरे (अमुक) मासे (अमुक) पक्षे (अमुक) तिथौ (अमुक) वासरे (अमुक) नामाहं मम सकलाभीष्टसिद्धये श्रीसीताराम-प्रीत्यर्थं च श्रीरामचरितमानसस्य (अमुक) पारायणं करिष्ये।

तदुपरान्त श्रीगणेश-पूजन, गौरी-पूजन तथा कलश-संस्थापन करना चाहिये, जिससे आगत-अनागत सभी विघ्नों-का निवारण हो और अभीष्ट-सिद्धि-प्रदायक पुरश्चरण निर्विघ्न सम्पन्न हो।

गणेश-पूजन—

श्रीगणेशजीकी पूजाके लिये श्रीगणेशजीकी मूर्ति या चित्रको स्थापित करना चाहिये अथवा किसी शुद्ध पात्रमें रखे हुए चावलोंपर मोली लपेटी हुई सुपारी रखनी चाहिये अथवा मानसिक भावना कर लेनी चाहिये। फिर नीचे लिखे मन्त्रके अनुसार श्रीगणेशजीका ध्यान करते हुए एवं आवाहनकी भावना करते हुए अक्षत या पुष्प छोड़ने चाहिये—

गजाननं भूतगणादिसेवितं
कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम्।
उमासुतं शोकविनाशकारकं
नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम्॥

श्रीगणेशजीको आवाहित करके '**ॐ गं गणपतये नमः**' प्रत्येक बार बोलकर पञ्चोपचार (गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य) से अथवा केवल गन्ध-पुष्प समर्पित करते हुए पूजन करना चाहिये और उनसे प्रार्थना करनी चाहिये—

रक्ष रक्ष गणाध्यक्ष रक्ष त्रैलोक्यरक्षक।
भक्तानामभयं कर्ता त्राता भव भवार्णवात्॥

गौरी-पूजन—

इसी प्रकार जगदम्बा गौरीका पूजन करनेके लिये उनकी मूर्ति या चित्र सामने रख लेना चाहिये अथवा मानसिक भावना कर लेनी चाहिये। फिर जगदम्बा गौरीका ध्यान करते हुए तथा नीचे लिखे मन्त्रसे आवाहन करते हुए लाल पुष्प या अक्षत अर्पित करने चाहिये—

ॐ अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥

जगदम्बा गौरीको आवाहित करके '**ॐ गौं गौर्यै नमः**' प्रत्येक बार बोलकर पञ्चोपचार (गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य)से अथवा केवल गन्ध-पुष्प समर्पित करते हुए पूजन करना चाहिये और उनसे प्रार्थना करनी चाहिये—

सर्वमङ्गलमङ्गल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके।
शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोऽस्तु ते॥

कलश-संस्थापन—

कलशकी स्थापना मानस-पारायण-स्थलीके ईशान (उत्तर-पूर्व) दिशामें करनी चाहिये। शुद्ध भूमिपर रोलीसे अष्टदल कमल बनाकर, उसपर सप्तधान्य (यदि सप्तधान्य न हो तो गेहूँ या चावल) रखकर धान्यके ऊपर कलश स्थापित करे। फिर कलशमें जल, चन्दन, सुपारी और सर्वौषधि छोड़कर उसके ऊपर दूब, पञ्च-पल्लव, पूर्णपात्र और श्रीफल (नारियल) रखना चाहिये। तदुपरान्त कलशमें वरुण देवताका आवाहन करते हुए निम्नलिखित प्रार्थना करनी चाहिये—

कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः॥
कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः॥
अङ्गैश्च सहिताः सर्वे कलशं तु समाश्रिताः।
अत्र गायत्री सावित्री शान्तिः पुष्टिकरी तथा॥

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिन्धुकावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु ॥
सरितः सागराः शैलास्तीर्थानि जलदा नदाः ।
आयान्तु देवपूजार्थं दुरितक्षयकारकाः ॥

श्रीगणेश-गौरी-कलश-पूजनके उपरान्त साधकको विनियोग, अङ्ग-न्यास तथा करन्यास करना चाहिये । विनियोगद्वारा संकल्पका स्पष्टीकरण होता है कि भगवान् श्रीसीतारामकी प्रसन्नता-प्राप्तिके उद्देश्यसे इस अनुष्ठानको किया जा रहा है । उपासनाका सिद्धान्त है कि उपासक अपने अंदर उपास्यकी भावना करके ही उपासना करे—**'देवो भूत्वा यजेद् देवम्'** । इसी सिद्धान्तके अनुसार मन्त्रके अवयवोंका अङ्गन्यासके द्वारा उपासक अपने शरीरके अवयवोंमें न्यास (स्थापना) करता है और उस मन्त्रके विभिन्न अवयवोंको दोनों हाथोंके अवयवोंमें भी न्यास किया जाता है । इसीको 'करन्यास' कहते हैं ।

(अ) विनियोग—

ॐ अस्य श्रीमन्मानसरामायणश्रीरामचरितस्य श्रीशिव-काकभुशुण्डियाज्ञवल्क्यगोस्वामितुलसीदासा ऋषयः, श्री-सीतारामो देवता, श्रीरामनाम बीजम्, भवरोगहरी भक्तिः शक्तिः, मम नियन्त्रिताशेषविघ्नतया श्रीसीतारामप्रीतिपूर्वक-सकलमनोरथसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः ।

इसका पठन करके भूमिपर जल छोड़ दे । इस प्रकार विनियोग करके **'ॐ श्रीं सीतायै नमः, ॐ रां रामाय नमः'** इस युगल-मन्त्रका जप करके आचमन करना चाहिये और इसी मन्त्रसे प्राणायाम करना चाहिये । फिर न्यास-क्रिया करे ।

(आ) करन्यास—

(१) 'जग मंगल गुन ग्राम राम के । दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥ **अङ्गुष्ठाभ्यां नमः**'—इसे पढ़कर दोनों हाथोंकी तर्जनी अङ्गुलियोंसे दोनों अँगूठोंका स्पर्श करे ।

(२) 'राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं ॥ **तर्जनीभ्यां नमः**'—इसे पढ़कर दोनों अँगूठोंसे दोनों तर्जनी अङ्गुलियोंका स्पर्श करे ।

(३) 'राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥ **मध्यमाभ्यां नमः**'—इसे पढ़कर दोनों अँगूठोंसे दोनों मध्यमा अङ्गुलियोंका स्पर्श करे ।

(४) 'उमा दारु जोषित की नाईं । सबहि नचावत रामु गोसाईं ॥ **अनामिकाभ्यां नमः**'—इसे पढ़कर दोनों अँगूठोंसे दोनों अनामिका अङ्गुलियोंका स्पर्श करे ।

(५) 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥ **कनिष्ठिकाभ्यां नमः**'—इसे पढ़कर दोनों अँगूठोंसे कनिष्ठिका अङ्गुलियोंका स्पर्श करे ।

(६) 'मामभिरक्षय रघुकुल नायक । धृत वर चाप रुचिर कर सायक ॥ **करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः**'—इसे पढ़कर दोनों हाथोंकी हथेलियों एवं उनके पृष्ठभागोंका परस्पर स्पर्श करे ।

(इ) अङ्गन्यास—

(१) 'जग मंगल गुन ग्राम राम के । दानि मुकुति धन धरम धाम के ॥ **हृदयाय नमः**'—इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे हृदयका स्पर्श करे ।

(२) 'राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं ॥ **शिरसे स्वाहा**'—इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे सिरका स्पर्श करे ।

(३) 'राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥ **शिखायै वषट्**'—इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे शिखाका स्पर्श करे ।

(४) 'उमा दारु जोषित की नाईं । सबहि नचावत रामु गोसाईं ॥ **कवचाय हुम्**'—इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे बायें कंधेका स्पर्श और बायें हाथकी अङ्गुलियोंसे दाहिने कंधेका स्पर्श करे ।

(५) 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥ **नेत्राभ्यां वौषट्**'—इसे पढ़कर दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंके अग्रभागसे दोनों नेत्रोंका क्रमशः स्पर्श करे ।

(६) 'मामभिरक्षय रघुकुल नायक । धृत बर चाप रुचिर कर सायक ॥ **अस्त्राय फट्**'—इसे पढ़कर दाहिने हाथको सिरके बायीं ओरसे आगेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओर ले आये और तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजा दे ।

न्यास-क्रियाके सम्पन्न हो जानेके बाद भगवान् श्रीसीता-रामका ध्यान करना चाहिये । यथा—

नीलाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासिनं
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि ।

सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तीं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे॥

भावार्थ—बायें कर-कमलको घुटनेपर रखकर दाहिनेसे ज्ञानमयी मुद्रा धारण किये हुए, अविरत वीरासनसे विराजमान, श्यामल बादलके समान मञ्जुल कान्तिमान्, मुकुट, अङ्गद आदि विविध भूषाविभूषित, देदीप्यमान, दिव्य अङ्गोंको धारण करनेवाले भगवान् राघवेन्द्र श्रीरामका एवं उनके पार्श्वमें समासीन हो निर्निमेष नेत्रसे उन्हींको निहारती हुई, बिजलीके समान द्युतिवाली, करकमलधारिणी, धरानन्दिनी भगवती सीताका हम भजन करते हैं।

उपर्युक्त प्रारम्भिक पूजा कर चुकनेके बाद यन्त्र-पूजनका समारम्भ करना चाहिये। यन्त्र स्वर्ण-पत्र, रजत-पत्र, ताम्र-पत्र या भोज-पत्रपर बनाया जा सकता है। अथवा बेल, आँवला, पीपल, वट या आम्रके समतल काष्ठपर भी बनाया जा सकता है। यन्त्रको अनार (या चमेली) की लेखनीसे लिखना चाहिये। जैसी सुविधा-व्यवस्था हो, तदनुसार यन्त्र लाल चन्दन, हल्दी, केशर या गोरोचनसे लिखा जा सकता है। यन्त्रपूजनमें यन्त्रस्थ देवी-देवताओंकी पूजा षोडशोपचारसे या पञ्चोपचारसे या गन्ध-पुष्पसे विधिपूर्वक करनी चाहिये। प्रारम्भमें यन्त्रके बहिर्दलस्थ देवी-देवताओंकी पूजा होगी, फिर अन्तःकोणस्थ देवताओंकी और अन्तमें केन्द्रस्थ भगवान् श्रीसीताराम एवं श्रीरामचरितमानसकी पूजा करनी चाहिये।

(क) बहिर्दलस्थ-देवाराधन—

यन्त्रमें बाहरके जिस दलपर 'ॐ श्रीगणाधिपतये नमः' लिखा गया है, उस दलसे पूजा आरम्भ करके दक्षिणकी ओरसे क्रमशः श्रीपार्वतीजी, श्रीनरहरिदासजी आदिकी पूजा करते हुए अन्तमें श्रीब्रह्माजीका पूजन करना चाहिये।

१—ॐ गं गणाधिपतये नमः। गणाधिपतिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२—ॐ पां पार्वत्यै नमः। पार्वतीश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

३—ॐ नं नरहरिदासाय नमः। नरहरिदासश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

४—ॐ वां वाल्मीकये नमः। वाल्मीकिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

५—ॐ सूं सूर्यदेवाय नमः। सूर्यदेवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

६—ॐ विं विष्णवे नमः। विष्णुश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

७—ॐ धं धनदाय नमः। धनदश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

८—ॐ बं ब्रह्मणे नमः। ब्रह्मश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

(ख) अन्तःकोणस्थ-देवाराधन—

यन्त्रके अन्तःकोणस्थ जिस कोष्ठकमें 'ॐ श्रीहनुमते नमः' लिखा है, उस कोष्ठकसे पूजा आरम्भ करके दक्षिण ओरसे क्रमशः श्रीअङ्गदजी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी आदिकी पूजा करते हुए अन्तमें श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकी पूजा करनी चाहिये।

९—ॐ हं हनुमते नमः। हनुमच्छ्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१०—ॐ अं अङ्गदाय नमः। अङ्गदश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

११—ॐ सुं सुग्रीवाय नमः। सुग्रीवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१२—ॐ यां याज्ञवल्क्याय नमः। याज्ञवल्क्यश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१३—ॐ लं लक्ष्मणाय नमः। लक्ष्मणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१४—ॐ शिं शिवाय नमः। शिवश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१५—ॐ भं भरताय नमः। भरतश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१६—ॐ विं विभीषणाय नमः। विभीषणश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१७—ॐ शं शत्रुघ्नाय नमः। शत्रुघ्नश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१८—ॐ कां काकभुशुण्डये नमः। काकभुशुण्डिश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

१९–ॐ जां जाम्बवते नमः। जाम्बवच्छ्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

२०–ॐ गों गोस्वामितुलसीदासाय नमः। गोस्वामितुलसीदासश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।

(ग) केन्द्रस्थ-देवाराधन—

अन्तमें यन्त्रके केन्द्रमें स्थित भगवान् श्रीसीताराम तथा श्रीरामचरितमानसकी पूजा करनी चाहिये।

मानस पुरश्चरण यन्त्र

पूर्व
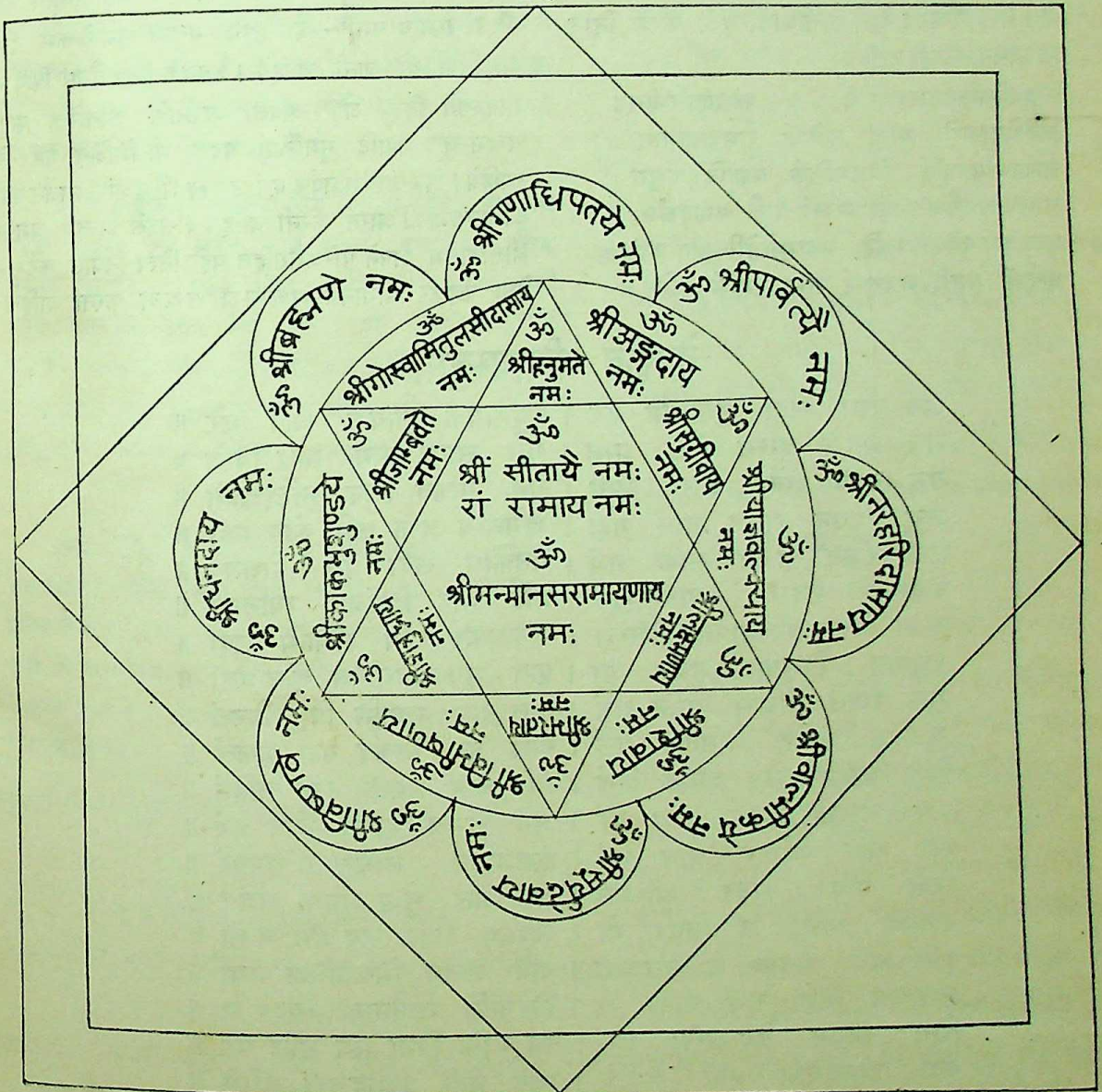
पश्चिम

२१—'ॐ श्रीं सीतायै नमः, ॐ रां रामाय नमः। सीताराम-श्रीपादुके पूजयामि तर्पयामि नमः।'—इस मन्त्रसे भगवान् श्रीसीतारामका षोडशोपचार या पञ्चोपचार या गन्ध-पुष्पसे पूजन करना चाहिये।

२२—'ॐ रां रामचरितमानसरामायणाय नमः। रामचरितमानसश्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः।'—इस मन्त्रसे यन्त्र-केन्द्रस्थ श्रीमन्मानसरामायणकी और इसीके साथ-साथ जिस ग्रन्थसे मानस-पारायण-पुरश्चरण किया जाय, उस ग्रन्थकी भी षोडशोपचार या पञ्चोपचार या गन्ध-पुष्पसे पूजा करनी चाहिये।

इस तरह यन्त्रस्थ देवी-देवताओंकी पूजा करके निम्नलिखित प्रार्थना करनी चाहिये—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥
यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्॥

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥
मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिषम भव भीर॥

इस प्रकार प्रत्येक दिन, जबतक पुरश्चरण चलता रहे, पाठके पूर्व पूजा कर लेनी चाहिये। अन्तमें जिस दिन पाठ पूरा हो रहा हो, इन सभी देवताओंके लिये उनके-उनके मन्त्रसे आहुतियाँ दी जानी चाहिये और प्रधान देवता भगवान् श्रीसीतारामजीके लिये उनके '**ॐ श्रीं सीतायै नमः, ॐ रां रामाय नमः।**'—इस युगल-मन्त्रसे कम-से-कम १०[illegible] आहुतियाँ दी जानी चाहिये। हवनके लिये तैयार किये गये शाकल्यमें तिल, जौ, चावल, शर्कराके अतिरिक्त कपूर, चन्दन-चूर्ण आदि सुगन्धित पदार्थ भी मिश्रित कर लेने चाहिये। फिर दशांश तर्पण एवं उसका भी दशांश मार्जन करके श्रीमानसजीकी आरती करनी चाहिये। सबसे अन्तमें 'भगवान् श्रीसीताराम अपने परिकरोंसहित यहाँ नित्य निवास करें'—ऐसा कहकर श्रीमानस-पुरश्चरणको सम्पन्न करना चाहिये।

देवकृत श्रीरामस्तुति

जय राम सदा सुखधाम हरे। रघुनायक सायक चाप धरे॥
भव बारन दारन सिंह प्रभो। गुन सागर नागर नाथ बिभो॥
तन काम अनेक अनूप छबी। गुन गावत सिद्ध-मुनींद्र-कबी॥
जसु पावन रावन नाग महा। खगनाथ जथा करि कोप गहा॥
जन रंजन भंजन सोक भयं। गतक्रोध सदा प्रभु बोधमयं॥
अवतार उदार अपार गुनं। महि भार बिभंजन ग्यानघनं॥
अज ब्यापकमेकमनादि सदा। करुनाकर राम नमामि मुदा॥
रघुबंस बिभूषन दूषन हा। कृत भूप बिभीषन दीन रहा॥
गुन ग्यान निधान अमान अजं। नित राम नमामि बिभुं बिरजं॥
भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं। खल बृंद निकंद महा कुसलं॥
बिनु कारन दीन दयाल हितं। छबि धाम नमामि रमा सहितं॥
भव तारन कारन काज परं। मन संभव दारुन दोष हरं॥
सर चाप मनोहर त्रोन धरं। जलजारुन लोचन भूपबरं॥
सुख मंदिर सुंदर श्रीरमनं। मद मार मुधा ममता समनं॥
अनवद्य अखंड न गोचर गो। सबरूप सदा सब होइ न गो॥
इति बेद बदंति न दंतकथा। रबि आतप भिन्नमभिन्न जथा॥
कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए॥
धिग जीवन देव-सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥
अब दीनदयाल दया करिऐ। मति मोरि बिभेदकरी हरिऐ॥
जेहि ते बिपरीत क्रिया करिऐ। दुख सो सुख मानि सुखी चरिऐ॥
खल-खंडन मंडन रम्य छमा। पद-पंकज सेवित संभु उमा॥
नृप नायक दे बरदानमिदं। चरनांबुज प्रेमु सदा सुभदं॥ (मानस, लङ्काकाण्ड)

मानस-सिद्धमन्त्र

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीद्वारा रचित श्रीरामचरितमानस एक प्रासादिक ग्रन्थ है। ऐसी मान्यता है कि इस असाधारण ग्रन्थके दोहे-चौपाई मन्त्र-सदृश पवित्र एवं प्रभावकारी हैं तथा आश्रित भक्तको अपेक्षित फल प्रदान करनेमें समर्थ हैं। श्रीरामचरितमानसका पाठ या अनुष्ठान करनेसे अथवा इस ग्रन्थके दोहे-चौपाइयोंको सिद्ध करके मन्त्रकी भाँति जप करनेसे अनेक सकाम एवं निष्काम साधकोंको अभीष्टकी प्राप्ति हुई है और ऐसे प्रसङ्ग प्रायः कल्याणमें छपते रहे हैं। यहाँ अनुष्ठानमें प्रयुक्त होनेवाले कुछ मानस-सिद्धमन्त्र दिये जा रहे हैं, जिनसे साधक लोग लाभ उठा सकते हैं।

मानसके दोहे-चौपाइयोंको सिद्ध करनेका विधान यह है कि पहले रातको दस बजेके बाद हवनके द्वारा मन्त्र सिद्ध करना चाहिये। फिर जिस कार्यके लिये मन्त्र-जपकी आवश्यकता हो, उसके लिये नित्य जप करना चाहिये। काशीमें भगवान् शंकरजीने मानसकी चौपाइयोंको मन्त्र-शक्ति प्रदान की है—इसलिये काशीकी ओर मुख करके, उन्हें साक्षी बनाकर श्रद्धासे जप करना चाहिये।

रक्षा-रेखा

मन्त्र 'सिद्ध' करनेके लिये या किसी संकटपूर्ण जगहपर रात व्यतीत करनेके लिये अपने चारों ओर रक्षाकी रेखा खींच लेनी चाहिये। लक्ष्मणजीने सीताजीकी कुटीके आस-पास जो रक्षा-रेखा खींची थी, उसी लक्ष्यपर यह रक्षामन्त्र बनाया गया है। इसे एक सौ आठ आहुतिद्वारा सिद्ध कर लेना चाहिये—

मामभिरक्षय रघुकुलनायक। धृत बर चाप रुचिर कर सायक॥

विविध मन्त्र

(१) विचार शुद्ध करनेके लिये—

ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥

(२) संशय-निवृत्तिके लिये—

राम कथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी॥

(३) ईश्वरसे अपराध क्षमा करानेके लिये—

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता॥

(४) विरक्तिके लिये—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(५) ज्ञान-प्राप्तिके लिये—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(६) भक्तिकी प्राप्तिके लिये—

भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥

(७) श्रीहनुमान्‌जीको प्रसन्न करनेके लिये—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

(८) मोक्ष-प्राप्तिके लिये—

सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा। कालसर्प जनु चले सपच्छा॥

(९) श्रीसीतारामजीके दर्शनके लिये—

नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

(१०) श्रीजानकीजीके दर्शनके लिये—

जनक सुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुना निधान की॥

(११) श्रीरामचन्द्रजीको वशमें करनेके लिये—

केहरि कटि पट पीत धर सुषमा सील निधान।
देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥

(१२) सहज स्वरूप-दर्शनके लिये—

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥

(१३) भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

(१४) श्रीराम-पदानुरक्तिकी प्राप्तिके लिये—

प्रसीद मे नमामि ते। पदाब्ज भक्ति देहि मे॥

(१५) श्रीगिरिजाकी प्रसन्नताके लिये—

जय जय गिरिबर राज किसोरी। जय महेस मुख चंद चकोरी॥

(१६) श्रीरामललाजीकी कृपा-प्राप्तिके लिये—

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

(१७) प्रेम बढ़ानेके लिये—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥

(१८) विपत्ति-नाशके लिये—

राजिव नयन धरें धनु सायक । भगत बिपति भंजन सुखदायक ॥

(१९) संकट-नाशके लिये—

जौं प्रभु दीन दयालु कहावा । आरति हरन बेद जसु गावा ॥
जपहिं नामु जन आरत भारी । मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ॥
दीन दयाल बिरिदु संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ॥

(२०) कठिन क्लेश-नाशके लिये—

हरन कठिन कलि कलुष कलेसू । महामोह निसि दलन दिनेसू ॥

(२१) विघ्न-विनाशके लिये—

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही । राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही ॥

(२२) खेद-नाशके लिये—

जब तें रामु ब्याहि घर आए । नित नव मंगल मोद बधाए ॥

(२३) महामारी, हैजा और मरीका प्रभाव न पड़े, इसके लिये—

जय रघुबंस बनज बन भानू । गहन दनुज कुल दहन कृसानू ॥

(२४) विविध रोगों तथा उपद्रवोंकी शान्तिके लिये—

दैहिक दैविक भौतिक तापा । राम राज नहिं काहुहि ब्यापा ॥

(२५) मस्तिष्ककी पीड़ा दूर करनेके लिये—

हनूमान अंगद रन गाजे । हाँक सुनत रजनीचर भाजे ॥

(२६) विष-नाशके लिये—

नाम प्रभाउ जान सिय नीको । कालकूट फलु दीन्ह अमी को ॥

(२७) अकाल-मृत्यु-निवारणके लिये—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट ॥

(२८) भूतको भगानेके लिये—

प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन ।
जासु हृदयँ आगार बसहिं राम सर चाप धर ॥

(२९) नजर झाड़नेके लिये—

स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी । निरखहिं छबि जननी तृन तोरी ॥

(३०) खोयी हुई वस्तु पुनः प्राप्त करनेके लिये—

गई बहोर गरीब नेवाजू । सरल सबल साहिब रघुराजू ॥

(३१) जीविका-प्राप्तिके लिये—

बिस्व भरन पोषन कर जोई । ताकर नाम भरत अस होई ॥

(३२) दरिद्रता दूर करनेके लिये—

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के । कामद घन दारिद दवारि के ॥

(३३) लक्ष्मी-प्राप्तिके लिये—

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं । जद्यपि ताहि कामना नाहीं ॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाएँ । धरमसील पहिं जाहिं सुभाएँ ॥

(३४) पुत्र-प्राप्तिके लिये—

प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान ।
सुख सनेह बस माता बालचरित कर गान ॥

(३५) सम्पत्तिकी प्राप्तिके लिये—

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं । सुख संपति नाना बिधि पावहिं ॥

(३६) ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करनेके लिये—

साधक नाम जपहिं लय लाएँ । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ ॥

(३७) सब सुख-प्राप्तिके लिये—

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई । लहहिं भगति गति संपति नई ॥

(३८) मनोरथ-सिद्धिके लिये—

भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि ।
तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि ॥

(३९) कुशल-क्षेमके लिये—

भुवन चारिदस भरा उछाहू । जनकसुता रघुबीर बिआहू ॥

(४०) मुकदमा जीतनेके लिये—

पवन तनय बल पवन समाना । बुधि बिबेक बिग्यान निधाना ॥

(४१) शत्रुके सामने जाना हो उस समयके लिये—

कर सारंग साजि कटि भाथा । अरि दल दलन चले रघुनाथा ॥

(४२) शत्रुको मित्र बनानेके लिये—

गरल सुधा रिपु करहिं मिताई । गोपद सिंधु अनल सितलाई ॥

(४३) शत्रुता-नाशके लिये—

बयरु न कर काहू सन कोई । राम प्रताप बिषमता खोई ॥

(४४) शास्त्रार्थमें विजय पानेके लिये—

तेहिं अवसर सुनि सिव धनु भंगा । आयउ भृगुकुल कमल पतंगा ॥

(४५) विवाहके लिये—

तब जनक पाइ बसिष्ठ आयसु ब्याह साज सँवारि कै ।
मांडवी श्रुतकीरति उरमिला कुँअरि लईं हँकारि कै ॥

(४६) यात्राकी सफलताके लिये—

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा । हृदयँ राखि कोसलपुर राजा ॥

(४७) परीक्षामें पास होनेके लिये

मोरि सुधारिहि सो सब भाँती । जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती ॥

(४८) विद्या-प्राप्तिके लिये—

गुरु गृहँ गए पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब पाई ॥

(४९) उत्सवकी सफलताके लिये—

सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं ।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन राम जसु ॥

(५०) कातरकी रक्षाके लिये—

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ । एहि अवसर सहाय सोइ होऊ ॥

(५१) भगवत्स्मरण करते हुए आरामसे मरनेके लिये—

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग ।
सुमन माल जिमि कंठ तें गिरत न जानइ नाग ॥

हवनकी सामग्री

(१) चन्दनका बुरादा, (२) तिल, (३) शुद्ध घी, (४) शुद्ध चीनी, (५) अगर, (६) तगर, (७) कपूर, (८) शुद्ध केसर, (९) नागरमोथा, (१०) पञ्चमेवा, (११) जौ और (१२) चावल ।

जाननेकी बातें

जिस उद्देश्यके लिये जिस चौपाई, दोहे या सोरठेका जप करना बताया गया है, उसको सिद्ध करनेके लिये एक दिन हवनकी सामग्रीसे उस चौपाई, दोहे या सोरठेके द्वारा १०८ बार हवन करना चाहिये । यह हवन केवल एक ही दिन करना है । इसके लिये कोई अलग कुण्ड बनानेकी आवश्यकता नहीं है । मामूली मिट्टीकी वेदी बनाकर, उसपर अग्नि रखकर उसमें आहुति दे देनी चाहिये । प्रत्येक आहुतिमें चौपाई आदिके अन्तमें 'स्वाहा' बोल देना चाहिये । यह हवन रातको १० बजेके बाद ही करना होगा ।

प्रत्येक आहुति लगभग पौन तोलेकी (सब चीजें मिलाकर) होनी चाहिये । इस हिसाबसे १०८ आहुतिके लिये एक सेर (८० तोले) सामग्री सब चीजें मिलाकर बना देनी चाहिये । कोई चीज कम-ज्यादा भी हो तो आपत्ति नहीं । पञ्चमेवामें पिश्ता, बादाम, किशमिश, अखरोट और काँजू ले सकते हैं । इनमेंसे कोई चीज न मिले तो उसके बदलेमें चिलगोजा या मिश्री मिला सकते हैं । केसर शुद्ध चार आने भर ही डालनेसे काम चल जायगा । अधिककी आवश्यकता नहीं है ।

हवन करते समय माला रखनेकी आवश्यकता एक सौ आठकी संख्या गिननेभरके लिये है । इसलिये दाहिने हाथसे आहुति देकर फिर दाहिने हाथसे ही मालाका एक मनका सरका देना चाहिये । फिर माला या तो बायें हाथमें ले लेनी चाहिये या आसनपर रख देनी चाहिये । फिर आहुति देनेके बाद उसे दाहिने हाथमें लेकर मनका सरका देना चाहिये । माला रखनेमें असुविधा हो तो गेहूँ, जौ या चावल आदिके १०८ दाने रखकर उनसे गिनती की जा सकती है । बैठनेके लिये आसन ऊनका अथवा कुशका होना चाहिये । सूती कपड़ेका हो तो वह धोया हुआ पवित्र होना चाहिये ।

मन्त्र सिद्ध करनेके लिये चौपाई या दोहा यदि लङ्काकाण्डका हो तो उसे शनिवारको हवन करके सिद्ध करना चाहिये । दूसरे काण्डोंके चौपाई-दोहे किसी भी दिन हवन करके सिद्ध किये जा सकते हैं । रक्षा-रेखाकी चौपाई एक बार बोलकर जहाँ बैठे हों, वहाँ अपने आसनके चारों ओर चौकोर रेखा खींच लेनी चाहिये । इस चौपाईको भी ऊपर लिखे अनुसार एक सौ आठ आहुति देकर सिद्ध कर लेना चाहिये । पर रक्षा-रेखा न भी खींची जाय तो भी आपत्ति नहीं है ।

एक दिन हवन करनेसे मन्त्र सिद्ध हो गया । इसके बाद जबतक कार्य सफल न हो, तबतक उस मन्त्र (चौपाई, दोहे) आदिका प्रतिदिन कम-से-कम एक सौ आठ बार प्रातःकाल या रात्रिको जब सुविधा हो, जप करते रहना चाहिये; अधिक कर सकें तो अधिक अच्छा । कोई

चाहें तो नियमके जपके सिवा दिनभर चलते-फिरते भी उस चौपाई या दोहेका जप कर सकते हैं। जितना अधिक हो, उतना ही उत्तम है।

कोई दो कार्योंके लिये दो चौपाइयोंका अनुष्ठान एक साथ करना चाहें तो कर सकते हैं। पर दोनों चौपाइयोंको पहले दो दिनोंमें अलग-अलग हवन करके सिद्ध कर लेना चाहिये।

स्त्रियाँ भी इस अनुष्ठानको कर सकती हैं, परंतु रजस्वला होनेकी स्थितिमें जप बंद रखना चाहिये। हवन भी रजस्वला अवस्थामें नहीं करना चाहिये।

जप करते समय मनमें यह विश्वास अवश्य रखना चाहिये कि 'भगवान् श्रीसीतारामजीकी अहैतुकी कृपासे मेरा कार्य अवश्य सफल होगा।' विश्वासपूर्वक जप करनेपर सफल होनेकी पूरी आशा है।

बजरंग-बाण

(प्रेषक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, विद्याभूषण, दर्शनकेसरी)

'बजरंग-बाण'में पूरी श्रद्धा रखने और निष्ठापूर्वक उसके संकेत देनेसे (बार-बार दुहरानेसे) हमारे अचेतन मनमें हनुमान्‌जीकी शक्तियाँ जमने लगती हैं। शक्तिके विचारोंमें रमण करनेसे शरीरमें शक्ति बढ़ती है। शुभ विचारोंको मनमें जमानेसे मनुष्यकी भलाईकी शक्तियाँ—उसका सत्-चित्-आनन्दस्वरूप खिलता जाता है। मामूली कष्टों और संकटोंके निरोधकी शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। साहस और निर्भीकता आ जाती है। इस प्रकार बजरंग-बाणमें विश्वास रखने और उसे काममें लेनेसे कोई भी कायर मनुष्य बदलकर निर्भय और शक्तिशाली बन सकता है।

बजरंग-बाणके श्रद्धापूर्वक उच्चारण करनेसे मनुष्य शक्तिके पुञ्ज महावीर हनुमान्‌को स्थायी रूपसे अपने मनमें धारण कर लेता है। इससे उसके सब संकट अल्पकालमें ही दूर हो जाते हैं।

साधकको चाहिये कि वह अपने सामने हनुमान्‌जीकी मूर्ति या कोई बड़ा चित्र रक्खे और उसके अनुसार पूरे आत्मविश्वास और निष्ठाके साथ उनका ध्यान करे। मनमें ऐसी धारणा करे कि हनुमान्‌जीकी दिव्य शक्तियाँ धीरे-धीरे हमारे अंदर प्रवेश कर रही हैं। जब यह मूर्ति मनमें स्थायी रूपसे उतरने लगे, अंदरसे शक्तिका स्रोत खुलने लगे, तभी बजरंग-बाणकी सिद्धि समझनी चाहिये। श्रद्धायुक्त अभ्यास ही पूर्णताकी सिद्धिमें सहायक होता है। पूजनमें हनुमान्‌जीकी शक्तियोंपर एकाग्रताकी परम आवश्यकता है।

पूजा कैसे प्रारम्भ करें ?

सबसे पहले अपने सामने हनुमान्‌जीकी मूर्ति अथवा चित्र रखिये और चन्दन, पुष्प, धूप आदिसे पूजन कर ध्यानसे उसे देखिये। श्रद्धाके साथ उन्हें प्रणाम कीजिये। फिर श्रद्धापूर्वक यह स्तुति दुहराइये—

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥

आप महावीर हैं। आपमें अतुल बल है। आपके बलको कौन तौल सका है। आप शारीरिक, आध्यात्मिक, नैतिक और हर प्रकारके उच्चतम बलकी साक्षात् मूर्ति हैं। आपकी यह पुष्ट सशक्त देह पर्वतके समान है। आपमें स्वर्णिम तेज देदीप्यमान है। आपकी देह वीर्यबलसे ऐसी दीप्तिमान् है, मानो सोनेका पर्वत चमक रहा हो। आप शक्तिमें राक्षसों (और समस्त आसुरी शक्तियों) के वनको जलानेके लिये भयंकर दावानलके समान हैं। आप ज्ञानियोंमें अग्रणी हैं। सकल शुभ दैवी गुणोंसे भरे हुए हैं। आप वानर-सेनाके अधीश्वर हैं। भगवान् रामके प्रिय भक्त हैं। आप स्फूर्तिमें पवन-जैसे हैं। पवनपुत्र ही हैं। अतः मैं कार्यसिद्धिके लिये, आपकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये आपको नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार हनुमान्‌जीका श्रद्धापूर्वक ध्यान करके निम्नाङ्कित 'बजरंग-बाण'का प्रेमपूर्वक उच्चारण करना चाहिये। बार-बार दोहरानेसे यह याद हो जाता है और तब इसके पाठमें अधिक समय नहीं लगता।

यह है वह चमत्कारी 'बजरंग-बाण'। आप इसके शब्दों

और उनके अर्थपर गौर कीजिये तथा प्रेमसे पढ़िये। प्रतिदिन दोहराइये।

बजरंग-बाण

निश्चय प्रेम प्रतीति ते बिनय करैं सनमान।
तेहि के कारज सकल सुभ सिद्ध करैं हनुमान॥

जय हनुमंत संत-हितकारी। सुनि लीजै प्रभु बिनय हमारी॥
जन के काज बिलंब न कीजै। आतुर दौरि महासुख दीजै॥
जैसे कूदि सिंधु के पारा। सुरसा बदन पैठि बिस्तारा॥
आगे जाय लंकिनी रोका। मारेहु लात गई सुरलोका॥
जाय बिभीषन को सुख दीन्हा। सीता निरखि परम-पद लीन्हा॥
बाग उजारि सिंधु महँ बोरा। अति आतुर जमकातर तोरा॥
अछय कुमार मारि संहारा। लूम लपेटि लंक को जारा॥
लाह समान लंक जरि गई। जय जय धुनि सुरपुर नभ भई॥
अब बिलंब केहि कारन, स्वामी। कृपा करहु, उर-अंतरजामी॥
जय जय लखन-प्रान के दाता। आतुर है दुख करहु निपाता॥
जय हनुमान, जयति बल-सागर। सुर-समूह-समरथ भट-नागर॥
ॐ हनु हनु हनु हनुमंत हठीले। बैरिहि मारु बज्रकी कीले॥
ॐ ह्रीं ह्रीं ह्रीं हनुमंत कपीसा। ॐ हुं हुं हुं हनु अरि-उर-सीसा॥
जय अंजनिकुमार बलवंता। संकर-सुवन बीर हनुमंता॥
बदन कराल काल-कुल-घालक। राम-सहाय सदा प्रतिपालक॥
भूत प्रेत पिसाच निसाचर। अगनि बेताल काल मारी मर॥
इन्हें मारु, तोहि सपथ राम की। राखु, नाथ! मरजाद नाम की॥
सत्य होहु हरि-सपथ पाइ कै। रामदूत धरु मारि धाइ कै॥
जय जय जय हनुमंत अगाधा। दुख पावत जन केहि अपराधा॥
पूजा-जप-तप-नेम-अचारा। नहिं जानत कछु दास तुम्हारा॥
बन उपबन मग गिरि गृह माहीं। तुम्हरे बल हौं डरपत नाहीं॥
जनकसुता-हरि-दास कहावौ। ता की सपथ बिलंब न लावौ॥
जय-जय-जय-धुनि होत अकासा। सुमिरत होय दुसह दुख नासा॥
चरन पकरि, कर जोरि मनावौं। यहि औसर अब केहि गोहरावौं॥
उठु, उठु, चलु तोहि राम-दोहाई। पायँ परौं कर जोरि मनाई॥
ॐ चम चम चम चम चपल चलंता। ॐ हनु हनु हनु हनु हनु हनुमंता॥
ॐ हं हं हाँक देत कपि चंचल। ॐ सं सं सहमि पराने खल-दल॥
अपने जन को तुरत उबारौ। सुमिरत होय अनंद हमारौ॥
यह बजरंग-बाण जेहि मारै। ताहि कहौ फिरि कवन उबारै॥
पाठ करै बजरंग-बाण की। हनुमत रच्छा करैं प्रान की॥
यह बजरंग-बाण जो जापैं। तासों भूत-प्रेत सब काँपैं॥
धूप देय जो जपै हमेसा। ता के तन नहिं रहै कलेसा॥

उर प्रतीति दृढ़, सरन ह्वै, पाठ करै, धरि ध्यान।
बाधा सब हर, करैं सब काम सफल हनुमान॥

उपर्युक्त बजरंग-बाणको कण्ठस्थ कर लेना चाहिये और कुछ दिनोंतक महाबली हनुमान्‌के चित्रके सामने श्रद्धापूर्वक उच्चारण करना तथा उनके गुणोंपर मनको केन्द्रित करना चाहिये। धीरे-धीरे ऐसा अनुभव होगा कि शरीरके अणु-अणुमें नये प्राण और नवीन चेतना फैल रही है, नयी शक्ति आ रही है, मानो शरीरमें साक्षात् हनुमान् ही विराज रहे हैं। यह अपनी शक्तियोंको विकसित करनेका आध्यात्मिक उपाय है।

कष्ट और संकटके समय, रात्रिमें शान्त निद्राके लिये, बच्चोंकी नजर उतारने, भूत-बाधा दूर करने, अकारण भयको नष्ट करनेके लिये और निर्विघ्न दिन व्यतीत करनेके लिये इस चमत्कारी बजरंग-बाणका प्रयोग किया जा सकता है। किसी महत्त्वपूर्ण कार्यपर जानेसे पहले इसे स्मरण करना सिद्धिमें सहायक होता है।

हनुमान्‌की कृपादृष्टि

जाकें गति है हनुमान की।
ताकी पैज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषान की॥
अघटित-घटन, सुघट-बिघटन, ऐसी बिरुदावलि नहिं आन की।
सुमिरत संकट-सोच-बिमोचन, मूरति मोद-निधान की॥
तापर सानुकूल गिरजा, हर, लखन, राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा बिलोकनि खानि सकल कल्यान की॥
—गोस्वामी तुलसीदासजी

श्रीहनुमत्कवच

वन्दना

उद्यदादित्यसंकाशमुदारभुजविक्रमम् ।
कंदर्पकोटिलावण्यं सर्वविद्याविशारदम् ॥
श्रीरामहृदयानन्दं भक्तकल्पमहीरुहम् ।
अभयं वरदं दोर्भ्यां कलये मारुतात्मजम् ॥
हनुमानञ्जनीसूनुर्वायुपुत्रो महाबलः ।
रामेष्टः फाल्गुनसखः पिङ्गाक्षोऽमितविक्रमः ॥
उदधिक्रमणश्चैव सीताशोकविनाशनः ।
लक्ष्मणप्राणदाता च दशग्रीवस्य दर्पहा ॥
एवं द्वादश नामानि कपीन्द्रस्य महात्मनः ।
स्वापकाले प्रबोधे च यात्राकाले च यः पठेत् ॥
तस्य सर्वभयं नास्ति रणे च विजयी भवेत् ।
राजद्वारे गह्वरे च भयं नास्ति कदाचन ॥
उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥

'जिनके शरीरका रंग उदयकालीन सूर्यके समान है, जिनकी भुजाओंका पराक्रम बढ़ा-चढ़ा है, जो करोड़ों कामदेवोंके समान सुन्दर, सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात, श्रीरामजीके हृदयको आनन्दित करनेवाले तथा भक्तोंके लिये कल्पवृक्षके तुल्य हैं और अपनी भुजाओंमें अभय एवं वरदायिनी मुद्रा धारण किये रहते हैं, उन श्रीहनुमान्‌जीका मैं चिन्तन करता हूँ । हनुमान्, अञ्जनीसूनु, वायुपुत्र, महाबल (महाबलवान्), रामेष्ट (रामके प्यारे), फाल्गुन (अर्जुन)-के सहायक (रूपमें उनकी ध्वजामें निवास करनेवाले), पिङ्गाक्ष (पीली आँखोंवाले), अमितविक्रम (अनन्त पराक्रमशाली), उदधिक्रमण (समुद्रको लाँघ जानेवाले), सीता-शोक-विनाशन (सीताके शोकका नाश करनेवाले), लक्ष्मणप्राणदाता (लक्ष्मणको संजीवनी बूटी लाकर जिलानेवाले) तथा रावणदर्पहारी—महान् आत्मबलसे सम्पन्न कपिराज हनुमान्‌जीके इन बारह नामोंका जो मनुष्य सोते, जागते अथवा कहीं भी यात्रा करते समय पाठ करता है, उसे किसी प्रकारका भी भय नहीं होता और वह संग्राममें विजयी होता है । राजद्वार एवं गहन वन (आदि) किसी भी स्थानमें उसे कभी किसी प्रकारका भय नहीं रहता । जिसने लीलापूर्वक समुद्रकी अगाध जलराशिको लाँघनेके बाद सीत शोकाग्निको लेकर उसीसे सारी लङ्काको जलाकर राख डाला, उन अञ्जनानन्दन हनुमान्‌जीको मैं हाथ जोड़ प्रणाम करता हूँ ।'

विनियोग

ॐ नमो हनुमते सर्वग्रहान् भूतभविष्यद्वर्तमान समीपस्थान् सर्वकालदुष्टबुद्धीनुच्चाटय परबलान् क्षोभय क्षोभय मम सर्वकार्याणि साधय साधय ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं घे घे घे ॐ शिवसिद्धं ॐ ह्रां ॐ ह्रीं ॐ ह्रूं ॐ ह्रैं ॐ ॐ ह्रः स्वाहा । परकृतयन्त्रमन्त्रपराहंकारभूतप्रेतपिशाच सर्वविघ्नदुर्जनचेष्टाकुविद्यासर्वोग्रभयानि निवारय निवा बन्ध बन्ध लुण्ठ लुण्ठ विलुञ्च विलुञ्च किलि किलि कि सर्वकुयन्त्राणि दुष्टवाचं ॐ फट् स्वाहा । ॐ अस्य श्रीह मत्कवचस्तोत्रमन्त्रस्य श्रीरामचन्द्र ऋषिः । श्रीहनुमान् परमा देवता । अनुष्टुप् छन्दः । मारुतात्मज इति बीजम् अञ्जनासूनुरिति शक्तिः । लक्ष्मणप्राणदातेति कीलकम् रामदूतायेत्यस्त्रम् । हनुमान् देवता इति कवचम् । पिङ्गाक्ष मितविक्रम इति मन्त्रः । श्रीरामचन्द्रप्रेरणया रामचन्द्रप्रीत मम सकलकामनासिद्ध्यर्थं जपे विनियोगः ।

न्यास

अङ्गुलिन्यासः—ॐ ह्रां अञ्जनासुताय अङ्गुष्ठा नमः । ॐ ह्रीं रुद्रमूर्तये तर्जनीभ्यां नमः । ॐ ह्रूं रामदूत मध्यमाभ्यां नमः । ॐ ह्रैं वायुपुत्राय अनामिकाभ्यां नमः । ह्रौं अग्निगर्भाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ ह्रः ब्रह्मा निवारणाय करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः । एवं हृद षडङ्गन्यासः कार्यः ।

ध्यायेद् बालदिवाकरद्युतिनिभं देवारिदर्पापहं
देवेन्द्रप्रमुखं प्रशस्तयशसं देदीप्यमानं रुचा ।
सुग्रीवादिसमस्तवानरयुतं सुव्यक्ततत्त्वप्रियं
संरक्तारुणलोचनं पवनजं पीताम्बरालंकृतम् ॥
उद्यन्मार्तण्डकोटिप्रकटरुचियुतं चारुवीरासनस्थं
मौञ्जीयज्ञोपवीताभरणरुचिशिखाशोभितं कुण्डलाङ्गम् ।
भक्तानामिष्टदं तं प्रणतमुनिजनं वेदनादप्रमोदं
ध्यायेद् देवं विधेयं प्लवगकुलपतिं गोष्पदीभूतवार्धिं
वज्राङ्गं पिङ्गकेशाढ्यं स्वर्णकुण्डलमण्डितम् ।
निगूढमुपसंगम्य पारावारपराक्रमम् ॥

स्फटिकाभं स्वर्णकान्ति द्विभुजं च कृताञ्जलिम् ।
कुण्डलद्वयसंशोभिमुखाम्भोजं हरिं भजे ॥
सव्यहस्ते गदायुक्तं वामहस्ते कमण्डलुम् ।
उद्यद्दक्षिणदोर्दण्डं हनुमन्तं विचिन्तयेत् ॥

'प्रातःकालीन सूर्यकी कान्तिके समान जिनका तेजस्वी स्वरूप है, जो राक्षसोंका अभिमान दूर करनेमें समर्थ हैं और जो देवेन्द्रोंमें भी प्रमुख माने जाते हैं, जिनका यश सर्वत्र प्रशंसित है, जो अपनी (असाधारण) शोभासे देदीप्यमान हैं, सुग्रीवादि सभी बड़े-बड़े वानर जिनके साथ हैं, जो सुव्यक्त (सगुण-साकार) तत्त्वके प्रेमी हैं, जिनके लाल-लाल नेत्र अत्यन्त मनोहर हैं, जो पीले वस्त्रोंसे अलंकृत हैं, उन पवनकुमार हनुमान्‌जीका ध्यान करना चाहिये । उदय होते हुए करोड़ों सूर्योंके समान जिनकी प्रकाशमयी कान्ति है; जो सुन्दर वीरासनसे बैठे हुए हैं; मूँजकी मेखला, यज्ञोपवीत और आभूषणोंसे निकलनेवाली प्रभाकी लपटोंसे सुशोभित हैं, जिनके कान कुण्डलोंसे अलंकृत हैं; जो भक्तोंकी कामना पूर्ण करनेवाले, मुनिजनोंद्वारा वन्दित, वेदघोषको सुनकर प्रसन्न होनेवाले, वानर-कुलके अग्रणी, समुद्रको गौके खुरके समान लाँघ जानेवाले और श्रीरामजीके अनुचर हैं, उन देवस्वरूप हनुमान्‌जीका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये । जिनका शरीर वज्रके समान कठोर है, जिनके मस्तकपर पीले केश सुशोभित हैं, जो सुवर्णके कुण्डलोंसे विभूषित हैं, जिनका आशय अत्यन्त गुप्त है और पराक्रम समुद्रके समान अगाध है, अथवा जो समुद्रके लाँघनेमें अपना (अद्भुत) पराक्रम दिखलाते हैं; जिनकी आभा स्फटिकमणिके समान और कान्ति सुवर्ण-सरीखी है, जिनकी दो भुजाएँ हैं, जो (अपने इष्टदेवके सामने) हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, जिनका कमल-सदृश मुख कर्ण-कुण्डलोंकी झलमलाहटसे सुशोभित रहता है, उन वानरराज हनुमान्‌जीका मैं ध्यान करता हूँ । जिनकी दाहिनी भुजामें गदा है, बायें हाथमें कमण्डलु है और जिनकी दाहिनी भुजा कुछ ऊपर उठी हुई है, उन हनुमान्‌जीका ध्यान करना चाहिये ।'

मन्त्र—ॐ नमो हनुमते शोभिताननाय यशोऽलंकृताय अञ्जनागर्भसम्भूताय रामलक्ष्मणानन्दकाय कपिसैन्यप्रकाशन-पर्वतोत्पाटनाय सुग्रीवसाह्यकरण परोच्चाटन कुमारब्रह्मचर्य-गम्भीरशब्दोदय ॐ ह्रीं सर्वदुष्टग्रहनिवारणाय स्वाहा । ॐ नमो हनुमते एहि एहि सर्वग्रहभूतानां शाकिनीडाकिनीनां विषमदुष्टानां सर्वेषामाकर्षयाकर्षय मर्दय मर्दय छेदय छेदय मर्त्यान्मारय मारय शोषय शोषय प्रज्वल प्रज्वल भूतमण्डल-पिशाचमण्डलनिरसनाय भूतज्वरप्रेतज्वरचातुर्थिकज्वरब्रह्म-राक्षसपिशाचच्छेदनक्रियाविष्णुज्वरमहेशज्वर छिन्धि छिन्धि भिन्धि अक्षिशूले शिरोऽभ्यन्तरे ह्यक्षिशूले गुल्मशूले पित्तशूले ब्रह्मराक्षसकुलप्रबलनागकुलविषनिर्विषं झटिति झटिति । ॐ ह्रीं फट् घे घे स्वाहा । ॐ नमो हनुमते पवनपुत्र वैश्वानर-मुख पापदृष्टि षोढादृष्टिहनुमतेको आज्ञा फुरे स्वाहा । स्वगृहे द्वारे पट्टके तिष्ठ तिष्ठेति तत्र रोगभयं राजकुलभयं नास्ति तस्योच्चारणमात्रेण सर्वे ज्वरा नश्यन्ति । ॐ ह्रां ह्रीं ह्रं फट् घे घे स्वाहा ।

स्तोत्रम्

हनुमान् पूर्वतः पातु दक्षिणे पवनात्मजः ।
पातु प्रतीच्यां रक्षोघ्नः पातु सागरपारगः ॥
उदीच्यामूर्ध्वतः पातु केसरिप्रियनन्दनः ।
अधस्ताद् विष्णुभक्तस्तु पातु मध्यं च पावनिः ॥
लङ्काविदाहकः पातु सर्वापद्भ्यो निरन्तरम् ।
सुग्रीवसचिवः पातु मस्तकं वायुनन्दनः ॥
भालं पातु महावीरो भ्रुवोर्मध्ये निरन्तरम् ।
नेत्रे छायापहारी च पातु नः प्लवगेश्वरः ॥
कपोलौ कर्णमूले च पातु श्रीरामकिंकरः ।
नासाग्रमञ्जनासूनुः पातु वक्त्रं हरीश्वरः ॥
वाचं रुद्रप्रियः पातु जिह्वां पिङ्गललोचनः ।
पातु देवः फाल्गुनेष्टश्चिबुकं दैत्यदर्पहा ।
पातु कण्ठं च दैत्यारिः स्कन्धौ पातु सुरार्चितः ॥
भुजौ पातु महातेजाः करौ च चरणायुधः ।
नखान्नखायुधः पातु कुक्षिं पातु कपीश्वरः ॥
वक्षो मुद्रापहारी च पातु पार्श्वे भुजायुधः ।
लङ्काविभञ्जनः पातु पृष्ठदेशं निरन्तरम् ॥
नाभिं च रामदूतस्तु कटिं पात्वनिलात्मजः ।
गुह्यं पातु महाप्राज्ञो लिङ्गं पातु शिवप्रियः ॥
ऊरू च जानुनी पातु लङ्काप्रासादभञ्जनः ।
जङ्घे पातु कपिश्रेष्ठो गुल्फौ पातु महाबलः ॥
अचलोद्धारकः पातु पादौ भास्करसंनिभः ॥
अङ्गान्यमितसत्त्वाढ्यः पातु पादाङ्गुलीस्तथा ।
सर्वाङ्गानि महाशूरः पातु रोमाणि चात्मवित् ॥

'हनुमान् पूर्वदिशामें और पवनात्मज दक्षिण दिशामें (मेरी) रक्षा करें । रक्षोघ्न (राक्षसोंको मारनेवाले) पश्चिम दिशामें रक्षा करें । सागरपारग (समुद्रको फाँद जानेवाले) उत्तर दिशामें रक्षा करें । केसरिप्रियनन्दन (केसरीके प्रिय

पुत्र) ऊर्ध्व दिशामें रक्षा करें । विष्णुभक्त नीचेकी दिशामें और पावनि (पवनपुत्र) मध्यदेशमें (अन्तरिक्षलोकमें) रक्षा करें । लङ्काविदाहक (लङ्काको जलानेवाले) सदा सब प्रकारकी आपत्तियोंसे रक्षा करें । सुग्रीवसचिव (सुग्रीवके सचिव) मस्तककी और वायुनन्दन ललाटकी रक्षा करें । महावीर भौंहोंके मध्य-भागकी निरन्तर रक्षा करें । छायापहारी (छायारूपधारिणी सिंहिका नामकी राक्षसीका वध करनेवाले) हमारे नेत्रोंकी और प्लवगेश्वर (वानरराज) कपोलोंकी रक्षा करें । श्रीरामकिंकर (श्रीराम-चन्द्रजीके सेवक) कानोंके मूलभागकी रक्षा करें । अञ्जनासूनु नासिकाके अग्रभागकी और हरीश्वर मुखकी रक्षा करें । रुद्रप्रिय वाणीकी और पिंगललोचन (पीली आँखोंवाले) जिह्वाकी रक्षा करें । दैत्योंका दर्प चूर करनेवाले फाल्गुनेष्ट (अर्जुन-के प्रेमी) ठोड़ीकी रक्षा करें । दैत्यारि (दैत्योंके शत्रु) कण्ठकी रक्षा करें । सुरार्चित (देवोंद्वारा पूजित) कंधोंकी रक्षा करें । महातेजा (महान् तेजस्वी) भुजाओंकी और चरणायुध (चरणसे आयुधका काम लेनेवाले) हाथोंकी रक्षा करें । नखायुध (नखरूपी आयुधवाले) नखोंकी रक्षा करें । कपीश्वर (कपियोंके ईश्वर) कोखकी रक्षा करें । मुद्रापहारी (मुद्रिकाका वहन करनेवाले) वक्षःस्थलकी और भुजायुध (भुजाओंसे ही शस्त्रका काम लेनेवाले) पार्श्वभागोंकी रक्षा करें । लङ्का-विभञ्जन (लङ्काका विनाश करनेवाले) मेरे पृष्ठभागकी सदा रक्षा करें । रामदूत नाभिकी और अनिलात्मज (वायुके पुत्र) कटिभागकी रक्षा करें । महाप्राज्ञ (महान् प्रज्ञाशाली) गुह्यभाग (गुदादेश) की रक्षा करें । शिवप्रिय लिङ्गकी रक्षा करें । लङ्का-प्रासाद-भञ्जन (लङ्काकी अट्टालिकाओंका विनाश करनेवाले) जाँघों तथा घुटनोंकी रक्षा करें । कपिश्रेष्ठ पिंडलियोंकी रक्षा करें । महाबल गुल्फभाग (टखनों) की रक्षा करें । अचलोद्धारक (पर्वतोंको उखाड़नेवाले) दोनों पैरोंकी और भास्करसंनिभ (सूर्यके समान कान्तिवाले) समस्त अङ्गोंकी रक्षा करें । अमित सत्त्वाढ्य (अपार बलशाली) पैरोंकी अँगुलियोंकी रक्षा करें । महाशूर सम्पूर्ण अङ्गोंकी और आत्मवित् (आत्माको जाननेवाले) रोमोंकी रक्षा करें ।'

हनुमत्कवचं यस्तु पठेद् विद्वान् विचक्षणः ।
स एव पुरुषश्रेष्ठो भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ॥
त्रिकालमेककालं वा पठेन्मासत्रयं नरः ।
सर्वान् रिपून् क्षणाज्जित्वा स पुमाञ् श्रियमाप्नुयात् ॥
मध्यरात्रे जले स्थित्वा सप्तवारं पठेद्यदि ।
क्षयापस्मारकुष्ठादितापत्रयनिवारणम् ॥
अश्वत्थमूलेऽर्कवारे स्थित्वा पठति यः पुमान् ।
अचलां श्रियमाप्नोति संग्रामे विजयं तथा ॥
बुद्धिं बलं यशो धैर्यं निर्भयत्वमरोगता ।
सुदार्ढ्यं वाक्स्फुरत्वं च हनुमत्स्मरणाद्भवेत् ॥
मारणं वैरिणां सद्यः शरणं सर्वसम्पदाम् ।
शोकस्य हरणे दक्षं वन्दे तं रणदारुणम् ॥
लिखित्वा पूजयेद्यस्तु सर्वत्र विजयी भवेत् ।
यः करे धारयेन्नित्यं स पुमाञ् श्रियमाप्नुयात् ॥
स्थित्वा तु बन्धने यस्तु जपं कारयति द्विजैः ।
तत्क्षणान्मुक्तिमाप्नोति निगडात्तु तथैव च ॥

'जो उपर्युक्त हनुमत्कवचका पाठ करता है, वही विद्वान् शास्त्रकुशल और पुरुषश्रेष्ठ है; उसे भोग एवं मोक्ष दोनोंकी प्राप्ति हो जाती है । यदि मनुष्य तीन मासतक तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और संध्या-कालमें) अथवा किसी एक ही समय इसका पाठ करे तो वह क्षणमात्रमें समस्त शत्रुओंको पराजित करके लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है । यदि ठीक आधी रातके समय जलमें खड़ा होकर कोई प्राणी इस कवचका सात बार पाठ करे तो यह उसके क्षयरोग (राजयक्ष्मा), अपस्मार (मृगी) और कुष्ठ आदि रोगोंको एवं दैहिक, दैविक और भौतिक—तीनों प्रकारके तापोंको नष्ट कर देता है । जो मनुष्य रविवारके दिन पीपलके नीचे बैठकर इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसे अचल लक्ष्मी प्राप्त होती है और वह संग्राममें विजयी होता है । हनुमान्जीके स्मरणसे बुद्धि, बल, यश, धैर्य, निर्भयता, नीरोगता, अत्यन्त दृढ़ता और वाणीकी स्पष्टता—ये सभी प्राप्त हो जाते हैं । जो अविलम्ब सम्पूर्ण शत्रुओंका संहार कर देते हैं, सभी सम्पत्तियोंके आश्रयस्थान हैं, शोकका अपहरण करनेमें अतिशय कुशल और संग्राममें अत्यन्त भयंकर हैं, उन हनुमान्जीकी मैं वन्दना करता हूँ । जो मनुष्य (इस कवचको) लिखकर इसका पूजन करता है, वह सर्वत्र विजयी होता है और जो इसे अपनी भुजाओंमें हमेशा बाँधे रहता है, उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है । बन्धनमें पड़ जानेपर जो ब्राह्मणोंद्वारा इस कवचका जप कराता है, वह उसी क्षण उस बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।' (आनन्द० मनोहर०, स० १३)

'श्रीरामः शरणं मम' स्तोत्र

(प्रेषक—पं० श्रीदेवकीनन्दनजी जोशी)

शङ्खचक्रोर्ध्वपुण्ड्राद्यैर्दासवेषं विधाय च । शश्वत्तु देवदेवेशं भक्त्या परिचरेद्धरिम् ॥
स सर्वसिद्धिमासाद्य ह्यन्ते रामपदं व्रजेत् । चिन्तयेच्चेतसा नित्यं श्रीरामः शरणं मम ॥
चिद्रूपस्यात्मनो रूपं पारतन्त्र्यं विचिन्त्य च । चिन्तयेच्चेतसा नित्यं श्रीरामः शरणं मम ॥
अचिन्त्योऽपि शरीरादेः स्वातन्त्र्यं नैव विद्यते । चिन्तयेच्चेतसा नित्यं श्रीरामः शरणं मम ॥
आत्माधारं स्वतन्त्रं च सर्वशक्तिं विचिन्त्य च । चिन्तयेच्चेतसा नित्यं श्रीरामः शरणं मम ॥
नित्यात्मगुणसंयुक्तो नित्यात्मतनुमण्डितः । नित्यात्मकेलिनिलयः श्रीरामः शरणं मम ॥
गुणलीलास्वरूपेषु मितिर्यस्य न विद्यते । अतो वाङ्मनसा वेद्यः श्रीरामः शरणं मम ॥
कर्ता सर्वस्य जगतो भर्ता सर्वस्य सर्वगः । संहर्ता कार्यजातस्य श्रीरामः शरणं मम ॥
वासुदेवादिमूर्तीनां चतुर्णां कारणं परम् । चतुर्विंशतिमूर्तीनामाश्रयः शरणं मम ॥
नित्यमुक्तजनैः जुष्टो निविष्टैः परमे पदे । परं परमभक्तानां श्रीरामः शरणं मम ॥
महदादिस्वरूपेण संस्थितः प्राकृते पदे । ब्रह्मादिदेवरूपैश्च श्रीरामः शरणं मम ॥
मन्वादिनृपरूपेण श्रुतिमार्गं बिभर्ति यः । प्रजापतिस्वरूपेण श्रीरामः शरणं मम ॥
ऋषिरूपेण यो देवो वनवृत्तिमपालयत् । योऽन्तरात्मा च सर्वेषां श्रीरामः शरणं मम ॥
योऽसौ सर्वतनुः सर्वः सर्वनामा सनातनः । अलिप्तः सर्वभावेषु श्रीरामः शरणं मम ॥
बहिर्मत्स्यादिरूपेण सद्धर्ममनुपालयन् । परिपाति जनान् दीनान् श्रीरामः शरणं मम ॥
यश्चात्मानं पृथक्कृत्य भक्तप्रेमवशं गतः । अर्चायामास्थितो देवः श्रीरामः शरणं मम ॥
सर्वावताररूपाणां दर्शनस्पर्शनादिभिः । दीनानुद्धरते योऽसौ श्रीरामः शरणं मम ॥
कौसल्याशुक्तिसंजातो जानकीकण्ठभूषणः । मुक्ताफलसमो योऽसौ श्रीरामः शरणं मम ॥
विश्वामित्रमखत्राता ताटकागतिदायकः । अहल्याशापशमनः श्रीरामः शरणं मम ॥
पिनाकभञ्जनः श्रीमान् जानकीप्रेमपालकः । जामदग्न्यप्रतापघ्नः श्रीरामः शरणं मम ॥
राज्याभिषेकसंहृष्टः कैकेयीवचनात् पुनः । पित्रा दत्तवनक्रीडः श्रीरामः शरणं मम ॥
जटाचीरधरो धन्वी जानकीलक्ष्मणान्वितः । चित्रकूटकृतावासः श्रीरामः शरणं मम ॥
महापञ्चवटीलीलासंजातपरमोत्सवः । दण्डकारण्यसंचारी श्रीरामः शरणं मम ॥
खरदूषणसम्भेदी दुष्टराक्षसभञ्जनः । हृतशूर्पणखाशोभः श्रीरामः शरणं मम ॥
मायामृगविभेत्ता च हृतसीतानुतापकृत् । जानकीविरहाक्रोशी श्रीरामः शरणं मम ॥
लक्ष्मणानुचरो धन्वी लोकयात्राविडम्बकः । पम्पातीरकृतान्वेषः श्रीरामः शरणं मम ॥
जटायुत्राणकर्ता च कबन्धगतिदायकः । हनुमत्कृतसाहित्यः श्रीरामः शरणं मम ॥
सुग्रीवराज्यदः श्रीशो वालिनिग्रहकारकः । अङ्गदाश्वासनकरः श्रीरामः शरणं मम ॥
सीतान्वेषणनिर्मुक्तहनुमत्प्रमुखव्रजः । मुद्रानिवेशितबलः श्रीरामः शरणं मम ॥
हेलोत्तारितपाथोधिर्दूतनिर्धूतराक्षसः । लङ्कादाहकरो धीरः श्रीरामः शरणं मम ॥
सेतुसम्बद्धपाथोधिर्लङ्काप्रासादरोधकः । रावणादिप्रभेत्ता च श्रीरामः शरणं मम ॥
जानकीजीवनत्राता विभीषणसमृद्धिदः । पुष्पकारोहणासक्तः श्रीरामः शरणं मम ॥
राजसिंहासनारूढः कौसल्यानन्दवर्धनः । नामनिर्धूतनिरयः श्रीरामः शरणं मम ॥
यज्ञकर्ता यज्ञभोक्ता यज्ञभर्ता महेश्वरः । अयोध्यामुक्तिदः शास्ता श्रीरामः शरणं मम ॥

"शङ्ख-चक्र-ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि वैष्णव-चिह्नोंको धारण करके देवदेवाधिपति सनातन श्रीहरिकी भक्तिपूर्वक सेवा करता हु 'श्रीराम ही मेरी शरण हैं'—इस प्रकार जो मनसे नित्य चिन्तन करता है, वह सभी सिद्धियोंको प्राप्त करके निश्चय अन्तमें श्रीरामचन्द्रजीके परम पदको प्राप्त होता है। सच्चिन्मय भगवान् श्रीरामके अंशस्वरूप अपनी इस जीवात्माकी मायाबद्ध का विचार करके नित्य चित्तसे चिन्तन करना चाहिये कि अंशी श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। (पञ्चभूतादिसे निर्मित) इस शरीरादि (मायाबद्ध होनेके कारण) कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, अतः ये (शरीरादि) चिन्तनीय नहीं हैं; अपितु चित्तसे य चिन्तन करना चाहिये कि श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। भगवान् श्रीराम मेरी आत्माके आधार, स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् हैं— ऐसा विचार करके नित्य इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये कि श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। भगवान् श्रीराम परमात्म-गुणसे नि संयुक्त हैं, (चिदानन्दमय) आत्म-वपुसे नित्य सुशोभित हैं और जीवात्माओंके लिये नित्य विहार-स्थली हैं, वे श्रीराम मेरे शरणद हैं। भगवान् श्रीरामके गुण, लीला और स्वरूपकी सीमा न होनेसे वे केवल मन-वचनसे जाननेयोग्य हैं, ऐसे श्रीरा ही मेरे शरणद हैं। सर्वव्यापी भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण जगत्के स्रष्टा, पालनकर्ता एवं संहर्ता हैं, वे श्रीराम मेरे शरणद हैं भगवान् श्रीराम वासुदेव आदि (वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न) चतुर्व्यूहके परम कारण हैं तथा चौबी अवतारोंके आश्रय हैं, ऐसे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। परम पदपर विराजित मुक्तजनोंसे जो नित्य सेवित हैं तथा श्रेष्ठ भक्तों लिये परमाराध्य हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो महदादि तत्त्वोंके रूपसे स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हैं एवं ब्रह्मा देवरूपोंमें जो विद्यमान हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो मनु आदि राजाओं तथा प्रजापतियोंके रूपमें वेदपथ धारण करते हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जिन्होंने मुनिवेषमें वनवासी जीवन व्यतीत किया त जो सभी प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो सबके शरीरस्वरूप, सभी नामोंमें रहनेवाले, सनात एवं सभी भावोंमें व्याप्त होनेपर भी निर्लिप्त हैं तथा सब कुछ हैं, वे ही श्रीराम मेरे शरणद हैं। जो मत्स्यादि बाह्यरूपों सत् धर्मका पालन करते हुए दीनजनोंकी रक्षा करते हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो अपने ईश्वरत्वको छोड़क भक्तोंके प्रेमाधीन हैं और पूजामें विराजमान रहते हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो सभी अवतारोंमें अपने दर्शन ए स्पर्शमात्रसे दीनोंका उद्धार करते हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो कौसल्यारूपी सीपीसे उत्पन्न हुए मुक्ताफलके समान हैं और जानकीके कण्ठहाररूप हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो महर्षि विश्वामित्रके यज्ञरक्षक, ताड़काके गति देनेवाले और अहल्याके शापको नष्ट करनेवाले हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो शिवजीके पिनाक धनुषके तोड़नेवाले, शोभायमान, जानकीके प्रेमके रक्षक और परशुरामके गर्वको दूर करनेवाले हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरण हैं। जो राज्याभिषेकके समय प्रसन्न होकर भी पुनः कैकेयीके वचनसे पिता दशरथके द्वारा आदिष्ट होकर वनमें क्रीड़ करनेवाले हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो श्रीजानकीजी और लक्ष्मणके साथ वल्कल, जटा और धनुष धारण करके चित्रकूटमें वास किये हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। महान् पञ्चवटीकी लीलासे परम प्रसन्नताको प्राप्त होनेवाले दण्डकारण्य विहारी श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो खर और दूषणके संहारक, दुष्ट राक्षसोंके दमनकर्ता और शूर्पणखाके सौन्दर्यका हरण करनेवाले हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो माया-मृगके प्राणहर्ता हैं, अपहृत सीताको (अपने स्मृतिसे) संतप्त करनेवाले हैं और जानकीके विरहमें दुःखी हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो श्रीलक्ष्मणको साथ रखते हैं, धनुषधारी हैं, (ईश्वर होकर भी) लौकिक लीला करते हैं तथा पम्पा-सरोवरपर सीताका अन्वेषण करते हैं, वे ही श्रीराम मेरे शरणद हैं। जो जटायुके त्राणकर्ता हैं, कबन्धके गतिप्रदायक हैं तथा हनुमान्‌जीको साथ रखते हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो सुग्रीवको राज्य देनेवाले, वालीका संहार करनेवाले, अङ्गदको आश्वासन देनेवाले और लक्ष्मीके स्वामी हैं वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो श्रीसीताके अन्वेषणके लिये हनुमान्‌जीको प्रधान अन्वेषक बनाकर भेजनेवाले हैं तथा जिन्होंने मुद्रिकामें अपने प्रभावको स्थापित कर दिया है, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो लीलामात्रसे समुद्रको लाँघ जानेवाले हैं, लङ्काका दहन करनेवाले हैं, दूतरूपसे राक्षसोंको कम्पित करनेवाले हैं, उन धीर हनुमान्‌जीके सर्वस्व श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो समुद्रपर पुल बाँधनेवाले हैं, लङ्काके महलको नष्ट कर देनेवाले हैं और रावण आदिका संहार करनेवाले हैं वे ही श्रीराम मेरे शरणद हैं। जो जानकीके प्राणरक्षक हैं, विभीषणको समृद्धि देनेवाले हैं और पुष्पक-विमानपर आरूढ़ होनेके लिये तत्पर हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं। जो राजसिंहासनपर आरूढ़ हैं, कौसल्याम्बाके आनन्दको बढ़ानेवाले

हैं और केवल नाम-आश्रयीके लिये नरकत्राता हैं, वे ही श्रीराम मेरे शरणद हैं। जो यज्ञानुष्ठान करनेवाले हैं, यज्ञभोक्ता हैं, यज्ञरक्षक हैं, महेश्वर हैं, अयोध्यावासियोंको मुक्ति प्रदान करनेवाले हैं एवं शासक हैं, वे श्रीराम ही मेरे शरणद हैं।

श्रीरामनामाष्टोत्तरशतस्तोत्र

विनियोग

ॐ अस्य श्रीरामचन्द्रनामाष्टोत्तरशतमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । जानकीवल्लभः श्रीरामचन्द्रो देवता । ॐ बीजम् । नमः शक्तिः । श्रीरामचन्द्रः कीलकम् । श्रीरामचन्द्रप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः ।

'श्रीरामचन्द्रके इस अष्टोत्तरशतनाम मन्त्रके ब्रह्मा ऋषि हैं। अनुष्टुप् छन्द है। जानकीवल्लभ श्रीरामचन्द्रजी इसके देवता हैं। ॐ बीज है। नमः शक्ति है। श्रीरामचन्द्र कीलक हैं। श्रीरामप्रीत्यर्थ इसका विनियोग होता है।'

न्यास

ॐ नमो भगवते राजाधिराजाय परमात्मने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । ॐ नमो भगवते विद्याधिराजाय हयग्रीवाय तर्जनीभ्यां नमः । ॐ नमो भगवते जानकीवल्लभाय मध्यमाभ्यां नमः । ॐ नमो भगवते रघुनन्दनायामिततेजसे अनामिकाभ्यां नमः । ॐ नमो भगवते क्षीराब्धिमध्यस्थाय नारायणाय कनिष्ठिकाभ्यां नमः । ॐ नमो भगवते सत्प्रकाशाय रामाय करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः । इति करन्यासः ।

ॐ नमो भगवते राजाधिराजाय परमात्मने हृदयाय नमः । ॐ नमो भगवते विद्याधिराजाय हयग्रीवाय शिरसे स्वाहा । ॐ नमो भगवते जानकीवल्लभाय शिखायै वषट् । ॐ नमो भगवते रघुनन्दनायामिततेजसे कवचाय हुम् । ॐ नमो भगवते क्षीराब्धिमध्यस्थाय नारायणाय नेत्रत्रयाय वौषट् । ॐ नमो भगवते सत्प्रकाशाय रामाय अस्त्राय फट् । इति षडङ्गन्यासः ।

ध्यान

मन्दाराकृतिपुण्यधामविलसद्वक्षःस्थलं कोमलं
शान्तं कान्तमहेन्द्रनीलरुचिराभासं सहस्राननम् ।
वन्देऽहं रघुनन्दनं सुरपतिं कोदण्डदीक्षागुरुं
रामं सर्वजगत्सु सेवितपदं सीतामनोवल्लभम् ॥

'मन्दारपुष्पकी-सी आकृतिवाले पुण्यधाम श्रीवत्स-चिह्नसे जिनका वक्षःस्थल सुशोभित हो रहा है, जो कोमल एवं शान्त हैं, जिनके शरीरकी छटा सुन्दर विशाल इन्द्रनीलमणिकी कान्तिके समान उद्भासित हो रही है, जिनके (विश्वरूपमें) असंख्य मुख हैं, जो धनुर्वेदकी शिक्षामें संसारके गुरु हैं, संसारमें जिनके चरणोंकी पूजा होती है, उन सुरपति तथा सीताके हृदयवल्लभ रघुनन्दन रामको मैं प्रणाम करता हूँ।'

स्तोत्र

सहस्रशीर्ष्णे वै तुभ्यं सहस्राक्षाय ते नमः ।
नमः सहस्रहस्ताय सहस्रचरणाय च ॥
नमो जीमूतवर्णाय नमस्ते विश्वतोमुख ।
अच्युताय नमस्तुभ्यं नमस्ते शेषशायिने ॥
नमो हिरण्यगर्भाय पञ्चभूतात्मने नमः ।
नमो मूलप्रकृतये देवानां हितकारिणे ॥
नमस्ते सर्वलोकेश सर्वदुःखनिषूदन ।
शङ्खचक्रगदापद्मजटामुकुटधारिणे ॥
नमो गर्भाय तत्त्वाय ज्योतिषां ज्योतिषे नमः ।
ॐ नमो वासुदेवाय नमो दशरथात्मज ॥
नमो नमस्ते राजेन्द्र सर्वसम्पत्प्रदाय च ।
नमः कारुण्यरूपाय कैकेयीप्रियकारिणे ॥
नमो दान्ताय शान्ताय विश्वामित्रप्रियाय ते ।
यज्ञेशाय नमस्तुभ्यं नमस्ते क्रतुपालक ॥
नमो नमः केशवाय नमो नाथाय शार्ङ्गिणे ।
नमस्ते रामचन्द्राय नमो नारायणाय च ॥
नमस्ते रामभद्राय माधवाय नमो नमः ।
गोविन्दाय नमस्तुभ्यं नमस्ते परमात्मने ॥
नमस्ते विष्णुरूपाय रघुनाथाय ते नमः ।
नमस्तेऽनाथनाथाय नमस्ते मधुसूदन ॥
त्रिविक्रम नमस्तेऽस्तु सीतायाः पतये नमः ।
वामनाय नमस्तुभ्यं नमस्ते राघवाय च ॥
नमो नमः श्रीधराय जानकीवल्लभाय च ।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश कंदर्पाय नमो नमः ॥
नमस्ते पद्मनाभाय कौसल्याहर्षकारिणे ।
नमो राजीवनयन नमस्ते लक्ष्मणाग्रज ॥

नमो नमस्ते काकुत्स्थ नमो दामोदराय च।
विभीषणपरित्रातर्नमः संकर्षणाय च॥
वासुदेव नमस्तेऽस्तु नमस्ते शंकरप्रिय।
प्रद्युम्नाय नमस्तुभ्यमनिरुद्धाय ते नमः॥
सदसद्भक्तिरूपाय नमस्ते पुरुषोत्तम।
अधोक्षज नमस्तेऽस्तु सप्ततालहराय च॥
खरदूषणसंहर्त्रे श्रीनृसिंहाय ते नमः।
अच्युताय नमस्तुभ्यं नमस्ते सेतुबन्धक॥
जनार्दन नमस्तेऽस्तु नमो हनुमदाश्रय।
उपेन्द्र चन्द्रवन्द्याय मारीचमथनाय च॥
नमो वालिप्रहरण नमः सुग्रीवराज्यद।
जामदग्न्यमहादर्पहराय हरये नमः॥
नमो नमस्ते कृष्णाय नमस्ते भरताग्रज।
नमस्ते पितृभक्ताय नमः शत्रुघ्नपूर्वज॥
अयोध्याधिपते तुभ्यं नमः शत्रुघ्नसेवित।
नमो नित्याय सत्याय बुद्ध्यादिज्ञानरूपिणे॥
अद्वैतब्रह्मरूपाय ज्ञानगम्याय ते नमः।
नमः पूर्णाय रम्याय माधवाय चिदात्मने॥
अयोध्येशाय श्रेष्ठाय चिन्मात्राय परात्मने।
नमोऽहल्योद्धारणाय नमस्ते चापभञ्जिने॥
सीतारामाय सेव्याय स्तुत्याय परमेष्ठिने।
नमस्ते बाणहस्ताय नमः कोदण्डधारिणे॥
नमः कबन्धहन्त्रे च वालिहन्त्रे नमोऽस्तु ते।
नमस्तेऽस्तु दशग्रीवप्राणसंहारकारिणे॥

'राम! आपके सहस्रों मस्तक तथा हजारों नेत्र हैं, आपको नमस्कार है। सहस्रों हाथ और सहस्रों चरणवाले आपको नमस्कार है। मेघके समान कान्तिवाले आपको नमस्कार है। विश्वतोमुख! आपको नमस्कार है। आप अच्युतको नमस्कार है। शेषशायीको प्रणाम है। हिरण्यगर्भको प्रणाम है। पञ्चभूतात्माको प्रणाम है। आप मूलप्रकृतिस्वरूप तथा देवोंके हितकारी हैं, आपको नमस्कार है। आप समस्त लोकोंके ईश्वर, सम्पूर्ण दुःखोंके विनाशक तथा हाथोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म और सिरपर जटा एवं मुकुट धारण करनेवाले हैं; आपको नमस्कार है। गर्भ आपका स्वरूप है और तत्त्वरूप आप ही हैं, आपको प्रणाम है। ज्योतियोंके भी परम ज्योति (प्रकाशक) आपको नमस्कार है। वसुदेवके पुत्रको प्रणाम है। दशरथपुत्र रामको प्रणाम है। राजेन्द्र! आप सम्पूर्ण सम्पत्तियोंके दाता हैं, आपको बारंबार प्रणाम है। दयाके मूर्तिमान् स्वरूप तथा कैकेयीका [hi]त करनेवाले आपको नमस्कार है। आप जितेन्द्रिय, शान्त [और] विश्वामित्रके प्रेमी हैं, आपको प्रणाम है। [आप] यज्ञेशको नमस्कार है। यज्ञरक्षक! आपको प्रणाम है। केशवको बारंबार नमस्कार है। शार्ङ्गधनुषधारी जगन्नाथ! आपको नमस्कार है। रामचन्द्र! आपको नमस[्कार] है। नारायणको नमस्कार है। रामभद्र[!] आपको प्रणाम है। माधवके लिये अनेक [बार] प्रणाम है। गोविन्द! आपको प्रणाम है। परमात्मन्! आपको नमस्कार है। विष्णुस्वरूप आपको अभिवादन है। रघुनाथ! आपको नमस्कार है। आप अनाथोंके नाथ हैं, आपको प्रणाम है। मधुसूदन! आपको प्रणाम है। त्रिविक्रम! आपको मेरा प्रणाम है। सीतापतिको नमस[्कार] है। वामन! आपको प्रणाम है। राघव! आपको प्रण[ाम] है। श्रीधर और जानकीवल्लभको बारंबार नमस्कार है। हृषीकेश! आपको प्रणाम है। कंदर्परूप आपको अनेक [बार] अभिवादन है। आप पद्मनाभको नमस्कार है। कौसल्याको हर्ष प्रदान करनेवाले आपको प्रणाम है! कमलनयन! आपको नमस्कार है। लक्ष्मणाग्रज! आपको प्रणाम है। ककुत्स्थनन्दन! आपको बारंबार प्रणाम है। दामोदर[को] नमस्कार है। विभीषणकी रक्षा करनेवाले तथा संकर्षण[को] प्रणाम है। वासुदेव! आपको नमस्कार है। शंकरप्रिय! आपको प्रणाम है। प्रद्युम्न! आपको नमस्कार है। अनिरुद्ध! आपको प्रणाम है। पुरुषोत्तम! आप सदसद्भ[क्ति] (उल्टी-सीधी भक्ति) स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप अधोक्षज तथा सप्त तालवृक्षोंका संहार करनेवाले हैं, आप[को] प्रणाम है। आप खरदूषणके संहारक तथा नृसिंह-रूप धारण करने[वाले] हैं; आपको नमस्कार है। अच्युत! आपको प्रणा[म] है। 'समुद्रपर पुल बाँधनेवाले राम! आपको प्रणाम है। जनार्दन! आपको नमस्कार है। हनुमदाश्रय! आपको प्रणा[म] है। चन्द्रद्वारा वन्दित तथा मारीचको मथ डालनेवाले उपेन्द्र[-] रूप श्रीराम! आपको प्रणाम है। वालीपर प्रहार करनेवाले! आपको प्रणाम है। सुग्रीवराज्यप्रद! आपको नमस्कार है। परशुरामके महान् दर्पको हरण करनेवाले श्रीहरिको प्रणाम है। कृष्ण! आपको बारंबार नमस्कार है। भरताग्रज! आप[को] प्रणाम है। पितृभक्त! आपको अभिवादन है। शत्रुघ्नपूर्वज! आपको प्रणाम है। अयोध्या-नरेश! आपको नमस्कार है। शत्रुघ्नसेवित! आपको प्रणाम है। जो नित्य और सत्य

तथा बुद्धि और ज्ञान आदि जिनके स्वरूप हैं, उन आपको नमस्कार है। आप अद्वैत ब्रह्मस्वरूप और ज्ञानद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य हैं, आपको नमस्कार है। पूर्ण, रम्य एवं चिदात्मा माधवको प्रणाम है। आप अयोध्याधिपति, सर्वश्रेष्ठ, चिन्मात्र और परमात्मा हैं; आपने ही अहल्याका उद्धार किया था, आपको नमस्कार है। शिव-धनुषको तोड़नेवाले आपको प्रणाम है। सेवा करनेयोग्य, स्तवनीय तथा परमेष्ठी (परमेश्वर) सीतारामको नमस्कार है। बाणयुक्त हाथवाले आपको प्रणाम है। धनुषधारीको प्रणाम है। कबन्ध-संहारकको नमस्कार है। आप वालीको मारनेवाले हैं, आपको मेरा अभिवादन है। रावणके प्राणोंका संहार करनेवाले आपको मेरा प्रणाम है।'

अष्टोत्तरशतं नाम्नां रामचन्द्रस्य पावनम्।
एतत्प्रोक्तं मया श्रेष्ठं सर्वपातकनाशनम्॥
प्रचरिष्यति तल्लोके प्राग्यदृष्टवशाद् द्विज।
तस्य कीर्तनमात्रेण जना यास्यन्ति सद्गतिम्॥
तावद् विजृम्भते पापं ब्रह्महत्यापुरस्सरम्।
यावन्नामाष्टकशतं पुरुषो न हि कीर्तयेत्॥
तावत्कलेर्महोत्साहो निश्शङ्कं सम्प्रवर्तते।
यावच्छ्रीरामचन्द्रस्य शतनाम्नां न कीर्तनम्॥
तावद्यमभटाः क्रूराः संचरिष्यन्ति निर्भयाः।
यावच्छ्रीरामचन्द्रस्य शतनाम्नां न कीर्तनम्॥
तावत्स्वरूपं रामस्य दुर्बोधं प्राणिनां स्फुटम्।
यावन्न निष्ठया रामनाममाहात्म्यमुत्तमम्॥
कीर्तितं पठितं ध्यातं धृतं संस्मारितं मुदा।
अन्यतः शृणुयान्मर्त्यः सोऽपि मुच्येत पातकात्॥
ब्रह्महत्यादिपापानां निष्कृतिं यदि वाञ्छति।
रामस्तोत्रं मासमेकं पठित्वा मुच्यते नरः॥
दुष्प्रतिग्रहदुर्भोज्यदुरालापादिसम्भवम्।
पापं सकृत्कीर्तनेन रामस्तोत्रं विनाशयेत्॥
श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासागमशतानि च।
अर्हन्ति नाल्पां श्रीरामनामकीर्तिकलामपि॥
अष्टोत्तरशतं नाम्नां सीतारामस्य पावनम्।
अस्य संकीर्तनादेव सर्वान् कामाँल्लभेन्नरः॥
पुत्रार्थी लभते पुत्रान् धनार्थी धनमाप्नुयात्।
स्त्रियं प्राप्नोति पत्न्यर्थी स्तोत्रपाठश्रवादिना॥
कुम्भोदरेण मुनिना येन स्तोत्रेण राघवः।
स्तुतः पूर्वं यज्ञवाटे तदेतत्त्वां मयोदितम्॥

'सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाला, रामचन्द्रका यह श्रेष्ठ एवं पावन अष्टोत्तरशतनामस्तोत्र मैंने तुम्हें सुना दिया। द्विज! प्राणियोंके प्रारब्धवश इसका लोकमें प्रचार होगा और इसके पाठमात्रसे लोग सद्गतिको प्राप्त होंगे। ब्रह्म-हत्या आदि महापातकोंका प्रभाव तभीतक बढ़ता है, जबतक पुरुष इस अष्टोत्तरशतनामस्तोत्रका पाठ नहीं करता। कलियुगकी महान् शक्ति तभीतक निर्भीक होकर आगे बढ़ती है, जबतक श्रीरामचन्द्रके अष्टोत्तरशतनामस्तोत्रका पाठ नहीं होता। यमराजके भयंकर दूत तभीतक निर्भय विचरण करते हैं, जबतक श्रीरामचन्द्रके इस अष्टोत्तरशतनामस्तोत्रका पाठ नहीं होता। रामजीका स्वरूप प्राणियोंके लिये तभीतक दुर्ज्ञेय रहता है; जबतक निष्ठायुक्त होकर हर्षपूर्वक इस उत्तम रामनाम-माहात्म्यका स्पष्टरूपसे कीर्तन, पठन, धारण, ध्यान और भलीभाँति स्मरण नहीं किया जाता। यहाँतक कि जो मनुष्य औरोंसे इसे सुनता है, वह भी पातकोंसे छूट जाता है। यदि मनुष्य ब्रह्महत्यादि महापापोंसे छुटकारा पाना चाहता हो तो एक महीनेतक इस रामस्तोत्रका पाठ करनेसे वह मुक्त हो जाता है। यह रामस्तोत्र कुत्सित दान, निषिद्धान्नभक्षण तथा दूषित वार्तालाप आदिसे उत्पन्न हुए पापको एक ही बारके पाठसे नष्ट कर देता है। सैकड़ों श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और आगम (तन्त्र) इस श्रीरामनामके कीर्तनकी छोटी-सी भी कलाकी समता नहीं कर सकते। सीतारामका यह अष्टोत्तरशतनाम परम पावन है। इसका पाठ करनेसे ही मनुष्य सम्पूर्ण इष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेता है। इस स्तोत्रका पाठ एवं श्रवण करनेसे पुत्रार्थीको पुत्र मिल जाता है; धनार्थीको धनकी प्राप्ति हो जाती है और पत्नी चाहनेवालेको स्त्री मिल जाती है। पूर्वकालमें कुम्भोदरमुनिने यज्ञशालामें जिस स्तोत्रके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुति की थी, वही यह स्तोत्र मैंने तुम्हें सुनाया है।'

(आनन्दरामायण, यागकाण्ड, सर्ग ५)

श्रीसीताष्टोत्तरशतनामस्तोत्र

विनियोग

अस्य श्रीसीतानामाष्टोत्तरशतमन्त्रस्य अगस्ति ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। रमेति बीजम्। मातुलुङ्गीति शक्तिः। पद्माक्षजेति कीलकम्। अवनिजेत्यस्त्रम्। जनकजेति कवचम्। मूलकासुरमर्दिनीति परमो मन्त्रः। श्रीसीतारामचन्द्रप्रीत्यर्थे सकलकामनासिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः।

न्यास

अथाङ्गुलिन्यासः। ॐ सीतायै अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ॐ रमायै तर्जनीभ्यां नमः। ॐ मातुलुङ्ग्यै मध्यमाभ्यां नमः। ॐ पद्माक्षजायै अनामिकाभ्यां नमः। ॐ अवनिजायै कनिष्ठिकाभ्यां नमः। ॐ जनकजायै करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः। अथ हृदयादिन्यासः। ॐ सीतायै हृदयाय नमः। ॐ रमायै शिरसे स्वाहा। ॐ मातुलुङ्ग्यै शिखायै वषट्। ॐ पद्माक्षजायै नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ जनकजायै अस्त्राय फट्। ॐ मूलकासुरमर्दिन्यै इति दिग्बन्धः।

ध्यान

वामाङ्गे रघुनायकस्य रुचिरे या संस्थिता शोभना
या विप्राधिपयानरम्यनयना या विप्रपालानना।
विद्युत्पुञ्जविराजमानवसना भक्तार्तिसंखण्डना
श्रीसद्राघवपादपद्मयुगलन्यस्तेक्षणा सावतु॥

'जो एक सुन्दर सिंहासनपर रामके वामाङ्गमें आसीन (विराजित) हैं, मृगके नेत्रोंकी तरह जिनके सुन्दर नेत्र हैं, जो चन्द्रमाके तुल्य मुखवाली हैं, जो बिजलीके समूहकी तरह दमकनेवाले वस्त्र पहने हुए हैं, जो अपने भक्तोंकी पीड़ा दूर करनेमें कुछ उठा नहीं रखतीं, जिनके नेत्र श्रीरामचन्द्रजीके युगल चरण-कमलोंमें लगे हैं, वे सीताजी हमारी रक्षा करें।'

स्तोत्र

श्रीसीता जानकी देवी वैदेही राघवप्रिया।
रमावनिसुता रामा राक्षसान्तप्रकारिणी॥
रत्नगुप्ता मातुलुङ्गी मैथिली भक्ततोषदा।
पद्माक्षजा कंजनेत्रा स्मितास्या नूपुरस्वना॥
वैकुण्ठनिलया मा श्रीर्मुक्तिदा कामपूरणी।
नृपात्मजा हेमवर्णा मृदुलाङ्गी सुभाषिणी॥
कुशाम्बिका दिव्यदा च लवमाता मनोहरा।
हनुमद्वन्दितपदा मुग्धा केयूरधारिणी॥
अशोकवनमध्यस्था रावणादिकमोहिनी।
विमानसंस्थिता सुभ्रूः सुकेशी रशनान्विता॥
रजोरूपा सत्त्वरूपा तामसी वह्निवासिनी।
हेममृगासक्तचित्ता वाल्मीकाश्रमवासिनी॥
पतिव्रता महामाया पीतकौशेयवासिनी।
मृगनेत्रा च बिम्बोष्ठी धनुर्विद्याविशारदा॥
सौम्यरूपा दशरथस्नुषा चामरवीजिता।
सुमेधोदुहिता दिव्यरूपा त्रैलोक्यपालिनी॥
अन्नपूर्णा महालक्ष्मीर्धीर्लज्जा च सरस्वती।
शान्तिः पुष्टिः क्षमा गौरी प्रभायोध्यानिवासिनी॥
वसन्तशीतला गौरीस्नानसंतुष्टमानसा।
रमानामभद्रसंस्था हेमकुम्भपयोधरा॥
सुरार्चिता धृतिः कान्तिः स्मृतिर्मेधा विभावरी।
लघूदरा वरारोहा हेमकङ्कणमण्डिता॥
द्विजपत्न्यर्पितनिजभूषा राघवतोषिणी।
श्रीरामसेवनरता रत्नताटङ्कधारिणी॥
रामवामाङ्गसंस्था च रामचन्द्रैकरञ्जनी।
सरयूजलसंक्रीडाकारिणी राममोहिनी॥
सुवर्णतुलिता पुण्या पुण्यकीर्तिः कलावती।
कलकण्ठी कम्बुकण्ठी रम्भोरुर्गजगामिनी॥
रामार्पितमना रामवन्दिता रामवल्लभा।
श्रीरामपदचिह्नाङ्का रामरामेतिभाषिणी॥
रामपर्यङ्कशयना रामाङ्घ्रिक्षालिनी वरा।
कामधेन्वन्नसंतुष्टा मातुलुङ्गकरे धृता॥
दिव्यचन्दनसंस्था श्रीर्मूलकासुरमर्दिनी।

(अब यहाँसे अष्टोत्तरशतनाम चलता है–) (१) श्रीसीता, (२) जानकी, (३) देवी, (४) वैदेही (विदेह जनककी पुत्री), (५) राघवप्रिया, (६) रमा, (७) अवनिसुता (पृथ्वीकी कन्या), (८) रामा, (९) राक्षसान्तप्रकारिणी (राक्षसोंका समूल नाश करनेवाली), (१०) रत्नगुप्ता (रत्न बनकर रत्नोंमें छिप जानेवाली), (११) मातुलुङ्गी, (१२) मैथिली, (१३) भक्ततोषदा (भक्तोंको संतुष्ट करनेवाली), (१४) पद्माक्षजा (पद्माक्ष

नामक राजाकी कन्या), (१५) कञ्जनेत्रा (कमलके समान नेत्रोंवाली), (१६) स्मितास्या (जिनका मुस्कुराता हुआ मुख है), (१७) नूपुरस्वना (जिनके नूपुर चलते समय बजते रहते हैं), (१८) वैकुण्ठनिलया (वैकुण्ठ-लोकमें निवास करनेवाली); (१९) मा (लक्ष्मीरूपा); (२०) श्री (शोभास्वरूपिणी), (२१) मुक्तिदा, (२२) कामपूरणी (अपने भक्तोंकी इच्छा पूरी करनेवाली); (२३) नृपात्मजा (राजकुमारी), (२४) हेमवर्णा (सोनेके-से रंगवाली), (२५) मृदुलाङ्गी (जिनके अङ्ग कोमल हैं), (२६) सुभाषिणी (मधुर बोलनेवाली); (२७) कुशाम्बिका (कुशकी माता), (२८) दिव्यदा (लङ्कासे लौटते समय रामके कटु वाक्य सुनकर अग्नि-परीक्षा देनेवाली), (२९) लवमाता, (३०) मनोहरा, (३१) हनुमद्वन्दितपदा (हनुमान्‌जीके द्वारा जिनके चरणोंकी वन्दना की जाती है), (३२) मुग्धा (भोली-भाली), (३३) केयूरधारिणी (बाजूबंद धारण करनेवाली), (३४) अशोक-वनमध्यस्था (अशोकवनमें निवास करनेवाली), (३५) रावणादिकमोहिनी, (३६) विमानसंस्थिता, (३७) सुभ्रू (सुन्दर भौंहोंवाली), (३८) सुकेशी (सुन्दर बालोंवाली), (३९) रशनान्विता (करधनीसे सुशोभित), (४०) रजोरूपा,* (४१) सत्त्वरूपा,† (४२) तामसी (संहार-कालमें तमोगुणमयी, (४३) वह्निवासिनी (अग्निमें निवास करनेवाली), (४४) हेममृगासक्तचित्ता (सुवर्णके मृगमें जिनका मन आसक्त हो गया था), (४५) वाल्मीका-श्रमवासिनी (निर्वासनकालमें वाल्मीकि ऋषिके आश्रममें निवास करनेवाली), (४६) पतिव्रता, (४७) महामाया, (४८) पीतकौशेयवासिनी (पीताम्बर धारण करनेवाली); (४९) मृगनेत्रा, (५०) बिम्बोष्ठी (पके हुए बिम्बफलके समान ओठोंवाली); (५१) धनुर्विद्याविशारदा (दुर्गा आदिके रूपमें धनुर्विद्यामें निपुण), (५२) सौम्यरूपा (प्रसन्न मुद्रासे युक्त), (५३) दशरथस्नुषा (दशरथजीकी पतोहू), (५४) चामरवीजिता (जिनपर दासियाँ चँवर डुलाती हैं), (५५) सुमेधोदुहिता (सुमेधाकी पुत्री), (५६) दिव्यरूपा, (५७) त्रैलोक्यपालिनी, (५८) अन्नपूर्णा, (५९) महालक्ष्मी, (६०) धी (बुद्धिरूपा), (६१) लज्जा, (६२) सरस्वती, (६३) शान्ति, (६४) पुष्टि, (६५) क्षमा, (६६) गौरी, (६७) प्रभा, (६८) अयोध्यानिवासिनी, (६९) वसन्तशीतलागौरीस्नानसंतुष्टमानसा (वसन्तऋतुमें शीतला गौरी-व्रतके अवसरपर स्नान करके संतुष्ट होनेवाली); (७०) रमानामभद्रसंस्था (लक्ष्मी नामसे कल्याणरूपमें स्थित), (७१) हेमकुम्भपयोधरा, (७२) सुरार्चिता (देवताओंद्वारा पूजित), (७३) धृति, (७४) कान्ति, (७५) स्मृति, (७६) मेधा, (७७) विभावरी (प्रकाशरूपा), (७८) लघूदरा, (७९) वरारोहा, (८०) हेमकङ्कण-मण्डिता (सोनेके कंगनोंसे विभूषित), (८१) द्विजपत्न्यर्पित-निजभूषा (जिन्होंने वन जाते समय अपने सब आभूषण एक ब्राह्मणीको दे दिये थे), (८२) राघवतोषिणी (श्रीरामको संतुष्ट करनेवाली); (८३) श्रीरामसेवनरता, (८४) रत्नताटङ्कधारिणी (रत्नके बने कर्णफूल पहननेवाली); (८५) रामवामाङ्गसंस्था, (८६) रामचन्द्रैकरञ्जनी, (८७) सरयूजलसंक्रीडाकारिणी (सरयूके जलमें विहार करनेवाली); (८८) राममोहिनी, (८९) सुवर्णतुलिता, (९०) पुण्या, (९१) पुण्यकीर्ति, (९२) कलावती, (९३) कलकण्ठी (सुन्दर कण्ठवाली), (९४) कम्बुकण्ठी, (९५) रम्भोरु, (९६) गजगामिनी, (९७) रामार्पितमना, (९८) रामवन्दिता, (९९) रामवल्लभा, (१००) श्रीरामपदचिह्नाङ्का (जिनके हृदयमें श्रीरामचन्द्रजीके चरणका चिह्न विद्यमान है), (१०१) रामरामेतिभाषिणी (सदा राम-राम कहनेवाली); (१०२) रामपर्यङ्कशयना, (१०३) रामाङ्घ्रिक्षालिनी (रामके पैर धोनेवाली), (१०४) कामधेन्वन्नसंतुष्टा (इन्द्रद्वारा अर्पित कामधेनुके दुग्धसे बनी हुई खीरसे संतुष्ट होनेवाली), (१०५) मातुलुङ्ग करे धृता (हाथमें बिजौरा नीबू धारण करनेवाली), (१०६) दिव्यचन्दनसंस्था, (१०७) श्री, (१०८) मूलकासुरमर्दिनी (अग्निपरीक्षाके समय चन्दनपर स्थित एवं मूलकासुरका नाश करनेवाली)।

एवमष्टोत्तरशतं सीतानाम्नां सुपुण्यदम् ॥
ये पठन्ति नरा भूम्यां ते धन्याः स्वर्गगामिनः ।
अष्टोत्तरशतं नाम्नां सीतायाः स्तोत्रमुत्तमम् ॥
जपनीयं प्रयत्नेन सर्वदा भक्तिपूर्वकम् ।
सन्ति स्तोत्राण्यनेकानि पुण्यदानि महान्ति च ॥
नानेन सदृशानीह तानि सर्वाणि भूसुर ।
स्तोत्राणामुत्तमं चेदं भुक्तिमुक्तिप्रदं नृणाम् ॥

* सृष्टिकालमें रजोगुणमयी । † पालन करते समय सत्त्वगुण-मयी ।

'सीताजीके ये एक सौ आठ नाम बड़े पुण्यदायी हैं। संसारमें जो लोग इस अष्टोत्तरशतनामका पाठ करते हैं, वे यहाँ धन्यवादके पात्र और अन्तमें स्वर्गगामी होते हैं। इस उत्तम सीताष्टोत्तरशतनामस्तोत्रका सर्वदा भक्तिपूर्ण मनसे प्रयत्नपूर्वक जप करना चाहिये। ब्राह्मणदेव! यद्यपि जगत्में और भी अनेकों बड़े-बड़े एवं पुण्यदायक स्तोत्र हैं, तथापि वे सब इसकी समता नहीं कर सकते। यह सभी स्तोत्रोंमें उत्तम तथा पाठ करनेवाले लोगोंको भोग और मोक्ष प्रदान करनेवाला है।'

(आनन्दरा०, मनोहर० सर्ग १८)

परशुरामकृत श्रीरामस्तोत्र

परशुराम उवाच

स एव विष्णुस्त्वं राम जातोऽसि ब्रह्मणार्थितः। मयि स्थितं तु त्वत्तेजस्त्वयैव पुनराहृतम्॥
अद्य मे सफलं जन्म प्रतीतोऽसि मम प्रभो। ब्रह्मादिभिरलभ्यस्त्वं प्रकृतेः पारगो मतः॥
त्वयि जन्मादिषड्भावा न सन्त्यज्ञानसम्भवाः। निर्विकारोऽसि पूर्णस्त्वं गमनादिविवर्जितः॥
यथा जले फेनजालं धूमो वह्नौ तथा त्वयि। त्वदाधारा त्वद्विषया माया कार्यं सृजत्यहो॥
यावन्मायावृता लोकास्तावत्त्वां न विजानते। अविचारितसिद्धैषाविद्या विद्याविरोधिनी॥
अविद्याकृतदेहादिसंघाते प्रतिबिम्बिता। चिच्छक्तिर्जीवलोकेऽस्मिन् जीव इत्यभिधीयते॥
यावद्देहमनःप्राणबुद्ध्यादिष्वभिमानवान्। तावत्कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिभाग् भवेत्॥
आत्मनः संसृतिर्नास्ति बुद्धेर्ज्ञानं न जात्विति। अविवेकाद् द्वयं युङ्क्त्वा संसारीति प्रवर्तते॥
जडस्य चित्समायोगाच्चित्त्वं भूयाच्चितेस्तथा। जडसङ्गाज्जडत्वं हि जलाग्न्योर्मेलनं यथा॥
यावत्त्वत्पादभक्तानां सङ्गसौख्यं न विन्दति। तावत् संसारदुःखौघान्न निवर्तेन्नरः सदा॥
तत्सङ्गलब्धया भक्त्या यदा त्वां समुपासते। तदा माया शनैर्याति तानवं प्रतिपद्यते॥
ततस्त्वज्ज्ञानसम्पन्नः सद्गुरुस्तेन लभ्यते। वाक्यज्ञानं गुरोर्लब्ध्वा त्वत्प्रसादाद्विमुच्यते॥
तस्मात्त्वद्भक्तिहीनानां कल्पकोटिशतैरपि। न मुक्तिशङ्का विज्ञानशङ्का नैव सुखं तथा॥
अतस्त्वत्पादयुगले भक्तिर्मे जन्मजन्मनि। स्यात्त्वद्भक्तिमतां सङ्गोऽविद्या याभ्यां विनश्यति॥
लोके त्वद्भक्तिनिरतास्त्वद्धर्मामृतवर्षिणः। पुनन्ति लोकमखिलं किं पुनः स्वकुलोद्भवान्॥
नमोऽस्तु जगतां नाथ नमस्ते भक्तिभावन। नमः कारुणिकानन्त रामचन्द्र नमोऽस्तु ते॥
देव यद्यत्कृतं पुण्यं मया लोकजिगीषया। तत्सर्वं तव बाणाय भूयाद्राम नमोऽस्तु ते॥

परशुरामजी कहते हैं—हे राम! आप वे ही विष्णु हैं। ब्रह्माकी प्रार्थनासे आपने जन्म लिया है। आपका जो तेज मुझमें स्थित था, वह आज आपने वापस ले लिया। प्रभो! आज मेरा जन्म सफल हो गया, जो मैंने आपको पहचान लिया; क्योंकि आप तो ब्रह्मा आदिसे भी अप्राप्य और प्रकृतिसे भी परे माने गये हैं। आपमें अज्ञानजन्य जन्मादि छः भाव-विकार* नहीं हैं तथा आप गमनादिसे रहित, निर्विकार और पूर्ण हैं। अहो! जलके फेन-समूह और अग्निके धूएँके समान आपके आश्रित और आपको ही विषय करनेवाली माया नाना प्रकारके कार्योंकी रचना करती है। मनुष्य जबतक मायासे आवृत रहते हैं, तबतक आपको नहीं जान पाते। विद्याकी विरोधिनी यह अविद्या, जबतक विचार नहीं किया जाता, तभीतक रहती है। अविद्याजन्य देहादि संघातोंमें प्रतिबिम्बित हुई चित्-शक्ति ही इस जीव-लोकमें 'जीव' कहलाती है। यह जीव

* उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—ये छः भाव-विकार हैं।

जबतक देह, मन, प्राण और बुद्धि आदिमें अभिमान करता है, तभीतक कर्तृत्व, भोक्तृत्व और सुख-दुःखादिका भागी बनता है। वास्तवमें आत्माका जन्म-मरण किसी भी अवस्थामें नहीं है और बुद्धिमें कभी जाननेकी शक्ति नहीं है। अविवेकसे इन दोनोंको मिलाकर जीव 'मैं संसारी हूँ' यों मानकर कर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। जल और अग्निका मेल होनेसे जैसे जलमें उष्णता और अग्निमें शान्तता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जड (बुद्धि) का चेतन (आत्मा)से संयोग होनेसे उसमें चेतनता और चेतन आत्माका जड बुद्धिसे संयोग होनेसे उसमें (कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि) जडता प्रकट हो जाती है। हे राम ! जबतक मनुष्य आपके चरण-कमलोंके भक्तोंके सङ्गसुखका निरन्तर अनुभव नहीं करता, तबतक संसारके दुःखसमूहसे मुक्त नहीं होता। जब वह भक्तजनोंके सङ्गसे प्राप्त हुई भक्तिद्वारा आपकी उपासना करता है, तब आपकी माया शनैः-शनैः और क्षीण होने लगती है और अन्तमें चली जाती है। फिर उस साधकको आपके ज्ञानसे सम्पन्न सद्गुरुकी प्राप्ति होती है और उन सद्गुरुदेवसे परोक्ष ज्ञान प्राप्तकर वह आपकी कृपासे मुक्त हो जाता है। अतः आपकी भक्तिसे शून्य पुरुषोंको सौ करोड़ कल्पोंमें भी मुक्ति अथवा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो नहीं सकती और न उन्हें वास्तविक सुख ही मिल सकता है। अतः मैं यही चाहता हूँ कि जन्म-जन्मान्तरमें आपके चरण-युगलमें मेरी भक्ति हो और मुझे आपके भक्तोंका सङ्ग मिले; क्योंकि इन्हीं दोनों साधनोंसे अविद्याका नाश होता है। संसारमें आपकी भक्तिमें तत्पर और भगवद्धर्मरूप अमृतकी वर्षा करनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण लोकको पवित्र कर देते हैं; फिर वे अपने कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषोंको पवित्र कर दें, इसमें तो कहना ही क्या है। हे जगन्नाथ ! आपको नमस्कार है। हे भक्तिभावन (भक्तिको बढ़ानेवाले) ! आपको नमस्कार है। हे करुणामय ! हे अनन्त ! आपको नमस्कार है। हे रामचन्द्र ! आपको बारंबार नमस्कार है। हे देव ! मैंने पुण्यलोक-प्राप्तिके लिये जो कुछ पुण्य-कर्म किये हैं, वे सब आपके इस बाणके लक्ष्य बन जायँ। हे राम ! आपको नमस्कार है।

ततः प्रसन्नो भगवान् श्रीरामः करुणामयः। प्रसन्नोऽस्मि तव ब्रह्मन् यत्ते मनसि वर्तते ॥
दास्ये तदखिलं कामं मा कुरुष्वात्र संशयम्। ततः प्रीतेन मनसा भार्गवो राममब्रवीत् ॥
यदि मेऽनुग्रहो राम तवास्ति मधुसूदन। त्वद्भक्तसङ्गस्त्वत्पादे दृढा भक्तिः सदास्तु मे ॥
स्तोत्रमेतत्पठेद्यस्तु भक्तिहीनोऽपि सर्वदा। त्वद्भक्तिस्तस्य विज्ञानं भूयादन्ते स्मृतिस्तव ॥
तथेति राघवेणोक्तः परिक्रम्य प्रणम्य तम्। पूजितस्तदनुज्ञातो महेन्द्राचलमन्वगात् ॥

तब करुणामय भगवान् श्रीरामचन्द्रने प्रसन्न होकर कहा—'ब्राह्मण देवता ! मैं प्रसन्न हूँ; आपके हृदयमें जो-जो कामनाएँ हैं, उन सभीको मैं पूर्ण करूँगा—इसमें संदेह न कीजियेगा।' तब परशुरामजीने प्रसन्नचित्त होकर श्रीरामसे कहा—'हे मधुसूदन राम ! यदि आपकी मेरे ऊपर कृपा है तो मुझे सदा आपके भक्तोंका सङ्ग मिलता रहे और आपके चरणकमलोंमें मेरी सुदृढ़ भक्ति हो तथा कोई भक्तिहीन पुरुष भी यदि इस स्तोत्रका पाठ करे तो उसे सर्वदा आपकी भक्ति मिले और ज्ञान प्राप्त हो एवं अन्तमें आपकी स्मृति रहे।' श्रीरामचन्द्रजीके 'तथास्तु' कहनेपर परशुरामजीने उनकी परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया और उनके द्वारा पूजित हो उनकी आज्ञासे महेन्द्र पर्वतपर चले गये।

(अध्यात्मरा० बाल०, ७। २९—५०)

रामके समान दूसरा कोई नहीं

ऐसेहू साहबकी सेवा सों होत चोरु रे। आपनी न बूझ, न कहे को राँडरोरु रे ॥
मुनि-मन-अगम, सुगम माइ-बापु सों। कृपासिंधु, सहज सखा, सनेही आपु सों ॥
लोक-बेद-बिदित बड़ो न रघुनाथ सों। सब दिन सब देस, सबहि के साथ सों ॥
स्वामी सरबग्य सों चलै न चोरी चार की। प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की ॥
काय न कलेस-लेस लेत मान मन की। सुमिरें सकुचि रुचि जोगवत जन की ॥
रीझें बस होत, खीझें देत निज धाम रे। फलत सकल फल कामतरु नाम रे ॥
बेंचें खोटो दाम न मिलै, न राखें काम रे। सोऊ तुलसी निवाज्यो, ऐसो राजा राम रे ॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

महादेवकृत श्रीरामस्तुति

श्रीमहादेव उवाच—

नमोऽस्तु रामाय सशक्तिकाय नीलोत्पलश्यामलकोमलाय।
क्रिरीटहाराङ्गदभूषणाय सिंहासनस्थाय महाप्रभाय॥
त्वमादिमध्यान्तविहीन एकः सृजस्यवस्यत्सि च लोकजातम्।
स्वमायया तेन न लिप्यसे त्वं यत्स्वे सुखेऽजस्ररतोऽनवद्यः॥
लीलां विधत्से गुणसंवृतस्त्वं प्रपन्नभक्तानुविधानहेतोः।
नानावतारैः सुरमानुषाद्यैः प्रतीयसे ज्ञानिभिरेव नित्यम्॥
स्वांशेन लोकं सकलं विधाय तं विभर्षि च त्वं तदधः फणीश्वरः।
उपर्यधो भान्वनिलोडुपौषधिप्रवर्षरूपोऽवसि नैकधा जगत्॥
त्वमिह देहभृतां शिखिरूपः पचसि भुक्तमशेषमजस्रम्।
पवनपञ्चकरूपसहायो जगदखण्डमनेन बिभर्षि॥
चन्द्रसूर्यशिखिमध्यगतं यत् तेज ईश चिदशेषतनूनाम्।
प्राभवत्तनुभृतामिव धैर्यं शौर्यमायुरखिलं तव सत्त्वम्॥
त्वं विरिञ्चिशिवविष्णुविभेदात् कालकर्मशशिसूर्यविभागात्।
वादिनां पृथगिवेश विभासि ब्रह्म निश्चितमनन्यदिहैकम्॥
मत्स्यादिरूपेण यथा त्वमेकः श्रुतौ पुराणेषु च लोकसिद्धः।
तथैव सर्वं सदसद्विभागस्त्वमेव नान्यद्भवतो विभाति॥
यद् यत् समुत्पन्नमनन्तसृष्टावुत्पत्स्यते यच्च भवच्च यच्च।
न दृश्यते स्थावरजंगमादौ त्वया विनातः परतः परस्त्वम्॥
तत्त्वं न जानन्ति परात्मनस्ते जनाः समस्तास्तव माययातः।
त्वद्भक्तसेवामलमानसानां विभाति तत्त्वं परमेकमैशम्॥
ब्रह्मादयस्ते न विदुः स्वरूपं चिदात्मतत्त्वं बहिरर्थभावाः।
ततो बुधस्त्वामिदमेव रूपं भक्त्या भजन्मुक्तिमुपैत्यदुःखः॥
अहं भवन्नाम गृणन्कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम॥
इमं स्तवं नित्यमनन्यभक्त्या शृण्वन्ति गायन्ति लिखन्ति ये वै।
ते सर्वसौख्यं परमं च लब्ध्वा भवत्पदं यान्तु भवत्प्रसादात्॥

(अध्यात्मरा०, युद्ध० १५। ५१—६३)

श्रीमहादेवजी कहते हैं—नील कमलके समान सुकोमल श्यामशरीरवाले, क्रिरीट, हार और बाजूबंद आदिसे विभूषित तथा अपनी शक्ति (श्रीसीताजी)के सहित सिंहासनपर विराजमान महातेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार है। हे राम! आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अद्वितीय हैं। अपनी मायासे आप ही सम्पूर्ण लोकोंकी रचना, पालन और संहार करते हैं, तो भी इनसे लिप्त नहीं होते; क्योंकि आप निरन्तर स्वानन्दमग्न और अनिन्द्य हैं। अपनी मायाके गुणोंसे आवृत होकर आप अपने शरणागत भक्तोंको मार्ग दिखानेके लिये देव-मनुष्यादि नाना प्रकारके अवतार लेकर विचित्र लीलाएँ करते हैं। उस समय सदा ज्ञानीजन ही आपको जान पाते हैं। आप अपने अंशसे सम्पूर्ण लोकोंकी रचना करके उन्हें शेषरूप होकर नीचेसे धारण करते हैं तथा सूर्य, वायु, चन्द्र, ओषधि और वृष्टिरूप होकर ऊपर-नीचे जगत्का नाना प्रकारसे पालन करते हैं। आप ही जठराग्निरूप होकर (प्राण, अपान आदि) पाँच प्राणोंकी सहायतासे प्राणियोंके खाये हुए सम्पूर्ण भोजन-

को निरन्तर पचाते रहकर उसके द्वारा सर्वदा सम्पूर्ण जगत्‌का पालन करते हैं । हे ईश! चन्द्र, सूर्य और अग्निमें जो तेज है, समस्त प्राणियोंमें जो चेतनांश है तथा देहधारियोंमें जो धैर्य, शौर्य और आयुर्बल-सा दिखायी देता है, वह आपकी ही सत्ता है । हे राम ! भिन्न-भिन्न ईश्वरवादियोंको एक आप ही ब्रह्मा, महादेव और विष्णुके तथा काल, कर्म, चन्द्रमा और सूर्यके भेदसे पृथक्-पृथक्-से भासते हैं; किंतु इसमें संदेह नहीं, वास्तवमें आप हैं एक अद्वितीय ब्रह्म ही । जिस प्रकार वेद, पुराण और लोकमें आप एक ही मत्स्यादि अनेक रूपोंसे प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार संसारमें जो कुछ सत्-असद्रूप विभाग है, वह सब आप ही हैं—आपसे भिन्न और कुछ नहीं । इस अनन्त सृष्टिमें जो कुछ उत्पन्न हुआ है, जो उत्पन्न होगा और जो हो रहा है, उस स्थावर-जंगमादिरूप सम्पूर्ण प्रपञ्चमें आपके बिना और कोई दिखायी नहीं देता । अतः आप (प्रकृति आदि) परसे भी पर हैं । हे राम ! आपकी मायासे मोहित होनेके कारण सब लोग आपके परमात्मस्वरूपका तत्त्व नहीं जानते । अतः जिनका अन्तःकरण आपके भक्तोंकी सेवाके प्रभावसे निर्मल हो गया है, उन्हींको आपका अद्वितीय ईश्वर-रूप भासता है । जिनकी बाह्य पदार्थोंमें सत्यबुद्धि है, वे ब्रह्मादि भी आपके चित्स्वरूपको नहीं जानते । (फिर औरोंका तो कहना ही क्या है ।) अतः बुद्धिमान् पुरुष इस श्यामसुन्दरस्वरूपसे ही आपका भक्तिपूर्वक भजन करके दुःखोंसे पार होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । प्रभो ! आपके नामोच्चारणसे कृतार्थ होकर मैं अहर्निश पार्वतीजीके सहित काशीमें रहता हूँ और वहाँ मरणासन्न पुरुषोंको उनके मोक्षके लिये आपके तारक-मन्त्र 'राम'नामका उपदेश करता हूँ । (अब आपसे यही प्रार्थना है कि) जो लोग मेरे कहे हुए इस स्तोत्रको अनन्य भक्तिसे नित्यप्रति सुनें, कहें अथवा लिखें, वे आपकी कृपासे सम्पूर्ण परमानन्द लाभ करके आपके निजपदको प्राप्त हों ।

शिवप्रोक्त श्रीरामशतनामस्तोत्र

शम्भुरुवाच

राघवं करुणाकरं भवनाशनं दुरितापहम् । माधवं खगगामिनं जलरूपिणं परमेश्वरम् ॥
पालकं जनतारकं भवहारकं रिपुमारकम् । त्वां भजे जगदीश्वरं नररूपिणं रघुनन्दनम् ॥
भूधवं वनमालिनं घनरूपिणं धरणीधरम् । श्रीहरिं त्रिगुणात्मकं तुलसीधवं मधुरस्वरम् ॥
श्रीकरं शरणप्रदं मधुमारकं व्रजपालकम् । त्वां भजे जगदीश्वरं नररूपिणं रघुनन्दनम् ॥
विट्ठलं मथुरास्थितं रजकान्तकं गजमारकम् । सन्नुतं बकमारकं वृषघातकं तुरगार्दनम् ॥
नन्दजं वसुदेवजं बलियज्ञगं सुरपालकम् । त्वां भजे जगदीश्वरं नररूपिणं रघुनन्दनम् ॥
केशवं कपिवेष्टितं कपिमारकं मृगमर्दिनम् । सुन्दरं द्विजपालकं दितिजार्दनं दनुजार्दनम् ॥
बालकं खरमर्दिनं ऋषिपूजितं मुनिचिन्तितम् । त्वां भजे जगदीश्वरं नररूपिणं रघुनन्दनम् ॥
शंकरं जलशायिनं कुशबालकं रथवाहनम् । सरयूनतं प्रियपुष्पकं प्रियभूसुरं लवबालकम् ॥
श्रीधरं मधुसूदनं भरताग्रजं गरुडध्वजम् । त्वां भजे जगदीश्वरं नररूपिणं रघुनन्दनम् ॥
गोप्रियं गुरुपुत्रदं वदतां वरं करुणानिधिम् । भक्तपं जनतोषदं सुरपूजितं श्रुतिभिःस्तुतम् ॥
भुक्तिदं जनमुक्तिदं जनरञ्जनं नृपनन्दनम् । त्वां भजे जगदीश्वरं नररूपिणं रघुनन्दनम् ॥
चिद्घनं चिरजीविनं मणिमालिनं वरदोन्मुखम् । श्रीधरं धृतिदायकं बलवर्धनं गतिदायकम् ॥
शान्तिदं जनतारकं शरधारिणं गजगामिनम् । त्वां भजे जगदीश्वरं नररूपिणं रघुनन्दनम् ॥
शार्ङ्गिणं कमलाननं कमलादृशं पदपङ्कजम् । श्यामलं रविभासुरं शशिसौख्यदं करुणार्णवम् ॥
सत्पतिं नृपपालकं नृपवन्दितं नृपतिप्रियम् । त्वां भजे जगदीश्वरं नररूपिणं रघुनन्दनम् ॥
निर्गुणं सगुणात्मकं नृपमण्डनं मतिवर्धनम् । अच्युतं पुरुषोत्तमं परमेष्ठिनं स्मितभाषिणम् ॥
ईश्वरं हनुमन्नुतं कमलाधिपं जनसाक्षिणम् । त्वां भजे जगदीश्वरं नररूपिणं रघुनन्दनम् ॥

श्रीशिवजीने कहा—रघुवंशमें उत्पन्न, करुणाकी खान, आवागमनका अन्त करनेवाले, पापनाशकारी, लक्ष्मीके पति, गरुडवाहन, जलरूपमें स्थित, परमेश्वर, सबके पालक, भक्तोंको तारनेवाले, भवबाधाके नाशक, शत्रुसंहारकारी, नररूपधारी आप जगदीश्वर रघुनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ। पृथ्वीपति, वनमालाधारी, नवीन नीरदके समान नीलकाय, पृथ्वीकी रक्षा करनेवाले, श्रीहरि, (विश्वकी उत्पत्ति, पालन एवं संहारके लिये) सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे युक्त, तुलसीके पति, मीठे स्वरवाले, शोभाका विस्तार करनेवाले, शरणदाता, मधुनामक दैत्यको मारनेवाले, व्रजके पालक, नररूपधारी जगदीश्वर रघुनन्दन! आपका मैं भजन करता हूँ। विट्ठलरूपसे मथुरामें निवास करनेवाले, (श्रीकृष्णरूपमें) रजकसंहारी, गजान्तकारी, सज्जनोंसे संस्तुत, वकासुर, वृषासुर और केशीको मारनेवाले, नन्दसूनु, वसुदेवके पुत्र, (वामनरूपसे) बलिके यज्ञमें जानेवाले, देवताओंके पालक, नररूपधारी जगदीश्वर रघुनन्दन! आपका मैं भजन करता हूँ। केशव, वानरोंसे घिरे हुए, (वाली नामके) वानरको मारनेवाले, मृगरूपधारी मारीचको मारनेवाले, सुन्दर, ब्राह्मणोंके रक्षक, दैत्यों और दानवोंका संहार करनेवाले, बालरूपधारी, खरको मारनेवाले, ऋषियोंद्वारा पूजित, मुनियोंद्वारा चिन्तित और नररूपधारी हे जगदीश्वर रघुनन्दन! आपका मैं भजन करता हूँ। जो संसारका कल्याण करनेवाले तथा (नारायणरूपसे) जलमें शयन करते हैं, जिनके कुश-जैसे (पराक्रमी) बालक हैं, रथ जिनकी सवारी है, सरयू स्वयं जिनको नमस्कार करती है, जिनको पुष्पक विमान विशेष प्रिय है, जो ब्राह्मणोंसे बड़ा प्रेम करते हैं, लव नामका जिनका (दूसरा) बालक (पुत्र) है, जो लक्ष्मीको (अपने वक्षमें धारण) करते हैं, जिन्होंने मधु नामक दैत्यका संहार किया था, जो भरतके बड़े भ्राता हैं और जिनकी ध्वजामें गरुड़का चिह्न बना हुआ है, ऐसे नररूपधारी जगदीश रघुनन्दन! आपका हम भजन करते हैं। जिनको गौ (विशेष) प्रिय है, (श्रीकृष्णरूपमें) जो यमलोकसे गुरुपुत्रको लौटा लाये थे, जो वक्ताओंमें श्रेष्ठ हैं, जो करुणाके समुद्र हैं, जो (सब तरहसे) अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं, जो अपने भक्तोंको संतुष्ट रखते हैं, देवतागण जिनकी पूजा करते हैं, चारों वेद जिनकी स्तुति करते हैं, जो सब प्रकारके भोग प्रदान करते हैं और जो अपने भक्तोंको प्रसन्न रखते हैं तथा उन्हें मुक्ति प्रदान करते हैं, महाराज दशरथके पुत्र, नररूपधारी जगदीश्वर रघुनन्दन! आपका मैं भजन करता हूँ। चिद्घनरूपधारी, चिरंजीवी, मणियोंकी माला धारण करनेवाले, वरदोन्मुख (वरदानोन्मुख), श्रीधर, धैर्य प्रदान करनेवाले, बलवर्धनकारी, गतिदायक, शान्तिदाता, जनतारक, शरधारी, गजगामी, नररूप धारण करनेवाले जगदीश्वर रघुनन्दन! आपका मैं भजन करता हूँ। (विष्णुरूपसे) शार्ङ्ग-धनुष धारण किये हुए, कमलके समान मुख एवं कमल-सरीखे चरणवाले, लक्ष्मीकी ओर दृष्टि किये हुए, श्यामवर्ण, सूर्यके समान देदीप्यमान, चन्द्रमाके समान सुख देनेवाले, करुणाके समुद्र, सत्पुरुषोंके प्रभु, राजाओंके रक्षक, राजाओंद्वारा वन्दित, राजाओंके प्रिय एवं नररूपधारी जगदीश्वर रघुनन्दन! आपका मैं भजन करता हूँ। निर्गुण होते हुए भी सगुण-रूपधारी, राजाओंके भूषण, बुद्धिवर्धनकारी, अच्युत, पुरुषोत्तम, परम पूजनीय, मुस्कराकर बोलनेवाले, जगत्के प्रभु, हनुमान्‌जीके द्वारा संस्तुत, लोक-साक्षी, लक्ष्मीके पति नररूपधारी जगदीश्वर रघुनन्दन! आपका मैं भजन करता हूँ।

ईश्वरोदितमेतदुत्तममादराच्छतनामकम् । यः पठेद्भुवि मानवस्तव भक्तिमांस्तपनोदये ॥
त्वत्पदं निजबन्धुदारसुतैर्युतश्चिरमेत्य नः । सोऽस्तु ते पदसेवने बहुतत्परो मम वाक्यतः ॥

(इस प्रकार स्तुति करते हुए शिवजीने अन्तमें कहा—) सूर्योदयके समय जो भी मनुष्य मेरे कहे हुए इस उत्तम शतनाम-स्तोत्रका आदरपूर्वक पाठ करेगा, उसकी आपके चरणोंमें भक्ति हो जायगी और वह मेरे आशीर्वादसे अपने बन्धु-बान्धव तथा स्त्री-पुत्रादिकोंके साथ हमारे लोकमें आकर बहुत कालतक आपके चरणोंकी सेवाका सुयोग पायेगा।

(आनन्दरामायण, पूर्ण० ६ । ३२—४१)

ब्रह्माकृत श्रीरामस्तुति

ब्रह्मोवाच

वन्दे देवं विष्णुमशेषस्थितिहेतुं त्वामध्यात्मज्ञानिभिरन्तर्हृदि भाव्यम् ।
हेयाहेयद्वन्द्वविहीनं परमेकं सत्तामात्रं सर्वहृदिस्थं दृशिरूपम् ॥
प्राणापानौ निश्चयबुद्ध्या हृदि रुद्ध्वा छित्त्वा सर्वं संशयबन्धं विषयौघान् ।
पश्यन्तीशं यं गतमोहा यतयस्तं वन्दे रामं रत्नकिरीटं रविभासम् ॥
मायातीतं माधवमाद्यं जगदादिं मानातीतं मोहविनाशं मुनिवन्द्यम् ।
योगिध्येयं योगविधानं परिपूर्णं वन्दे रामं रञ्जितलोकं रमणीयम् ॥
भावाभावप्रत्ययहीनं भवमुख्यैर्योगासक्तैरर्चितपादाम्बुजयुग्मम् ।
नित्यं शुद्धं बुद्धमनन्तं प्रणवाख्यं वन्दे रामं वीरमशेषासुरदावम् ॥
त्वं मे नाथो नाथितकार्याखिलकारी मानातीतो माधवरूपोऽखिलधारी ।
भक्त्या गम्यो भावितरूपो भवहारी योगाभ्यासैर्भावितचेतस्सहचारी ॥
त्वामाद्यन्तं लोकततीनां परमीशं लोकानां नो लौकिकमानैरधिगम्यम् ।
भक्तिश्रद्धाभावसमेतैर्भजनीयं वन्दे रामं सुन्दरमिन्दीवरनीलम् ॥
को वा ज्ञातुं त्वामतिमानं गतमानं मायासक्तो माधव शक्तो मुनिमान्यम् ।
वृन्दारण्ये वन्दितवृन्दारकवृन्दं वन्दे रामं भवमुखवन्द्यं सुखकंदम् ॥
नानाशास्त्रैर्वेदकदम्बैः प्रतिपाद्यं नित्यानन्दं निर्विषयज्ञानमनादिम् ।
मत्सेवार्थं मानुषभावं प्रतिपन्नं वन्दे रामं मरकतवर्णं मथुरेशम् ॥
श्रद्धायुक्तो यः पठतीमं स्तवमाद्यं ब्राह्मं ब्रह्मज्ञानविधानं भुवि मर्त्यः ।
रामं श्यामं कामितकामप्रदमीशं ध्यात्वा ध्याता पातकजालैर्विगतः स्यात् ॥

(अध्यात्मरामायण, युद्ध० १३ । १०–१८)

ब्रह्माजी कहते हैं—हे राम ! सम्पूर्ण विश्वकी स्थितिके कारण, आत्मज्ञानियोंद्वारा हृदयमें चिन्तनीय, त्याज्य और ग्राह्यरूप द्वन्द्वसे रहित, सबसे परे, अद्वितीय, सत्तामात्र, सबके हृदयमें विराजमान, ज्ञानस्वरूप आप विष्णुभगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ । मोहहीन संन्यासीगण निश्चयात्मिका बुद्धिके द्वारा प्राण और अपानको हृदयमें रोककर तथा अपने सम्पूर्ण संशयरूप बन्धन और विषय-वासनाओंका छेदन कर जिन ईश्वरका दर्शन करते हैं, उन रत्नकिरीटधारी, सूर्यके समान तेजस्वी भगवान् रामको मैं प्रणाम करता हूँ । जो मायासे परे, लक्ष्मीके पति, सबके आदिकारण, जगत्‌के उत्पत्ति-स्थान, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे परे, मोहका समूल नाश करनेवाले, मुनिजनोंके वन्दनीय, योगियोंद्वारा ध्यान किये जानेयोग्य, योगमार्गके प्रवर्तक, सर्वत्र परिपूर्ण और सम्पूर्ण संसारको आनन्दित करनेवाले हैं, उन परम सुन्दर भगवान् रामको मैं प्रणाम करता हूँ । जो भाव और अभावरूप दोनों प्रकारकी प्रतीतियोंसे रहित हैं तथा जिनके युगल चरण-कमलोंका योगपरायण शंकर आदि पूजन करते हैं और जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध और अनन्त हैं, सम्पूर्ण दानवोंके लिये दावानलके समान उन ओंकारनामवाच्य वीरवर रामको मैं प्रणाम करता हूँ । हे राम ! आप मेरे प्रभु हैं और मेरे सम्पूर्ण प्रार्थित कार्योंको पूर्ण करनेवाले हैं; आप देश-कालादि-मान (परिमाण)से रहित, विष्णुस्वरूप, अखिल विश्वको धारण करनेवाले, भक्तिसे प्राप्य, अपने स्वरूपका ध्यान करनेवालोंके संसार-भयको दूर करनेवाले और योगाभ्याससे शुद्ध हुए चित्तमें विहार करनेवाले हैं । आप इन लोक-समूहोंके आदि और अन्त (अर्थात् उत्पत्ति और प्रलयके स्थान) हैं, सम्पूर्ण लोकोंके परमेश्वर हैं, आप किसी भी लौकिक प्रमाणसे जाने नहीं जा सकते, आप तो भक्ति और श्रद्धासम्पन्न पुरुषोंद्वारा ही भजन किये जानेयोग्य हैं; ऐसे नीलकमलके समान श्यामसुन्दर आप श्रीरामचन्द्रजीको मैं प्रणाम करता हूँ । हे लक्ष्मीपते ! आप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे परे तथा सर्वथा निर्मान हैं । मायामें आसक्त कौन प्राणी

आपको जाननेमें समर्थ हो सकता है ? आप मुनियोंके भी माननीय हैं तथा (कृष्णावतारके समय) वृन्दावनमें आ देवसमूहकी वन्दना करते हुए भी रामरूपसे शिव आदि देवताओंके स्वयं वन्दनीय हैं; ऐसे आप आनन्दघन भग रामको मैं प्रणाम करता हूँ । जो नाना शास्त्र और वेदसमूहके द्वारा प्रतिपादित, नित्य आनन्दस्वरूप, निर्विकल्प ज्ञानस्व और अनादि हैं तथा जिन्होंने मेरा कार्य करनेके लिये मनुष्यरूप धारण किया है, उन मरकतमणिके समान नील मथुरानाथ भगवान् रामको प्रणाम करता हूँ । संसारमें जो मनुष्य इच्छित भोग प्रदान करनेवाले श्याम भगवान् रामका ध्यान करते हुए ब्रह्माजीके कहे हुए इस ब्रह्मज्ञान-विधायक आद्यस्तोत्रका श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा, ध्यानशील पुरुष सकल पापोंसे मुक्त हो जायगा ।

इन्द्रकृत श्रीरामस्तुति

इन्द्र उवाच

भजेऽहं सदा राममिन्दीवराभं भवारण्यदावानलाभाभिधानम् ।
भवानीहृदा भावितानन्दरूपं भवाभावहेतुं भवादिप्रपन्नम् ॥
सुरानीकदुःखौघनाशैकहेतुं नराकारदेहं निराकारमीड्यम् ।
परेशं परानन्दरूपं वरेण्यं हरिं राममीशं भजे भारनाशम् ॥
प्रपन्नाखिलानन्ददोहं प्रपन्नं प्रपन्नार्तिनिश्शेषनाशाभिधानम् ।
तपोयोगयोगीशभावाभिभाव्यं कपीशादिमित्रं भजे राममित्रम् ॥
सदा भोगभाजां सुदूरं विभान्तं सदा योगभाजामदूरे विभान्तम् ।
चिदानन्दकंदं सदा राघवेशं विदेहात्मजानन्दरूपं प्रपद्ये ॥
महायोगमायाविशेषानुयुक्तो विभासीश लीलानराकारवृत्तिः ।
त्वदानन्दलीलाकथापूर्णकर्णाः सदानन्दरूपा भवन्तीह लोके ॥
अहं मानपानाभिमत्तप्रमत्तो न वेदाखिलेशाभिमानाभिमानः ।
इदानीं भवत्पादपद्मप्रसादात् त्रिलोकाधिपत्याभिमानो विनष्टः ॥
स्फुरद्रत्नकेयूरहाराभिरामं धराभारभूतासुरानीकदावम् ।
शरच्चन्द्रवक्त्रं लसत्पद्मनेत्रं दुरावारपारं भजे राघवेशम् ॥
सुराधीशनीलाभ्रनीलाङ्गकान्तिं विराधादिरक्षोवधाल्लोकशान्तिम् ।
किरीटादिशोभं पुरारातिलाभं भजे रामचन्द्रं रघूणामधीशम् ॥
लसच्चन्द्रकोटिप्रकाशादिपीठे समासीनमङ्के समाधाय सीताम् ।
स्फुरद्धेमवर्णां तडित्पुञ्जभासां भजे रामचन्द्रं निवृत्तार्तितन्द्रम् ॥

(अध्यात्मरा०, युद्ध० १३ । २४-३२)

इन्द्र बोले—जो नीलकमल-सी आभावाले हैं, संसाररूप वनके लिये जिनका नाम दावानलके समान है, पार्वतीजी जिन आनन्दरूपका हृदयमें ध्यान करती हैं, जो (जन्म-मरणरूप) संसारसे छुड़ानेवाले हैं और शंकरादि देवोंद्वारा जिनका आश्रय लिया जा है; उन भगवान् रामका मैं सदा भजन करता हूँ । जो देवमण्डलके दुःखसमूहका नाश करनेके एकमात्र कारण हैं तथा जो मनुष्यरू धारी होनेपर भी आकारहीन और स्तुति किये जानेयोग्य हैं, पृथ्वीका भार उतारनेवाले उन परमेश्वर परानन्दरूप सर्वश्रेष्ठ भगवान् रामको मैं भजता हूँ । जिन्होंने शरणागतोंको सब प्रकारका आनन्द देनेवाले विग्रहको धारण किया है, जिनका नाम शरणागत भक्तों सम्पूर्ण दुःखोंको दूर करनेवाला है, जिनका तप और योगके द्वारा एवं बड़े-बड़े योगीश्वरोंकी भावनाओंद्वारा चिन्तन किया जा है तथा जो सुग्रीवादि जिनके मित्र हैं, उन भगवान् रामरूप सूर्यको मैं भजता हूँ । जो भोगपरायण लोगोंसे बहुत दूर र और योगनिष्ठ पुरुषोंके सदा समीप ही विराजते हैं, श्रीजानकीजीके लिये आनन्दस्वरूप उन चिदानन्दघन श्रीरघुनाथजी

और सर्वदा भजता हूँ। हे भगवन् ! आप अपनी महान् योगमायाके गुणोंसे युक्त होकर लीलासे ही मनुष्यरूप एवं मनुष्यके-से आचरण करनेवाले प्रतीत हो रहे हैं। जिनके कान आपकी इन आनन्दमयी लीलाओंके कथामृतसे पूर्ण होते हैं, वे संसारमें, नित्यानन्दरूप हो जाते हैं। प्रभो ! मैं तो मान और सोमपानके उन्मादसे मतवाला हो रहा था; सर्वेश्वरताके अभिमानवश मैं अपने आगे किसीको कुछ भी नहीं समझता था। अब आपके चरण-कमलोंकी कृपासे मेरा त्रिलोकाधिपतित्वका अभिमान चूर हो गया। जो चमचमाते हुए रत्नजटित भुजबन्ध और हारोंसे सुशोभित हैं, पृथ्वीके भाररूप राक्षसोंके लिये दावानलके समान हैं, जिनका शरच्चन्द्रके समान मुख और अति मनोहर नेत्र-कमल हैं तथा जिनका आदि-अन्त जानना अत्यन्त कठिन है, उन रघुनाथजीको मैं भजता हूँ। जिनके शरीरकी इन्द्रनील-मणि और मेघके समान श्याम कान्ति है, जिन्होंने विराध आदि राक्षसोंको मारकर सम्पूर्ण लोकोंमें शान्ति स्थापित की है, उन किरीटादिसे सुशोभित और श्रीमहादेवजीके परम धन रघुकुलेश्वर रामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ। जो तेजोमय सुवर्णके-से वर्णवाली और बिजलीके समान कान्तिमयी जानकीजीको गोदमें लिये करोड़ों चन्द्रमाओंके समान देदीप्यमान सिंहासनपर विराजमान हैं, उन निर्दुःख और आलस्यहीन भगवान् रामको मैं भजता हूँ।

सर्वदेवकृत श्रीरामस्तुति

सुरा ऊचुः

जय दाशरथे सुरार्तिहञ्जयतादानववंशदाहक। जय देववराङ्गनागणग्रहणव्यग्रकरारिदारक॥
तव यद्दनुजेन्द्रनाशनं कवयो वर्णयितुं समुत्सुकाः। प्रलये जगतां ततीः पुनर्ग्रससे त्वं भुवनेश लीलया॥
जय जन्मजरादिदुःखकैः परिमुक्त प्रबलोद्धुरोद्धर। जय धर्मकरान्वयाम्बुधौ कृतजन्मन्नजरामराच्युत॥
तव देववरस्य नामभिर्बहुपापा अपि ते पवित्रिताः। किमु साधुद्विजवर्यपूर्वकाः सुतनुं मानुषतामुपागताः॥

हरविरिञ्चिनुतं तव पादयोर्युगलमीप्सितकामसमृद्धिदम्।
हृदि पवित्रयवादिकचिह्नितैः सुरचितं मनसा स्पृहयामहे॥
यदि भवान्न दधात्यभयं भुवो मदनमूर्तितिरस्करकान्तिभृत्।
सुरगणा हि कथं सुखिनः पुनर्ननु भवन्ति घृणामय पावन॥
यदा यदा नो दनुजा हि दुःखदास्तदा तदा त्वं भुवि जन्मभाग्भवेः।
अजोऽव्ययोऽपीशवरोऽपि सन् विभो स्वभावमास्थाय निजं निजार्चितः॥
मृतसुधासदृशैरघनाशनैः सुचरितैरवकीर्य महीतलम्।
अमनुजैर्गुणशंसिभिरीडितस्त्वमत आशु पुनः प्रविशेः पदम्॥

अनादिराद्योऽजररूपधारी हारी किरीटी मकरध्वजाभः। जयं करोतु प्रसभं हतारिः स्मरारिसंसेवितपादपद्मः॥
इत्युक्त्वा ते सुराः सर्वे ब्रह्मेन्द्रप्रमुखा मुहुः। प्रणेमुररिनाशेन प्रीणिता रघुनायकम्॥
इति स्तुत्यातिसंहृष्टो रघुनाथो महायशाः। प्रोवाच तान् सुरान्वीक्ष्य प्रणतान्नतकन्धरान्॥

श्रीराम उवाच

सुरा वृणुत मे यूयं वरं कंचित्सुदुर्लभम्। यं कोऽपि देवो दनुजो न यक्षः प्राप सोदरः॥

सुरा ऊचुः

स्वामिन् भगवतः सर्वं प्राप्तमस्माभिरुत्तमम्। यदयं निहतः शत्रुरस्माकं तु दशाननः॥
यदा यदासुरोऽस्माकं बाधां परिदधाति भोः। तदा तदैव कर्तव्यमेतावद्वैरिनाशनम्॥
तथेत्युक्त्वा पुनर्वीरः प्रोवाच रघुनन्दनः।

श्रीराम उवाच

सुराः शृणुत मद्वाक्यमादरेण समन्विताः। भवत्कृतं मदीयैर्वै गुणैर्ग्रथितमद्भुतम्॥
स्तोत्रं पठिष्यति मुहुः प्रातर्निशि सकृन्नरः। तस्य वैरिपराभूतिर्न भविष्यति दारुणा॥
न च दारिद्र्यसंयोगो न च व्याधिपराभवौ। मदीयचरणद्वन्द्वे भक्तिस्तेषां तु भूयसी॥

(पद्मपुराण, पाताल० ५। २—१९)

देवता बोले--देवताओंकी पीड़ा दूर करनेवाले दशरथनन्दन श्रीराम ! आपकी जय हो । दानववंशका दहन करने राम ! आपकी जय हो, जय हो ! श्रेष्ठ देवाङ्गनाओंको पकड़नेमें जिसके हाथ व्यग्र थे, उस दुष्ट शत्रुका संहार करनेवाले श्रीरा आपकी जय हो । आपके द्वारा जो राक्षसराजका विनाश हुआ है, उस कथाका वर्णन करनेके लिये कविजन अत्यधिक उत् होंगे । भुवनेश्वर ! प्रलयकालमें आप सम्पूर्ण लोकोंकी श्रेणियोंको लीलापूर्वक ग्रस लेते हैं । प्रभो ! आप जन्म और आदिके दुःखोंसे सदा मुक्त हैं । प्रबलशक्तिसम्पन्न परमात्मन् ! आपकी जय हो । आप हमारा उद्धार कीजिये, उद् कीजिये । धार्मिक पुरुषोंके कुलरूपी समुद्रमें प्रकट होनेवाले, अजर-अमर और अच्युत परमेश्वर ! आपकी जय है भगवन् ! आप देवताओंमें श्रेष्ठ हैं । आपके नामोंने अनेकों पापियोंको भी पवित्र कर दिया; फिर जिन्होंने श्रेष्ठ द्विजक जन्म ग्रहण करके उत्तम मानव-शरीरको प्राप्त किया है और जो साधु पुरुष हैं, उनका उद्धार होना कौन बड़ी बात है । शि और ब्रह्माजी भी जिनका स्तवन करते हैं, जो पवित्र यव आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा मनोवाञ्छित भोग एवं समृ देनेवाले हैं, उन आपके युगल चरणोंका हम निरन्तर अपने हृदयमें चिन्तन करते रहें---यही हमारी अभिलाषा है । आ कामदेवकी भी मूर्तिको तिरस्कृत करनेवाली मनोहर कान्ति धारण करते हैं । परमपावन दयामय ! यदि आप इस भूमण्डल अभयदान न दें तो देवता कैसे सुखी हो सकते हैं । नाथ ! जब-जब दानवी शक्तियाँ हमें दुःख देने लगें, तब-तब विभ आप सभी ईश्वरोंसे श्रेष्ठ, अपने भक्तोंद्वारा पूजित, अजन्मा तथा अविकारी होते हुए भी अपनी प्रकृति (माया)का आश्रय ले पृथ्वीपर अवतीर्ण हों । आपके सुन्दर चरित्र (पवित्र लीलाएँ) मरनेवाले प्राणियोंके लिये अमृतके समान दिव्य जीवन प्रद करनेवाले हैं । उनके श्रवणमात्रसे समस्त पापोंका नाश हो जाता है । आपने अपनी इन लीलाओंसे समस्त भूमण्डलको व्य कर रक्खा है तथा गुणोंका गान करनेवाले देवताओंद्वारा भी आपकी स्तुति की गयी है । अब आप शीघ्र ही अ परमधाममें पधारिये । जो सबके आदि हैं, परंतु जिनका आदि कोई नहीं है, जो अजर (तरुण) रूप धा करनेवाले हैं, जिनके गलेमें हार और मस्तकपर किरीट शोभा पाता है, जो कामदेवकी कान्तिको धारण करनेव हैं, साक्षात् भगवान् शिव जिनके चरण-कमलोंकी सेवामें लगे रहते हैं तथा जिन्होंने अपने शत्रु रावणका बलपूर्वक व किया है, वे श्रीरघुनाथजी सदा ही हमें विजयी बनायें । शत्रुनाशसे प्रसन्न हुए उन ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देवताओं इस प्रकार स्तुति करके श्रीरघुनाथजीको बारंबार प्रणाम किया । महायशस्वी श्रीरघुनाथजी देवताओंकी इस स्तुतिसे बहु प्रसन्न हुए और उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते देख बोले ।

श्रीरामने कहा--देवताओ ! आपलोग मुझसे कोई ऐसा वर माँगें, जो आपके लिये अत्यन्त दुर्लभ हो त जिसे अबतक किसी देवता, दानव, यक्ष और राक्षसने भी नहीं प्राप्त किया हो ।

देवता बोले--स्वामिन् ! आपने हमलोगोंके इस शत्रु दशाननका जो वध किया है, उसीसे हमने सारे उत्तम वर प्राप्त कर लिये । अब हम यही चाहते हैं कि जब-जब कोई असुर हमलोगोंको बाधा पहुँचाये, तभी-तब आप इसी तरह हम उस शत्रुका नाश कर दें ।

वीश्वर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने 'बहुत अच्छा' कहकर देवताओंकी प्रार्थना स्वीकार की और फिर इस प्रकार कहा

श्रीराम बोले--देवताओ ! आप सब लोग आदरपूर्वक मेरा वचन सुनें । आपलोगोंने मेरे गुणोंको ग्रथित कर जो यह अद्भुत स्तोत्र बनाया है, इसका जो मनुष्य प्रातःकाल तथा रात्रिमें एक बार प्रतिदिन पाठ करेगा, उस कभी अपने शत्रुओंसे पराजित होनेका भयंकर कष्ट नहीं भोगना पड़ेगा । उसके घरमें दरिद्रताका प्रवेश नहीं होगा त उसे रोग और पराभव नहीं सतायेंगे । इतना ही नहीं, इसके पाठसे मनुष्योंके हृदयमें मेरे युगलचरणोंकी ग भक्तिका उदय होगा ।

हनुमान्‌जीद्वारा की गयी भगवान् श्रीसीतारामकी स्तुति

श्रीहनुमानुवाच

नमो रामाय हरये विष्णवे प्रभविष्णवे । आदिदेवाय देवाय पुराणाय गदाभृते ॥
विष्टरे पुष्पके नित्यं निविष्टाय महात्मने । प्रहृष्टवानरानीकजुष्टपादाम्बुजाय ते ॥
निष्पिष्टराक्षसेन्द्राय जगदिष्टविधायिने । नमः सहस्रशिरसे सहस्रचरणाय च ॥
सहस्राक्षाय शुद्धाय राघवाय च विष्णवे । भक्तार्तिहारिणे तुभ्यं सीतायाः पतये नमः ॥
हरये नारसिंहाय दैत्यराजविदारिणे । नमस्तुभ्यं वराहाय दंष्ट्रोद्धृतवसुंधर ॥
त्रिविक्रमाय भवते बलियज्ञविभेदिने । नमो वामनरूपाय महामन्दरधारिणे ॥
नमस्ते मत्स्यरूपाय त्रयीपालनकारिणे । नमः परशुरामाय क्षत्रियान्तकराय ते ॥
नमस्ते राक्षसघ्नाय नमो राघवरूपिणे । महादेवमहाभीममहाकोदण्डभेदिने ॥
क्षत्रियान्तकरक्रूरभार्गवत्रासकारिणे । नमोऽस्त्वहल्यासंतापहारिणे चापहारिणे ॥
नागायुतबलोपेतताटकादेहदारिणे । शिलाकठिनविस्तारवालिवक्षोविभेदिने ॥
नमो मायामृगोन्माथकारिणेऽज्ञानहारिणे । दशस्यन्दनदुःखाब्धिशोषणागस्त्यरूपिणे ॥
अनेकोर्मिसमाधूतसमुद्रमदहारिणे । मैथिलीमानसाम्भोजभानवे लोकसाक्षिणे ॥
राजेन्द्राय नमस्तुभ्यं जानकीपतये हरे । तारकब्रह्मणे तुभ्यं नमो राजीवलोचन ॥
रामाय रामचन्द्राय वरेण्याय सुखात्मने । विश्वामित्रप्रियायेदं नमः खरविदारिणे ॥
प्रसीद देवदेवेश भक्तानामभयप्रद । रक्ष मां करुणासिन्धो रामचन्द्र नमोऽस्तु ते ॥
रक्ष मां वेदवचसामप्यगोचर राघव । पाहि मां कृपया राम शरणं त्वामुपैम्यहम् ॥
रघुवीर महामोहमपाकुरु ममाधुना । स्नाने चाचमने भुक्तौ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥
सर्वावस्थासु सर्वत्र पाहि मां रघुनन्दन । महिमानं तव स्तोतुं कः समर्थो जगत्त्रये ॥
त्वमेव त्वन्महत्त्वं वै जानासि रघुनन्दन ।

श्रीहनुमान्‌जी बोले—सबपर शासन करनेवाले, सर्वव्यापी, श्रीहरिस्वरूप श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार है । आदिदेव पुराणपुरुष भगवान् गदाधरको नमस्कार है । (अष्टदल) कमलपर स्थित सिंहासनपर नित्य विराजमान होनेवाले महात्मा श्रीरघुनाथजीको नमस्कार है । प्रभो ! उस समय हर्षमें भरे हुए वानरोंका समुदाय आपके युगल चरणारविन्दोंकी सेवा करता है, आपको नमस्कार है । राक्षसराज रावणको पीस डालकर सम्पूर्ण जगत्‌का अभीष्ट सिद्ध करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार है । आपके सहस्रों मस्तक, सहस्रों चरण और सहस्रों नेत्र हैं; आप विशुद्ध विष्णुस्वरूप राघवेन्द्रको नमस्कार है । आप भक्तोंकी पीड़ा दूर करनेवाले तथा सीताके प्राणवल्लभ हैं, आपको नमस्कार है । दैत्यराज हिरण्यकशिपुके वक्षःस्थलको विदीर्ण करनेवाले आप नृसिंहरूपधारी भगवान् विष्णुको नमस्कार है । अपनी दाढ़ोंपर पृथ्वीको उठा ले आनेवाले भगवान् वराह ! आपको नमस्कार है । बलिके यज्ञको भङ्ग करनेवाले आप भगवान् त्रिविक्रमको नमस्कार है । वामनरूपधारी भगवान्‌को नमस्कार है । अपनी पीठपर महान् मन्दराचलको धारण करनेवाले भगवान् कच्छपको नमस्कार है । तीनों वेदोंकी सुरक्षा करनेवाले मत्स्यरूपधारी भगवान्‌को नमस्कार है । क्षत्रियोंका अन्त करनेवाले परशुरामरूपी रामको नमस्कार है । राक्षसोंका नाश करनेवाले आपको नमस्कार है । राघवेन्द्रका रूप धारण करनेवाले आपको नमस्कार है । महादेवजीके महान् भयंकर महाधनुषको भङ्ग करनेवाले आपको नमस्कार है । क्षत्रियोंका अन्त करनेवाले क्रूर परशुरामको भी त्रास देनेवाले आपको नमस्कार है । भगवन् ! आप अहल्याका संताप और महादेवजीका चाप हरनेवाले हैं, आपको नमस्कार है । दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाली ताड़काके शरीरका अन्त करनेवाले आपको नमस्कार है । वालीकी पत्थरके समान कठोर और चौड़ी छातीको छेद डालनेवाले आपको नमस्कार है । आप मायामय मृगका नाश करनेवाले तथा अज्ञानको हर लेनेवाले हैं, आपको नमस्कार है । दशरथजीके दुःखरूपी समुद्रको शोख लेनेके लिये आप मूर्तिमान् अगस्त्य हैं, आपको नमस्कार है । अनन्त उत्ताल तरंगोंसे

उद्वेलित समुद्रका भी दर्प दलन करनेवाले आपको नमस्कार है। मिथिलेशनन्दिनी सीताके हृदय-कमलको विकसित करनेवाले लोकसाक्षी सूर्यरूप आप श्रीहरिको नमस्कार है। हरे! आप राजाओंके भी राजा और जानकीजीके प्राणवल्लभ हैं, आपको नमस्कार है। कमलनयन! आप ही तारक ब्रह्म हैं, आपको नमस्कार है। आप ही योगियोंके मनको रमानेवाले 'राम' हैं तथा राम होते हुए ही चन्द्रमाके समान आह्लाद प्रदान करनेके कारण 'रामचन्द्र' हैं। सबसे श्रेष्ठ और सुखस्वरूप हैं। आप विश्वामित्रजीके प्रेमी हैं, खरनामक राक्षसका हृदय विदीर्ण करनेवाले हैं, आपको नमस्कार है। भक्तोंको अभयदान देनेवाले देवदेवेश्वर! प्रसन्न होइये। करुणासिन्धु श्रीरामचन्द्र! आपको नमस्कार है, मेरी रक्षा कीजिये। वेदवाणीके भी अगोचर राघवेन्द्र! मेरी रक्षा कीजिये। श्रीराम! कृपा करके मुझे उबारिये। मैं आपकी शरणमें आया हूँ। रघुवीर! मेरे महान् मोहको इसी समय दूर कीजिये। रघुनन्दन! स्नान, आचमन, भोजन, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आदि सभी क्रियाओं और सभी अवस्थाओंमें आप मेरी रक्षा कीजिये। तीनों लोकोंमें कौन ऐसा पुरुष है, जो आपकी महिमाका स्तवन करनेमें समर्थ है। रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम! आप ही अपनी महिमाको जानते हैं।

इति स्तुत्वा वायुपुत्रो रामचन्द्रं घृणानिधिम्॥
सीतामप्यभितुष्टाव भक्तियुक्तेन चेतसा।

करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजीकी इस प्रकार स्तुति करके वायुपुत्र हनुमान्ने भक्तियुक्त चित्तसे सीताजीका भी स्तवन किया।

जानकि त्वां नमस्यामि सर्वपापप्रणाशिनीम्॥
दारिद्र्यरणसंहर्त्रीं भक्तानामिष्टदायिनीम्। विदेहराजतनयां राघवानन्दकारिणीम्॥
भूमेर्दुहितरं विद्यां नमामि प्रकृतिं शिवाम्। पौलस्त्यैश्वर्यसंहर्त्रीं भक्ताभीष्टां सरस्वतीम्॥
पतिव्रताधुरीणां त्वां नमामि जनकात्मजाम्। अनुग्रहपरामृद्धिमनघां हरिवल्लभाम्॥
आत्मविद्यात्रयीरूपामुमारूपां नमाम्यहम्। प्रसादाभिमुखीं लक्ष्मीं क्षीराब्धितनयां शुभाम्॥
नमामि चन्द्रभगिनीं सीतां सर्वाङ्गसुन्दरीम्। नमामि धर्मनिलयां करुणां वेदमातरम्॥
पद्मालयां पद्महस्तां विष्णुवक्षःस्थलालयाम्। नमामि चन्द्रनिलयां सीतां चन्द्रनिभाननाम्॥
आह्लादरूपिणीं सिद्धिं शिवां शिवकरीं सतीम्। नमामि विश्वजननीं रामचन्द्रेष्टवल्लभाम्॥
सीतां सर्वानवद्याङ्गीं भजामि सततं हृदा।

'जनकनन्दिनी! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप सब पापोंका नाश तथा दारिद्र्यरूपी समुद्रका शोषण करनेवाली हैं तथा भक्तोंको अभीष्ट वस्तु देनेवाली हैं। राघवेन्द्र श्रीरामको आनन्द प्रदान करनेवाली विदेहराज जनककी लाड़िली श्रीकिशोरीजीको मैं प्रणाम करता हूँ। आप पृथ्वीकी कन्या और विद्या हैं, कल्याणमयी प्रकृति भी आप ही हैं। रावणके ऐश्वर्यका संहार तथा भक्तोंके वाञ्छितका दान करनेवाली सरस्वतीरूपा भगवती सीताको मैं नमस्कार करता हूँ। पतिव्रताओंमें अग्रगण्य आप श्रीजनकदुलारीको मैं प्रणाम करता हूँ। आप सबपर अनुग्रह करनेवाली समृद्धिरूपा पापरहित श्रीविष्णुप्रिया लक्ष्मी हैं। आप ही आत्मविद्या, वेदत्रयी तथा पार्वतीस्वरूपा हैं, आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप ही क्षीरसागरकी कन्या और चन्द्रमाकी भगिनी कल्याणमयी महालक्ष्मी हैं, जो भक्तोंपर कृपा करनेके लिये सदा उत्सुक रहती हैं। आप सर्वाङ्गसुन्दरी सीताको मैं प्रणाम करता हूँ। आप धर्मका आश्रय और करुणामयी वेदमाता गायत्री हैं, आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आपका कमलवनमें निवास है; आप हाथमें कमल धारण करनेवाली तथा भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें निवास करनेवाली लक्ष्मी हैं; चन्द्रमण्डलमें भी आपका निवास है, आप चन्द्रमुखी सीतादेवीको मैं नमस्कार करता हूँ। आप श्रीरघुनन्दनकी आह्लादमयी शक्ति हैं, कल्याणमयी सिद्धि हैं और कल्याणकारिणी सती हैं। श्रीरामचन्द्रजीकी परम प्रियतमा जगदम्बा जानकीको मैं प्रणाम करता हूँ। सर्वाङ्गसुन्दरी सीताका मैं अपने हृदयमें सदैव चिन्तन करता हूँ।'

श्रीसूत उवाच

स्तुत्वैवं हनुमान् सीतारामचन्द्रौ सभक्तिकम्॥
आनन्दाश्रुपरिक्लिन्नस्तूर्णीमास्ते द्विजोत्तमाः।

श्रीसूतजी कहते हैं—द्विजवरो! इस प्रकार हनुमान्जी भक्तिपूर्वक श्रीसीताजी और श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुति करके आनन्दके आँसू बहाते हुए मौन हो गये।

य इदं वायुपुत्रेण कथितं पापनाशनम् ॥
स्तोत्रं श्रीरामचन्द्रस्य सीतायाः पठतेऽन्वहम् । स नरो महदैश्वर्यमश्नुते वाञ्छितं सदा ॥
अनेकक्षेत्रधान्यानि गाश्च दोग्ध्रीः पयस्विनीः । आयुर्विद्याश्च पुत्रांश्च भार्यामपि मनोरमाम् ॥
एतत्स्तोत्रं सकृद् विप्राः पठन्नाप्नोत्यसंशयः । एतत्स्तोत्रस्य पाठेन नरकं नैव पश्यति ॥
ब्रह्महत्यादिपापानि नश्यन्ति सुमहान्त्यपि । सर्वपापविनिर्मुक्तो देहान्ते मुक्तिमाप्नुयात् ॥

जो वायुपुत्र हनुमान्‌जीद्वारा वर्णित श्रीराम और सीताके इस पापनाशक स्तोत्रका प्रतिदिन पाठ करता है; वह सदा मनोवाञ्छित महान् ऐश्वर्यका उपभोग करता है। अनेक क्षेत्र; धान्य; दूध देनेवाली गौएँ; आयु; विद्याएँ; मनोरमा भार्या तथा पुत्र प्राप्त करता है । इस स्तोत्रका एक बार भी पाठ करनेवाला मनुष्य इन सब वस्तुओंको निस्संदेह प्राप्त कर लेता है। इसके पाठसे मनुष्य नरकमें नहीं पड़ता। उसके ब्रह्महत्या आदि बड़े-बड़े पाप भी नष्ट हो जाते हैं। वह सब पापोंसे सुतरां मुक्त हो देहावसान होनेपर मोक्ष पा लेता है। (स्कन्दपुराण, ब्रह्म०, सेतुमा०, ४६ । ३१—६२)

हनुमत्कृत श्रीरामस्तुति

हनुमानुवाच

हा नाथ हा नरवरोत्तम हा दयालो सीतापते रुचिरकुण्डलशोभिवक्त्र ।
भक्तार्तिदाहक मनोहररूपधारिन् मां बन्धनात् सपदि मोचय मा विलम्बम् ॥
सम्मोचितास्तु भवता गजपुंगवाद्या देवाश्च दानवकुलाग्निसुदह्यमानाः ।
तत्सुन्दरीशिरसि संस्थितकेशबन्धः सम्मोचितस्तु करुणालय मां स्मरस्व ॥
त्वं यागकर्मनिरतोऽसि मुनीश्वरेन्द्रैर्धर्मं विचारयसि भूमिपतिञ्चपाद ।
अत्राहमद्य सुरथेन विगाढपाशबद्धोऽसि मोचय महापुरुषाशु देव ॥
नो मोचयस्यथ यदि स्मरणातिरेकात्त्वं सर्वदेववरपूजितपादपद्म ।
लोको भवन्तमिदमुल्लसितोऽहसिष्यत्तसाद् विलम्बमिह मा चर मोचयाशु ॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड ५३ । १४—१७)

“हा नाथ ! हा पुरुषोत्तमोंमें श्रेष्ठ !! हा दयालु सीतापते !!! प्रभो ! आपका मुख स्वभावसे ही शोभासम्पन्न है, उसपर भी चमकते हुए कुण्डलोंके कारण तो उसकी सुषमा और भी बढ़ गयी है। आप भक्तोंकी पीड़ाका नाश करनेवाले हैं। मनोहर रूप धारण किये रहते हैं। दयामय ! मुझे इस बन्धनसे शीघ्र मुक्त कीजिये; देर न लगाइये। आपने गजराज आदि भक्तोंको संकटसे बचाया है, दानव-वंशरूपी अग्निकी ज्वालामें जलते हुए देवताओंकी रक्षा की है तथा दानवोंको मारकर उनकी पत्नियोंके मस्तककी केश-राशिको भी बन्धनसे मुक्त किया है (वे विधवा होनेके कारण कभी केश नहीं बाँधतीं) । करुणानिधे ! अब मेरी भी सुध लीजिये । नाथ ! बड़े-बड़े सम्राट् भी आपके चरणोंका पूजन करते हैं । इस समय आप यज्ञकर्ममें लगे हैं, मुनीश्वरोंके साथ धर्मका विचार कर रहे हैं और यहाँ मैं सुरथके द्वारा गाढ़ बन्धनमें बाँधा गया हूँ । महापुरुष ! देव ! शीघ्र आकर मुझे छुड़ाइये । प्रभो ! सम्पूर्ण देवेश्वर भी आपके चरण-कमलोंकी अर्चना करते हैं । यदि इतना अधिक स्मरणके बाद भी आप हमलोगोंको इस बन्धनसे मुक्त नहीं करेंगे तो (अज्ञानी) संसार (आपकी असमर्थतापर) खुश हो-होकर आपकी हँसी उड़ायेगा; इसलिये अब आप विलम्ब न कीजिये, हमें शीघ्र बन्धनमुक्त कीजिये ।”

सुग्रीवकृत श्रीरामस्तुति

देव त्वं जगतां नाथः परमात्मा न संशयः । मत्पूर्वकृतपुण्यौघैः संगतोऽद्य मया सह ॥
त्वां भजन्ति महात्मानः संसारविनिवृत्तये । त्वां प्राप्य मोक्षसचिवं प्रार्थयेऽहं कथं भवम् ॥
दाराः पुत्रा धनं राज्यं सर्वं त्वन्मायया कृतम् । अतोऽहं देवदेवेश नाकाङ्क्षेऽन्यत्प्रसीद मे ॥
आनन्दानुभवं त्वाद्य प्राप्तोऽहं भाग्यगौरवात् । मृदर्थं यतमानेन निधानमिव सत्पते ॥
अनाद्यविद्यासंसिद्धं बन्धनं छिन्नमद्य नः । यज्ञदानतपःकर्मपूर्तेष्टादिभिरप्यसौ ॥
न जीर्यते पुनर्दार्ढ्यं भजते संसृतिः प्रभो । त्वत्पाददर्शनात्सद्यो नाशमेति न संशयः ॥
क्षणार्धमपि यच्चित्तं त्वयि तिष्ठत्यचञ्चलम् । तस्याज्ञानमनर्थानां मूलं नश्यति तत्क्षणात् ॥
तत्तिष्ठतु मनो राम त्वयि नान्यत्र मे सदा ॥
राम रामेति यद्वाणी मधुरं गायति क्षणम् । स ब्रह्महा सुरापो वा मुच्यते सर्वपातकैः ॥
न काङ्क्षे विजयं राम न च दारसुखादिकम् । भक्तिमेव सदा काङ्क्षे त्वयि बन्धविमोचनीम् ॥
त्वन्मायाकृतसंसारस्त्वदंशोऽहं रघूत्तम । स्वपादभक्तिमादिश्य त्राहि मां भवसंकटात् ॥
पूर्वं मित्रार्युदासीनास्त्वन्मायावृतचेतसः । आसन् मेऽद्य भवत्पाददर्शनादेव राघव ॥
सर्वं ब्रह्मैव मे भाति क्व मित्रं क्व च मे रिपुः । यावत्त्वन्मायया बद्धस्तावद् गुणविशेषता ॥
सा यावदस्ति नानात्वं तावद्भवति नान्यथा । यावन्नानात्वमज्ञानात्तावत्कालकृतं भयम् ॥
अतोऽविद्यामुपास्ते यः सोऽन्धे तमसि मज्जति ।
मायामूलमिदं सर्वं पुत्रदारादिबन्धनम् । तदुत्सारय मायां त्वं दासीं तव रघूत्तम ॥
त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिस्त्वन्नामसंगीतकथासु वाणी ।
त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम् ॥
त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः ।
त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि ॥
अङ्गानि ते पादरजोविमिश्रतीर्थानि बिभर्त्वहिशत्रुकेतो ।
शिरस्त्वदीयं भवपद्मजाद्यैर्जुष्टं पदं राम नमत्वजस्रम् ॥

(अध्यात्मरा०, किष्किन्धा० १ । ७६–९३)

'देव ! आप सम्पूर्ण जगत्‌के स्वामी साक्षात् परमात्मा हैं—इसमें संदेह नहीं । मेरे पूर्वकृत पुण्य-पुञ्जके परिपाकसे ही आज मेरे साथ आपका समागम हुआ है । महात्मालोग जन्म-मरणकी निवृत्तिके लिये आपका भजन करते हैं, फिर आप मोक्षदायक प्रभुको पाकर मैं सांसारिक पदार्थोंकी कामना कैसे करूँ । देवदेवेश्वर ! ये स्त्री, पुत्र, धन, राज्य—सभी आपकी मायाके कार्य हैं । अतः अब आपके अतिरिक्त और किसी पदार्थकी मुझे इच्छा नहीं है, आप मुझपर कृपा कीजिये । हे संतोंके रक्षक ! आप विज्ञानानन्दस्वरूप हैं । मिट्टी खोदते हुए जैसे किसीको खजाना हाथ लग जाय, उसी प्रकार आज बड़े भाग्यसे मुझे आपके दर्शन हुए हैं । आज हमारा अनादि अविद्याजन्य बन्धन कट गया । प्रभो ! यह जन्म-मरणरूप बन्धन यज्ञ, दान, तप तथा इष्ट (यज्ञ) एवं पूर्त (कुँआ आदि खुदवाना) आदि कर्मोंसे भी नहीं टूटता, बल्कि और दृढ़ हो जाता है । किंतु आपके चरणकमलोंका दर्शन करते ही यह तुरंत नष्ट हो जाता है—इसमें संदेह नहीं । जिसका चित्त आपके स्वरूपमें आधे क्षणके लिये भी निश्चल हो जाता है, उसका अज्ञान जो सम्पूर्ण अनर्थोंका मूलकारण है, तत्काल नष्ट हो जाता है । अतः हे राम ! मेरा मन सदा आपमें ही लगा रहे, वह आपको छोड़कर और कहीं भी न जाय । जिसकी वाणी आधे क्षण भी 'राम-राम' ऐसा सुमधुर गान करती है, वह ब्रह्मघाती अथवा मद्यप भी क्यों न हो, समस्त पापोंसे छूट जाता है । राम ! अब मुझे वालीको जीतने अथवा स्त्री आदिका सुख प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है । मैं तो जन्म-मरणरूप बन्धनसे छुड़ानेवाली आपकी भक्ति ही चाहता हूँ । रघुश्रेष्ठ ! यह संसार आपकी मायाका विलास

है और मैं भी आपका ही अंश हूँ। अतः अपने चरण-कमलोंकी भक्ति देकर मुझे इस संसार-संकटसे बचाइये। पहले जब मेरा चित्त आपकी मायासे ढँका हुआ था, तब मेरे लिये शत्रु, मित्र और उदासीन थे; किंतु रघुनाथजी! अब आपके चरण-कमलोंका दर्शन पाते ही मुझे सब-कुछ ब्रह्मरूप ही भासता है। अब संसारमें मेरा कौन मित्र है और कौन शत्रु! जबतक जीव आपकी मायासे बँधा रहता है, तभीतक उसपर सत्त्वादि गुणोंका प्रभाव रहता है। जबतक मायाका प्रभाव रहता है, तभीतक शत्रु-मित्रादिके रूपमें भेद-भाव रहता है। उसके दूर होते ही समस्त भेद-भाव दूर हो जाता है और जबतक यह अज्ञानजन्य भेद-भाव रहता है, तभीतक मृत्युका भय है। इसलिये जो पुरुष अविद्याकी उपासना करता है (अर्थात् अविद्याजन्य पदार्थोंकी कामना करता है), वह घोर अन्धकार (नरकों) में पड़ता है। ये पुत्र-स्त्री आदि सम्पूर्ण बन्धन मायामय ही हैं। अतः हे रघुश्रेष्ठ! अपनी दासीरूप इस मायाको हमसे दूर कीजिये। प्रभो! मेरी चित्तवृत्ति सदा आपके चरण-कमलोंमें लगी रहे, वाणी आपके नाम-संकीर्तन और कथा-वार्तामें लगी रहे, हाथ आपके भक्तोंकी सेवामें लगे रहें और मेरा शरीर (आपके पादस्पर्श आदिके मिससे) सदा आपका अङ्ग-सङ्ग करता रहे। मेरे नेत्र सर्वदा आपकी मूर्ति, आपके भक्त और अपने गुरुका दर्शन करते रहें; कान निरन्तर आपके अवतारोंकी लीलाओंका श्रवण करें और मेरे पैर सदा आपके मन्दिरोंकी यात्रा करते रहें। गरुडध्वज! मेरा अङ्ग-प्रत्यङ्ग आपकी चरण-रजसे युक्त पादोदकको धारण करे और मेरा सिर निरन्तर आपके उन चरणोंमें प्रणाम किया करे, जिनकी शिव और ब्रह्मा आदि देवगण भी सदैव सेवा करते हैं।"

विभीषणकृत श्रीरामस्तुति

विभीषण उवाच—

नमस्ते राम राजेन्द्र नमः सीतामनोरम। नमस्ते चण्डकोदण्ड नमस्ते भक्तवत्सल॥
नमोऽनन्ताय शान्ताय रामायामिततेजसे। सुग्रीवमित्राय च ते रघूणां पतये नमः॥
जगदुत्पत्तिनाशानां कारणाय महात्मने। त्रैलोक्यगुरवेऽनादिगृहस्थाय नमो नमः॥
त्वमादिर्जगतां राम त्वमेव स्थितिकारणम्। त्वमन्ते निधनस्थानं स्वेच्छाचारस्त्वमेव हि॥
चराचराणां भूतानां बहिरन्तश्च राघव। व्याप्यव्यापकरूपेण भवान् भाति जगन्मयः॥
त्वन्मायया हृतज्ञाना नष्टात्मानो विचेतसः। गतागतं प्रपद्यन्ते पापपुण्यवशात् सदा॥
तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिका रजतं यथा। यावन्न ज्ञायते ज्ञानं चेतसानन्यगामिना॥
त्वदज्ञानात् सदा युक्ताः पुत्रदारगृहादिषु। रमन्ते विषयान् सर्वानन्ते दुःखप्रदान् विभो॥
त्वमिन्द्रोऽग्निर्यमो रक्षो वरुणश्च तथानिलः। कुबेरश्च तथा रुद्रस्त्वमेव पुरुषोत्तम॥
त्वमणोरप्यणीयांश्च स्थूलात् स्थूलतरः प्रभो। त्वं पिता सर्वलोकानां माता धाता त्वमेव हि॥
आदिमध्यान्तरहितः परिपूर्णोऽच्युतोऽव्ययः। त्वं पाणिपादरहितश्चक्षुःश्रोत्रविवर्जितः॥
श्रोता द्रष्टा ग्रहीता च जवनस्त्वं खरान्तक। कोशेभ्यो व्यतिरिक्तस्त्वं निर्गुणो निरुपाश्रयः॥
निर्विकल्पो निर्विकारो निराकारो निरीश्वरः। षड्भावरहितोऽनादिः पुरुषः प्रकृतेः परः॥
मायया गृह्यमानस्त्वं मनुष्य इव भाव्यसे। ज्ञात्वा त्वां निर्गुणमजं वैष्णवा मोक्षगामिनः॥
अहं त्वत्पादसद्भक्तिनिश्रेणीं प्राप्य राघव। इच्छामि ज्ञानयोगाख्यं सौधमारोढुमीश्वर॥
नमः सीतापते राम नमः कारुणिकोत्तम। रावणारे नमस्तुभ्यं त्राहि मां भवसागरात्॥

विभीषण कहते हैं—हे राजराजेश्वर राम! आपको नमस्कार है। हे सीताके मनमें रमण करनेवाले! आपको नमस्कार है। हे प्रचण्डधनुर्धर! आपको नमस्कार है। हे भक्तवत्सल! आपको नमस्कार है। हे अनन्त, शान्त, अमिततेजस्वी, सुग्रीवको सखा माननेवाले रघुकुलनायक भगवान् राम! आपको नमस्कार है। जो संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके कारण

हैं, त्रिलोकीके गुरु और अनादिकालीन गृहस्थ हैं, उन महात्मा रामको बारंबार नमस्कार है। हे राम ! आप संसारकी उत्पत्ति और स्थितिके कारण हैं तथा अन्तमें आप ही उसके लयस्थान हैं, आप अपने इच्छानुसार विहार करनेवाले हैं। हे राघव ! जड-चेतन प्राणियोंके भीतर और बाहर व्याप्य-व्यापकरूपसे आप ही भास रहे हैं और जगद्रूप भी आप ही हैं। आपकी मायाने जिनका सदसद्विवेक हर लिया है, वे नष्टबुद्धि मूढ़ पुरुष अपने पाप-पुण्यके वशीभूत होकर संसारमें बारंबार आते-जाते रहते हैं। जबतक मनुष्य एकाग्र चित्तसे आपके ज्ञानस्वरूपको नहीं जान लेता, तभीतक यह संसार उसे प्रकार सत्य प्रतीत होता है, जैसे सीपी चाँदीरूप भासती है। हे विभो ! आपको न जाननेसे ही लोग अन्तमें दुःख देनेवाले विषयोंको प्राप्तकर पुत्र, स्त्री और गृह आदिमें सुख मानते हैं। हे पुरुषोत्तम ! आप ही इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण और वायु हैं तथा आप ही कुबेर और रुद्र (के रूपमें आठ लोकपाल) हैं। हे प्रभो ! आप अणु-से-अणु और महान्-से-महान् हैं तथा आप ही समस्त लोकोंके पिता, माता और धाता (धारण-पोषण करनेवाले) हैं। आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित, सर्वत्र पूर्ण, अच्युत और अविनाशी हैं। आप हाथ पाँवसे रहित तथा नेत्र और कर्णसे हीन हैं; तथापि हे खरान्तक ! आप सब कुछ देखनेवाले, सब कुछ सुननेवाले, सब कुछ ग्रहण करनेवाले और बड़े वेगवान् हैं। हे प्रभो ! आप अन्नमय आदि पाँचों कोशोंसे रहित तथा निर्गुण और निराश्रय (अपने ही आश्रित) हैं। आप निर्विकल्प (भेद-रहित), निर्विकार और निराकार हैं, आपका कोई शासक नहीं है। आप (उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश—इन) छः भाव-विकारोंसे रहित हैं तथा प्रकृतिसे अतीत अनादि पुरुष हैं। मायासे आवृत रहनेके कारण ही आप साधारण मनुष्यके समान प्रतीत होते हैं। वैष्णवजन आपको निर्गुण और अजन्मा जानकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। हे राघव ! हे प्रभो ! मैं आपके चरण-कमलकी विशुद्ध भक्तिरूप सीढ़ी पाकर ज्ञानयोग नामक राजभवनके शिखरपर चढ़ना चाहता हूँ। हे कारुणिकश्रेष्ठ सीतापते राम ! आपको नमस्कार है। हे रावणशत्रु ! आपको बारंबार नमस्कार है, आप इस संसार-सागरसे मेरी रक्षा कीजिये।

ततः प्रसन्नः प्रोवाच श्रीरामो भक्तवत्सलः। वरं वृणीष्व भद्रं ते वाञ्छितं वरदोऽस्म्यहम्॥

तब भक्तवत्सल भगवान् रामने प्रसन्न होकर कहा—'विभीषण ! तेरा कल्याण हो, मैं तुझे वर देना चाहता हूँ, अतः तेरी जो इच्छा हो, वही वर माँग ले।'

विभीषण उवाच—

धन्योऽस्मि कृतकृत्योऽस्मि कृतकार्योऽस्मि राघव। त्वत्पाददर्शनादेव विमुक्तोऽस्मि न संशयः॥
नास्ति मत्सदृशो धन्यो नास्ति मत्सदृशः शुचिः। नास्ति मत्सदृशो लोके राम त्वन्मूर्तिदर्शनात्॥
कर्मबन्धविनाशाय त्वज्ज्ञानं भक्तिलक्षणम्। त्वद्ध्यानं परमार्थं च देहि मे रघुनन्दन॥
न याचे राम राजेन्द्र सुखं विषयसम्भवम्। त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे॥

विभीषणने कहा— हे रघुनन्दन ! मैं तो आपके चरणोंका दर्शन पाकर ही धन्य और कृतार्थ हो गया; मेरे लिये अब कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया। अब तो मैं निस्संदेह मुक्त हो गया। हे राम ! आपकी मनोहर मूर्तिका दर्शन करनेसे आज मेरे समान कोई धन्य और पवित्र नहीं है, अब इस संसारमें (किसी भी प्रकार) मेरी समता करनेवाला कोई नहीं है। हे रघुनन्दन ! कर्म-बन्धनको नष्ट करनेके लिये आप मुझे अपनी भक्तिसे प्राप्त होनेवाला ज्ञान और अपने परमार्थ-स्वरूपका साक्षात् करनेवाला ध्यान दीजिये। हे राजराजेश्वर राम ! मुझे विषयजन्य सुखकी इच्छा नहीं है; मैं तो यही चाहता हूँ कि आपके चरण-कमलोंमें सर्वदा मेरी आसक्तिरूपा भक्ति बनी रहे।

(अध्यात्मरामायण, युद्ध० ३। १७—३७)

जटायुकृत श्रीरामस्तुति

अगणितगुणमप्रमेयमाद्यं सकलजगत्स्थितिसंयमादिहेतुम् ।
उपरमपरमं परात्मभूतं सततमहं प्रणतोऽस्मि रामचन्द्रम् ॥
निरवधिसुखमिन्दिराकटाक्षं क्षपितसुरेन्द्रचतुर्मुखादिदुःखम् ।
नरवरमनिशं नतोऽस्मि रामं वरदमहं वरचापबाणहस्तम् ॥
त्रिभुवनकमनीयरूपमीड्यं रविशतभासुरमीहितप्रदानम् ।
शरणदमनिशं सुरागमूले कृतनिलयं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
भवविपिनदवाग्निनामधेयं भवमुखदैवतदैवतं दयालुम् ।
दनुजपतिसहस्रकोटिनाशं रवितनयासदृशं हरिं प्रपद्ये ॥
अविरतभवभावनातिदूरं भवविमुखैर्मुनिभिः सदैव दृश्यम् ।
भवजलधिसुतारणाङ्घ्रिपोतं शरणमहं रघुनन्दनं प्रपद्ये ॥
गिरिशगिरिसुतामनोनिवासं गिरिवरधारिणमीहिताभिरामम् ।
सुरवरदनुजेन्द्रसेविताङ्घ्रिं सुरवरदं रघुनायकं प्रपद्ये ॥
परधनपरदारवर्जितानां परगुणभूतिषु तुष्टमानसानाम् ।
परहितनिरतात्मनां सुसेव्यं रघुवरमम्बुजलोचनं प्रपद्ये ॥
स्मितरुचिरविकासिताननाब्जमतिसुलभं सुरराजनीलनीलम् ।
सितजलरुहचारुनेत्रशोभं रघुपतिमीशगुरोर्गुरुं प्रपद्ये ॥
हरिकमलजशम्भुरूपभेदात्त्वमिह विभासि गुणत्रयानुवृत्तः ।
रविरिव जलपूरितोदपात्रेष्वमरपतिस्तुतिपात्रमीशमीडे ॥
रतिपतिशतकोटिसुन्दराङ्गं शतपथगोचरभावनाविदूरम् ।
यतिपतिहृदये सदा विभातं रघुपतिमार्तिहरं प्रभुं प्रपद्ये ॥

(अध्यात्मरा०, अरण्य० ८ । ४४–५३)

'जो अगणित-गुणशाली हैं, प्रमाणोंद्वारा नहीं जाने जा सकते, जगत्‌के आदिकारण हैं तथा उसकी स्थिति और लय आदिके हेतु हैं, उन परम शान्तस्वरूप परमात्मा श्रीरामचन्द्रजीको मैं निरन्तर प्रणाम करता हूँ। जो असीम आनन्दमय और श्रीकमलादेवीके कटाक्षके आश्रय हैं तथा जो ब्रह्मा और इन्द्र आदि देवगणोंका दुःख दूर करनेवाले हैं, उन श्रेष्ठ धनुष-बाणको धारण करनेवाले वरदायक नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीके प्रति मैं अहर्निश प्रणत हूँ। जिनका रूप त्रिलोकीमें सबके लिये कमनीय है, जो (सबके) स्तुत्य हैं, सैकड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी हैं तथा वाञ्छित फल देनेवाले हैं, उन शरणप्रद और प्रीतियुक्त हृदयमें रहनेवाले श्रीरघुनाथजीकी मैं अहर्निश शरण लेता हूँ। जिनका नाम जन्म-मरणरूप वनके लिये दावानलके समान है, जो महादेव आदि देवताओंके भी (आराध्य) हैं और अरबों-खरबों दानवेन्द्रोंका दलन करनेवाले और श्रीयमुनाजीके समान श्यामवर्ण हैं, उन दयामय श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ। जो निरन्तर संसारका ही चिन्तन करनेवालोंसे अत्यन्त दूर हैं और संसारसे उपरत मुनिजनोंके सदैव दृष्टिगोचर रहते हैं तथा जिनके चरण संसारसागरसे पार ले जानेके लिये जहाजरूप हैं, उन रघुनाथजीकी मैं शरण लेता हूँ। जो श्रीमहादेव और पार्वतीजीके मन (-मन्दिर) में निवास करते हैं, जिनका चरित्र अति मनोहर है तथा देवश्रेष्ठ और असुरपतिगण जिनके चरण-कमलोंकी सेवा करते हैं, (श्रीकृष्णरूपसे) गिरिराजको उठानेवाले, देवताओंके वरदायक उन रघुनायककी मैं शरण लेता हूँ। जो पर-धन और पर-स्त्रीसे सदा दूर रहते हैं तथा पराये गुण और परायी विभूतिको देखकर मनमें प्रसन्न होते हैं, मनमें निरन्तर परोपकार-परायण महात्माओंद्वारा सुसेवित उन कमल-नयन श्रीरघुनाथजीकी मैं शरण लेता हूँ। जिनका खिला हुआ मुख-कमल मनोहर मुस्कानसे सुशोभित है, जो (भक्तोंके लिये) अति सुलभ हैं, जिनके

शरीरकी कान्ति इन्द्रनीलमणिके समान सुन्दर नीलवर्ण है तथा जिनके मनोहर नेत्र श्वेत कमलकी-सी शोभासे युक्त हैं, उन महादेवजीके परम गुरु श्रीरघुनाथजीकी मैं शरण लेता हूँ। (हे प्रभो !) जलसे भरे हुए पात्रोंमें जैसे एक ही सूर्य प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साथ सम्बन्धयुक्त होकर आप ही विष्णु, ब्रह्मा और महादेवरूपसे भासित होते हैं; देवराज इन्द्रकी भी स्तुतिके पात्र परमेश्वरस्वरूप आपकी मैं स्तुति करता हूँ। आपका दिव्य शरीर अरबों कामदेवोंसे भी सुन्दर है, सैकड़ों मार्गोंमें फँसे हुए लोगोंकी भावनासे आप अत्यन्त दूर हैं और यतिश्रेष्ठोंके हृदयमें आप सदा ही प्रकट रहते हैं; ऐसे आप आर्तिहर प्रभु रघुपतिकी मैं शरण लेता हूँ।'

अहल्याकृत श्रीरामस्तुति

अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम्।
स्पृशामि यत्पद्मजशंकरादिभिर्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा॥
अहो विचित्रं तव राम चेष्टितं मनुष्यभावेन विमोहितं जगत्।
चलस्यजस्रं चरणादिवर्जितः सम्पूर्ण आनन्दमयोऽतिमायिकः॥
यत्पादपङ्कजपरागपवित्रगात्रा भागीरथी भवविरिञ्चिमुखान् पुनाति।
साक्षात्स एव मम दृग्विषयो यदास्ते किं वर्ण्यते मम पुराकृतभागधेयम्॥
मर्त्यावतारे मनुजाकृतिं हरिं रामाभिधेयं रमणीयदेहिनम्।
धनुर्धरं पद्मविशाललोचनं भजामि नित्यं न परान् भजिष्ये॥
यत्पादपङ्कजरजः श्रुतिभिर्विमृग्यं यन्नाभिपङ्कजभवः कमलासनश्च।
यन्नामसाररसिको भगवान् पुरारिस्तं रामचन्द्रमनिशं हृदि भावयामि॥
यस्यावतारचरितानि विरिञ्चिलोके गायन्ति नारदमुखा भवपद्मजाद्याः।
आनन्दजाश्रुपरिषिक्तकुचाग्रसीमा वागीश्वरी च तमहं शरणं प्रपद्ये॥
सोऽयं परात्मा पुरुषः पुराण एकः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः।
मायातनुं लोकविमोहनीयां धत्ते परानुग्रह एष रामः॥
अयं हि विश्वोद्भवसंयमानामेकः स्वमायागुणबिम्बितो यः।
विरिञ्चिविष्ण्वीश्वरनामभेदान् धत्ते स्वतन्त्रः परिपूर्ण आत्मा॥
नमोऽस्तु ते राम तवाङ्घ्रिपङ्कजं श्रिया धृतं वक्षसि लालितं प्रियात्।
आक्रान्तमेकेन जगत्त्रयं पुरा ध्येयं मुनीन्द्रैरभिमानवर्जितैः॥

जगतामादिभूतस्त्वं जगत्त्वं जगदाश्रयः। सर्वभूतेष्वसंयुक्त एको भाति भवान् परः॥
ओंकारवाच्यस्त्वं राम वाचामविषयः पुमान्। वाच्यवाचकभेदेन भवानेव जगन्मयः॥
कार्यकारणकर्तृत्वफलसाधनभेदतः। एको विभासि राम त्वं मायया बहुरूपया॥
त्वन्मायामोहितधियस्त्वां न जानन्ति तत्त्वतः। मानुषं त्वाभिमन्यन्ते मायिनं परमेश्वरम्॥
आकाशवत्त्वं सर्वत्र बहिरन्तर्गतोऽमलः। असङ्गो ह्यचलो नित्यः शुद्धो बुद्धः सदव्ययः॥
योषिन्मूढाहमज्ञा ते तत्त्वं जाने कथं विभो। तस्मात्ते शतशो राम नमस्कुर्यामनन्यधीः॥
देव मे यत्र कुत्रापि स्थिताया अपि सर्वदा। त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे॥
नमस्ते पुरुषाध्यक्ष नमस्ते भक्तवत्सल। नमस्तेऽस्तु हृषीकेश नारायण नमोऽस्तु ते॥

भवभयहरमेकं भानुकोटिप्रकाशं करधृतशरचापं कालमेघावभासम्।
कनकरुचिरवस्त्रं रत्नवत्कुण्डलाढ्यं कमलविशदनेत्रं सानुजं राममीडे॥

(अध्यात्मरा०, बाल० ५ । ४३—६०)

'अहो ! (बड़े भाग्यकी बात है कि) आपके जिन पदारविन्दोंकी रजका ब्रह्मा और शंकर आदि एकाग्र चित्तसे सर्वदा अनुसंधान (खोज) किया करते हैं, हे जगन्निवास! आपके उन्हीं चरण-कमलोंके रजःकणका स्पर्श पाकर आज मैं कृतार्थ हो गयी। हे राम! आपकी लीलाएँ बड़ी विचित्र हैं, आपके मानुष-भावसे सम्पूर्ण जगत् सर्वथा मोहित हो रहा है। आप पूर्णानन्दमय और अतिमायावी हैं। क्योंकि चरणादिहीन होकर भी आप निरन्तर चलते रहते हैं। जिनके चरण-कमलके परागसे पवित्र हुई श्रीगङ्गाजी शिव और ब्रह्मा आदि जगदीश्वरोंको भी पवित्र करती हैं, आज साक्षात् वे ही मेरे नेत्रोंके विषय हो रहे हैं—मैं अपने पूर्वकृत पुण्यकर्मोंका किस प्रकार वर्णन करूँ। जिन्होंने परम सुन्दर मानवदेहसे मर्त्यलोकमें अवतार लिया है, मैं उन धनुषधारी कमल-दल-लोचन राम-नामसे विख्यात भगवान् श्रीहरिको सर्वदा भजती हूँ; और किसीको भी नहीं भजना चाहती। जिनके चरण-कमलोंकी रजको श्रुतियाँ भी ढूँढ़ती रहती हैं, जिनकी नाभिसे उत्पन्न हुए कमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए हैं तथा जिनके नामामृतके भगवान् शंकर भी रसिक हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीका मैं अपने हृदयमें अहर्निश ध्यान करती हूँ। जिनके अवतार-चरित्रोंका नारदादि देवर्षिगण, ब्रह्मा और महादेव आदि देवेश्वरगण तथा आनन्दाश्रुओंसे जिनके कुचप्रान्त भीगे रहते हैं, वे सरस्वतीजी भी ब्रह्मलोकमें निरन्तर गान किया करती हैं, उन प्रभुकी मैं शरण लेती हूँ। उन्हीं पुराणपुरुष परमात्मा रामने संसारपर परम अनुग्रह करनेके लिये अद्वितीय, स्वयम्प्रकाश, अनन्त और सबके आदिकारण होते हुए भी यह जगन्मोहन मायामय रूप धारण किया है। जो अकेले ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाशके लिये अपनी मायाके गुणोंका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर ब्रह्मा, विष्णु और महादेव नामक विभिन्न रूप धारण करते हैं, वे स्वतन्त्र और परिपूर्ण आत्मा आप ही हैं। हे राम! आपके चरण-कमलोंको श्रीलक्ष्मीजी अपने वक्षःस्थलपर रखकर बड़े प्रेमसे सहलाती हैं, उन्हीं चरण-कमलोंसे आपने पूर्वकालमें (बलि-बन्धनके समय) एक ही पगमें सम्पूर्ण त्रिलोकी नाप ली थी तथा अभिमानहीन मुनिजन उनका निरन्तर ध्यान किया करते हैं। आपको मेरा नमस्कार है। हे प्रभो! आप ही जगत्के आदिकारण, आप ही जगद्रूप और आप ही उसके आश्रय हैं; तथापि आप समस्त प्राणियोंसे पृथक् हैं और अद्वितीय परब्रह्मरूपसे प्रकाशमान हैं। हे राम! आप ओंकारके वाच्य होनेपर भी वाणीके अगोचर परम पुरुष हैं। हे प्रभो! वाच्य-वाचक (शब्द-अर्थ) रूपमें आप ही स्थित हैं और जगत्-रूप हैं। हे राम! आप अकेले ही अनेक रूपोंवाली मायाके आश्रयसे कार्य, कारण, कर्तृत्व, फल और साधनाके भेदसे अनेक रूपोंमें भासमान हो रहे हैं। आपकी मायासे जिनकी बुद्धि मोहित हो रही है, वे लोग आपका वास्तविक रूप नहीं जान सकते। आप मायापति परमेश्वरको वे मूढ़जन साधारण मनुष्य समझते हैं। आप आकाशके समान बाहर-भीतर सब ओर विराजमान, निर्मल, असङ्ग, अचल, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्यस्वरूप और अविनाशी हैं। हे विभो! मैं मूढ़ और अज्ञानी स्त्री भला, आपके तत्त्वको क्या जानूँ; अतः हे राम! मैं अनन्यभावसे आपको सैकड़ों बार केवल नमस्कार ही करती हूँ। हे देव! मैं जहाँ-कहीं भी रहूँ, वहीं सदा-सर्वदा आपके चरण-कमलोंमें मेरी आसक्तिपूर्ण भक्ति ही बनी रहे। हे पुरुषोत्तम! आपको नमस्कार है, हे भक्तवत्सल! आपको नमस्कार है, हे हृषीकेश! आपको नमस्कार है, हे नारायण! आपको बारंबार नमस्कार है। जो अकेले जन्म-मरणके भयको दूर करनेवाले हैं, करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशमान हैं, कर-कमलोंमें धनुष और बाण धारण किये हैं, श्याम मेघके समान आभावाले हैं, सुवर्णके समान पीतवस्त्र धारण किये हैं, रत्न-जटित कुण्डलोंसे सुशोभित हैं तथा जिनके कमल-दलके समान अति सुन्दर विशाल नेत्र हैं, भाई लक्ष्मणसहित उन श्रीरघुनाथजीकी मैं स्तुति करती हूँ।'

अगस्त्यमुनिकृत श्रीरामस्तुति

सुखोपविष्टमेकान्ते रामं शशिनिभाननम् । कृताञ्जलिरुवाचेदमगस्त्यो भगवानृषिः ॥
त्वदागमनमेवाहं प्रतीक्षन् समवस्थितः । यदा क्षीरसमुद्रान्ते ब्रह्मणा प्रार्थितः पुरा ॥
भूमेर्भारापनुत्त्यर्थं रावणस्य वधाय च ।
तदादि दर्शनाकाङ्क्षी तव राम तपश्चरन् । वसामि मुनिभिः सार्धं त्वामेव परिचिन्तयन् ॥
सृष्टेः प्रागेक एवासीर्निर्विकल्पोऽनुपाधिकः । त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते ॥
त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा । अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः ॥
मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन । अविद्या संसृतिर्बन्ध इत्यादि बहुधोच्यते ॥
त्वया संक्षोभ्यमाणा सा महत्तत्त्वं प्रसूयते । महत्तत्त्वादहंकारस्त्वया संचोदितादभूत् ॥
अहंकारो महत्तत्त्वसंवृतस्त्रिविधोऽभवत् । सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्चेति भण्यते ॥
तामसात्सूक्ष्मतन्मात्राण्यासन् भूतान्यतः परम् । स्थूलानि क्रमशो राम क्रमोत्तरगुणानि ह ॥
राजसानीन्द्रियाण्येव सात्त्विका देवता मनः । तेभ्योऽभवत्सूत्ररूपं लिङ्गं सर्वगतं महत् ॥
ततो विराट् समुत्पन्नः स्थूलाद् भूतकदम्बकात् । विराजः पुरुषात्सर्वं जगत्स्थावरजंगमम् ॥
देवतिर्यङ्मनुष्याश्च कालकर्मक्रमेण तु । त्वं रजोगुणतो ब्रह्मा जगतः सर्वकारणम् ॥
सत्त्वाद्विष्णुस्त्वमेवास्य पालकः सद्भिरुच्यते । लये रुद्रस्त्वमेवास्य त्वन्मायागुणभेदतः ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजैर्गुणैः । तासां विलक्षणो राम त्वं साक्षी चिन्मयोऽव्ययः ॥
सृष्टिलीलां यदा कर्तुमीहसे रघुनन्दन । अङ्गीकरोषि मायां त्वं तदा वै गुणवानिव ॥
राम माया द्विधा भाति विद्याविद्येति ते सदा । प्रवृत्तिमार्गनिरता अविद्यावशवर्तिनः ॥
निवृत्तिमार्गनिरता वेदान्तार्थविचारकाः । त्वद्भक्तिनिरता ये च ते वै विद्यामयाः स्मृताः ॥
अविद्यावशगा ये तु नित्यं संसारिणश्च ते । विद्याभ्यासरता ये तु नित्यमुक्तास्त एव हि ॥
लोके त्वद्भक्तिनिरतास्त्वन्मन्त्रोपासकाश्च ये । विद्या प्रादुर्भवेत्तेषां नेतरेषां कदाचन ॥
अतस्त्वद्भक्तिसम्पन्ना मुक्ता एव न संशयः । त्वद्भक्त्यमृतहीनानां मोक्षः स्वप्नेऽपि नो भवेत् ॥
किं राम बहुनोक्तेन सारं किंचिद् ब्रवीमि ते । साधुसंगतिरेवात्र मोक्षहेतुरुदाहृता ॥
साधवः समचित्ता ये निःस्पृहा विगतैषणाः । दान्ताः प्रशान्तास्त्वद्भक्ता निवृत्ताखिलकामनाः ॥
इष्टप्राप्तिविपत्त्योश्च समाः सङ्गविवर्जिताः । संन्यस्ताखिलकर्माणः सर्वदा ब्रह्मतत्पराः ॥
यमादिगुणसम्पन्नाः संतुष्टा येन केनचित् । सत्संगमो भवेद्यर्हि त्वत्कथाश्रवणे रतिः ॥
समुदेति ततो भक्तिस्त्वयि राम सनातने । त्वद्भक्तावुपपन्नायां विज्ञानं विपुलं स्फुटम् ॥
उदेति मुक्तिमार्गोऽयमाद्यश्चतुरसेवितः । तस्माद्राघव सद्भक्तिस्त्वयि मे प्रेमलक्षणा ॥
सदा भूयाद्धरे सङ्गस्त्वद्भक्तेषु विशेषतः । अद्य मे सफलं जन्म भवत्संदर्शनादभूत् ॥
अद्य मे क्रतवः सर्वे बभूवुः सफलाः प्रभो । दीर्घकालं मया तप्तमनन्यमतिना तपः ।
तस्येह तपसो राम फलं तव यदर्चनम् ॥
सदा मे सीतया सार्धं हृदये वस राघव । गच्छतस्तिष्ठतो वापि स्मृतिः स्यान्मे सदा त्वयि ॥

(अध्यात्मरामायण, अरण्य० ३ । १७—४४)

एकान्तमें सुखपूर्वक बैठे हुए चन्द्रवदन श्रीरामचन्द्रजीसे भगवान् अगस्त्यमुनिने हाथ जोड़कर यह कहा—हे राम ! पूर्वकालमें जिस समय क्षीरसमुद्रके तटपर ब्रह्माजीने आपसे भूमिका भार उतारनेके लिये रावणका वध करनेकी प्रार्थना की थी, तभीसे आपके दर्शनोंकी इच्छासे मैं तपस्या करता हुआ और आपका ही चिन्तन करता हुआ आपके आगमनकी प्रतीक्षामें यहाँ मुनियोंके साथ रहता हूँ। सृष्टिके आरम्भमें विकल्प (भेद) और उपाधि (परिच्छेद) से रहित आप अकेले ही थे। (उस समय और कुछ भी नहीं था।) आपके ही आश्रित तथा आपको ही आवृत करनेवाली माया आपकी ही शक्ति कही जाती है। जिस समय यह माया-शक्ति आप निर्गुणको ढँक लेती है, उस समय वेदान्तनिष्ठ पुरुष इसे 'अव्याकृत' कहते हैं। कोई इसे 'मूलप्रकृति' कहते हैं और कोई 'माया'; तथा यही अविद्या, संसृति और बन्धन आदि अनेक नामोंसे पुकारी जाती है। आपके द्वारा क्षुब्ध किये जानेपर इस शक्तिसे महत्तत्त्व उत्पन्न होता है और आपके ही द्वारा प्रेरित महत्तत्त्वसे अहंकार प्रकट हुआ। महत्तत्त्वसे ओतप्रोत वह अहंकार तीन प्रकारका हुआ, जो सात्त्विक, राजस और तामस कहलाता है। हे राम ! तामस अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ हुईं और इन सूक्ष्म तन्मात्राओंसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पाँच स्थूल भूत हुए, जिनमें पूर्व-पूर्वके गुण आगेवालोंमें संक्रमित होते जाते हैं। राजस अहंकारसे दस इन्द्रियाँ और सात्त्विक अहंकारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता तथा मन उत्पन्न हुए और उन सब (के संयोग) से समष्टि-सूक्ष्मशरीररूप हिरण्यगर्भ (ब्रह्माका सूक्ष्मशरीर) हुआ, जिसका दूसरा नाम सूत्रात्मा भी है। फिर स्थूल भूतसमूहसे विराट् उत्पन्न हुआ तथा विराट् पुरुषसे यह सम्पूर्ण स्थावर-जंगम सृष्टि प्रकट हुई। (हे जगदीश्वर !) काल और कर्मके क्रमसे देव, तिर्यक् और मनुष्य आदि योनियाँ प्रकट हुईं। अपने मायिक गुणोंके भेदसे आप ही रजोगुणद्वारा जगत्कर्ता ब्रह्माजी, सत्त्वगुणद्वारा जगत्की रक्षा करनेवाले विष्णु और तमोगुणसे उसका लय करनेवाले भगवान् रुद्र हुए हैं—यों विद्वान् पुरुष कहते हैं। हे राम ! बुद्धिके सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे ही प्राणियोंकी क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं; पर आप इन तीनोंसे सर्वथा पृथक्, इनके साक्षी, चित्स्वरूप और अविकारी हैं। हे रघुनन्दन ! जिस समय आप सृष्टिकी लीला करना चाहते हैं, उस समय मायाको अङ्गीकार करके गुणवान्-से हो जाते हैं। हे राम ! आपकी यह माया सदा विद्या और अविद्या—दो रूपोंमें भासती है। जो लोग प्रवृत्ति-मार्गमें लगे रहते हैं, वे अविद्याके वशीभूत हैं और जो वेदान्तार्थका विचार करनेवाले, निवृत्ति-परायण और आपकी भक्तिमें निरत हैं, वे विद्यामय समझे जाते हैं। इनमेंसे जो अविद्याके वशीभूत हैं, वे सदा जन्म-मरणके प्रवाहमें पड़े रहते हैं और जो विद्याभ्यासी हैं, वे नित्यमुक्त हैं। संसारमें जो लोग आपकी भक्तिमें लगे हुए और आपके ही मन्त्रकी उपासना करनेवाले होते हैं, उन्हींके अन्तःकरणमें विद्याका प्रादुर्भाव होता है, और किसीके नहीं। अतः जो पुरुष आपकी भक्तिसे सम्पन्न हैं, वे निस्संदेह मुक्त ही हैं। आपकी भक्तिरूप अमृतसे हीन पुरुषोंका स्वप्नमें भी मोक्ष नहीं हो सकता। हे राम ! और अधिक क्या कहूँ ? इस विषयमें जो सार बात है, वह आपको बताता हूँ—संसारमें साधुसङ्ग ही मोक्षका (मुख्य) कारण कहा गया है। संसारमें जो लोग सम्पद्-विपद्में समानचित्त, स्पृहारहित, पुत्र-वित्तादिकी एषणाओंसे रहित, इन्द्रियोंका दमन करनेवाले, शान्तचित्त, आपके भक्त, सम्पूर्ण कामनाओंसे शून्य, इष्ट तथा अनिष्टकी प्राप्तिमें समान रहनेवाले, आसक्तिहीन, समस्त कर्मोंका त्याग करनेवाले, सर्वदा ब्रह्मपरायण रहनेवाले, यम आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा जो कुछ मिल जाय उसीमें संतुष्ट रहनेवाले होते हैं, वे ही साधु हैं। जब ऐसे साधु पुरुषका सङ्ग प्राप्त होता है, तब आपके कथा-श्रवणमें प्रेम हो जाता है। हे राम ! तदनन्तर आप सनातन पुरुषमें भक्ति हो जाती है तथा आपकी भक्ति हो जानेपर आपका स्फुट तथा प्रचुर ज्ञान प्राप्त होता है। यही चतुरजनसेवित मुक्तिका मुख्य मार्ग है। अतः हे राघव ! आपमें मेरी सर्वदा प्रेमलक्षणा उत्तम भक्ति बनी रहे और हे हरे ! मुझे विशेषरूपसे आपके भक्तोंका सङ्ग प्राप्त हो। हे नाथ ! आज आपके दर्शनसे मेरा जन्म सफल हो गया। हे प्रभो ! आज मेरे सम्पूर्ण यज्ञ सफल हो गये। मैंने लंबे समयतक अनन्यभावसे तपस्या की है; हे राम ! आज जो मैंने आपकी प्रत्यक्ष पूजा की, यह उस तपस्याका ही फल है। हे राघव ! सीताके सहित आप सर्वदा मेरे हृदयमें निवास करें, मुझे चलते-फिरते तथा स्थिर अवस्थामें भी सदा आपका स्मरण बना रहे।

तुलसीदासकृत श्रीहनुमत्स्तोत्र*

(प्रेषक—वैद्य पं० श्रीभैरवानन्दजी व्यापक रामायणी, मानस-तत्त्वान्वेषी)

[ब्रह्मलीन पूज्य मानस-राजहंस श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठीने 'सन्मार्ग', काशीके फाल्गुन १९९९ के अङ्कके पृष्ठ २४८ में इसे प्रकाशित किया था। श्रीरामाङ्कके पाठकोंके हितार्थ इसे प्रेषित किया जाता है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक इसका अनुष्ठान करके लाभ उठायें।—प्रेषक]

ततः स तुलसीदासः सस्मार रघुनन्दनम् । हनूमन्तं तत्पुरस्तात् तुष्टाव भक्तरक्षकम् ॥
धनुर्बाणधरो वीरः सीतालक्ष्मणसंयुतः । रामचन्द्रः सहायो मे किं करिष्यत्ययं मम ॥
हनूमन्नञ्जनासूनो वायुपुत्र महाबल ।
महालाङ्गूलविक्षेपनिहताखिलराक्षस । श्रीरामहृदयानन्द विपत्तौ शरणं भव ॥
अक्षवक्षोविनिक्षेपकुलिशाग्रनखाञ्चित । सिंहनादहतामित्र विपत्तौ शरणं भव ॥
लक्ष्मणे निहते भूमौ नीत्वा द्रोणाचलं ततम् । यथा जीवितवानद्य तां शक्तिं प्रकटीकुरु ॥
येन लङ्केश्वरो वीरो निश्शङ्कं विजितस्त्वया । दुर्निरीक्ष्योऽपि देवानां तद्बलं दर्शयाधुना ॥
यया लङ्कां प्रविश्य त्वं ज्ञातवाञ्जानकीं स्वयम् । रावणान्तःपुरेऽत्युग्रे तां बुद्धिं प्रकटीकुरु ॥
रुद्रावतार भक्तार्तिविमोचन महाभुज । कपिराज प्रपन्नस्त्वां शरणं भव रक्ष माम् ॥
इत्यष्टकं हनुमतो यः पठेच्छ्रद्धयान्वितः । सर्वकष्टविनिर्मुक्तो लभते वाञ्छितं फलम् ॥

इति तुलसीदासकृतं श्रीहनुमत्स्तोत्रं सम्पूर्णम्

"तदनन्तर गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामका यों स्मरण किया—'जो धनुष-बाण धारण करनेवाले और वीराग्रगण्य हैं तथा जिनके साथ सीताजी और लक्ष्मणजी विराजमान हैं, वे श्रीरामचन्द्र मेरे सहायक हैं। ऐसी दशामें यह कलियुग मेरा क्या बिगाड़ कर सकेगा।' इसी समय सबसे पहले उन्होंने भक्तरक्षक हनूमान्‌जीका स्तवन प्रारम्भ किया—'हनूमन्! आप अञ्जनाके गर्भसे उत्पन्न वायुके पुत्र हैं। महाबली! आप अपनी विशाल पूँछके प्रहारसे समस्त राक्षसोंका संहार करनेवाले और श्रीरामके हृदयको आनन्दित करनेवाले हैं, आप विपत्तिकालमें मेरे लिये आश्रयदाता होइये। आप अक्षकुमारके वक्षःस्थलको विदीर्ण करनेके लिये वज्रके अग्रभागके समान तीक्ष्ण नखोंसे सुशोभित तथा अपने सिंहनादसे शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं, आप विपत्तिकालमें मेरे लिये आश्रयदाता होइये। जिस समय लक्ष्मण घायल होकर भूमिपर पड़े थे, उस समय विशाल द्रोणाचलको ले जाकर जिस प्रकार आपने उन्हें जीवित किया था, आज उसी शक्तिको प्रकट कीजिये। देवता भी जिसकी ओर आँख उठाकर देख नहीं सकते थे, उस वीरवर लङ्काधिपति रावणको आपने जिस बलके द्वारा निश्शङ्क होकर जीत लिया था, इस समय वही बल दिखलाइये। आपने जिस बुद्धिके बलसे लङ्कामें प्रवेश करके रावणके अत्यन्त भयंकर अन्तःपुरमें स्वयं जानकीका पता लगाया था, उसी बुद्धिको प्रकट कीजिये। महाबाहो! आप रुद्रके अवतार तथा भक्तोंकी पीड़ाको दूर करनेवाले हैं। कपिराज! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मुझे आश्रय दीजिये और मेरी रक्षा कीजिये।'

"जो मनुष्य हनुमान्‌जीके इस आठ श्लोकोंद्वारा गुम्फित स्तोत्रका श्रद्धापूर्वक पाठ करता है, वह सभी कष्टोंसे सर्वथा छूटकर अभिलषित फल प्राप्त कर लेता है।"

इस प्रकार तुलसीदासकृत श्रीहनुमत्स्तोत्र पूरा हुआ।

* यह स्तोत्र प्राचीन पुस्तकोंकी सेवा करते समय प्राप्त हुआ है। यह नहीं कहा जा सकता कि किस पुस्तकसे यह उद्धृत है या किस समय गोस्वामीजीने इसकी रचना की।—विजयानन्द

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क—'श्रीविष्णु-अङ्क'

भगवान् श्रीसीतारामकी कृपा एवं नित्यलीलालीन श्रीभाईजीकी परोक्ष सँभाल, 'कल्याण'के प्रति ममता रखनेवाले संत-महात्माओं एवं मनीषियोंके आशीर्वाद एवं सक्रिय सहयोगसे तथा सम्पादकीय विभागके सम्मान्य सदस्योंकी बहुमूल्य सहायतासे भगवान् श्रीरामकी अर्चनाके रूपमें इस वर्ष 'श्रीरामाङ्क' का प्रकाशन हुआ। भगवान् श्रीरामने अपने सहज दयालु स्वभावसे ही इस नगण्य अर्चनाको स्वीकार किया है, जिसका प्रमाण यह है कि 'कल्याण'के प्रति कृपा एवं प्रीति रखनेवाले सभी महानुभावोंको यह रुचिकर हुआ है और इस अङ्ककी एक लाख पैंसठ हजार प्रतियाँ प्रायः समाप्त हो गयीं। 'श्रीरामाङ्क'में देने योग्य बहुत-सी उपयोगी सामग्री बच रही थी, जो स्थानाभावके कारण नहीं दी जा सकी थी। यह सब सामग्री भी फरवरी और मार्चके अङ्कोंमें 'श्रीरामाङ्क खण्ड २ एवं ३' के नामसे दे दी गयी है।

इतना सब होनेपर भी श्रीभाईजीका अभाव हमें तथा 'कल्याण'के प्रेमी पाठकोंको सदा खटकता ही रहेगा; क्योंकि उनकी वह भगवन्मयी दृष्टि, जगत्के वास्तविक हितका ज्ञान, विशाल एवं व्यापक भगवत्तत्त्वका अनुभव, वाणी एवं लेखनीकी सरसता एवं प्रामाणिकता अब सर्वथा दुर्लभ हो गयी है। भगवान् हमें बल दें कि हम श्रीभाईजीके बताये हुए मार्गपर चल सकें और उनके द्वारा स्थापित किये हुए महान् आदर्शोंका यत्किंचित् पालन कर सकें। उनका मङ्गलमय आशीर्वाद एवं अनुकम्पा तो हमारे साथ सदा हैं ही और आगे भी रहेंगे; क्योंकि वास्तवमें तो यह कार्य उन्हींका है।

'श्रीरामाङ्क'के निकल जानेके बादसे ही मनमें यह चिन्ता प्रारम्भ हो गयी कि अगला (सन् १९७३का) विशेषाङ्क किस विषयपर निकाला जाय। विचार-विमर्श करनेपर भगवान् श्रीनारायणकी पुनीत प्रेरणासे यही समझमें आया कि अगला अङ्क 'श्रीविष्णु-अङ्क' हो। हमारे शास्त्रोंके अनुसार यों तो भगवान् सभी रूपोंमें हैं—चराचर विश्वके रूपमें वे ही व्यक्त हैं, वे ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके स्रष्टा, पालक, संहर्ता एवं नियन्ता हैं तथा प्रकृतिसे सर्वथा परे निर्गुण-निराकार-तत्त्व भी वे ही हैं। भगवद्गीताके दसवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अनेक विभूतियोंका उल्लेख किया है और अन्तमें वे यहाँतक कह देते हैं—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ (१०। ४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

परंतु हमारे यहाँ मुख्यतया भगवान्की पाँच रूपोंमें अभिव्यक्ति मानी गयी है—१–शिव, २–शक्ति, ३–नारायण, ४–गणेश एवं ५–सूर्य। इसीलिये स्मार्तोंमें पञ्चाङ्गोपासनाका विधान है। भगवान् शंकराचार्यने उक्त पञ्चदेवोंके अतिरिक्त भगवान् षण्मुख (स्वामिकार्तिक)को भगवान्का छठा रूप माना है, यद्यपि उनकी उपासना दक्षिण भारतमें ही अधिक प्रचलित है, जहाँ उनके स्थान-स्थानपर अनेकों भव्य विग्रह एवं मन्दिर विद्यमान हैं। इसीलिये भगवान् शंकराचार्यको षण्मतस्थापनाचार्य कहकर आदर देते हैं। उपर्युक्त पाँच अथवा छः भगवत्स्वरूपोंमें भगवान् शिव एवं उनकी शक्ति तथा भगवान् विष्णुके ही दूसरे सर्वमान्य रूपों (श्रीकृष्ण एवं श्रीराम) के विषयमें तो, जिन्हें उनके अनन्योपासक भगवान् विष्णुसे पृथक् एवं उनके भी अंशी मानते हैं, स्वतन्त्र विशेषाङ्क निकल चुके हैं। परंतु भगवान् विष्णुकी अर्चना 'कल्याण'के द्वारा इस रूपमें अबतक नहीं हो पायी थी। कई वैष्णवोंको—विशेषतया उनको, जो भगवान् नारायणको ही परतत्त्व, अवतारी अथवा अंशी मानते हैं तथा श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिको उनका अवतार अथवा अंश—यह अभाव बराबर खटकता रहा है। 'कल्याण' सभीका है और सभी दृष्टिकोणोंका प्रारम्भसे ही आदर करता आया है। उसकी नीति सदासे ही समन्वयकी, सबको साथ लेकर चलनेकी रही है। वह सदा ही मानता आया है और उसकी यह मान्यता सर्वथा

शास्त्रानुमोदित है कि भगवान् साकार-निग[illegible] [illegible]गुण-निर्गुण, [illegible]तीत——सब कुछ हैं; शिव, श[illegible] नारायण, श्रीराम, श्रीकृष्ण, गणेश, सूर्य, [illegible] सभी रूप उन्हींके हैं; वे ही सब बने हुए हैं——एक ही त[illegible] अनेक नाम-रूपोंमें व्यक्त है——**'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।'** उपासकोंकी प्रकृति एवं रुचिके अनुसार जिसकी जि[illegible] रूपमें आस्था है, उसकी निष्ठाको उसी नाम-रूपमें दृढ़ करनेके लिये विभिन्न पुराणोंमें भगवान् वेदव्यासने क[illegible] शिवको, कहीं विष्णुको, कहीं देवीको, कहीं श्रीरामको, कहीं श्रीकृष्णको, कहीं गणेशको और कहीं सूर्यको सर्वो[illegible] स्थान दिया है और उनसे भिन्न रूपोंको उनका अनुगत, अंश अथवा उपासकरूपमें व्यक्त किया है। वास्तवमें ए[illegible] ही परम तत्त्व विविध रूपोंमें लीलायमान है, वह स्वयं ही अपना उपासक है और स्वयं ही अपना उपास्य है; अ[illegible] जिस प्रकार एक ही स्थानपर अनेक मार्गोंसे पहुँचा जा सकता है, सभी नदियाँ समुद्रमें ही गिरती हैं, उसी प्रक[illegible] सभी सच्चे धर्म, जो दैवी सम्पदाका आदर करते हैं——चाहे वे साकारवादी हों या निराकारवादी, सगुणवादी [illegible] या निर्गुणवादी, एकेश्वरवादी हों या एक ही परमात्माको अनेक रूपोंमें देखते हों, देर-सबेर भगवान्‌की ओर [illegible] जायँगे, यदि हमारा भाव सच्चा है। इसी समन्वयवादी दृष्टिकोणको सामने रखकर इस बार अगले विशेषाङ्कके रू[illegible] 'श्रीविष्णु-अङ्क' निकालनेका विचार किया गया है। इस अङ्कमें भगवान् विष्णुके स्वरूप, महत्त्व, लीला, धा[illegible] पार्षदों आदिका तथा उनके सब अवतारस्वरूपोंका विवेचन रहेगा। साथ ही त्रिदेवोंके स्वरूप, एकता एवं कार्योंपर [illegible] पर्याप्त प्रकाश डाला जायगा। वैष्णव शास्त्रों, वैष्णवी देवियों, वैष्णव आचार, उपासना, व्रत, तीर्थ, मन्दिरों आदि[illegible] भी दिग्दर्शन इसमें कराया जायगा विभिन्न वैष्णव दर्शनों, उनके प्रवर्त्तक परम पूजनीय आचार्यों, महात्माओं, विष्णुभ[illegible] आदिका परिचय भी दिया जायगा तथा और भी कई प्रकारकी उपयोगी सामग्री रहेगी। इस प्रकार तत्त्व[illegible] साधनकी दृष्टिसे यह अङ्क बड़ा ही उपादेय होगा।

आशा है 'कल्याण'के प्रेमी पाठक हमारे इस निर्णयका स्वागत करेंगे। पूज्य महात्माओं, आचार्यों, विद्वा[illegible] एवं लेखकोंके आशीर्वाद एवं कृपापूर्ण सहयोगका ही हमें बल है और उसीके भरोसे हम यह साहस कर रहे हैं[illegible] आशा ही नहीं, हमें पूरा विश्वास है कि जिस प्रकार आजतक उन्होंने हमारे प्रयासोंको सफल बनानेमें सहयो[illegible] दिया है, उसी प्रकार वे प्रस्तावित अङ्कके लिये अनुष्ठान, मन्त्र, स्तोत्र, चित्र आदि उपयोगी सामग्री एवं रचना आ[illegible] भेजकर इस प्रयत्नको भी सफल बनानेमें हमें यथेष्ट सहयोग एवं बल देंगे। भगवान्‌ने चाहा तो प्रस्तावित विषय-सू[illegible] अगले अङ्कमें जा सकेगी।

सम्पादक——**चिम्मनलाल गोस्वा[illegible]**

'कल्याण' नामक हिंदी मासिकपत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म चार——नियम-संख्या——आठ

१-प्रकाशनका स्थान——गीताप्रेस, गोरखपुर

२-प्रकाशनकी आवृत्ति——मासिक

३-मुद्रकका नाम——मोतीलाल जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध——भारतीय
पता——गीताप्रेस, गोरखपुर

४-प्रकाशकका नाम——मोतीलाल जालान
राष्ट्रगत सम्बन्ध——भारतीय
पता——गीताप्रेस, गोरखपुर

५-सम्पादकका नाम——श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
राष्ट्रगत सम्बन्ध——भारतीय
पता——गीताप्रेस, गोरखपुर

६-उन व्यक्तियोंके नाम-पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और जो इसकी पूँजीके भागीदार हैं। श्रीगोविन्दभवन-कार्यालय पता——नं० १५१, महात्मागांधीरो[illegible] कलकत्ता (सन् १८६० के विधान २१के अनुसार रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था)

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

दि० १ मार्च १९७२

मोतीलाल जाला[illegible]
प्रकाश[illegible]

संस्करण १,६६,५००
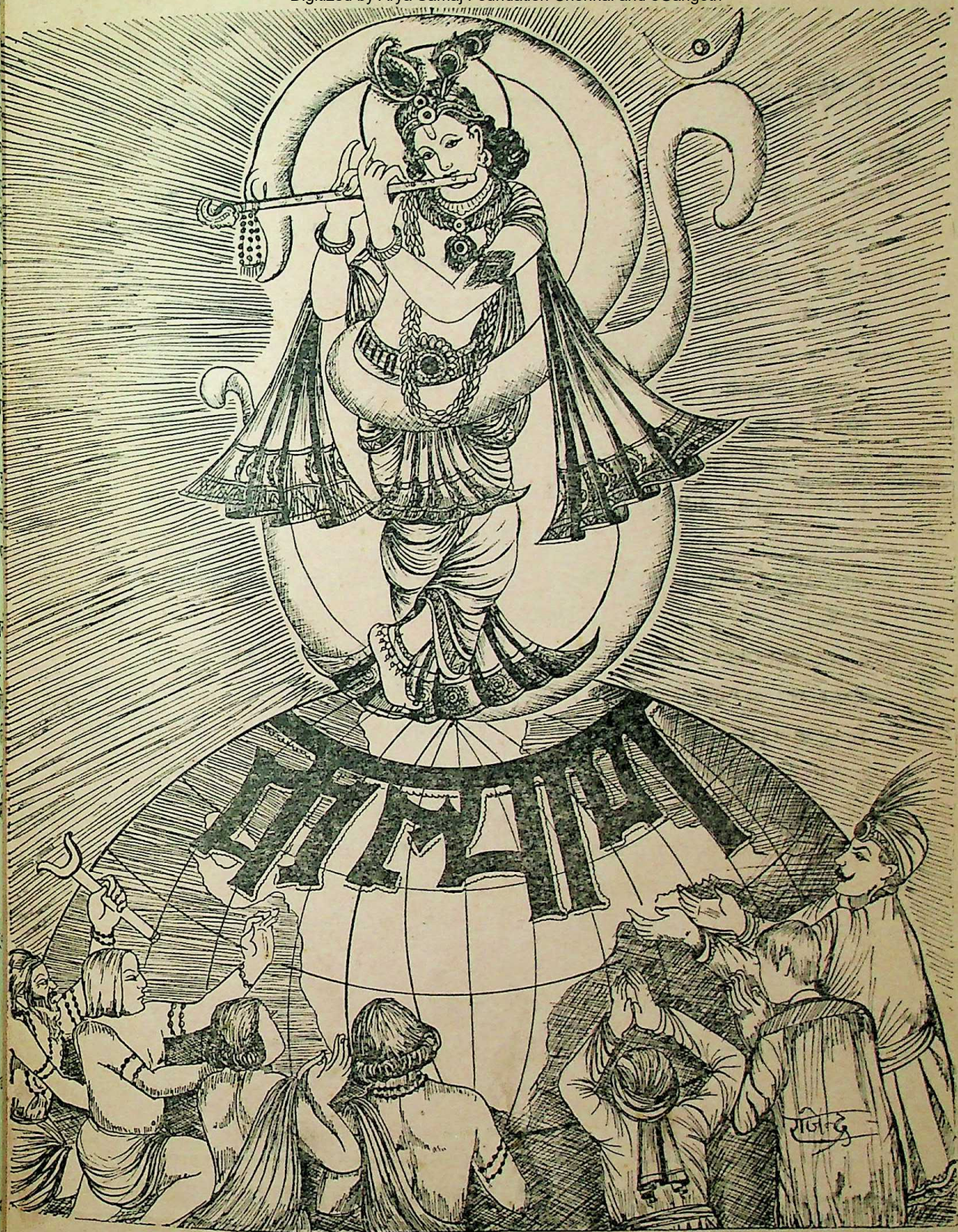
विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, मई १९७२

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगतपते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रिका-दान

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥
(रामरक्षास्तोत्र, ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, मई १९७२ { संख्या ५
पूर्ण संख्या ५४६

श्रीराम-नामकी महिमा

राम राम तव नाम जपन्तः पामरा अपि तरन्ति भवाब्धिम् ।
अङ्गसङ्गिभवदङ्गुलिमुद्रः किं विचित्रमतरत् कपिरब्धिम् ॥
(श्रीरामकर्णामृत ४ । ७७)

हे राम ! श्रीराम !! आपके नामका जप करनेवाले पामर जीव भी भवसागरको अनायास पार कर जाते हैं। फिर आपके नामसे अङ्कित आपकी अँगूठीको अपने मुखमें लिये हुए श्रीहनुमान् लौकिक समुद्रके पार चले गये—इसमें आश्चर्य ही क्या है।

संसारके जितने भी भोग हैं—छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े, सब-के-सब अनित्य हैं—सदा रहनेवाले नहीं हैं। दूसरे, सब-के-सब भोग अपूर्ण हैं; कोई भी भोग ऐसा नहीं है, जिसको प्राप्त करके आप यह अनुभव कर सकें—अब और कुछ नहीं चाहिये। तीसरे, भोग जितने अधिक होंगे, उतनी ही भोगोंकी चाह अधिक बढ़ेगी और जितनी बड़ी चाहरूपी आग होगी, उतने अधिक ईंधनकी आवश्यकता होगी—यह नियम है। अतएव जिसके पास जितना बड़ा भोग-समुदाय है, उसकी भोगोंकी भूख उतनी ही बड़ी है और जितनी बड़ी भोगोंकी भूख है, उतना ही बड़ा उसका दुःख है। आग जितनी बड़ी होती है, उसकी उतनी ही बड़ी गर्मी होती है तथा वह उतनी दूरतक ताप पहुँचाती है। जितना ही भोग-बाहुल्य है, उतना ही दुःख-बाहुल्य है, ताप-बाहुल्य है और उस दुःख तथा तापका प्रभाव उतनी ही दूरतक प्रसारित होता रहता है।

भोगोंकी प्राप्ति प्रारब्धाधीन है। हमलोग मिथ्या प्रयास करते हैं—झूठ बोलते हैं, छल करते हैं, कपट करते हैं, आपसमें लड़ते हैं—पड़ोसी पड़ोसीसे, भाई भाईसे, पिता पुत्रसे। यह सब क्यों होता है? हमने मनमें ऐसा मान रक्खा है कि हम 'अपना' प्रयास करके अधिक पा लेंगे अथवा हमारा कोई नुकसान हो रहा है, उस नुकसानसे अपनेको बचा लेंगे। किंतु हमारी यह धारणा भ्रामक है। प्रारब्ध प्रायश्चित्तसे, भगवच्छरणागतिसे अथवा ज्ञानसे ही जल सकता है; किंतु जबतक वह जलता नहीं, तबतक प्रारब्धका भोग करना ही पड़ेगा—

अवश्यमेव हि भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

हमारा कोई नुकसान हो रहा है; हमारे मनमें विचार उत्पन्न होता है कि अमुक व्यक्तिसे नुकसान हो रहा है। प्रथम तो ऐसी मान्यतामें हमारी भूल हो सकती है और अमुक व्यक्तिका हमारे नुकसानमें तनिक भी हाथ नहीं है। दूसरे, यदि वह व्यक्ति नुकसान करने[का]
प्रयत्न कर भी रहा है तो वह हमारा नुकसान क[र]
कर ही नहीं सकता, यदि हमारा प्रारब्ध नुकसान[का]
नहीं है। हमारा नुकसान तभी होना सम्भव है, [जब]
हमारा प्रारब्ध वैसा है। ऐसी अवस्थामें जो हमा[रा]
नुकसान करनेका—हमारा बुरा करनेका, हमें [कष्ट]
पहुँचानेका मनोरथ करता है, प्रयत्न करता है, [वह]
नया पाप-कर्म कर रहा है और उसके फलरूपमें उस[को]
दुःख भोगना पड़ेगा। साथ ही हमारा प्रारब्ध न [हो तो]
बिना वह हमें नुकसान पहुँचा नहीं सकता। अत[एव]
जब हमें कोई नुकसान पहुँचता है और नुकसा[न]
पहुँचानेमें हमको दूसरा व्यक्ति कारण दीखता है, [तब]
हमें सोचना चाहिये कि 'वह व्यक्ति बेचारा दयाका पा[त्र]
है, वह अपने-आप अपनी बुराई कर रहा है, भगवा[न्]
उसे क्षमा करें, उसपर कृपा करें, उसको सद्बुद्धि [दें।]
हमारा जो कुछ होना होगा, वह प्रारब्धके अनुसार हो[गा]
ही, वह उसमें निमित्त न बने तब भी होगा; कि[न्तु]
उसमें वह निमित्त बनकर नया पाप कर रहा है।'

जो नियम दूसरोंके लिये है, वही हमारे ऊपर [भी]
लागू होता है। अतएव हमलोग भोगोंकी प्राप्तिके लि[ये]
जो नये-नये पाप करते हैं—झूठ बोलते हैं, छल क[रते]
हैं, कपट करते हैं, हिंसा करते हैं, चोरी करते हैं, द[म्भ]
करते हैं, ये सब पाप तो हमारे पल्ले बँध जाते हैं औ[र]
हमारा लाभ उतना ही होता है, जितना हो[ना]
अवश्यम्भावी है। अतएव कर्मके इस सिद्धान्तको सम[झ]
कर हमें निश्चिन्त रहना चाहिये; कभी भी छल, कप[ट,]
असत्य भाषण आदिका आश्रय नहीं ग्रहण करना चाहिये[।]
जो लोग छल-कपट आदिका आश्रय ग्रहण करते है[ं,]
उन्हें दयाका पात्र मानकर उनके प्रति सद्भाव बना[ना]
चाहिये तथा भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये कि [वे]
उन्हें क्षमा करें, उन्हें निर्मल बुद्धि प्रदान करें।

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

१—श्रुति, स्मृति अथवा उपनिषद् आदि किसी भी प्रामाणिक सद्ग्रन्थसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि काम-क्रोधादि विकारोंके रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

२—श्रद्धा-सम्पन्न पुरुषोंके सङ्ग और निष्काम-भावसे किये हुए तप, यज्ञ, दान, दया और भगवद्भक्ति आदि साधनोंसे हृदयके पवित्र होनेपर ईश्वर, परलोक, शास्त्र और महापुरुषोंमें प्रेम एवं श्रद्धा होती है। श्रद्धा ही मनुष्यका स्वरूप है, इस लोक और परलोकमें श्रद्धा ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा है।

३—शम, दम, धृति, क्षमा, शान्ति, संतोष, जप, तप, सत्य, दया, ध्यान और सेवा आदि जो भी गुण और कर्म आपके विचारमें उत्तम प्रतीत हों, उनका ग्रहण तथा प्रमाद, आलस्य, निद्रा, विषयासक्ति, झूठ, कपट, चोरी-जारी आदि दुर्गुण और दुष्कर्मोंका त्याग करना चाहिये।

४—गुरुजनोंके आशीर्वादसे आयु, विद्या, यश और बलकी वृद्धि होती है। उनके अनुभवपूर्ण वाक्योंसे हमें आदर्श-जीवन बितानेका मार्ग सूझता है। अतएव यथासाध्य गुरुजनोंकी आज्ञा पालन करनेमें तत्पर होना चाहिये।

५—सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन करके उनके उत्तम आचरणों और उपदेशोंका अनुकरण और ग्रहण करना चाहिये।

६—ईश्वरकी सत्तापर विश्वास करना चाहिये। परमात्माका विश्वास ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा त्यों-ही-त्यों सारे दोष स्वयमेव नष्ट होते चले जायँगे। सर्वव्यापी परमेश्वरमें जितना अधिक विश्वास होगा, उतना ही आत्मा अधिक उन्नत होगा।

७—ईश्वरके शरणागत होकर निष्काम और प्रेमभावसे उसके नामके जपका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। जिसका जिस नामसे प्रेम हो, उसके लिये वही नाम विशेष लाभप्रद है।

८—परमेश्वरके स्वरूपका मनन करना चाहिये। जिसको जो इष्ट हो, अपनी कल्पनामें ईश्वरको जो जैसा समझता हो, उसे वैसे ही स्वरूप या भावका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये।

९—मन-वाणी-शरीरके द्वारा स्वार्थरहित होकर वैसी चेष्टा सदैव करते रहना चाहिये, जो अपनी बुद्धिमें कल्याणके लिये अत्यन्त श्रेयस्कर प्रतीत हो।

१०—जिसको अपना कर्तव्य समझ लिया, उसके पालन करनेमें दृढ़ रहना चाहिये। लोभ, भय, स्वार्थ या अज्ञान—किसी भी कारणसे कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये।

११—काम छोटा-सा है, परंतु भावना बड़ी ऊँची है—जगत्के समस्त प्राणियोंके निमित्त अपने भोजनमेंसे कुछ अंश देकर बाकी बचा हुआ अन्न खाना कितनी उदारता और समताका सूचक है। देवता, ऋषि तो भावनासे तृप्त होते हैं और अतिथि आदिकी प्रत्यक्षमें तृप्ति हो जाती है। थोड़े-से अभ्याससे महान् फल मिलता है।

प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन बलिवैश्वदेव करके भोजन करना चाहिये; क्योंकि गृहस्थाश्रममें नित्य होनेवाले पापोंके नाशके लिये जिन पञ्च महायज्ञोंका विधान है, वे इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

१२—जो धीरजको धारण किये रहता है, उसीका धर्म बचता है और वही लौकिक और पारलौकिक सफलता प्राप्त कर सकता है।

१३—सेवा मनुष्यका मुख्य धर्म है। सारे संसारको भगवान्का स्वरूप समझकर मन-वाणी-शरीरसे अभिमान छोड़कर सबकी निःस्वार्थ सेवा करनी चाहिये। जिसकी सेवा करनेका मौका मिले, उसका और भगवान्-का अपने ऊपर उपकार मानना चाहिये; क्योंकि उसने हमारी सेवा स्वीकार करके और भगवान्ने सेवाका अवसर प्रदान करके हमारा बड़ा उपकार किया। सेवा करके किसीपर एहसान नहीं करना चाहिये तथा सेवा स्वीकार करनेवालेको कभी छोटा नहीं समझना चाहिये।

१४—हिंदू-शास्त्रोंमें गौकी बड़ी महिमा है। गौकी

सेवासे सम्पूर्ण अभीष्टोंकी सिद्धि होती है। गोमूत्र, गोमय, दूध, दही और घृत—इस पञ्चगव्यका सेवन पवित्र और पापनाशक है।

१५—जब साधारण सत्पुरुष ही अपने उपकारी और दयालुको भूलकर उसके विपरीत क्रिया नहीं करता, तब परमात्माकी दयाके प्रभावको जाननेवाले महात्मा पुरुष परमात्माको कैसे भूल सकते हैं और कैसे उनके विपरीत कोई क्रिया कर सकते हैं। ऐसे पुरुषोंद्वारा किया हुआ आचरण ही 'सदाचार' कहलाता है और लोग उसे प्रमाण मानकर उसीके अनुसार चलते हैं।

१६—जो पुरुष शास्त्रविहित अपने वर्णाश्रमके अनुकूल परिश्रम करके न्यायसे प्राप्त हुए सात्त्विक द्रव्यका आहार करता है, उसका वह आहार सत्य आहार कहलाता है।

१७—प्रत्येक यज्ञोपवीतधारी द्विजको कम-से-कम दोनों कालकी संध्या ठीक समयपर करनी चाहिये। समयपर की हुई संध्या बहुत ही लाभदायक होती है। स्मरण रखना चाहिये कि समयपर बोये हुए बीज ही उत्तम फलदायक हुआ करते हैं। ठीक कालपर संध्या करनेवाले पुरुषके धर्म एवं तेजकी वृद्धि महर्षि जरत्कारुके समान हो सकती है।

१८—वेद और शास्त्रमें गायत्री-मन्त्रके समान अन्य किसी भी मन्त्रका महत्त्व नहीं बतलाया गया। अतएव शुद्ध होकर पवित्र स्थानमें अवकाशके अनुसार अधिक-से-अधिक गायत्री-मन्त्रका जप करना चाहिये। कम-से-कम प्रातः और सायं १०८ मन्त्रोंकी एक-एक मालाका जप तो अवश्य ही करना चाहिये।

१९—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस षोडश नामके मन्त्रका जप सभी जातियोंके स्त्री-पुरुष सब समयपर कर सकते हैं। यह बहुत ही उपयोगी मन्त्र है। कलिसंतरण-उपनिषद्में इस मन्त्रका बहुत माहात्म्य बतलाया गया है।

२०—श्रीमद्भगवद्गीताका पठन और अध्ययन सबको करना चाहिये। बिना अर्थ समझे हुए भी गीताका पाठ बहुत लाभकारी है, परंतु वास्तवमें बिना मतलब समझे किये हुए अठारह अध्यायके मूल पाठकी अपेक्षा एक अध्यायका भी अर्थ समझकर पाठ करना श्रेष्ठ है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको यथासाध्य गीताके एक अध्यायका अर्थसहित पाठ तो अवश्य ही करना चाहिये।

२१—प्रत्येक मनुष्यको अपने घरमें अपने भावनानुसार भगवान्की मूर्ति रखकर प्रेमके साथ प्रतिदिन उसकी पूजा करनी चाहिये। इससे भगवान्में श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होती है, शुभ संस्कारोंका संचय होता है और समयका सदुपयोग होता है।

२२—मनुष्यको प्रतिदिन (गीता अ० ६ श्लोक १० से १३ के अनुसार) एकान्तमें बैठकर कम-से-कम एक घंटे अपनी रुचिके अनुसार साकार या निराकार भगवान्का ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इससे पाप और विक्षेपोंका समूल नाश होता है और कल्याण-मार्गमें बहुत उन्नति होती है।

२३—मनुष्यको सब समय भगवान्के नाम और स्वरूपका स्मरण करते हुए ही अपने धर्मके अनुसार शरीर-निर्वाह और अन्य प्रकारकी चेष्टा करनी चाहिये।

२४—परमात्मा सारे विश्वमें व्याप्त हैं, इसलिये सबकी सेवा ही परमात्माकी सेवा है। अतएव मनुष्यको परम सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण जीवोंको उन्हें ईश्वररूप समझकर अपने न्याययुक्त कर्तव्यकर्मद्वारा सुख पहुँचानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

२५—अपने द्वारपर आये हुए याचकको कुछ देनेकी शक्ति या किसी कारणवश इच्छा न होनेपर भी उसके साथ विनय, सत्कार और प्रेमका बर्ताव करना चाहिये।

२६—सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश होनेके कारण परमात्माके ही स्वरूप हैं। अतएव निन्दा, घृणा, द्वेष और हिंसाका त्याग कर सबके साथ निःस्वार्थ भावसे विशुद्ध प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

२७—धर्म और ईश्वरमें श्रद्धा तथा प्रेम रखनेवाले स्वार्थत्यागी सदाचारी सत्पुरुषोंका सङ्ग कर उनकी आज्ञाका तथा अनुकूलताके अनुसार आचरण करते हुए सङ्गका विशेष लाभ उठाना चाहिये।

२८—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और धर्मकी वृद्धिके लिये श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रोंके पठन-पाठन और श्रवण-मनन-के द्वारा उनका तत्त्व समझकर अपने आत्माको उन्नत बनाना चाहिये।

२९—रुपयोंकी कामनासे संसारका काम करनेपर मन संसारमें रम जाता है। इसलिये संसारके काम बड़ी ही सावधानीसे केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे करने चाहिये।

३०—संसारके पदार्थों और सांसारिक विषयी मनुष्योंका सङ्ग, जहाँतक हो, कम करना चाहिये। सांसारिक विषयोंकी बातें भी यथासाध्य कम ही करनी चाहिये।

३१—किसी दूसरेके दोष नहीं देखने चाहिये; स्वभाववश दीख जायँ, तो बिना पूछे बतलाने नहीं चाहिये।

३२—सबमें निष्काम और समभावसे प्रेम रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

३३—निरन्तर नाम-जपके अभ्यासको कभी छोड़ना नहीं चाहिये; उसमें जिस कार्यसे बाधा आती हो उसे ही छोड़ देना उचित है। परम हर्ष और प्रेमसे नित्य-निरन्तर भजन होता रहे तो फिर भगवद्दर्शनकी भी आवश्यकता नहीं है। भजनका प्रेम ऐसा बढ़ जाना चाहिये कि जिसमें शरीरका भी ज्ञान न रहे। भगवान् स्वयं पधारकर चेत करायें तो भी सुतीक्ष्णजीकी भाँति प्रेम-समाधि न टूटे।

३४—साधनोंकी शीघ्र सिद्धिके लिये इन्द्रियोंका संयम करके तत्परतासे अभ्यास करना चाहिये। इसके लिये किसी बातकी भी परवा नहीं करनी चाहिये, शरीरकी भी नहीं।

३५—शरीरमें अहंकार होनेसे ही शरीरके निर्वाहकी चिन्ता होती है। अतएव यथासाध्य शरीररूपी जेलमें जान-बूझकर कभी प्रवेश नहीं करना चाहिये।

३६—अपने द्वारा की हुई भलाई और दूसरोंद्वारा की हुई अपनी बुराईको भूल जायँ। किंतु दूसरेके द्वारा किये गये उपकारको कभी न भूलें। सबके साथ प्रेमका व्यवहार और सम्मानपूर्वक बातचीत करें। अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेवालेके साथ भी ईर्ष्या, क्रोध, द्वेष, घृणा आदिसे रहित होकर उसका हित करनेकी कोशिश करें।

३७—अतिथि देवताके समान होता है। उसको प्रेमयुक्त सेवा और भोजनादिसे सदा संतुष्ट करना चाहिये। अतिथि-सेवा गृहस्थका एक मुख्य धर्म माना गया है।

३८—माता-पिता जो भी आचरण करते हैं, बालकोंपर उनका विशेष असर पड़ता है। अतः स्त्रियोंको झूठ-कपट आदि दुराचार एवं काम, क्रोध आदि दुर्गुणोंका सर्वथा त्याग करके उत्तम आचरण करने चाहिये।

३९—(स्त्रियोंको) पर-पुरुषका दर्शन, स्पर्श, एकान्तवास एवं उसके चित्रका भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। लोभ, मोह, शोक, हिंसा, दम्भ, पाखण्ड आदिसे सदा बचकर रहना चाहिये और उत्तम गुण एवं आचरणोंके लिये गीता, रामायण, भागवत, महाभारत एवं सती-साध्वी स्त्रियोंके चरित्र पढ़नेका अभ्यास रखना चाहिये और उनके अनुसार ही बालकोंको शिक्षा देनी चाहिये।

४०—पतिके शान्त होनेके बाद विधवा स्त्रीको उचित है कि जिस प्रकार पतिकी जीवित अवस्थामें उसके मनके अनुकूल आचरण करती थी, उसी प्रकार उसके मरनेपर भी करना चाहिये। धर्मका ऐसा आचरण करनेवाली स्त्री पतिके मरनेपर भी साध्वी कहलाती है और वह उत्तम गतिको प्राप्त होती है।

४१—विधवा स्त्रियोंको निष्काम भावसे पतिव्रता स्त्रियोंकी भाँति पतिके मरनेके बादमें भी पतिको जिस कार्यसे संतोष होता था, वही कार्य करके अपना काल व्यतीत करना चाहिये।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

प्रभुकी स्मृति हमारे हृदयसे कभी क्षणभरके लिये भी न निकले तथा सदा-सर्वत्र प्रभुकी संनिधिका अनुभव होता रहे—यही सर्वोत्तम साधन है और यही वस्तुतः साध्य भी है। प्रभुकी स्मृति मनमें निरन्तर अत्यन्त पवित्र तथा मधुर रूपमें बढ़ती ही रहे—इसमें दूसरेको पता लगानेका प्रश्न ही नहीं होता। प्रभु-प्रेम दिखावेके लिये तो होता ही नहीं। वह तो हृदयका अमूल्य गुप्त धन है। प्रभु ही जानते हैं; अन्य किसीके जानने-मानने या देखने-सुननेकी क्या आवश्यकता है। ऐसा गुप्त अमूल्य निर्मल प्रेम सदा-सर्वत्र रह सकता है। प्रभु तथा उनके प्रेमकी सदा-सर्वत्र स्थिति है तथा अबाध गति है।

× × × ×

अपनेमें निरन्तर दोष, अभाव, बुराई, त्रुटि आदि दीखना और प्रेमास्पद प्रभुका इस ओर जरा भी ध्यान न देकर सदा-सर्वदा अपने स्वभाववश ही अनन्त प्रेम करते दीखना—यही तो प्रेमकी ऊँची साधना है। अपनेमें यदि कभी कोई अहंकार आता है तो वह इस बातका आता है कि प्रेमास्पद परम प्रभु स्वभाववश मुझसे प्रेम करते हैं; अपने किसी गुणको लेकर कभी अभिमान आता ही नहीं। श्रीराधा कहती हैं—

मैं अति कुटिल, कुरूप, कुमति, सब बिधि गुणहीन, दीन नारी।
वे प्रभु प्रेमानन्द सुधानिधि, गुणनिधि, शुचि, सुन्दर भारी॥
मेरी ओर देखना भी है नहीं उचित उनको पल एक।
पर वे मुझपर ही न्योछावर रहते सदा विरदकी टेक॥

निरन्तर प्रभुके शील, सौजन्य, सौहार्द, कारुण्य, औदार्य, सौन्दर्य तथा माधुर्यकी स्मृति रखते हुए उनके चरणोंमें अवनत रहना ही हमारा कार्य है। वे प्रभु अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे, अपनी गुणगरिमासे, अपनी स्वभाव-महिमासे हमें सर्वथा विशुद्ध, निर्मल, अपने योग्य बनाकर स्वीकार कर लेंगे। उनके स्वभावको देखकर हमें मुग्ध, आनन्दित, उल्लसित और परम आशावान् होना चाहिये—

हम बुरे हैं, अति बुरे हैं, बुरोंके सरदार हैं।
पर हमारे नाथका हमपर अनोखा प्यार है॥
हैं नहीं वे देखते कोई बुराई भी कभी।
सौंपनेको हैं सदा तैयार अपनेको अभी॥

भगवान्की अहैतुकी प्रीतिकी सुधावर्षा निरन्तर हमारे ऊपर हो रही है—यही समझकर सदा प्रसन्न तथा परम आशावान् रहना चाहिये। आशावान् ही नहीं, प्रभुकी अपार प्रीतिका सदा अनुभव करना चाहिये।

× × × ×

मनुष्य अपने भावके अनुसार सोचता है। सबके दृष्टिकोण अलग-अलग होते हैं। रुचि, समझ, अनुकूल-प्रतिकूल भाव—सबके एक-से नहीं होते। इसलिये अपने किसीका कोई दोष नहीं देखना चाहिये। मानना ही नहीं चाहिये। अपने 'निजजन' तो एकमात्र प्रभु हैं, अतः यह निश्चय—परम निश्चय रखना

चाहिये कि वे कभी क्षणभरके लिये भी 'पर' हो ही नहीं सकते। वे सदा-सर्वदा समीप रहते हैं—रहेंगे। हम कभी उन्हें देख पाते हैं, कभी नहीं। पर हमारे न देख पानेपर भी वे रहते ही हैं—सोते-जागते, घर-बाहर, यहाँ-वहाँ सभी समय तथा सभी स्थानोंमें, जहाँ हम रहते हैं, वहीं वे रहते हैं। व्यापक ब्रह्मरूपमें नहीं, भक्तके भगवान् तथा प्रेमीके परम प्रियतम रूपमें। तुमने यह बहुत ठीक लिखा है कि 'इस सुखको कोई कभी भी छीन नहीं सकता। यह तो सदा एकरस, अखण्ड, नित्य और पूर्ण है।' अतएव प्रभुको सदा-सर्वत्र अपने समीप समझकर खूब-खूब प्रसन्न रहना चाहिये। यह केवल भावुकताकी या मन भुलानेकी बात नहीं है; वास्तवमें ही भगवान् भक्तके साथ अपना ऐसा ही सम्बन्ध रखते हैं। वे उसे लोभीके धनकी भाँति हृदयमें बसाये रखते हैं तथा उसके हृदयको अपना निजगृह मानकर नित्य उसमें बसे रहते हैं तथा प्रत्येक अङ्गसे सदा अपनी संनिधिका अनुभव कराते रहते हैं। अपनेमें प्रेमकी कमी दीखना तो वास्तवमें प्रेमका लक्षण है। हृदयमें गंदगी भी दीखती है, पर श्रीभगवान् स्वयं उस गंदगीको साफ करके उसमें बस जाते हैं। हृदय उनको दे देना चाहिये। उनकी चीज वे आप सँभालेंगे, सुधारेंगे, रक्षा करेंगे, उसको सुरम्य बनायेंगे।

× × × ×

भगवान्ने जो मङ्गलविधान रचा है, वही परम मङ्गलमय है। उसीमें सदा प्रसन्न रहना चाहिये। मनमें कोई भी विचार नहीं करना चाहिये। भगवान् सदा-सर्वत्र हैं, उनके स्मरणमें ही परम कल्याण है—निरन्तर उन्हींका पवित्र मधुर स्मरण करते रहना चाहिये।

भगवान्की तुमपर बड़ी ही कृपा है। फिर तुम इतना विचार क्यों किया करते हो। उस कृपापर विश्वास करो। तुम्हारे मनमें जो कुछ भगवत्प्रेमकी अभिलाषा है, उसे भगवान् अवश्य पूर्ण करेंगे—निश्चयपूर्वक ऐसी दृढ़ अनुभूति करो। भगवान्के प्रति जो अपनेको सौंप देता है तथा सब जगहसे ममत्व हटाकर भगवान्में ही ममत्व कर लेता है, वह निरन्तर लोभीके धनकी तरह भगवान्के हृदयमें बसता है। उसे भगवान् हृदयमें बसाये रखते हैं। उन्हें उसके बिना चैन ही नहीं पड़ती। भगवान्की इस महान् प्रीतिके प्रति हमलोगोंको आस्था-विश्वास करके सदा परम प्रसन्न होना चाहिये।

× × × ×

भगवान्का सौहार्द, भगवान्का स्वभाव, भगवान्की कृपा, भगवान्का प्रेम, भगवान्की निज-जनपरायणता एवं प्रेमवशता ऐसी विलक्षण हैं कि उस ओर देखनेपर मनुष्य अपनी सारी कमजोरियों, सारी त्रुटियों तथा सारी भूलोंको भूलकर सचमुच उन्हींमें रम जाता है, अपनेको खो देता है, केवल प्रभु ही रह जाते हैं। भगवान्की ऐसी ही प्रेममयी ममता है। भगवान्से यही प्रार्थना है कि उनकी इस प्रेममयी ममताकी सदा स्मृति बनी रहे, जिससे जगत्का सब कुछ विस्मृत होकर एकमात्र परम प्राणप्रियतम प्रभु ही रह जायँ; न जगत् रहे न जगत्को कोई देखनेवाला; न विषय रहे, न विषयासक्ति और न विषयासक्त—

'हेरत हेरत, हे सखी ! हेरन गयो हेराय।'

ढूँढते-ढूँढते ढूँढनेवाला खो गया और जिसे ढूँढ रहा था, केवल वही रह गया।

× × × ×

तुमने भगवान्‌के स्वभावके सम्बन्धमें लिखा, वह तुम्हारा लिखना ठीक ही है। वे कभी अत्यन्त ही कोमल दीखते हैं—फूलसे भी कोमल और कभी वज्रसे भी अधिक कठोर। पर दोनों ही भावोंमें उनके हृदयमें स्नेह-सुधा ही छलकती रहती है—यह हमें दृढ़ विश्वास करना चाहिये। सारा जगत् ही भगवान्‌का है, सभीके प्रति भगवान्‌की समता है। इससे यह कहना कि भगवान्‌के अनेक प्रेमी भक्त हैं, ठीक ही है। अनेक ही नहीं, सभी वास्तवमें भगवान्‌के हैं। परंतु जहाँ भक्त अपनेको केवल भगवान्‌के अर्पण कर देता है, एकमात्र उन्हींको अपना सर्वस्व मानकर प्रेम करता है, उसपर भगवान्‌की समताके साथ ही विशेष ममता हो जाती है। ऐसा भक्त भगवान्‌को वैसे ही वशमें कर लेता है, जैसे सती स्त्री अपने सत्पतिको—

वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।

अतएव उस क्षेत्रमें जैसे वह प्रेमी भक्त केवल प्रेमास्पद भगवान्‌को ही जानता है, वैसे ही भगवान् भी केवल उसीको जानते हैं तथा उसके अधीन और ऋणी हो जाते हैं—

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।' आदि।

भगवान्‌की स्मृति नित्य बनी रहे, इसके लिये सदा-सर्वदा उनके स्वरूप, गुण तथा लीलाओंका अपने मनके अनुसार चिन्तन करना चाहिये। भगवान् सत्य हैं, सदा हैं, सर्वत्र हैं—इसलिये हम उनकी लीलाओंकी अपने मनसे जैसी कल्पना करेंगे, वैसे ही रूपमें वे सत्य-सत्य अपना अनुभव हमें करा देंगे। हमें प्रत्यक्ष ही सब-कुछ-लीलाके प्रसङ्ग दीखेंगे। तुमको यह चेष्टा करनी चाहिये। यह सत्य है कि तुम्हारे किये कुछ नहीं होगा—ऐसी मान्यता ठीक है; पर भगवान्‌के किये तो सब कुछ हो ही सकता है—इस बातपर विश्वास करके, जरा भी निराश न होकर अपनी जानमें लीला-चिन्तनका प्रयत्न करना और उसमें उत्तरोत्तर स्पष्ट अनुभूति करते रहना।

तुम्हें भगवान्‌के सौहार्द तथा स्नेहपर विश्वास नहीं होता, तुम्हारी दृष्टिसे तुम्हारा यह लिखना ठीक ही है। सौहार्द तथा स्नेहपर विश्वास हो जानेपर निश्चय ही अत्यन्त विलक्षण स्थिति हो जाती है। भगवान् सुहृद् हैं, यह जानते ही शान्ति मिल जाती है—यह सत्य है। परंतु भगवान् परम-प्रेमास्पद, महान् विशाल हृदयके हैं। तुम यह संदेह क्यों करते हो कि 'जब मेरा भगवान्‌के स्नेहपर विश्वास नहीं, तब मेरा जीवन सफल कैसे होगा ?' क्या तुम अपनेको भगवान्‌के समर्पित नहीं मानते? समर्पित नहीं अनुभव करते ? और यदि समर्पित-जीवन है तो जीवनकी सफलता इससे बढ़कर और क्या होगी ? भगवान्‌के समर्पित हो जानेपर सारी चिन्ता स्वयं भगवान् करते हैं। सारा 'योगक्षेम' वहन वे स्वयं करते हैं। प्रेमीका तो एक ही कार्य रहता है कि निरन्तर उनके मधुरतम तथा पवित्रतम चिन्तनमें डूबे रहना, क्षणमात्रके लिये भी उनका स्मृति-वियोग असह्य हो जाना। शरीर चाहे कहीं रहे, कहीं जाय—प्रियतम प्रभु छायाकी भाँति सदा अन्तरमें घुले-मिले रहते हैं, क्षणभर भी नहीं हटते। पर प्रेमीका यह स्वभाव होता है—वह मिलनमें भी मिलनाकाङ्क्षा करता हुआ व्याकुल रहता है। मिलनेके बाद भी स्मृतिमें डूबा रहता है। पास रहता हुआ भी दूर समझकर पुकारता रहता है। प्रभु प्रेमीके पास उसे असहाय समझकर, दीन समझकर दयामय स्वभाववश सहायता करने नहीं आते। वे निरन्तर उसके प्रेमसे खिंचे रहकर उसके पवित्र निर्मल मधुर प्रेम-सुधारसका आस्वादन करनेके लिये अपनी गरज दौड़े आते हैं और इतने प्रेमरसास्वादनपरायण हो जाते हैं कि एक क्षणके लिये भी

वहाँसे हटना नहीं चाहते। तुम भगवान्‌के इस प्रेम-स्वरूपका अनुभव करो तथा नित्य-निरन्तर उनकी मधुरतम झाँकी करते हुए आनन्दमें डूबे रहो।

× × × ×

निश्चिन्त रहना चाहिये। भगवान् जिसको अपना लेते हैं, वह कभी निराश्रय होता ही नहीं। वे नित्य, सत्य, सनातन, सर्वत्र, सर्वदा हैं। उनका सांनिध्य कभी हटनेवाला है ही नहीं। उनकी कृपा अहैतुकी तथा प्रीति अनन्त है। उन-सरीखे वे ही हैं। वे सदा तुम्हारे हैं, तुम्हारे रहेंगे—इस बातपर विश्वास तथा नित्य इसका मधुरानुभव करते रहना चाहिये। तुमने लिखा, 'कोई सुननेवाला नहीं है;' पर बात ऐसी नहीं है। वे सदा प्रतिक्षण तुम्हारी बात सुनते हैं, तुम्हें देखते हैं, तुममें घुले-मिले रहते हैं, 'चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात'—कभी क्षणभरके लिये भी वे इधर-उधर नहीं जाते। हाँ, कभी जो उनकी अनुभूति नहीं होती है, वह उनकी लीलाका मधुर रसास्वादन अधिक करानेके लिये ही नहीं होती। वियोगकी तीव्र स्मृति मधुमयी होकर वियोग-विषको मधुरतम सुधारसके रूपमें परिणतकर परम मधुर हो जाती है। यह अधीरता श्यामसुन्दरके दर्शन करानेवाली ही होती है। भगवान्‌का विरह-ताप बड़े ही सौभाग्यकी चीज है।

× × × ×

तुम प्रशंसाके योग्य नहीं हो, यह बिल्कुल ठीक है। तुम जिसको 'मैं' समझकर ऐसा लिखते हो, उसकी प्रशंसा कौन करता है। प्रशंसा तो भगवदर्पितहृदय तद्गतचित्त उस प्रेमीकी है, जिसकी प्रशंसा करनेमें भगवान्‌को भी आनन्द मिलता है। प्रेमी भक्तकी प्रशंसा प्रकारान्तरसे उसके भगवान्‌की प्रशंसा है। 'राम न सकहिं नाम गुन गाई।' इसमें 'नाम' की प्रशंसा दीखती है, परंतु प्रकारान्तरसे है रामकी ही प्रशंसा। इसी प्रकार प्रेमीकी प्रशंसा प्रभुकी प्रशंसा होती है। प्रभु अपनी प्रशंसा सीधे न करके प्रेमीके नामपर किया करते हैं। यह भी प्रेमराज्यका एक मधुर लक्षण है।

× × × ×

मनमें सदा खूब प्रसन्न रहना चाहिये। प्रियतम प्रभुको कभी अलग मानना चाहिये ही नहीं। सचमुच वे कभी अलग होते ही नहीं। दिन-रात—आठों पहर हृदयमें बसे रहते हैं। यह प्रेम-वैचित्त्यकी मधुर स्थिति होती है, जो नित्य उनके समीप—अति समीप रहते हुए भी—सदा संस्पर्श प्राप्त होते रहनेपर भी वियोगका अनुभव होता है। वियोग और संयोग—दोनों इस मधुरतम प्रेम-सरिताके तट हैं। कभी इस तटपर, कभी उस तटपर आना-जाना लगा रहता है। इसीसे रसास्वादन, चिन्तन, दर्शनमें तीव्रतर मधुरता आती रहती है—संसारका सर्वथा अभाव हो जाता है। लोगोंके लिये जिस रूपमें संसार है, उस रूपमें वहाँ नहीं रहता। बस, श्यामसुन्दर और उनकी मधुरतम लीला ही रह जाती है—

काँकर-पाथर-ठीकरी भए आरसी मोहि।
प्रेम मधुर लीला निरत, जित-तित देखूँ तोहि॥

इसके अतिरिक्त कभी यदि पूर्व संस्कारवश संसार दीख जाता है तो वह बुरा लगता है, उसको मन ललकारता है कि 'तुम यहाँसे हट जाओ, वहाँ जाओ, जिस हृदयमें श्रीनन्दलाल न बसते हों'। अतएव संसार जो बुरा लगता है—उसमें प्रतिकूलताका जो बोध होता है, यह तो शुभ लक्षण है। मनमें कभी भी निराश नहीं होना चाहिये। अपनी चीजको वे आप देखें-सँभालेंगे। अपने क्यों चिन्ता करें। क्यों अपने दोषोंका चिन्तन करें। दिन-रात उन्हींकी सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाका पान करते रहें। हम कैसे

भी हों, कहीं भी रहें, कुछ भी करें, वे प्राण-प्रियतम कभी हमें छोड़ते नहीं, अलग होते चाहे हममें प्रेमगन्ध भी न हो, पर उनकी यह सहज प्रीति-पूर्ण कृपा तो हमपर है ही, रहेगी ही । हम कभी वञ्चित हो ही नहीं सकते, यह दृढ़ अनुभव करते रहना चाहिये ।

× × × ×

तुमने लिखा—'मैं प्रभुको निरन्तर याद रक्खूँ, स्वार्थसे भी उनको निरन्तर हृदयमें बसाये, कभी भूलूँ नहीं--इतना ही मेरे लिये वहुत है।' यह वहुत ही सुन्दर है। बस, 'स्वार्थ' शब्दका होना चाहिये 'श्रीकृष्णप्रभुका सुख'--उनका सुख ही अपना परम 'अर्थ' है। यही स्वार्थ हो और स्वार्थसे प्रभुको सदा-सर्वदा हृदयमें बसाकर परम सुखका अनुभव करना—यही प्रियतम भगवा सुखरूप प्रेम है ।

(पुराने पत्रोंसे संगृ

विक्षोभके भीतर भागवत उपस्थितिका अनुभव

[माताजीकी बातचीत]

(श्रीमाँ, श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी)

प्र०—बुरे वातावरणसे घिरे रहनेपर भी, मानसिक और प्राणिक विक्षोभके भीतर भी क्या भागवत उपस्थिति-का अनुभव किया जा सकता है ?

उ०—तब, जब कि वह वातावरण तुम्हारे अपने अंदर न हो; क्योंकि वैसा रहनेपर यह कठिन होता है। फिर भी, बहुत-से ऐसे लोगोंके उदाहरण हैं जो संदिग्धात्मकसे भी अधिक बुरा जीवन व्यतीत करते थे और जिन्हें दैवी साक्षात्कार हुए। एक पियक्कड़के बारेमें कहा जाता है कि नशेकी हालतमें ही उसे एकाएक भगवान्‌का सम्पर्क प्राप्त हो गया—जिससे उसकी जिंदगी ही बदल गयी और जिसने, मैं यहाँ यह भी बता दूँ, उसे भविष्यमें शराब पीनेसे रोक दिया। किंतु फिर भी, जब उसे भागवत उपस्थितिका अनुभव हुआ, उस समय वह नशेकी हालतमें था। मैं नहीं समझती—यहाँ हम फिर उन्हीं बातोंमें पड़ जाते हैं—मैं नहीं समझती कि भगवान् कोई नैतिकवादी हैं। यह तो मनुष्य है जो नैतिकवादी होता है, भगवान् नहीं। यदि ऐसा हो कि ठीक उसी समय परिस्थितियों-की एक अनुकूलता आ जाय और सामद ... भीतर एक उद्‌घाटन हो जाय, तो भगवान्, जो उपस्थित रहते हैं, अपनेको अभिव्यक्त कर देते जब कि वह साधु या संत, जो अपने महत्त्व और योग्यताके नशेमें चूर रहता है, गर्व और अभिमानसे भरा रहता है, उसके भीतर भगवान् व्यक्त हों, इसकी अधिक सम्भावना नहीं; क्योंकि भगवान्‌की अभिव्यक्तिके लिये स्थान ही नहीं है। उस साधुके महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व और उसके मूल्यके अतिरिक्त और कुछका स्थान नहीं होता।

स्वभावतः, एक ऐसी अवस्था है, जब मनुष्य शुद्ध और पूर्णतः साधु हो सकता है और भग सम्पर्कमें रह सकता है। किंतु तब उसका मत कि वह व्यक्ति पूर्णताकी एक विशेष अवस्थातक गया है और अपने व्यक्तिगत महत्त्व और व्यक्तिगत योग्यताकी भावनाको खो चुका है। ख्यालसे यह अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। भग साथ सम्बन्ध स्थापित करनेमें सबसे बड़ा बाधा गर्व, और अपनी व्यक्तिगत योग्यता, अपनी व्य क्षमता और अपनी व्यक्तिगत शक्तिकी भावना—

बहुत बड़ा बन जाता है, इतना बड़ा कि वहाँ भगवान्‌के लिये स्थान नहीं रह जाता।

नहीं, एकमात्र सच्ची महत्त्वपूर्ण वस्तु है अभीप्साकी तीव्रता। और यह अभीप्साकी तीव्रता सभी प्रकारकी परिस्थितियोंमें आ सकती है।

दो बातें हैं, जिन्हें सम्मिश्रित नहीं करना चाहिये—कुछ आवश्यकताएँ (जो, यदि हम जड़ भौतिक पदार्थको नियन्त्रणमें लाना चाहते हैं, तो विशुद्ध आवश्यकताएँ हैं), और तत्पश्चात्, नैतिक धारणाएँ। ये दोनों बिलकुल भिन्न वस्तुएँ हैं। उदाहरणार्थ, व्यक्ति अपने शरीरको विषाक्त बनाने, या मस्तिष्कको मूढ़ बनाने या अपने संकल्पको मिटा देनेसे अपनेको रोक सकता है, इसलिये कि वह अपनी भौतिक चेतनाको अपने वशमें लाना और अपने शरीरको रूपान्तरित करनेमें सक्षम होना चाहता है। किंतु यदि कोई यह सब कुछ इसलिये करे कि उसके विचारसे, ऐसा करनेसे उसे एक नैतिक श्रेय प्राप्त होगा, तो वह उसे कहीं नहीं पहुँचायेगा, कहीं भी नहीं; क्योंकि इसका उद्देश्य वह नहीं है। यह पूर्णतः व्यावहारिक कारणोंसे ही किया जाता है। उदाहरणार्थ, तुम्हें विष खानेका अभ्यास इसलिये नहीं है कि वह तुम्हें विषाक्त बना देगा। और तब, कुछ ऐसे धीमे असर करनेवाले विष हैं, जिनका लोग सेवन करते हैं (उन्हें अहानिकर समझकर; क्योंकि उनका असर इतना धीमे-धीमे होता है कि उसका वे आसानीसे पता नहीं पा सकते) किंतु यदि कोई अपनी शारीरिक क्रियाओंको पूर्णतः अपने वशमें लाना और अपने शरीरकी स्वतः चालित क्रियाओंके भीतर आलोक उतारनेकी क्षमता प्राप्त करना चाहता है, तो उसे इन सब वस्तुओंसे परहेज करना होगा—किंतु नैतिक कारणोंसे नहीं, बिलकुल व्यावहारिक कारणोंसे, योगमें सिद्धि पानेकी दृष्टिसे। इसे यह सोचकर नहीं करना होगा कि इससे पुण्य मिलेगा; और क्योंकि तुम्हें पुण्य प्राप्त होगा, इसलिये भगवान् बड़े प्रसन्न हो जायँगे और तुम्हारे भीतर अपनेको अभिव्यक्त कर देंगे! भगवान् अपनेको शायद उस व्यक्तिके भी अधिक निकट बोध करते हैं, जिसने गलतियाँ की हैं, जिसे अपनी गलतियोंका भान है और जिसे अपनी दुर्बलताओंका भान है और जो उनसे मुक्त होनेके लिये सच्चे हृदयसे अभीप्सा करता है—भगवान् शायद उस व्यक्तिकी अपेक्षा, जिसने कभी कोई गलती नहीं की और जो अन्य मनुष्योंकी अपेक्षा अपनी बाहरी श्रेष्ठताके भावसे संतुष्ट है, इस व्यक्तिके अधिक निकट हैं। जो भी हो, इससे कोई बहुत अन्तर नहीं आता। जिससे बहुत अन्तर आता है, वह है सचाई, सहजता, अभीप्साकी तीव्रता—आवश्यकता, वह आवश्यकता, जो तुम्हें अभिभूत कर लेती है और जो इतनी प्रबल होती है कि दुनियामें और कुछका कोई मूल्य नहीं रह जाता।

जैसा कि मैं कहीं अन्यत्र समर्पण और उत्सर्गके प्रसङ्गमें कह चुकी हूँ, यदि किसीको किसी वस्तुके लिये पश्चात्ताप होता है, तो इसका यह अर्थ है कि वह आध्यात्मिक चेतनाकी अवस्थामें नहीं है। यदि तुम इसलिये पछताते हो कि तुम अपनी कामनाओंकी तुष्टि नहीं कर पाओगे, तो इसका यह अर्थ है कि वे कामनाएँ, तुम जिस वस्तुकी अभीप्सा करते हो, उससे यदि अधिक नहीं तो कम-से-कम उसके बराबर हैं। तुम कह सकते हो—'कामनाएँ ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनके विषयमें मैं बिलकुल सज्ञान हूँ, जब कि यदि मैं भगवान्‌को पानेके लिये अपनी कामनाओंका परित्याग करता हूँ, तो मुझे इस बातका निश्चय नहीं रहता कि मैं भगवान्‌को पाऊँगा ही, इसीसे मैं इसे उत्सर्ग कहता हूँ।' किंतु मैं इसे सौदेबाजी कहती हूँ! यह भगवान्‌के साथ सौदेबाजी है। तुम उनसे कहते हो, 'लो और दो; मैं तुम्हें उस आनन्दका चढ़ावा देता हूँ, जो मुझे अपनी कामनाओंकी तुष्टिमें मिलता है

और इसके बदलेमें यह आवश्यक है कि तुम मुझे अपने अंदर तुम्हें अनुभूत करनेका आनन्द प्रदान करो, नहीं तो यह न्यायोचित नहीं होगा ।' यह आत्मदान नहीं, सौदेबाजी है ।

यह बात मैंने कितनी बार, कितनी बार सुनी है—'मैंने उतनी वस्तुओंका उत्सर्ग किया, इतना प्रयास किया, इतना कष्ट झेला और तब यह देखो, मुझे बदलेमें कुछ भी नहीं मिला ।' मैं इसका केवल यही उत्तर दे सकती हूँ—'मुझे इसमें कोई आश्चर्य नहीं प्रतीत होता ।'

प्र०—क्या किसी बहुत घमंडी व्यक्तिमें बड़ी अभीप्सा हो सकती है ?

उ०—क्यों नहीं ? कोई बड़ा घमंडी व्यक्ति ठोकरें खा सकता है और तब वह समझदार बन जा सकता है । फिर जब उसे ठोकर लगती है, तब वह उसे जरा जगा दे सकती है ! तब उसमें अभीप्सा आती है । और यदि वह कोई ऐसा व्यक्ति है, जिसकी प्रकृतिमें तीव्रता है और बल है, तो उसकी अभीप्सा सशक्त होती है ।

प्र०—और बिना ठोकर खाये ?

उ०—ऐसा हो सकता है । हाँ, तब इस अवस्था वह बहुत मिश्रित होगी—किंतु वह मिश्रण तो सब सब कुछमें होता है । वस्तुओंको साफ होनेके लि एक लंबे कालकी आवश्यकता होती है । तुम आरम्भ कहींसे भी कर सकते हो, किसी भी स्थिति और किसी भी अवस्थामें । तब कुछ अवस्थाओंमें इसमें बड़ा लंबा समय लगता है; क्योंकि मिश्रण इस तरहका होता है कि प्रत्येक अगले पगके साथ तुम आधा पग पीछे खिसकते हो । किंतु इसका कोई कारण नहीं होता । वस्तुतः क्योंकि जीवन और व्यक्तिगत अस्तित्वका वास्तविक उद्देश्य भगवान्‌को जानना है, यह (अभीप्सा) कहीं भी, किसी भी समयमें ऊपर आ सकती है । यदि थोड़ी भी सम्भावना हो तो यह ऊपर आ जाती है । स्पष्ट है कि यदि कोई पूर्णतः तुष्ट रहे, तो यह बाधक होता है; क्योंकि तब व्यक्ति आत्मतुष्टिकी भावनामें सोया रहता है । किंतु यह अवस्था टिकती नहीं । जीवनमें, जगत्, जैसा कि आज है, उसमें कोई अहंभावमय तुष्टि टिक नहीं सकती, और जबतक यह टिकी रहती है, तबतक, हाँ, व्यक्ति टस-से-मस नहीं होता, बिलकुल अभीप्सा नहीं कर सकता । पर यह अवस्था टिकती नहीं ।

प्रेमीकी स्थिति

जब तें प्रीति स्याम सों कीनी ।
ता दिन तें मेरे इन नैननि नैकहु नींद न लीनी ॥
सदा रहत चित चाकु चढ़्यौ-सौ, और कछू न सुहाय ।
मन में रहै उपाय मिलन कौ, इहै बिचारत जाय ॥
'परमानंद' मरम की बातैं काहू सौं नहिं कहियै ।
जैसैं बिथा मूक बालक की अपनैं तन-मन सहियै ॥

श्रीश्रीराम-नाम-माहात्म्य

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ महाराज)

[गताङ्क पृ० ८३३ से आगे]

वराहपुराणमें—

दैवाच्छूकरशावकेन निहतो म्लेच्छो जराजर्जरो
हारामेण हतोऽस्मि भूमिपतितो जल्पंस्तनुं त्यक्तवान् ।
तीर्णो गोष्पदवद् भवार्णवमहो नाम्नः प्रभावाद्धरेः
किं चित्रं यदि रामनामरसिकास्ते यान्ति रामास्पदम् ॥

''दैवात् शूकर-शावकके द्वारा जरा-जर्जरित एक म्लेच्छ मारा गया । 'हरामके द्वारा मैं मारा गया'—कहते हुए वह भूतलपर गिरकर पञ्चत्वको प्राप्त हुआ । आश्चर्यकी बात है कि 'हराम' शब्दके अन्तर्गत 'राम' नामके प्रभावसे वह भी गोष्पदके समान इस भयानक भवसागरके पार चला गया । तो फिर यदि रामनामके रसिक रामके परमपदको प्राप्त करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ।''

स्कन्दपुराणमें—

सर्वेऽवताराः श्रीरामनामशक्तिसमुद्भवाः ।
सत्यं वदामि देवेशि नाममाहात्म्यमद्भुतम् ॥

तत्रैव—

इति पृष्टस्तदा शम्भुरुवाच हरिसेवकः ।
हरेर्नामसहस्राणां सारं ध्यायामि नित्यशः ॥

× × ×

वेदसारमिदं नित्यं द्व्यक्षरं सततोद्यतम् ।
निर्मलं ह्यमृतं शान्तं सद्रूपममृतोपमम् ॥

''सभी अवतार श्रीरामनामकी शक्तिसे उत्पन्न होते हैं । हे देवेशि ! मैं सत्य कहता हूँ, नामका अद्भुत माहात्म्य है ।''

''इस प्रकार पूछे जानेपर हरिसेवक श्रीशङ्करजी बोले—'मैं सहस्रों हरिनामके सारका नित्य ध्यान करता हूँ ।''

''इस वेदोंके सारस्वरूप, जीवोंके कल्याणके लिये सतत उद्यत, निर्मल अमृतस्वरूप, शान्त और सद्रूप सुधोपम द्व्यक्षर 'राम' नामका मैं नित्य जप करता हूँ ।''

× × ×

रामेति द्व्यक्षरो मन्त्रो मन्त्रकोटिशताधिकः ॥
सर्वासां प्रकृतीनां च कथितः पापनाशकः ।
चातुर्मास्येऽथ सम्प्राप्ते सोऽप्यनन्तफलप्रदः ॥

× × ×

न रामादधिकं किंचित् पठनं जगतीतले ।
रामनामाश्रया ये वै न तेषां यमयातना ॥

''राम' यह दो अक्षरका मन्त्र शतकोटि मन्त्रोंसे बढ़कर है । यह सारे प्रजावर्गके पापोंका नाश करनेवाला कहा गया है तथा चातुर्मास्यमें रामनामका जप अनन्त फल प्रदान करता है ।

''रामनामसे बढ़कर इस पृथ्वीपर कुछ भी पठनीय (जपनीय) नहीं है । जो लोग रामनामका आश्रय लेते हैं, उनको यम-यातना नहीं भोगनी पड़ती ।''

रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च ।
अन्तरात्मस्वरूपेण यच्च रामेति कथ्यते ॥
रामेति मन्त्रराजोऽयं भवव्याधिनिषूदकः ।
रणे विजयदश्चापि सर्वकामार्थसाधकः ॥
सर्वतीर्थफलः प्रोक्तो विप्राणामपि कामदः ।
रामचन्द्रेति रामेति रामेति समुदाहृतः ॥
द्व्यक्षरो मन्त्रराजोऽयं सर्वकार्यकरो भुवि ।
देवा अपि प्रगायन्ति रामनाम गुणाकरम् ॥
तस्मात्त्वमपि देवेशि रामनाम सदा वद ।
रामनाम जपेद् यो वै मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥
सहस्रनामजं पुण्यं रामनाम्नैव जायते ।
चातुर्मास्ये विशेषेण तत्पुण्यं दशधोत्तरम् ॥
हीनजातिप्रजातानां महद्दहति पातकम् ॥

रामो ह्ययं विश्वमिदं समग्रं
स्वतेजसा व्याप्य जनान्तरात्मना ।
पुनाति जन्मान्तरपातकानि
स्थूलानि सूक्ष्माणि क्षणाच्च दग्ध्वा ॥

''राम स्थावर-जंगम सभी भूतोंमें अन्तरात्मस्वरूपसे रमण करते हैं, इसी कारण 'राम' कहलाते हैं ।

'''राम'—यह मन्त्रराज भवरोग-विनाशक है, समरमें विजय प्रदान करता है और सभी कार्यों एवं प्रयोजनोंको सिद्ध करनेवाला है। उत्तमरूपसे उच्चारित 'रामचन्द्र' अथवा 'राम-राम'—यह नाम सभी तीर्थोंके सेवनका फल देनेवाला तथा विप्रोंके लिये कामद—कामनाओंको पूर्ण करनेवाला कहा गया है।

''इस भूतलमें यह द्व्यक्षर मन्त्रराज 'राम'नाम सब कार्य करता है। देवगण भी गुणाकर रामनामका सर्वतोभावेन गान करते हैं। हे देवेशि! इस कारण तुम भी राम-नामका सतत गान करो। जो भी राम-नामका जप करता है, वह सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है।

''रामनामसे ही सहस्रनामजपका पुण्य प्राप्त होता है। विशेषतः चातुर्मास्यमें उससे दसगुना अधिक पुण्य होता है। हीन जातिमें उत्पन्न प्राणियोंके भी महान् पातक रामनामके जपसे भस्मीभूत हो जाते हैं।

''ये श्रीराम ही सबके अन्तरात्माके रूपमें अपने तेजके द्वारा इस सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त करके अवस्थित हैं। जन्म-जन्मान्तरके सूक्ष्म-स्थूल सारे पापोंको क्षणमात्रमें भस्मीभूत करके वे प्राणीको पवित्र कर देते हैं।''

स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्यखण्डके ३४वें अध्यायमें—

अशने शयने पाने गमने चोपवेशने।
सुखे वाप्यथवा दुःखे रामचन्द्रं समुच्चरेत्॥
न तस्य दुःखदौर्भाग्यं नाधिव्याधिभयं भवेत्।
रामेति नाम्ना मुच्येत पापाद् वै दारुणादपि।
नरकं नहि गच्छेत गतिं प्राप्नोति शाश्वतीम्॥
आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा-
माचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः।
नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः॥
श्रीरामः शरणं समस्तजगतां रामं विना का गती
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं रामाय कार्यं नमः।
रामात् त्रस्यति कालभीमभुजगो रामस्य सर्वं वशे
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे राम त्वमेवाश्रयः॥

'भोजन करते समय, सोते समय, पानी पीते समय, चलते और बैठते समय, सुख अथवा दुःखमें राम-नामका उच्चारण करता रहे। इससे मनुष्यको दुःख-दुर्भाग्यका सामना नहीं करना पड़ता, आधि-व्याधिका भय नहीं होता। राम-नामके जपसे मनुष्य दारुण पापसे भी मुक्त हो जाता है, वह नरकमें न जाकर शाश्वत मुक्तिको प्राप्त करता है। प्रज्ञावान् पुरुषोंके चित्तको आकृष्ट करनेवाले, बड़े-से-बड़े पापोंका उच्चाटन कर देनेवाले, चाण्डालपर्यन्त वाक्शक्ति-सम्पन्न जीवमात्रके लिये सुलभ तथा मोक्षश्रीको करनेवाले श्रीराम-नामरूप मन्त्रके लिये किसी प्रकारकी तान्त्रिक या वैदिक दीक्षा, दक्षिणा या पुरश्चरणादि विधिकी तनिक भी अपेक्षा नहीं होती। यह मन्त्र रसनाके स्पर्शमात्रसे सारे फल देता है।

''श्रीराम समस्त जगत्के रक्षक हैं, रामके बिना जीवके लिये क्या अन्य कोई गति है? राम सारे कलिकल्मषका नाश करते हैं, रामको नमस्कार करना चाहिये। कालरूपी भयंकर भुजंगम रामसे डरता रहता है। सब रामके वशमें हैं। राममें मेरी अखण्डिता भक्ति हो। हे राम! तुम ही मेरे आश्रय हो।''

वामनपुराणमें—

परदाररतो वापि परापकृतिकारकः।
स शुद्धो मुक्तिमायाति रामनामानुकीर्तनात्॥

''परदारानुरक्त अथवा परापकार करनेवाला मनुष्य भी रामनामका निरन्तर कीर्तन करते रहनेसे शुद्ध होकर मुक्तिको प्राप्त कर लेता है।''

कूर्मपुराणमें—

गोप्याद् गोप्यतमं भद्रे सर्वस्वं जीवनं मम।
धिक्कृतं तमहं मन्ये सत्यं हि प्राणवल्लभे।
यज्जिह्वाग्रे न श्रीरामनाम संराजते सदा॥

''हे भद्रे! गुह्यसे भी गुह्यतम श्रीरामनाम मेरा सर्वस्व ही नहीं, मेरा जीवन है। हे प्राणवल्लभे! जिसकी रसनाके अग्रभागमें सर्वदा श्रीराम-नाम नहीं विराजता, उसको मैं सचमुच निन्दित समझता हूँ।''

मत्स्यपुराणमें—

ध्येयं ज्ञेयं पदं सेव्यं रामनामाक्षरं मुने।
सर्वसिद्धान्तसारं हि सुखसौभाग्यकारणम्॥
नामैव परमं ज्ञानं ध्यानं योगस्तथा रतिः।
विज्ञानं परमं गुह्यं रामनामैव केवलम्॥

''हे मुने! सब सिद्धान्तोंका सार यह है कि सुख और सौभाग्यप्रदान करनेवाला दो अक्षरका रामनाम ही ध्यान करने योग्य है, ज्ञातव्य है और परम सेव्य है। नाम ही परम ज्ञान,

ध्यान, योग तथा अनुरक्ति है। परम गोपनीय विज्ञान केवल रामनामको जानो।''

गरुडपुराणमें—

श्रीराम राम रामेति ये वदन्त्यपि पापिनः।
पापकोटिसहस्रेभ्यस्तेषामुत्तरणं ध्रुवम्॥
कलौ संकीर्तनाद्देवि सर्वपापं व्यपोहति।
तस्माच्छ्रीरामनाम्नस्तु कार्यं संकीर्तनं परम्॥

''पापी होकर भी जो लोग 'श्रीराम राम राम' इस प्रकार राम-नामका उच्चारण करते हैं, वे सहस्रकोटि पापोंसे निश्चय ही मुक्त हो जाते हैं। हे देवि! कलियुगमें नाम-संकीर्तनसे सारे पाप निर्मूल हो जाते हैं। अतएव इस श्रेष्ठ श्रीरामनामका संकीर्तन परम कर्तव्य है।''

ब्रह्माण्डपुराणमें—

रामनामप्रभा दिव्या वेदवेदान्तपारगा।
येषां स्वान्ते सदा भाति ते पूज्या भुवनत्रये॥

'वेद और वेदान्तकी सीमाको भी लाँघ जानेवाली राम-नामकी दिव्य प्रभा जिसके हृदयको सदा आलोकित करती है, वे त्रिभुवनमें पूजनीय हैं।'

उपपुराण—

गणेशपुराणमें—

अहं पूज्योऽभवं लोके श्रीमन्नामानुकीर्तनात्।
अतः श्रीरामनाम्नस्तु कीर्तनं सर्वदोचितम्॥
रामनाम परं ध्येयं ज्ञेयं पेयमहर्निशम्।
सर्वदा सद्भिरित्युक्तं पूर्वं मां जगदीश्वरैः॥

श्रीगणेशजी कहते हैं—'मैं श्रीमद् राम-नामका निरन्तर कीर्तन करनेके कारण ही जगत्में सर्वप्रथम पूजनीय बना हूँ। अतएव श्रीराम-नामका कीर्तन करना सदा ही वाञ्छनीय है।'

'पूर्वकालमें मुझसे श्रेष्ठ जगदीश्वरोंने राम-नामको परम ध्येय, ज्ञेय तथा दिवानिशि पेय बतलाया है।'

वायुपुराणमें—

यातना यमलोकेषु तावदेव भवेन्नृणाम्।
यावन्न भजते प्रीत्या रामनाम परात्परम्॥

'यमलोकमें जीवको तभीतक यन्त्रणा भोगनी पड़ती है, जबतक वह प्रेमसहित परात्पर रामनामका भजन नहीं करता।'

सर्वेषामवताराणां कारणं परमाद्भुतम्।
श्रीमद् रामेति नामैव कथ्यते सद्भिरन्वहम्॥

'साधुजनोंने सदा ही श्रीमद् राम-नामको सब अवतारोंका परम अद्भुत कारण बतलाया है।'

नरसिंहपुराणमें—

रामनामरता नारी सुतं सौभाग्यमीप्सितम्।
भर्तुः प्रियत्वं लभते न वैधव्यं कदाचन॥
पतिव्रतानां सर्वासां रामनामानुकीर्तनम्।
ऐहिकामुष्मिकं सौख्यदायकं सर्वशो मुने॥

'राम-नाममें अनुरागवती रमणी पुत्र, अभिवाञ्छित सौभाग्य तथा पतिका प्रियत्व प्राप्त करती है; वह कभी विधवा नहीं होती।

'हे मुने! समस्त पतिव्रता नारियोंके लिये राम-नामकीर्तन इस लोक और परलोकमें निखिल सुखदायक है।'

अन्यत्र भी—

रामनाम जपतां कुतो भयं
सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसंगतः
पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥

प्रह्लादजी कहते हैं—'सारे तापोंको शान्त करनेकी एकमात्र औषध राम-नामका जप करनेवालेको भय कहाँ? पिताजी! आप देखिये तो, मेरे शरीरसे संलग्न अग्नि भी इस समय सलिलके समान शैत्य प्रदान कर रही है।'

बृहद्विष्णुपुराणमें—

रामरामेति यो नित्यं मधुरं जपति क्षणम्।
सर्वसिद्धिं समाप्नोति रामनामानुभावतः॥

''जो मनुष्य प्रतिदिन क्षणमात्र भी 'राम-राम'—इस मधुर नामका जप करता है, राम-नामके प्रभावसे उसे सभी सिद्धियाँ सम्यक्रूपसे प्राप्त होती हैं।''

बृहन्नारदीयपुराणमें—

स्मरणात् कीर्तनाच्चैव श्रवणाल्लेखनादपि।
दर्शनाद्धारणादेव रामनामाखिलेष्टदम्॥

'राम-नाम स्मरण अथवा कीर्तन या श्रवण अथवा लेखन या दर्शन या धारण करनेपर भी इस लोकमें तथा परलोकमें निखिल ईप्सित फल प्रदान करता है।'

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च स्तेयी विश्वासघातकः।
दुहित्रासंगमी दुष्टो भ्रातृपत्नीरतस्तथा॥
विप्रदाररतो यस्तु विप्रवित्तापहारकः।
परापवादकारी च बालघाती च वृद्धहा॥

स्त्रीजनानां च संघाती हिंसकः सर्वदेहिनाम्।
मातृगामी गुरुद्रोही रामनाम्ना विशुध्यति ॥
महाचिन्तातुरो यस्तु महाव्याधिसमाकुलः।
जरापस्मारकुष्ठादिमहारोगैः प्रपीडितः ॥
महोत्पातमहारिष्टमहाक्रूरग्रहार्दितः।
महाशोकाग्निसंतप्तः सर्वलोकैस्तिरस्कृतः ॥
महानिन्द्यो निरालम्बो महादुर्भाग्यदुःखितः।
महादरिद्रः संतापी सुखी स्याद् रामकीर्तनात् ॥
कामक्रोधातुरः पापी लोभमोहमदोद्धतः।
रागद्वेषादिभिर्दग्धो महादुर्वासनावृतः ॥
षड्भिरूर्मिभिराक्रान्तः षड्विकारैर्विखिद्यते।
मनोरागकषायाद्यैर्व्याकुलः समुपद्रवैः ॥
अन्यैश्च विविधोत्पातैर्दारुणैरतिदुःखितः।
रामनामानुभावेन परानन्दमवाप्नुयात् ॥

'मित्र-द्रोही, कृतघ्न, चोर, विश्वासघाती, पुत्री-गामी, दुष्ट, भ्रातृपत्नीरत, विप्रपत्नीरत, विप्रवित्तापहारक, परनिन्दक, बालघाती, वृद्धहत्याकारी, नारीकी हत्या करनेवाला, सर्व-प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला, मातृगामी, गुरुद्रोही—ये सब राम-नामसे विशुद्ध हो जाते हैं।

'जो मनुष्य महाचिन्ताग्रस्त हो, महान् व्याधिसे व्याकुल हो, ज्वर-अपस्मार-कुष्ठ आदि महारोगोंसे पीड़ित हो, महोत्पात, महारिष्ट एवं महाक्रूर ग्रहोंद्वारा पीड़ित हो, महान् शोकाग्निसे संतप्त हो, सारे समाजसे तिरस्कृत हो, अत्यधिक निन्दनीय, अवलम्बनशून्य हो, महादुर्भाग्यसे दुःखित हो, महादारिद्र्यसे ग्रस्त हो, मनस्तापयुक्त हो, वह भी रामनामके कीर्तनसे सुखी हो जाता है।

'काम-क्रोधसे आतुर, पापी, लोभ-मोह-मदसे अत्यधिक उद्धत, रागद्वेषादिसे दग्ध, महादुर्वासनाओंसे समाच्छन्न, षड् ऊर्मियोंसे* आक्रान्त, षड्विकारों† द्वारा विशेष-रूपसे खिन्न, कष्टप्रद उपद्रवों और रागद्वेषादिसे व्याकुल तथा अन्य विविध भयानक उत्पातोंसे अत्यन्त दुःखित व्यक्ति भी राम-नामके प्रभावसे परमानन्दको प्राप्त होता है।'

नन्दिपुराणमें—

सर्वदा सर्वकालेषु ये च कुर्वन्ति पातकम्।
रामनामजपं कृत्वा यान्ति धाम सनातनम् ॥

'जो लोग सदा-सर्वदा पाप करते हैं, वे राम-नामका जप करके सनातन—चिरस्थायी धाम परम पदको जाते हैं।'

आदित्यपुराणमें—

रामनामजपादेव भासकोऽहं विशेषतः।
तथैव सर्वलोकानां क्रमणे शक्तिमानहम् ॥
नामविश्रम्भहीनानां साधनान्तरकल्पना।
कृता महर्षिभिः सर्वैः परानन्दैकनिष्ठितैः ॥

सूर्यनारायण कहते हैं—'विशेषतः राम-नामका जप करनेके कारण ही मैं जगत्का प्रकाशक हूँ तथा सम्पूर्ण लोकोंमें पर्यटन करनेमें मैं समर्थ हूँ।'

'एकमात्र परमानन्दमें स्थित सारे महर्षिगणने भगवन्नाममें विश्वासहीन लोगोंके लिये अन्य साधनोंकी कल्पना की है।'

आङ्गिरसपुराणमें—

श्रीरामेति मनुष्यो यः समुच्चरति सर्वदा।
जीवन्मुक्तो भवेत्सोऽपि साक्षाद्रामात्मकः सुधीः ॥

'जो मनुष्य सर्वदा श्रीराम-नामका उच्चारण करता है, वह साक्षात् रामात्मक—राममय, सुबुद्धि और जीवन्मुक्त हो जाता है।'

शुकपुराणमें—

यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षिसत्तमः।
जपस्व तन्महामन्त्रं रामनाम रसायनम् ॥

'जिसके प्रभावको सम्यक्रूपसे प्राप्तकर शुकदेवजी श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि हुए हैं, उस रसायनरूप राम-नाम-महामन्त्रका जप करो।'

लघुभागवतमें—

किं तात वेदागमयोगशास्त्रै-
स्तीर्थादिकैरन्यकृतैः प्रयोजनम्।
यद्यात्मनो वाञ्छसि मुक्तिकारणं
श्रीरामरामेति निरन्तरं रट ॥

''हे वत्स! वेदपाठ, आगमोंका अनुशीलन, योगाभ्यास, शास्त्रचर्चा तथा तीर्थसेवन आदि अन्य साधनोंका क्या प्रयोजन? यदि तुम मुक्तिके कारणकी इच्छा करते हो, तो निरन्तर 'श्रीराम-राम'—इस नामकी रटना करो।''

कालिकापुराणमें—

रामेत्यभिहिते देवे परात्मनि निरामये।
असंख्यमखतीर्थानां फलं तेषां भवेद् ध्रुवम् ॥

''निरामय परमात्मा ज्योतिर्मय 'राम' नामका उच्चारण करनेसे नाम लेनेवालोंको निश्चयपूर्वक अगण्य मखों (यज्ञों) तथा तीर्थोंका फल प्राप्त होता है।''

* भूख-प्यास, शोक-मोह और जरा-मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ हैं। † काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये छः विकार हैं।

अन्नका महत्त्व

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी ऐडवोकेट)

सभी प्राणी अन्न खाते हैं और यह समझते हैं कि बिना अन्न खाये हम जीवित नहीं रह सकते। मनुष्य ही क्यों, अन्य प्राणियोंके लिये भी अन्न (आहार) अनिवार्य है; लेकिन अन्नकी महत्तापर सबका ध्यान नहीं जाता। 'अन्न' संस्कृत भाषाका शब्द है, जिसकी व्याख्या निम्न प्रकार है—

अद्यते अत्ति च इति अन्नम्।

इसका अर्थ है कि अन्न सभी प्राणी खाते हैं, साथ ही अन्न भी सभी प्राणियोंको खा जाता है और अन्तमें सबको अपनेमें विलीन कर लेता है। अन्न सब प्राणियोंका भोजन है, इसे हम पूर्ण तरह समझते हैं; किंतु अन्न सबको खाकर अपनेमें विलीन कर लेता है इस बातको हम नहीं समझते। अन्न किस प्रकार सबको खाकर अपनेमें विलीन कर लेता है, यह विचारणीय प्रश्न है। अन्नका उद्गमस्थान पृथ्वी है, पृथ्वीसे ही अन्न उत्पन्न होता है और हमारे मरणोपरान्त हमारी भी अन्तिम गति इस पृथ्वीमें ही होती है। किसी-का शव पृथ्वीमें गाड़ा जाता है और किसीके शवका इसी पृथ्वीपर दाहसंस्कार होता है। इस प्रकार अन्नके उद्गमस्थानमें ही हमारी भी अन्तिम गति होती है। इसके अतिरिक्त एक भाव और भी है। हमारी मृत्युके अन्यान्य कारण भले ही नजर आयें, लेकिन उन कारणोंमें एक कारण हमारे भोजनसे भी सम्बन्ध रखता है, जिसके द्वारा अन्त-समयमें हमारी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार अन्न हमें जिलाता भी है और अन्तमें अन्न हमें खाकर अपनेमें विलीन भी कर लेता है।

उपनिषत्-कालमें अन्नके विषयमें कुछ विचार हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद्में एक मन्त्र है, जिसका भी अर्थ जानना आवश्यक है—

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथ्वीᳪ श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नᳪ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। (२ । २ । १)

भावार्थ इसका यह है कि पृथ्वीका आश्रय लेकर रहनेवाले जो भी प्राणी हैं, वे सब अन्नके द्वारा ही उत्पन्न होते और अन्नसे ही जीते हैं और अन्तमें इस अन्नमें ही विलीन हो जाते हैं। अन्न ही सब भूतोंमें श्रेष्ठ है, अतएव सर्वौषधरूप कहा गया है। जैसे ब्रह्म ही जगत्को उत्पन्न करता, पालता और अन्तमें संहार करता है, ठीक उसी प्रकार अन्न ही सभी प्राणियोंको उत्पन्न करता है, पालता है और अन्तमें संहार करके अपनेमें विलीन कर लेता है। इसलिये अन्नको ब्रह्म ही जानना और मानना आवश्यक है और अन्नकी तुलना ब्रह्मसे की गयी है।

इसी उपनिषद्में एक और भी प्रसङ्ग है—एक बार भृगुऋषिको परमात्माके तत्त्वको जाननेकी उत्कट अभिलाषा हुई और वे अपने पिता वरुणके पास गये। वरुणने भी परमात्माके तत्त्वको जाननेके लिये उन्हें तप करनेको कहा तथा तपके द्वारा भृगुने जो प्रारम्भिक अनुभव किया, वह इस प्रकार है—

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। (३ । २ । १)

इसका भाव भी वैसा ही है, जैसा पहले कहा जा चुका है। भृगुने अन्नको ही ब्रह्म जाना; क्योंकि

अन्नसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अन्नसे ही वे जीते हैं और अन्तमें प्रयाणके समय वे अन्नमें ही प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार ब्रह्मके गुण अन्नके द्वारा प्रकट होते हैं, अतएव अन्नको ब्रह्म ही माना गया है।

इस अन्न-ब्रह्मसे हमारे शरीरका सीधा सम्बन्ध है; किंतु इस सम्बन्धपर हम पूर्णरूपेण विचार नहीं करते। यदि विचार किया जाय कि अन्न-भोजनके द्वारा हमारा ब्रह्मसे सम्बन्ध हो रहा है तो हमारे शारीरिक कर्म सभी भगवन्मय हो जायँ। जब हम भोजन करें हमें यह हृदयंगम करना चाहिये कि हम साक्षात् ईश्वरका प्रसाद पा रहे हैं। इस प्रकारसे अन्न-भोजन करनेवाले एक प्रकारका यज्ञ करते हैं और यज्ञ करनेवालोंके सब पाप छूट जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णका वचन है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३। १३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले पुरुष सब पापोंसे छूट जाते हैं और जो बिना भगवान्को अर्पित किये अपना ही पेट भरते हैं, वे एक प्रकारसे पाप खाते हैं।' इसलिये हमें भगवत्समर्पणके साथ-साथ भगवान्का स्मरण करते हुए अन्नका भोजन करना चाहिये।

भोजनका सम्बन्ध चूँकि हमारे शरीरसे है और शरीरसे ही हमें सारे धर्म-कर्म करने हैं, अतएव भोजन कब कितना और कैसे करना चाहिये ताकि हमारा शरीर नीरोग रहे—इसपर धार्मिक ग्रन्थोंसे लेकर आयुर्वेदके ग्रन्थोंतकमें विस्तृत विवरण है। और हम भोजन ही न करते रहें, अतएव साथ-साथ हमें उपवासकी भी विशेष महत्ता बतलायी गयी है। हमारे शरीरकी जो शक्ति अन्नके पाचनमें व्यय होती है, वही शक्ति उपवासके द्वारा शारीरिक व्याधियोंको दूर करती है और यह बात सर्वसाधारणको सदा स्मरण रखनी चाहिये। जैसे भोजन हमारे शरीरके लिये आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार समय-समयपर उपवासकी भी महत्ता है और इसकी विशेषता वही व्यक्ति ठीक-ठीक अनुभव कर सकता है, जो ऐसा रहन-सहन अपना बनाये रखता है। शास्त्रोंमें मिताहारकी भी बड़ी महिमा कही गयी है—

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुङ्क्ते शिवशुभं प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥

'बहुत रूखा-सूखा नहीं खाना चाहिये। इतना ही नहीं, हमारा आहार मधुर भी होना चाहिये और वह भी उतना खाना चाहिये जिससे हमारे पेटका चौथा अंश खाली रहे। इस प्रकार भोजन करनेवालेका सदा शुभ होता है और वह सदा शरीरसे सुखी रहता है। इसीको मिताहार कहा जाता है, जो यौगिक क्रियाओंमें अत्यन्त आवश्यक माना गया है।'

भोजनसे लेकर अन्यान्य कार्योंतक जो भी हम प्रतिदिन अपने शरीरद्वारा करते हैं, उसका सम्बन्ध भगवान्से बना रहे। इस विषयमें भगवद्गीतामें श्रीकृष्णभगवान्ने स्वयं एक श्लोकमें बतलाया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९। २७)

'जो कुछ तुम करो, जो खाओ, जो भी यज्ञ करो या जो कुछ दान करो, वह सब मुझे अर्पण कर दो।' यह बात अर्जुनके माध्यमसे श्रीकृष्ण हम सभीसे कहते हैं। भाव यह है कि जैसे हमारे शरीरका सीधा सम्बन्ध भगवान्से है, उसी प्रकार हमारी अन्यान्य क्रियाओंका भी सम्बन्ध भगवान्से होते रहना चाहिये। यही वास्तविक यज्ञ और तप है और तभी हम अपनेको भगवन्मय बना सकते हैं।

'श्री भगवन्नाम-कौमुदी'के कुछ निष्कर्ष—२

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क पृष्ठ ८३४से आगे]

प्रश्न यह है कि नाम-संकीर्तन पापक्षयका स्वयं स्वतन्त्र साधन है अथवा किसी श्रेष्ठ साधनका अङ्ग है। अवश्य ही नाम-कीर्तन-महिमाके अर्थवादत्वका निराकरण कर देनेसे इस प्रश्नका उत्तर हो जाता है, तथापि दूसरे आक्षेपोंका निरसन करके अपने सिद्धान्तको अत्यन्त दृढ़ करना भी स्थूणा-निखनन-न्याय*से युक्तियुक्त है।

संगति कैसे लगायी जाय ?

जहाँ मन्वादिप्रणीत स्मृतियों और पुराण-वचनोंमें विरोध प्राप्त हो, वहाँ किस रीतिसे संगति लगानी चाहिये ? उदाहरणार्थ—मन्वादि-स्मृतियोंमें उपदिष्ट एवं पुराणोंमें प्रतिपादित पाप-प्रायश्चित्तोंमें विरोध देखनेमें आता है। ऐसी स्थितिमें क्या दोनोंमें विकल्प है ? अर्थात् पापक्षयके उद्देश्यसे मन्वादिके द्वारा आदिष्ट अथवा पुराणोंके द्वारा उपदिष्ट प्रायश्चित्तोंमेंसे किसी एकको कर लेना चाहिये ? बारह वर्षके व्रत और नामोच्चारणमात्रमें तो महान् अन्तर है। दूसरी व्यवस्था यह हो सकती है कि दोनोंका समुच्चय कर लिया जाय अर्थात् मन्वादिसम्मत प्रायश्चित्त और पुराणादिसम्मत भगवन्नाम-कीर्तन—दोनोंका अनुष्ठान किया जाय, केवल एकसे पाप-क्षय नहीं हो सकता। तीसरी विधि यह हो सकती है कि किसी अधिकारीके लिये नाम-कीर्तन पापक्षयका साधन हो और किसी अधिकारीके लिये मन्वादिप्रोक्त प्रायश्चित्त। इसका नाम 'व्यवस्था' है। इस विधामें अधिकारीका निर्णय अपेक्षित है।

इसमें संदेह नहीं कि भगवन्नामका माहात्म्य-श्रवण सबके लिये नित्यकर्मके समान है। स्मृतियोंके समान इसका मूल भी वेद ही है। इसको वैकल्पिक बना देना अथवा किसी विशेष प्रकारके अधिकारीके लिये निश्चित कर देना, शास्त्रके शब्दोंकी स्वारसिक व्याख्या नहीं है। अतः विकल्प और व्यवस्था—इन दोनोंके द्वारा नाम-संकीर्तनकी सीमाको संकीर्ण बनाना उचित नहीं।

अब रही बात समुच्चयकी अर्थात् इस सिद्धान्तकी कि प्रायश्चित्त और संकीर्तन दोनों मिलकर पापक्षय करते हैं, अलग-अलग नहीं। इस सम्बन्धमें हमारा यह निश्चय है कि नाम-संकीर्तन पापक्षयका निरपेक्ष साधन है। यदि उसे मन्वादिप्रोक्त प्रायश्चित्तोंके सापेक्ष माना जायगा तो पूर्ववत् ज्यों-का-त्यों शास्त्र-वचनोंका स्वारस्य-भङ्ग बना ही रहेगा।

क्या संकीर्तन प्रायश्चित्तका अङ्ग है ?

इसमें संदेह नहीं कि कहीं-कहीं ऐसे वचन मिलते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि नाम-संकीर्तनादिरूप भक्ति प्रायश्चित्तका अङ्ग है। उदाहरणके लिये भागवतमें आये हुए 'नारायणसे पराङ्मुखको प्रायश्चित्त पवित्र नहीं कर सकते', 'नाम-संकीर्तन यज्ञ-यागादिके छिद्र अथवा हीनाङ्गको पूर्ण कर देता है', 'जप-होम आदिको भगवद्भक्ति सफल बनाती है' इत्यादि वचनोंसे सिद्ध होता है कि नाम-संकीर्तन, नाम-स्मरणादि सभी कर्मोंके अङ्ग हैं। प्रायश्चित्त भी कर्मोंके ही अन्तर्गत हैं, अतः नामसंकीर्तन प्रायश्चित्तका अङ्ग होकर ही पापक्षयका अङ्ग है, स्वतन्त्र नहीं। परंतु यह निर्णय न शास्त्र-संगत है और न युक्तियुक्त; अतः हम इस विषयपर विचार प्रारम्भ करते हैं।

* जमीनमें खूँटा गाड़ते समय यह देखनेके लिये कि वह अच्छी तरह धँस गया है, उसे बार-बार उखाड़ा जाता है। इसीको स्थूणानिखनन-न्याय कहते हैं।

भक्ति कर्मकक्षामें नहीं है !

परमार्थ यह है कि भगवद्भक्ति और ब्रह्मविद्या एक कक्षाकी हैं। भगवद्भक्ति कर्मकक्षाकी नहीं है। अतः श्रीमद्भागवत यह सिद्धान्त स्थापित करता है कि कर्मके द्वारा कर्मोंका आत्यन्तिक विनाश नहीं हो सकता, वासना शेष रह जाती है। अतः पुनः पापाचरण होता है। इसलिये कर्मात्मक प्रायश्चित्त अज्ञानी अधिकारीके लिये है। वास्तविक प्रायश्चित्त तो विमर्श ही है। विमर्शके समान ही केवल भक्ति पापराशिका नाश कर देती है। भक्ति चाहे श्रवणरूपा हो, कीर्तनरूपा हो, स्मरणरूपा हो—उसकी शक्ति अनन्त है। उसमें पापके समूल विनाशकी शक्ति है।

अजामिल-सदृश पापी केवल एक बार पुत्रके उद्देश्यसे 'नारायण' नामका उच्चारण करके सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो गया। पापोंका प्रायश्चित्त तो हुआ ही, उसकी बुद्धि भी भगवद्विषया हो गयी। आइये, इस अजामिल-प्रसङ्गके एक सुश्लोकका रसास्वादन कीजिये—

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
संकीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम्।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण इयायमुक्तिम्॥

इस श्लोकमें केवल भगवन्नामोच्चारणको ही सम्पूर्ण पापक्षयका हेतु माना गया है। कितनी विलक्षण वाचोयुक्ति है! 'अलम्' शब्दके साथ 'एतावता' यह तृतीयान्त प्रयोग है। यदि इसका अर्थ भगवन्नामादि-संकीर्तनको पापक्षयके लिये पर्याप्त बताना होता तो एतावत्—अलम् ऐसा प्रथमान्त प्रयोग होता। उसका अभिप्राय होता—इतना ही बस है, पर्याप्त है। 'अलम्' मल्लो मल्लाय। एक पहलवानके लिये दूसरा पहलवान पर्याप्त है। तृतीयान्त प्रयोगका अर्थ है—अलमतिप्रसङ्गेन, अधिक बोलना बंद करो। यहाँ 'अलम्' का अर्थ वारण है।

यह जो भगवान्‌के गुण, कर्म और नामोंका संकीर्तन है, वह मनुष्योंके पापका क्षय करनेके लिये अनावश्यक है। इसके निरन्तर अनुष्ठानकी कोई अपेक्षा नहीं है। पापक्षयमात्र फल तो अत्यन्त तुच्छ है और भगवत्-कीर्तन बहुत बड़ी वस्तु। नन्हा-सा हल चलानेके लिये हाथीको जोतना! अब देखिये इसका विवरण। समग्र जीवन महापापमें लिप्त अजामिल शिथिल वाणीसे 'नारायण' नामक अपने पुत्रको केवल एक बार पुकारकर मुक्त हो गया। उसने भगवान्‌का कीर्तन नहीं किया, वह सावधान भी नहीं था; फिर भी उसके समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति होकर उसे परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्ति हो गयी। पाप तो अनर्थका एक तुच्छ अंश है।

भगवन्नामोच्चारणरूप महादावाग्नि समग्र संसाररूप महावृक्षको समूल जला देती है, एक जीवनमें होनेवाले पाप तो उसके लिये एक तृणके समान भी नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें नामकीर्तन किसी दूसरे साधनके सहयोगसे पापक्षय करता है, ऐसी कल्पना ही भ्रान्तिमूलक है।

भक्ति कर्मसे श्रेष्ठ एवं निरपेक्ष है

भागवतमें कहा गया है कि 'पापी पुरुष तप आदिसे वैसा पवित्र नहीं हो सकता, जैसा अपनी इन्द्रियोंके द्वारा श्रीकृष्णके सेवन एवं श्रीकृष्ण-भक्तोंकी सेवासे होता है।' श्रीकृष्णके सेवनका अर्थ है—श्रीकृष्णमें इन्द्रियोंको लगाना अर्थात् उनका कीर्तनादि करना। और भी स्पष्टम्-स्पष्टम् कथन है कि वेदवादियोंके द्वारा उपदिष्ट व्रतादिरूप प्रायश्चित्तके द्वारा पापीकी वैसी शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवन्नामके उच्चारणसे होती है। तात्पर्य यह है कि कर्मसे होनेवाली शुद्धि और है, भक्तिसे होनेवाली और। यदि दोनों साधनोंमें

अङ्गाङ्गिभाव होता तो ऐसा नहीं हो सकता था; क्योंकि अङ्ग और प्रधानका फल एक ही होता है। विष्णुपुराणमें तपस्या एवं कर्मरूप सभी प्रायश्चित्तोंकी अपेक्षा श्रीकृष्ण-स्मरणको ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। यदि कर्म अङ्गी होता और कीर्तन अङ्ग तो ऐसा कहना युक्तियुक्त न होता; क्योंकि अङ्ग अङ्गीसे श्रेष्ठ कभी नहीं होता। दूसरे स्थानपर वचन मिलता है कि पश्चात्ताप-युक्त पापीके लिये सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित्त केवल एक बार भगवान्‌का स्मरण ही है। जो साधन सजातीय द्वितीय स्मरणको भी सहन नहीं करता, वह विजातीय प्रायश्चित्त-को कैसे सहन करेगा? नरसिंहपुराणमें 'कृष्ण-कृष्ण', 'श्रीनृसिंह' कहने मात्रसे नरक भोगते हुए पापियोंके उद्धार एवं वैकुण्ठ-प्राप्तिका वर्णन है। शिवपुराणमें भी 'हर-हर' एवं 'नमः शिवाय'के उद्घोषको नरककी यातना भोगते हुए प्राणियोंके लिये तत्काल शिवलोक-प्रापक बतलाया गया है। श्रीविष्णुधर्ममें 'विमुक्तान्यसमारम्भः' कहकर नारायण-परायणके लिये अन्य साधनोंके परि-त्यागका उपदेश दिया गया है। वहीं गोविन्द-नामोच्चारणसे क्षत्रबन्धुके द्वारा गोविन्दत्व-प्राप्तिका समुल्लेख मिलता है। यहाँ कीर्तनमात्रसे ही समग्र पापोंका क्षय कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि केवल हरिकीर्तन ही समस्त पापोंके क्षयका साधन है। न उसे कर्मादि किसी अन्य साधनके समुच्चयकी अपेक्षा है और न वह किसी दूसरे साधनका अङ्ग है।

नाम-कीर्तनकी केवलता क्या है?

कारणकी पुष्कलता ही केवलता है। इसीको निरपेक्षता भी कहते हैं। वह कार्यके पूर्व क्षणमें नियत-रूपसे रहता है। इसीको कार्योत्पत्तिकी सामग्री कहते हैं। जिसके बाद अवश्य ही कार्य सम्पन्न हो जाय, वही पुष्कल कारण है। दूसरे साधनकी अपेक्षा रखने-पर वह पुष्कल नहीं है।

यह कारणकी पुष्कलता कहीं एकमें ही होती है, जैसे संयोगका नाशरूप कार्य केवल विभागमें है। कहीं वह दोमें होती है—जैसे स्वर्ग-प्राप्तिरूप कार्यके प्रति पुष्कलता दर्श तथा पौर्णमास दोनोंके ही अपूर्वमें है। कहीं अनेकमें होती है—जैसे घटरूप कार्यके प्रति पुष्कलता डंडा, चाक, चिथड़ा, कुम्हार आदि सभीमें है। जहाँ अनेककी पुष्कलकारणता होती है, वहाँ अपने आश्रयमें मिल-जुलकर होती है; परंतु जहाँ एकमें ही होती है, वहाँ उसीमें सम्पूर्णतया होती है। नामकीर्तनरूपा भक्तिमें पापक्षयकी पुष्कल कारणता विद्यमान है, इसलिये पापक्षयके लिये उसे किसी दूसरेसे मिल-जुलकर रहनेकी आवश्यकता नहीं है।

'आरम्भवादमें अनेक कारण हैं—समवायी, असमवायी, निमित्त कारण, तथा परिणामवाद एवं विवर्तवादमें भी उपादान एवं निमित्त—दो कारण हैं। फिर एकमात्र भक्तिमें ही पुष्कल कारणता क्यों है?' यह प्रश्न उठाया जा सकता है। इसका समाधान यह है कि हमने पापक्षयरूप कार्यका एकमात्र निमित्त-कारण भक्तिको कहा है, उपादान-कारण नहीं। उपादान-कारण तो स्वतः सिद्ध आत्मा है और उसे शास्त्रकी कोई अपेक्षा नहीं है। शबरस्वामीने स्पष्ट कहा है कि 'मुझे किस वस्तुकी प्राप्तिके लिये साधन करना है—यह तो पुरुषको ज्ञात ही रहता है; वह उपाय नहीं जानता, अतः उसे उपायका उपदेश किया जाता है।' 'अकेला निमित्त-कारण निरपेक्ष पुष्कल कारण कैसे हो सकता है? अथवा निमित्त-कारणमात्रसे ही किसी कार्यकी सिद्धि कैसे हो सकती है?'—इस शङ्का-कलङ्क-पङ्कका प्रक्षालन यह है कि प्रकाशके संयोगमात्रसे ही अन्धकार-निवृत्तिका होना सार्वजनिक प्रत्यक्ष है। अतः 'केवलया भक्त्या' इस भागवत-वचनका यह अर्थ है कि मधुसूदनभगवान्‌का एक बार किया हुआ नामोच्चारण ही अशेष-पाप-प्रध्वंसका पुष्कल कारण है—ठीक वैसे ही जैसे गगनाङ्गनमें अवतीर्ण तरणि (सूर्य) तिमिर-पटलका सर्वथा उत्पाटन कर देता है। निष्कर्ष यह है कि भगवन्नाम-कीर्तन

विना किसी अन्य—सहकारके ही पापक्षयका साधन है न किसीका अङ्ग है, न समुच्चित ।

हमारा यह कथन कदापि नहीं है कि मन्वादि-स्मृतियोंमें कथित प्रायश्चित्त पापीको पवित्र नहीं करते; वे पवित्र करते हैं, परंतु सम्यक् पवित्र नहीं करते—**'पुनन्ति किंतु सम्यक् न पुनन्ति'** (अर्थात् भलीभाँति पवित्र नहीं करते) । भलीभाँति कहनेका तात्पर्य यह है कि वे कर्मात्मक प्रायश्चित्त पापक्षय करते हैं, वासना-क्षय नहीं; क्योंकि वासना-क्षय कर्मसाध्य नहीं है । कर्म भगवद्विमुख व्यक्तिपर अपना अधिकार रखते हैं, वासना-नाशतक उनकी पहुँच नहीं है । वासना-नाश तो भक्ति और ज्ञानसे होता है । नारायणभक्त कर्मात्मक प्रायश्चित्तोंमें प्रवृत्त ही नहीं होता; अतः हम यह कहते हैं कि प्रायश्चित्त पापका क्षय तो करते हैं, वासनाका क्षय नहीं ।

इसके साथ ही कर्मसे कर्मका निर्हार होता है अर्थात् कर्मसे कर्म कटते हैं—यह तो ठीक है, परंतु आत्यन्तिक रूपसे नहीं कटते—**'न ह्यात्यन्तिक इष्यते;'** क्योंकि वासनाएँ शेष रह जाती हैं । वे प्रायश्चित्त अभक्त-के लिये हैं । ब्रह्मविद्याके समान ही भक्ति कर्म-निर्हारका आत्यन्तिक साधन है । वासनायुक्त पुरुष कभी पाप करता है, कभी छोड़ता है । उसका प्रायश्चित्त तो गजस्नानके समान है । तप-दान-व्रतादिसे पाप मिटते अवश्य हैं, परंतु शत-शत अधर्मसे बना हृदय शुद्ध नहीं होता । उसके लिये तो भगवद्भक्ति ही है । यद्यपि नवधा भक्तिके सभी अङ्ग अत्यन्त शक्तिशाली हैं और सबमें सब पापोंके मिटानेकी सामर्थ्य है, तथापि यहाँ हम 'भक्ति' शब्दसे केवल कीर्तनरूपा भक्तिको ग्रहण करते हैं । जैसे प्रत्येक गायका सींग पकड़-पकड़कर कोई परिचय दे, वैसे ही श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदिसे भी पृथक्-पृथक् प्रभावका वर्णन पुराणोंमें समुपलब्ध होता है ।

यह विचारणीय है कि जब मनुष्य एक बार पा[पथपर] आरूढ़ हो जाता है, तब पापसे पाप और [पापसे] पापसे पाप—इस प्रकार उसकी अधोगतिकी पर[म्परा] प्रारम्भ हो जाती है अथवा नहीं ? पुरा[णोंमें] **'पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापी'**—ऐसे वचन मिलते हैं [कि] मनुष्य एक बार पाप करता है, फिर पाप करता है[।] परमेश्वर भी पूर्व-पूर्व-कल्पोंकी स्वर्ग-नरक-सृष्टिके सा[थ] पूर्व-पूर्व कल्पोंकी पाप-पुण्य-परम्पराको भी जाग्रत् क[रते] हैं; क्योंकि परम दयालु परमेश्वर कर्म-सापेक्ष हुए [बिना] विषम सृष्टिका निर्माण नहीं कर सकता । वेदा[न्त-] सिद्धान्तमें भी प्राचीन संस्कार आदिकी अपेक्षाको स्वी[कार] करके ही इस मायामयी सृष्टिमें पक्षपात और निर्द[यता-] दोषका समाधान किया जाता है । ऐसी स्थितिमें जीव के[वल] कर्मानुष्ठानके द्वारा पाप-पुण्य और उसके फलकी परम्प[रासे] मुक्त नहीं हो सकता। वह तभी मुक्त हो सकता है,जब परि[पूर्ण] परमेश्वरका अनुधावन करके कर्म-परम्पराके आत्यन्ति[क] नाशक अन्तःकरण-शोधक भगवद्-गुणानुवादका आ[श्रय] ग्रहण करे । क्या ही सुन्दर कहा है—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तसिद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥

अनन्त भगवान्के हृदयमें प्रकट रूपसे विराजमा[न] होनेपर आत्यन्तिक शुद्धिकी प्राप्ति होती है । साथ [ही] हमें यह भी स्वीकार है कि यदि कोई कर्मानुष्ठान का[ल-] समय भगवान्का नामोच्चारण करे तो इससे उसक[ा] गुण बढ़ जाता है, फल बढ़ जाता है । इसमें संदे[ह] नहीं कि भगवान्का नाम जहाँ भी होगा, वहाँ मङ्ग[ल] एवं कल्याणका हेतु ही होगा । हमने तो केवल इत[ना] ही प्रतिपादन किया है कि सम्पूर्ण पुराणोंका परम तात्प[र्य] भगवन्नाम-कीर्तनकी स्वतन्त्र प्रधानतामें है, वह किसीक[ा] **अङ्ग अथवा शेष नहीं है ।**

(क्रमशः)

गीताका भक्तियोग—११

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृष्ठ ८४५से आगे]

सम्बन्ध

सिद्ध भक्तके छः लक्षणोंका निर्देश करनेवाला तीसरा प्रकरण—

श्लोक

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१६॥

भावार्थ

भगवान्‌के प्राप्त होनेपर भक्त पूर्णकाम हो जाता है; अतः उसके मनमें किसी वस्तु-क्रिया-पदार्थकी इच्छा, वासना और स्पृहा नहीं रहती । उसमें स्वतः महान् पवित्रता होती है । वह करने योग्य कार्य कर चुकता है । उसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक होते ही नहीं । किसी कार्यके प्रारम्भमें उसका 'मैं करता हूँ' ऐसा भाव रहता ही नहीं । वर्णाश्रमानुसार कालोचित संसारकी क्रिया करते हुए भी उसका उद्देश्य संसार न रहनेसे वह संसारसे सर्वथा विमुख ही रहता है, एकमात्र भगवान्‌में ही तन्मय रहता है । ऐसा भक्त भगवान्‌को प्यारा होता है ।

अन्वय

यः, अनपेक्षः, शुचिः, दक्षः, उदासीनः, गतव्यथः, सर्वारम्भपरित्यागी, मद्भक्तः, सः, मे, प्रियः ॥ १६ ॥

यः—जो

अनपेक्षः—आकाङ्क्षासे रहित । आवश्यक वस्तुओंकी भी स्पृहा नहीं रखनेवाला भगवद्भक्त भगवान्‌को ही सर्वोत्तम वस्तु मानता है; उससे बढ़कर उसकी दृष्टिमें कोई लाभ नहीं, जिसके लिये वह ललचाये । संसारकी किसी भी वस्तुके प्रति उसका किंचिन्मात्र कभी आकर्षण नहीं रहता । इतना ही नहीं, उसका मन, बुद्धि, शरीरमें भी अपनापन नहीं रहता, वरं वह उनको भगवान्‌के ही मानता है । अतः उसे शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं होती । तब फिर वह और किस बातकी अपेक्षा करे ? अर्थात् किस बातकी इच्छा-वासना-स्पृहा रक्खे ?

कितनी भी बड़ी आपत्ति उसपर आ जाय, तो भी उसके चित्तपर प्रतिकूलताका असर नहीं होता । इसलिये वह किसी प्रकारकी अनुकूलताकी कामना ही नहीं करता । विकट-से-विकट परिस्थितिमें भी वह भगवान्‌की लीला देखकर मुग्ध रहता है ।

भक्तका भाव यह होता है कि नाशवान् पदार्थ तो रहेंगे नहीं, उनका नाश अवश्यम्भावी है और अविनाशी परमात्मासे उसका कभी वियोग होता ही नहीं । अतः वह नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा ही क्यों करे ?

एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि इच्छा करनेसे ही शरीर-निर्वाहके पदार्थ मिलते हों—ऐसी बात भी नहीं है । शरीर-निर्वाहकी अपेक्षित सामग्री स्वतः आती है; क्योंकि भगवान्‌की ओरसे जीवमात्रके शरीर-निर्वाहकी अपेक्षित सामग्रीका प्रबन्ध स्वतः हुआ रहता है । इच्छा करनेसे तो आवश्यक वस्तुओंके आनेमें आड़ ही लगती है; क्योंकि इच्छाको अपने अन्तःकरणमें ही पकड़ लेनेके कारण फैलने नहीं दिया जाता अर्थात् दूसरे पुरुषोंको उस आवश्यकताका अनुभव ही नहीं होने दिया जाता । ऐसा देखा जाता है कि इच्छा न रखनेसे स्वतः दूसरोंके अन्तःकरणमें इच्छा न रखनेवालोंको वस्तु देनेकी प्रेरणा होती है । उदाहरणके लिये विरक्त त्यागी और बालक शरीर-निर्वाहके प्रबन्धकी इच्छा स्वयं नहीं करते तो उनकी आवश्यकताओंका प्रभाव अपने-आप दूसरों-पर पड़ता है, जिसके फलस्वरूप दूसरे स्वतः ही उनके शरीर-निर्वाहका प्रबन्ध करते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छा न करनेसे विना माँगे जीवन-निर्वाहकी वस्तुएँ स्वतः

मिलती हैं । अतः अपेक्षित वस्तुओंकी इच्छा करना केवल मूर्खता और फोकटमें दुःख पाना ही है । सिद्धभक्तको तो अपने कहलानेवाले शरीरकी भी परवा नहीं होती, इसलिये वह सर्वथा निरपेक्ष ही होता है ।

भगवान् दर्शन दें या न दें—भक्तको इसकी भी अपेक्षा नहीं होती । भगवान् दर्शन दें तो आनन्द; न दें तो भी आनन्द है—वह तो अपनी मस्तीमें मस्त रहता है । उसकी मस्तीको देखकर भगवान् उसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं ।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १६)

'जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही मनन-चिन्तनमें तल्लीन रहता है और राग-द्वेष न रखकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं निरन्तर यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूल उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ ।'

भगवान्को छोड़कर किसी वस्तुकी अपेक्षा रखनेवाला भक्त ही कैसे कहा जा सकता है, वह तो उस अपेक्षित वस्तुका ही भक्त है । अवश्य ही यह भगवान्की उदारता है कि अपने (भगवान्)से ही कुछ चाहनेवाले अपने (भगवान्का) भजन करनेवालोंको वे अपना भक्त मान लेते हैं । अतः सच्चा भक्त सर्वथा निःस्पृह होता है ।

शुचिः—बाहर-भीतरसे शुद्ध ।

'शुचिः' पद केवल बाहरकी पवित्रताका ही द्योतक नहीं है । भक्तका शरीर बाहरसे तो पवित्र होता ही है, साथ ही उसका अन्तःकरण भी अत्यन्त पवित्र होता है । ऐसे पवित्र भक्तके स्पर्श, दर्शन, भाषण और चिन्तनसे लोग पवित्र हो जाते हैं । तीर्थ सब लोगोंको पवित्र करते हैं, किंतु भगवान्के भक्त तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं अर्थात् तीर्थ भी उनके चरण-स्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं—

'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥'
(श्रीमद्भा० १ । १३ । १०)

'पवित्राणां पवित्रम्'—पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले भगवान् भक्तोंके हृदयमें निवास करते हैं, इसीलिये भक्त अत्यन्त पवित्र है ।

साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः ।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ९ । ६)

'माता ! जिन्होंने लोक-परलोक, धन-सम्पत्ति और स्त्री-पुत्रकी कामनाका संन्यास कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले परोपकारी सज्जन हैं, वे अपने अङ्गस्पर्शसे तुम्हारे पापोंको नष्ट कर देंगे; क्योंकि उनके हृदयमें अघरूप अघासुरको मारनेवाले भगवान् सर्वदा निवास करते हैं ।

छठे अध्यायके ११वें श्लोकमें **'शुचौ'** पद पवित्र स्थानके लिये, ४१वें श्लोकमें **'शुचीनां'** पद पवित्र पुरुषोंके लिये, तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें, सोलहवें अध्यायके ३रे और ७वें श्लोकोंमें तथा अठारहवें अध्यायके ४२वें श्लोकमें—**'शौचं'** पद बाहर-भीतरकी शुद्धि और पवित्रताके लिये आये हैं, तथा सत्रहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें **'शौचं'** पद शरीरकी शुद्धिके लिये आया है ।

दक्षः—चतुर । जिसने करने योग्य कार्य कर लिया, वही दक्ष है । मानव-जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है । इसीके लिये मनुष्य-शरीर मिला है । अतः जिसने अपना उद्देश्य प्राप्त कर लिया, वही वस्तुतः **'दक्ष'** अर्थात् चतुर है ।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २९ । २२)

'विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें।'

सांसारिक दक्षता अर्थात् चतुराई वास्तवमें चतुराई नहीं है। एक दृष्टिसे तो व्यवहारमें अधिक चतुराईका होना कलङ्क है; क्योंकि जड पदार्थोंका अधिक आदर होनेपर वह मनुष्यका पतन करनेवाली होती है।

अठारहवें अध्यायके ४३ वें श्लोकमें **'दाक्ष्यम्'** पद क्षत्रियके स्वाभाविक धर्मका बोधक है।

उदासीनः—पक्षपातसे रहित। उद्+आसीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ, तटस्थ रहनेवाला, पक्षपातसे रहित।

विवाद करनेवाले दो पुरुषोंके प्रति जिसका सर्वथा तटस्थ भाव है, उसे उदासीन कहा जाता है। यह पद निर्लिप्तताका द्योतक है। जैसे ऊँचे पहाड़पर खड़े हुए पुरुषपर नीचे पृथ्वीपर लगी हुई आगका तथा पृथ्वीपर आयी हुई बाढ़ आदिका कोई असर नहीं होता, वैसे ही किसी भी अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिसे भक्त सदा अलिप्त रहता है।

भक्तका जो हित चाहता है, उसके अनुकूल बर्ताव करता है, वह उसका मित्र समझा जाता है एवं जो मनुष्य भक्तसे वैर करता है, विरोध करता है, वह उसका शत्रु समझा जाता है। इस प्रकार शत्रु-मित्र समझे जानेवाले व्यक्तिके साथ भक्तके बर्तावमें बाहरसे अन्तर प्रतीत हो सकता है, किंतु भक्तके अन्तःकरणमें दोनोंके प्रति यत्किंचित् भी भेदभाव नहीं होता, वह सर्वथा उदासीन अर्थात् अलिप्त रहता है।

चौदहवें अध्यायके २३वें श्लोकमें गुणातीत भक्तको **'उदासीनवत्'** इसलिये बतलाया गया है कि वहाँ अपने स्वरूपके सिवा और किसीकी सत्ता है ही नहीं, तब वह उदासीन किससे हो? उसका बर्ताव अपने शत्रु-मित्र समझे जानेवाले व्यक्तिके प्रति उदासीनका-सा होता है। इसलिये उसे **'उदासीनवत्'** कहा गया है।

भगवान्‌को भी नवें अध्यायके ९वें श्लोकमें जो **'उदासीनवत्'** कहा गया है, उसका भी तात्पर्य यही है कि भगवान्‌के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, तब वे उदासीन किससे होंगे? इसलिये उन्हें **'उदासीनवत्'** अर्थात् उदासीनकी तरह कहा गया।

किंतु यहाँ भगवद्भक्तको **'उदासीनः'** बतलाया गया है। इसका भाव यह है कि भक्तके अन्तःकरणमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता तो है नहीं। उसकी दृष्टिमें प्रकृतिकी सत्ताका सर्वथा अभाव नहीं है; क्योंकि वह प्रकृतिको परमात्माकी मानता है। अतः उसका व्यवहार उदासीन अर्थात् पक्षपातसे रहित होता है। इसलिये उसे **'उदासीनः'** कहा गया।

छठे अध्यायके नवें श्लोकमें **'उदासीन'** पदका प्रयोग इस बातको द्योतित करनेके लिये किया गया है कि सिद्ध कर्मयोगीका उदासीन पुरुषमें समभाव रहता है।

गतव्यथः—दुःखोंसे छूटा हुआ।

जिसके चित्तमें व्यथा कभी होती ही नहीं—कुछ मिले या न मिले, कुछ भी आये या चला जाय, जिसके चित्तपर दुःख-चिन्तारूपी हलचल कभी होती ही नहीं, उस भक्तको यहाँ **'गतव्यथः'** कहा गया है।

यहाँ **'व्यथा'** पद केवल पीड़ा अथवा दुःखका वाचक ही नहीं है। सुखकी प्राप्ति होनेपर भी जो चित्तमें प्रसन्नताकी हलचल होती है, उसका नाम भी **'व्यथा'** ही है। अतः सुख-दुःख दोनोंसे अन्तःकरणमें होनेवाली हलचलके अत्यन्ताभावको ही यहाँ **'गतव्यथः'** पदसे व्यक्त किया गया है।

दूसरे अध्यायके १५वें श्लोकमें **'यं हि न व्यथयन्त्येते'** पदोंसे साधकके व्यथित न होनेकी बात कही गयी है।

ग्यारहवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें **'व्यथिष्ठाः'** पद तथा ४९वें श्लोकमें **'व्यथा'** पद भयके अर्थमें आये हैं।

चौदहवें अध्यायके २२वे श्लोकमें **'व्यथन्ति'** पदका प्रयोग यह बतलानेके लिये किया गया है कि सिद्धपुरुषको जन्म-मरणरूपी व्यथा नहीं होती।

सः—वह।

सर्वारम्भपरित्यागी—सभी आरम्भोंका त्यागी। अर्थात् मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धवश होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्यागी।

सिद्धभक्तको कुछ भी प्राप्तव्य या कर्तव्य न रहनेसे उसका क्रिया करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रहता, किंतु कोई भी मनुष्य क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग नहीं कर सकता (गीता ३। ५ और १८। ११)। भक्तके द्वारा भी शरीर-निर्वाह, भक्तिप्रचार और परहित आदिके लिये क्रियाएँ तो होती हैं; पर भक्तकी यह विशेषता है कि (उसके) मन, वाणी और शरीरके द्वारा क्रियाएँ होते रहनेपर भी वह कर्तापनके अभिमानसे सर्वथा रहित होता है। उसमें राग-द्वेष, कर्तृत्वाभिमान एवं फलासक्तिका सर्वथा अभाव होता है और उसकें द्वारा होती हुई दीखनेवाली क्रियाएँ शुद्ध एवं सुनिष्पन्न होती हैं।

भक्तके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा अहंकार सर्वथा भगवदर्पित रहते हैं। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता अथवा इच्छा नहीं रहती। वह एकमात्र भगवान्‌के हाथका यन्त्र बना रहता है। जैसे यन्त्रमें अपना कोई आग्रह नहीं होता—यन्त्री उसे जैसे भी चलाये, वह तो उसीपर सर्वथा निर्भर रहता है, उसी प्रकार भक्त भी भगवान् उससे जो कुछ कराते हैं, वही करता है—उसका अपना कोई आग्रह नहीं रहता।

वैसे तो सभी मनुष्योंको यन्त्रवत् भगवान् ही चलाते हैं (गीता १८। ६१)। मनुष्य अपने शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें अहंकार, आसक्ति, ममता रहनेसे कर्मोंका स्वयं कर्ता बन जाता है (गीता ३। २७)। इसीलिये वह जन्म-मरणरूपी दुःखको भोगता रहता है। भक्त कर्मोंको अपना नहीं मानता, सर्वथा भगवान्‌के द्वारा ही किये हुए मानता है; इसलिये उसकी क्रियाएँ होती हुई दीखनेपर भी वास्तवमें नहीं होतीं, उसके कर्म अकर्म ही होते हैं।

एक स्थितिमें क्रिया की जाती है, एक स्थितिमें क्रिया होती है और एक स्थितिमें सत्तामात्र रहती है, क्रियाका सर्वथा अभाव होता है। साधारण मनुष्योंका जडताके साथ विशेष सम्बन्ध रहनेसे उनके द्वारा क्रिया की जाती है। साधकका जडताके साथ स्वल्पमात्र सम्बन्ध रहनेसे उसके द्वारा क्रिया होती है। इस स्थितिमें भी, यह माननेपर भी कि भगवत्कृपासे ही साधन हो रहा है, क्रियाएँ हो रही हैं, साधकका साधन तेजीसे बढ़ेगा। पर जहाँ जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है, वहाँ सत्तामात्र है, अर्थात् ज्ञानमार्गीकी स्वरूपमें स्थिति होती है और भक्तिमार्गीकी भगवान्‌में तल्लीनता। वहाँ क्रिया करे कौन ! वहाँ तो स्थिति मात्र है।

मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धवश होनेवाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानके त्यागकी बात गीताजीमें निम्नाङ्कित स्थलोंपर इस प्रकार आयी है—

ज्ञानमार्गी मानता है कि क्रिया होती है प्रकृति और प्रकृतिके कार्योंद्वारा। तीसरे अध्यायके २८वें श्लोकमें **'गुणा गुणेषु वर्तन्ते'** (इन्द्रियरूप गुणकार्योंका विषयरूप गुणकार्योंमें व्यापार हो रहा है)—इन पदोंसे, पाँचवें अध्यायके ९वें श्लोकमें **'इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते'**—इस वाक्यसे तथा १३वें श्लोकमें **'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्'** (आत्मा न तो कुछ करता है और न कुछ कराता है)—इन पदोंसे तथा १४वें श्लोकमें **'स्वभावस्तु प्रवर्तते'** (स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही क्रियाशील है) कहकर, तेरहवें अध्यायके २९वें श्लोकमें

'**प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः**' (कर्म सब-के-सब प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं)—इन पदोंसे और अठारहवें अध्यायके १४वें एवं १५वें श्लोकोंमें कर्मोंके होनेमें पाँच हेतु बताकर इसी बातकी ओर संकेत किया गया है ।

भक्तिमार्गी स्वयं भगवान्‌के समर्पित होकर सम्पूर्ण क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण कर देता है—जैसा कि तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें—'**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा**' तथा पाँचवें अध्यायके १०वें श्लोकमें—'**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः**' पदोंद्वारा कहा गया है ।

कर्मयोगी सम्पूर्ण क्रियाओंको संसारकी सेवामें लगाता है—यहाँतक कि '**अहं**' अर्थात् '**मैं**'पनको भी संसार-की सेवामें लगा देता है । सुतरां उसमें भी कर्तृत्वा-भिमान नहीं रहता—जैसा कि चौथे अध्यायके १९वें श्लोकमें '**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः**' पदोंमें कहा गया है ।

ज्ञानी भक्तकी शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धिरूपी व्यष्टि प्रकृति अहंकार और ममत्वसे रहित होनेके कारण समष्टि प्रकृतिमें मिल जाती है । इसलिये उसकी क्रियाओंमें कर्तृत्व नहीं रहता । प्रारब्धवश उसके शरीर, मन, वाणीसे होनेवाली क्रियाएँ समष्टि प्रकृति-शक्तिसे ही होती रहती हैं । इसलिये उसे भी चौदहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें '**सर्वारम्भपरित्यागी**' कहा गया है ।

समष्टि प्रकृति ही परमात्माकी अध्यक्षतासे सारे संसारका संचालन करती है (गीता ९ । १०) । मनुष्य मन, बुद्धि, इन्द्रिय एवं शरीररूपी प्रकृतिके कार्यों-को अपना मान लेता है, इसीलिये क्रियाओंका कर्ता स्वयं बन जाता है । यद्यपि क्रियाएँ तो सभी समष्टि प्रकृतिके द्वारा ही हो रही हैं, तथापि भूलसे वह स्वयं कर्ता बन जाता है । भक्त अपने कहलानेवाले शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको सर्वथा भगवान्‌के ही मानता है, एकमात्र प्रभुको ही अपना मानता है । अतः समष्टि प्रकृतिरूप जो परमात्माकी शक्ति, संसारका कार्य चलाती है, उसी समष्टि प्रकृतिसे भक्तके अपने कहलाने-वाले मन-इन्द्रिय-शरीरके द्वारा क्रियाएँ होती हैं, अर्थात् भक्तके कार्य भगवान्‌के द्वारा ही संचालित होते हैं । इसीलिये भक्तको '**सर्वारम्भपरित्यागी**' कहा गया है ।

वास्तवमें दोष न तो प्रकृतिमें है और न पुरुष अर्थात् चेतनमें । चेतनका जडके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे ही दोष प्रारम्भ होते हैं । प्रकृतिके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही साधारण मनुष्योंको अपने लिये सांसारिक पदार्थोंकी आवश्यकता प्रतीत होती है, उन पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये कर्म करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और फिर वे कर्म करना आरम्भ कर देते हैं । इधर भक्तका एक-मात्र भगवान्‌के साथ सम्बन्ध रहनेसे उसमें कार्योंका आरम्भ करनेके मूल हेतुका ही अत्यन्त अभाव रहता है । प्रकृतिके साथ सम्बन्ध मानना ही क्रियाओंके आरम्भका मूल हेतु है । इसलिये भक्त '**सर्वारम्भपरित्यागी**' होता है ।

चौथे अध्यायके १९वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ४८वें श्लोकमें '**सर्वारम्भाः**' पद शास्त्रविहित कर्मोंके वाचक हैं ।

मद्भक्तः—मेरा भक्त, मेरा प्रेमी । भगवान्‌में स्वाभाविक ही इतना महान् आकर्षण है कि भक्त स्वतः भगवान्‌की ओर खिंच जाता है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥
(श्रीमद्भा० १ । ७ । १०)

'जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो लोगों-को अपनी ओर खींच लेते हैं ।'

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि भगवान्में इतना आकर्षण है तो सभी मनुष्य भगवान्की ओर क्यों नहीं खिंच जाते और भगवान्के प्रेमी क्यों नहीं हो जाते, भक्त ही भगवान्का प्रेमी क्यों होता है ।

सच्ची बात यह है कि जीव भगवान्का ही अंश है, अतः उसका भगवान्के प्रति स्वतः ही आकर्षण होता है; किंतु जो भगवान् अपने हैं, उन्हें तो उसने अपना माना नहीं और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ शरीरादि अपने हैं नहीं, उन्हें अपना मान लिया । इसीलिये यह शारीरिक निर्वाह और सुखके लिये सांसारिक भोगोंमें आकृष्ट हो गया, और इसीलिये उसकी परमात्मतत्त्वसे विमुखता हो गयी । पर वास्तवमें विमुखता भी हुई नहीं; नाशवान्, क्षणभङ्गुर भोगोंकी ओर आकर्षण होनेसे उसकी परमात्मासे विमुखता दीखती है, वास्तवमें वह भगवान्से दूर नहीं है । जब इन नाशवान् भोगोंकी ओरसे उसका आकर्षण हट जाता है, तब वह स्वतः ही भगवान्की ओर खिंच जाता है। भक्तकी संसारमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेसे उसका भगवान्में अटल प्रेम स्वतः हो जाता है । ऐसे अनन्यप्रेमीको भगवान् **'मद्भक्तः'** कहकर अपना प्रेमी घोषित करते हैं ।

मे—मुझे ।

प्रियः—प्रिय है । जिसकी भगवान्के स्वरूपमें अटल स्थिति है तथा जिसका भगवान्से वियोग कभी होता ही नहीं, वह भक्त भगवान्को प्यारा है ।

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

भगवान्का भरोसा करके शास्त्र एवं महापुरुषोंद्वारा कथित बातोंको काममें लाइये

अपने प्रिय शिष्य सनातनको शिक्षा देते हुए महाप्रभु चैतन्यने भगवान्के स्वभावके सम्बन्धमें कहा है—

भक्तवत्सल कृतज्ञ समर्थ वदान्य···

श्रीकृष्ण भक्तवत्सल हैं । जिस प्रकार माता अपने अबोध शिशुकी करुण पुकार सुनकर दौड़ पड़ती है, धूलसे लथपथ बच्चेके मैलेपनको नहीं देखती, धूल साफ किये बिना ही उसे गोदमें उठा लेती है एवं स्तन्यपान कराकर उसे सान्त्वना प्रदान करती है, उसी प्रकार दयामय भगवान् अपने भक्तकी करुण पुकार सुनकर उसकी ओर दौड़ पड़ते हैं, अत्यन्त अधम भक्तकी असीम पापराशिकी ओर भी नहीं देखते । पाप धोनेके पहले उसे अपनी गोदमें उठा लेते हैं और अपना चरणामृत पान कराकर उसकी त्रिताप-ज्वाला शान्त कर देते हैं । प्रश्न होता है कि 'भक्त होनेपर तो यह बात है ही, किंतु मैं भक्त कहाँ हूँ ? माँ बच्चेकी सच्ची पुकार सुनती है, मैं तो कातरकण्ठसे भगवान्को पुकार भी नहीं सकता । मेरी आवाज ही उनके पास कैसे पहुँचेगी ?' महाप्रभु कहते हैं—'वे कृतज्ञ हैं । अवश्य ही तुम्हारी पुकार सच्ची नहीं है, उसमें इतना बल नहीं है कि अपनी शक्तिसे वह भगवान्को तुम्हारी ओर आकर्षित कर सके; किंतु वे तुम्हारी प्रत्येक चेष्टाको जानते हैं । तुम्हारी क्षीण-से-क्षीण आवाज भी उनके पास पहुँच जाती है। घबराओ नहीं, तुम्हारी यह क्षीण पुकार ही उन्हें बुला लेगी ।' कोई कह सकता है—'भगवान् भक्तवत्सल हैं, कृतज्ञ हैं; किंतु क्या वे मुझ अनधिकारीको मनोवाञ्छित फल दे सकेंगे ?' इसपर महाप्रभु कहते हैं—'वे समर्थ हैं, उनके लिये अधिकारी और अनधिकारीका प्रश्न नहीं बनता ।' एक प्रश्न और उठ सकता है—'भगवान् भक्तवत्सल हैं, कृतज्ञ हैं, समर्थ हैं; किंतु क्या वे मुझ-जैसेपर भी कृपा दरसा सकेंगे ?' इसपर प्रभु कहते हैं—'वे वदान्य हैं ।'

संसारमें देखा जाता है कि एक धनी एक गरीबकी ओर करुणाभरी दृष्टि रखता है, वह उस गरीबकी हालतको भी अच्छी तरह जानता है, उसकी बुरी दशाको दूर करनेमें भी समर्थ है, किंतु कृपणतावश गरीबकी सहायता नहीं करता । पर भगवान् ऐसे नहीं हैं । वे अपना सर्वस्वतक दे डालते हैं । उनका प्रतिदान मामूली नहीं है । शास्त्रका वचन है—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च ।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥

महाप्रभुकी यह शिक्षा ध्यानमें रखनी चाहिये । कोई विश्वास करे चाहे नहीं; किंतु शास्त्रकी, महापुरुषोंकी उक्तियाँ बिल्कुल उसी रूपमें ठीक हैं, जिस रूपमें कही गयी हैं । श्रद्धा नहीं रहनेके कारण ही मनुष्य दुःख उठाता है । श्रद्धा न हो तो भी भगवान्का भरोसा करके शास्त्र एवं महापुरुषोंद्वारा कथित बातोंको काममें लाना चाहिये । वस्तुगुण अन्तमें अपने-आप श्रद्धा उत्पन्न कर देगा ।

भगवान्की कृपासे ही महापुरुषोंकी कृपाका अनुभव होता है

महापुरुषोंकी दया कितनी विशाल होती है, इसका पूर्ण अनुभव तो अन्तःकरणके पूर्णतया शुद्ध हो जानेपर ही होता है । ज्यों-ज्यों मनुष्य भगवान्के राज्यमें प्रवेश करता जाता है, उसका अन्धकार दूर होता जाता है । सूर्यके पूर्णतया उदय होनेपर ही प्रकाशमें स्थित वस्तु साफ दीखती है । इसी प्रकार महापुरुष क्या तत्त्व है, यह बात भगवत्प्राप्ति होनेके बाद ही माल्रम होती है । अतएव महापुरुषोंके प्रति जितनी भी श्रद्धा कर सकें, वह मेरी समझमें थोड़ी ही रहेगी ।

भजन अधिक-से-अधिक हो, इसका पूर्ण ध्यान रखेंगे । नहीं तो आज जो आपका अन्तःकरण ऐसा सुन्दर निर्णय दे रहा है—महापुरुषोंकी दयाका अनुभव करता है—वह कल करना बंद हो जा सकता है । भगवान्की कृपासे ही महापुरुषोंकी कृपाका अनुभव होता है । अतः भगवान्की कृपाका अनुभव बढ़ते जानेके लिये निरन्तर भजन होना चाहिये । महत्कृपा अपने-आप यथोचित समयपर प्रकाशित होती रहेगी ।

महायात्राका सच्चा पाथेय है—भगवद्भजन

उस दिन हठात्········के जीवनका अन्त हो गया । पता नहीं वे इस समय कहाँ होंगे । परंतु इतना तो हम सभीके लिये प्रत्यक्ष है कि यहाँकी किसी भी वस्तुसे अब उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहा । अब वे मात्र इने-गिने अपने कुछ सम्बन्धियोंकी स्मृतिके विषय रह गये हैं । समय इस स्मृतिको भी दूर कर देगा । यही दशा हम सबकी होनेवाली है । यह बिल्कुल निश्चित है कि एक दिन हमारा भी यहाँसे, यहाँसे सम्बन्धित व्यक्तियोंसे, यहाँके कार्य-कलापसे—इतना ही नहीं, यहाँके किसी भी पदार्थसे बिल्कुल ही सम्बन्ध नहीं रहेगा । इस प्रकार यदि हम विचार करें तो वास्तवमें इस जगत्में न तो कोई किसीका मित्र है न कोई किसीका शत्रु है, न कोई अपना है न कोई पराया है । जिसको भगवान्ने जो अभिनय करनेका भार सौंपा है, वह वही कर रहा है । भ्रमवश हमलोग इस खेलके रहस्यको न जानकर दुःख उठा रहे हैं । कोई जान ही नहीं सकता, यह भी एक भगवान्की लीला ही है । हाँ, जिसे भगवान् जनाना चाहते हैं, वही जान पाता है और उसे फिर किसी प्रकारका दुःख नहीं रहता । अनेक महात्माओंने इसका अनुभव किया है और आज भी जो ऊँचे महापुरुष हैं, वे भी ऐसा ही अनुभव करते हैं । प्रश्न होता है—ऐसी स्थितिमें क्या किया जाय ? इसका उत्तर संक्षेपमें यही है कि इस विश्व-प्रपञ्चके सूत्रधार श्रीकृष्णकी शरण ले ली जाय । फिर जो कुछ उचित अभिनय करना होगा, वे करायेंगे और हमलोग उन्हें देख-देखकर मुग्ध होते रहेंगे। सार बात

इतनी ही है कि आप सचमुच जी-जानसे वर्तमान प्रापञ्चिक जगत्‌से मनको हटानेकी चेष्टा करें। यहाँकी अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें कुछ रक्खा नहीं है। आवश्यकता है यावन्मात्र पदार्थोंसे ममता हटाकर भगवान्‌में ममता करनेकी। इसीमें बुद्धिमानी है। स्मरण रक्खें—सबके लिये समय निश्चित हो चुका है, जब कि सबको सब कुछ छोड़कर चला जाना होगा। उस यात्रामें सच्चा पाथेय है—भगवद्भजन। बस, इसको मुख्य कर लें, और सबको गौण।

आप इतना विश्वास कर लें—'जब मैंने कम-से-कम वाणीके ही द्वारा भगवान्‌की शरण ले ली है, तब चिन्ताका पात्र कैसे हो सकता हूँ। अब भगवान् मुझपर दया करके एक दिन अपनी असीम अनुकम्पाका अनुभव अवश्य करा देंगे ही।' जीवनमें बहुत-से नाजुक अवसर आते हैं और मनुष्य विपत्तियोंसे घबराकर भगवान्‌पर विश्वास शिथिल कर लेता है; पर उसके विश्वास शिथिल करनेपर भी जो वस्तुस्थिति है, उसमें थोड़े ही हेर-फेर होगा। आप अच्छी तरह विश्वास कर लें कि जिस प्रकार सूर्यमें यह शक्ति नहीं है कि वह किसीको अन्धकारका दान कर सके, उसी तरह भगवान्‌में यह शक्ति नहीं है कि वे किसीपर अकृपा कर सकें। यह बात विनोदकी-सी है, किंतु भगवत्कृपा-को किसी अंशमें समझनेके उद्देश्यसे लिखी गयी है। दयामयका कोई भी विधान मङ्गलसे रहित हो ही न सकता। मङ्गलमयसे निकली चीज अमङ्गल कैसे सकती है। सम्भव है, आपके सामने लौकिक दृ ऐसी परिस्थितियाँ आ जायँ, जब आपको दर-दर भिखारी बनकर मारा-मारा फिरना पड़े। लेकि भगवान्‌के इस भीषण विधानमें क्या है, जानते हैं अगर समझमें आ जाय तो आपको भी दुःख नहीं होगा देखें, यदि ऐसा हुआ तो यह समझना चाहिये जगन्नियन्ताके पास पहुँचनेमें अब आपको विलम्ब न है। हम देखते हैं—भूलसे मनुष्य अत्यन्त भयान चीजको सुखदायक समझकर उसे पाना चाहता है किंतु दयामयका विधान कुछ ऐसा होता है कि मनु अपने प्रयत्नमें सफल नहीं हो सकता। भगवान् उस तरह अबोध नहीं हैं कि उसे मनचाही वस्तु दे उसका जीवन बर्बाद कर दें। अतएव—'जाही बि राखै राम, ताही बिधि रहिये।' अपना योगक्षेमका जगन्नियन्ताके हाथ सौंपकर सदाके लिये निश्चिन्त हो जाइये। लोगोंकी दृष्टिमें दीन-हीन होनेपर भी शाहंशाह रहेंगे।

एक ही बात

एक ही बात है—नाम-जप करें। अन्तःकरण पवि करनेका, भगवद्दयाकी अनुभूति करनेका इससे सुग और शीघ्रफलप्रद साधन मेरी दृष्टिमें और नहीं है।

धन्य दिन कौन है ?

भाई रे, इन नैनन हरि देखौ।
हरि की भगति, साध की संगति, सोई दिन धनि लेखौ॥
चरन सोइ जे नचत प्रेम सूँ, कर सोई जे पूजा।
सीस सोइ जो नवै साध कूँ, रसना अवर न दूजा॥
यह संसार हाट का लेखा, सब कोइ बनिजहिं आया।
जिन जस लाया तिन तस पाया, मूरख मूल गँवाया॥
आतमराम देह धरि आया, तामें हरि कूँ देखौं।
कहत नामदेव बलि-बलि जैहौं, हरि भजि और न लेखौं॥

—भक्त नामदेवजी

श्रीअरविन्द-शताब्दी-महोत्सवके मङ्गल संदर्भमें श्रीअरविन्द-वाणी

हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप

यह आत्मा ही हमारा स्वतःसिद्ध स्वरूप है। यह हमारे वैयक्तिक जीवनसे बद्ध नहीं। यह सब भूतोंमें एक, सबमें व्यापक, सबमें सम, अपनी अनन्त सत्तासे अखिल विश्वकर्मका धारण करनेवाला है, पर देश-कालकी परिच्छिन्नतासे परिच्छिन्न होनेवाला नहीं, प्रकृति और व्यष्टिके परिवर्तनोंसे परिवर्तित होनेवाला नहीं। जब हमें अपने अंदर इस आत्माके दर्शन होते हैं, जब हमें उसकी शान्ति और स्थिरताका अनुभव होता है, तब हम उसमें संवर्द्धित हो सकते हैं; हमारा अन्तः-पुरुष अभी जो प्रकृतिमें निमज्जित होकर निम्नतर अवस्थामें आसन जमाये बैठा है, उसकी इस अवस्थाको बदलकर हम उसे आत्माके अंदर पुनः प्रतिष्ठित कर सकते हैं। हम यह कर सकते हैं इन वस्तुओंकी शक्तिसे, जो हमें प्राप्त हुई हैं—स्थिरता, समता, निर्विकार निर्व्यक्तिकता। क्योंकि ज्यों-ज्यों हम इन चीजोंको अपने अंदर अधिकाधिक बढ़ाते हैं, अपने अंदर उनकी पूर्णता ले आते हैं और अपनी सारी प्रकृतिको उनके अधीन करने देते हैं, त्यों-त्यों हम इस स्थिर, सम, निर्विकार, नैर्व्यक्तिक, सर्वव्यापक आत्माके स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। हमारी इन्द्रियाँ उसी स्थिरतामें जा पहुँचती हैं और जगत्के स्पर्शोंको महती शान्तिके साथ ग्रहण करती हैं; हमारा मन उसी स्थिरताको प्राप्त होता और शान्त, विराट् साक्षी बन जाता है; हमारा अहंकार इसी नैर्व्यक्तिक सत्तामें विलीन हो जाता है। हम तब सभी चीजें इसी आत्माके अंदर देखते हैं, जो आत्मा हम स्वयं हो गये होते हैं; और हम इस आत्माको सबके अंदर देखते हैं, हम सब भूतोंके साथ उनकी आत्मसत्तामें एकीभूत हो जाते हैं। इस अहंभावशून्य शान्ति और नैर्व्यक्तिकतामें रहते हुए हम जो कर्म करते हैं, वे हमारे कर्म नहीं रह जाते। वे अब अपनी प्रतिक्रियाओंसे हमें किसी भी प्रकारसे न तो बाँध सकते हैं न कोई पीड़ा ही पहुँचा सकते हैं। प्रकृति और उसके गुण अब भी अपने कर्मका जाल बुना करते हैं, पर उनसे हमारी दुःखरहित स्वतःसिद्ध शान्ति भङ्ग नहीं होती। सब कुछ उसी एक सम विराट् ब्रह्मके समर्पित होता है।

परंतु यहाँ दो शङ्काएँ उपस्थित होती हैं। एक यह कि यह शान्त अक्षर आत्मा और प्रकृतिके कर्म, इन दोनोंके बीच एक विरोध प्रतीत होता है। जब हम इस अक्षर आत्मसत्तामें एक बार प्रवेश कर चुके, तब फिर कर्मका अस्तित्व ही कैसे रह सकता है और वह जारी कैसे रह सकता है? उसमें कर्म करनेकी वह इच्छा ही कहाँ है, जिससे हमारी प्रकृतिका कर्म हो सके? यदि हम सांख्यमतके अनुसार यह कहें कि इच्छा प्रकृतिमें होती है, पुरुषमें नहीं, तब भी प्रकृतिमें कर्मके पीछे कोई-न-कोई प्रेरक भाव तो होना ही चाहिये और उसमें वह शक्ति भी होनी ही चाहिये, जिससे वह आत्माको रस, अहंकार और आसक्तिके द्वारा अपने कर्मोंमें खींच सके। और इन चीजोंका आत्मचैतन्यके अंदर प्रतिबिम्बित होना ही जब बंद हो गया, तब प्रकृतिकी वह शक्ति भी जाती रही और उसके साथ-साथ कर्म करनेका प्रेरक भाव भी जाता रहा। परंतु गीता उस मतको स्वीकार नहीं करती, जो मत एक विराट् पुरुषके बजाय अनेक पुरुषोंका होना आवश्यक ठहराता है; क्योंकि यदि ऐसा न माना जाय तो यह बात समझमें न आ सकेगी कि किसी पुरुषकी पृथक् आत्मानुभूति और मोक्ष कैसे सम्भव है, जब कि अन्य लाखों-करोड़ों पुरुष बद्ध ही पड़े हैं। प्रकृति कोई पृथक् तत्त्व नहीं, बल्कि परमेश्वरकी ही शक्ति है, जो विश्वरचनामें प्रवृत्त होती है। परंतु परमेश्वर यदि केवल यही अक्षर पुरुष है और व्यष्टि पुरुष केवल कोई ऐसी चीज, जो उसमेंसे निकलकर उस शक्तिके साथ इस सृष्टिमें आयी है, तो जिस क्षण व्यष्टि-पुरुष लौटकर आत्मामें स्थित होगा, उसी क्षण सारी सृष्टिक्रिया बंद हो जायगी, रह जायगी केवल परम एकता और परम निस्तब्धता। दूसरी बात यह कि यदि किसी अचिन्त्य रूपसे कर्म अब भी जारी रहे तो भी आत्मा जब सब पदार्थोंके लिये सम है, तब कर्म हों या न हों और हों तो चाहे जैसे हों, इससे कुछ भी आता-जाता नहीं। ऐसी अवस्थामें यह भयंकर सत्यानाशी कर्म क्यों—यह रथ, यह युद्ध, यह योद्धा, यह भगवान् सारथि किसलिये?

गीता इसका उत्तर देती है यह बतलाकर कि परमेश्वर अक्षर पुरुषसे भी महान् हैं, अधिक व्यापक हैं, वे साथ-साथ यह आत्मा भी हैं और प्रकृतिमें जो कर्म हो रहे हैं, उनके अधीश्वर भी। परंतु वे प्रकृतिके कर्मोंका संचालन करते हैं अक्षर ब्रह्मकी सनातनी अचलता, समता, कर्म और व्यष्टिभावसे अतीत श्रेष्ठतामें स्थित रहते हुए। यही हम कह सकते हैं कि उनकी सत्ताकी वह स्थिति है, जिसमेंसे वे कर्मसंचालन करते हैं और जैसे-जैसे हम इस स्थितिमें

संवर्द्धित होते हैं वैसे-वैसे हम उन्हींकी सत्ता और दिव्य कर्मोंकी स्थितिको प्राप्त होते हैं। इसी स्थितिसे वे अपनी सत्ताकी प्रकृतिगत इच्छा और शक्तिरूपमें निकल आते हैं, अपने आपको सब भूतोंमें प्रकट करते हैं, जगत्में मनुष्यरूपसे जन्म लेते हैं, सब मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करते हैं, अवताररूपसे अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं (यही मनुष्यके अंदर उनका दिव्य जन्म है) और मनुष्य ज्यों-ज्यों उनकी सत्तामें संवर्द्धित होता है, त्यों-त्यों वह इसी दिव्य जन्मको प्राप्त होता है। कर्म करने होंगे यज्ञके तौरपर उन्हीं प्रभुके लिये जो हमारे कर्मोंके अधीश्वर हैं और अपने-आपको अपने आत्मस्वरूपमें उन्नत करते हुए हमें अपनी सत्ताके अंदर उनके साथ एकत्व लाभ करना होगा और अपने व्यष्टिभावको इस तरह देखना होगा कि यह उन्हींका प्रकृतिमें आंशिक प्राकट्य है। सत्तामें उनके साथ ऐक्य लाभ करनेसे हम जगत्के सब प्राणियोंके साथ एक हो जाते हैं और हम दिव्य कर्म करने लगते हैं—अपने कर्मके तौरपर नहीं, बल्कि लोकसंरक्षण और लोकसंग्रहके लिये हमारे द्वारा होनेवाली उन्हींकी क्रियाके तौरपर।

असलमें करनेकी बात यही है और एक बार जहाँ यह की जा सकी तहाँ जो कोई भी शङ्काएँ अर्जुनके सामने उपस्थित हैं, उन सबका निरसन हो जाता है। प्रश्न फिर हमारे वैयक्तिक कर्मका नहीं रहता; कारण, हमारा व्यक्तित्व जिससे बनता है वह चीज तो फिर केवल इस लौकिक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली और इसलिये गौण हो जाती है। प्रश्न तब रहता है केवल जगत्में हमारे द्वारा भगवदिच्छाके कार्यान्वित होनेका। उसे समझनेके लिये हमें यह जानना होगा कि ये परमेश्वर स्वयं क्या हैं और प्रकृतिके अंदर इनका क्या स्वरूप है, प्रकृतिकी कर्म-परम्परा क्या है और उसका लक्ष्य क्या है और प्रकृतिस्थ पुरुष और इन परमेश्वरके बीच आन्तरिक सम्बन्ध क्या है, ज्ञानयुक्त भक्ति ही जिसकी नींव है।

('गीता-प्रबन्ध'से)

हमारा सनातन धर्म

हमारा धर्म सनातन धर्म है। यह धर्म त्रिविध, त्रिमार्गगामी और त्रिकर्मरत है। हमारा धर्म त्रिविध है। भगवान्ने अन्तरात्मा, मानसिक जगत् और स्थूल जगत्में—इन्हीं तीन धामोंमें प्रकृतिसृष्ट महाशक्तिचालित विश्वके रूपमें अपने आपको प्रकट किया है। इन्हीं तीन धामोंमें उनके साथ युक्त होनेकी चेष्टा करना सनातनधर्मका त्रिविधत्व है। [धर्म] त्रिमार्गगामी है। ज्ञान, भक्ति और कर्म—इन स्वतन्त्र या सम्मिलित उपायोंसे उस युक्तावस्थाको प्राप्त कर सकता है। इन तीन उपायोंसे आत्मशुद्धि भगवान्के साथ युक्त होनेकी इच्छा करना ही सनातन[धर्मकी] त्रिमार्गगामी गति है। हमारा धर्म त्रिकर्मरत है। मनुष्य[की] सभी प्रधान वृत्तियोंमें जो तीन वृत्तियाँ ऊर्ध्वगामिनी, प्राप्ति-बलदायिनी हैं, वे हैं—सत्य, प्रेम और शक्ति। तीन वृत्तियोंके विकासके द्वारा मानवजातिकी क्रमो[न्नति] साधित होती आ रही है। सत्य, प्रेम और शक्तिके त्रिमार्गमें अग्रसर होना ही सनातनधर्मका त्रिकर्म है।

सनातनधर्मके अंदर बहुत-से गौणधर्म निहित हैं। सनात[न धर्मका] अवलम्बन कर महान् और क्षुद्र नाना प्रकारके परिवर्तन[शील] धर्म अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। सभी प्रक[ृत] धर्म-कर्म स्वभाव-सृष्ट होते हैं। सनातनधर्म जगत्के सन[ातन] स्वभावपर आश्रित है और ये नाना प्रकारके धर्म नाना[विध] आधारगत स्वभावके फल हैं। व्यक्तिगत धर्म, जातिगत ध[र्म,] वर्णाश्रितधर्म, युगधर्म इत्यादि नाना प्रकारके धर्म हैं। [वे] अनित्य होनेके कारण ही उपेक्षणीय या वर्जनीय नहीं बल्कि इन्हीं अनित्य परिवर्तनशील धर्मोंके द्वारा सना[तन] धर्म विकसित और अनुष्ठित होता है। व्यक्ति-धर्म, [जाति-]धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युगधर्म इत्यादिका परित्याग क[रनेसे] सनातनधर्मकी पुष्टि नहीं होती, बल्कि अधर्मकी ही [वृद्धि] होती है तथा गीतामें जिसे संकर कहा गया है—सना[तन] प्रणालीका भङ्ग और क्रमोन्नतिके विपरीत गति, वह वसुं[धरा]को पाप और अत्याचारसे दग्ध करता है। जब उस पाप [और] अत्याचारकी अतिरिक्त मात्रासे मनुष्यकी उन्नतिकी विरो[धी] धर्मनाशिनी आसुरिक शक्तियाँ वर्द्धित और बलशाली [हो] स्वार्थ, क्रूरता और अहंकारसे दसों दिशाओंको आच्छ[न्न] कर देती हैं, जगत्में अनीश्वर ईश्वरका रूप ग्रहण करना आर[म्भ] करता है, तब भारार्त्त पृथ्वीका दुःख कम करनेके लि[ये] भगवान्के अवतार या विभूति मानव-शरीरमें प्रकट हो[कर] पुनः धर्मपथको निष्कण्टक बनाते हैं।

सनातनधर्मका ठीक-ठीक पालन करनेके लिये व्यक्ति[गतधर्म,] जातिगतधर्म, वर्णाश्रितधर्म और युगधर्म[का] आचरण सर्वदा रक्षणीय है। परंतु इन नानाविध धर्मोंके [क्षुद्र] और महान् दोनों प्रकारके रूप हैं। महान् धर्मके साथ [क्षुद्र]

धर्मको मिलाकर और संशोधितकर उसका पालन करना श्रेयस्कर है। व्यक्तिगतधर्मको जातिधर्मके क्रोडमें रखकर उसका आचरण नहीं करनेसे जाति नष्ट हो जाती है एवं जातिधर्मके लुप्त हो जानेसे व्यक्तिगत धर्मका क्षेत्र और सुयोग नष्ट हो जाता है। यह भी धर्मसंकर है—जिस धर्मसंकरके प्रभावसे जाति और संकरकारीगण दोनों तलहीन नरकमें निमग्न होते हैं। सबसे पहले जातिकी रक्षा करनी चाहिये, तभी व्यक्तिकी आध्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उन्नति निरापद बनायी जा सकती है। वर्णाश्रित धर्मको भी युगधर्मके साँचेमें ढालकर यदि उसे गठित न किया जाय तो महान् युगधर्मके प्रतिकूल गतिसे वर्णाश्रित धर्म चूर्ण-विचूर्ण और नष्ट हो जाता है और उसके फलस्वरूप समाज भी चूर-चूर और नष्ट हो जाता है। क्षुद्र सदा ही महान्‌का अंश या सहायक होता है, इस सम्बन्धकी विपरीत अवस्थामें धर्मसंकरसम्भूत घोर अनिष्ट होता है, क्षुद्र धर्म और महान् धर्मके बीच विरोध होनेपर क्षुद्र धर्मका परित्याग कर महान् धर्मका आचरण करना ही मङ्गलप्रद होता है।

हमारा उद्देश्य है सनातनधर्मका प्रचार करना और सनातनधर्माश्रित जातिधर्म और युगधर्मका अनुष्ठान करना। हम भारतवासी आर्यजातिके वंशधर हैं, आर्यशिक्षा और आर्यनीतिके अधिकारी हैं। यह आर्यभाव ही हमारा कुलधर्म और जातिधर्म है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्यशिक्षाके मूल तत्त्व हैं तथा ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति, विनय आर्यचरित्रके लक्षण हैं। मानवजातिको ज्ञान प्रदान करना, जगत्‌में उन्नत उदार चरित्रका निष्कलङ्क आदर्श रखना, दुर्बलकी रक्षा करना, प्रबल अत्याचारीको दण्ड देना आर्यजातिके जीवनका उद्देश्य है। उसी उद्देश्यको सिद्ध करनेमें उसके धर्मकी चरितार्थता है। हम धर्मभ्रष्ट, लक्ष्यभ्रष्ट, धर्मसंकर होकर और भ्रान्तिसंकुल तामसिक मोहमें पड़कर आर्यशिक्षा और आर्यनीतिसे रहित हो गये हैं। हम आर्य होकर शूद्रत्व और शूद्रधर्मस्वरूप दासत्वको अङ्गीकार कर जगत्‌में हेय, प्रबल-पद-दलित और दुःख-परम्पराप्रपीड़ित हो रहे हैं। अतएव यदि हमें जीवित रहना हो, यदि अनन्त नरकसे मुक्त होनेकी लेशमात्र भी अभिलाषा हो तो अपनी जातिकी रक्षा करना हमारा प्रथम कर्तव्य है और जातिरक्षाका उपाय है आर्यचरित्रको पुनः अपने अंदर गठित करना। हमारा पहला उद्देश्य है अपनी समस्त जातिको, विशेषकर युवकसम्प्रदायको ऐसी उपयुक्त शिक्षा, उच्च आदर्श और आर्यभावोद्दीपक कार्य-प्रणाली देना, जिससे जननी-जन्मभूमिकी भावी संतान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मानव-प्रेमपूर्ण, भ्रातृभावके भावुक, साहसी, शक्तिमान् और विनीत हों। जबतक हम इस कार्यमें सफल नहीं होते, तबतक सनातनधर्मका प्रचार करना केवल ऊसर क्षेत्रमें बीज बोनेके समान है।

जातिधर्मका पालन करनेसे युगधर्मकी सेवा करना सहज हो जाता । यह युग शक्ति और प्रेमका युग है। जब कलिका आरम्भ होता है, तब ज्ञान और कर्म भक्तिके अधीन और सहायक होकर अपनी-अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करते हैं। सत्य और शक्ति प्रेमका आश्रय लेकर मानवजातिके अंदरप्रेमका विकास करनेकी चेष्टा करते हैं। कलियुगमें सनातनधर्म मैत्री, कर्म, भक्ति, प्रेम, साम्य और भ्रातृ-भावकी सहायता लेकर मनुष्य-जातिका कल्याण साधित करता है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्मके द्वारा गठित आर्यधर्ममें ये ही शक्तियाँ प्रविष्ट और विकसित होकर प्रसारित होने और अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेका मार्ग खोज रही हैं। शक्ति-स्फुरणके लक्षण हैं—कठिन तपस्या, उच्चाकाङ्क्षा और महत्कर्म। जब यह जाति तपस्वी, उच्चाकांक्षी, महत्कर्मप्रयासी होगी, तब यह समझा जायगा कि जगत्‌की उन्नतिके दिन आरम्भ हो गये हैं। धर्मविरोधिनी आसुरी शक्तियोंका ह्रास और दैवशक्तियोंका पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है। अतएव इस प्रकारकी शिक्षा भी वर्तमान समयके लिये आवश्यक है।

युगधर्म और जातिधर्मके साधित होनेपर सारे जगत्‌में सनातनधर्म अबाधरूपसे प्रचारित और अनुष्ठित होगा। पूर्वकालसे विधाताने जो निर्दिष्ट किया है, जिसके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें भविष्यवाणी की गयी है, वह भी कार्यमें अनुभूत होगा। समस्त जगत् आर्यदेशसम्भूत ब्रह्मज्ञानियोंके पास ज्ञान-धर्मका शिक्षार्थी बनकर, भारतभूमिको तीर्थ मानकर, अवनत-मस्तक होकर इसका प्राधान्य स्वीकार करेगा। उसी दिनको ले आनेके लिये भारतवासियोंका जागरण हो रहा है, आर्यभावका पुनरुत्थान हो रहा है।

('धर्म और जातीयता'से)

सङ्गात् संजायते कामः

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

गीता भगवद्वाणी है। वह जीव, प्रकृति और भगवत्स्वरूपकी व्याख्या करती है। उसमें सनातन तत्त्व भरे पड़े हैं—ऐसे सत्य, जो कालजयी हैं, युगानुभूत हैं और जिनका जैसे संत और साधकके लिये उपयोग है, उसी प्रकार आजके दिग्भ्रमित, एक भोगवाही सभ्यताकी धारामें डूबते सामान्य मानवके लिये भी है।

आजकी सभ्यता कामनाओंकी सभ्यता है। कामनाओंमें स्वभावतः भोगकी वृत्ति होती है। कामनाएँ अनन्त हैं, एक-से अनेक उत्पन्न होती हैं; इसलिये जो उनके शैवाल-जालमें फँस जाता है, वह कभी तटतक नहीं पहुँचता, सदा बहता ही रहता है। वह बालपनमें बहता है, यौवनमें प्रखर धारमें बहता है और बूढ़ा होकर भी बहता है और बहते-बहते ही चुक जाता है। कामनाओंकी जिह्वा उसे चाट-कर समाप्त कर देती है। भोग समाप्त नहीं होता, भोगी समाप्त हो जाता है।

परंतु कोई भी आज इसे सुनने-समझनेको तैयार नहीं है। आजकी पत्र-पत्रिकाएँ, आजका साहित्य, आजका समाज, आजकी राजनीति, आजका समस्त परिवेश कामनाके विजय-गानसे गुञ्जित हैं। अभी भोगो, आगेकी मत सोचो,—यह है आजके चिन्तनका स्वर। 'इस पार, जहाँ तुम हो, मधु है; उस पार न जाने क्या होगा ?'

× × ×

कहीं भी नियन्त्रणकी वाणी नहीं है, सर्वत्र भोगोंके लिये अधिकाधिक निर्बन्धपूर्ण माँग है। स्त्री इस भोगका केन्द्रबिन्दु बन गयी है। पता नहीं, भारतीय नारी क्या चाहती है; परंतु जो उसके नामपर बोलते हैं या बोलती हैं, उन सबकी युगोंसे सुननेमें चली आयी, रटी-रटायी शिकायत है कि नारी युगोंसे शृङ्खलाबद्ध है और उसे सब शृङ्खलाएँ तोड़ देनी चाहिये। अब तो यह नारा भी पुराना हो चुका; नया नारा है—सेक्सके फ्रीडमका, यौन-स्वातन्त्र्यका। पत्रिकाओं-के आवरण-पृष्ठ, परिधानकी शत-शत भङ्गिमाएँ, दुकानोंकी सजावट, साहित्यकी मंडी, भगवान्के नामपर होनेवाले भजन-कीर्तन सर्वत्र, कहीं दबा-दबा, कहीं खुला, कामनाका यही नर्तन और उसके नूपुरोंकी उन्मद ध्वनि सुनायी पड़ती है। सर्वत्र नारीत्वका भयंकर अपमान है; क्योंकि वही है इस कामना-नर्त्तनकी नटी। उसे शिकायत थी है—शृङ्खलाबद्ध होनेकी; किंतु मुखरित कामना[...] इन्द्रजालमें फँसी इस नारीको इतनी छोटी-सी बात सम[...] नहीं आती कि इस यौन-स्वातन्त्र्यके नाटकमें सबसे अ[...] घाटा उसे ही उठाना है और पुरुषकी यौन-कामनाओं[...] उत्तेजित एवं प्रलुब्ध करनेमें वह पुरुषके ही हाथमें खे[...] है, फलतः स्वतन्त्र होनेके नामपर वह और पर[...] होती जाती है। स्वतन्त्रताके साथ आत्मनियन्त्र[...] शर्त्त लगी है; जो अपनेपर नियन्त्रण नहीं रख सकता, [...] सच्चे अर्थोंमें कभी स्वतन्त्र नहीं हो सकेगा; कभी एक[...] कभी दूसरेके हाथमें खेलना ही उसकी नियति है।

आश्चर्य तो यह है कि जो पत्रिकाएँ नारीके अर्द्ध[...] चित्र छापती हैं, यौन-सुखके आकर्षणकी कविताएँ [...] कहानियाँ छापती हैं, वे ही आधुनिकाओंमें अधिक लोकप्रि[...] हैं। क्या किसी नारीके गौरवको इस प्रकारके प्रदर्शन [...] नहीं पहुँचाते ? क्या कोई नारी अपने गौरवपर, अ[...] गरिमा और महिमापर इस प्रकारके अनधिकार-प्रवेश[...] अनुभव करती है ? क्या ऐसी पत्रिकाओं या पुस्तकों[...] बहिष्कार करनेका यत्न कभी हुआ है ? हमारी आ[...] इतनी दुर्बल हो गयी है कि आज नारी हर जगह बि[...] रही है—विज्ञापनोंमें, पोस्टरोंमें, दुकानोंमें, सिनेमा[...] पर्देपर; किंतु सब हैरतमें हैं, बस, चुपचाप देख रहे हैं। को[...] बोलता नहीं, विरोध तो क्या करेगा ?

× × ×

कामनाओंके भूतको जगा देना सरल है, किंतु उ[...] वशमें रखना बहुत कठिन है। हमारे महाकाव्य और ध[...] ग्रन्थ शत-शत उदाहरणोंसे भरे हुए हैं। साधक, संत, योगी[...] यति, ऋषि और संन्यासी उसकी एक ठोकरमें जन्म-जन्म[...] साधनासे गिर गये हैं। महाभारत तथा पुराणोंमें—यहाँत[...] कि उपनिषद्में भी वासना-नटीके नर्त्तन और उसके प[...] प्रहारके आगे बड़ों-बड़ोंको विमोहित होते और गिरते देख[...] हूँ। आँख खोलकर देखनेपर प्रत्येक जागरूक मानव अ[...] इर्द-गिर्द अनेक ऐसे उदाहरण देख सकता है, जिसमें कि[...] नारीको बहिन बनाकर रखनेवाला, किसीको माँ कह[...] और माननेवाला, किसीको बेटी कहनेवाला निरन्तर[...]

सम्पर्कसे नरकमें गिर गया है । मैं एक ब्रह्मचारी-को जानता हूँ, जिनका पूर्वजीवन त्याग और साधना, कष्ट-सहन एवं तपस्याका जीवन था; उन्हें देखकर ही लगता था कि तपस्याका ज्वलंत अङ्गार हैं । धीरे-धीरे उनका नाम फैला, भावुक एवं अतृप्त नारियोंकी भीड़ लगने लगी। अङ्गार बुझ गया । निराहार-व्रत और तपस्यासे क्षीण देहमें संसर्ग एवं स्पर्शसे कामनाओंके अङ्कुर फूटे, स्वाद आया—जिह्वाका स्वाद, स्पर्शका स्वाद, बुभुक्षित आँखोंकी तृप्ति-का स्वाद और ब्रह्मचारी महन्त हो गया—क्षीण देह स्थूल हो गयी । अब भी वे उपदेश करते हैं, किंतु शब्द खोखले हो गये हैं । वाणीसे अर्थका लोप हो गया है ।

कामना मायारूपिणी है । नाना वेश धरती है । तरह-तरहसे रिझाती है । उर्वशी और मेनका शत-शत रूपोंमें जीवित हैं । तभी संतोंने अनुभवके स्वरमें गाया था—'माया महा ठगिनि हम जानी ।' इसका पथ मधुऋतुके गन्ध-मदिर फूलोंसे लदा हुआ है—ऐसे फूल, जिनको कुचलकर पार चले जानेका साहस प्रभुकी महती कृपासे ही प्राप्त होता है । साधनाकी अवस्थामें इसका बार-बार आक्रमण होता है । मेरे एक मित्र कल आये । वे आधुनिक विचार-धाराके आदमी हैं । बात चली और मैंने जो नियन्त्रणकी बात कही, तो वे उत्तेजित हो गये और प्राचीन कालसे आजतकके उदाहरण दे-देकर लगे हमारी पोल खोलने । 'ये हैं तुम्हारे आश्रम, ये हैं तुम्हारे तीर्थ । तुम ढककर वही सब करते हो, तुम लोग चोर हो, हम उन्हीं बातोंको करनेपर तुम्हारे लिये निम्नकोटिके हैं । वह देखो, फलाने बाबाजीको । उनके सम्पर्कमें आनेवाली श्रद्धालु स्त्रियोंको । उस आश्रमका यह हाल है । धर्मकी आड़में कैसा नग्न बीभत्स काण्ड है । और तुम हो कि उसी ओरसे बोलते हो ।'

जितने उदाहरण उन्होंने दिये, उनसे अधिक मैं दे सकता हूँ । हमारे देशकी सभ्यतामें इस प्रकारके अनुभवोंके सहस्र-सहस्र उदाहरण हैं । कदाचित् इन्हीं अनुभवोंके प्रकाशमें साधकको प्रमदा-संसर्गसे दूर रहने और शरीर तथा मनपर नियन्त्रण रखनेकी शिक्षा दी गयी थी । गृहस्थके लिये भी स्वपत्नीके सिवा नारी-मात्रका वर्जन इसीलिये किया गया था और स्वपत्नीके साथ भी शरीर-साहचर्यकी सीमा बाँध दी गयी थी । यही नहीं, नारीका बाह्य सम्पर्क कम करनेके लिये ही विवाहिताको पतिमें देवत्व तथा उपासनाके अन्य फल उपलब्ध करनेको कहा गया था । अनेक धर्मग्रन्थोंमें जो यह कहा गया है कि विवाहिता पत्नी-को किसी रूपमें भी पर-पुरुष (भले वह गुरु हो, साधु हो) के सम्पर्कसे दूर रहना चाहिये, उसके पीछे ऐसे ही उदाहरणोंकी अनुभव-वाणी है । केवल दृष्टि और समझकी बात है । कभी बन्धन और नियन्त्रण भी हितकारी होता है और कभी स्वतन्त्रता विनाशकी ओर ले जाती है । मुख्य बात है जीवनमें शान्ति और सुख पानेकी । और यह निश्चित है कि जीवनकी प्रणाली और परिवेश जितना ही सरल होगा, उतना ही सुख सहज होगा और जीवन जितना ही जटिल, उलझा हुआ होगा, सुख-शान्ति उतनी ही दूर होगी । भारतीय नारीने किसी समय इसे समझा था और वह अपने बन्धन और नियन्त्रणमें भी महिमामयी थी; वह समर्पण करके भी पुरुषपर शासन करती थी । वह अपने घरकी स्वामिनी थी, दासी नहीं । दासी वह तभी हुई, जब उसने स्वरूप-बोधको विस्मृत कर दिया, जब वह अपने-को भूल गयी ।

× × ×

हाँ, तो बात चली थी गीताकी इस भगवद्वाणीसे कि सङ्गसे ही कामकी, कामनाकी उत्पत्ति होती है और यह उत्पत्ति इतने धीरे-धीरे होती है कि आदमी स्वयं कुछ समझ नहीं पाता कि वह जा कहाँ रहा है । उसे होश तब होता है, जब वह बहुत दूर निकल जाता है और चाहकर भी प्रत्यावर्त्तन नहीं कर पाता । पहले घटनावश किसी स्त्रीसे भेंट होती है । बात मामूली है । किंतु न जाने क्यों उसकी स्मृति मनको कुरेदती रहती है । वह स्त्री बार-बार मनमें आती है, फिर उसे अधिकाधिक देखनेकी इच्छा होती है । जितना देखते हैं, और देखनेका मन करता है । कामना-का रथ आगे चलता है । उसके निकट होने, उससे बात-चीत करनेका मन होता है । फिर एकान्त-मिलनकी, किसी बहानेसे एकत्र होनेकी इच्छा होती है । अब बिना देखे, बिना बात किये एक प्रकारकी बेचैनी रहने लगती है । यही है सर्वनाशके राजपथपर लगा मीलका पत्थर । जहाँ मनमें अशान्ति आयी, समझ लो कि तुम मृत्युके पथपर हो । अब अपनेपर तुम्हारा वश समाप्त हो रहा है । यदि बचना चाहते हो तो उस सम्बन्धको एक झटकेमें तोड़ दो, वहाँ-से भाग खड़े हो—दूर चले जाओ; नहीं तो कामना अपने शत-शत फंदोंमें तुम्हें जकड़ लेगी । जरा भी तरह न

दो अपनेको । आसङ्ग—लिप्साको तोड़े बिना कामना टूटेगी नहीं।

मेरी बात सुनकर लोग हँस देते हैं, कहते हैं—यह जीवनसे दूरकी बात है, इस सागरमें यह नहीं हो सकता। मैं कहता हूँ कि जो मैं कहता हूँ, वही जीवनका राजमार्ग है। अपनेको धोका न दो। आज जब नगरकी हाट-बाटमें, चौराहोंपर चलते हुए पथकी हर मोड़पर कामनाकी अग्नि प्रज्वलित करनेवाली सामग्री बिखरी हुई है; जब सहस्र-सहस्र भ्रू-भङ्गिमाएँ और शृङ्गार-विधाएँ हमसे टकराती हैं और हमारे यौवनको, हमारे जीवनको संस्कारभ्रष्ट करनेके लिये तत्पर हैं, तब हमें अपनी रक्षा, अपने स्वरूपके प्रति अधिक जागरूक होनेकी आवश्यकता है। आ सामाजिक जीवनका जो परिवेश है, उसमें यह तो सम्भव नहीं कि परायी स्त्रीसे परिचय, सम्भाषण और सम्पर्क न हो; वह तो अब स्वाभाविक हो गया है। किंतु परिचय, सम्भाषण और सम्पर्क अत्यन्त निजी और एकान्त होनेकी अभिलाषा न हो, इतना ही आवश्यक है।

जीवनकी कुञ्ज-गलियाँ हों या राज-पथ, सर्वत्र चलते हुए गीताकी चेतावनी याद रक्खो—

सङ्गात् संजायते कामः ।

संसारका स्वरूप

(लेखक—स्वामीजी श्रीहरिनामदासजी वेदान्ती)

'मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥'

हिंदी एवं संस्कृत साहित्यमें उपलब्ध होनेवाले ग्रन्थोंमें संसारको रोग, सागर, कूप, बन्धन इत्यादि शब्दोंद्वारा निर्देश किया गया है, यथा—**'भवरोगवैद्यम्' 'भवसागर चह पार जो पावा,' 'ते न परहिं भव कूपा', 'भव-बन्धन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।'** —इत्यादि। यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि वह कौन-सा संसार है, जिसका उक्त नामोंसे निर्देश किया गया है। यदि 'संसार' शब्दसे ईश्वर-निर्मित इस दृश्यमान जगत्का तात्पर्य लिया जाय तो एक व्यक्तिका भवरोग निवृत्त होनेपर या उसके लिये भव-सागरके सूख जानेपर अथवा किसी एक व्यक्तिके भव-बन्धनसे छूट जानेपर प्राणीमात्रके लिये संसारकी समाप्ति हो जानेसे सभी जीवोंको एक ही कालमें मुक्त हो जाना चाहिये। परंतु यह होता नहीं, इसलिये संसारको दो प्रकारका मानना पड़ेगा—(१) ईश्वरकृत और (२) जीवकृत। जीवद्वारा निर्मित संसार प्रत्येक प्राणीका अपना-अपना अलग है। इसी जीवकृत संसारको मिथ्या कहा गया है—

यथा—

यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।

'जिन भगवान् श्रीरामकी सत्तासे यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार सत्य भासता है, जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।*

तथा—**'झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग, संत कहंत, जो अंत लहा है।'**

ईश्वरकृत समष्टि-व्यष्टिरूप परिवर्तनशील जगत्को ऋषियोंने सत्य माना है—

यथा—**'इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते'** (यह जगत् सत्य है, यह सत्य है, इसे यहाँ सत्य कहा जाता है।)

'रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात्किंचिन्न विद्यते।'

'राम ही सत्य वस्तु, परब्रह्म है; रामसे भिन्न कुछ नहीं है।'

तस्माद्रामस्य रूपं हि सत्यं सत्यमिदं जगत्।

(सनत्कुमारसंहिता)

'अतः यह जगत्, जो रामका रूप है, सत्य है, निश्चय ही सत्य है।'

इसलिये ईश्वरकृत जगत्का मिथ्या-रूपमें अथवा रोगादिके रूपमें निर्देश नहीं कर सकते।

* ब्रह्म सत्य है, जगत् झूठा है।

जीवकृत संसार क्या है, इसका स्पष्टीकरण श्रीव्यासजीने महाभारतमें किया है। द्वादशवर्षीय वनवासके समय यक्ष (श्रीधर्मराज) के—

'को मोदते किमाश्चर्यं कः पन्था का च वार्तिका।'
(३ । ३१३ । ११४)

'समाचार क्या है ? अचम्भा क्या है ? मार्ग कौन-सा है और सुखी कौन है ?'

इन चार प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महाराज युधिष्ठिर-जीने 'का वार्तिका'—इस प्रश्नके उत्तररूपमें बताया—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥
(वही, ३ । ३१३ । ११८)

'इस मोहमय संसाररूप कड़ाहेमें सूर्यरूप अग्निसे उसमें अहोरात्ररूपी ईंधन डालकर ऋतु और मास-रूपी कलछुलासे चलाते हुए कालरूपी रसोइया प्राणियों-को पकाता—उनका संहार करता रहता है, यही वार्ता (समाचार) है।'

तात्पर्य यह है कि जीवका मोह (अज्ञान) ही संसार है।

श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें मानस-रोगोंका निरूपण करते हुए कवि-सम्राट् पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने बताया है—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तेहि तें पुनि उपजहिं बहु सूला॥

और मोहका कारण है—अज्ञानमूलक सम्बन्ध; बिना सम्बन्धके मोह नहीं होता।

'यावद्यस्य हि सम्बन्धो ममत्वं तावदेव हि।'

'जिसका जितनी दूरतक सम्बन्ध है, उतनी दूरतक उसके ममत्वकी भावना रहती है और जिसके प्रति मेरापन है, उसीके प्रति मोह है।'

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया॥

श्रीमद्भागवतमें भी श्रीशुकदेवजीने लिखा है—

क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः।
कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम्॥*
(८ । १६ । १९)

सम्बन्ध जोड़कर अपना मानना ही संसार बनाना है। यही बन्धन या भवरोग है। शास्त्र कहते हैं—

द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥

'ममताशून्यता और ममता—ये ही क्रमशः मोक्ष और बन्धनके कारण हैं। ममता करनेसे जीव बँध जाता है और ममताका त्याग करनेसे बन्धनमुक्त होता है। श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्धमें श्रीपरीक्षित्‌जीके प्रश्न-पर भगवद्यशोगानको भवरोगकी औषध बताते हुए श्रीशुकदेवजीने कहा है—

'भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।' (१० । १ । ४)

इसी प्रकार सत्सङ्गकी महिमाका वर्णन करते हुए श्रीव्यासजीने लिखा है—

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्संगमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥
(भागवतमा० २ । ७६)

'जब अनेक जन्मोंके अर्जित पुण्यसे मनुष्यको सत्सङ्ग मिलता है, तब उसके अज्ञानकृत मोहरूपी घने अन्धकारको चीरकर विवेकरूपी सूर्यका उदय होता है।'

श्रीरामचरितमानसमें भी—

'बड़ें भाग पाइय सतसंगा। बिनहिं प्रयास होइ भव भंगा॥'
'बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।'
'महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।'

—इत्यादि स्थलोंमें मोहको ही भवरोग या बन्धन माना गया है। तभी हृदयस्थ मोहकी निवृत्ति पूर्वोक्त

---

* कहाँ यह पञ्चभूतोंसे बना हुआ अनात्मा शरीर और कहाँ प्रकृतिसे परे आत्मा! कौन किसके पति, पुत्र आदि हैं ? मोह ही सारे सम्बन्धोंका प्रयोजक है।

उपायोंसे सम्भव है, अन्यथा बाहर दृश्यमान जगत्का नाश सत्सङ्ग इत्यादिसे सम्भव नहीं ।

इसीलिये बिना सम्बन्धके ईश्वरकृत संसारके किसी भी प्राणीके विषयमें सुखद या दु:खद समाचार पानेपर भी, वैसी सुख या दु:खकी अनुभूति नहीं होती, जैसी अपने किसी सम्बन्धीके विषयमें सुननेपर होती है; जिसका संसारसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वह इसी ईश्वरकृत संसारमें रहते हुए भी मोह-रहित होनेसे जीवन्मुक्त कहा जाता है—जैसे शुकदेव मुनि, श्रीहनुमान्जी इत्यादि ।

अत: जीवकृत मोहमय संसारका ही भवरोग इत्यादि शब्दोंद्वारा सद्ग्रन्थोंमें निर्देश किया गया है ।

रामकथा और राष्ट्रीयता

(लेखक—डॉ० श्रीदेवकीनंदनजी श्रीवास्तव)

मर्यादापुरुषोत्तम राम विश्वात्मा हैं, परात्पर परमात्माके नरावतार हैं, पर साथ ही वन्दनीया भारतभूमिके अमृतपुत्र, अतः भारतकी राष्ट्रात्मा भी हैं । आदिकवि महर्षि वाल्मीकिसे लेकर व्यास, कालिदास, गोस्वामी तुलसीदास और आधुनिक रामकाव्यकार मैथिलीशरण गुप्ततककी भारतीय कवि-परम्पराने रामकथाद्वारा जनजन-व्यापिनी विराट् राष्ट्रीय चेतनाका प्रतिनिधित्व किया है । रामकथा स्वयं परात्पर ब्रह्मके रामावतारकी गाथामात्र न होकर विश्वमें भारतीय राष्ट्रीयताके सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दिग्विजयकी गाथा है । भक्ति, संस्कृति, काव्य और इतिहासके अनेक भव्य चित्र, जो रामायणमें प्रस्तुत किये गये हैं, किसी-न-किसी अंशमें राष्ट्रीय भावनाकी गरिमाको सँभाले हुए हैं ।

राष्ट्रीयताका स्वरूप मूलतः जननी, जन्मभूमि एवं मातृभाषाके प्रति अखण्ड आस्था और अपने राष्ट्रकी लोकपरम्परा एवं शास्त्र-मर्यादाके प्रति गहन गौरवदृष्टिकी अखण्डतामें व्यक्त होता है । भगवान् रामका अवतार ही धरतीकी पुकारपर सम्पूर्ण विश्वके हृदयस्वरूप भारतदेशमें हुआ था । इस देशके ऋषियों और मुनियोंके तपःपूत व्यक्तित्वके द्वारा उस दिव्य वातावरणका सृजन हुआ था, जिसके भीतर परम भागवती शक्तिका जन-जीवन और स्थूल प्रकृतिमें अवतरण सम्भव हो । अतः यह परम स्वाभाविक था कि रामकथाके व्यापक परिवेशमें राष्ट्रीयताकी सहज अभिव्यक्ति हो ।

रामकथाका स्वरूप ही अपने आपमें राष्ट्रीय स्तरपर, भावात्मक एकताके विराट् भावजगत्पर प्रतिष्ठित है । रामके शीलमें भारतका शील, रामके सौन्दर्यमें भारतका सौन्दर्य और रामकी शक्तिमें भारतकी शक्ति अपनी चरम पूर्णताके साथ चरितार्थ हुई है । अयोध्यासे एकाकी चलकर केवल अनुज और अर्द्धाङ्गिनीके साथ वन-वनमें भटककर राष्ट्रीय जीवनकी विघटनकारी परिस्थितियोंसे परिचय प्राप्त करके सारी पृथ्वीको राक्षसहीन करनेका दृढ़ संकल्प लेकर वानर-भालुओंकी वन्य जातियोंके संगठनद्वारा आत्मनिर्भर राष्ट्र-सेनाका संघटन, राक्षस-संहारके द्वारा अनाचारका दमन तथा लोकमङ्गलकारी सर्वसुखवैभवसम्पन्न आदर्श रामराज्यकी स्थापना जिस नाटकीय वैविध्यके साथ रामायणमें वर्णित है, वह अनेक अंशोंमें राष्ट्रीय दृष्टिकोणका परिचायक है ।

कथा-संघटन, बिम्ब-योजना और चरित्र-चित्रण—सभीके माध्यमसे रामायणका राष्ट्रीय स्वर मुखरित हुआ है । आदिकविने **'समुद्र इव गाम्भीर्ये'** और **'धैर्येण हिमवानिव'** की उपमानयोजनाद्वारा भगवान् रामके अतल गाम्भीर्य और अचल धीरत्वका जो विराट् बिम्ब खींचा है, वह कविके राष्ट्रप्रेमसे ही अनुप्राणित है । तुलसीके 'हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा' में भी इसीकी ध्वनि है ।

वालिवधके प्रसङ्गमें भगवान् राम वालीके वधौचित्यका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'सशैलवनकानना' भूमि इक्ष्वाकुवंशियोंकी है और हम सम्पूर्ण वसुधाको धर्ममयी करनेके लिये विचरण कर रहे हैं । उनके इस राज्यमें **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'**का संदेश गूँज रहा है—

इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना ।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहप्रग्रहेष्वपि ॥

× × ×

चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसंतानमिच्छवः ॥

(वा० रा० ४ । १८ । ६, ९)

कपिराज सुग्रीव सीताकी खोजके लिये वानरोंको विभिन्न दिशाओंमें भेजते समय जिस विशदताके साथ देशके विविध प्राकृतिक स्थलोंका विस्तृत निर्देश और संकेत करते हैं, उससे तो सारे देशका ही नहीं, जैसे सारे संसारका भौगोलिक परिच

साररूपमें आ गया है। यह भी इस देशकी राष्ट्रीयताके पीछे विद्यमान विराट् भौगोलिक पृष्ठभूमिका द्योतक है।

लक्ष्मणके प्रति रामके मातृभूमि-प्रेमकी व्यञ्जना तो जैसे राष्ट्रीयताकी सहज परिभाषा ही है—

अपि स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

'स्वर्गादपि गरीयसी' जन्मभूमिके प्रति अखण्ड निष्ठा ही तो राष्ट्रीयताकी आत्मा है। गोस्वामीजीके रामचरितमानसमें अवधपुरीको वैकुण्ठसे भी अधिक प्रिय घोषित करते हुए भगवान् रामने जो उद्गार व्यक्त किये हैं, वे भी प्रकारान्तरसे राष्ट्रीय भावनाके परिचायक हैं—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥
(रा० मा० ७। ३। १–२½)

उन्होंने 'मानस' में देशकी सभी प्रमुख नदियोंका गौरवके साथ स्मरण किया है—

'सुरसरि सरसइ दिनकर कन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या॥'
(रा० मा० २। १३८)

'पावन गंग तरंग माल से' तथा 'धन्य देस सो जहँ सुरसरी' कहकर गोस्वामीजीने अपने देश भारतकी महिमाका गान किया है। 'कवितावली'के अन्तर्गत 'भलि भारतभूमि, भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै' (का० ७। ३२)—जैसी पङ्क्तियोंमें स्वदेशके प्रति गौरव एवं स्वाभिमान-का भाव निर्दिष्ट है। 'रामचरितमानस' को 'नानापुराण-निगमागमसम्मत' रूपमें प्रस्तुत करनेका संकल्प भी विशाल राष्ट्रकी विशाल शास्त्र-इतिहास-परम्पराके प्रति अटूट निष्ठाका परिचायक है।

भगवान् रामको आसेतु-हिमाचल भारतभूमिसे अनुराग है, उसके कण-कणमें उनका हृदय रमता है। अयोध्या, मिथिला, तीर्थराज प्रयाग, चित्रकूट, दण्डकारण्य, किष्किन्धा, सुवेल, लवणसागर—सभी उन्हें प्रिय हैं। उत्तरकी अयोध्या ही नहीं, दक्षिणका समुद्री अञ्चल भी उन्हें अत्यन्त आकर्षक लगता है। सेतुबन्धके उपरान्त 'रामेश्वर शम्भु'की स्थापनाका संकल्प जगानेवाला उनका हर्षावेशपूर्ण यह उद्गार कितनी मार्मिकतासे भरपूर है।

'परम रम्य उत्तम यह धरनी। महिमा अमित जाइ नहिं बरनी॥'
(मानस ६। १। १½)

इस देशके पर्वत, नदियाँ, मैदान, वन और सिन्धु—सभी उनका चित्त मुग्ध कर लेते हैं।

सपरिकर लङ्कासे लौटते हुए पुष्पकयानमें आसीन भगवान् राम यमुना, गङ्गा, प्रयाग आदिकी महिमाका मुक्त-कण्ठसे वर्णन करते हुए जब अवधपुरीको सीतासमेत प्रणाम करते हैं, तब उनके नयन सजल हो जाते हैं, तन पुलकित हो उठता है और हृदयमें बार-बार हर्षकी हिलोरें उठने लगती हैं—राष्ट्रीयता और देशप्रेमकी इससे अधिक भावात्मक अनुभूति और क्या हो सकती है—

बहुरि राम जानकिहि देखाई। जमुना कलि मल हरनि सुहाई॥
पुनि देखी सुरसरी पुनीता। राम कहा प्रनाम करु सीता॥
तीरथपति पुनि देखु प्रयागा। निरखत जन्म कोटि अघ भागा॥
देखु परम पावनि पुनि बेनी। हरनि सोक हरि लोक निसेनी॥
पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भव रोग नसावनि॥

सीता सहित अवध कहुँ कीन्ह कृपाल प्रनाम।
सजल नयन तन पुलकित पुनि पुनि हरषित राम॥
(रा० मा० ६। ११९। २।४½, १२०)

प्रजानुरञ्जनकारी राष्ट्रनायकद्वारा शासित सर्वशक्ति-सुखसम्पन्न राज्यमें ही राष्ट्रीयताका पूर्ण परिपाक सम्भव है। रामकथाके अन्तर्गत रामराज्यके आदर्शमें इसकी चरम प्रतिष्ठा की गयी है। श्रीमद्भागवतकार व्यासकी वाणीमें अपने चरित्रसे लोकको प्रेरणा देनेवाले धर्मज्ञ राजर्षि रामका राष्ट्रीय आदर्श मूर्तिमान् हो उठा है—

त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।
रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे॥
वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः।
सर्वे कामदुघा आसन् प्रजानां भरतर्षभ॥
नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः।
मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे॥
एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः।
स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥
(श्रीमद्भा० ९। १०। ५२–५५)

'परीक्षित्! जब समस्त प्राणियोंको सुख देनेवाले परम धर्मज्ञ भगवान् श्रीराम राजा हुए तब था तो त्रेतायुग; परंतु मालूम होता था मानो सत्ययुग ही है। परीक्षित्! उस समय

वन, नदी, पर्वत, वर्ष, द्वीप और समुद्र—सब-के-सब प्रजाके लिये कामधेनुके समान समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले बन रहे थे। इन्द्रियातीत भगवान् श्रीरामके राज्य करते समय किसीको मानसिक चिन्ता या शारीरिक रोग नहीं होते थे। बुढ़ापा, दुर्बलता, दुःख, शोक, भय और थकावट नाममात्रके लिये भी नहीं थे। यहाँतक कि जो मरना नहीं चाहते थे, उनकी मृत्यु भी नहीं होती थी। भगवान् श्रीरामने एकपत्नीका व्रत धारण कर रक्खा था। उनके चरित्र अत्यन्त पवित्र एवं राजर्षियोंके-से थे। वे गृहस्थोचित स्वधर्मकी शिक्षा देनेके लिये स्वयं धर्मका आचरण करते थे।

यज्ञ भारतीय राष्ट्रजीवनकी पवित्र ज्वालाके प्रतीक हैं। कालिदासके 'रघुवंश'में अगस्त्यकी यज्ञाग्निके प्रति लङ्का-विजयके उपरान्त पुष्पक विमानसे लौटते हुए भगवान् रामने अपार श्रद्धा व्यक्त की है। वे सीतासे कहते हैं कि यशस्वी ऋषिकी हवन-सामग्रीकी गन्धसे मिश्रित धुआँ विमानके पासतक उठा चला आ रहा है, जिसे सूँघते ही मेरी आत्मा पवित्र हो गयी है। साक्षात् लोकपावन परमात्माके अवतार भगवान् रामकी आत्मा जिस यज्ञके धुएँसे पवित्रताका अनुभव करे, उसके मूलमें राष्ट्रीयताका गूढ़ तत्त्व विद्यमान है—

त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्ते-
स्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः
समश्नुते मे लघिमानमात्मा॥

(रघुवंश १३। ३७)

रामकथाको राष्ट्रभाषाके माध्यमसे लोकप्रिय अभिव्यक्ति देनेवाले आधुनिक काव्य-जगत्में वैष्णव राष्ट्रकवि 'साकेत'-स्रष्टा मैथिलीशरण गुप्त अग्रगण्य हैं। गुप्तजीकी वाणीने 'साकेत'के आरम्भिक सर्गमें ही 'धन्य भगवद्भूमि-भारतवर्ष है' कहकर अपनी राष्ट्रीय प्रेरणाका उद्घोष किया है। अयोध्यासे वनके लिये प्रस्थान करते समय भगवान् रामने जननी-जन्मभूमिके प्रति जो रोमाञ्चकारी उद्गार व्यक्त किये हैं, उनमें मानो देशप्रेम ही रामके रूपमें साकार हो उठा है। इतना मर्मस्पर्शी चित्र सम्पूर्ण रामकथा-साहित्यमें दुर्लभ है—

जन्मभूमि! ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे।
तेरे कीर्तिस्तम्भ, सौध, मन्दिर यथा,
रहें हमारे शीर्ष समुन्नत सर्वथा॥

× × ×

हममें तेरे व्याप्त विमल जो तत्त्व हैं,—
दया, प्रेम, नय, विनय, शील, शुभ सत्त्व हैं,
उन सबका उपयोग हमारे हाथ है,—
सूक्ष्मरूपमें सभी कहीं तू साथ है।
तेरा स्वच्छ समीर हमारे श्वासमें,
मानसमें जल और अनल उच्छ्वासमें।
अनासक्तिमें सतत नभःस्थिति हो रही,
अविचलतामें बसी आप तू है यही।
गिर-गिर, उठ-उठ, खेल-कूद, हँस-बोलकर,
तेरे ही उत्सङ्ग-अजिरमें डोलकर,
इस पथमें है सहज हुआ चलना हमें,
छल न सकी वह लोभ-मोह-छलना हमें।

अपने राष्ट्रके इतिहासके सांस्कृतिक वैभवके प्रति भगवान् राम श्रद्धावनत हैं और वे कहते हैं कि लाख महत्त्व प्राप्त करनेपर भी मातृभूमिके लिये वे शिशुके सदृश ही हैं। यदि वे विष्णु हैं तो मातृभूमि ही उनका दुग्ध-धाम (क्षीरसागर) है। उनके लिये साकेत जन्मभूमि होनेके नाते स्वर्गसे भी उत्कृष्ट है और सच्चे अर्थमें अयोध्या (अजेय) है। मातृभूमिके प्रति स्वयं उन्हींके शब्द हैं—

तू भावोंकी चारु चित्रशाला बनी,
चारित्र्योंकी गीत-नाट्यमाला बनी।
तू है पाठावली अर्थ-कुल-कर्मकी,
पत्र-पत्रपर छाप लगी ध्रुव धर्मकी।
चलना-फिरना और विचरना हो कहीं,
किंतु हमारा प्रेम-पालना है यहीं।
हो जाऊँ मैं लाख बड़ा नरलोकमें,
शिशु ही हूँ तुझ मातृभूमिके ओकमें।

× × ×

हम अपने तुझ दुग्ध-धामके विष्णु हैं,
हैं अनेक भी एक, इसीसे जिष्णु हैं।

रामके जन्मभूमि-प्रेमका सुकुमार और हृदयस्पर्शी चित्र अङ्कित करनेवाली ये पङ्क्तियाँ कितनी सटीक हैं—

मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ-सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ-बरसूँ कहीं।

× × ×

स्वर्गोपरि साकेत! रामका धाम तू,
रक्षित रख निज उचित अयोध्या नाम तू।

(५ वाँ सर्ग)

इसी प्रकार साकेतके द्वादश सर्गमें हनुमान्‌से सीताहरण एवं लक्ष्मण-मूर्च्छाका समाचार पानेपर तपस्वी भरत तथा अयोध्यावासियोंका जो रोषावेश शत्रुके प्रति व्यक्त हुआ है, उसमें भी राम-रावण-युद्ध-प्रसङ्गको एक राष्ट्रीय संघर्षका रूप प्रदान किया गया है—सीताको भरत सिन्धुके पार राक्षसोंके बन्धनमें पड़कर विलखती हुई 'भारत-लक्ष्मी' के रूपमें देखते हैं और उनकी रक्षाके लिये उद्विग्न हो शत्रुघ्नसे कह उठते हैं—

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसोंके बन्धनमें,
सिन्धु-पार वह विलख रही है व्याकुल मनमें।
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके—
अपने मिथ्या भरत 'नाम' को नाम न धरके।
कलुषित कैसे शुद्ध सलिलको आज करूँ मैं,
अनुज! मुझे रिपुरक्त चाहिये, डूब मरूँ मैं।
× × ×
सजे अभी साकेत, बजे, हाँ, जयका डंका।
रह न जाय अब कहीं किसी रावणकी लङ्का॥

राष्ट्र-लक्ष्मीके रक्षार्थ देशभक्तका रुधिर खौल उठना भी राष्ट्र-प्रेमके ओज-पक्षके उभारका द्योतक है। अनाचारीके प्रति इसी राष्ट्रीय रोषका ओजभरा स्वर गम्भीर, सांस्कृतिक मर्यादाके भीतर निम्नलिखित पङ्क्तियोंमें मुखर हुआ है—

भरतखण्डका द्वार विश्वके लिये खुला है।
भुक्ति-मुक्तिका योग जहाँपर मिला-जुला है॥
पर जो इसपर अनाचार करने आवेंगे।
नरकोंमें भी ठौर न पाकर पछतावेंगे॥

देवदुर्लभा शस्यश्यामला मातृभूमिके प्रति उर्मिलाकी भावाभिव्यक्ति देखिये—

किस धनसे हैं रिक्त कहीं, सुनिकेत हमारे?
उपवन फल-सम्पन्न, अन्नमय खेत हमारे।
जय पयस्य-परिपूर्ण सुघोषित घोष हमारे,
अगणित आकर सदा स्वर्ण-मणि-कोष हमारे॥
देव-दुर्लभा भूमि हमारी प्रमुख पुनीता।
उसी भूमिकी सुता पुण्यकी प्रतिभा सीता॥
मातृभूमिका मान ध्यानमें रहे तुम्हारे।
लक्ष-लक्ष भी एक लक्ष रक्खो तुम सारे॥
हे निज पार्थिव-सिद्धि-रूपिणी सीता रानी।
और दिव्य फल रूप राम राजा बलदानी॥
× × ×

विन्ध्य और हिमालय हमारे राष्ट्रीय गौरव एवं स्वाभिमान तथा गङ्गा-यमुना, सिन्धु-सरयू हमारे स्वर्णिम इतिहासके ज्वलंत प्रतीक हैं। उनकी ओर लक्ष्य करती हुई उर्मिला अयोध्याके वीरोंसे कहती हैं—

विन्ध्य-हिमालय-भाल, भला, झुक जाय न, धीरो!
चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्ति-कला रुक जाय न, वीरो!
चढ़कर उतर न जाय, सुनो, कुल-मौक्तिक मानी,
गङ्गा-यमुना-सिन्धु और सरयूका पानी।
बढ़कर इसी प्रसिद्ध पुरातन पुण्यस्थलसे,
किये दिग्विजय बार-बार तुमने निज बलसे।
(द्वादशसर्ग)

× × ×

चित्रकूटमें विराजे हुए रामने अपने अवतारका लक्ष्य स्पष्ट करते हुए जो संदेश दिया है, उसके पीछे भी 'राम-कथामें' व्याप्त राष्ट्रीय जीवनका प्रवाह झाँक रहा है—**'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** का संकल्प-स्वर उनमें गूँज रहा है—

बहु जन वनमें हैं बने ऋक्ष वानर-से,
मैं दूँगा अब आर्यत्व उन्हें निज करसे।
× × ×
उच्चारित होती चले वेदकी वाणी,
गूँजे गिरि-कानन-सिन्धु-पार कल्याणी।
अम्बरमें पावन होम-धूम घहरावे,
वसुधाका हरा दुकूल भरा लहरावे।
(साकेत-अष्टम सर्ग)

इस प्रकार राघवेन्द्र राम सच्चे अर्थोंमें भारतके परम राष्ट्रपुरुष हैं और उनकी लोकमङ्गलविधायिनी कथा भारतीय राष्ट्रीयताकी परम भव्य गाथा है।

श्रीराधा-माधव-प्रेम-माधुरी

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका आनन्दस्वरूप या ह्लादिनी शक्ति ही श्रीराधाके रूपमें प्रकट है। श्रीराधाजी स्वरूपतः भगवान् श्रीकृष्णके विशुद्धतम प्रेमकी ही अद्वितीय घनीभूत नित्य स्थिति हैं। ह्लादिनीका सार प्रेम है, प्रेमका सार मादनाख्य महाभाव है और श्रीराधाजी मूर्तिमती मादनाख्य महाभावरूपा हैं। वे प्रत्यक्ष साक्षात् ह्लादिनी शक्ति हैं, पवित्रतम नित्य वर्द्धनशील प्रेमकी आत्मस्वरूपा अधिष्ठात्री देवी हैं। कामगन्धहीन, स्वसुखवाञ्छा-वासना-कल्पना-गन्धसे सर्वथा रहित, श्रीकृष्णसुखैकतात्पर्यमयी, श्रीकृष्णसुखजीवना श्रीराधाका एकमात्र कार्य है—त्यागमयी पवित्रतम नित्य सेवाके द्वारा श्रीकृष्णका आनन्दविधान। श्रीराधा पूर्णतमा शक्ति हैं, श्रीकृष्ण परिपूर्णतम शक्तिमान् हैं। शक्ति और शक्तिमान्में भेद तथा अभेद दोनों ही नित्य वर्तमान हैं। अभेदरूपमें तत्त्वतः श्रीराधा और श्रीकृष्ण अनादि, अनन्त, नित्य, एक हैं और प्रेमानन्दमयी दिव्यलीलाके रसास्वादनार्थ अनादिकालसे ही नित्य दो स्वरूपोंमें विराजित हैं। श्रीराधाका मादनाख्य महाभावरूप प्रेम अत्यन्त गौरवमय होनेपर भी मदीयतामय मधुर स्नेहसे आविर्भूत होनेके कारण सर्वथा ऐश्वर्यगन्धशून्य है। वह न तो अपनेमें गौरवकी कल्पना करता है न गौरवकी कामना ही। सर्वोपरि होनेपर भी वह अहंकारादि-दोष-लेशशून्य है। यह मादनाख्य महाभाव ही राधा-प्रेमका एक विशिष्ट रूप है। राधाजी इसी भावसे आश्रयनिष्ठ प्रेमके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं। उन्हें उसमें जो महान् सुख मिलता है, वह सुख श्रीकृष्ण 'विषय' रूपसे राधाके द्वारा सेवा प्राप्त करके जिस प्रेम-सुखका अनुभव करते हैं, उससे अनन्तगुना अधिक है। अतएव श्रीकृष्ण चाहते हैं कि मैं प्रेमका 'विषय' न होकर 'आश्रय' बनूँ, अर्थात् मैं सेवाके द्वारा प्रेम प्राप्त करनेवाला 'विषय' ही न बनकर सेवा करके प्रेमदान करनेवाला भी बनूँ; मैं आराध्य ही न बनकर, आराधक भी बनूँ। इसीसे श्रीकृष्ण नित्य राधाके आराध्य होनेपर भी स्वयं उनके आराधक बन जाते हैं। जहाँ श्रीकृष्ण प्रेमी हैं, वहाँ श्रीराधा उनकी प्रेमास्पदा हैं और जहाँ श्रीराधा प्रेमिकाके भावसे आविष्ट हैं, वहाँ श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं। दोनों ही अपनेमें प्रेमका अभाव देखते हैं और अपनेको अत्यन्त दीन और दूसरेका ऋणी अनुभव करते हैं; क्योंकि विशुद्ध प्रेमका यही स्वभाव है।

रस-साहित्यमें अधिकांश रचनाएँ ऐसी ही उपलब्ध होती हैं, जिनमें श्रीकृष्ण प्रेमास्पदके रूपमें और श्रीराधा प्रेमिकाके रूपमें चित्रित की गयी हैं। परंतु श्रीभाईजीके अन्तःकरणसे जिन भावोंका पद्यरूपमें प्राकट्य हुआ है, उनमें पचासों पद ऐसे हैं, जिनमें श्रीकृष्ण श्रीराधाको अपनी प्रेमास्पदा मानकर उन्हें प्रेमकी स्वामिनी और अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार करते हैं और पर्याप्त पद ऐसे भी हैं, जिनमें श्रीराधा अपनेको अत्यन्त दीना और श्रीकृष्णको प्रेमके धनी रूपमें स्वीकार करती हैं। उन पदोंमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ता देखने योग्य है। नीचे हम उन्हीं पदोंमेंसे दो पद अर्थसहित ऐसे दे रहे हैं, जिनमें श्रीकृष्णके श्रीराधाके प्रति प्रेमोद्गार तथा दो पद ऐसे दे रहे हैं, जिनमें श्रीराधाके श्रीकृष्णके प्रति प्रेमोद्गार हैं। पाठक गहराईमें जाकर यदि इन पदोंके भावोंको ग्रहण करनेका प्रयास करेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि श्रीराधा-कृष्णके प्रेमका स्वरूप कितना पवित्रतम, समर्पणपूर्ण तथा दिव्य है। इस प्रेमको आदर्श मानकर प्रेममार्गके साधक अपना मार्ग निश्चय करें और श्रीराधा-माधवके चरणोंमें प्रेम प्राप्त करें।

(१)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग जंगला—ताल कहरवा)

हे राधे वृषभानुनन्दिनी, मम मन-नन्दिनि सुषमागार।
तेरी परम सुखद सुस्मृति ही है मेरी जीवन-आधार॥
कनक-गौर अनुपम वर तनपर नील वसन नव रहा विराज।
अङ्ग-अङ्ग अति मधुर मनोहर सजे सकल विधि सुन्दर साज॥
वदन-सरोज प्रफुल्ल, सौरभित, नवपीयूष मधुर मकरन्द।
रहते सदा अतृप्त पान-रत मधुलोभी मम नयन-मिलिन्द॥
रासेश्वरि, रस-रास-विलासिनि, मनमोहनि, निर्मल सुख सार। तेरी०
बिम्बाधर अति मधुर सुधा-रस-भरित, ललित शुचि गोल कपोल।
रत्नद्युति-भासित, श्रुति-रञ्जन परम सुशोभित कुण्डल लोल॥
कुटिल नयन कज्जल-अनुरञ्जित, अति विशाल, रसभरे, ललाम।
बङ्किम भ्रुकुटि पञ्चशर-शर-सी सुघड़ नासिका शोभाधाम॥
परमाह्लादिनि ह्लादिनि श्यामा प्रेम-सुधा-रस-उदधि अपार। तेरी०
मधुकर-कृष्ण, मनोहर, चिक्कण चिकुर सुशोभित वेणि अनूप।
सुमन सुगन्धित गुँथे मनोरम, मणिमय मुकुट, विलक्षण रूप॥
नित नव अनुरागिणि, बड़भागिनि, भूषण विविध विराजित अङ्ग।
वक्ष उतुंग कञ्चुकी-शोभित, शीश चूनरी मोहन रंग॥
चिबुक मनोहर, कम्बु-कण्ठ, कमनीय कुसुम-मुक्ता-मणिहार। तेरी०
मन्द उदर रेखात्रय-राजित, नाभि गभीर-मधुर-अभिराम।
कृश कटि सुन्दर किङ्किणि शोभित, कर-पद मेंहदी रची सुठाम॥
सकल कला निधि, गुण-निधि, गुण-वर्णन-अक्षम श्रुति-शारद-शेष।
मन्मथ-मन्मथ-मानस-मन्थिनि सदा सुहागिनि सुन्दर वेश॥
नित्य-निकुञ्जेश्वरि नव-कुञ्जविहारिणि करती नित्य विहार। तेरी०

हे वृषभानुकुमारी श्रीराधे! हे अतिशय शोभाकी आलय!! मेरे मनको आनन्दित करनेवाली तेरी परम सुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

तेरे स्वर्णिम-गौर, अनुपम, उत्तम कलेवरपर नया नीला वस्त्र सुशोभित है। अत्यन्त मधुर, मनोहारी अङ्ग-प्रत्यङ्ग सभी प्रकारकी साज-सज्जासे सजे हुए हैं। तेरा प्रफुल्लित, सुगन्धयुक्त मुख-कमल नवीन सुधारूपी मधुर मकरन्दसे प्रपूरित है, मधुके पिपासु मेरे नेत्र-भ्रमर सदैव जिसको पीते-पीते भी अतृप्त बने रहते हैं। हे

रसमय रास-विलास करनेवाली, मनको मोहित करनेवाली रासेश्वरी ! तू विशुद्ध सुखकी साररूपा है। परमसुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

पके हुए बिम्बफलके समान लाल-लाल तेरे अधर अत्यन्त मधुर सुधारससे पूर्ण हैं, मञ्जुल पवित्र गोल गाल हैं। रत्नोंकी आभासे उज्ज्वल, कानोंकी शोभा बढ़ा देनेवाले अत्यन्त सुशोभित चञ्चल कुण्डल हैं, अत्यन्त विशाल, रससे पूर्ण, मनोरम, काजलसे अँजे हुए तिरछे नेत्र हैं। टेढ़ी भौंहें हैं तथा कामदेवके बाण आकृतिवाली शोभाधाम सुघड़ नासिका है। हे परम आह्लाददायिनी ह्लादिनीरूपा श्यामा ! तू अपार प्रेमामृत रस-समुद्ररूपिणी है। तेरी परम सुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

भ्रमर-पङ्क्तिके समान काले, मनोहारी, चिकने बालोंकी अनुपम चोटी शोभित हो रही है। उसमें मनोहर सुगन्धयुक्त पुष्प गुँथे हैं। विचित्र सौन्दर्ययुक्त मणिजटित मुकुट है। तू नित्यनवीन अनुरागसे युक्त है, सौभाग्यशालिनी है। तेरे अङ्ग-अङ्गमें अनेकों आभूषण विराजमान हैं। तेरे उन्नत वक्षःस्थलपर कञ्चुकी शोभा दे रही है। चित्त मोह लेनेवाले रंगकी चूनरी ओढ़ रखी है। मनको हरनेवाली ठुड्डी है। शङ्खकी आकृतिवाला कण्ठ है, जिसमें मनोरम पुष्पों तथा मोती-मणियोंके हार सुशोभित हैं। तेरी परम सुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

त्रिवलीयुक्त मन्द उदर है। मनोहारी मधुर गम्भीर नाभिदेश है। सुन्दर करधनीसे सुसज्जित पतली कमर है। हाथ-पैरोंमें सुन्दर मेंहदीका रंग सुशोभित है। तू समस्त कलाओंकी आलय एवं गुणोंकी खान है। तेरे गुणोंके वर्णनमें श्रुतियाँ, सरस्वती देवी तथा शेषजी भी असमर्थ रहते हैं। तू कामदेवके मनको मोह डालनेवाले मुझ श्रीकृष्णके मनको भी आलोडित कर देती है। सदा सौभाग्यवती तथा सुन्दर वेश धारण किये रहती है। हे नित्य निकुञ्जकी स्वामिनी, नवीनकुञ्जोंमें विहार करनेवाली, राधे ! तू नित्य ही विहार-परायण है। तेरी परमसुखदायिनी स्मृति ही मेरे जीवनकी आधार है।

(२)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(लावनी तर्ज—ताल कहरवा)

हे प्रियतम ! माधुर्य-सुधानिधि ! रस-सागर, प्राणोंके प्राण।
नित्य निवास करो मेरे उर-मन्दिर, निरुपम प्रेमनिधान॥

नव-नीरद-नीलाभ श्याम तन, पीत वसन वर रहा विराज।
वय किशोर, कमनीय कान्ति, सच्चिन्मय वपु, सब सुन्दर साज॥
मधुर, मनोहर, दिव्य सौरभित, अति सुकुमार अङ्ग-प्रत्यङ्ग।
अतुल रूप-रस-सिन्धु-बिन्दुसे रूप-समन्वित अमित अनङ्ग॥
ललित त्रिभङ्ग, कमल-दल-लोचन, मोचन मायारचित विधान।

नित्य०

चारु चन्द्रिका भूषित कुञ्चित कुन्तल, मृगमद-तिलक सुभाल।
कम्बु-कण्ठ शोभित मुक्ता-मणि, तुलसी-वन-कुसुमोंकी माल॥
कौस्तुभमणि-श्रीवत्स-विभूषित वक्षःस्थल मनहरण, विशाल।
अरुणिम मधुर अधर मुरलीधर, त्रिभुवनमोहन यशुमति-लाल॥
परमहंस मुनि-जन मन मोहनि सोहनि मन्द मधुर मुसकान।
नित्य०

श्रवण-सुशोभित कुण्डल छवि अति झिलमिलात शुचि रुचिर कपोल।
चिबुक चित्तहर, प्रेम-सुधा-रस-भरे मनोहर मीठे बोल॥
उन्नत कंध, विशाल भुजा सुन्दर मृणाल-सम, शोभाधाम।
नित नवीन सौन्दर्य सुधामय मुख-सरोज मोहन अभिराम॥
प्रेमानन्द-तरंगित विग्रह, रास-रसिक, रसधाम सुजान।
नित्य०

अङ्ग सकल आभरण विभूषित, दिव्य द्युति, अति सुषमागार।
कोमल, कान्त, सुशान्त, दमन दुख, दिव्य, सुखप्रद, परम उदार॥
व्रजयुवतीजन मन आकर्षक, रूपराशि, नव नित्यकिशोर।
नन्दानन्दन, सखा-प्राणधन, जड-चेतन सबके चितचोर॥
मेरे हृदयेश्वर, रस-पान-रसिक, शुचि करते रसका दान।
नित्य०

हे माधुर्यामृतसागर, रससमुद्र, प्राणोंके प्राण प्रियतम ! हे अतुलनीय प्रेमके आगार श्यामसुन्दर ! तुम मेरे हृदयरूपी मन्दिरमें नित्य निवास करो।

तुम्हारा नवीन जलदके समान नीलश्याम-कान्तियुक्त कलेवर है। उसपर उत्तम पीताम्बर सुशोभित है। किशोर वय है, रमणीय आभा है, सच्चिदानन्दमय देह है, सारे शृङ्गार सुन्दर हैं, तुम्हारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त मधुर, मनोहर, दिव्य-सुगन्धयुक्त एवं अत्यन्त सुकोमल हैं। तुम्हारे ही अतुलनीय सौन्दर्य तथा रसके समुद्रकी एक बूँदको पाकर अनेकों कामदेव सौन्दर्ययुक्त होते हैं। सुन्दर त्रिभङ्गमुद्रा है, नेत्र कमलदलों-जैसे हैं। तुम्हारा यह स्वरूप-दर्शन मायानिर्मित विधानसे मुक्ति दिलानेवाला है। हे अनुपमेय प्रीति-सागर श्यामसुन्दर ! मेरे हृदय-मन्दिरमें अविचल निवास करो।

सुन्दर मोरपंखसे सुशोभित तुम्हारे घुँघराले बाल हैं, सुन्दर ललाटपर कस्तूरीका तिलक है। शङ्खके समान उतार-चढ़ाववाले तुम्हारे कण्ठपर मोतियों, मणियों, तुलसी तथा वनपुष्पोंसे विरचित मालाएँ सुशोभित हैं। तुम्हारा मनोहारी सुविशाल वक्षःस्थल कौस्तुभनामक रत्न तथा श्रीवत्सके चिह्न (श्वेत रोमावर्तसे) सुशोभित है। अरुणवर्णके मधुर अधरोंपर तुम मुरली धारण किये हो। हे यशोदानन्दन ! तुम त्रैलोक्यको मोहित कर लेनेवाले हो। तुम्हारी सुहावनी, मन्द-मन्द मधुर मुस्कान परमहंस मुनियोंके मनको भी मोहित कर लेती है। हे निरुपम प्रेमसमुद्र श्यामसुन्दर ! मेरे हृदय-मन्दिरमें सदैव बसे रहो।

तुम्हारे कानोंमें अत्यन्त छवियुक्त कुण्डल शोभा दे रहे हैं। वे तुम्हारे पवित्र सुन्दर कपोलोंमें देदीप्य हो रहे हैं। तुम्हारी ठुड्डी चित्तको चुरा लेनेवाली है। मीठे वचन प्रेमके अमृत-रससे परिपूर्ण एवं म लुभानेवाले हैं। ऊँचे कंधे हैं, शोभाकी आगार सुन्दर मृणालके समान कोमल विशाल भुजाएँ हैं। तुम्हारा कमल नित्य नवीन सौन्दर्यामृतसे पूर्ण, मोहक तथा अत्यन्त कमनीय है। तुम्हारा श्रीविग्रह प्रेमके आन हिल्लोलित रहता है। तुम रास-रसिक, रसके आलय, सुजान-शिरोमणि हो। हे निरुपमेय प्रेम-निधान श्यामसुन्द मेरे हृदय-गृहमें सदाके लिये बस जाओ।

तुम्हारे सारे अङ्ग गहनोंसे सुसज्जित, अलौकिक शोभायुक्त तथा अत्यन्त सुषमाके आगार हैं। को सुन्दर, सुशान्त, दुःखका दमन करनेवाले, अलौकिक आनन्द प्रदान करनेवाले तथा अत्यन्त आकर्षक हैं आप सौन्दर्यकी राशि, नित्य नवीन कैशोर्ययुक्त तथा व्रजयुवतियोंके मनको आकर्षित कर लेनेवाले हैं। हे नन्दजी आनन्द प्रदान करनेवाले, सखाओंके प्राणधन, श्यामसुन्दर! तुम जड-चेतन सभीके चित्तको चुरा लेनेवाले हैं हे रसपानके रसिक मेरे हृदयेश्वर! तुम सभीको पवित्र रसका दान करते रहते हो। हे निरुपमेय प्रेमकी श्यामसुन्दर! तुम नित्य मेरे हृदय-मन्दिरमें निवास करो।

(३)

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(राग कालिंगड़ा—ताल कहरवा)

आतुर मैं अत्यन्त सदा तुमसे मिलनेको रहता।
मनकी बात किसीसे पर मैं कभी नहीं कुछ कहता॥
मेरी वह आत्यन्तिक आतुरता आकर्षित करती।
तुमको तुरत खींचकर मेरे तन-मनमें है भरती॥
भीतर-बाहर तुम्हें प्राप्तकर मैं निहाल हो जाता।
मधुमय स्पर्श तुम्हारा पाकर मेरा 'मैं' खो जाता॥
रह जाती हो एक तुम्हीं, अपनी ही महिमा लेकर।
मुझे मिला लेती अपनेमें अपना सब कुछ देकर॥
हो जाते हम एक उसी क्षण, पृथक् भान मिट जाता।
अतुल, अनिर्वचनीय, अचिन्त्यानन्त प्रेम छा जाता॥
किससे कौन मिले हैं, किसके कौन प्रिया-प्रियतम हैं?
जान नहीं पाते, कह पाते नहीं, कौन तुम-हम हैं?
सदा एक थे, सदा एक हैं, एक सदैव रहेंगे।
नहीं सुनेंगे कभी किसीकी, कुछ भी नहीं कहेंगे॥

प्रियतमे श्रीराधे! मैं तुमसे मिलनेको सदा ही अत्यन्त आतुर बना रहता हूँ, परंतु मैं अपने मनकी बात कभी किसीसे नहीं कहता। मेरी वह अतिशय अधीरता ही तुम्हारे मनमें मेरे प्रति आकर्षण उत्पन्न करती तथा तुम्हें तुरंत मेरे पास खींचकर मेरे तन-मनमें भर देती है। मैं तुम्हें भीतर-बाहर प्राप्त करके निहाल हो

जाता हूँ। तुम्हारा मधुर स्पर्श प्राप्त करके मेरा मैंपना लुप्त हो जाता है। एक तुम्हीं अपनी महिमासहित बनी रह जाती हो। अपना सर्वस्व मेरी भेंट करके मुझे अपनेमें ही मिला लेती हो। उसी क्षण हम एक बन जाते हैं। हमारा भेदज्ञान लुप्त हो जाता है। अतुलनीय, अनिर्वचनीय, अचिन्त्य तथा अनन्त प्रेम छा जाता है। हम यही नहीं जान पाते कि किससे किसका मिलन हो रहा है, किसकी प्रिया कौन है और किसके प्रियतम कौन हैं। यह भी नहीं बतला सकते, हम-तुम कौन हैं। हम सदैव एक थे, सदा एक हैं, सदा ही एक बने रहेंगे। कभी भी किसीकी बात नहीं सुनेंगे, कुछ भी नहीं बोलेंगे।

(४)

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग जंगला—ताल कहरवा)

तन कौ कन-कन मेरौ होवै तेरे सुख कौ साधन।
प्रतिपल जीवन में होवै, बस, तेरौ सुख-आराधन॥
परम लाभ मेरौ सुख तेरौ, तेरौ सुख अतुलित धन।
तेरे सुख के अमित दुखों में कटें सभी दुख-बन्धन॥
मोकूँ मिलें ब्याधि, पीड़ा, अपमान, नरक, भव-बन्धन।
तोकूँ जदि सुख होय नैकु जो बिन तैं हे जीवनधन!॥
तौ वे ब्याधि-जातना सगरी करि अति सुख-संपादन।
देयँ परम आनंद मोय, करि तुच्छ मुक्ति-सुख तेउ छन॥
बुद्धि रमै तेरे सुख में, मन रत नित तुव सुखचिंतन।
बिसरैं अन्य कल्पना, उर में छाय रहै तुव सुख-घन॥
प्रियतम-सुख अति मधुर नित्य सर्वत्र दिव्य सुख पावन।
प्रियतम-सुख हो प्रियतम हूं तैं अधिक सुखद, मनभावन॥

हे प्रियतम श्रीकृष्ण! मेरी यह अभिलाषा है कि मेरे शरीरका कण-कण तुम्हारे सुखका साधन बना रहे। मेरे जीवनमें प्रत्येक पल, बस, तुम्हारे सुखकी ही आराधना होती रहे। तुम्हारा सुख ही मेरे लिये परम लाभ है। तुम्हारा सुख ही मेरे लिये अतुलनीय सम्पत्ति है। तुम्हारे सुखके हेतु मुझे मिलनेवाले अनेकों दुःखोंसे मेरे समस्त दुःख-बन्धन ही कट जायँ। हे जीवन-धन! मुझे रोग, पीड़ा, अपमान, नरक-यातना एवं सांसारिक बन्धन प्राप्त होते रहें, यदि तुम्हें उनसे तनिक भी सुख प्राप्त होता हो। उस अवस्थामें वे समस्त रोग एवं यातनाएँ अत्यन्त सुख उत्पन्न करके मुझे परम आनन्द प्रदान करें। उस क्षण मोक्ष-सुख भी मुझे तुच्छ लगे। मेरी बुद्धि तुम्हारे सुखमें ही रमण करती रहे, मन नित्य तुम्हारे सुखके चिन्तनमें ही लीन रहे। अन्य सभी कल्पनाएँ विस्मृत हो जायँ। हृदयमें तुम्हारा सुखरूप मेघ ही छाया रहे। प्रियतमका सुख ही मेरे लिये अत्यन्त मधुर एवं सर्वत्र पवित्र दिव्य सुखरूप बन जाय; यही नहीं, प्रियतमका सुख स्वयं प्रियतमसे भी अधिक सुखदायी तथा मनको भला लगनेवाला हो।

'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क—'श्रीविष्णु-अङ्क'

[सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे सादर प्रार्थना]

मार्च १९७२ के अङ्कके टाइटिलके अन्तिम पृष्ठोंपर प्रकाशित निवेदनसे 'कल्याण'के सम्मान्य पाठक-पाठिकाओं--महात्माओं, विद्वानों एवं विचारकोंको यह ज्ञात हो ही गया होगा कि आगामी वर्ष (जनवरी १९७३) के विशेषाङ्कके रूपमें 'श्रीविष्णु-अङ्क'के प्रकाशनका निश्चय हुआ है । विशेषाङ्कमें कौन-कौन-से विषय रहेंगे, इसका दिग्दर्शन करानेके लिये एक संक्षिप्त विषय-सूची नीचे दी जा रही है । सम्मान्य लेखक महानुभाव चाहें तो विषयसूचीके अतिरिक्त श्रीविष्णु-सम्बन्धी किसी अन्य विषयपर भी लेख भेज सकते हैं । लेख स्पष्ट, सुवाच्य, संक्षिप्त एवं विषयसे सम्बद्ध होना चाहिये तथा हाशिया छोड़कर, पङ्क्तियोंके बीचमें पर्याप्त अन्तर देकर पन्नेके एक ही ओर लिखा हुआ होना चाहिये । लेख हिंदी; संस्कृत, बँगला, मराठी, गुजराती अथवा अंग्रेजी-किसी भी भाषामें लिखा हुआ हो सकता है ।

सैकड़ों लेखोंको पढ़ने तथा उनमेंसे छापनेयोग्य सामग्रीको छाँटने, सजाने, चित्र तैयार कराने तथा एक लाख पैंसठ हजार अङ्क मुद्रित करनेमें लगभग ५-६ महीनेका समय अपेक्षित होता है । अतएव लेखक महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना है कि वे अपनी बहुमूल्य रचनाएँ अधिक-से-अधिक जुलाईके अन्ततक अवश्य भेज दें, जिससे अङ्क समयपर तैयार हो सके । विलम्बसे आनेवाली रचनाओंको उचित स्थानपर सजाने अथवा उन्हें स्वीकार करनेमें कठिनाई होगी । लेखक महानुभावोंसे प्रार्थना है कि लेख भेजनेका कष्ट वे ही करें, जिनका विषयपर अधिकार हो, जो लेखनकलासे परिचित हों तथा जो अपने भावोंको सुचारुरूपसे एवं सुपाठ्यरूपमें व्यक्त कर सकें । आशा है, सम्मान्य लेखक महानुभाव सदाकी भाँति अपना उदार सहयोग हमें प्रदान करेंगे । लेख फुलस्केप साइजके कागजपर एक ओर लिखा या टाइप हुआ होना चाहिये । तथा सामान्यतः तीन-चार पृष्ठोंका होना चाहिये ।

—चिम्मनलाल गोस्वामी

'श्रीविष्णु-अङ्क'की प्रस्तावित संक्षिप्त विषय-सूची

१—श्रीश्रीविष्णु-तत्त्व
२—निर्गुण और सगुण तत्त्वकी एकता और भेद
३—भगवान् विष्णुकी निर्गुणताका तात्पर्य
४—शुद्ध सत्त्व (सत्त्वगुणरूप और परब्रह्म गुणातीत) विष्णु
५—भगवान् विष्णु और सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात, सबीज-निर्बीज समाधि
६—पुराणपुरुष विष्णु
७—विष्णु परतत्त्वरूपमें
८—कारण विष्णु
९—महाविष्णु
१०—'मङ्गलं भगवान् विष्णुः'
११—'सर्वं विष्णुमयं जगत्'
१२—'आत्मा वै नारायणः'
१३—'यज्ञो वै विष्णुः'
१४—'अग्निर्वै देवानां प्रथमो विष्णुः परमः'
१५—श्रीश्री-तत्त्व
१६—शक्ति और शक्तिमान्की एकता और भेद
१७—सृष्टिकर्ममें विष्णुका स्थान
१८—'विष्णोः शक्तिर्हि पालनी' (विश्वके पालक देवता विष्णु
१९—अव्याकृत विष्णु, रुद्र आदि
२०—त्रिदेवोंका स्वरूप और कार्य
२१—शिव-विष्णुकी एकता

२२—'विष्णुर्विकल्पोज्झितः'
२३—भगवान् विष्णुका विराट् रूप
२४—युगभेदसे भगवान् विष्णुके विभिन्न रूप और उनकी आराधना
२५—आयुधभेदसे भगवान् विष्णुके विभिन्न विग्रह और उनके नाम आदि
२६—भगवान् विष्णुके आयुध—सुदर्शन चक्र, शार्ङ्गधनुष, कौमोदकी गदा आदि
२७—विष्णुके परिधान एवं आभूषण
२८—भगवान् विष्णुके अनन्त तथा अचिन्त्य गुणगण
२९—विष्णु-शब्दका लक्ष्यार्थ एवं वाच्यार्थ
३०—विष्णु-नामकी महिमा
३१—विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं हरिम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण रोगान् सर्वान् व्यपोहति ॥
३२—विष्णुसहस्रनाम
३३—अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥
३४—भगवान् विष्णुके हरि, नारायण, वासुदेव आदि मुख्य १०८ नाम
३५—शेषशायी विष्णु, विश्वकी उत्पादनी शक्ति, नाभिपद्म, ब्रह्माजीकी उत्पत्ति तथा उनके द्वारा विश्वसृष्टि
३६—भगवान् विष्णुका धर्म-संस्थापन-कार्य और लोक-रक्षा
३७—भगवान् विष्णुकी विविध लीलाएँ
३८—वृन्दा-चरित्र—वृन्दापर भगवान् विष्णुकी कृपा
३९—'तद्विष्णोः परमं पदम्'
४०—विष्णुके लोक—वैकुण्ठ, श्वेतद्वीप, क्षीरसागर आदि
४१—विष्णुलोक—वैकुण्ठका द्वार ध्रुवलोक
४२—ज्योतिषशास्त्रमें विष्णुलोककी स्थिति, शिशुमार-चक्र तथा ध्रुव, सप्तर्षिगण आदिकी स्थिति
४३—अवतार-सिद्धान्त
४४—अवतार-बीज
४५—अवतारोंके भेद—पुरुषावतार, गुणावतार, अंशावतार, कलावतार, विभवावतार, प्राभवावतार, आवेशावतार, अर्चावतार आदि
४६—अवतार एवं उनके प्रयोजन आदि
४७—विभिन्न अवतार एवं उनकी शक्तियाँ
४८—भगवान् विष्णु सनकादि रूपमें
४९—भगवान् विष्णु वराहरूपमें
५०—भगवान् विष्णु नारदरूपमें
५१—भगवान् विष्णु नर-नारायणरूपमें
५२—भगवान् विष्णु कपिलरूपमें
५३—भगवान् विष्णु दत्तात्रेयरूपमें
५४—भगवान् विष्णु यज्ञपुरुषरूपमें
५५—भगवान् विष्णु ऋषभदेवरूपमें
५६—भगवान् विष्णु पृथुरूपमें
५७—भगवान् विष्णु मत्स्यरूपमें
५८—भगवान् विष्णु कूर्मरूपमें
५९—भगवान् विष्णु धन्वन्तरिरूपमें
६०—भगवान् विष्णु मोहिनीरूपमें
६१—भगवान् विष्णु नृसिंहरूपमें
६२—भगवान् विष्णु वामनरूपमें
६३—भगवान् विष्णु परशुरामरूपमें
६४—भगवान् विष्णु व्यासरूपमें
६५—भगवान् विष्णु रामरूपमें
६६—भगवान् विष्णु बलरामरूपमें
६७—भगवान् विष्णु कृष्णरूपमें
६८—भगवान् विष्णु बुद्धरूपमें
६९—भगवान् विष्णु कल्किरूपमें
७०—भगवान् विष्णु हंसरूपमें
७१—भगवान् विष्णु हयग्रीवरूपमें
७२—भगवान् विष्णु धर्मरूपमें
७३—भगवान्के अनन्त अवतार
७४—भगवान्के पूर्णावतार
७५—राम और कृष्ण विष्णुके अवतार हैं या विष्णुके आराध्य ?
७६—भगवान् विष्णुकी शक्तियाँ—श्रीदेवी, भूदेवी, लीला (नीला) देवी
७७—गङ्गादेवी और सरस्वती देवी आदि
७८—भगवान् विष्णुके पार्षद, परिकर तथा परिच्छद आदि
७९—भगवान् विष्णुके दास, सखा, वाहन, आसन, रथ और ध्वजा आदि
८०—द्वादश परम भागवतोंका परिचय

८१–'वैष्णवानां यथा शम्भुः'
८२–भगवान् विष्णुके चतुर्व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध और उनके कार्य
८३–जय और विजय
८४–महाभागवत अम्बरीष
८५–गरुड़ और सुपर्ण
८६–प्रजापतिगण और उनका प्रजापालन-कार्य
८७–महाभागवत ध्रुव
८८–महाभागवत प्रह्लाद
८९–महाभागवत बलि
९०–महाभागवत गजेन्द्र
९१–महाभागवत शुकदेव
९२–महाभागवत अग्निविन्दु, राजर्षि जनक इत्यादि
९३–महाभागवत द्रौपदी, कुन्ती, पाण्डवगण इत्यादि
९४–महाभागवत भीष्म
९५–आळवार संत
९६–मध्ययुगके प्रमुख विष्णु-भक्त
९७–आधुनिक कालके प्रमुख विष्णु-भक्त
९८–विष्णुके साक्षात्कारके साधन
९९–योगदर्शनके अनुसार भगवान् विष्णुकी आराधना-विधि और वैष्णव-लोकोंकी प्राप्तिके उपाय
१००–विष्णुकी ध्यान-विधि आदि
१०१–विष्णुके मन्त्र
१०२–विष्णुकी सकाम-निष्काम उपासना और उनका फल
१०३–श्रीलक्ष्मीनारायणकी युगलोपासना
१०४–वैष्णवोंकी पूजा-विधि
१०५–विविध वैष्णव-व्रत, उनकी अनुष्ठान-विधि और फल
१०६–वैष्णवोंके चार प्रमुख जयन्ती-व्रत—श्रीरामनवमी, श्रीनृसिंह-जयन्ती, श्रीकृष्णजन्माष्टमी एवं श्रीवामन-जयन्ती
१०७–एकादशीव्रत-विधि एवं माहात्म्य
१०८–भगवान् विष्णुके अष्टाक्षर-मन्त्रके पुरश्चरणकी विधि
१०९–भगवान् विष्णुके द्वादशाक्षर-मन्त्रके पुरश्चरणकी विधि
११०–वैष्णव भक्तिके नौ भेद
१११–भगवान् शालग्राममें विष्णुका आविर्भाव और उनकी आराधना
११२–शालग्रामके अनेक भेद और फल
११३–विष्णुभक्तोंके विभिन्न भाव
११४–विष्णु-मन्दिरकी निर्माण-विधि
११५–विष्णु-मन्दिरके जीर्णोद्धारका फल
११६–भगवान् विष्णुके विविध अवतारोंकी प्रतिमाओं निर्माण एवं स्थापन
११७–तुलसी-महिमा, पूजाविधि आदि
११८–विष्णुध्वजका परिचय एवं माहात्म्य
११९–विष्णु-सम्बन्धी उत्सव
१२०–विष्णु और वैष्णव
१२१–वैष्णवोंके सदाचार
१२२–वैष्णव-धर्ममें शुद्धि
१२३–वैष्णव-धर्ममें अहिंसा
१२४–'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे'
१२५–वेदोंमें भगवान् श्रीविष्णु
१२६–आगमोंमें भगवान् विष्णु
१२७–पुराणोंमें भगवान् विष्णु
१२८–वाल्मीकि-रामायणमें भगवान् विष्णु
१२९–महाभारतमें भगवान् विष्णु
१३०–श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् विष्णु
१३१–काव्य तथा नाटकोंमें भगवान् विष्णु
१३२–भगवान् शंकराचार्य और उनके सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३३–श्रीरामानुजीय वैष्णव-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३४–श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३५–श्रीमध्व-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३६–श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३७–श्रीगौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३८–श्रीरामानन्दीय वैष्णव-सम्प्रदायमें भगवान् विष्णु
१३९–व्रजभक्तोंके काव्यमें विष्णु
१४०–वृन्दावन, मथुरा, द्वारका आदिमें वैष्णव धर्म, मन्दिर, साहित्य आदि
१४१–अयोध्यामें वैष्णव-धर्म, मन्दिर, साहित्य आदि
१४२–बंगालमें वैष्णव धर्मका उदय एवं विकास तथा बँगला भाषामें वैष्णव साहित्य
१४३–असम प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४४–उत्कल प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य

१४५–आन्ध्र प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४६–कर्णाटक प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४७–तमिलनाडु प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४८–महाराष्ट्र प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१४९–गुर्जर प्रदेशमें वैष्णव-धर्म और साहित्य
१५०–सूर तथा तुलसीके साहित्यमें भगवान् विष्णु और वैष्णव-धर्म
१५१–व्रजभाषा-साहित्यमें भगवान् विष्णु और वैष्णव-धर्म
१५२–प्रधान वैष्णव-क्षेत्र
१५३–६८ तथा १०८ वैष्णव तीर्थ
१५४–विष्णुके मन्दिर
१५५–'शिल्परत्न' और 'अपराजित पृच्छा' आदि ग्रन्थोंमें विष्णु-प्रतिमा एवं चित्रादिपर विचार
१५६–दक्षिण भारतके दिव्यदेश
१५७–विदेशोंमें भगवान् विष्णुकी उपासना और साहित्य
१५८–वैष्णव आगमोंकी उत्पत्ति और विकास
१५९–वैष्णव दर्शन और उसके भेद—शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, अचिन्त्यभेदाभेदवाद आदि
१६०–विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायोंके प्रवर्तक, आचार्य और उनके सिद्धान्त
१६१–वैष्णव धर्म एवं दर्शनका इतिहास
१६२–नवधा भक्ति और उसके आचार्य
१६३–अनेक वैष्णव-धर्मशास्त्र
१६४–स्मार्त और वैष्णव
१६५–शैव और वैष्णव
१६६–शाक्त और वैष्णव
१६७–'चित्रसूत्र'के आदिकर्ता भगवान् विष्णु
१६८–विष्णुप्रोक्त राजनीति-ग्रन्थ–'वैष्णव-धर्मशास्त्र'
१६९–विश्वका प्रथम नाटक 'लक्ष्मी-स्वयंवर' तथा हरिवंशपुराण
१७०–वैष्णवोंकी काव्य-परम्परा
१७१–वैष्णव-साहित्य और उसके द्वारा जगत्‌का कल्याण
१७२–वैष्णव-कवि
१७३–'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति'
१७४–'स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न कर्हिचित्'
१७५–'एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः'
१७६–विश्वकी वर्तमान स्थितिमें विष्णु-आराधनाकी आवश्यकता
१७७–वैष्णव-धर्मका अन्य धर्मोंपर प्रभाव

शुभकार्यके लिये प्रतीक्षा मत कीजिये

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम् । वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥
अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम् । अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् । न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति । न मृत्युरामन्त्रयते हर्तुकामो जगत्प्रभुः ॥
अबुद्ध एवाक्रमते मीनान् मीनग्रहो यथा । युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ॥
कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ।

(महा० शान्ति० १७५ । १३–१६)

जैसे घास चरते हुए भेड़के पास अचानक भेड़िया पहुँच जाता है और उसे दबोचकर चल देता है, उसी प्रकार मनुष्यका मन जब दूसरी ओर लगा रहता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती और उसे लेकर चल देती है । इसलिये जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिये । आपका यह समय हाथसे निकल न जाय; क्योंकि सारे काम अधूरे ही पड़े रह जायँगे और मौत आपको खींच ले जायगी । कल किया जानेवाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिये । जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं । कौन जानता है कि किसका मृत्युकाल आज ही उपस्थित होगा । सम्पूर्ण जगत्पर प्रभुत्व रखनेवाली मृत्यु जब किसीको हरकर ले जाना चाहती है, तब उसे पहलेसे सूचना नहीं देती । जैसे मछुआ चुपकेसे आकर मछलियोंको पकड़ लेता है, उसी प्रकार मृत्यु भी अज्ञात रहकर भी आक्रमण करती है । अतः युवावस्थामें ही सबको धर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि जीवन निस्संदेह अनित्य है । धर्माचरण करनेसे इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका विस्तार होता है और परलोकमें भी उसे सुख मिलता है ।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

आत्मप्रशंसा आत्महत्या है

सन् १९६५ की बात है । श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) वृन्दावन गये । स्थानीय नगरपालिका-हालमें उनके सत्सङ्गकी व्यवस्था हुई । नगरपालिकाके अध्यक्षने इस अवसरका सुन्दर लाभ उठाते हुए श्रीभाईजीके अनजानमें उन्हें 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करनेकी व्यवस्था की। सभा आरम्भ होनेपर श्रीभाईजीको ज्ञात हुआ कि अध्यक्ष महोदय 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करने जा रहे हैं। उन्होंने बड़ी दृढ़ताके साथ, किंतु विनम्र शब्दोंमें 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करनेका विरोध किया; परंतु वहाँ उपस्थित कतिपय गुरुजनों एवं महात्माओंने उन्हें आदेश दिया कि वे चुपचाप बैठे रहें, उसका विरोध न करें । उन्होंने कहा—"आप मनसे इसको स्वीकार न कीजिये, बाहरी रूपमें 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करके इनको संतुष्ट हो लेने दीजिये।" गुरुजनोंके आदेशके सामने श्रीभाईजी नतमस्तक हो गये, किंतु उन्होंने उठकर 'अभिनन्दन-पत्र' स्वीकार नहीं किया । अध्यक्ष महोदयने अपने संक्षिप्त भाषणमें श्रीभाईजीकी बड़ी प्रशंसा की और अन्तमें उन्होंने कहा—'विनयकी मानो भाईजी मूर्ति हैं ।' श्रीभाईजी अपनी प्रशंसाके शब्द सुनकर बड़े ही संकुचित हुए, परंतु अपने शीलवश बीचमें कुछ बोले नहीं ।

अध्यक्षके भाषणके बाद श्रीभाईजीका प्रवचन प्रारम्भ हुआ। श्रीभाईजीने कहा—"मैं 'अभिनन्दन-पत्र' प्रदान करने तथा स्वीकार करनेका सदासे विरोधी रहा हूँ । इसीसे मैंने आपलोगोंकी प्रीति एवं कृपाका हृदयसे आदर करते हुए भी 'अभिनन्दन-पत्र'का विरोध किया है । सम्भव है, मेरी यह चेष्टा अधिक मान पानेका प्रयास हो । मनुष्यके अंदर एक छिपी कामना होती है—मान और बड़ाई पानेकी । बहुत बड़े-बड़े त्यागी-महात्मा जो जगत्के समस्त पदार्थोंका त्याग कर चुकते हैं, उनमें भी न कहनेपर, न चाहनेपर, अपितु मना करनेपर भी मान-बड़ाईकी अभिलाषा छिपे रूपमें रहती है । श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके शब्द हैं—

'सम्मानं कलयातिघोरगरलं नीचापमानं सुधाम् ।'

'मैंने अभिनन्दन-पत्रके लिये विरोध किया, इसके बदलेमें मानके और शब्द सुननेको मिले । इनसे चित्त प्रसन्नता नहीं हुई होगी; यह अन्तर्यामी प्रभु ही जानते है। आप सब आशीर्वाद दें—यह मान चाहनेका, बड़ाई चाहनेका मनोरथ आप सबके आशीर्वादसे दूर हो जाय तथा जैसे पुष्पोंकी माला पहननेमें सुख-प्रसन्नता होती है, वैसे ही जूतोंकी माला पहननेमें भी सुख-प्रसन्नताकी अनुभूति हो ।

"महाभारतकी एक कथा है, जिसका सार है—'अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना आत्महत्या है ।' इसका अर्थ मैं यह लेता हूँ कि अपने मुँह अपनी प्रशंसा करना जिस प्रकार आत्महत्या है, उसी प्रकार अपने कानोंसे अपनी प्रशंसा सुनना भी आत्महत्या है । -

"कर्णपर्वमें कथा आती है—जब अर्जुन कर्णके साथ युद्ध करनेका भार भीमको सौंपकर युधिष्ठिरके पास पहुँचते हैं, तब युधिष्ठिरको यह भ्रम हो जाता है कि अर्जुन कर्णका वध करके आये हैं और वे अर्जुनसे कर्णके मारे जानेका वृत्तान्त पूछते हैं । अर्जुन संकुचित होकर कर्णको न मार सकनेका कारण बतलाते हैं तथा उसका वध करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

"श्रीयुधिष्ठिर कर्णके बाणोंसे संतप्त थे, अतएव कर्णको सकुशल सुनकर वे अर्जुनपर कुपित हो गये । उन्होंने क्रोधके आवेशमें यहाँतक कह दिया—'अर्जुन ! तुम अपना गाण्डीव धनुष दूसरे किसी ऐसे राजाको दे दो, जो अस्त्र-बलमें तुमसे बढ़कर हो—

प्रयच्छान्यस्मै गाण्डिवमेतदद्य
त्वत्तो योऽस्त्रैरभ्यधिको वा नरेन्द्रः ।

युधिष्ठिरके मुखसे अपनी तथा अपने गाण्डीवकी भर्त्सना सुनकर अर्जुन मर्माहत हो उठे और उन्होंने क्रोधमें आकर युधिष्ठिरको मार डालनेकी इच्छासे तलवार उठा ली । श्रीकृष्ण अर्जुनका आशय समझ गये, परंतु उन्होंने अर्जुनसे तलवार उठानेका हेतु पूछा । अर्जुनने कहा—'मेरी यह प्रतिज्ञा है, जो मुझसे यह कह दे कि तुम अपना गाण्डीव धनुष दूसरेको दे दो, उसका मैं सिर काट लूँगा।'—

"भगवान् श्रीकृष्ण समझ गये कि अर्जुन क्रोधमें पागल

हो रहे हैं। उन्होंने अर्जुनको विस्तारपूर्वक धर्मका मर्म समझाया और कहा—'गुरुजनोंकी हत्या तलवारसे नहीं होती। गुरुजनोंका अपमान कर देना—उन्हें अपमानजनक शब्द कह देना ही उनकी हत्या है। तुम युधिष्ठिरके प्रति अपमानजनक वाक्योंका प्रयोग कर दो। इससे तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी।' अर्जुनने अपने परम हितैषी सखा भगवान् श्रीकृष्णके आदेशको शिरोधार्य किया और उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा-पूर्तिके लिये युधिष्ठिरको अपमान-जनक शब्द कह डाले। युधिष्ठिरको रूखी और कठोर बातें सुनाकर अर्जुन अत्यन्त अनमने और उदास हो गये, जैसे भीषण पातक करके कोई मनुष्य पछता रहा हो।

"अर्जुनने लंबी श्वास ली और फिरसे अपनी तलवार निकाल ली। भगवान् श्रीकृष्णके पूछनेपर कि 'तलवार म्यानसे बाहर क्यों निकाली गयी?' अर्जुनने कहा—'मैंने अपने बड़े भाईका अपमान किया है। अतएव अपने शरीरको नष्ट कर डालूँगा।' भगवान् श्रीकृष्णने देखा, स्थिति फिर गम्भीर हो गयी है। उन्होंने समझाया—'अर्जुन! धर्मका स्वरूप सूक्ष्म है; उसको जानना या समझना बहुत कठिन है। भाईका वध करनेसे जिस घोर नरककी प्राप्ति होती है, उससे भी भयानक नरक स्वयंकी हत्या करनेसे प्राप्त होगा। अतः पार्थ! तुम अपनी ही वाणीद्वारा अपने गुणोंका वर्णन करो, ऐसा करनेसे मान लिया जायगा कि तुमने अपने ही हाथों अपना वध कर लिया—आत्महत्या कर ली—

'ब्रवीहि वाचाद्य गुणानिहात्मन-
स्तथा हतात्मा भवितासि पार्थ।'

"अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके हाथके यन्त्र थे, उन्होंने धर्मका रहस्य समझकर अपने मुँह अपने गुणोंका बखान कर अपना वध करनेकी प्रतिज्ञाका निर्वाह किया।" इस प्रकार आत्म प्रशंसा करना या सुनना आत्महत्याके समान माना गया है।

(२)

स्वयं अपना मददगार

एक नौजवान था, खासा तगड़ा। बुद्धि उसकी अच्छी थी, किंतु आलसी वह बहुत था। कहींसे यदि मुफ्तमें खाने-पीनेको मिल जाय तो परिश्रमका नाम भी वह नहीं लेता था। इसीलिये उसने माँगनेकी विद्या सीख ली थी। इधर-उधरसे मदद लेकर भी वह मौज उड़ाता था।

एक बार वह टाल्सटायके पास आकर कहने लगा—'मेरे पिताजी स्वयं अङ्गहीन—लाचार हैं। मेरा कुटुम्ब बहुत निर्धन है। मुझे कहीं भी नौकरी नहीं मिल रही है; आप कुछ मदद कीजिये।'

टाल्सटायने प्रश्न किया—'क्या मदद चाहिये तुझे?'

'थोड़े पैसे दे दीजिये; तात्कालिक रूपसे तो दुःखमुक्त हो जाऊँगा।' युवकने कहा।

'तुझे अस्थायी रूपसे दुःखमुक्त होना है कि स्थायीरूपसे?'

—प्रश्न सुनकर युवक अपने मनमें प्रसन्न हो गया। भला स्थायीरूपसे दुःखमुक्त होना किसको नहीं भाता? उसने सोचा—अब मुझे बड़ी रकम मिल जायगी और खूब सुख-चैनसे दिन कटेंगे।

'तो सुनो' टाल्सटायने कहा—'तू अपना दाहिना हाथ मुझे बेच दे, पाँच सौ रुबल मिल जायँगे।' सुनकर युवक उदास हो गया। वह बोला—'साहब! यह तो मुझे पसंद नहीं होगा; क्योंकि पाँच सौ रुबलसे मेरा हाथ अधिक मूल्यवान् है।'

'तो इस शहरमें एक ऐसा व्यापारी है' टाल्सटायने कहा—'जो तेरी दोनों आँखोंके लिये एक हजार रुबल दे सकता है।'

किंतु मेरी आँखें एक हजारसे कहीं अधिक मूल्यकी हैं।' युवक बोला।

'तो तेरी स्थायी उपाधि टल सके, ऐसा एक और उपाय बताऊँ—तू अपना सारा शरीर बेच दे, तुझे पाँच हजार रुबल मिल जायँगे।'

'क्या मेरे शरीरकी कीमत पाँच हजार रुबल ही मिलेगी?' युवकके प्रश्नमें आश्चर्य था।

'मैंने तो तुझे सब बातें बतला दीं, अब तू क्या बेच सकता है, उसका निश्चय स्वयं कर ले। जैसा माल, वैसी कीमत मिलेगी।'

अब उस युवकको अपने शरीरका मूल्य समझमें आ गया। वह अब समझ रहा था कि जिस शरीरके पाँच हजार रुबल मिल सकते हैं, उसी शरीरसे अगर योग्य परिश्रम किया जाय तो अच्छी कमाई भी हो सकती है। सोचकर वह बोला—'मेरा शरीर, हाथ, पाँव या आँखें मैं किसी भी कीमतपर बेच नहीं सकता।'

'अब समझमें आया।' टालस्टायने कहा। 'आज मैं बहुत प्रसन्न हुआ कि तुझे तेरे अङ्गोंका यथार्थ मूल्य मालूम हो गया। अब औरोंसे मदद न माँगकर अपने शरीरसे ही मदद माँग। तेरा शरीर तुझे जो भी देगा, वह सबसे अधिक और स्थायी सुख देनेवाला होगा।'

और उसी दिनसे वह नवयुवक आलस्यको छोड़कर स्वयं अपना ही मददगार बन गया।

'सुविचार'—विनोद पुरोहित, एम्० ए०

(३)

मुझे सच्चे भारतका स्पर्श अनुभव करने दीजिये

वायसरायकी घोषणाके अनुसार उनके द्वारा चुने हुए विभिन्न दलोंके प्रतिनिधियोंका एक सम्मेलन शिमलामें होने जा रहा था। उसमें भाग लेनेके लिये कांग्रेस-कार्यकारिणीके नौ सदस्य भी जा रहे थे। वे लोग चौंतीस महीनेके कारावासके बाद जेलसे छूटे थे, इसलिये उनका स्वागत करनेको बम्बई और शिमलाके बीच ग्यारह सौ मीलके रास्तेमें विभिन्न स्टेशनोंपर भीड़ इकट्ठी हुई थी। लोगोंके आनन्दकी कोई सीमा नहीं थी। शासकोंने भी कलके विद्रोहियोंके लिये सैनिक मोटरें, स्पेशल ट्रेनें और हवाई-जहाज आदिकी सुविधाएँ प्रस्तुत की थीं, ताकि वे लोग सम्मेलनमें उपस्थित हो सकें।

गांधीजीने रेलके वातानुकूलित डिब्बेमें जानेसे इन्कार कर दिया। वह कांग्रेसी नेताओंके लिये सुरक्षित था। उन्होंने तीसरे दर्जेमें ही सफर करनेका आग्रह किया। 'यूनाइटेड प्रेस ऑफ अमेरिका'के पत्र-प्रतिनिधि प्रेस्टन ग्रोवर उसी गाड़ीमें गांधीजीके साथ थे। उन्हें गांधीजीके स्वास्थ्यकी बड़ी चिन्ता थी। रास्तेमें एक स्थानपर जब गाड़ी रुकी, उन्होंने छोटा-सा एक पर्चा लिखकर गांधीजीको दिया। उसमें लिखा था—'क्या यह अधिक बुद्धिमानीकी बात नहीं होगी कि तीसरे पहरके लिये आप कांग्रेसके अधिक ठंडे डिब्बेमें यात्रा करें। इससे आप थोड़ी देर लेटकर आराम कर सकेंगे। आपको चौबीस घंटेसे जरा भी नींद नहीं आयी है। रास्तेके स्टेशनोंपर आपकी नींदमें बाधा पड़ेगी और इस कारण आप थके-माँदे शिमला पहुँचेंगे, इससे आपको कोई लाभ नहीं होगा।'

महात्माजीने उत्तर लिखा, 'आपके ममता-भरे पत्रके लिये अनेक धन्यवाद। लेकिन मुझे इस स्वाभाविक ग[र्मी]में पिघल जाने दीजिये। भाग्यकी तरह यह भी निश्चित है [कि] इस गर्मीके बाद ताजगी लानेवाली ठंडक आयेगी औ[र] उसका आनन्द लूँगा। मुझे सच्चे भारतका थोड़ा [स्पर्श] अनुभव करने दीजिये।'

('संगठनमें शक्ति है')

(४)

आदर्श भेंट

प्रतिदिन सवेरे सात बजे स्कूल जाते समय मेरे [साथ] एक हाईस्कूलका पङ्गु विद्यार्थी भी बसमें बैठता था। एक ही समय और एक ही स्टैंड बैठते रहनेके का[रण] कभी-कभी उससे बात करनेका भी मौका मिल जाता था।

बसमें चढ़ते समय इस विद्यार्थीको बड़ी कठिनाई होती थी। भीड़ होनेपर तो स्थिति और भी बुरी होती थी। कभी [बस] दूर खड़ी हो जाती थी तो उसे हाथमें पुस्तक लेकर घसी[टते-] घसीटते बसतक पहुँचनेमें जो कष्ट होता था, वह देखा [नहीं] जाता था। बरसातके समयकी कठिनाईके विषयमें तो [कहना] ही क्या जाय, थोड़ी-सी भी बरसात होनेपर रास्तेमें कीच[ड़] हो जाती थी और उस बेचारेके कपड़े खराब हो जाते थे। बसका कंडक्टर भावप्रवण था। उसकी उस [अ]विद्यार्थीके प्रति सहानुभूति थी। अतः बस ठहरनेका [स्थान] स्कूलसे दूर होनेपर भी वह बसको स्कूलके समीप रोक[ता] था। मैं बहुधा उस विद्यार्थीकी लाचारीकी स्थितिपर [बड़ी] सहानुभूतिपूर्वक विचार करता था, पर निरुपाय था। उ[सके] आत्मविश्वास एवं परिस्थितियोंसे संघर्ष करनेकी हिम्मत [ने] मुग्ध किये हुए थी।

इसी बीच ग्रीष्मावकाश हो गया। थोड़े दिन प[श्चात्] नया सत्र आरम्भ होनेपर वह विद्यार्थी मुझे दिखायी नहीं प[ड़ा।] मुझे दुःख हुआ कि बेचारेने शायद मुश्किलोंके कारण प[ढ़ाई] बंद कर दी होगी। फिर मनमें आया कि सम्भव है, उ[सने] स्कूल बदल दिया हो अथवा स्कूलके समयमें कुछ उलट[फेर] हुई होगी, जिससे उससे मिलना नहीं हो पाता। परंतु एक दि[न] मैं घरसे जरा देरसे चला। मेरी बस चली गयी थी। अत[ः] दूसरी बसकी प्रतीक्षामें मैं खड़ा था। अकस्मात् वह विद्या[र्थी] तीन पहियेवाली रिक्शा-जैसी गाड़ी लिये हुए दिखायी प[ड़ा,] जिसके पैडल हाथोंसे घुमाये जा सकते थे। ये गाड़ि[याँ]

अपंग व्यक्तियोंके लिये निर्मित हुई हैं। मैंने उसे जब इस प्रकारकी गाड़ीमें बैठे देखा, तब मुझे बड़ा आनन्द मिला। मैंने उससे पूछा—'भैया! तुमने यह गाड़ी बनवायी है क्या? बड़ा अच्छा हुआ, तुम्हारी तकलीफ दूर हो गयी। कितने रुपये लगे?' विद्यार्थीने उत्तर दिया—'भाई साहब! यह मैंने नहीं बनवायी। देखिये, इसमें क्या लिखा है?' कहते-कहते उसकी आँखें भर आयीं।

मैंने देखा—उस गाड़ीपर लिखा था—'म्युनिसिपल हाईस्कूलकी ओरसे सप्रेम भेंट।'

मैंने उससे पूछा—'तो स्कूलने बनवाकर दी है?'

उसने कहा—'हाँ साहब! मेरी इतनी कठिनाई देखकर, स्कूलके सभी विद्यार्थियों एवं शिक्षकोंने मिलकर मेरी तकलीफको दूर कर दिया है। सबने चंदा इकट्ठा कर यह गाड़ी बनवाकर मुझे भेंट की है। अब बससे आने-जानेकी मेरी सारी तकलीफ दूर हो गयी। मैं अपने हाथसे चलाकर समयपर स्कूल पहुँच जाता हूँ।'

विद्यार्थी यह सब बतलाता जा रहा था और उसकी आँखें कृतज्ञतासे छलछलाती जा रही थीं। मेरे मनमें आया कि एक विद्याप्रेमी अपंग विद्यार्थीको ऐसी सुन्दर तथा उपयोगी भेंट देनेवाले सहपाठी एवं अध्यापक सचमुच नमनके योग्य हैं।

'अखण्ड आनन्द' —व्रजलाल र० दावड़ा

(५)

मनका बड़प्पन

बम्बईके एक श्रीमन्त घरकी बारात सौराष्ट्रके एक गाँवमें आयी हुई थी। कन्याके पिताने बारातियोंके सत्कार-सुविधाकी अच्छी व्यवस्था की थी। प्रत्येक पाँच बारातियोंके बीच एक व्यक्तिको व्यवस्थामें रख दिया था।

इस बारातमें दूल्हेका एक मित्र था, जो बड़ा ही अभिमानी एवं चपल था। उसका खयाल था कि बारातमें आनेवालोंके लिये कन्यापक्षको सभी अनुकूल सुविधाएँ प्रदान करनी ही चाहिये। उसकी आवभगतमें जिस व्यक्तिको रखा गया था, उसको वह बिना कारण परीशान करता रहता था। स्नान करनेके लिये थोड़ा ठंडा जल आनेपर वह बोल उठता था—'ऐसा पानी मुझे पसंद नहीं आयेगा, थोड़ा तेज गर्म पानी ले आओ'। नहानेका साबुन हाथमें लेकर वह कह देता था—'ऐसे साबुनसे तो हमलोग कपड़े भी नहीं धोते। अतः अच्छा साबुन ले आओ।' बेचारा वह शान्त-चित्तसे सब कुछ सहन करके भी अन्तिम दिनतक उसे निभाता रहा। चाय-कॉफी आते ही वह बोल देता था—'ऐसी चाय नहीं चलेगी।' और उसी समय वह उससे भी अच्छी चाय ला देता। इस प्रकार अन्तिम विदाईके समयतक उसने मौन सेवा चालू रखी।

बारातको विदा करनेके लिये सब लोग स्टेशनपर आये। उस युवकने अपनी जेबमेंसे पाँच रुपयेका नोट निकालकर अपना बड़प्पन दिखाते हुए कन्याके पितासे कहा—'आपके उस आदमीने हमारी बड़ी अच्छी सेवा की है; मेरी ओरसे यह इनाम उसे दे दीजियेगा।'

'वे व्यक्ति नौकर नहीं हैं'—कन्याके पिताने चटसे कहा। 'वे तो मेरे रिश्तेदार हैं। हमलोग मेहमानोंकी आवभगतके लिये बाहरके व्यक्तियोंको नियुक्त नहीं करते। अपने मेहमानोंकी आवभगत हमलोग परस्पर स्वयं कर लेते हैं। और आपने जो बकसीस देनेकी बात कही, उसके विषयमें तो यही कहना उचित होगा कि वे हमारे रिश्तेदार स्वयं एक बड़े बगीचेके मालिक एवं जमींदार होनेके कारण आपको और मुझको बकसीस दे सकते हैं।'

नाईलनके कड़क कपड़े पहननेवाले तथा अभिमानमें चूर उस युवकका अभिमान क्षणमात्रमें चूर्ण हो गया और उसने उस व्यक्तिके चरणोंमें भावात्मक प्रणाम किया।

'अखण्ड आनन्द' —गोपालदास प्र० मोदी

(६)

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता

नित्यकी अपेक्षा इस बार कलकत्ताकी रात्रियाँ अत्यधिक ठंडी हैं। अर्द्धरात्रिका समय है। दिनका अत्यधिक व्यस्त कार्य समाप्त करके डॉक्टर अभी घर पहुँचे हैं। वे थककर चूर हो चुके हैं। भूख और थकानसे त्राण पानेके लिये उन्होंने शीघ्रतासे अपने कपड़े उतारे, स्नान किया और भोजनके लिये बैठ गये। अभी उन्होंने अपना कौर उठाया ही था कि टेलीफोनकी घंटी बजी और डॉक्टर तत्काल उठ खड़े हुए और टेलीफोनका चोंगा हाथमें ले लिया।

'डॉक्टर साहब! स्थिति अत्यन्त गम्भीर है। कृपया शीघ्र आइये।'

डॉक्टरका उत्तर था—'परंतु समय बहुत जा चुका है। क्या आप प्रातःकालतक प्रतीक्षा नहीं कर सकते?'

दूसरी ओरसे उत्तर सुनायी दिया—'नहीं-नहीं डॉक्टर, कृपया शीघ्र आइये। अवश्य आइये, डॉक्टर! रोगी

अत्यधिक बीमार है। आप हमारे घरका पता नोट कर लें।'

'बहुत अच्छा, मैं आ रहा हूँ।' डॉक्टरने उत्तर दिया।

'वह व्यक्ति मरणासन्न है, मुझे जाना ही होगा।' अब भोजन करनेका समय नहीं। कहते हुए डॉक्टरने शीघ्रतासे कपड़े पहने, कारको गैरेजसे बाहर निकाला और चल पड़े। रोगी वहाँसे पाँच मीलकी दूरीपर था। डॉक्टर उसका घर जानते थे। अतः वे शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये। परंतु उन्हें आश्चर्य हुआ; क्योंकि कोई भी व्यक्ति नित्यके समान द्वारपर उनकी प्रतीक्षा नहीं कर रहा था। उन्होंने दरवाजा खटखटाया, बार-बार किवाड़ भड़भड़ाये; परंतु अंदरसे कोई भी प्रत्युत्तर नहीं सुनायी दिया। संलग्न मकानमें रहनेवाला व्यक्ति शोरगुलसे चिढ़कर बाहर आया और पूछ-ताछ की कि बात क्या है। डॉक्टरने उससे पूछा—'क्या आप मुझे बता सकते हैं कि इस मकानमें किसी तल्लेमें कोई व्यक्ति गम्भीर रूपसे बीमार है?'

'नहीं, मेरी जानकारीमें ऐसी बात नहीं है।'

डॉक्टरने पुनः किवाड़ खटखटाये। इस बार घरका दरवान बाहर निकला। दरवान डॉक्टरको पहचानता था। अर्द्धरात्रिमें डॉक्टरको देखकर उसे आश्चर्य हुआ। डॉक्टरने उसे बतलाया कि 'मैं बहुत देरसे बाहर प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मुझे फोनपर यह बतलाया गया था कि तीसरे तल्लेपर तुम्हारे स्वामी अत्यधिक बीमार हैं और मुझे तत्काल उन्हें देखना चाहिये। परंतु मुझे तो यहाँ कोई भी व्यक्ति मिलनेके लिये जागता दिखायी नहीं देता। क्या तुम कृपा करके मुझे सीढ़ीके ऊपर ले जा सकते हो?' दरवानने कहा—'मैं पहले जरा पूछ आऊँ।' फिर भी डॉक्टर उसके साथ ही तीसरे तल्लेपर चले गये और रोगीका द्वार खटखटाया। परंतु वह भद्र पुरुष भी ऐसे समयमें डॉक्टरको अपने घर देखकर आश्चर्यचकित था और उन्होंने कहा—'डॉक्टर! मुझे नितान्त खेद है कि यहाँ तो कोई बीमार नहीं है और न यहाँसे किसीने आपको बुलवाया है। मुझे भय है कि किसीने आपको झूठी सूचना देकर मूर्ख बनाया है।

इस प्रकार अपमानित और निराश हुए वे डॉक्टर अपनी कारमें पुनः बैठ गये और घरकी ओर गाड़ी चल पड़ी। बहुत रात्रि व्यतीत होनेपर वे अपने घर वापस पहुँच पाये। उन्होंने पुनः अपने कपड़े बदले और इस कड़ाकेकी ठंडमें पुनः स्नान किया और बिना कुछ खाये-पीये सोनेके लिये चल पड़े; क्योंकि अत्यधिक थकानके कारण भूख समाप्त हो चुकी थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब वे अपने श्वशुरसे मिले तो उन्होंने अपनी पूर्वरात्रिका अनुभव उन्हें सुनाया। श्वशुर महोदय क्रोधसे तमतमा उठे और रोषके आवेशमें चिल्ला उठे—'वह ठग पक्का बदमाश मालूम होता है। तुम किसी बहुत बड़े धोखेबाजके पाले पड़े। ऐसे लोगोंको तो जरा कड़ा पाठ पढ़ाना चाहिये। देखो बेटा! कितनी अधिक परीशानी तुम्हें कल रातमें हुई।'

डॉक्टरने उत्तर दिया—'नहीं, पिताजी! कलकी रात्रि तो मेरे जीवनकी सर्वाधिक सुन्दर रात्रि थी। यद्यपि यह सत्य है कि किसी व्यक्तिने मुझे भोजन, निद्रा तथा विश्रामसे वञ्चित कर दिया, तथापि यह करते हुए क्या उसने मेरे कितने ही पापोंका प्रक्षालन नहीं कर दिया? क्योंकि दुःख और कष्ट ही वस्तुतः मेरी कमाई हैं। ये मेरे अपने ही कर्मफल हैं। मेरे इन कष्टोंके लिये किसी ठगको क्यों उत्तरदायी समझा जाय? वह तो वस्तुतः मेरा सच्चा मित्र है, जिसने मेरा अपना कर्मफल भुगतनेमें मुझे इतनी अधिक सहायता दी। क्या मेरे दादाभाईने नहीं कहा था—

> **सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता**
> **परो ददातीति कुबुद्धिरेषा।**
> **अहं करोमीति वृथाभिमानं**
> **स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः॥**
> (अध्यात्म० २।६।६)

'कोई तुम्हें सुख और दुःखका देनेवाला नहीं है। किसी दूसरेको इनके लिये उत्तरदायी समझना बहुत बड़ी मूर्खता है। इसलिये कलकी रात्रि तो मेरे लिये अत्यन्त शुभ रात्रि थी। मुझे तो श्रीहरि और इस व्यक्तिके लिये अत्यन्त कृतज्ञ होना चाहिये, जिसने मुझे अर्द्धरात्रिके समय बुलाया और मेरे-जैसे पापी प्राणीके पापोंका इतनी आसानीसे और इतने कम कष्ट द्वारा प्रायश्चित्त करनेका अवसर दिया। परंतु पिताजी! जब मैं अपनेको ठगनेवाले व्यक्तिके विषयमें विचार करता हूँ, जिसका मैंने कोई अपराध नहीं किया था, तब मुझे अत्यन्त वेदना होने लगती है; क्योंकि वह बेचारा यह नहीं जानता कि उसके इस कुकृत्यके लिये उसे कितना दण्ड भोगना पड़ेगा। पिताजी! मुझे तो उसके भविष्यकी चिन्ता है।'

जब वे ये शब्द कह रहे थे, उनके कपोलोंपरसे अश्रु बह रहे थे और उनके सम्मुख ही उनके श्वशुर एक प्रतिमाके सदृश खड़े थे। उनकी आँखोंसे भी अश्रु झर रहे थे और यह डॉक्टर थे—विमलेन्दुचन्द्र गुप्त, हमारे विमल, जो न केवल शास्त्रोंके लिये जिये, परंतु जिनका जीवन शास्त्रमय था।

गीताप्रेसके अमूल्य ग्रन्थ

समय-समयपर 'कल्याण' में निकलनेवाले श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अनुभवपूर्ण लेखोंका संग्रह तत्त्व-चिन्तामणि'के नामसे प्रकाशित किया गया है। ये पुस्तकें बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, ब्रह्मचारी-गृहस्थ, ज्ञानी-भक्त—सभीके लिये विशेष उपयोगी हैं। प्रत्येक भागमें अलग-अलग लेखोंका संग्रह है। विवरण इस प्रकार है—

तत्त्व-चिन्तामणिके बड़े सात भाग

पहला भाग—पृष्ठ ३५२, चित्र रंगीन २, मूल्य	०.६२	डाकखर्च	१.३५
दूसरा भाग—पृष्ठ ५९२, चित्र रंगीन १, मूल्य	०.८७	,,	१.५०
तीसरा भाग—पृष्ठ ४२४, चित्र रंगीन २, मूल्य	०.७०	,,	१.४०
चौथा भाग—पृष्ठ ५२८, चित्र रंगीन ५, मूल्य	०.८१	,,	१.५०
पाँचवाँ भाग—पृष्ठ ४९६, चित्र रंगीन ४, मूल्य	०.८१	,,	१.४५
छठा भाग—पृष्ठ ४५६, चित्र रंगीन १, मूल्य	१.००	,,	१.४०
सातवाँ भाग—पृष्ठ ५३०, चित्र रंगीन १, मूल्य	१.१२	,,	१.५०

इन सातों भागोंके कुल लेख २४१, पृष्ठ ३३७८, चित्र तिरंगे १६, सातोंका मूल्य ५.९३ डाकखर्च ३.५२

तत्त्व-चिन्तामणि छोटे आकारका गुटका संस्करण (पाँच भाग)

तत्त्व-चिन्तामणि—(भाग १)—सचित्र, पृष्ठ ४४८, सजिल्द	मूल्य	०.५०	डाकखर्च	१.३०
,, (भाग २)—सचित्र, पृष्ठ ७५२, ,,	मूल्य	०.५६	,,	१.४०
,, (भाग ३)—सचित्र, पृष्ठ ५६०, ,,	मूल्य	०.५०	,,	१.३५
,, (भाग ४)—सचित्र, पृष्ठ ६८४, ,,	मूल्य	०.६२	,,	१.३५
,, (भाग ५)—सचित्र, पृष्ठ ६२१, ,,	मूल्य	०.५६	,,	१.३५

पाँचों भागोंकी कुल पृष्ठ-संख्या ३०६५, तिरंगे चित्र ६, पाँचों सजिल्दका अलग-अलग जिल्दमें मूल्य २.७४ डाकखर्च २.३१

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

भारत[illegible]संस्कृतिके तीन अनमोल ग्रन्थ

(रियायती मूल्यमें)

'कल्याण' वर्ष ४४-४५ के दो विशेषाङ्कों और एक साधारण मासिक अङ्कमें तीन दुर्लभ एवं ... ग्रन्थोंका समावेश…………

(१) **अग्निपुराण**–(सम्पूर्ण) केवल भाषा, पृष्ठ-सं० ६८८, बहुरंगे चित्र २१, रेखाचित्र २०।

(२) **श्रीगर्ग-संहिता**–(सम्पूर्ण) केवल भाषा, पृष्ठ-सं० ५०४, बहुरंगे चित्र ३१, रेखाचित्र १९।

(३) **श्रीनरसिंहपुराण**–(सम्पूर्ण) सानुवाद, पृष्ठ-सं० २७४, बहुरंगे चित्र २।

(पुनश्च–तीनों ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर समझनेके लिये टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं।)

उक्त दोनों विशेषाङ्कोंका मूल्य ९.००+१०.००=१९.०० होता है, परंतु दोनों एक साथ मँ... केवल १५.००।

डाकखर्च हमारा होगा।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क

(१) **३७वें वर्षका संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त-पुराणाङ्क**–पृष्ठ-सं० ६८२, मू० ....

(भगवान् श्रीराधा-माधवकी मधुर लीलाएँ)

(२) **४१वें वर्षका श्रीरामवचनामृताङ्क**–पृष्ठ-सं० ७०४, मू० ....

(भगवान् श्रीरामके पुराणों तथा अन्य साहित्यमें संगृहीत वचन)

(३) **४३वें वर्षका परलोक और पुनर्जन्माङ्क**–पृष्ठ-सं० ६९६, सजिल्द, मू० ... १०.

(परलोक और पुनर्जन्मकी जाननेयोग्य बातें)

डाकखर्च सबमें हमारा होगा।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरख...

श्रीगीता-रामायणकी आगामी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस—ये दो ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनको प्रायः सभी श्रेणीके ... विशेष आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। इसलिये समितिने इन ग्रन्थोंके द्वारा धार्मिक शिक्षाका प्रसार करनेके ... परीक्षाओंकी व्यवस्था की है। उत्तीर्ण छात्रोंको योग्यतानुसार पुरस्कार भी दिया जाता है। परीक्षा... स्थान-स्थानपर लगभग ५०० केन्द्र स्थापित हैं तथा और भी नियमानुसार स्थापित किये जा सकते ... आगामी गीता-परीक्षाएँ दिनाङ्क २६ व २७ नवम्बर १९७२ को एवं श्रीरामायणकी परीक्षाएँ दिनाङ्क ... ८ जनवरी १९७३ को होनेवाली हैं।

केन्द्र-व्यवस्थापकोंसे निवेदन है कि सभी परीक्षाओंके लिये आवेदन-पत्र एवं नवीन केन्द्रोंके ... प्रार्थना-पत्र दिनाङ्क ३० अगस्त १९७२ तक शीघ्र भेज देनेकी कृपा करें। विशेष जानकारीके लिये ... लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं।

व्यवस्थापक—

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति,

गीताभवन, पो० स्वर्गाश्रम

वाया ऋषिकेश (पौड़ी गढ़वाल) उ० प्र०

कल्याण
स्वामी नाथ

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अगस्त १९७२

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भुवनमोहन श्रीराम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र, ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अगस्त १९७२ { संख्या ८
पूर्ण संख्या ५४९

भुवनमोहन श्रीराम

असितकमलभासा भासयन्तं त्रिलोकं
दशरथकुलदीपं देवताम्भोजभानुम् ।
दिनकरकुलबालं दिव्यकोदण्डपाणिं
कनकखचितरत्नालंकृतं राममीडे ॥

(श्रीरामकर्णामृत १ । ११)

मैं उन भगवान् श्रीरामकी स्तुति करता हूँ, जो नीलकमलकी-सी आभावाले अपने श्रीविग्रहकी कान्तिसे तीनों लोकोंको उद्भासित करते हैं, जो दशरथ-कुलदीप हैं, देवतारूप कमलोंको विकसित करनेवाले सूर्यके समान हैं, सूर्यवंशके उजागर हैं, एक हाथमें दिव्य धनुष धारण किये रहते हैं और रत्नजटित स्वर्णके आभूषणोंसे अलंकृत हैं ।

भगवान्‌के चरणोंका प्रेम—यही मानव-जीवनकी साधना और भगवान्‌के चरणोंका प्रेम—यही इस जीवनकी सिद्धि है—

'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'

इस जगत्‌में हम भगवान्‌के प्रेममें जियें—अर्थात् प्रेमकी बात करें, प्रेमकी बात सुनें, प्रेमके कार्य करें, सपने भी देखें तो प्रेमके ही और अन्तमें प्रेममय भगवान्‌में जाकर हम विलीन हो जायँ, प्रेममय भगवान्‌को प्राप्त कर लें, प्रेममय भगवान्‌की लीलामें प्रवेश कर जायँ, प्रेम-धाममें हमें स्थान मिले—मानव-जीवनका वास्तविक साफल्य इसीमें है।

मानव-जीवनकी सफलता जगत्‌के इतिहासमें नाम रहनेसे नहीं है। इतिहासमें नाम रहेगा तो हमें क्या मिल जायगा? यदि हम नरकोंमें पड़े हों और इतिहासमें लिखा हुआ है—'बड़े अच्छे पुरुष थे', तो इतिहासमें इस बातका उल्लेख होनेसे हमारी स्थितिमें क्या अन्तर आयेगा? जगत्‌में नाम रहनेकी कामना और आशा सर्वथा मिथ्या है, भ्रम है। अतएव इस भ्रमको सर्वथा दूर कर भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेकी कामना करें तथा उसके लिये प्रयत्न करें।

भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेका सरल उपाय है—अपनी जानमें बुरा काम करें नहीं और जो कुछ भी अच्छा काम करें, वह भगवान्‌की सेवाके लिये, भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करें। मनुष्य भगवान्‌की ओर लगता है, पर संसारके ममता-मोह सामने आ जाते हैं और मनुष्य सोचता है—'अमुक-अमुक काम निपट जायँ, फिर हम भगवान्‌की प्राप्तिमें [illegible]गे।' अमुक-अमुक काम कभी निपटते नहीं और देखते-देखते मानव-जीवन पूरा हो जाता है तब हम हाथ मलते रह जाते हैं। इतना ही नहीं, यदि संसा[र] धन-दौलतमें, यहाँके भोगोंमें वृत्ति रही तो मरनेके प[श्चात्] हम न जानें किस योनिमें जायँगे, हमारी क्या [गति] होगी, हम कहाँ जाकर प्रेत होंगे। शास्त्रोंमें बड़े वि[स्तार]से विवेचन मिलता है कि मनुष्य कैसे प्रेत-योनिको प्र[ाप्त] होता है। शास्त्रका वह विवेचन सर्वथा सत्य है। यहाँके कुकर्मोंको करते समय मनुष्य सोचता न[हीं], विचारता नहीं; पर उन कुकर्मोंके फलस्वरूप [जब] प्रेतयोनिमें भीषण-भीषण यातनाएँ प्राप्त होती हैं, तब [वह] विकल हो जाता है। अतएव अभीसे चेतने[की] आवश्यकता है।

भगवान्‌ने कृपा करके हमें जो मानव-शरीर प्रदान कि[या] है, यह भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेका शुभ अ[वसर] है। यदि हमने यह अवसर खो दिया तो अपना स[र्वस्व] गवाँ दिया। अतएव बड़ी गम्भीरतासे विचार करने[की] आवश्यकता है। एक-एक श्वास जो जा रहा है, [वह] हमें मृत्युके निकट ले जा रहा है; शरीरके ना[शका] उपक्रम हो रहा है। जैसे-जैसे समय बीत रहा है, [हम] सोचते हैं—हम बड़े हो रहे हैं। पर समय बीतनेके [साथ] हम बड़े नहीं हो रहे हैं, हम छोटे हो रहे हैं; ह[मारी] आयु बढ़ नहीं रही है, घट रही है। कब मृत्यु [आ] जाय, कुछ पता नहीं। अतएव मृत्युके आनेसे पह[ले]-पहले हमारा यह धर्म है, परम कर्तव्य है कि [हम] जगत्‌के समस्त झंझटोंसे अपनेको मुक्त करके भगव[ान्‌में] लग जायँ, मनको भगवान्‌में लगा दें। जहाँ मन भगव[ान्‌]में फँसा कि जगत्‌से हटा। भगवान्‌में आसक्ति हुई [कि] जगत्‌से विरक्ति अपने-आप हो जायगी। जहाँ प्रक[ाश] आया कि अन्धकार मिटा—यह नियम है।

भगवान्‌में लगनेका प्रयत्न हमें स्वयं करना हो[गा], दूसरा कोई हमारे लिये यह करेगा नहीं, कर स[कता नहीं]

नहीं। यह अपने करनेसे होगा, अपनी इच्छासे होगा और होगा अवश्य, यदि हम करना चाहेंगे। निश्चित-निश्चित सिद्धान्त यह है कि भोग मिलने सहज नहीं हैं, पर भगवान् मिलने सहज हैं, यदि हम उन्हें प्राप्त करना चाहें। भक्तकी चाह भगवान्में प्रतिफलित हो जाती है। शास्त्रकी घोषणा है, भगवान्की घोषणा है—'जो मेरा हो गया है, मैं उसका हो जाता हूँ'।

'मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥' (गीता)

भगवान्का यह स्वभाव है—जिसको वे पकड़ लेते हैं, उसको छोड़ नहीं सकते; क्योंकि वे छोड़ना जानते नहीं। हम छुड़ाना चाहेंगे, तब भी वे हमें छोड़ेंगे नहीं। अतएव मानव-देहकी प्राप्तिसे भगवत्प्रेमको प्राप्त करनेका जो अवसर हमें मिला है, हम उसे हाथसे न जाने दें। इसीमें बुद्धिमत्ता है, नहीं तो कुत्ते-बिल्ली आदिकी भाँति हम भी मर जायँगे।

—'भाईजी'

सेवा—पूजा

प्रत्येक मनुष्यको, प्रत्येक स्त्रीको—हर एक जीवको भगवत्-स्वरूप समझो। तुम किसीकी सहायता नहीं कर सकते; तुम केवल सेवामात्र कर सकते हो; प्रभुकी संतानोंकी सेवा करो, साक्षात् प्रभुकी ही सेवा करो—जब कभी तुम्हें अवसर मिले। यदि प्रभुकी इच्छासे तुम उनकी किसी संतानकी सेवा कर सको तो सचमुच तुम धन्य हो; अपने-आपको बड़ा मत समझो। तुम धन्य हो कि वह अवसर तुम्हें दिया गया—दूसरेको नहीं। उसे पूजाकी ही दृष्टिसे देखो। गरीब और दुःखी लोग तो हमारी ही मुक्तिके लिये हैं, ताकि रोगी, पागल, कोढ़ी और पापीके रूपमें अपने सामने आनेवाले प्रभुकी हम सेवा कर सकें।

× × × ×

जाओ, जाओ, तुम सब लोग वहाँ जाओ, जहाँ प्लेग फैला हो, जहाँ दुर्भिक्ष काले बादलकी भाँति छा गया हो, जहाँ लोग दुःख-कष्टके भारसे पीड़ित हों, और जाकर उनका दुख हल्का करो। अधिक-से-अधिक क्या होगा?—यही न कि इस प्रयत्नमें तुम्हारी मृत्यु हो जायगी? पर उससे क्या? तुम्हारे समान कितने ही लोग कीड़ोंकी भाँति प्रतिदिन जन्म ले रहे हैं और मरते जा रहे हैं। इससे इस बड़ी दुनियाका, भला, कौन-सा टोटा हो जाता है। तुम्हें मरना तो होगा ही, तो फिर एक महान् आदर्श लेकर क्यों न मरो? जीवनमें एक महान् आदर्श लेकर मर जाना कहीं बेहतर है।

× × × ×

शक्ति और अन्य आवश्यक बातें अपने-आप ही आ जायँगी। अपनेको काममें लगा दो; देखोगे, तुममें इतनी शक्ति आने लगेगी कि उसको सहन करना कठिन प्रतीत होने लगेगा। दूसरोंके लिये किया गया तनिक-सा भी कार्य अन्तःस्थ शक्तिको प्रबुद्ध कर देता है; दूसरोंके प्रति थोड़ी-सी भलाईका विचार भी क्रमशः हृदयमें सिंहका बल संचारित कर देता है।

× × × ×

क्या तुम सोचते हो कि तुम एक चींटीतकको अपनी सहायतासे बचा सकते हो? यह महान् अधार्मिक विचार है। ऐसा सोचना अधर्म है। दुनियाको तुम्हारी कतई जरूरत नहीं। धन्य हैं हम जो हमें प्रभुके लिये कार्य करनेका सौभाग्य मिला। इस 'सहायता' शब्दको अपने मनसे बिल्कुल निकाल दो। तुम सहायता नहीं कर सकते। तुम केवल पूजा—सेवा ही कर सकते हो। अतएव सारे संसारके प्रति इस प्रकारका श्रद्धापूर्ण भाव लेकर खड़े होओ। तभी पूर्ण अनासक्ति आयगी।

—स्वामी विवेकानन्द

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

उत्कट इच्छा ही प्रेममयसे मिलनेका कारण है

भगवान् जल्दी-से-जल्दी कैसे मिलें—यह भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले। ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेममयके मिलनेका कारण है और प्रेमसे ही प्रभु मिलते हैं। प्रभुका रहस्य और प्रभाव जाननेसे ही प्रेम होता है। थोड़ा-सा भी प्रभुका रहस्य जान लेनेपर हम उसके बिना एक क्षणभर भी नहीं रह सकते।

पपीहा मेघको देखकर आतुर होकर विह्वल हो उठता है। ठीक उसी प्रकार हमें प्रभुके लिये पागल हो जाना चाहिये। हमें एक-एक पल उसके बिना असह्य हो जाना चाहिये।

मछलीका जलमें, पपीहेका मेघमें, चकोरका चन्द्रमामें जैसा प्रेम है, वैसा ही हमारा प्रेम प्रभुमें हो। एक पल भी उसके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले। ऐसा प्रेम प्रेममय संतोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। चन्दनके वृक्षकी गन्धको लेकर वायु समस्त वृक्षोंको चन्दनमय बना देती है। बनानेवाली तो गन्ध ही है, परंतु वायुके बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार संतलोग आनन्दमयके आनन्दकी वर्षा कर विश्वको आनन्दमय कर देते हैं, प्रेम और आनन्दके समुद्रको उमड़ा देते हैं। गौराङ्ग महाप्रभु जिस पथसे निकलते थे, प्रेमका प्रवाह बहा देते थे। गोस्वामीजीकी लेखनीमें कितना अमृत भरा पड़ा है! पर ऐसे प्रेमी संतोंके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे होते हैं। प्रभुकी कृपा तो सबपर पूर्ण है ही, किंतु पात्र बिना वह कृपा फलवती नहीं होती। शरणागत भक्त ही प्रभुकी ऐसी कृपाके पात्र हैं। अतएव हमें सर्वतोभावेन भगवान्‌के शरण हो जाना चाहिये। सर्वथा उनके आश्रित बनकर रहना चाहिये। सब प्रकारसे उनके चरणोंमें अपनेको दे देना चाहिये। भगवान्‌ने कहा भी है—

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
> तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
> (गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। उसकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।'

वैराग्ययुक्त उपरामताको अपनाना चाहिये

संसारके पदार्थोंमें आसक्ति न होनेका नाम 'वैराग्य' है। संसारके भोगोंमें आसक्ति—प्रीति नहीं, ब्रह्मलोकतकके भोग काक-विष्ठाके समान अत्यन्त हेय प्रतीत हों, यह 'वैराग्य' है। इन पदार्थोंकी ओर वृत्ति जायँ ही नहीं, यह 'उपरामता' है। वैराग्ययुक्त उपरामता ही श्रेष्ठ है। बिना वैराग्यकी उपरामता तो कच्ची है, मनको धोखा देनेवाली है। ऋषभदेवजीमें बड़ी उच्चकोटिकी उपरामता थी, गौतमबुद्धसे भी बढ़कर। उनके समान उपरामताका और कोई उदाहरण नहीं मिलता। संसारमें विचरते हुए भी उनको संसारका ज्ञान नहीं था। वनमें आग लगी, उनको पता ही नहीं चला। शरीरमें आग लगी और वह शान्त भी हो गयी, पर उनको आगका पता ही नहीं चला। यह उपरामताकी सीमा है। वे ऐसी मस्तीमें स्थित थे कि कुछ पता ही नहीं चलता था। उनमें देहाध्यास ही नहीं था। किसी भी संन्यासीमें, किसी भी गृहस्थमें ऐसी उपरामता हो तो वह बड़ी प्रशंसनीय है।

उपरामताके दो भेद हैं—भीतरी और बाहरी। दोनों ही श्रेष्ठ हैं, किंतु आत्माके वास्तविक कल्याणके लिये भीतरीका ही अधिक महत्त्व है। राजा जनक

बाहरी उपरामता नहीं थी। वास्तवमें तो उनके लिये जगत्‌का अभाव ही था। शुकदेवजीमें दोनों उपरामताएँ थीं—भीतरी भी और बाहरी भी। राजा जनकने उनको इस बातका बोध कराया। उन्होंने शुकदेवजीको बतलाया कि 'महाराज! आपमें भीतरकी एवं बाहरकी दोनों उपरामताएँ हैं। आप मुझसे श्रेष्ठ हैं। आपको कुछ भी सीखना नहीं है, जाकर ध्यान लगाइये।'

शुकदेवजीने जाकर ध्यान लगाया। उनकी समाधि लग गयी और उन्हें परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो गयी।

जो भगवान्‌के दया-तत्त्वको जान लेता है, भगवान् उसे हृदयसे लगा लेते हैं

दयासागर भगवान्‌की जीवोंपर इतनी अपार दया है कि उसकी कोई सीमा ही नहीं। वस्तुतः उन्हें 'दयासागर' कहना भी उनकी स्तुतिके व्याजसे निन्दा ही करना है; क्योंकि सागर तो सीमावाला है, परंतु भगवान्‌की दयाकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अच्छे-अच्छे पुरुष भी भगवान्‌की दयाकी जितनी कल्पना करते हैं, वह उससे भी बहुत बढ़कर है। उसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई ऐसा उदाहरण नहीं, जिसके द्वारा भगवान्‌की दयाका स्वरूप समझाया जा सके। माताका उदाहरण दें तो वह भी उपयुक्त नहीं है। कारण, दुनियामें असंख्य जीव हैं और उन सबकी उत्पत्ति माताओंसे ही होती है। उन सारी माताओंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंपर जो दया या स्नेह है, वह सब मिलकर भी उन दयासागरकी दयाके एक बूँदके बराबर भी नहीं है। ऐसी हालतमें और किससे तुलना की जाय! तो भी माताका उदाहरण इसीलिये दिया जाता है कि लोकमें जितने उदाहरण हैं, उन सबमें इसकी विशेषता है। माता अपने बच्चेके लिये जो कुछ भी करती है, उसकी प्रत्येक क्रियामें दया भरी रहती है। इस बातका बच्चेको भी कुछ-कुछ अनुभव रहता है। जब बच्चा शरारत करता है, तब उसके दोष-निवारणार्थ माँ उसे धमकाती-मारती है और उसको अकेला छोड़कर कुछ दूर हट जाती है। ऐसी अवस्थामें भी बच्चा माताके ही पास जाना चाहता है। दूसरे लोग उससे पूछते हैं—'तुम्हें किसने मारा?' वह रोता हुआ कहता है—'माँने।' इसपर वे कहते हैं—'तो आइंदा उसके पास मत जाना।' परंतु वह उनकी बातपर ध्यान न देकर रोता है और माताके पास ही जाना चाहता है। उसे भय दिखलाया जाता है कि 'माँ तुझे फिर मारेगी।' पर इस बातका उसपर कोई असर नहीं होता; वह किसी भी बातकी परवा न करके अपने सरल भावसे माताके ही पास जाना चाहता है। रोता है, परंतु चाहता है माताको ही। जब माता उसे हृदयसे लगाकर उसके आँसू पोंछती है, आश्वासन देती है, तभी वह शान्त होता है। इस प्रकार माताकी दयापर विश्वास करनेवाले बच्चेकी भाँति जो भगवान्‌के दया-तत्त्वको जान लेता है और भगवान्‌की मारपर भी भगवान्‌को ही पुकारता है, भगवान् उसे अपने हृदयसे लगा लेते हैं। फिर जो भगवान्‌की कृपाको विशेषरूपसे जान लेता है, उसकी तो बात ही क्या है।

संसार-नाट्यशालाके स्वामीको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये

संसार क्या है? एक नाट्यशाला। सभी प्राणी इस नाट्यशालाके पात्र हैं। भगवान् इस नाट्यशालाके स्वामी हैं। गम्भीर दृष्टिसे सोचें तो भगवान् स्वामी भी हैं और नाटकके पात्र भी। सब प्राणियोंके रूपमें वे ही तो हमारे साथ खेल रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ग्वाल-बालोंके साथ क्रीड़ाएँ कीं, भगवान् रामने वानर-भालुओं-के साथ लीलाएँ कीं। फिर हम तो मनुष्य हैं। अतएव सब प्राणियोंके रूपमें अपने स्वामीको देख सबके साथ

शुद्ध प्रेमका व्यवहार करना चाहिये । भगवत्कृपाको समझनेका यह सीधा उपाय है ।

स्टेज (मञ्च) पर आकर अपना अभिनय दिखानेके लिये सभी पात्रोंको अवसर दिया जाता है । प्रत्येकका समय निश्चित होता है । अपने निश्चित समयमें वह जैसा भला-बुरा अभिनय करता है, उसीसे उसकी सफलता एवं असफलताका निर्णय होता है । हमें भी अपना अभिनय दिखानेके लिये समय मिला है । निश्चित समय समाप्त होते ही हमें स्टेजसे हट जाना पड़ेगा । अतएव समय बड़ा मूल्यवान् है । वह हाथसे निकल गया तो न जानें फिर कब मिलेगा । लाखों-करोड़ों जीव मौका माँग रहे हैं । न जाने कब हमारा नंबर आयेगा । निश्चित समय निकल जानेपर लाख रुपया देनेपर भी पाँच मिनटका भी समय नहीं मिलेगा । एक सेकेंडका भी समय बढ़नेकी गुंजाइश नहीं है । इसलिये जल्दी-से-जल्दी कार्यकी सिद्धि कर लेनी चाहिये । इस नाट्यशालाके स्वामी उस परमात्माको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । स्वामी बड़े दयालु हैं, हमपर बड़ी कृपा करते हैं । वे सब भूलोंको क्षमा कर देते हैं । पर हमें छूटका आसरा कभी भी नहीं लेना चाहिये । स्वामीको अपने कार्यसे प्रसन्न करनेके लिये, उसके संकेतपर नाचनेके लिये कठपुतली बन जाना चाहिये । अपने स्वामीके संकेतको हम समझते रहें, स्वामीकी इच्छाके अनुकूल बन जायँ । यही यथार्थ शरण है, वास्तविक भक्ति है ।

(संकलित)

कर्मफलकी गहनता

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम् । भूतग्राममिमं कालः समन्तादपकर्षति ॥
अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च । स्वं कालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥
सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ । प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पदे पदे ॥
आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम् । गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥

(महाभारत, शान्ति० ३२२ । ११—१६)

अपने-अपने कर्मका फल एक धरोहरके समान है । वह शास्त्र-विधानके अनुसार सुरक्षित रहता है । उपयुक्त अवसर आनेपर काल इस प्राणिसमुदायको कर्मानुसार खींच ले जाता है । जैसे फूल और फल किसीकी प्रेरणाके बिना ही अपने समयपर वृक्षोंमें लग जाते हैं, उसी प्रकार पहलेके किये हुए कर्म भी अपने फलभोगके समयका उल्लङ्घन नहीं करते हैं । सम्मान-अपमान, लाभ-हानि तथा उन्नति-अवनति—ये पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार पग-पगपर प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोगके पश्चात् पुनः निवृत्त हो जाते हैं । दुःख अपने ही किये हुए कर्मोंका फल है और सुख भी अपने ही पूर्वकृत कर्मोंका परिणाम है । जीव माताकी गर्भशय्यामें आते ही पूर्व शरीरद्वारा उपार्जित सुख-दुःखका उपभोग करने लगता है ।

स्वयं-भगवान्‌का श्रीकृष्णरूपमें अवतरण*

भाद्रकृष्ण अष्टमीका दिन परम धन्य है। इसी दिन मथुराके कंस कारागृहके कृष्ण-तम-घन निभृत कक्षमें घनश्याम श्रीकृष्ण—अनिर्वचनीय-अचिन्त्य अनन्त ऐश्वर्य सौन्दर्य-माधुर्य-परिपूर्ण, अनिर्वचनीय-अचिन्त्य-अनन्य-अनन्त दिव्य रस-सुधा सार समुद्र, अनिर्वचनीय-अचिन्त्य-अनन्त सर्वविरुद्ध-गुणधर्माश्रय, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वातीत, सर्वमय नित्य निर्गुण-सगुण, समस्त-अवतार-बीज, अनन्त-अद्भुत शक्ति-सामर्थ्य-स्रोत, सहज अजन्मा-अविनाशी, सच्चिदानन्द स्वेच्छा-विग्रह, स्वयं-भगवान्‌का महान् मङ्गलमय, महान् महिमामय और महान् मधुरिमामय प्राकट्य हुआ था।

घोर-बल-दर्पित अतिशय अत्याचारी असुररूप दुष्ट राजाओंके तथा अनाचार-दुराचार-परायण प्राणियोंके विषम भारसे आक्रान्त दुःखिनी वसुंधराने गोरूप धारण करके करुण क्रन्दन करते हुए ब्रह्माजीके पास जाकर अपनी दुःख गाथा सुनायी। पृथ्वीदेवीने कहा—

'जो भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिसे विहीन हैं और जो श्रीकृष्णभक्तोंके निन्दक हैं; जो पिता, माता, गुरु, स्त्री, पुत्र और पोष्य-वर्गका पालन नहीं करते; जो दया-धर्मसे रहित हैं, गुरु और देवोंके निन्दक हैं; जो मित्रद्रोही, कृतघ्न, झूठी गवाही देनेवाले, विश्वासघातक और स्थाप्यधनका अपहरण करनेवाले हैं; जो कल्याणरूप मन्त्र और एकमात्र मङ्गलजनक हरिनामको बेचते हैं; जो जीवोंकी हिंसा करते हैं और अत्यन्त लोभी हैं; जो मूढ़लोग पूजा, यज्ञ, उपवास, व्रत, नियम—कुछ भी नहीं करते; जो पापात्मालोग गौ, ब्राह्मण, देवता, वैष्णव, श्रीहरि, हरिकथा तथा हरिभक्तिसे द्वेष करते हैं—ऐसे जो दैत्यगण विविध रूप धारण करके अनवरत अत्याचार अनाचार-दुराचार कर रहे हैं, उन सबके भीषण भारसे मैं अत्यन्त पीड़ित हूँ।'

तब पृथ्वीकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजीने उसको साथ लेकर भगवान् शंकर और अन्यान्य देवताओंको भी साथ लिया और वे क्षीरसागरके तटपर गये। वहाँ उन्होंने पुरुषसूक्तके द्वारा भगवान्‌का स्तवन किया। इसके कुछ देर बाद ब्रह्माजी ध्यानमग्न हो गये और उन समाधिस्थित ब्रह्माजीको क्षीराब्धिशायी भगवान्‌की देववाणी सुनायी दी। ब्रह्माजीने उसे सुनकर देवताओंसे कहा—'हमलोगोंकी प्रार्थनाके पूर्व ही भगवान् वसुंधराकी विपत्तिको जान चुके हैं। वे ईश्वरोंके भी ईश्वर (ईश्वरेश्वरः) अपनी कालशक्तिके द्वारा धरणीका भार उतारनेके लिये जबतक पृथ्वीपर लीला करें, तबतक तुमलोग भी यदुकुलमें जन्म लेकर उनकी लीलामें सहयोग प्रदान करो। भगवान्‌के अंशसे सहस्रवदन स्वराट् अनन्तदेव भगवान्‌से पहले ही प्रकट हो जायँगे। भगवती विष्णुमाया भी नन्दपत्नी यशोदाके गर्भसे अवतरित होगी। वे परम पुरुष साक्षात् भगवान् स्वयं वसुदेवके घरमें प्रकट होंगे। उनकी सेवा-प्रीतिके लिये (अथवा उनकी तथा उनकी प्रियतमा श्रीराधाकी सेवाके लिये) देवाङ्गनाएँ भी वहाँ जन्म-धारण करें—

> वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
> जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥
>
> (श्रीमद्भागवत १०। १। २३)

क्षीरोदशायी भगवान्‌की इस देववाणीसे यही सिद्ध होता है कि अबकी बार साक्षात् परम पुरुष स्वयं-भगवान् ही प्रकट होंगे (क्षीराब्धिशायी नहीं)। भगवान्‌के पुरुषावतार, गुणावतार, लीलावतार, अंशावतार, कलावतार आदि अनेक प्रकारके अवतार होते हैं और सभी पूर्ण होते हैं; पर उनमें लीलाभेदसे शक्तिका प्राकट्य न्यूनाधिक रहता है। किंतु यह अवतार स्वयं-भगवान्‌का है। इसमें अन्य सभी अवतारोंके, भगवत्स्वरूपोंके भाव सम्मिलित हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराणके अनुसार ब्रह्मा-शंकर आदि समस्त देवता गोलोकमें स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णकी सेवामें जाकर वहाँ श्रीराधा-माधवके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करते हैं और पृथ्वीका भीषण भार हरण करने और मधुर लीला रसका विस्तार करनेके लिये भगवान्‌से अवतार ग्रहणकी महत्त्वपूर्ण कातर प्रार्थना करते हैं।

देवताओंकी प्रार्थना सुनकर भगवान् द्रवित हो जाते हैं और उन्हें अपनी अनन्त महिमा और भक्तोंकी महानताका परिचय देकर अन्तमें कहते हैं—'देवताओ! तुमलोग भी

* नित्यलीलालीन श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) द्वारा श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर दिये गये एक प्रवचनका कुछ अंश।

अपने-अपने घर जाओ, मैं स्वयं पृथ्वीपर अवतीर्ण होऊँगा; तुमलोग भी अंशरूपसे पृथ्वीपर चलना ।' इसके बाद भगवान् दिव्य गोप-गोपियोंको बुलाकर उनसे मधुर वचन कहते हैं—'गोप-गोपीगण ! तुम सब नन्दके व्रजधाममें अवतीर्ण होओ । श्रीराधिके ! तुम वृषभानुके घर जाओ, मैं तुमको बालकरूपमें कमल-काननमें ग्रहण करूँगा । राधे ! तुम मेरी प्राणाधिका हो, मैं भी तुम्हारा प्राणाधिक हूँ । हम दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है, हम सदा ही एक हैं ।'

> त्वं मे प्राणाधिका राधे तव प्राणाधिकोऽप्यहम् ।
> न किंचिदावयोर्भिन्नमेकाङ्गं सर्वदैव हि ॥
> (ब्र० वै०, कृष्ण० ६ । ६७)

इसी बीचमें वहाँ एक दिव्य मणि-रत्नों, पारिजात-कुसुम मालाओं, श्वेत चामरों तथा विशुद्ध काषाय-वस्त्रोंसे विभूषित शत-शत-सूर्य-प्रभाओंके सदृश तेजःपुञ्ज रथ आया । उस रथमें कमनीय श्यामसुन्दर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये पीताम्बरधारी भगवान् नारायण विराजित थे । उनके साथ महादेवी सरस्वती और महालक्ष्मी भी थीं । वे भगवान् नारायण रथसे उतरे और तुरंत श्रीकृष्णके शरीरमें लीन हो गये तथा इस परमाश्चर्यको देखकर सब लोग चकित हो गये—

> नत्वा नारायणो देवो विलीनः कृष्णविग्रहे ।
> दृष्ट्वा च परमाश्चर्यं ते सर्वे विस्मयं ययुः ॥
> (वही, ६ । ८७)

इसके पश्चात् एक दूसरे परम सुन्दर देदीप्यमान रथमें चतुर्भुज, वनमाला-विभूषित, अपार-प्रभाशाली जगत्पति भगवान् विष्णु पधारे और वे भी रथसे उतरकर भगवान् श्रीराधिकेश्वरके शरीरमें लीन हो गये—

> 'स चापि लीनस्तत्रैव राधिकेश्वरविग्रहे ॥'
> (वही, ६ । ९०)

इस प्रसङ्गसे भी यही सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् स्वयं-भगवान् हैं और उनके इस स्वरूपमें सबका तथा सबके लीला-कार्योंका एकत्र समावेश है । ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें आता है कि इसके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने देवी कमला लक्ष्मीसे मुस्कुराते हुए कहा—'देवि ! तुम कुण्डिनपुरमें राजा भीष्मकके घर देवी वैदर्भीके उदरसे अवतरित होओ; मैं वहाँ जाकर तुम्हारा पाणिग्रहण करूँगा ।' तदनन्तर वहाँ पधारी हुई देवी पार्वतीसे भगवान्ने कहा—'तुम सृष्टि-संहारकारिणी महामाया हो, तुम अंश-रूपसे व्रजधाममें जाकर यशोदाके गर्भसे अवतीर्ण होओ । मानवगण नगर-नगरमें भक्तिपूर्वक तुम्हारी पूजा करेंगे । तुम्हारे प्रकट होते ही वसुदेव यशोदाके सूतिकागृहमें मुझे रखकर तुम्हें ले जायँगे । फिर कंसको देखते ही पुनः तुम भगवान् शिवके पास चली जाना । मैं पृथ्वीका भार उतारकर अपने धाममें लौट आऊँगा ।'

इसके बाद कौन देवता, किस नाम-रूपसे, कहाँ अवतरित होंगे—विशिष्ट-विशिष्ट देवताओंके लिये भगवान्ने इसका निर्देश किया है ।

श्रीकृष्णका दिव्य विग्रह अप्राकृत—भगवत्स्वरूप ही है

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान् हैं । उनका दिव्य शरीर कर्मजनित 'प्राकृत' या सिद्धिजनित 'निर्माणशरीर' नहीं है । वह प्राकृत शरीरसे सर्वथा विलक्षण हानोपादानरहित दिव्य सच्चिदानन्दमय भगवत्स्वरूप है । इसके प्रचुर प्रमाण श्रीमद्भागवत, महाभारत तथा अन्यान्य ग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं ।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें ही श्रीकृष्ण और सनत्कुमारके वार्तालापका एक सुन्दर प्रसङ्ग आता है । इसमें भगवान् श्रीकृष्णने अपनेको 'प्राकृत' बतलानेकी चेष्टा की है और सनत्कुमारने उनके प्रश्नोंके उत्तरमें उनकी भगवत्ता सिद्ध की है, उनके शरीरको साक्षात् चिदानन्दमय भगवद्रूप बतलाया है और 'वासुदेव' नामका बड़ा ही विलक्षण अर्थ किया है । प्रसङ्ग इस प्रकार है—

एक बार ब्रह्मतेजसे उद्भासित सैकड़ों बड़े-बड़े ऋषि मुनीश्वर भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनके लिये आये । फिर उस मुनिसभामें परम तेज-पुञ्ज सर्वाङ्गसुन्दर पाँच वर्षके नग्न बालकके रूपमें श्रीसनत्कुमारजी पधारे । उन्होंने आकर मुनियोंसे कुशल-प्रश्न करके कहा कि 'श्रीकृष्णसे तो कुशल पूछना व्यर्थ है । ये स्वयं ही समस्त कल्याणके बीज हैं । अथवा इस समय इन परमात्मा श्रीकृष्णका दर्शन ही आपलोगोंके लिये कुशल है; प्रकृतिसे अतीत, निर्गुण, निरीह, सर्वबीज और तेजःस्वरूप ये भगवान् भक्तोंके

अनुरोधसे ही पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतरित हुए हैं।' इसपर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—'विप्रवर! जब शरीरधारी मात्रके लिये कुशल-प्रश्न अभीप्सित है, तब एक मैं ही कुशल-प्रश्नका पात्र क्यों नहीं हूँ?'—

शरीरधारिणश्चापि कुशलप्रश्नमीप्सितम्।
तत्कथं कुशलप्रश्नं मयि विप्र न विद्यते॥

(ब्रह्मवैवर्त्त०, कृष्ण० ८७। २२)

सनत्कुमारजीने उत्तर दिया—'प्रभो! शुभ-अशुभ सब प्राकृत शरीरमें ही हुआ करते हैं; जो शरीर नित्य है और सारे कुशलोंका बीज है, उसके लिये कुशल-प्रश्न निरर्थक ही है।'

शरीरे प्राकृते नाथ सततं च शुभाशुभम्।
नित्यदेहे क्षेमबीजे शिवप्रश्नमनर्थकम्॥

(वही, ८७। २३)

तब भगवान् बोले—'विप्रवर! शरीरधारी मात्र ही प्राकृतिक माने जाते हैं; क्योंकि नित्या प्रकृतिके बिना शरीर होता ही नहीं।'

यो यो विग्रहधारी च स स प्राकृतिकः स्मृतः।
देहो न विद्यते विप्र तां नित्यां प्रकृतिं विना॥

(वही, ८७। २४)

इसके उत्तरमें सनत्कुमारजीने कहा—'प्रभो! जो देह रज-वीर्यके द्वारा उत्पन्न होते हैं, वे ही प्राकृतिक माने जाते हैं। आप तो स्वयं सबके आदि हैं, सबके बीज—कारण हैं और प्रकृतिके नाथ हैं, स्वयं-भगवान् हैं। आपका देह प्राकृतिक कैसे हो सकता है। आप वेदवर्णित समस्त अवतारोंके निधान, सबके अविनाशी बीज, नित्य सनातन स्वयंज्योतिःस्वरूप परमात्मा परमेश्वर हैं।'

रक्तबिन्दूद्भवा देहास्ते च प्राकृतिकाः स्मृताः।
कथं प्रकृतिनाथस्य बीजस्य प्राकृतं वपुः॥
सर्वबीजश्च सर्वादिर्भवांश्च भगवान् स्वयम्।
सर्वेषामवताराणां निधानं बीजमव्ययम्॥
कृत्वा वदन्ति वेदाश्च नित्यं नित्यं सनातनम्।
ज्योतिःस्वरूपं परमं परमात्मानमीश्वरम्॥

(वही, ८७। २५-२८)

इसपर श्रीकृष्णने पुनः कहा—'विप्रवर! इस समय मैं वसुदेवका पुत्र हूँ; अतएव मेरा शरीर रजोवीर्याश्रित ही है; फिर भी मैं प्राकृतिक और कुशल-प्रश्नका पात्र नहीं हूँ?'

साम्प्रतं वासुदेवोऽहं रक्तवीर्याश्रितं वपुः।
कथं न प्राकृतो विप्र शिवप्रश्नमभीप्सितम्॥

(वही, ८७। २९)

'वासुदेव' शब्दका अर्थ

इसपर अन्तमें सनत्कुमारजी बोले—"नाथ! ('वासुदेव' शब्दका अर्थ दूसरा है—) 'वासु'का अर्थ है—जिसके लोमकूपोंमें अनन्त विश्व स्थित हैं; वे सर्व-निवास महान् विराट् पुरुष; और उनके जो 'देव' हैं—स्वामी हैं, वे हैं आप स्वयं परमब्रह्म 'वासुदेव'। इसी 'वासुदेव' नामका चारों वेद, पुराण, इतिहास, आख्यान आदि वर्णन करते हैं। आपका शरीर रज-वीर्यसे बना है, यह किस वेदमें निरूपित है? ये सब मुनिगण इस विषयके साक्षी हैं; धर्म भी सर्वत्र साक्षी हैं और वेद तथा चन्द्र-सूर्य भी मेरे साक्षी हैं कि आप सच्चिदानन्द-मय शरीर हैं।'

वासुः सर्वनिवासश्च विश्वानि यस्य लोमसु।
तस्य देवः परं ब्रह्म वासुदेव इतीरितः॥
वासुदेवेति तन्नाम वेदेषु च चतुर्षु च।
पुराणेष्वितिहासेषु वार्तादिषु च दृश्यते॥
रक्तवीर्याश्रितो देहः क्व ते वेदे निरूपितः।
साक्षिणो मुनयश्चात्र धर्मः सर्वत्र एव च॥
साक्षिणो मम वेदाश्च रविचन्द्रौ च साम्प्रतम्॥

(ब्रह्मवैवर्त०, श्रीकृष्ण-जन्म-खण्ड, ८७। १३०-३२)

इन्हीं साक्षात् स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णने द्वापरयुगके अन्तमें भारतमें अवतीर्ण होकर इस धराको धन्य किया था।

अब इनकी प्राकट्य-लीलाका पवित्र स्मरण करें।

श्रीकृष्णका प्राकट्य

मङ्गलमय भाद्रपदके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथि है, मध्य-रात्रिका समय है, सब ओर घोर अन्धकारका साम्राज्य है; परंतु अकस्मात् समस्त प्रकृति उल्लाससे भरकर उत्सवमयी बन

जाती है, सारी प्रकृति अपने परमाश्रय परमदेवका स्वागत करनेके लिये सज-धजकर समुत्सुक हो उठती है । सब दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, नदियोंका जल निर्मल हो गया, सरोवरोंमें रात्रिको ही कमल खिल उठे, वृक्षोंकी शाखाएँ पुष्प-फलोंसे लद गयीं, साधुओंका मन आनन्दोन्मत्त हो गया, निर्मल मन्द-सुगन्ध मलय-समीर बहने लगा, देवताओंके बाजे स्वयं ही बज उठे, गन्धर्व-किंनर नाचने-गाने लगे और सिद्ध-चारण—सब स्तवन करने लगे। क्रूर कंसका कारागार एक विलक्षण ज्योतिसे जगमगा उठा । महामहिम श्रीवसुदेवजीको अनन्त सूर्य-चन्द्रमाओंके सदृश एक प्रचण्ड-शीतल प्रकाश दिखायी दिया और उसमें दीख पड़ा शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मसे सुशोभित, चतुर्भुज, विशालनयन, वक्षःस्थलपर भृगुलता, श्रीवत्स और रत्नहार धारण किये, विविध भूषणोंसे विभूषित, किरीट-मुकुट-कुण्डलधारी, जिसके अङ्ग-अङ्गसे सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्य-की रसमयी त्रिवेणी बह रही है—ऐसा एक चमत्कारपूर्ण अद्भुत बालक ।

वसुदेव-देवकीने स्तुति की, भगवान् श्रीकृष्णने उनको अभयका आश्वासन देकर अपने पूर्व-अवतारोंके सम्बन्धकी तथा वरदानकी बातका स्मरण कराया । तब देवकीने उनसे कहा, 'मैं कंसके भयसे अधीर हो रही हूँ—कंसादहमधीरधीः ।' श्रीभगवान्‌ने कहा—'यदि ऐसी बात है तो मुझे तुरंत गोकुलमें पहुँचा दो और यशोदाके गर्भसे प्रकट हुई महामायाको ले आओ ।'

इतना कहकर भगवान् तुरंत शिशुरूप हो गये । भगवान्‌के शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी ऐश्वर्यरूपको देखकर भी वसुदेव—भगवान्‌की लीलाशक्तिकी प्रेरणासे वात्सल्य-रसका आविर्भाव होनेपर—डर गये और शिशुको हृदयसे लगाकर ले जानेका विचार करने लगे । पर जायँ कैसे ? हाथोंमें हथकड़ी है, पैरोंमें बेड़ी है, लोहेका मजबूत दरवाजा बंद है, बाहर शस्त्रधारी प्रहरी हैं; इससे वे अत्यन्त विषाद-ग्रस्त होकर मन-ही-मन भगवान्‌के शरणापन्न हो गये । बस, तुरंत हाथोंकी हथकड़ी, पैरोंकी बेड़ी खुल गयी और विशाल लौह-कपाट भी अपने आप ही खुल गये । यह सब भगवान्‌की अघट-घटना-पटीयसी मायाशक्तिसे हो गया, यह नहीं मानना चाहिये; श्रीकृष्णको हृदयपर रखते ही सारे बन्धन अपने-आप कट जाते हैं, फिर बन्धन-मुक्तिके लिये कोई प्रयास नहीं करना पड़ता । इसके विपरीत जबतक श्रीकृष्णको हृदयपर नहीं रक्खा जाता, तबतक हजार-लाख प्रयास करनेपर भी बन्धन नहीं खुलता । मायाकी साँकलोंसे हाथ-पैर और गलेसे बँधा हुआ बहिर्मुख जीव कामना-वासनाके बंद दृढ़ लौह-कपाटोंके अंदर संसारके कारागारमें पड़ा रहता है । काम-क्रोधादि शत्रु सदा उस कैदखानेपर पहरा लगाये रहते हैं । अतएव वह जीव किसी प्रकार भी कैदसे नहीं छूट सकता । पर जब वसुदेवजीकी भाँति वह श्रीकृष्णको छातीसे चिपकाकर व्रजकी राहपर चल देता है, तब माया-मोहकी सारी हथकड़ी-बेड़ी खुल जाती हैं, काम-क्रोधादि पहरेदार सो जाते हैं, कामना-वासनाके कपाट खुल जाते हैं—बिना ही प्रयास संसार-बन्धनसे उसे मुक्ति मिल जाती है । भगवान् वसुदेवजीकी गोदमें आकर जगत्‌को इस बातका संकेत कर रहे हैं ।

गोकुलके लिये प्रस्थान

वसुदेवजी कारागारसे निकलकर धीरे-धीरे बाहर सड़कपर आ गये । श्रीकृष्ण अप्राकृत परमानन्दघनविग्रह हैं, अतः उन्हें हृदयपर रखकर चलनेवाले वसुदेवको किसी कष्टका तो अनुभव हुआ ही नहीं, वरं पद-पदपर वे आनन्दसिन्धुमें अवगाहन करने लगे । बहिर्मुख जीव अभिमानका भार उठाकर संसार-पथपर चलता हुआ पद-पदपर दुःख-भोग करता है । इस दुःखसे छूटना हो तो भाग्यवान् वसुदेवकी भाँति श्रीकृष्णको हृदयपर रखकर उनकी लीलाभूमि व्रजकी ओर चल देना चाहिये ।

वसुदेवजी इधर-उधर चारों ओर भयभरी दृष्टि डालते हुए धीरे-धीरे चुपचाप व्रजकी ओर बढ़ रहे हैं । इसी समय देवराज इन्द्रके आदेशसे आकाशमें काले-काले बादल उमड़ आये, धीरे-धीरे गरजने लगे, बीच-बीचमें बिजली चमकने लगी और लगातार वर्षा होने लगी । इन्द्रने विचार किया कि 'मूसलधार वर्षा होनेसे मथुरावासी कोई भी घरसे बाहर नहीं निकलेंगे, अतएव वसुदेवजीके जानेका किसीको पता नहीं लगेगा । बीच-बीचमें बिजलीका प्रकाश होते रहनेसे अँधेरेमें वसुदेवको आगे बढ़नेमें भी कोई कष्ट नहीं होगा ।' श्रीकृष्णको हृदयमें रखकर अन्धकारमय मार्गमें चल पड़नेपर भी मनुष्य पथभ्रष्ट नहीं हो सकता । इसीलिये बिजली आज बार-बार हँस-हँसकर वसुदेवजीको पथ बतला रही है । वसुदेवजी चुपचाप तुरंत शीघ्रतासे आगे बढ़े जा रहे हैं ।

आकाशमें मेघोंके आते ही भगवान् अनन्तदेव श्रीकृष्णकी सेवाका सुअवसर जानकर वहाँ आ गये और अपने हजार फनोंको फैलाकर वसुदेवजीके सारे अङ्गोंपर छाया किये उनके पीछे-पीछे चलने लगे।

अनन्तदेव श्रीसंकर्षण श्रीकृष्णका ही दूसरा रूप हैं; परंतु अनादिसिद्ध दास्यभावके कारण वे विभिन्न रूपोंमें सदा श्रीकृष्णकी सेवा ही करते रहते हैं। श्रीकृष्णके स्वरूपानन्दकी अपेक्षा सेवानन्दका ही माधुर्य अधिक है, अतएव स्वयं श्रीकृष्णतक इस आनन्दका आस्वादन करनेके लोभसे दासाभिमानी अपने ही रूपसे अपनी सेवा करते हैं।

शय्यासनपरीधानपादुकाच्छत्रचामरैः ।
किं नाभूस्तस्य कृष्णस्य मूर्तिभेदैस्तु मूर्तिषु ॥

—ब्रह्माण्डपुराणके इस वचनके अनुसार संकर्षण श्रीशेषजी शय्या, आसन, वस्त्र, पादुका, छत्र, चँवर आदि नाना मूर्तियाँ धारण करके अखिलरसामृतमूर्ति श्रीगोविन्दकी सेवा किया करते हैं। शेषजी फनोंकी छाया किये चलते हैं, इस बातका वसुदेवजीको पता भी नहीं है।

वसुदेवजी यमुनातटपर पहुँच गये। पर उन्होंने देखा—यमुनामें मानो भयानक तूफान आ गया है। बड़ी ऊँची-ऊँची पहाड़-जैसी तरंगें उठ रही हैं; सैकड़ों-हजारों बड़े-बड़े भँवर पड़ रहे हैं। वसुदेवजी यमुनाका यह भीषण रूप देखकर चकित और भयभीत हो रहे हैं। सोचते हैं—रात बीत रही है, पार जाकर लौट न सका तो पता नहीं, सबेरे कंस जागते ही क्या अनर्थ कर डालेगा! वे यमुनाके तीरपर असीम अनन्त भवसागरसे तुरंत पार कर देनेवाले श्रीहरिको गोदमें लिये हुए ही उस पार पहुँचनेकी चिन्ता कर रहे हैं। यह वात्सल्य-रसकी अनिर्वचनीय महिमा है। फिर भगवान्‌की शैशव-माधुरी भी विलक्षण चमत्कारी वस्तु है। भुक्ति-मुक्ति-सिद्धिकी स्पृहा, ऐश्वर्यज्ञान, तत्त्वानुसंधान—कुछ भी क्यों न हो, दिव्य वात्सल्य-रस और शैशव-माधुरी-रसके सुधा-सोतमें सब तुरंत बह ही जाते हैं।

वसुदेवजी श्रीकृष्णको गोदमें लिये यमुनातटपर खड़े व्याकुल चित्तसे चिन्ता कर रहे हैं। उधर यमुनाजी श्रीकृष्णके चरण-स्पर्शकी कामनासे व्याकुल हैं और धैर्य छोड़कर अस्त-व्यस्त तरंगोंके द्वारा बढ़ी चली आ रही हैं। यमुनाका ताण्डव-नृत्य हो रहा है और वे उछल-उछलकर अपने परम प्रेमास्पद प्रभुके अरुण चरणोंका स्पर्श पानेके लिये बारंबार मस्तकको ऊँचा उठाये जा रही हैं। वसुदेवजीने व्याकुल होकर चारों ओर देखा—अगाध जल है और जलराशिके पहाड़-के-पहाड़ उछल रहे हैं। भगवान्‌ने पिता वसुदेवजीकी व्याकुलता देखकर धीरेसे सहसा यमुनाके मस्तकको अपने चरण-कमलोंका स्पर्श-सुख प्रदान कर दिया। यमुना निहाल होकर झुकने लगीं; मानो दण्डवत् कर रही हैं। वसुदेवजीने चकित दृष्टिसे देखा—सामनेका जल घट रहा है। वे कुछ और आगे बढ़े; जल और भी कम मिला। श्रीकृष्ण-चरण-स्पर्शकी अपार तृष्णा लिये जो यमुना अपनी उत्ताल तरंग-भङ्गिमाओंसे ताण्डव-नृत्य करती हुई बढ़ी चली जा रही थीं; श्रीकृष्ण-चरणका स्पर्श पाते ही उनकी बाढ़ तुरंत रुक गयी; तरंगें क्रमशः थम गयीं, बहावका वेग रुक गया; यमुना निश्चल—निस्तरंग हो गयीं। यमुनाका वह भीषण तूफान वस्तुतः तूफान नहीं था, वह था श्रीकृष्णचरण-स्पर्शकी उत्कट लालसासे सहज ही होनेवाला यमुनाका ताण्डव-नृत्य। अब वसुदेवजी अनायास ही पार हो गये।

पर किस रास्तेसे जाकर वे तुरंत नन्दघरमें पहुँचें? यमुनाके निर्जन तटपर इस निस्तब्ध निशामें उन्हें कौन मार्ग बताये? वसुदेवजी श्रीकृष्णको गोदमें लिये किसी तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगे। उनके पीछेसे यमुनाजी मन-ही-मन मृदु-मृदु कलकल निनादके द्वारा कहने लगीं—'जाओ, वसुदेव! याद रक्खो—श्रीकृष्णका भक्त कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होता, मार्ग नहीं भूलता; वह जिस ओर चलने लगता है, उसी ओर उसके लिये मार्ग बन जाता है। वसुदेव! तुम्हें मार्ग खोजना नहीं पड़ेगा, मार्ग स्वयं ही तुम्हें खोज लेगा। वह पथ ही तुम्हारा पथ-प्रदर्शक बनकर तुम्हें नन्दालयमें ले जायगा। तुमने श्रीकृष्णको गोदमें जो ले रक्खा है। फिर चिन्ता क्यों कर रहे हो?'

श्रीवसुदेवजी सीधे नन्दमहलमें पहुँच गये। देखा; सभी सो रहे हैं। वे सहज ही सूतिकागृहमें जा पहुँचे और शिशु श्रीकृष्णको यशोदाके पास सुलाकर यशोदाकी सद्यःप्रसूता कन्याको लेकर मथुराके कारागारमें लौट आये। उनके लौटते ही पूर्ववत् सब कुछ ज्यों-का-त्यों हो गया। यशोदाको यह भी पता नहीं लगा कि उनके पुत्रका जन्म हुआ या कन्याका। शिशुरूप श्रीकृष्णके लीलासे रोनेपर ही यशोदा

जागीं, तब उन्हें पता लगा कि उनके नील कमलदलके सदृश श्यामवर्ण पुत्र हुआ है—

> ददृशे च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम्।
> नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ॥
> (विष्णुपुराण ५ । ३ । २३)

तदनन्तर वे मूर्तिमान् आनन्द-ज्योति श्रीगोविन्द माता यशोदाकी गोदमें इस प्रकार शोभा पाने लगे, मानो चिदानन्द-सरोवरमें ऐसे एक नीलकमलका विकास हुआ, जिसकी सुगन्ध अबतक भ्रमरोंको कभी सूँघनेको नहीं मिली थी, जिसकी सुगन्धको पवन कभी भी हरण करके नहीं ले जा पाया था, जिसको कभी कोई तरंग-कण स्पर्श नहीं कर पाया था और जिसको इससे पहले किसीने भी नहीं देखा था। ऐसे अनाघ्रात, अनपहृत, अनुपहत और अदृष्ट नील-कमल-सदृश श्रीकृष्ण हैं। अर्थात् इससे पूर्वके भ्रमररूप भक्तोंने ऐश्वर्यमय नारायण आदि रूपोंका आस्वादन प्राप्त किया था, इनका नहीं; अतएव ये अनाघ्रात हैं। इससे पूर्वके पवनरूप महाकवियोंने श्रीनारायणादि ऐश्वर्यरूपोंका गुणगान किया था, इनका नहीं; अतएव ये अनपहृत हैं। प्राकृत कमल जैसे जलमें उत्पन्न होता है, वैसे यह कमल जलमें यानी प्रपञ्च-जगत्में नहीं अवतीर्ण हुआ है। जलमें उत्पन्न कमलको तरंगोंके थपेड़े लगते हैं, पर तरङ्गरूप प्रपञ्चान्तर्गत गुण इनको कभी छूतक नहीं गये हैं; इससे ये अनुपहत हैं और ऐश्वर्यमय या ऐश्वर्य-माधुर्य-मिश्रित रूप पहले देखे गये हैं, पर यशोदोत्सङ्गविहारी इन नीलश्यामको अबतक किसीने नहीं देखा है; इसलिये ये अदृष्ट हैं।

इसका दूसरा भाव यह भी परम सत्य है कि श्रीभगवान्-का यह मधुरतम स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि इसमें क्षण-क्षण नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यादि रसोंका, प्रतिक्षण नये-नये लीला-भावोंका विकास-उल्लास होता रहता है। इसलिये प्रेमी भक्त प्रतिक्षण ही इनके प्रत्येक भावको अभूतपूर्व ही अनुभव करते हैं—इनका प्रत्येक भाव नित्य नवीन, सदा अनास्वादित ही दीखता है—

> अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
> रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
> अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
> यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥

श्रीकृष्णावतारके प्रयोजन

परात्पर ब्रह्मके इस दिव्य अवतारके प्रधान हेतु बतलाते हुए कहा गया है—

> आत्मारामान् मधुरचरितैर्भक्तियोगे विधास्यन्
> नानालीलारसरचनयाऽऽनन्दयिष्यन् स्वभक्तान्।
> दैत्यानीकैर्भुवमतिभरां वीतभारां करिष्यन्
> मूर्तानन्दो व्रजपतिगृहे जातवत् प्रादुरासीत्॥
> (श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू)

श्रीभगवान्के इस प्रकारके अवतार-ग्रहणके तीन प्रधान कारण हैं—(१) अपने मधुर लीलाचरितोंके द्वारा आत्माराम मुनियोंको प्रेमभक्तियोगमें लगाना, (२) विविध लीलारसोंकी रचनाके द्वारा अपने प्रेमी भक्तोंको आनन्दित करना, उनके विशुद्ध प्रेमरसास्वादनके द्वारा सुखी होकर, उन्हें प्रेमरसास्वादन कराके सुखी करना और (३) दुर्दान्त दैत्योंके भीषण भारसे अत्यन्त दबी हुई पृथ्वीका भार उतारना। इन तीन मुख्य प्रयोजनोंसे आनन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण व्रजनरेश नन्दबाबाके घरमें जन्म लेनेकी भाँति प्रकट हुए।

भगवान् श्रीकृष्णने अपनी लीलामें इन तीनों ही प्रयोजनोंको भलीभाँति सम्पन्न किया। भगवान्ने मधुर व्रजलीलामें वात्सल्य-सख्य-मधुर आदि विभिन्न रसवाले प्रेमीजनोंको दिव्य प्रेम-रस-सुधाका आस्वादन कराया और किया। यहाँ बीच-बीचमें ऐश्वर्यभावका ग्रहण करके दैत्योंके प्राण हरणकर उन्हें मुक्ति प्रदान की। मथुरा और द्वारकाकी लीलामें माधुर्य-रसकी अपेक्षा ऐश्वर्यका तथा प्रेमकी अपेक्षा निष्काम कर्म और ज्ञानका परम विशुद्ध अमृत अधिक वितरण किया। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, ज्ञानी-अमलात्मा परमहंस महात्माओंको आकर्षित करके अपनी विशुद्ध भक्तिमें नियुक्त किया।

श्रीकृष्णचरितमें पूर्ण भगवत्ता और पूर्ण मानवताका सम्मेलन

यह तो हुई स्वयं-भगवान्के तत्त्व, महत्त्व और दिव्य रस-माधुरीकी बात। पर यों भगवान् श्रीकृष्णके विलक्षण लीलाचरितमें पूर्ण भगवत्ता और पूर्ण मानवताका एक साथ परमाश्चर्यमय सम्मेलन है। वे पूर्णतम भगवान्

और पूर्णतम मानव हैं। उनके चरित्रमें जहाँ एक ओर भगवत्ताका अशेष-वैचित्र्यमय लीलाविलास है, दूसरी ओर वैसे ही मानवताका परम और चरम उत्कर्ष है। अनन्त ऐश्वर्यके साथ अनन्त माधुर्य, अप्रतिम अनन्त शौर्य-वीर्यके साथ मुनि-मन-मोहन नित्यनव-निरुपम सौन्दर्य, वज्रवत् न्याय-कठोरताके साथ कुसुमवत् प्रेम-कोमलता, नव-नव-राज्यनिर्माण-कौशलके साथ स्वयं राज्यग्रहणमें सर्वथा उदासीनता, अनवरत कर्म-प्रवणताके साथ सहज पूर्ण वैराग्य और उदासीनता, परम राजनीति-निपुणताके साथ पूर्ण आध्यात्मिकता, सम्पूर्ण विषमताके साथ नित्य समता, सर्वपूज्यताके साथ सेवा-परायणता—यों अनन्त युगपत् आपातविरोधी भावोंका पूर्ण और सहज समन्वय श्रीकृष्णके जीवनमें प्रत्यक्ष प्रकट है।

श्रीकृष्ण सब ओरसे पूर्ण हैं

साथ ही जो लोग भगवान् श्रीकृष्णको भगवान् न मानकर योगेश्वर, आदर्श महापुरुष, उच्चश्रेणीके निष्काम कर्मयोगी मानते हैं, उनके लिये भी भगवान् श्रीकृष्णने अपने आदर्श जीवनमें जो कुछ दिया है, वह इतना महान्, इतना विशाल, इतना उदार, इतना आदर्श, इतना अनुकरणीय है कि उसकी कहीं तुलना नहीं है। हम उनको प्रत्येक क्षेत्रमें सर्वथा सर्वोच्च आसनपर आसीन पाते हैं। अध्यात्म, धर्म, राजनीति, रण-कौशल, विज्ञान, कला, संगीत, नेतृत्व, सेवा, पारिवारिक जीवन, समाज-सुधार—कहीं भी देखिये, वे सर्वत्र, सदा, सबके लिये आदर्श, दिव्य आशाका निश्चित संदेश लिये, सफलता, कुशलता और अनुभूतिसे पूर्ण आचार्य-पदपर प्रतिष्ठित हैं और स्वयं पथप्रदर्शक बनकर—स्वयं ही सुदृढ़ नौकाके केवट बनकर सबको सब प्रकारकी असुविधाओं और बन्धनोंके अगाध समुद्रसे सहज पार कर देनेके लिये नित्य प्रस्तुत हैं।

आज हम इस मङ्गलमयी उनकी जन्मतिथिके मङ्गल-दिवसपर उनके चरण-शरण होकर अपना जन्म-जीवन सफल और धन्य करें।

बोलो नन्द-यशोदा-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी जय !

नन्दके घर महा-महोत्सव

(राग भैरव, तीन ताल)

नैन भरि देखौ नंदकुमार।
जसुमति कूख चंद्रमा प्रगट्यौ, या ब्रज कौ उजियार॥
बन जिन जाउ आज कोऊ, गोसुत अरु गाय-गुवार।
अपने-अपने भेष सबै मिलि लावौ विविध सिंगार॥
हरद-दूब-अच्छत-दधि-कुमकुम मंडित करौ दुवार।
पूरौ चौक विविध मुक्ताफल, गावौ मंगलचार॥
चहूँ बेद-धुनि करत महामुनि, होत नछत्र-बिचार।
उदयौ पुन्य कौ पुंज साँवरौ, सकल सिद्धि दातार॥
गोकुल-बधू निरखि आनंदित सुंदरता कौ सार।
'दास चतुर्भुज' प्रभु सब सुख निधि गिरिधर प्रान-अधार॥

शरीर-क्षेत्र

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसाजी एडवोकेट)

हमारे शरीरकी भी महिमा विचित्र है। कितनी शक्तियाँ इसके भीतर निहित हैं, इसका हमें पूर्णतया बोध नहीं होता और न उन शक्तियोंको प्रकट करनेपर हमारा ध्यान ही होता है। लोग तो ऐश-आराममें अपना जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, अपने अंदरकी छिपी शक्तियोंको विकसित करनेका साधन करना नहीं चाहते। हमारा कैसा और किसके साथ संसर्ग होता है, इसीपर हमारी शक्तियोंका विकास निर्भर करता है। गुण और दोष एक दूसरेके संसर्गसे होते हैं **'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।'** यद्यपि इस धरतीमें विभिन्न प्रकारके बीज छिपे हुए रहते हैं, फिर भी जमते वे ही हैं, जिन्हें हम बोते हैं। ठीक यही दशा हमारे शरीरकी भी है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इस शरीरको 'क्षेत्र' कहा है। क्षेत्रको भाषामें 'खेत' कहते हैं। खेतका मतलब यह है कि जो बीज उसमें हम बोयेंगे, वही जमेगा। और फल पर्याप्त मात्रामें उत्पन्न हो, इसके लिये जैसा खेत बनाया जायगा, जैसी खाद दी जायगी, बीज भी वैसा ही पुष्ट और प्रचुरमात्रामें फल उत्पन्न करेगा। यदि खेत अच्छा नहीं बनाया जायगा और उसमें उचित खाद आदि न दी जायगी तो बीजकी वृद्धि न होगी। ठीक वही दशा हमारे शरीरकी भी है। इस शरीरके साथ जैसा संसर्ग बनाया जायगा, उसका प्रतिफल भी वैसा ही होगा। इसलिये इस बातको सदा स्मरण रखना चाहिये कि जिन-जिन लोगोंसे या जिस प्रकारकी विचार-धारासे हम प्रभावित होंगे, तदनुकूल ही हमारी अन्तर्निहित शक्तियोंका विकास होगा। जमीनमें कोई व्यक्ति घास नहीं बोता; किंतु उचित बोआई और खादके अभावमें जैसे घास-काँटे आदि आप-से-आप उत्पन्न हो जाते हैं, वही दशा हमारे शरीरकी भी समझनी चाहिये।

अच्छे बीज और अच्छे फलके लिये जिस प्रकार अच्छी जोताई और खादकी आवश्यकता है, उसी प्रकार इस शरीरद्वारा उचित गुणोंके विकास और प्रसारके लिये इसमें अच्छा संसर्ग एवं अच्छी साधनाओंकी व्यवस्था होनी चाहिये। इन्हीं सब साधनाओं या व्यवस्थाओंको जो करते हैं, वे 'साधक' कहलाते हैं। साधना क्या है? वह एक तरहकी तालेकी कुंजी है। मान लीजिये, किसी घरमें ताला लगा है। जबतक ताला खोलकर हम अंदर प्रवेश नहीं करेंगे, तबतक उस घरमें क्या रक्खा है, हम नहीं जान सकते। घरमें प्रवेश करनेके लिये जैसे ताला खोलना आवश्यक है और ताला खोलनेके लिये जैसे कुंजीकी आवश्यकता है, वैसे ही इस शरीरके द्वारा क्या-क्या किया जा सकता है, उसको जाननेके लिये अर्थात् शरीररूपी तालेको खोलनेके लिये साधनारूपी कुंजीकी आवश्यकता है। साधनाद्वारा ही हम इस शरीरकी अन्तर्निहित शक्तियोंका प्रादुर्भाव कर सकते हैं और तब हम समझ सकते हैं कि परमात्माने अपनी कृपाद्वारा इस मानवशरीरमें हमें क्या-क्या प्रदान करके रख छोड़ा है और उसके द्वारा हम इस विश्वसृष्टिमें क्या नहीं कर सकते हैं।

जैसे खेतके विषयमें पूरी जानकारीवाले व्यक्तिको हम 'कृषक' या 'खेतिहर' कहते हैं, वैसे ही इस शरीररूपी क्षेत्रके पूरे जानकारको भगवान् कृष्णने 'क्षेत्रज्ञ' की संज्ञा दी है। इस शरीररूपी क्षेत्रकी महिमाकी पूरी जानकारी ही यथार्थमें ज्ञान है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

(गीता १३। १-२)

भाव इसका यह है कि यह शरीर 'क्षेत्र' है और इसकी विशेषताओंको समझनेवालेको 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है और यह क्षेत्रज्ञ यानी जीवात्मा भी मेरा ही अंश है और क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान, अर्थात् प्रकृति और पुरुषको जानना तथा समझना ही यथार्थ ज्ञान है—ऐसा भगवान् श्रीकृष्णका मत है। इस शरीरके द्वारा प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धको समझ लेना कोई आसान काम नहीं है। यही सबसे कठिन काम है। प्रथम यही विचार करना है कि यह जो शरीर है, वह नाशवान् है और इसके अंदर नित्य निवास करनेवाला

आत्मा अजर और अमर है। इस आत्माका न जन्म होता है और न मृत्यु, अर्थात् उसका कभी नाश भी नहीं होता। यह एक रहस्य है कि इस नित्य रहनेवाले आत्माको यह नाशवान् शरीर क्योंकर प्राप्त हुआ।

यही तो अन्तर है, जिसके कारण हम मनुष्य हैं और वह है परमात्मा। यदि ऐसा अन्तर न होता तो मनुष्य भी परमात्मा ही कहलाता। मनुष्यमें जो जीवात्मा है, वह नित्य है और परमात्मा भी नित्य ही है। इसलिये हममें और परमात्मामें अन्तर कैसा! इस गूढ़ तत्त्वके समझनेके लिये घड़े और आकाशकी उपमा दी जाती है। बाहरका जो आकाश है, वह बृहदाकार आकाश है और घड़ेके अंदर जो आकाशका भाग है, वह बृहदाकार आकाशसे सम्बन्धित है। यदि घड़ा फोड़ दिया जाय तो उसमेंका आकाश जिस प्रकार बृहदाकार आकाशसे जा मिलेगा, उसी प्रकारका सम्बन्ध इस शरीरके आत्मा और परमात्माके साथ है। परमात्मा बृहदाकार आकाशके सदृश है उसीका अंश यह जीवात्मा घड़ेरूप शरीरमें समाया हुआ है। शरीर न छूटता है और न परमात्मासे मिलन होता है। शरीर छूट जाय यानी जन्म-मरणसे छुट्टी हो जाय तो हमारी मुक्ति ही हो जाय, अर्थात् हमारा यथार्थ सम्बन्ध उस परमात्मासे ही हो जाय, जो एक महान् कठिन काम है।

भगवान्ने अपनी लीलासे इस जीवात्माको ऐसा बाँध दिया है कि उससे निकलना इस जीवात्माके लिये अत्यन्त दुष्कर हो गया है। इसी लीलाको कोई 'माया' या कोई-कोई 'प्रकृति'के नामसे पुकारते हैं। परमात्माने हमारे चारों ओर मायाका ऐसा आवरण डाल रखा है कि उससे निकलकर परमात्माके निकटतक पहुँचना इस जीवात्माके लिये असम्भव-सा हो गया है। परमात्मा क्या है, माया या प्रकृति क्या है, जीवात्मा क्या है—इसकी यथार्थता नीचे लिखी घटनासे आप समझ सकेंगे—

एक बारकी बात है, विदेह राजा जनकजीसे मिलनेके लिये श्रीशुकदेवमुनि उनके यहाँ पधारे। जनकजी तो राजा ही ठहरे, उनका विशाल राजभवन, उसके आगे सशस्त्र पहरेदार, फिर भीतर भी पहरेदार—इस प्रकार पहरेदारोंसे राजमहल सुरक्षित था। जब श्रीशुकदेवजी राजमहलके फाटकपर आये, तब नियमानुसार पहरेदारोंने उनका परिचय पूछा और उन्हें वहीं फाटकपर रोक दिया। इस प्रकार श्रीशुकदेवजीको फाटकपर रुके-रुके सात दिन और सात रातें व्यतीत हो गयीं, न तो जनकजीने उन्हें बुलाया और न शुकदेवजी वहाँसे झुँझलाकर वापस गये। जब इस प्रकार श्रीशुकदेवजीके धैर्य, शील एवं स्वभावकी पूरी-पूरी परीक्षा हो गयी, तब आठवें दिन जनकजीने श्रीशुकदेवजीको राजभवनमें प्रवेश करनेकी आज्ञा अपने द्वारपालोंद्वारा भेज दी। इस प्रकार आज्ञा मिलनेपर श्रीशुकदेवजीने महलके अंदर प्रवेश किया। महलके अंदर द्वारसे लेकर जनक-निवासतक अनेकानेक आकर्षक वस्तुओंके प्रदर्शनका आयोजन था। यदि श्रीशुकदेवजी चाहते कि किसी आकर्षक वस्तुको रास्तेमें देख लेते और फिर जनकजीकी ओर आगे बढ़ते तो उसमें किसीको कोई आपत्ति भी नहीं थी, किंतु श्रीशुकदेवजीने न तो कोई आकाङ्क्षा की और न उनके मनमें किसी वस्तुकी कोई लालसा ही थी। वे तो रास्तेकी सारी आकर्षक वस्तुओंकी उपेक्षा करते हुए सीधे जनकजीके स्थानको चलते गये और जनकजीके पास पहुँचनेपर उन्होंने उनका बहुत सम्मान किया। श्रीशुकदेवजीने राजा जनकसे कुछ प्रश्न किये और उनसे कुछ सीखना चाहा तो राजा जनकने कहा कि 'आपके लिये अब क्या सीखना और जानना बाकी रह गया है। जब मेरे समीपतक पहुँचनेमें रास्तेकी कोई भी आकर्षक वस्तु आपको मोहित और प्रभावित नहीं कर सकी तब आपके लिये अब कौन-सा योग शेष रह गया है।' उन्होंने पुनः सम्मानके साथ श्रीशुकदेवजीको विदा कर दिया।

सारांश यह कि परमात्मातक पहुँचनेके लिये इस जीवात्माको अनेकानेक प्रलोभनोंको त्यागना पड़ता है। साधकके लिये मायाके दुस्तर जालको काटना आवश्यक है। तभी यह जीवात्मा परमात्माको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। विरले ही ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जो इस मायाजालसे अपनेको बचा सकें। ऐसा तो केवल योगियोंके लिये ही सम्भव है, जिन्हें ज्ञान-चक्षु प्राप्त हो चुके हैं।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

(गीता १३। ३४)

'इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेद और प्रकृति अर्थात् मायासे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते और पहचानते हैं, वे ही महात्मा योगी उस परब्रह्म पर-

मात्माको प्राप्त होते हैं ।' परमात्माकी प्राप्तिके लिये बहुत त्याग और तपस्याकी आवश्यकता है, जो केवल इस मानव-शरीरसे ही सम्भव है । अतएव इसकी महत्ताको समझते हुए मानव-शरीरकी सुरक्षापर भी हमें विशेष ध्यान देना चाहिये । अपने इस शरीरको आमोद-प्रमोद और विलासितामें नष्ट नहीं करना चाहिये । परमात्माने बड़ी कृपा करके ही हमें यह शरीर दिया है और इसका उद्देश्य क्या है, इसपर हमें विचारते रहना चाहिये । इसी बातकी चेतावनी संत तुलसीदासने अपने मानस-रामायणमें दी है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गा
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा । पाइ न जेहिं परलोक सँवार
(७ । ४२ ।

अतएव हर एक व्यक्तिको अपने शरीरकी उपयो और महत्ताको समझते हुए इसमेंकी निहित शक्ति अच्छे संसर्गद्वारा विकसित करना चाहिये, ताकि यह जी मायाके आवरणको हटाकर भगवान्की प्राप्तिके मा अग्रसर हो सके ।

एक महात्माका प्रसाद

परिस्थितिका सदुपयोग

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है । उसके सदुपयोग-में ही सभीका हित है । किंतु हमसे भूल यह होती है कि हम परिस्थिति-परिवर्तनके लिये अथवा अनुकूल परिस्थितिको सुरक्षित बनाये रखनेके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, यद्यपि कोई भी परिस्थिति सर्वांशमें अनुकूल नहीं होती और न सर्वांशमें प्रतिकूल ही होती है । प्रत्येक परिस्थितिमें जो करना चाहिये, उसको करनेकी सामर्थ्य हममें विद्यमान होती है और जो नहीं करना चाहिये, उसके त्यागकी सामर्थ्य भी रहती है । परंतु हम इस बातको भूल जाते हैं कि प्रस्तुत परिस्थितिमें क्या करना चाहिये । जो करते रहते हैं, बस, उसीको पकड़े रहते हैं; नहीं तो 'यह करना ही है', परंतु कर पाते नहीं और फिर पश्चात्ताप करते हैं । ऐसी परिस्थितिमें एक बातका निर्णय करना है—और वह हरेक व्यक्तिको अपने-आप करना है, दूसरेके द्वारा नहीं—कि कोई भी परिस्थिति क्या ऐसी हो सकती है, जिसके बिना हम रह नहीं सकते ? यदि आपको लगे कि सचमुच कोई ऐसी परिस्थिति हो सकती है, तो सोचिये कि उस परिस्थितिका वियोग तो नहीं होगा ? पर वियोग होता ही है । जब वियोग होता है, तब कोई परिस्थिति ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसके बिना हम नहीं रह सकते हों ।

यदि कोई मुझसे यह पूछता कि 'भाई ! तुम आँखोंके बिना रह सकते हो ?' तो क्या मैं कभी यह माननेके लिये राजी होता कि मैं आँखोंके बिना रह सकता हूँ ? किंतु देखिये, आँखोंके बिना रह रहा हूँ । उसी प्रकार हमलोग सदैव बातका ध्यान रखें कि कोई परिस्थिति सचमुच ऐसी है ही जिसके बिना हम नहीं रह सकते, या जो हमारे बिना नहीं सकती, हर परिस्थिति हमारे बिना रह सकती है और परिस्थितिके बिना हम रह सकते हैं । लेकिन जब 'परिस्थिति जीवन है'—ऐसा विश्वास होता है, तब प्रतिकूल परिस्थितिका पैदा ही जाता है और अनुकूल परिस्थितिकी आशा उत्प हो जाती है । हम चाहते हैं कि अनुकूल परिस्थिति रहे और प्रतिकूल परिस्थिति न आये । यदि परिस्थि स्वभावसे सदैव रहनेवाली होती, तब तो आप यह कह स थे कि आपकी बात ठीक है । आप कहेंगे कि 'कोई-न-को परिस्थिति तो रही ही है' तो जो परिस्थिति रहती है, उस हमें क्या करना है—इस बातको अपने सामने रखना चाहि वह चाहे जैसी भी परिस्थिति हो । जो शक्ति आप परिस्थिति परिवर्तन करनेके लिये लगाते हैं, यदि वही शक्ति परिस्थितिके सदुपयोगमें लगा दें तो बड़ी ही सुगमतापू परिस्थितियोंसे अतीत जो जीवन है, उसमें या तो श्रद्धा जाय या उसकी प्राप्ति हो जाय । दोनों ही बातें हो सक हैं । श्रद्धा हो जायगी तो एक नवीन लालसा जाग्रत् होगी एक नवीन जिज्ञासा जाग्रत् होगी; और अनुभूति जायगी, तब यथेष्ट विश्राम मिलेगा । और ये ही दो जीवनमें उपयोगी हैं—या तो आपको विश्राम मिल जाय आपके जीवनमें एक ऐसी उत्कट लालसा जग जाय, सभी कामनाओंको खा जाय और सभी आक्रमणोंपर वि हो जाय ।

लालसामें बड़ी भारी सामर्थ्य है और विश्राममें भी बड़ी भारी सामर्थ्य है । ये दोनों बातें जीवनके लिये इतनी उपयोगी हैं कि कोई भी परिस्थिति इनकी तुलना नहीं कर सकती, समानता नहीं कर सकती । किसी भी परिस्थितिमें न उतना रस है और न उतनी सामर्थ्य है । जिस समय आपके जीवनमें कोई लालसा होती है, उस समय आपके जीवनमें अन्य कोई कामनाएँ नहीं रह सकतीं । लालसाका पहला काम है—कामनाओंको खा जाना, और जब कामनाएँ नहीं रहतीं, तब परिस्थितिसे सम्बन्ध नहीं रहता । लालसाकी जागृतिमात्रसे परिस्थितिसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है ! बताइये, इसमें कौन-सी पराधीनता है ? थोड़ी देरके लिये मान लीजिये कि हमें जिस जीवनकी लालसा है या जिसकी लालसा है, वह हमें न भी प्राप्त हो, और कभी भी प्राप्त न हो । ऐसा भी यदि मान लें और लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती रहे, तो क्या उसमें कोई हानि होगी ? कोई हानि नहीं होगी; क्योंकि जिसका मिलन रसरूप है, उसकी स्मृति उससे भी अधिक रसरूप है । जिसका मिलन रसरूप होता है, उसकी स्मृति कभी नीरस नहीं होती और स्मृतिमें कोई पराधीनता नहीं है । वस्तु मिलनेमें आप पराधीन हो सकते हैं, लेकिन किसीकी यादमें भी क्या कोई पराधीन हो सकता है ? इसमें कोई भी पराधीन नहीं है । अगर आपको स्मृति प्रिय नहीं है और आप सोचें कि यह तो बड़ी वेदना देती है, हमें स्मृति नहीं चाहिये, तो भैया, स्मृतिमें तो कोई पराधीनता है नहीं । दो ही बातें तो जीवनमें हो सकती हैं—या तो आप सबसे अलग हो जायँ, या किसी एक लालसामें आबद्ध हो जायँ । इसमें क्या कठिनाई है कि कोई एक ही लालसा जीवनमें हो अथवा कोई भी लालसा जीवनमें न हो ? लेकिन कठिनाई यह है कि हम एक ओर तो यह सोचते हैं कि हमारे जीवनमें एक क्रान्ति हो, एक लालसा हो, एक जिज्ञासा हो; और दूसरी ओर यह भी सोचते हैं कि जो कामनाएँ हैं, वे भी पूरी हो जायँ, यानी कामना-पूर्ति भी हो, लालसाकी जागृति भी हो और विश्राम भी मिले । हम तीनों बातें चाहते हैं । इसका परिणाम यह होता है कि कामनाकी अपूर्तिका जो भय है, वह आपको, हमको क्षोभित कर देता है और क्षोभित होनेका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य प्राप्त थी, उसका तो सदुपयोग नहीं होता और जो सामर्थ्य प्राप्त होनेवाली थी, उसका विकास रुक जाता है, अर्थात् अप्राप्त प्राप्त नहीं होता और प्राप्तका सदुपयोग नहीं होता । जीवनकी यह दशा सबसे भयंकर दशा है और इसीसे बचना है, अन्य किसी दशासे नहीं ।

जो भी सामर्थ्य आपको प्राप्त है, जो भी योग्यता आपको प्राप्त है, आप उसको परिस्थितिके अनुसार प्रयोग कीजिये । यदि सदुपयोग नहीं कर सकते तो उस सामर्थ्यको लेकर ही क्या करेंगे ? आप कहेंगे कि 'हममें तो कोई सामर्थ्य है ही नहीं ।' ऐसा कोई व्यक्ति है ही नहीं, जिसमें कोई भी सामर्थ्य न हो । जिसको हम 'असमर्थता' कहते हैं, वह आंशिक सामर्थ्यका ही नाम है, सामर्थ्यके अभावका नाम नहीं । आंशिक सामर्थ्यके सदुपयोगसे आवश्यक सामर्थ्य अपने-आप आती है । जब आंशिक सामर्थ्यके सदुपयोगसे आवश्यक सामर्थ्य आती है, तब फिर जीवनमें चिन्ता और भयका कौन-सा स्थान है ? तो कहना होगा कि चिन्ता और भयका ही यह परिणाम होता है कि जो सामर्थ्य हमको प्राप्त है, उसका तो हम सदुपयोग नहीं कर पाते और अप्राप्त सामर्थ्यका चिन्तन करने लगते हैं । उदाहरणके लिये, कल्पना करो कि जो भोजन प्राप्त है, उसे तो हम पचा न पायें और अप्राप्त भोजनका चिन्तन करें कि यह और होता, यह और होता । इसीके दुष्परिणामस्वरूप अप्राप्तका चिन्तन और प्राप्तका दुरुपयोग होने लगता है और हमारा चित्त अशुद्ध हो जाता है । करना यह है कि प्राप्तका तो सदुपयोग हो और अप्राप्तके चिन्तनसे हम मुक्त रहें ।

जब हम अप्राप्तके चिन्तनसे रहित रहेंगे, तब विश्राम मिलेगा । और विश्रामसे या तो हमें आवश्यक सामर्थ्य मिल जायगी या जो मिलना चाहिये वह मिल जायगा; क्योंकि विश्राम मात्रसे भी लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है । ऐसी बात नहीं है कि श्रमसे ही लक्ष्यकी प्राप्ति हो । श्रम तो प्राप्त सामर्थ्यके सदुपयोगके लिये अपेक्षित है, लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये कोई श्रम अपेक्षित नहीं है । जो सामर्थ्य हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें, जो वस्तु हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय कैसे करें, और जो योग्यता हमें प्राप्त है, उसका सद्व्यय हम कैसे करें ? इसके लिये श्रम अपेक्षित है । लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये श्रम अपेक्षित नहीं है । अब आप सोचिये कि जब श्रम-रहित जीवनसे हमें लक्ष्य प्राप्त हो सकता है, तब भी हम लक्ष्यसे निराश रहें, इससे बढ़कर और असावधानी क्या हो सकती है ? यह जो हमलोगोंको चिन्ता [illegible] रहती है कि यह नहीं हुआ और यह नहीं

किया, और यह नहीं कर पाये और यह करेंगे, यह चिन्ता केवल अपनेको शक्तिहीन बनानेमें ही हेतु है। इससे और कोई लाभ नहीं होता। इसलिये जैसी परिस्थिति आपके सामने है, उस परिस्थितिका हृदयसे आदर करो, भयभीत मत हो जाओ। यह सोचो कि यह परिस्थिति क्यों आयी, इस परिस्थितिका क्या कारण है ?

हाँ, प्रतिकूल परिस्थितिका कारण है—विलास। कोई भी प्रतिकूल परिस्थिति ऐसी नहीं होती, जिसके मूलमें विलास न हो। उदाहरणके रूपमें ले लीजिये कि मेरा पेट खराब हो गया। अगर खानेमें मेरी आसक्ति न हो तो कभी पेट खराब नहीं होगा। किंतु हम सोचते यह हैं कि भोजन करनेका जो सुख है, वह सुरक्षित बना रहे, सदैव सुरक्षित बना रहे। भूख हो या न हो, लेकिन भोजनका सुख सुरक्षित रहे। अब आप सोचिये कि क्या यही जीवन है ? तब तो बड़ी गम्भीरतासे यह कहेंगे कि भाई, भूख लगती है, इसलिये भोजन करना पड़ता है। यदि भूख न लगे तो भोजनकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भोजन होता है दस मिनटमें। उसके बाद तो आप कई घंटे बिना खाये रहते ही हैं। यदि भोजन करनेमें ही सुख था तो उसके बादमें छः घंटे आपको कैसे सुख रहा ? मान लीजिये, आप दिन-रातमेंसे एक घंटा खानेमें लगाते हैं तो तेईस घंटे आप कैसे रहते हैं ? आपको मानना ही पड़ेगा कि तेईस घंटेका जो समय बिना खाये निकलता है, क्या उसमें कोई जीवन नहीं है ? उसी प्रकार हम प्रत्येक प्रवृत्तिके विषयमें देखें कि जितनी देर कोई प्रवृत्ति होती है, उससे अधिक समय तो विश्राममें ही जाता है, यानी निवृत्ति रहती है। तो सोचिये, निवृत्ति-कालमें जीवन है या नहीं ? यदि निवृत्ति-कालमें जीवन है, तो आपको मानना ही पड़ेगा कि विश्राममें भी जीवन है। परंतु कितने दुःखकी बात है कि विश्राम हमारे लिये दुर्लभ हो गया।

यदि श्रम न करें और विश्राम भी न करें तो करें क्या ? या तो चिन्ता करें या भयभीत रहें या गलत काम करें। और फिर सोचें बड़ी-बड़ी बातें ! आस्तिकवादी सोचें कि हमें प्रभुप्राप्ति नहीं हुई, भौतिकवादी सोचें कि हमको शान्ति नहीं मिली, अध्यात्मवादी सोचें कि हमें स्वरूपका बोध नहीं हुआ !! यदि स्वरूपका बोध आपका जीवन है, चिरशान्ति यदि आपका जीवन है और भगवत्प्राप्ति यदि आपका जीवन है तो फिर आप बताइये, परिस्थिति आपका जीवन कैसे हो सकती है ? जब परिस्थिति आपका जीवन नहीं हो सकती तो चाहे जैसी परिस्थिति हो, उसके अनुसार जो करना है, उसे कर डालना है। इसके अतिरिक्त परिस्थिति का कोई महत्त्व नहीं है।

आज सब मेरा तुम्हारा हो गया

(रचयिता—श्रीरामनाथजी सुमन)

चेतना थककर तुम्हीं में सो गयी,
बूँद सागर-गर्भ में है खो गयी।
शब्द-स्वर सब मौन में है बह गया,
कुछ न मेरा था, न मेरा रह गया।
मैं तुम्हारा था, तुम्हारा हो गया,
सब अहम् मेरा तुम्हीं में खो गया।
तुम कहाँ हो, मैं कहाँ हूँ, क्या पता,
द्वैत का परदा हुआ है लापता।
एकता का बीज कोई बो गया,
आज सब मेरा तुम्हारा हो गया॥

गीताका भक्तियोग—१४

(स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृ० १०१४ से आगे]

सम्बन्ध

पूर्वके सात श्लोकोंमें सिद्धभक्तोंके ३९ लक्षण बतलानेके बाद जिन साधकोंको लेकर पहले श्लोकमें अर्जुनने प्रश्न किया था, उस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् साधकोंकी बात कहकर उस प्रसङ्गका यहाँ उपसंहार करते हैं—

श्लोक

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

भावार्थ—

१३वें श्लोकसे १९वें श्लोकतक सात श्लोकोंमें भगवान्ने सिद्धभक्तोंके लक्षणोंका समूहरूपी जो धर्ममय अमृतरूप उपदेशवाणी कही, उसे जिस प्रकार भगवान्ने कहा है, ठीक उसी प्रकार श्रद्धापूर्वक मेरे परायण होकर अपनेमें उतारनेकी जो चेष्टा करते हैं, भगवान् कहते हैं, ऐसे साधक-भक्त मुझे अत्यन्त प्यारे हैं; क्योंकि मेरा साक्षात् अनुभव हुए बिना भी वे मुझपर प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास करके साधन करते हैं। उनकी दृष्टिमें सांसारिक धन-मान-बड़ाई आदिका कोई महत्त्व नहीं है।

अन्वय

तु, ये, मत्परमाः, श्रद्दधानाः, इदम्, यथोक्तम्, धर्म्यामृतम्, पर्युपासते, ते, भक्ताः, मे, अतीव, प्रियः ॥२०॥

तु—और। इस 'तु' पदका गीतामें प्रकरणको अलग करनेके लिये प्रयोग किया गया है। यहाँ सिद्धभक्तोंसे साधकोंके प्रकरणको अलग करनेके लिये 'तु' पदका प्रयोग हुआ है।

ये—जो। इस पदसे भगवान्ने उन साधक-भक्तोंका निर्देश किया है, जिन साधकोंके विषयमें अर्जुनने पहले श्लोकमें प्रश्न किया था। उसी प्रश्नके उत्तरमें अध्यायके दूसरे श्लोकमें सगुणकी उपासना करनेवाले साधकोंको भगवान्ने अपने मतमें 'युक्ततम' बतलाया। फिर उसी (सगुण-उपासना)का साधन बतलाया; तत्पश्चात् सिद्धभक्तोंके लक्षण बतलाकर अब उसी प्रसङ्गका उपसंहार करते हैं।

१३वें श्लोकसे १९वें श्लोकतक सिद्धभक्तोंके लक्षणोंका वर्णन हुआ। यहाँ 'ये' पद परम श्रद्धालु भगवत्परायण साधकोंके लिये आया है, जो उन लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करते हैं और जिनको भगवान्ने इसी श्लोकमें अपना 'अत्यन्त प्यारा' कहा है।

मत्परमाः—मेरे परायण हुए, अर्थात् वे साधक, जिनकी दृष्टिमें भगवान् ही परमोत्कृष्ट हैं। साधक-भक्त सिद्धभक्तोंको अत्यन्त पूज्यभाव और सम्मान्य दृष्टिसे देखता है। उसकी उनके गुणोंमें श्रेष्ठ बुद्धि है; किंतु प्रापणीय तत्त्व उसके लिये भगवान् है न कि गुण। गुण तो भगवान्के सम्बन्धसे स्वतः आ जाते हैं; क्योंकि सारे-के-सारे गुण भगवान्के ही हैं। अतः वे परमात्माके ही परायण होते हैं।

श्रद्दधानाः—श्रद्धायुक्त पुरुष। सिद्धभक्तोंको भगवत्प्राप्ति हुई रहनेसे उनके लक्षणोंमें श्रद्धाकी बात नहीं आती। जबतक तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, तभीतक श्रद्धा आवश्यक है। अतः यह पद 'श्रद्धालु साधकभक्तोंका' ही वाचक है। ऐसे श्रद्धालु साधक-भक्त भगवान्के परायण होकर ऊपर दिये गये भगवान्के धर्मयुक्त अमृतरूप उपदेशको अपनेमें उतारनेकी चेष्टा किया करते हैं।

सभी मार्गोंके साधकोंमें विवेककी बड़ी आवश्यकता है। विवेक होनेसे ही साधनमें तीव्रता आती है। यद्यपि यह बात ठीक है कि भक्तिके साधनमें श्रद्धा और प्रेमकी मुख्यता है और ज्ञानके साधनमें विवेककी, तथापि इसका यह अभिप्राय नहीं कि भक्तिमार्गके साधनमें विवेककी आवश्यकता ही नहीं है, अथवा ज्ञानमार्गके साधनमें श्रद्धाकी और भक्ति मार्गके साधनमें श्रद्धा और विवेक, दोनों ही सहायक हैं। यहाँ **'श्रद्दधानाः'** पद भक्तिमार्गके साधकोंके लिये आया है।

इदम्—इस।

यथा उक्तम् धर्म्यामृतम्—ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको। १३वेंसे १९ वें श्लोकतक सिद्धभक्तोंके ३९ लक्षणोंका समुदाय धर्ममय है, धर्मसे ओत-प्रोत है। उसमें अधर्मका किंचित् भी अंश नहीं है।

जिस साधनमें साधन-विरोधी अंश सर्वथा नहीं होता, वह साधन अमृततुल्य होता है। जिसमें साधन-विरोधी अंश रहता है, वह साधन अमृत नहीं है। ऊपर कहे हुए साधन-समुदायमें साधन-विरोधी कोई बात न होनेसे इसे **'धर्म्यामृतम्'** संज्ञा दी गयी है।

साधनमें साधन-विरोधी कोई भी बात न होते हुए, जैसा ऊपर कहा गया है, ठीक वैसा-का-वैसा ही धर्ममय अमृतका सेवन तभी होगा, जब साधकका उद्देश्य आंशिक रूपसे भी धन, मान, बड़ाई, आदर, सत्कार, संग्रह और सुख-भोगादि न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही होगा।

'धर्म्यामृतम्' के जो लक्षण बतलाये गये हैं—जैसे **अद्वेष्टा, मैत्रः, करुणः** आदि, वे आंशिक रूपसे साधक-मात्रमें रहते हैं तथा इनके साथ-साथ दुर्गुण-दुराचार भी रहते हैं। साधक सत्सङ्ग करता है तथा साथमें कुसङ्ग भी होता रहता है; वह संयम करता है, किंतु साथ-ही-साथ रागपूर्वक सांसारिक भोग भी भोगता रहता है। साधकोंमें इस प्रकार गुण-अवगुण दोनों साथ रहते हैं। जबतक गुणोंके साथ अवगुण रहेंगे, तबतक सिद्धि नहीं होगी। अवगुण साथमें रहनेसे गुणोंका अभिमान-रूपी बड़ा अवगुण भी साथ रहता है। वास्तवमें गुण सर्वथा दोषरहित होने चाहिये। इसीलिये **'धर्म्यामृतम्'** का सेवन करनेके लिये यह कहा गया है कि इसका ठीक वैसा-का-वैसा पालन होना चाहिये, जैसा कि वर्णन किया गया है। यदि **'धर्म्यामृतम्'** के सेवनमें आंशिक रूपसे भी दोष रहेंगे तो तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी। साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये कि दुर्गुण-दुराचार उसमें आंशिक रूपसे भी न रहें। यदि साधनमें किसी कारणको लेकर आंशिक रूपसे कोई दोषमय वृत्ति उत्पन्न हो जाय तो उसकी अवहेलना न करके तत्परतासे उसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

जितने सद्गुण-सदाचार-सद्भाव आदि हैं, वे सब-के-सब सत् (परमात्मा) पर अवलम्बित हैं। दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव आदि सब असत्‌के सम्बन्धसे ही होते हैं। एक ओर दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषमें भी सद्गुण-सदाचारोंका सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि जीव नित्य है और परमात्माका अंश है। उसका 'सत्' (परमात्मा) से सदासे सम्बन्ध है और सदा ही रहेगा। और परमात्माके साथ सम्बन्ध रहनेके कारण किसी-न-किसी अंशमें उसमें सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही। दूसरी ओर सत् (परमात्मा) की प्राप्ति होनेपर असत्‌के साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव आदि कभी नहीं रह सकते।

सद्गुण भागवत-सम्पत्ति हैं। इसलिये साधक जितना-जितना भगवान्‌के सम्मुख होता जायगा, उतने अंशमें उसमें सद्गुण-सदाचार-सद्भाव आते जायँगे एवं दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव नष्ट होते जायँगे।

यह एक विवादग्रस्त विषय है कि सिद्ध-महापुरुषमें भी प्रारब्धवश राग-द्वेष एवं काम-क्रोधादि रह सकते हैं। इन दोषोंको कई विद्वान् अन्तःकरणके धर्म मानते हैं। पर सिद्ध महापुरुषोंके अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-

क्रोधकी सत्ता स्वीकार करना सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध, न्याय-विरुद्ध और गलत है । राग-द्वेष, काम-क्रोधादिको अन्तःकरणके धर्म मानना भूल है । ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं । गीताजीमें भी तेरहवें अध्यायके ६ ठे श्लोकमें **'इच्छा द्वेषः'** पदसे राग-द्वेषादिको क्षेत्रका विकार बताया गया है ।

धर्म स्वभावगत होते हैं और नित्य रहते हैं, जब कि विकार नाशवान् हैं और घटते-बढ़ते रहते हैं । जितने अंशमें अन्तःकरणमें विकार विद्यमान हैं, उतने अंशमें वह साधक है, सिद्ध नहीं । साधक भी जितना-जितना परमात्माकी ओर अग्रसर होता है, उतनी-उतनी दूरतक उसके राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकार मिटते जाते हैं एवं शेष सीमातक पहुँचनेपर उन विकारोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है । यदि राग-द्वेषादि विकार अन्तःकरणके धर्म होते तो फिर जबतक अन्तःकरण है, तबतक राग-द्वेषादि विकार रहने ही चाहिये । किंतु जब इन विकारोंका साधकोंमें भी नाश होता चला जाता है, तब फिर ये अन्तःकरणके धर्म कैसे हो सकते हैं ?

गीताजीमें स्थान-स्थानपर—जैसे दूसरे अध्यायके ६४ वें श्लोकमें **'रागद्वेषवियुक्तैस्तु'** पदसे एवं अठारहवें अध्यायके ५१ वें श्लोकमें **'रागद्वेषौ व्युदस्य च'** पदोंसे भगवान्ने साधकोंको 'इन राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त होनेके लिये आदेश दिया है । यदि ये अन्तःकरणके धर्म होते तो इनका त्याग असम्भव होता । असम्भव बातको करनेके लिये भगवान् आदेश कैसे दे सकते हैं ।

गीताजीमें सिद्ध महापुरुषोंको राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारोंसे मुक्त बताया गया है—जैसे इसी अध्यायके १५ वें श्लोकमें **'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः'** पदसे भक्तको भगवान्ने राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकसे मुक्त बताया है । इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं । असत्से सर्वथा विमुख होनेके कारण उन सिद्धमहापुरुषोंमें ये विकार लेशमात्र भी नहीं रहते ।

जिसमें लेशमात्र भी ये विकार नहीं हैं, ऐसे सिद्ध महापुरुषके अन्तःकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर सेवन करनेके लिये भगवान्ने उन लक्षणोंको यहाँ **'धर्म्यामृतम्'** के नामसे कहा है ।

दूसरे अध्यायके ३१वें श्लोकमें **'धर्म्यात्'** पद और ३३वें श्लोकमें **'धर्म्यम्'** पद धर्ममय युद्धके लिये प्रयुक्त हुआ है ।

नवें अध्यायके २रे श्लोकमें **'धर्म्यम्'** पदसे ज्ञान-विज्ञानको धर्ममय बताया गया है ।

अठारहवें अध्यायके ७०वें श्लोकमें **'धर्म्यम्'** पदसे भगवान् और अर्जुनके गीताजीमें कहे हुए संवादको धर्ममय कहा गया है ।

नवें अध्यायके १९वें श्लोकमें **'अमृतम्'** पदसे भगवान्ने अमृतको अपनी विभूति बताया है ।

दसवें अध्यायके १८वें श्लोकमें **'अमृतम्'** पदसे अर्जुनने भगवान्के वचनोंको अमृतमय बताया है ।

तेरहवें अध्यायके १२वें श्लोकमें और चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकमें **'अमृतम्'** पद परमानन्दका वाचक है ।

चौदहवें अध्यायके २७ वें श्लोकमें **'अमृतस्य'** पद भगवत्स्वरूपका वाचक है ।

पर्युपासते—सेवन करते हैं । पूर्वके सात श्लोकोंमें **'धर्म्यामृतम्'** का जिस रूपमें वर्णन किया गया है, ठीक उसी रूपमें श्रद्धासे युक्त होकर साङ्गोपाङ्ग सेवन करनेके अर्थमें यहाँ **'पर्युपासते'** पद प्रयुक्त हुआ है । साङ्गोपाङ्ग सेवनका तात्पर्य यही है कि साधकमें अवगुण किंचिन्मात्र भी नहीं रहने चाहिये । उदाहरणके लिये करुणाका भाव सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति चाहे पूर्णरूपसे न हो, किंतु किसी भी प्राणीके प्रति अकरुणा अर्थात् निर्दयताका भाव यत्किंचित् भी नहीं रहना चाहिये । साधकोंमें ये लक्षण साङ्गोपाङ्ग नहीं होते । इसलिये उन्हें इनका सेवन करनेके लिये कहा गया

है । साङ्गोपाङ्ग लक्षण होनेपर वे सिद्धकोटिमें आ जायँगे ।

साधकमें चटपटी, तीव्र इच्छा, व्याकुलता और प्राप्तिके लिये उत्कण्ठा आदि होनेसे उसका साधन अपने-आप होता है । इस प्रकार साधन होनेपर भगवत्प्राप्ति बहुत शीघ्रता और सुगमतासे हो जाती है ।

ते—वे ।

भक्ताः—भक्त । भक्तिमार्गपर चलनेवाले साधकोंके लिये यहाँ **'भक्ताः'** पद प्रयुक्त हुआ है । भगवान्ने ग्यारहवें अध्यायके ५३ वें श्लोकमें अपना दर्शन दुर्लभ बतलाकर, ५४ वें श्लोकमें अनन्यभक्तिसे अपना दर्शन सम्भव बतलाया एवं ५५वें श्लोकमें अनन्यभक्तिके स्वरूपका वर्णन किया । इसपर इसी अध्यायके पहले श्लोकमें उस अनन्यभक्तिका उद्देश्य रखनेवाले साधकोंकी उपासना कैसी होती है—इसके सम्बन्धमें अर्जुनने प्रश्न किया । उक्त प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने दूसरे श्लोकमें उन्हीं साधकोंको श्रेष्ठ बतलाया है, जो भगवान्में मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी उपासना करते हैं । उन्हीं साधकोंका वर्णन यहाँ **'भक्ताः'** पदसे हुआ है ।

मे अतीव प्रियाः—मुझे अतिशय प्रिय हैं ।

जिन साधकोंको २रे श्लोकमें **'युक्ततमाः'** कहा गया है, छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें जिनके समुदाय-को **'युक्ततमः'** बताया गया है, उन्हीं साधकोंको यहाँ भगवान्ने अपना अत्यन्त प्यारा बतलाया है । अत्यन्त प्यारा बतलानेमें हेतु निम्नाङ्कित हैं—

(१) सिद्धभक्तोंको तो तत्त्वका अनुभव अर्थात् भगवत्-साक्षात्कार हो गया रहता है, किंतु साधक-भक्तोंको भगवत्साक्षात्कार न होनेपर भी वे श्रद्धापूर्वक भगवान्के परायण होते हैं । इसीलिये भगवान् कहते हैं कि 'मुझपर ही श्रद्धा-विश्वास करनेवाले होनेके कारण वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ।'

(२) सिद्धभक्त तो भगवान्के बड़े लड़केकी तरह हैं—

'मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी ।'

(रा० च० मा०, ३ । ४२ ।

जब कि साधक भक्त भगवान्के छोटे लड़के तरह हैं—

'बालक सुत सम दास अमानी ॥'

(वही, ३ । ४२ ।

छोटा बालक स्वतः ही सबको प्यारा लगता है इसीलिये भगवान् कहते हैं कि वे 'मुझे अतिशय प्यारे हैं ।'

(३) भगवान् कहते हैं कि 'सिद्धभक्तको दर्शन देकर मैं उऋण हो गया रहता हूँ, किंतु साधक भक्त तो अभी साधन करते हैं, सरल विश्वाससे मुझ निर्भर हैं । अतः अपनी प्राप्ति न करानेके कारण उन अभीतक मैं उऋण नहीं हुआ हूँ । इसलिये भी वे मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ।'

(४) पूर्वोद्धृत सात श्लोकोंके अन्तर्गत पाँच प्रकरणों में सिद्धभक्तोंके लक्षण बतलाकर—प्रत्येक प्रकरणके पूर्ण लक्षण जिसमें विद्यमान हैं, उस भक्तको उस प्रकरणके अन्तमें भगवान्ने अपना प्यारा बतलाया, किंतु साधक-भक्त तो उन पाँचों प्रकरणोंमें आये हुए लक्षणोंका अनुष्ठान करता है । इसलिये भगवान् कहते हैं कि 'वे मुझे अतिशय प्यारे हैं' ॥ २० ॥

(१) बारहवें अध्यायमें कुल पद २४४ हैं, पुष्पिकामें १३ हैं और 'उवाच' आदिमें कुल ४ पद हैं । पदोंका पूर्णयोग २६१ है ।

(२) बारहवें अध्यायके श्लोकोंमें कुल ६४० अक्षर हैं, पुष्पिकामें ४५, 'उवाच' आदिमें १३ एवं 'अथ द्वादशोऽध्यायः'के कुल ७ अक्षर हैं । सम्पूर्ण अक्षरोंका योग ७०५ हैं । इस अध्यायमें सभी श्लोक ३२ अक्षरोंके हैं ।

(३) बारहवें अध्यायमें दो 'उवाच' हैं—

(१) 'अर्जुन उवाच' और

(२) 'श्रीभगवानुवाच' ।

(समाप्त)

श्रीअरविन्द-शताब्दीके मङ्गल-संदर्भमें

श्रीअरविन्दका जीवन-दर्शन

(लेखक—श्रीरामलाल)

श्रीअरविन्दकी आध्यात्मिकताका अप्रतिम योगदान है समस्त चेतनको भागवत ज्योतिसे परिपूर्ण कर देनेकी साधना। श्रीअरविन्द निस्संदेह महायोगी थे; वे हठयोगी, लययोगी और राजयोगी—सब कुछ एक ही साथ थे। उन्होंने अन्तरात्माके शाश्वत प्रकाशमें—भागवत ज्योतिमें जागतिक अन्धकारका विनाश कर चराचरको दिव्य, दिव्यतर और दिव्यतम बनानेकी साधना की। महायोगी अरविन्द मानवताके अमर दिव्य दूत थे; उन्होंने विश्वके प्राणियोंको शाश्वत आत्मचैतन्य—सम्पूर्ण दिव्य परात्पर ज्ञान और भागवत प्रेम प्रदान किया।

श्रीअरविन्दका जीवन-चरित्र लिखना कठिन काम है, उनका जीवन आध्यात्मिक साधनाके क्षेत्रमें समग्ररूपसे अन्तर्मुखी था। श्रीअरविन्दकी एक स्थलपर उक्ति है—'मेरा जीवन ऊपरी तलपर नहीं रहा है कि मनुष्य इसे देख सके।' निस्संदेह श्रीअरविन्दका जीवन रहस्यपूर्ण है।

श्रीअरविन्दका सम्पूर्ण जीवन तीन भागोंमें विभाजित किया जा सकता है। पहले भागमें उनके जन्म, शिक्षा-दीक्षा तथा पांडिचेरी आनेके पहलेकी समस्त घटनाओंका समावेश किया जा सकता है; दूसरे भागमें उनकी आध्यात्मिक साधना—आध्यात्मिक वाङ्मय-मन्थन और योगसाधनाका चित्रण उपलब्ध होता है तथा तीसरेमें समाहित योगसिद्धिपरक स्वरूप-स्थिति अभिव्यक्त है। श्रीअरविन्दने १५ अगस्त १८७२ ई० को कलकत्तेके एक शिक्षित परिवारमें जन्म लिया। अपनी महासमाधिके तीन साल पहले सन् १९४७ई० के पंद्रह अगस्तकी तिथिकी महत्ताका संकेत करते हुए उन्होंने उद्गार प्रकट किया था—'मेरी जन्मतिथि होनेके नाते मेरे तथा मेरे अनुयायियोंके लिये पंद्रह अगस्त स्मरणीय रहता आया है और स्वतन्त्र भारतकी जन्मतिथि होनेके नाते अब मेरे लिये उसका महत्त्व और भी बढ़ गया है।' श्रीअरविन्दके पिता कृष्णधन घोष और माँ स्वर्णलताने उनके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षाकी ओर विशेष ध्यान दिया। पिता सिविल सर्जन थे। वे अंग्रेजी ढंगके रहन-सहनसे बहुत प्रभावित थे। श्रीअरविन्दको वे पश्चिमी सभ्यतामें ढालना चाहते थे। सात सालकी अवस्थामें श्रीअरविन्द अपने बड़े भाईके साथ शिक्षाके लिये इंग्लैंड भेजे गये। मैंचेस्टरके एक अंग्रेज परिवारमें उनके रहनेकी व्यवस्था की गयी। पिताने उस परिवारको सावधान कर दिया था कि श्रीअरविन्दपर भारतीय सभ्यताका रंग न चढ़ने पाये। श्रीअरविन्दने मैंचेस्टरमें तथा सेंट पॉल विद्यालय, लंदनमें ग्रीक और लैटिन साहित्यका अध्ययन किया। उन्होंने इटैलियन, जर्मन और स्पैनिश भाषाएँ भी सीखीं। अठारह सालकी अवस्थामें उत्तम श्रेणीकी छात्र-वृत्ति प्राप्तकर उन्होंने केम्ब्रिजके किंग्स विद्यालयमें प्रवेश किया। उन्होंने इंडियन सिविल सर्विसकी परीक्षामें सफलता प्राप्त की; पर दैवयोगसे घुड़सवारीमें विफल होनेसे सर्विसके अयोग्य घोषित कर दिये गये। वे तो भगवान्‌की कृपासे योगी बननेवाले थे। इंग्लैंड-निवासकालमें उन्होंने स्वदेशप्रेमका सपना देखा। वे जन्मजात विद्रोही थे। उन्होंने लंदनमें 'लोटस एण्ड डैगर (कमल-कटार) नामकी संस्था स्थापित की। उनके मनमें क्रान्तिपूर्ण विचारोंका उदय होने लगा। उन्हें अनुभव हो रहा था कि जगत्‌में एक बहुत बड़ी क्रान्ति उपस्थित होनेवाली है और उसमें उनका भाग लेना दैवनिर्दिष्ट है। इंग्लैंडमें ही बड़ौदाके महाराजा सयाजीराव गायकवाड़से उनका परिचय हुआ। श्रीअरविन्द इक्कीस सालकी अवस्थामें भारत आये और बड़ौदा राज्यमें उन्होंने नौकरी कर ली। महाराजा बड़ौदाके व्यक्तिगत कार्य-कलापोंमें भी वे सहायता देने लगे। बड़ौदा कॉलेजमें उपप्रधानाचार्यके पदपर भी उन्होंने काम किया। बड़ौदा-निवासकालमें ही उन्होंने संस्कृत और बँगलाका अध्ययन किया। वे बड़ौदामें ही श्रीहंसस्वरूप स्वामी और सद्गुरु ब्रह्मानन्दके सम्पर्कमें आये। ब्रह्मानन्द उच्च कोटिके योगी थे। उनकी अवस्था बहुत अधिक थी। केवल अस्सी साल-तक वे नर्मदाके किनारे ही विचरते रहे थे। श्रीअरविन्द दिव्य संस्कारोंके धनी थे। बड़ौदामें ही उनके साधनामय आध्यात्मिक जीवनका बीजारोपण हो सका। इस बातका स्पष्टीकरण बड़ौदासे ही अपनी पत्नी मृणालिनीको लिखे

गये पत्रसे हो जाता है । उनकी पत्नीने उन्हें पत्र लिखा था, जिसमें उन्होंने अपने और उनके प्रति निराशाके भाव व्यक्त किये थे । श्रीअरविन्दने अपनी पत्नीको समझाकर लिखा था कि 'मेरे तीन पागलपन हैं । पहला पागलपन मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भगवान्ने जो प्रतिभा, गुण, उच्च शिक्षा तथा धन मुझे दिया है, वह सब उन्हींका है; जो कुछ परिवारके भरण-पोषणमें लगता है और जो नितान्त आवश्यक है, उसीको अपने लिये खर्च करनेका उनका अधिकार है । उसके बाद जो कुछ बच रहता है, उसे भगवान्को लौटा देना उचित है । यदि मैं सब कुछ अपने सुख और विलासके लिये करूँ तो मैं चोर कहलाऊँगा । इस दुर्दिनमें सारा देश मेरे द्वारपर अवस्थित है । मेरे तीस कोटि भाई और बहिन हैं, उनमेंसे बहुतेरे अन्नके अभावसे मर रहे हैं । उनका हित करना होगा । मैंने एक रास्ता दिखला दिया है । इसपर क्या तुम चल सकोगी ? दूसरा पागलपन मेरी यह लालसा है कि मैं भगवान्का साक्षात्कार करूँ । तीसरा पागलपन यह है कि मैं अपने देशको माँकी तरह प्यार करता हूँ ।' सन् १९०५ ई० में वङ्ग-भङ्ग-आन्दोलन छिड़नेपर उन्होंने बड़ौदा छोड़ दिया । वे कलकत्ता आये, स्वदेशी आन्दोलन तथा क्रान्तिपूर्ण योजनाओंमें उन्होंने सक्रिय भाग लिया । वे बंगाल नैशनल कॉलेजके प्रधानाचार्य नियुक्त हुए । स्वदेशी आन्दोलनको श्रीअरविन्दने आध्यात्मिक रूप प्रदान करनेपर बल दिया । उन्होंने सन् १९१० ई० तक राजनीतिमें सक्रिय भाग लिया । क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन चलानेके लिये 'वन्दे मातरम्' पत्रका सम्पादन किया । उन्होंने अंग्रेजीमें 'कर्मयोगी' और बँगलामें 'धर्म' नामक साप्ताहिक पत्र निकाले । कई बार उन्हें कारागार जाना पड़ा, पर वे अपने पवित्र उद्देश्यकी पूर्तिमें लगे रहे । धीरे-धीरे उनकी चिरजाग्रत् अध्यात्मचेतनाने राजनीतिक प्रवृत्तिसे आगे प्रगति की । वे एकान्त-सेवन और योगमय जीवनका वरण करनेके लिये समुत्सुक हो उठे । उन्होंने सक्रिय राजनीतिसे हाथ खींच लिया । अलीपुर षड्यन्त्रमें वे कालकोठरीमें बंद कर दिये गये । इस समय भगवान्की कृपासे जेलके अधिकारियोंने उन्हें नित्य कालकोठरीके सामने घंटे, आधघंटे टहलनेकी अनुमति दे दी । वे पेड़के नीचे टहला करते थे । एक दिन उनके नेत्रोंने पेड़के स्थानपर साक्षात् वासुदेव श्रीकृष्णकी उपस्थितिका दर्शन किया । कारागारमें, कैदियोंमें, कण-कणमें भीतर-बाहर उन्हें श्रीकृष्ण ही दीख पड़ने लगे । न्यायालयमें भी उन्हें अपने प्रेमास्पदका ... हुआ । वे योग-साधनाके लिये निकल पड़े । उन्होंने पांडि... को अपनी योग-साधना और तपका क्षेत्र चुना । पांडि... योग-साधनामें प्रवेशके पहले भी वे योगाभ्यास किया ... थे । उन्हें मराठी योगी विष्णु भास्करका भी सम्पर्क ... था । पांडिचेरी-आश्रममें श्रीमाँ—फ्रेंच योगिनीके आग... श्रीअरविन्दकी योग-साधनाकी प्रगतिमें महत्त्वपूर्ण यो... दिया । दोनों एक-दूसरेके दिव्य आध्यात्मिक सम्पर्कसे ... प्रभावित हुए । श्रीअरविन्दने अपनी योग-साध... श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदोंका असाधारण ... स्वीकार किया है । पांडिचेरीका योगाश्रम उनकी सा... और आध्यात्मिक साहित्य-निर्माणका भौम प्रतीक है । उन्होंने 'आर्य' नामक तत्त्वज्ञानविषयक पत्र निकाला । ... और उपनिषदोंका मन्थन कर अमूल्य साहित्यरत्न प्रदान कि... श्रीमद्भगवद्गीतापर निबन्धके रूपमें भाष्य प्रस्तुत कि... योगपर ग्रन्थ लिखा । 'दिव्य जीवन', 'इस जगत्की पहे...', 'योगसमन्वय', 'योगप्रदीप', 'सावित्री', 'माता', 'गीताप्र...', 'मानव-एकताका स्वरूप', 'योगसाधनाके कुछ प्रमुख त...', 'चैत्य पुरुष' आदि उनके अनेक ग्रन्थ श्रीअरविन्द-आश्र... द्वारा प्रकाशित हैं । धीरे-धीरे पांडिचेरी-आश्रमकी ख्या... बढ़ने लगी । श्रीअरविन्दकी आश्रमके सम्बन्धमें महत्त्व... स्वीकृति है—'यह आश्रम दूसरे आश्रमोंके समान नहीं है । यहाँ कोई भी संन्यासी नहीं है । संन्यासी बनकर यहाँ को... रहता भी नहीं । यहाँका सारा लक्ष्य ही दूसरी तरहका है । आध्यात्मिक जीवनके पवित्र सौन्दर्यसे सम्पन्न श्रीअर... आश्रम योग-साधनाका महत्त्वपूर्ण केन्द्र है । श्रीअरवि... 'सादा जीवन और उच्च विचार' का सिद्धान्त अपनाया था । उनके आश्रममें गेरुआ कपड़ेवाले संन्यासी नहीं, ... कपड़ेवाले लोग रहते हैं, जो इसी जीवनमें दिव्यता उतार... साधना करते हैं ।

श्रीअरविन्दकी योगसाधनाका लक्ष्य केवल देहात्मभा... ऊपर उठना ही नहीं था; वे तो मन, बुद्धि और प्राण... जीवनमें परमात्मज्योति भरकर जड और पार्थिव प्रकृ... दिव्यता अथवा अपार्थिवता प्रदान करना चाहते थे । उन्होंने जीवनको सच्चिदानन्द परमात्माकी समस्त दिव्य ... सम्पन्न करनेकी साधना की । उन्होंने परमात्मानु... विश्वकी समग्र अध्यात्म-चेतना और समग्र मानवताको प्राण... किया । 'मानव-एकताका स्वरूप' नामक पुस्तकमें उनके अ...

हैं—'मनुष्यशरीरका सम्मान करना चाहिये; उसे अन्याय और अत्याचारसे सुरक्षित बनाये रखना चाहिये'' 'मनुष्यके जीवन-को पवित्र मानना चाहिये'' 'उसके हृदयको भी पवित्र मानना चाहिये। मनुष्यके मनको सब बन्धनोंसे मुक्ति देनी चाहिये। उसे स्वतन्त्रता, कार्य, क्षेत्र तथा अवसर प्रदान करने चाहिये। उसे अपनी शिक्षा और विकासके समस्त साधन उपलब्ध होने चाहिये और मनुष्य-जातिकी सेवाके लिये उसकी शक्तियोंकी क्रीड़ाको व्यवस्थित करना चाहिये। इन सबको एक सिद्धान्त या पवित्र भावना ही नहीं मानना चाहिये; मनुष्यों, राष्ट्रों और समस्त मनुष्यजातिके व्यक्तित्वोंके अंदर इन्हें पूर्ण और व्यावहारिक रूपमें स्वीकृत भी होना चाहिये। सामान्य रूपसे यह कहा जा सकता है कि यही मानवताके बौद्धिक धर्मका विचार तथा उसकी भावना है।'

श्रीअरविन्दकी साधना-पद्धतिमें उच्चतम अध्यात्म यह है कि जीवन पूर्णरूपसे भागवत हो जाय, उसमें भगवज्ज्योति भर जाय। यही कहलाता है पवित्र जीवन। 'योगप्रदीप' पुस्तकमें उनकी स्वीकृति है—'ईश्वरके ही प्रभावसे प्रभावित होना और किसीके प्रभावको स्वीकार न करना—यही पवित्रता है।' श्रीअरविन्दके विचार-प्रकाशमें संसारके प्रति किसी भी प्रकारकी आसक्ति साधनामें बाधक सिद्ध होती है, जीवमात्र—सचराचरके प्रति मनमें निरन्तर सेवा—दयाभाव रखकर भगवच्चिन्तन और आत्मबोधकी ओर बढ़ते रहना ही जीवनका श्रेय है। साधकका सम्पूर्ण प्रेम भगवान्‌में केन्द्रित हो जाय, साधक-जीवनका यही सबसे बड़ा और अन्तिम लक्ष्य है। श्रीअरविन्दने 'योगप्रदीप' पुस्तकमें स्वीकार किया है—'जो निस्संकोच होकर अपने सब अङ्गों-समेत अपने-आपको भगवान्‌के समर्पण कर देते हैं, उन्हें भगवान् भी अपने आपको दे देते हैं। उन्हींके लिये शान्ति है, प्रकाश है, शक्ति है, प्रसन्नता है, मुक्ति है, विशालता है, परम ज्ञान है, आनन्दसुधासिन्धुसमूह है।' श्रीअरविन्द-ने बताया कि चित्तकी शुद्धि और भागवती शक्तिके अवतरण-का काम एक साथ चलता है। इसके लिये मनमें सुप्रतिष्ठित शान्ति और निश्चल नीरवताकी प्राप्ति आवश्यक है। निश्चल-नीरव मनमें ही सत्य-चेतनाका निर्माण किया जा सकता है। श्रीअरविन्दने योगाभ्यासको साधनाका अभिप्राय बताया है। साधनाका फल पानेके लिये तथा निम्न प्रकृतिपर विजय पानेके लिये अपनी संकल्प-शक्तिको एकाग्र करना ही 'तपस्या' है। श्रीअरविन्दने अदिति-कार्यालय, पांडिचेरीसे प्रकाशित 'योग-साधनाके कुछ प्रमुख तत्त्व' पुस्तकके ७१वें-७२वें पृष्ठपर स्वीकार किया है—'साधनाका अर्थ है, योगका अभ्यास करना। तपस्याका अर्थ है, साधनाका फल पानेके लिये तथा निम्न प्रकृतिको जीतनेके लिये संकल्प-शक्तिको एकाग्र करना। आराधनाका मतलब है—भगवान्‌की पूजा करना, उनके प्रति प्रेम करना; आत्मसमर्पण करना; उनके लिये अभीप्सा करना; उनका नाम-जप करना; उनसे प्रार्थना करना। ध्यान है—चेतनाका भीतरमें केन्द्रीभूत हो जाना, भीतर समाधिमें चला जाना। ध्यान; तपस्या और आराधना—ये सभी साधनाके अङ्ग हैं।' श्रीअरविन्दने तपस्या; ध्यान और आराधना—साधनाके तीनों अङ्गोंको पांडिचेरी-आश्रमके तपोमय जीवनमें पूर्णरूपसे चरितार्थ कर दिया था।

श्रीअरविन्दकी आध्यात्मिक साधनाका लक्ष्य था, परम सत्ता—परमात्माकी प्राप्ति; उनकी चैतन्य-शक्तिद्वारा प्रत्येक बातका अनुभव करना; और व्यावहारिक प्रयोगमें उसे उतारकर साधनाको पूर्ण करना ही उनके योगाभ्यासका उद्देश्य था। उनके योगाभ्यासका तात्पर्य था, जीवनका भगवान्‌की सत्ता और चेतनामें प्रविष्ट हो जाना; भगवान्‌के द्वारा अधिकृत होना; भगवान्‌के लिये भगवान्‌से प्रेम करना तथा अपनी प्रकृतिमें भगवान्‌की प्रकृतिके साथ समस्वर होना। और संकल्प, कर्म तथा जीवनमें भगवान्‌का यन्त्र बनना ही श्रीअरविन्दने योगाभ्यासका परम फल कहा है।

श्रीअरविन्दकी योगविद्याका दूसरा नाम 'पूर्णयोग' है। उन्होंने 'पूर्णयोग'को कर्मयोग; भक्तियोग; ज्ञानयोग और आत्मसिद्धिका आधार माना था। उनके विचारसे 'पूर्णयोग'का शास्त्र वह सनातन वेद है, जो प्रत्येक विचारशील मनुष्यके हृदयमें गुप्तरूपसे निहित है। 'योग'का अर्थ ही है, परमात्माके साथ संयोग—विश्वके परे जो परम तत्त्व है, उसके साथ संयोग; या व्यष्टिगत जो आत्मा है, उसके साथ संयोग। इसका अर्थ एक ऐसी चेतनाकी प्राप्ति है, जिसमें पुरुष अपने शुद्ध अहंकार, मन, बुद्धि, प्राण और शरीरसे बँधा नहीं रहता; वह परमात्मा—विश्वात्म-चैतन्यके साथ या किसी अन्तःस्थित गूढ़ातिगूढ़ चैतन्यके साथ एकीभावको प्राप्त होता है; जिसमें वह अपने स्वरूपको जान लेता है, अन्तःस्थित आत्मा तथा जीवनके वास्तविक तत्त्वको पहचान लेता है।

श्रीअरविन्दकी 'योग-साधनाके कुछ प्रमुख तत्त्व' पुस्तकके १८वें पृष्ठमें स्वीकृति है—'हमारा योग ठीक गीताका ही योग नहीं है, यद्यपि इसमें वे सभी बातें हैं, जो गीताके योगमें भी आवश्यक हैं। अपने योगमें हम पूर्ण आत्मसमर्पणकी भावना, संकल्प और अभीप्सासे आरम्भ करते हैं; पर साथ ही हमें निम्न प्रकृतिका बहिष्कार करना पड़ता है, उससे अपनी चेतनाको मुक्त करना होता है, निम्न प्रकृतिमें आबद्ध आत्माको उच्चतर प्रकृतिमें स्वतन्त्र होते हुए आत्माके द्वारा मुक्त करना होता है।' श्रीअरविन्दकी साधनाका एकमात्र उद्देश्य यही दीख पड़ता है कि जीवात्माका भागवत चेतनामें ही निवास हो। श्रीअरविन्दने 'योग-साधनाके कुछ प्रमुख तत्त्व' पुस्तकमें ही स्पष्ट शब्दोंमें अपना मत व्यक्त किया है—'योग भगवान्‌की ओर प्रयुक्त होता है, मनुष्यकी ओर नहीं। यदि कोई दिव्य अतिमानसिक चेतना और शक्ति नीचे उतारी जा सके तो वह स्पष्ट ही मनुष्यजाति और उसके जीवनके साथ-साथ सारी पृथ्वीके लिये एक महान् परिवर्तन सिद्ध होगी। पर उसका जो प्रभाव मनुष्य-जातिपर पड़ेगा, वह उस परिवर्तनका केवल एक फल होगा, वह साधनाका उद्देश्य नहीं हो सकता। साधनाका उद्देश्य तो, बस, यही हो सकता है कि भागवत चेतनामें निवास किया जाय और जीवनमें उसे अभिव्यक्त किया जाय।' श्रीअरविन्दने भागवत-ज्ञान, संकल्प और प्रेमके साथ युक्त होनेकी पद्धति बतायी। श्रीअरविन्दकी योग-साधनापर श्रीमद्भगवद्गीता तथा औपनिषद् ज्ञानका स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। श्रीमद्भगवद्गीताके विचार-मन्थनके रूपमें उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'गीता-प्रबन्ध' विश्वके अध्यात्म-साहित्यकी अमूल्य निधि है। श्रीमद्भगवद्गीता वह महाद्वार है, जिसमेंसे समस्त आध्यात्मिक सत्य और अनुभूतिके जगत्‌की झाँकी होती है। भागवत जीवनकी प्राप्तिके सम्बन्धमें 'गीता-प्रबन्ध'के पहले भागमें 'यज्ञके अधीश्वर' शीर्षकवाले अध्यायमें श्रीअरविन्दका कथन है—'भगवान् पुरुषोत्तमके साथ जीती-जागती और स्वतः परिपूरक एकता ही योगका वास्तविक लक्ष्य है, केवल अक्षर-ब्रह्ममें आत्मनिर्वाण करनेवाला लय नहीं। अपने सारे जीवनको उन्हींमें उठा ले जाना, उन्हींमें निवास करना, उनके साथ एक हो जाना, उनकी चेतनाके साथ अपनी चेतनाको एक कर देना, अ[खण्ड] प्रकृतिको उनकी पूर्ण प्रकृतिका प्रतिबिम्ब [बना] देना, अपने विचार और इन्द्रियोंको सम्पूर्ण [रूपसे] भागवत-ज्ञानके द्वारा अनुप्राणित करना, अपने [संकल्प] और कर्मको सर्वथा और निर्दोषतया भागवत सं[कल्पके] द्वारा प्रवृत्त करना, उन्हींके प्रेमानन्दमें अपनी का[मना-]वासनाको खो देना—यही मनुष्यकी पूर्णता है, इ[से ही] गीताने 'गुह्यतम रहस्य' कहा है।' 'गीता-प्रबन्ध[के] ही दूसरे भागमें 'कर्म, भक्ति और ज्ञान' शीर्षक[वाले] अध्यायमें श्रीअरविन्दने भागवत-प्रेम और भक्तिके सम्ब[न्धमें] श्रीमद्भगवद्गीताकी शिक्षापर प्रकाश डालते हुए व[ताया] है—'भागवत चैतन्यके साथ अपने अन्तःकरणको [एक] करना, अपनी सम्पूर्ण भावमय प्रकृतिको सर्वत्र भागव[तके] प्रति प्रेमरूप बना देना, अपने सब कर्मोंको त्रिभु[वन-]नाथके प्रीत्यर्थ यज्ञ बना देना और अपनी सारी उपा[सना] और अभीप्साको उनकी भक्ति तथा आत्मसमर्पण [बना] देना, सम्पूर्ण आत्मभावको अभेद-भावके साथ भाग[वत]की ओर लगा देना—यही एक रास्ता है, जिससे मनु[ष्य] इस सांसारिक जीवनसे ऊपर उठकर भागवत जीवन प्राप्त हो सकता है। भागवतप्रेम और भक्तिके सम्बन्ध[में] गीताकी यही शिक्षा है।' श्रीअरविन्दने जीवात्मा[के] निराकार-साकार—दोनों तरहके भागवत-साक्षात्[कार] (भगवत्प्राप्ति) में आस्था प्रकट की। 'सत्ताके विभि[न्न] अङ्ग और लोक-लोकान्तर' पुस्तकमें २०वें पृष्ठपर उन[का] मत यों निरूपित है—भगवान्‌की साकार अनुभूति क[भी-] कभी आकारके साथ और कभी-कभी आकारके बि[ना] भी हो सकती है। बिना आकार होनेपर वह सार्व[भौम] दिव्य पुरुषकी उपस्थिति होती है, जो प्रत्येक वस्[तुमें] अनुभूत होती है। आकार होनेपर वह एकमेव [होकर] मूर्तिके साथ आती है, जिसे पूजा अर्पित की जाती है। भगवान् सदा ही अपने भक्त या जिज्ञासुके सामने ए[क] आकारमें प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य जिस आका[रमें] उनकी पूजा करता है या उन्हें खोजता है, उ[सी] आकारमें उन्हें देखता है, अथवा उन भागवत व्यक्ति[त्वों]के उपयुक्त आकारमें देखता है, जो पूजाके विषय हो[ते] हैं।' निस्संदेह आध्यात्मिक कर्मोंका सबसे महा[न्] दिव्य सत्य, जो आजतक मानव-जातिके लिये प्रक[ट] किया गया है, अथवा कर्मयोगकी पूर्णतम पद्धति, [जो] अतीतमें मनुष्यको विदित थी, भगवद्गीतामें उपलब्ध है।

श्रीअरविन्दकी 'योगसाधना' में अभिव्यक्त दर्शन—फिलासफीको भागवत जीवन, भगवत्साक्षात्कारका ही प्रतीक स्वीकार किया जा सकता है । श्रीअरविन्दने अपने भागवत ज्ञान अथवा दर्शनकी विवेचना करते हुए भगवत्स्वरूपके सम्बन्धमें 'हमारा योग और उसके उद्देश्य' पुस्तकके ३९वें पृष्ठपर स्वीकार किया है—'भगवान् एक हैं, पर वे अपने एकत्वसे सीमित नहीं हैं। हम यह देखते हैं कि वे एक हैं और सदा बहुरूपमें अभिव्यक्त हो रहे हैं; परंतु इसलिये नहीं कि ऐसा किये बिना वे रह ही नहीं सकते; प्रत्युत इसलिये कि ऐसी ही उनकी इच्छा है और इस अभिव्यक्तिसे बाहर वे अनिर्देश्य हैं। उन्हें न तो एक कहा जा सकता है न बहु ।' श्रीअरविन्दने भागवत शक्तिके साथ शाश्वत संस्पर्श बनाये रखनेपर विशेष बल दिया है । भगवत्प्रेमी ही निष्पक्षरूपसे सबसे प्रेम करनेका अधिकारी होता है । 'अतिमानस'के निरूपणमें श्रीअरविन्दने 'सत्ताके विभिन्न अङ्ग और लोक-लोकान्तर' पुस्तकके १६वें पृष्ठपर अपना मत इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—'अतिमानस सच्चिदानन्द और निम्नतर सृष्टिके बीचमें है। एकमात्र इसीके भीतर भागवत चैतन्यका आत्मनिर्धारक सत्य विद्यमान है—और वह सत्य सृष्टिके लिये आवश्यक है ।' श्रीअरविन्दने भागवत-शक्तिमें ही पूर्ण विश्वास रखनेकी सीख दी है। उनके योग-दर्शनके प्रकाशमें यही है भगवान्के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण । 'योगप्रदीप' पुस्तकके ४३वें पृष्ठपर उनका उद्गार है—'सदा भागवत शक्तिके साथ संस्पर्श बनाये रखो । तुम्हारे लिये सबसे अच्छी बात यही है कि तुम केवल इतना ही करो और भागवत शक्तिको अपना कार्य करने दो । जहाँ-कहीं जरूरी होगा, वहाँ यह निम्नतर शक्तियोंको अधिकृत कर लेगी और उन्हें शुद्ध करेगी। कभी वह तुम्हें उनसे खाली कर देगी और तुम्हारे भीतर स्वयं भर जायगी ।'

श्रीअरविन्द आध्यात्मिक क्रान्तिके सफल द्रष्टा ही नहीं, स्रष्टा भी थे । उनकी आध्यात्मिक क्रान्तिके मूलमें भगवदाश्रय, दिव्यीकरण—दिव्य रूपान्तर और पूर्ण-योगका निवास है। इन्हीं तीनोंके सहारे उन्होंने अपरा प्रकृतिको पूर्ण भागवत चैतन्यसे—भर देना चाहा । 'चैत्य-पुरुष' पुस्तकके पहले भागके ५१वें पृष्ठपर उनका कथन है—'हृद्गत भाव जितना अधिक गहरा होगा, भक्ति जितनी ही अधिक तीव्र होगी, उतनी ही अधिक सिद्धि और रूपान्तरकी शक्ति उत्पन्न होगी। अधिकांशमें भावकी तीव्रतासे ही चैत्य-पुरुष जाग्रत् होता है, तब भगवान्की ओर जानेके लिये अन्तरके द्वार खुल जाते हैं।' ईश्वरीय दिव्यता—भागवत ज्योतिका मनुष्यके भीतर संचार ही मनुष्य और परमेश्वरके अभेदका आरम्भ कहा जा सकता है, श्रीअरविन्दके योग-दर्शनके अनुसार । श्रीअरविन्दने 'योगके आधार' पुस्तकमें साधना-सम्बन्धी उचित मार्गकी व्यवस्थामें कहा है—'साधनाका सच्चा भाव यही है कि भगवान्के ऊपर अपने मनको और प्राणकी इच्छाओंको न लादा जाय; भगवान्की ही इच्छाको ग्रहण किया जाय और उसका अनुसरण किया जाय।''बस, यही उत्तम मार्ग है। उस समय जो कुछ तुम ग्रहण करोगे, वही तुम्हारे लिये उचित वस्तु होगी।'

श्रीअरविन्दकी साधनाका सिद्धान्त यह था कि जीवन पूरी तरह भागवत हो जाय, उसमें भगवान् भर जायँ। श्रीअरविन्दने २४ नवंबर, सन् १९२६ ई०को अपनी साधनाकी महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त की। उन्होंने आश्रमका कार्यभार श्रीमाँको सौंपकर एकान्त-व्रतका पालन किया। २४ नवंबर उनके जीवनका आश्वासन-दिवस कहा जाता है। श्रीअरविन्द सालमें चार दिन १५ अगस्त (अपने जन्म-दिन), २१ फरवरी (श्रीमाँके जन्म-दिन), २४ अप्रैल (माँके आगमनके दिन) और २४ नवम्बर (आश्वासन-दिन)को लोगोंको दर्शन दिया करते थे ।

सन् १९५० ई० में ५ दिसंबरको आधी रातके बाद लगभग डेढ़ बजे श्रीअरविन्द महासमाधिमें योगस्थ हो गये। एक सौ ग्यारह घंटेके बाद ९ दिसंबरको हजारों लोगोंकी उपस्थितिमें उनकी अन्त्येष्टि सम्पन्न हुई । पांडिचेरी-आश्रममें स्थित उनकी महासमाधिपर अङ्कित शब्द हैं—'हमारे देवताकी भौम-समाधि ! हम आपको अपनी अनन्त कृतज्ञता अर्पित करते हैं ।''आपके सामने, जिन्होंने हमारे लिये इतना किया, जिन्होंने हमारे लिये कर्म, संघर्ष, तपस्या और आशा तथा सहनशीलताका निर्वाह किया, जिन्होंने हमारे लिये समस्त संकल्प-सम्पादन, प्रयत्न, प्रस्तुति और समस्त उपलब्धिका व्रत-अनुष्ठान

किया, हम नतमस्तक होते हैं और विनम्र निवेदन करते हैं कि एक क्षणके लिये भी हम आपकी अनुगृहीतिका विस्मरण न करें।'

पांडिचेरी-आश्रमकी श्रीमाताजीकी उक्ति है—'कितना सुन्दर होता है वह दिन, जब मनुष्य अपनी श्र... भक्ति श्रीअरबिन्दको समर्पित कर पाता है।'

श्रीअरविन्द योगमानव थे। उनकी योगसाधना अ... है, उनकी भागवत चेतना अविनश्वर है।

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी

[लेखक—डा० (सेठ) श्रीगोविन्ददासजी]

(गताङ्क, पृष्ठ १०२७ से आगे)

पहला अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—जतीपुरामें पूरनमल खत्रीद्वारा बनाये हुए श्रीनाथजीके मन्दिरका वह भाग, जिसमें मणिकोठेमें श्रीनाथजी विराजे हुए हैं। सामने नवनीतप्रियजी गादीपर विराजमान हैं।

समय—मध्याह्न।

[मणिकोठेके तीन ओरकी स्वच्छ सफेद दीवारें दिखती हैं। दाहिनी और बाँयीं ओरकी दीवारोंमें वैसी ही चौखटों और पल्लोंके छोटे-छोटे दरवाजे हैं, जैसे गोकुलमें विट्ठलनाथजीके घरके कक्षके थे। पीछेकी दीवारके कुछ आगे श्रीनाथजीका अचल विशाल स्वरूप प्रतिष्ठित है। स्वरूपके ऊपर और दोनों ओर ऐसी पिछवाई लगी है, जिसमें विविध प्रकारके पुष्प चित्रित हैं। पिछवाईके ऊपरी भागसे सटा हुआ इसी प्रकारका चँदोवा तना है। आज श्रीनाथजीका फूलमण्डलीका मनोरथ है। श्रीनाथजी एक फूलके बँगलेमें विराजमान हैं। यह बँगला बेलेकी कलियोंका बनाया हुआ है। बँगलेके स्तम्भोंपर खड़ी कलियाँ बँधी हुई हैं। ऐसे छः स्तम्भ हैं। आगे एक-एक और दो-दो स्तम्भ और पीछे एक-एक और एक-एक स्तम्भ। आगेके दो-दो स्तम्भोंके बीचमें कलियोंकी सुन्दर जाली बनायी गयी है। इन स्तम्भोंपर बँगलेकी छत है। सारी छत कलियोंकी जालीसे आच्छादि... है। बँगलेकी कलात्मक कलियोंका काम देखते ही बन पड़ता है। श्रीनाथजीका आज फूलोंका शृङ्गा... है। मल्हकाद गलेसे चरणोंतक कलियोंका सु... पुष्पहार और मस्तकपर फूलोंका टिपारा तथा कानों... फूलोंके कुण्डल। दो-दो छोरोंके दो पुष्पोंके बने... दुपट्टे हैं। भुजाओंके बीच-बीच भुजबन्ध, हाथों... वलय और चरणोंके नूपुर भी फूलोंके हैं। अद्... दर्शनीय शृङ्गार है। नवनीतप्रियजीका शृङ्गार ... फूलोंका है। सामने एक जलका कुण्ड है, जिस... विविध रंगके फुहारे छूट रहे हैं। इस कुण्डके सामने... कीर्तनिया गा रहे हैं और पदके साथ विविध प्रकार... वाद्य बज रहे हैं।]

पद

बैठे फूल-महल में दोऊ राधा और गिरधारी।
फूलन हार, सिंगार फूलनके, फूल टिपारो धारी॥
फूलन सेज, गेंदुआ, तकिया, फूलन की पिछवारी।
फूले गावत बेनु बजावत, राग रंग भयौ भारी॥
फूले मधुप-कोकिला कूजत, वहत पवन सुखकारी।
श्रीबिट्ठल गिरधरन लाल पर तन-तन-धन सब वारी॥

(पद समाप्त होते-होते विट्ठलनाथजी पधारकर आ... करते हैं। आज भी विट्ठलनाथजी श्वेत उपरना औ... धोती ही पहने हैं, परंतु गलेमें मोतीकी कंठी और हाथों... सोनेके कड़े हैं। स्त्री-पुरुषोंकी भारी भीड़ है। आरतीके ब...

'श्रीगिरिराजधरनकी जय' का बार-बार जय-जयकार होता है।)

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—वही।

समय—मध्याह्न।

[आज नावका मनोरथ है। श्रीनाथजीका मुकुट-काछनीका शृङ्गार है। काछनी तीन रंगकी है, जो बड़े पतले वस्त्रकी बनायी हुई है। सारा शृङ्गार मोतीका है—मोतीका मुकुट, कानोंमें मोतीके झुमके, मोतीके हार, मोतीके भुजबन्ध, वलय और नूपुर। पिछवाईमें यमुनाजीका दृश्य है। चँदोवामें बादलोंसे आच्छन्न हुआ आकाश चित्रित है। सामने एक लंबे जलके कुण्डमें छोटी-सी सुन्दरतासे रँगी हुई मोरपंखी नाव है। इस नावमें कमलके पुष्पोंका बँगला है, जिसमें श्रीनवनीतप्रियजी गादीपर विराजमान हैं। नवनीतप्रियजीका शृङ्गार भी मोतीका है। कुण्डके सामने कीर्तनिया गा रहे हैं। अनेक वाद्य-वादक विविध प्रकारके वाद्य बजा रहे हैं।]

पद

स्याम जमुना बीच खेवत नाव।
एक सखी आई घर सैं कहै, मोहू कौं बैठाव॥ १॥
बैठौं कैसैं, घाट औघट है, रपट परत हैं पाँव।
हाथ पकरि बैठाय आप ढिंग, रसिकन रच्यौ उपाव॥ २॥

(पद पूरा होते-होते विट्ठलनाथजी आकर आरती करते हैं। उनकी वेश-भूषा पहले दृश्यके सदृश ही है। स्त्री-पुरुषोंकी अपार भीड़ है, जो पहले दृश्यके सदृश ही 'गिरिराजधरनकी जय' बारंबार बोलती है।)

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान—वही।

समय—संध्या।

[आज झूलेका मनोरथ है। श्रीनाथजीका सेवरेका शृङ्गार है। रेशमी चाकका पीला धागा है और विविध रंगके रत्नोंसे जड़ा हुआ सेवरा, हार, भुजबन्ध, वलय और नूपुर। पिछवाई पीली रेशमी है, जिसमें रुपहरी गोटेका काम है। इसी प्रकारका चँदोवा है। श्रीनाथजीके दाहिनी ओर दाहिनी दीवारसे कुछ आगे हिंडोरा है, जो पीले कदंबके पुष्पोंसे बनाया गया है। हिंडोरेमें गादीपर श्रीनवनीतप्रियजी विराजमान हैं। वे भी पीतवस्त्र ही धारण किये हुए हैं और उनका शृङ्गार भी विविध प्रकारके रत्नोंसे जड़ा हुआ है। सामने कीर्तनिया गा रहे हैं। इनके साथ विविध प्रकारके वाद्य बज रहे हैं।]

पद

प्यारी को हिंडोरना हो रोप्यौ कदम की डारी॥
रेशम डोर, पवन पुरवाई, झूलत स्याम बिहारी॥
चहुँ दिस सखी झुलावत ठाढ़ी, तन-मन-धन बलिहारी॥ १॥
राधे जू झूलत, स्याम झुलावैं, गावत गीत सुहाई॥
मधुर-मधुर घन गरजत जैसें मधुरि-सी मुरलि बजाई॥ २॥
बृंदाबन की सोभा निरखत, गावत सावन-गीत॥
श्रीविट्ठल प्रभु की छबि निरखत दोउन की रस रीत॥ ३॥

(पद समाप्त होते-होते विट्ठलनाथजी आकर आरती करते हैं। आज वे पीली रेशमी बगलबंदी पहने हुए हैं और पीला जरीका दुपट्टा लिये हैं। वे भी जड़ाऊ आभूषणोंसे भूषित हैं। अपार दर्शनार्थी स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ है, जो बार-बार 'गिरिराजधरनकी जय' बोलती है।)

लघु यवनिका

चौथा दृश्य

स्थान—वही।

समय—संध्या।

[आज साँझीका मनोरथ है। श्रीनाथजीका दुमालेका शृङ्गार है। सलमे-सितारेके कामवाला रेशमी

पचरँगी घेरदार बागा। वैसा ही दुपट्टा और पचरंगी जड़ाऊ आभूषण। पिछवाई और चँदोवा भी पचरंगी है। सामने विविध रंगकी इन्द्रधनुषी बड़ी ही कलात्मक साँझी बनायी गयी है। साँझीमें वृन्दावन चित्रित है, जिसके एक ओर यमुना बह रही है और दूसरी ओर गोवर्धन पर्वतके शिखर दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यमुनाके तटपर गोपी-ग्वालोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण चित्रित हैं, जो मुरली बजा रहे हैं। सारा दृश्य दर्शनार्थी एक-टक दृष्टिसे निहार रहे हैं। उनकी चितवनसे जान पड़ता है कि उनका मन इन दर्शनोंसे अघा नहीं रहा है। सामने निम्नलिखित कीर्तन हो रहा है और पदके साथ विविध वाद्य-यन्त्रोंका वादन हो रहा है।]

पद

पूजन चली साँझिकि सुभ घरि, सुभ दिन, सुभ महुरत रात ॥
चंचल चपल चपला-सी डोलत, चंपे-जैसै गात ॥ १ ॥
अपने-अपने मँदिर ते निकसीं, दीप लिएँ सब हाथ ॥
घोंधी के प्रभु तुम बहु नायक, सब सखियन के साथ ॥ २ ॥

(पिछले दृश्योंके सदृश इस दृश्यमें भी पद समाप्त होते-होते पचरंगी रेशमी सलमे-सितारेके कामवाली बगलबंदी पहने, वैसा ही दुपट्टा लिये, जड़ाऊ विविध आभूषणोंमें विभूषित विट्ठलनाथजी आरती करते हैं। गिरिराजधरनका जय-जयकार होता है।)

लघु यवनिका

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—वही।

समय—रात्रि।

[आज अन्नकूट है। हीरोंसे जड़ा हुआ भारी शृङ्गार है। मस्तकपर हीरेका कुलहा है, जिसके पीछे श्वेत जरीके गोकर्ण धारण कर रखे हैं। गोकर्णोंके पीछे मोरचन्द्रिका है। कानोंमें हीरेके कुण्डल हैं। कण्ठसे लेकर चरणोंतक हीरोंके हार, भुजाओंपर हीरोंके भुजबन्ध और हाथोंमें हीरेके वलय तथा चरणोंमें हीरेके नूपुर हैं। वस्त्र सफेद जरीके हैं। चाकका बागा और जिसके छोरोंपर मोतीकी झालर है, ऐसा श्वेत जरीका दुपट्टा है। पिछवाई और चँदोवा भी श्वेत जरीके हैं। श्रीनाथजीके सामने आज मथुरेशजी, विट्ठलनाथजी, द्वारकाधीशजी, गोकुलनाथजी, गोकुलचन्द्रमाजी, बालकृष्णजी और मदनमोहनजीके सात स्वरूप विराजमान हैं। एक ओर गादीपर नवनीतप्रियजी हैं और दूसरी ओर गादीपर मुकुन्दरायजी। सबका शृङ्गार श्रीनाथजीके सदृश ही है। [आज सामने विविध प्रकारकी भोज्य-सामग्री दृष्टि-गोचर होती है, कीर्तनकार नहीं दिखते। नेपथ्यमें कीर्तन हो रहा है, जिसके साथ नेपथ्यमें ही विविध प्रकारके वाद्य बज रहे हैं।]

पद

गाम-गाम ते ग्वालिन आई ॥
अति आनंद चलीं घर-घर तें, गोवर्धन-पूजा कौं धाई ॥ १ ॥
खीर-हाँड़ि, दधि, पुआ, सुहारी पूजन कौं सब लाईं ॥
गावत गीत सबै गोधन के, अति ही लगत सुहाईं ॥ २ ॥
जसुमति-सुत ब्रजराज-लाडिले फिरि-फिरि निरखि सराईं ॥
श्रीविट्ठल गिरधरन लाल पर ब्रज-सुंदरि मुसकाईं ॥ ३ ॥

(पद समाप्त होते-होते घंटे और झालरकी ध्वनि सुनायी देती है, जिससे जान पड़ता है कि दूरमें आरती हो रही है। आज आरती करते हुए विट्ठलनाथजीके दर्शन नहीं होते। दर्शनार्थी भी नहीं दीख पड़ते। गिरिराजधरनकी जय-जयकारके शब्दोंसे जान पड़ता है कि दूरपर अपार दर्शनार्थियोंकी भीड़ है।)

(यवनिका)

दूसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—जतीपुराका एक मार्ग।

समय—अपराह्न।

(देहाती मार्ग है। मार्गके दोनों ओर कुछ देहाती मकान बने हुए हैं। मार्गमें कुछ नागरिक

खड़े हैं। वेश-भूषा व्रजके ग्रामीणोंके सदृश है, परंतु सबके ललाटपर वल्लभ-सम्प्रदायका लाल कुङ्कुमका तिलक है, जिसके बीचमें पीले गोपीचन्दनके छापे हैं।)

एक--तिलकायत श्रीगोपीनाथजी जगदीशपुरीमें ही लीलामें पधारे।

दूसरा--वय भी उनकी कुछ अधिक नहीं थी।

तीसरा--हाँ, अल्पवयस्क ही थे, परंतु अवस्था तो लीलामें पधारते समय श्रीमहाप्रभुजीकी भी कम ही थी।

चौथा--उन्हें तो भगवदाज्ञा प्राप्त हुई थी कि उनका कार्य समाप्त हो गया और अब वे पुनः लीलामें पधार आयें।

पाँचवाँ--वे स्वयं ही अवतार थे।

पहला--सम्भव है, इसी प्रकारकी लीलामें पधारनेकी भगवदाज्ञा गोपीनाथजीको प्राप्त हुई हो।

दूसरा--परंतु गोपीनाथजीको श्रीनाथजीकी तो ऐसी आज्ञा प्राप्त हो नहीं सकती; क्योंकि श्रीनाथजीके तिलकायत रहते हुए भी उनके इष्ट तो जगन्नाथजी ही थे।

तीसरा--क्या कहते हो ? श्रीनाथजी और जगन्नाथजीमें कोई भेद है क्या ? दोनों ही भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूप हैं।

चौथा--जो कुछ भी हो। अब प्रश्न है श्रीनाथजीके तिलकायतका।

पाँचवाँ--यह प्रश्न उठना तो नहीं चाहिये; क्योंकि गोपीनाथजीके रहते हुए भी तिलकायतका सारा कार्य विट्ठलनाथजी ही करते थे।

चौथा--हाँ, बात तो ऐसी ही थी। यह विवाद नहीं उठना चाहिये था। विट्ठलनाथजीने अपनी विविध प्रकारकी सेवासे श्रीनाथजीको जनसमुदायके लिये कितना आकर्षक बना दिया है। श्रीनाथजीका शृङ्गार, राग और भोग अद्वितीय हैं। मुगल-दरबार भी श्रीनाथजीके सामने फीका पड़ गया है। इतनेपर भी विवाद तो उठ ही गया।

पहला—यह विवाद कुछ स्वार्थियोंने उठाया है।

दूसरा—ये स्वार्थी अपने स्वार्थ-साधनके लिये गोपीनाथजीके दुधमुँहे बच्चेको तिलकायत बनाना चाहते हैं।

तीसरा—पर कहाँ विट्ठलनाथजी और कहाँ गोपीनाथजीके लालजी पुरुषोत्तम !

पहला--पर स्वार्थी यह कहाँ देखते हैं। उनका उल्लू तो तभी सीधा हो सकता है, जब सत्ता इस दुधमुँहे बच्चेके हाथमें आये।

चौथा--और विट्ठलनाथजी इस सारे प्रसङ्गमें एकदम तटस्थ हैं।

पहला--हाँ, वे तो कहते हैं कि उनका कार्य श्रीनाथजीकी सेवा है। गोपीनाथजीके तिलकायत रहते हुए भी वे यह सेवा करते थे और अब भी वे ही करेंगे, तिलकायत चाहे कोई भी क्यों न हो।

पाँचवाँ--सारे प्रसङ्गमें सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि अधिकारी कृष्णदास इस विवादमें गोपीनाथजीकी बहूजीके साथ हो गये हैं, जो अपने पुत्रको तिलकायत बनाना चाहती हैं।

(एक और नागरिकका शीघ्रतासे प्रवेश)

आगन्तुक—अरे, आपलोगोंने सुना, अधिकारी कृष्णदासने विट्ठलनाथजीके लिये श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी बंद कर दी। पहलेसे उपस्थित पाँचों नागरिक—(एक साथ) क्या' 'क्या' 'कह रहे हो ?

आगन्तुक—मैं बिल्कुल ठीक कह रहा हूँ। अब विट्ठलनाथजी श्रीनाथजीके दर्शन नहीं कर सकेंगे। यद्यपि उन्होंने अब गोकुलको अपना स्थायी निवास बनाकर उसे बसाया है, तथापि वे गोकुलमें भी नहीं रहेंगे। वे परासोली गाँवके चन्द्र-सरोवरपर जा रहे हैं और श्रीनाथजीके दर्शनके बिना उन्होंने अन्नका त्याग कर दिया है। जबतक उन्हें श्रीनाथजीके दर्शन नहीं मिलेंगे, तबतक वे केवल दूध पीकर अपना शरीर चलायेंगे।

पाँचवाँ—हम कृष्णदासके इस अत्याचारको कभी सहन नहीं कर सकते। पहलेसे आये हुए शेष चार नागरिक—(एक साथ) कभी नहीं' 'कभी नहीं।

आगन्तुक—अच्छा, अभी तो हम चलें, जहाँ विट्ठलनाथजी निवास करेंगे। आगन्तुकको छोड़ सब नागरिक (एक साथ) हाँ, सब वहीं चलें, जहाँ विट्ठलनाथजी हैं।

(लघु यवनिका)

दूसरा दृश्य

स्थान—गोकुलमें विट्ठलनाथजीके घरका एक **कक्ष**।

समय—अपराह्न।

(यह कक्ष वैसा ही है, जैसा उपक्रममें विट्ठलनाथजीका कक्ष था। अपने कुछ साथियोंके साथ गिरिधरजी बैठे हुए हैं। गिरिधरजी तरुणाईमें प्रवेश कर रहे हैं। गौरवर्णके सुन्दर व्यक्ति हैं। ऊपरके शरीरपर सफेद बगलबंदी धारण किये हुए हैं और नीचेके शरीरपर श्वेत धोती। सिरके केस लंबे हैं और चौड़ी शिखा पीछेकी ओर बँधी हुई है। उनके गलेमें कंठी और हाथोंमें वलय भी हैं। आभूषण स्वर्णके हैं। उनके ललाटपर वल्लभ-सम्प्रदायका लाल रोलीका तिलक लगा हुआ है, जिसके बीचमें पीले गोपीचन्दनके छापे हैं। उनके साथी भी सभी तरुण हैं और सबकी वेष-भूषा गिरिधरजीके सदृश ही है। सबके ललाट तिलक और छापोंसे विभूषित हैं।)

गिरिधर—पिताश्रीको अन्न छोड़े छः मास बीत गये। श्रीनाथजीके वियोगमें जिस प्रकारकी व्यथित मनोदशामें वे रहते हैं, वह सहनीय नहीं है।

एक नागरिक—सर्वथा असहनीय है।

बहुत-से नागरिक (एक साथ)—सर्वथा, सर्वथा।

गिरिधर—उनकी मनःस्थितिका पता उन विज्ञप्तियोंसे लगता है, जिन्हें निर्मितकर और लिख-लिखकर वे श्रीनाथजीकी सेवामें नित्य ही भेजते हैं।

एक नागरिक—उनका मन तो विरहसे भरा हुआ है, इसमें संदेह नहीं और इसी कारण इन विज्ञप्तियोंकी इस प्रकारकी रचना हो रही है। परंतु उनके इस मानसिक कष्टके कारण ऐसे साहित्यकी रचना हो रही है, जो करुणरसकी दृष्टिसे स्थायी साहित्य होगा।

दूसरा नागरिक—महाकवि भवभूतिने तो साहित्यके नवरस न मानकर यथार्थमें एक करुणरसको ही सच्चा रस माना है।

कुछ नागरिक—(एक साथ) यह सत्य, सत्य है।

गिरिधर—परंतु वैष्णवो! पुत्रके नाते मेरे लिये तो पिताश्रीकी ऐसी मानसिक अवस्थाका सहन कर सकना असम्भव है।

एक नागरिक—आप तो उनके पुत्र हैं, अतः आपके लिये उनकी यह मानसिक स्थिति सहन करना सम्भव नहीं; पर इने-गिने लोगोंको छोड़कर सारे व्रजवासी उनकी इस मनोदशासे कितने पीड़ित हैं, इसका वर्णन नहीं हो सकता।

कुछ नागरिक—(एक साथ) हाँ, वह वर्णनातीत है कृपानाथ, वर्णनातीत।

एक नागरिक—पर इस स्थितिके अन्त करनेका क्या उपाय है, यह किसीकी समझमें नहीं आता।

गिरिधर—मैंने बहुत सोचने-विचारनेके पश्चात् इसका उपाय खोजा और उस उपायके अनुसार व्यवस्था भी कर ली।

कुछ नागरिक—(एक साथ) क्या व्यवस्था की, क्या व्यवस्था की?

एक नागरिक—क्या हमलोग उसे सुननेके अधिकारी नहीं हैं?

गिरिधर—आप ही नहीं, सारा देश उसे सुनेगा और सुनकर इतना प्रसन्न होगा कि जिसकी आप कोई भी कल्पनातक नहीं कर सकते।

कुछ नागरिक—(एक साथ) कहिये, जल्दी कहिये उसे।

गिरिधर—वैष्णवो! जब छः महीनेकी उधेड़-बुनके पश्चात् भी मुझे शासनकी सहायता लेनेके सिवा और कोई मार्ग नहीं दिखायी दिया, तब मैंने इस सम्बन्धमें शासनकी सहायता ली है।

कुछ नागरिक—(एक साथ) बिल्कुल ठीक किया आपने, बिल्कुल ठीक।

कुछ नागरिक—(एक साथ) सर्वथा, सर्वथा।

गिरिधर—शासनकी सहायता लेकर मैंने क्या किया, इसे सुनकर आप सब प्रसन्न हो जायँगे।

कुछ नागरिक—जल्दी-जल्दी बता दीजिये हमें।

एक नागरिक—हाँ, हमारा कलेजा मुँहको आ रहा है।

गिरिधर—उस दुष्ट कृष्णदासको अबतक बंदी बना लिया गया होगा।

कुछ नागरिक—(एक साथ, जोरसे) बहुत अच्छा, बहुत अच्छा।

गिरिधर—(बगलबंदीके खीसेसे एक कागज निकालकर) और यह शाही फरमान है, जिसके अनुसार पिताश्री श्रीनाथजीके मन्दिरमें प्रवेश कर सकेंगे।

कुछ नागरिक—(एक साथ) धन्य है, धन्य है आपको।

एक नागरिक—पुत्र हो तो ऐसा हो।

गिरिधर—चलिये, अब हम सब चन्द्रसरोवरपर चलकर पिताजीको जतीपुरामें श्रीनाथजीके मन्दिरको ले चलें।

सब नागरिक—(एक साथ) अवश्य, अवश्य। गिरिराजधरनकी जय! (गिरिधरजी कक्षसे बाहर निकलते हैं। सब लोग जय-जयकार करते हुए उनके पीछे-पीछे जाते हैं।)

(लघु यवनिका)

तीसरा दृश्य

स्थान—चन्द्रसरोवर।

समय—अपराह्न।

[*स्वच्छ जलसे भरे हुए सुन्दर कुण्डका एक भाग दिखायी देता है। कुण्डके चारों ओर घना वन है। कुण्डके एक घाटपर अत्यन्त निकट एक छोटा-सा घर है। उसकी दालानमें अकेले विट्ठलनाथजी एक गादी-पर बैठे हुए हैं। वे श्वेत धोती और उपरना धारण किये हुए हैं। वस्त्र स्वच्छ न होकर मैले हो गये हैं। शरीरपर कोई आभूषण नहीं हैं। क्षौर न होनेके कारण मूँछें और दाढ़ीके बाल बहुत बढ़ गये हैं, जिनसे उनका सुन्दर मुख-मण्डल आच्छादित-सा हो गया है। सिरके बाल भी बढ़े हुए हैं। बालोंमें तेल-फुलेल आदि नहीं हैं और सिर तथा दाढ़ी-मूँछोंके बाल बिखरे हुए-से हैं। विट्ठलनाथजीके सामने एक काष्ठके छोटे-से सिंहासनपर, जिसपर गद्दी-तकिये लगे हैं, श्रीनाथजी-का चित्र रखा हुआ है। विट्ठलनाथजी हाथ जोड़े हुए कह रहे हैं। आँखोंमें आँसू भरे हुए हैं।*]

विट्ठलनाथ—छः महीने, छः महीने हो गये आपके दर्शन मिले। कौन-कौनसे मेरे ऐसे पापोंका उदय हुआ है, जिससे आपके दर्शनोंसे वञ्चित रहकर जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। ऐसे जीवनसे तो मृत्यु कहीं भली है। इस जन्ममें तो कोई पाप स्मरण नहीं आते, जो बन पड़े हों; परंतु न जाने कितने जन्मोंके कर्म फल देते हैं। (कुछ रुककर) क्या पिताश्रीके समयकी आपकी सेवा-पद्धति ही ठीक थी? गुंजमाल और मोरचन्द्रिकाका शृङ्गार, रूखा-सूखा भोग? जहाँतक रागका सम्बन्ध है, अष्टछापमें तो उनके समयके भी चार गायक कवि हैं। मैंने इस सेवा-पद्धतिमें जो परिवर्तन किया और जिस वैभवका समावेश किया, उसमें मेरा तो कोई स्वार्थ नहीं था। मुगल-दरबारके आकर्षणसे जन-समुदाय-को खींचकर आपके चरणोंका आश्रय दिलाना ही इस परिवर्तनका उद्देश्य था और इसमें सफलता भी कम नहीं मिली। आज आपके दरबारके सम्मुख मुगल-दरबार एकदम फीका पड़ गया है। आपके दर्शन, आपके प्रसाद और आपके कीर्तनसे जन-समुदायका मानस सराबोर है और जो कुछ भी ये करते हैं, आपके ही प्रीत्यर्थ। ऐसे उत्सवों, ऐसे मनोरथोंकी किसीने कभी कोई कल्पनातक न की थी। इन अवसरोंपर जन-समुदाय कितना तल्लीन हो जाता है, वह उनके मुख-मण्डलोंसे दिखायी पड़ता है। आपकी सेवा-पद्धतिमें यह परिवर्तन कर क्या मैंने अपराध किया है? (फिर कुछ रुककर) हे नाथ! अब तो सहन नहीं होता। आपका यह विप्रलम्भ असहनीय हो गया है। गजेन्द्रकी पुकार सुन आप कैसे आतुर हो दौड़े थे। द्रौपदीका करुण-क्रन्दन भी आप सहन नहीं कर सके थे। स्वयं उसका चीर बन गये थे, जिसे खींच-खींचकर जिस दुश्शासनमें दस हजार हाथियोंका बल था, वह भी थक गया था। और भी किन-किन भक्तोंकी आपने किस-किस प्रकार पुकार सुनी है! पर प्रभो! गजेन्द्र, द्रौपदी और अधिकांश भक्तोंकी पुकार उनकी किसी निजी कामनाकी सिद्धिके लिये हुई है। मेरी कामना तो केवल आपके पवित्र दर्शनमात्रकी है। उससे वञ्चित रहनेका यह महान् दुःख मुझे क्यों? मेरी यह पुकार नहीं सुनेंगे? (फिर कुछ रुककर) यदि हृदयको थोड़ा-बहुत धीरज बँधता है तो उन विज्ञप्तियोंकी रचना और उन्हें आपकी सेवामें भेजनेसे। सुनिये, आप तो सब स्थानोंमें व्याप्त हैं। आप अप्राकृतिक नेत्रोंसे ही सब कुछ देखते हैं, अप्राकृतिक कानोंसे ही सब कुछ सुनते हैं। इस प्रकारके आप क्या मेरी यह प्रार्थना नहीं सुनेंगे?

(प्रार्थना पूरी होते-होते नेपथ्यसे 'गिरिराजधरनकी जय'के नारे सुन पड़ते हैं, जो ध्वनि निकट आती जा रही है। विट्ठलनाथजीका ध्यान उस ओर आकर्षित होता है। थोड़ी ही देरमें गिरिधरजीका जन-समुदायके साथ प्रवेश)

एक नागरिक—(दण्डवत् करते हुए) पधारिये, जय, पधारिये। श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी आपके लिये खुल गयी।

दूसरा नागरिक—(दण्डवत् कर) इस वियोगका अन्त कर अब श्रीनाथजीके दर्शन कीजिये।

विट्ठलनाथ—(खड़े होकर, कुछ आश्चर्यसे) क्या हुआ, कुछ समझमें नहीं आ रहा है।

तीसरा–(दण्डवत् कर) उस दुष्ट कृष्णदासको, जिसने श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी आपके लिये बंद करवा दी थी, शासनने बंदी बना लिया और शाही फरमानके द्वारा श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी आपके लिये खोल दी।

विट्ठलनाथ–(और अधिक आश्चर्यसे) मेरी समझमें कुछ नहीं आ रहा है।

एक नागरिक–जय, आपके बड़े पुत्र श्रीगिरिधरजीने प्रयत्न कर उस दुष्टको बंदी बनवाया और शाही फरमानद्वारा श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी आपके लिये खुलवा दी।

दूसरा–पुत्र हो तो ऐसा हो।

कुछ नागरिक–(एक साथ) धन्य, ऐसे पुत्रको धन्य है!

विट्ठलनाथ (जिनका मस्तक इस चर्चाको सुनकर झुक गया था, सिर उठाते हुए, दीर्घ निःश्वास छोड़ धीरे-धीरे)–समझा, अब समझा। तो गिरिधरने कृष्णदासको बंदी बनवाकर श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी मेरे लिये खुलवायी है?

एक नागरिक–इससे बड़ा कार्य इस समय गिरिधरजीको छोड़कर कोई नहीं कर सकता था।

बहुत-से नागरिक–(एक साथ) कोई नहीं, कोई नहीं।

विट्ठलनाथ–(जल्दी-जल्दी) पर मैं यह नहीं मानता। (गिरिधरजीसे) गिरिधर! तूने यह बुरे-से-बुरा काम किया है। श्रीनाथजीके अधिकारीको हमारे कुलका कोई व्यक्ति बंदी बनवाये और मैं शाही फरमानद्वारा श्रीनाथजीके दर्शनके लिये जाऊँ, यह असम्भव कल्पना है। श्रीनाथजीके विरहमें तड़प-तड़पकर मैं अपने प्राणोंको त्याग दूँगा। अबतक तो मैंने केवल अन्न छोड़ा था, अब तो जबतक कृष्णदास बन्धनसे मुक्त न होंगे, तबतक मैं जल भी ग्रहण न करूँगा। मुझे श्रीनाथजीके दर्शनके लिये श्रीनाथजीके अधिकारी ही ले जा सकते हैं, शाही फरमान नहीं।

(सभीके मुखपर हवाइयाँ-सी उड़ने लगती हैं। सब आश्चर्यसे स्तम्भित रह जाते हैं।)

(लघु यवनिका)

चौथा दृश्य

स्थान–वही जो तीसरे दृश्यमें था।

समय–संध्या।

[उद्विग्न विट्ठलनाथजी इधर-उधर टहल रहे हैं। उनके मुखसे निकल रहा है—'यह क्या हुआ, क्या हुआ, प्रभो!' उसी समय नेपथ्यमें गिरिराजधरनका जयघोष सुनायी पड़ता है, जो नजदीक आ रहा है। कृष्णदासका गिरिधरजी और जन-समुदायके साथ प्रवेश। कृष्णदास अधेड़ वयका मोटा-ताजा, ऊँचा-पूरा व्यक्ति है। सफेद बगलबंदी और धोती पहने हुए है। सिरपर व्रजका छोटा-सा टोपा है। ललाटपर तिलक और छापे हैं।]

कृष्णदास–पधारिये, जय, पधारिये। मैं श्रीनाथजीका अधिकारी बंदीखानेसे मुक्त हो, आपको श्रीनाथजीके मन्दिरमें पधरानेके लिये आया हूँ।

(कृष्णदास विट्ठलनाथजीके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् कर निम्नलिखित पद गाता है।)

पद

परम कृपालु श्रीबल्लभनंदन करत कृपा निज हाथ दै माथै।
जे जन सरन आय अनुसरहीं, गहि सौंपत श्री गोबर्धन नाथै।
परम उदार चतुर चिंतामनि राखत भव धारा ते साथै।
भज कृष्णदास साज सब रहीं, जो जानै श्रीबिट्ठल नाथै।

(लघु यवनिका)

पाँचवाँ दृश्य

स्थान–जतीपुरामें गोवर्धनपर श्रीनाथजीके मन्दिरका सिंहद्वार।

समय–प्रदोष।

(सामने बड़ा भारी फाटक है, जिसके दोनों ओर सिंह बने हैं। सामने मैदान-सा है, जिसमें गोवर्धनकी कुछ शिलाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। श्रीनाथजीके शयनके दर्शनका समय है। नेपथ्यमें उच्चस्वरमें हरिधुन सुन पड़ती है। बीच-बीचमें 'गिरिराजधरनकी जय' शब्द भी होता है। हरिधुन करते हुए आगे-आगे अधिकारी कृष्णदास, उनके पीछे विट्ठलनाथजी, उनके पीछे गिरिधरजी और इन लोगोंके पीछे वैष्णवोंका एक समूह प्रवेश करता है। उत्साह चरम सीमाको पहुँच गया है।)

यवनिका

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

सब होते हुए भी दयामयकी कृपाका पलड़ा ही भारी रहेगा

एक बात हमेशा ध्यानमें रखनेकी है कि हम कितना भी क्यों न चाहें, किंतु हमारा जो संकल्प भगवान्‌की इच्छासे समन्वित नहीं होगा, वह कभी पूरा हो नहीं सकता। अतः जब कोई भी हमारी धारणाके प्रतिकूल बात आकर प्राप्त हो तो विश्वास कर लेना चाहिये कि प्रभुकी इच्छासे ही ऐसा हुआ है। अवश्य ही व्यवहारमें प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होनेपर ऐसा मन हो जाना कठिन है, किंतु भगवद्दयाका आश्रय करके यदि आप चेष्टा करेंगे तो ऐसा हो जाना कोई बड़ी बात भी नहीं है। यह केवल हम मानते हों, ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः यह सिद्धान्त है कि जो कुछ भी प्रतिकूलता प्राप्त होती है, उसमें भी श्रीकृपामय भगवान्‌का हाथ है और उसका परिणाम मङ्गल ही होगा। अगर किसी प्रकार मनुष्य यह विश्वास कर सके तो उसकी सारी चिन्ता छूट जाय और फिर उसके द्वारा केवल भजन होगा। देखें, मनुष्यके न चाहनेपर भी प्रतिकूलता तो आती ही है। प्रारब्धमें यदि प्रतिकूलता है तो आकर ही रहेगी। फिर उसके लिये चिन्ता करना व्यर्थ है।

मेरे मनमें आप सबके लिये यही भाव उत्पन्न होता है कि जिनकी अहैतुकी कृपासे आपलोगोंकी इस ओर प्रवृत्ति हुई है, वे ही भगवान् शेष बचा हुआ कार्य भी आपके द्वारा पूरा करवा लेंगे। देखें, हमलोगोंमें अनन्त त्रुटियाँ हैं। यह बात बिल्कुल ठीक है कि हमलोग अभी पग-पगपर फिसल जाते हैं, बहुत मामूली जागतिक प्रलोभन ईश्वरकी अपेक्षा अधिक आकर्षक सिद्ध होता है। यह बात होते हुए भी दयामयकी कृपाका पलड़ा ही भारी रहेगा और हमलोग सभी उस कृपाका सहारा लेकर इस भव-समुद्रसे तर जायँगे; केवल तरेंगे ही नहीं, उनका दिव्य प्रेम प्राप्त करेंगे।

भगवान् हमें जैसे रखना चाहते हैं, उसी प्रकार रहकर जीवन बिताते चलें। जितनी तत्परतासे ले सकें, उतनी तत्परतासे अधिक-से-अधिक उनका नाम लेते रहें। वस्तुतः हम कलियुगी प्राणियोंसे प्रभु और कुछ आशा रखते भी नहीं। सारी कमी वे पूरी कर देंगे, यह विश्वास रखें—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'**।

भगवान् और भक्तका सम्बन्ध बड़ा मधुर होता है

आपने लिखा कि कर्मोंका फल तो भोगना ही पड़ता है—यह बिल्कुल ठीक है; किंतु इसके साथ अपवाद भी है। जिस प्रकार किसी अपराधीको हाईकोर्टने फाँसीकी सजा दे दी है, उस सजाको कोई रोक नहीं सकता; पर यदि बादशाह या उस राज्यका सर्वोच्च अधिकारी चाहें तो उसकी सजा बदल सकते हैं, उसे बिल्कुल माफ भी कर सकते हैं; यही नहीं, ऐसी घटनाएँ कितनी ही बार हो चुकी हैं; उसी प्रकार कर्मोंके फलको भगवान् चाहें तो भोगनेसे किसीको बिल्कुल बरी कर सकते हैं। अवश्य ही भगवान्‌का भक्त यह चाहता नहीं। किसी दिन भगवत्कृपासे ही आप समझ पायेंगे कि वस्तुतः भगवान् और भक्तका सम्बन्ध कितना मधुर होता है। हमारी कल्पना इस जगत्‌को देखकर उसीके आधारपर भगवान्‌के विषयमें निर्णय देती है। पर उसका यह निर्णय वस्तुतः बिल्कुल गलत है। भैया! भगवान् कितने दयालु हैं, यह बात तबतक हमारी धारणामें आ ही नहीं सकती, जबतक

वे स्वयं समझा न दें। अवश्य ही न समझनेपर भी वस्तुस्थिति तो यह है ही कि हम सभी उनके अहैतुक दयाप्रवाहमें ही बह रहे हैं और उनके पास अपने-आप पहुँच जायँगे। आपलोगोंके जीवनको विचारता हूँ तो यही प्रतीत होता है कि जिस दिन आप इस दयाका अनुभव करेंगे, उस दिन मुग्ध हो जायँगे। भगवान्‌ने कहाँसे लाकर आपलोगोंको कहाँ रक्खा है और कहाँ ले जा रहे हैं, यह बात अभी समझमें न आनेपर भी अगर विश्वास कर सकें तो निरन्तर ध्यानमें रखनेकी चेष्टा करें कि अबतक आपका किंचित् भी अमङ्गल नहीं हुआ है और न आगे होगा। मैं इस बातको किसीको तर्कसे समझा नहीं सकता; लेकिन सभीसे प्रार्थना कर सकता हूँ कि सभी अधिक-से-अधिक इसपर विश्वास करें।

किसी भी परिस्थितिमें चिन्ता बिल्कुल न हो।

सकाम उपासना करनेवालेको भी भगवत्प्रेम प्राप्त होता है

महाप्रभु चैतन्यने कहा है—'जिस तरह नदीके प्रवाहमें अनन्तकालसे बहता हुआ कोई तिनका किनारे लग जाता है, वैसे ही अनादिकालसे संसारकी नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ कोई जीव किसी अत्यन्त भाग्यबलसे निस्तार पा जाता है।' श्रीमद्भागवतमें भी ठीक इसी प्रकारका भाव व्यक्त किया गया है—

मैवं ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम्।
ह्रियमाणः कालनद्या क्वचित्तरति कश्चन॥
(१०।३८।५)

'हे विभो! निरभिमानी पुरुष केवल आपके चरणों-की सेवा ही आपसे माँगते हैं, सो मैं भी वही वर आपसे माँगता हूँ, और कोई भी वासना मुझे नहीं है। हे हरि! जो मुक्ति देनेवाले आप हैं, उनको आराधना-द्वारा प्रसन्न करके कौन विवेकी पुरुष, जिनसे आत्माका बन्धन हो, वे भोग आपसे माँगेगा? अथवा यह विचार करना भूल है। यद्यपि मैं अधम हूँ, तथापि अच्युतके दर्शन मुझे प्राप्त ही होंगे। जैसे नदीमें बह रहे तृणोंमें कोई तृण किनारे लग जाते हैं, वैसे ही कालके प्रवाहमें कर्मवश बह रहे जीवोंमें कोई जीव कभी पार पहुँच जाते हैं। अतएव कृष्णका दर्शन मिलना और उसके द्वारा संसारके पार पहुँच जाना मेरे लिये असम्भव भी नहीं है।'

आगे प्रभु कहते हैं कि उन निस्तार पानेवालोंके निम्न लक्षण जान लेने चाहिये—'किसी पुण्य-बलसे जब किसीके संसारका अन्त होनेवाला होता है—जिसका निस्तार निश्चित हो जाता है, उसे साधु-सङ्गकी प्राप्ति होती है और उसके फलस्वरूप उसकी श्रीकृष्णमें रति उत्पन्न होती है।' भागवतमें राजा मुचुकुन्द भी श्रीभगवान्‌से यही कहते हैं—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥
(१०।५१।५४)

उपर्युक्त बातोंसे सहजमें ही समझा जा सकता है कि दयामयकी आपपर कितनी कृपा है। आप अपने जीवनकी समस्त घटनाओंको आदिसे अन्ततक एक बारके लिये विचारकर देखें। भगवान्‌ने आपको कहाँसे लाकर कहाँ रखा है। आप अपनेको हीन समझते हुए भी, 'भगवान्‌की कृपाका पात्र हूँ'—यह समझकर, अत्यन्त भाग्यशाली भी समझकर देखें। हमलोगों-जैसे संसारमें करोड़ों मनुष्य हैं, किंतु कितनोंके पास सच्ची या झूठी भगवान्‌से मिलनेकी इच्छामात्र भी है।

आपमें यह इच्छा तो हो गयी है कि प्रभुके पास पहुँचूँ। यह क्या कम है ? जहाँतक मेरा अनुमान है, आपकी उपासना भगवत्प्रेमके लिये ही है। अपनी प्रार्थनामें भी आप भगवान्‌से भक्तिकी ही याचना करते होंगे। यदि आपकी उपासना किसी अंशमें सकाम भी होगी, तो भी आपको भगवत्प्रेम मिलेगा।

चैतन्य महाप्रभुने कहा है—

अन्यकामी यदि करे कृष्णेर भजन,
कृष्ण तारे देन स्वचरण॥
कृष्ण कहे आमाय भजे, मागे विषय-सुख,
अमृत छाँड़ि माँगे विष, एइ बड़ मूर्ख।
आमि विज्ञ एइ मूर्खे विषय सुख केन दिव
तव चरन दिया विषय-सुख भुलाइव॥

अर्थात् सकाम भावसे भी कोई कृष्णका भजन करता है तो भी कृष्ण तो उसको अपना चरण ही देते हैं। श्रीकृष्ण सोचते हैं कि यह मेरा भजन तो करता है, पर माँगता है विषय-सुख——अमृतका परित्याग कर विष लेना चाहता है। ओहो! यह बड़ा मूर्ख है। किंतु मैं तो मूर्ख नहीं हूँ, मैं तो सब कुछ जानता हूँ; मैं इसे विषय-सुख देकर ठगनेका काम क्यों करूँ, मैं तो इसे अपना चरण देकर इसका विषय-सुख भुलाते हुए इसके अंदर सच्चा अनुराग उत्पन्न करूँगा।

अधिक-से-अधिक भगवान्‌का नाम लिया करें

भगवान् आज भी अपने भक्तोंको उनके भावनानुसार कृतार्थ करनेके लिये तैयार हैं। निष्काम भक्तोंको प्रेमदान एवं दर्शनोंके द्वारा तथा सकाम भक्तोंको उनकी वाञ्छित वस्तु देकर भगवान् आज भी कृतार्थ करते हैं। हमारा विश्वास उठ गया है, जिसके कारण हमलोगोंकी तबाही है। भगवान्‌पर श्रद्धा नहीं रही, अन्यथा भगवान् बिना किसी भेद-भावके सबको स्वीकार कर सकते हैं। इसीलिये मैं बारंबार आपलोगोंसे एक ही प्रार्थना किया करता हूँ कि अधिक-से-अधिक भगवान्‌का नाम लिया करें। बड़े-बड़े संत-महात्माओंका यह अनुभव है कि जो जितना अधिक भजन करेगा, वह उतनी ही शीघ्रतासे भगवान्‌की ओर बढ़ेगा। भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम होकर जल्दी-से-जल्दी उन्हें प्राप्त किया जा सके, इसका एकमात्र उपाय इस युगके लिये है—नामका आश्रय। इसलिये फिर भी यही प्रार्थना है कि चाहे हठसे ही क्यों न हो, वाणीका संयम कर और आवश्यकताभर बोलनेके बाद बाकीका सब समय नाम-जपमें लगायें। जैसे-जैसे अन्तःकरण पवित्र होगा, वैसे-वैसे अपने-आप भजनमें प्रेम होने लगेगा। भजन प्यारा लग जानेपर फिर भजनके लिये चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी, अपने-आप भजन होगा। जबतक ऐसा न हो, तबतक हठसे, विचारसे—जैसे भी हो, अधिक-से-अधिक नाम जपें। भगवान्‌की कृपा आपके साथ है। आपलोग चाहेंगे तो भगवान्‌की ही कृपासे भजन अवश्य कर सकेंगे। देखें, भगवान् केवल कहने-सुननेकी वस्तु नहीं हैं। सचमुच साधनाका क्रियात्मक प्रयोग करके उन्हें प्राप्त करनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। यहाँ केवल सार वस्तु भगवान् ही हैं। भगवान्‌के लिये ही परिवार, बन्धु, भाई—सब हों। भगवान्‌के मार्गमें रोकनेवाली सभी वस्तुएँ सर्वथा त्याज्य हैं—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

गांधी-जीवन-सूत्र

[आहारमें स्वाद क्यों ?]

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हरी-हरी चटनी ।

गांधीजीने अपने बगलमें बैठाये महाराजकुमार विजयानगरम्‌की थालीमें अपनी थालीसे उठाकर थोड़ी-सी चटनी परोस दी ।

आश्रममें जब विशिष्ट अतिथि आते थे, तब गांधीजी उन्हें अपने बगलमें बैठाते थे और कोई विशेष चीज बनी होती तो उसे बहुत प्रेमपूर्वक परोसते थे । महाराजकुमारने चटनी देखी तो सहज ही उसका बड़ा-सा कौर उठाकर गपसे मुँहमें रख लिया ।

पर यह क्या ?

जीभने जैसे ही उस चटनीको छुआ कि बेचारी बड़े असमञ्जसमें पड़ गयी । न भीतर ले जाते बनता था न बाहर उगलते बनता था ।

'भइ गति साँप छुछुंदरि केरी !'

नीमके पत्तोंकी चटनी थी वह !

बात है सन् १९४० की ।

व्यक्तिगत सत्याग्रहके जमानेकी । काशीसे महाराजकुमार विजयानगरम् गये थे गांधीजीसे व्यक्तिगत सत्याग्रहके लिये अनुमति लेने । उसी समयकी यह घटना है । 'नेशनल हेरल्ड' में अपने संस्मरण लिखते हुए महाराजकुमारने कहा कि 'अजीब सकतेकी हालत थी मेरी । उगलूँ भी तो कैसे ? गांधीजी-जैसे महापुरुषका प्रसाद । और भीतर भी ले जाऊँ तो कैसे ? ऐसी कड़वी चीज भीतर ले जानेकी आदी जीभ कभी थी ही नहीं ।'

पर गांधीजीका तो सूत्र ही था—आहारमें स्वाद क्यों ? भोजनमें हमें अस्वाद-व्रतका पालन करना चाहिये ।

व्रतोंकी श्रेणीमें गांधीजीने अस्वाद-व्रतको विशिष्ट स्थान दे रखा था । उनका कहना था कि 'ब्रह्मचर्यका पालन करना हो तो स्वादेन्द्रियपर प्रभुत्व प्राप्त करना ही चाहिये । मैंने स्वयं अनुभव किया है कि यदि स्वादको जीत लिया तो ब्रह्मचर्यका पालन बहुत सरल हो जाता है ।'

× × ×

स्वामी चरणदास कहते हैं—

कुटिल जो इंद्री जीभ की, चाहै खटरस-स्वाद।
या बस होइ औगुन करै, जन्म जाय बरबाद॥
जिह्वा के जीते बिना गए जन्म सब हार।
'चरनदास' यों कहत हैं, गए जगत में ख्वार॥
बनसी डारी ताल में, मछरी लागी आय।
जिह्वा कारन जिव दियो, तलफ-तलफ मरि जाय॥
तजा न जिह्वा-स्वाद कूँ वा सँग दीन्हे प्रान।
जो कोइ ऐसा जगत में, सो अज्ञानी जान॥
बिना स्वाद ही खाइये राम-भजन के हेत।
'चरनदास' कहै सूरमाँ, ऐसे जीतौ खेत॥
जिन जीता है जीभ कूँ, तिन जीती सब देह।
कहैं गुरू सुकदेवजी, मुक्तिधाम-फल लेह॥
रसना जीतै भक्त जो, सो जोगी, सो साध।
अगम पंथ वह पग धरै, पहुँचै देश अगाध॥

जीभका यह स्वाद मनुष्यको कितना गिराता है, उसका चरणदास महाराजने एक उदाहरण भी दिया है—

एक तपा बन में जा रहा। सीत-उष्न-पावस सिर सहा॥
सूखे पातों किया अहारा। छूटे सब ही जग-ब्यवहारा॥

एक बार एक राजा आया उसके दर्शनोंको । तपस्वी ध्यानमग्न था । उसने राजाका कोई सम्मान नहीं किया—

जो हरि के रँग में रँगे, भूपन सौं क्या काम।
'चरनदास' कुछ भय नहीं, ना कुछ चहिये दाम॥

राजा ऐंठ गया । सोचा, 'इतना अहंकारी ! मुझसे बोलातक नहीं !'

राजाका 'अहं' फुफकारने लगा । 'इसे गिराना चाहिये । बड़ा तपस्वी बनता है !'

इशारेकी देर थी । दरबारकी वेश्याने बीड़ा उठाया तपस्वीकी फजीहतका । बाँदीको भेजकर उसने पता लगाया कि कैसे रहता है तपस्वी ।

झाड़ै जा, मुख धोय कै, फिरि तलाब में न्हाय ।
'चरनदास' फल-पात जो गिरे-पड़े ही खाय ॥

ऐसे निरपेक्ष व्यक्तिको गिराना आसान बात तो है नहीं । पर वेश्या तो वेश्या । राजाको प्रसन्न करना है ।

भोजनका थाल सजाकर वह पहुँची तपस्वीके पास । ध्यानसे उसने आँखें खोलीं तो वेश्याने प्रणाम करके थाल उसके आगे बढ़ा दिया । कहा—'महाराज ! मेरे कोई पुत्र नहीं, इसीसे दर्शनको आयी हूँ । मेरी यह भेंट स्वीकार करनेकी कृपा करें ।'

तपस्वीने न तो भोजन लिया न उससे कोई बात की ।

वेश्या फिर पहुँची दूसरे दिन । फिर भोजनका थाल बढ़ाया । तपस्वी बोला—'मैं तो सूखे फल-पत्ते खाता हूँ । मुझे नहीं चाहिये यह सब भोजन ।'

पातुरि कहै, दूर सूँ आई । तुम तो दयावंत, सुखदाई ॥
यही मान मेरौ तुम राखौ । बहुत नहीं, अँगुली भर चाखौ ॥

उसके बार-बार आग्रह करनेपर तपस्वीने भोजनमें अँगुली डालकर चख लिया एकाध अँगुलीभर !

तपस्वीको स्वाद लग गया और उधर वेश्या चार दिन गायब हो गयी ।

पाँचवें दिन पहुँची तो तपस्वीने खुद पूछा—'इतने दिन तू कहाँ रही ?'

वेश्याने समझ लिया कि उसका जादू काम कर गया । उस दिन वह भोजन भी नहीं ले गयी थी । बोली—'घर-पर ठाकुरजीकी सेवा करती हूँ । नाना प्रकारके भोग लगाती हूँ । कहिये तो आपके लिये प्रसाद ले आऊँ ?'

तपसी कूँ जीतन कियौ, टेक बाँधि करि बाद ।
हौरै हौरै लायहूँ या जिह्वा के स्वाद ॥
नाना विध के स्वाद करि लै गइ वाही पास ।
कह्यौ कि यह परसाद है, लीजै कोई ग्रास ॥

अब क्या था !

कछूक पातुरि बचन सुनायो । कछूक तपसी के मन आयो ॥
डारो हाथ थार के माँहीं । ज्यों-ज्यों खात, सराहत जाहीं ॥

फिर तो यह क्रम ही चल पड़ा ।

रसना-स्वादहि बस किये मन में जीतन बाद ।
कमी आप, बाँदी कमी, पहुँचायो परसाद ॥

कहावत है कि उँगली पकड़कर पहुँचा पकड़ लिया जाता है ।

एक दिनाँ पातुरि ह्वाँ गई । हाथ जोरि भाषत यों भई ।
कह्यो कि मेरे भवन पधारो । करो पवित्तर जूँठनि डारो ॥
लावन की बहु बात बनाई । सो तपसी के मन नहिं भाई ॥
छाँड़ रही, रोना सो कीन्हो । तपसी को मन बस करि लीन्हो ॥
दूजे रस की कला दिखाई । मोह बढ़ो अरु आँख लजाई ॥
भोर भएँ फिर बात सुनाई । छल-बल करि घरहीं लै आई ॥
घर में ला बहु सुख दिया, दिना आठ ही राखि ॥
तपसी हू वा बस भयो, पाँचन सूँ रस चाखि ॥

उसके बाद एक दिन—

पाछें तपसी, आगें बाला । ऐसें राज-दुआरे चाला ॥
जा, राजा कूँ दई असीसा । राजा बैठे, नायो सीसा ॥
हँसि करि कही जु किरपा कीन्ही । यह नगरी अपनी करि लीन्ही॥
घर बैठे हम दरसन पाए । वे धन हैं, जो तुमको जाए ॥
एक दिनाँ हम तुम ढिंग धाए । बन में तुम्हरे दरसन पाए ॥
ठाड़ रह्यो हौं बहुती बारा । ना तुम बोले, नैन उघारा ॥
आज द्यौस ऐसा हद कीन्हा । ह्याँई आ तुम दरसन दीन्हा ॥
यह सुनि तपसी सोचि बिचारा । तबहीं पातुरि सूँ भयो न्यारा ॥
बेगहि उठि जंगल को गया । चरनदास कहैं, रमता भया ॥

जो इंद्रिन के बस भयो यही हाल है जाय ।
पछतावा मन में रहै, करै हाय दुख हाय ॥

× × ×

जीभका चटोरापन असंख्य अनर्थोंको जन्म देता है । इसके चलते मनुष्य कौन-सा जघन्य पाप नहीं करता ? स्वादकी लालसा मनुष्यको पतनके गड्ढेमें ढकेले बिना नहीं रहती । स्वादेन्द्रियको खुली छूट दी नहीं कि एक-एक इन्द्रिय उसके पीछे चलती जायगी और मनुष्य अपनेको नरककी अन्तिम सीढ़ीपर खड़ा पायेगा ।

गांधीजीने इस तथ्यकी भलीभाँति अनुभूति की थी। वे अफ्रीकामें थे, तभी "Indian Opinion" नामक अंग्रेजी पत्रिकामें उन्होंने आरोग्य-साधन-सम्बन्धी लेखमाला शुरू की थी। उसमें आहारका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा था—

'लाखमें निन्यानबे हजार, नौ सौ निन्यानबे मनुष्य तो केवल स्वादके लिये खाते हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि खानेके बाद बीमार पड़ जायँगे या अच्छे रहेंगे। बहुतेरे लोग खूब खा सकनेके लिये जुलाब लेते या पाचक चूर्ण फाँकते रहते हैं। कुछ लोग स्वादिष्ट चीजें ठूँस-ठूँसकर पेटमें भर लेते और खानेके पीछे कै करके फिर उन चीजोंके खानेके लिये तैयार हो जाते हैं। कुछका यह ढंग होता है कि दो-दो दिनतक भूख नहीं लगती। कुछ लापरवाहीसे खाते-खाते मरतेतक देखे गये हैं। ये सब बातें मैंने अपनी आँखों देखी है।

'मैंने अपनी ही जिंदगीमें बहुत-से हेर-फेर देखे हैं। बहुत कामोंकी याद आनेसे हँसी आती है और बहुतोंको याद करके शरमाना पड़ता है। एक समय था, जब मैं सबेरे चाय पीता, दो-तीन घंटेके बाद नाश्ता करता, एक बजे भोजन करता, फिर तीन बजे चाय पीता और अन्तमें ६-७ बजेके बीच फिर पूरा भोजन करता। उस समय मेरी दशा बहुतही करुणाजनक थी। शरीरपर दूषित मांस खूब लदा रहता था। दवाकी बोतल हमेशा पास रहती। खूब खा सकनेके लिये प्रायः जुलाब लेता और उसके बाद ताकतके लिये कई दवाइयाँ पीता। इस तरहका जीवन करुणाजनक है और गम्भीरतासे विचार करें तो उसे अधम, पापपूर्ण और धिक्कारयोग्य समझना चाहिये।

'पशु-पक्षियोंको देखिये। वे स्वादके लिये नहीं खाते। ठूँस-ठूँसकर पेट नहीं भरते। भूख लगनेपर भूखभर ही खाते हैं। भोजन पकाते नहीं, प्रकृतिके तैयार किये हुए भोजनसे अपना हिस्सा ले लेते हैं। क्या मनुष्य ही स्वादके लिये पैदा हुआ है? उन (मनुष्य कहलानेवाले) जानवरोंमें गरीब और अमीर—कोई-कोई दिनमें दस दफे खानेवाले और कोई-कोई एक बार भी न खानेवाले दिखलायी पड़ते हैं। ये बातें सिर्फ मनुष्य-जातिमें हैं। फिर भी हमें जानवरोंसे अधिक बुद्धिमान् होनेका घमंड है। इससे सिद्ध होता है कि यदि हम पेटको परमेश्वर मानकर उसकी पूजामें जिंदगी बितायें तो हम पशु-पक्षियोंसे भी अधिक बे-समझ और बदतर हैं।

'भलीभाँति विचार करनेसे मालूम होगा कि झूठ, चोरी और धोखा आदि पापोंका मुख्य कारण हमारी स्वादेन्द्रियकी स्वतन्त्रता ही है। स्वादको वशमें रखनेसे दूसरी बुराइयोंका नाश करना हमारे लिये बहुत आसान हो जा सकता है। लेकिन यहाँ तो हम खूब खाना और स्वादिष्ट पदार्थोंका खाना पाप नहीं मानते।

'चोरी करने, व्यभिचार करने और झूठ बोलनेपर लोग हमसे घृणा करते हैं। इनपर अनेक नीतिग्रन्थ लिखे गये हैं, किंतु जिनकी स्वादेन्द्रिय वशमें नहीं है, उनपर कहीं कुछ नहीं लिखा गया। मानो इस विषयका नीति-अनीतिसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। प्रधान कारण यह है कि सभी एक ही नावपर बैठे हैं। सभी जीभके गुलाम हैं। तब कैसे हम दूसरेकी इस बुराईपर हँस सकते हैं! भला कहीं एक चोर दूसरे चोरके कामपर हँसता है?

'सभ्यलोग चोर, ठग और व्यभिचारी मनुष्यको अपने समाजमें कभी रहने न देंगे; किंतु वे सभ्यताभिमानी लोग साधारण मनुष्यसे सौगुना अधिक स्वाद लेते हैं और इसे बुरा नहीं समझते। आजकल बड़प्पनका अनुमान थालीसे किया जाता है। जैसे डाकुओंके घरमें डाका डालना अपराध नहीं समझा जाता, वैसे ही हम सब स्वादेन्द्रियके गुलाम होनेसे उस गुलामीको बुरी नहीं समझते, उलटे उसमें आनन्द मानते हैं।

'ब्याह-शादीमें हम स्वादके लिये ही भोजन करते-कराते हैं। गमी (मरनी) तकमें स्वादसे नहीं चूकते। त्यौहार आया कि मिठाई-पकवान बनना मामूली बात है। मेहमान आया कि कड़ाही चढ़ी। जब-तब अड़ोसी-पड़ोसी, इष्ट-मित्र, सगे-सम्बन्धी आदिको दावत (गोठ) न देना, अथवा उनके यहाँ दावत न खाना महान् मनहूसियतमें दाखिल है। निमन्त्रितोंको ठूँसकर न खिलानेमें कंजूसी समझी जाती है। छुट्टी पड़ी कि छनी पूड़ी-कचौड़ी। हम माने बैठे हैं कि रविवारको खूब डटकर खानेके लिये हम आजाद हैं। इस प्रकार जो बड़ा दोष है, उसे हमने बड़ी समझदारीका काम समझ रखा है।

'अब दूसरी रीतिसे विचार करिये। हर रोज उतना ही अनाज पैदा होता है, जितना संसारके सब जीवोंके लिये काफी है। तब यदि कोई अपने हिस्सेसे अधिक खा ले, तो दूसरोंके

हिस्सेमें उतनी ही कमी पड़ेगी। राजा-महाराजाओं और बड़े-बड़े सेठ-साहूकारोंकी रसोईमें उनके नौकर-चाकरोंकी आवश्यकतासे कहीं अधिक अन्न पकाया जाता है। यह अधिक अन्न वे दूसरोंके पेटसे लेते हैं। फिर, भला, दूसरे गरीब क्यों न भूखों मरें।'

× × ×

स्वादकी दृष्टिसे हम यदि भोजन न करें तो यह निर्विवाद है कि बहुत थोड़े आहारसे हमारा काम चल जायगा। पर हमारे जीवनका ढर्रा ही उलटा है। भला वह भी कोई भोजन है, जिसमें स्वादका ध्यान न रखा जाय ? एक-से-एक स्वादिष्ट, एक-से-एक चटपटी, रसीली चीजें हम खोज-खोजकर खाते हैं; फिर भले ही हमारे पेटपर, हमारे स्वास्थ्यपर उसकी कितनी ही बुरी प्रतिक्रिया क्यों न हो!

सन् ३०–३२के सत्याग्रह-आन्दोलनकी बात है। कानपुरकी एक काँग्रेस-कार्यकर्त्री हमारे साथ देहातोंमें घूम रही थीं। दोपहरके भोजनमें रोज मैं देखता कि उन्हें एक अँजुलीभर हरी मिर्चोंकी जरूरत पड़ती थी। हर कौरके साथ वे मिर्चें चबाती चलतीं, भले ही आँखोंसे आँसुओंकी धार बहती रहे!

केवल उन्हींकी यह बात नहीं, हम-आप सभी मिर्च-मसाले खाते हैं, खूब खाते हैं। नतीजा यह होता है कि किसी दिन यदि मिर्च-मसालोंसे रहित भोजन मिले तो वह गलेके नीचे उतरता ही नहीं। भारतकी यह विशेषता अपना सानी नहीं रखती। विदेशियोंको जब हमारी रसोईमें खाना पड़ता है, तब उन बेचारोंकी फजीहत हो जाती है। विनोबाकी पदयात्रामें मैंने अनेक विदेशियोंकी समय-समयपर इस दुर्दशाका दर्शन किया है। संकोचमें बेचारे पत्तलपर किसी तरह उकडू बैठ तो जाते हैं, पर मिर्च-मसालेसे भरा हमारा भोजन उनके लिये बड़ी कसौटीका काम करता है। उनके मुँहमें छाले पड़ जाते हैं, मेदा खराब हो जाता है। लाचार फल, दूध, केक आदिसे वे काम चलाते हैं।

× × ×

हमारी जीभ ६६ प्रकारके व्यञ्जन माँगती है और हम रात-दिन उसीकी खुशामदमें जुटे रहते हैं। बचपनसे ही हमारे माता-पिता हमें स्वादकी चाट लगा देते हैं। हम भी अपने बच्चोंमें इसी परम्पराका विकास करते चलते हैं। परिणाम हमारी आँखोंके सामने है। हमारी जीभ हमें नाना प्रकारके नाच नचाती है। मजेसे ले-लेकर हम नाना प्रकारके षड्रस व्यञ्जन उदरस्थ करते हैं और फिर भिन्न-भिन्न प्रकारके रोगोंके रूपमें उसका मुआवजा चुकाते हैं। शरीर बर्बाद करते हैं, स्वास्थ्य चौपट करते हैं, इतना ही नहीं, चरित्रको भी नष्ट करनेमें हमें संकोच नहीं होता—

'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।'

× × ×

स्वादकी वृत्ति साधनाके क्षेत्रमें बहुत बड़ी बाधा है। 'सवादी' आदमी कभी साधक नहीं बन सकता। जिह्वा-इन्द्रियको वशमें किये बिना न ब्रह्मचर्यकी साधना हो सकती है, न सत्य या अहिंसाकी।

यही कारण है कि गांधीजीने अपने आश्रमके एकादश व्रतोंमें अस्वादको भी व्रतका स्थान दिया था। वे लिखते हैं—

'बचपनसे ही माँ-बाप झूठा लाड़-प्यार करके अनेक प्रकारके स्वाद करा-कराकर शरीरको बिगाड़ देते हैं और जीभको कुत्ती बना देते हैं, जिससे बड़े होनेपर लोग शरीरसे रोगी और स्वादकी दृष्टिसे महाविकारी देखनेमें आते हैं।

'स्वादको बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसलिये इस व्रतको पृथक् स्थान नहीं मिला। मेरे अनुभवके अनुसार इस व्रतका पालन करनेमें समर्थ होनेपर ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय-संयम बिल्कुल आसान हो जाता है।'

गांधीजीने अस्वादको अपना जीवनसूत्र बना रखा था। वे स्वयं तो उसका कड़ाईसे पालन करते ही थे, अपने आश्रमवासियोंसे भी इस व्रतका पालन करानेके लिये सचेष्ट रहते थे। आश्रमकी रसोईमें स्वादकी दृष्टिके स्थानपर स्वास्थ्यकी दृष्टि रहती थी। दवाके खानेमें हम इसका विचार नहीं करते कि वह स्वादिष्ट है या कैसी, शरीरको उसकी आवश्यकता समझकर उचित परिमाणमें ही सेवन करते हैं। वही बात अन्नके विषयमें—समस्त खाद्य-पदार्थोंके विषयमें समझनी चाहिये।

हमें सोचना चाहिये कि हमें जीनेके लिये खाना है या खानेके लिये जीना। यदि हमें खानेके लिये जीना है, तब तो हमारे जीवनकी जो पद्धति चल रही है, स्वादकी जिस दौड़में हम पड़े हैं, उसे ठीक ही मानना चाहिये।

फिर न हमें बीमारीसे घबराना चाहिये, न डाक्टरों-वैद्योंसे। खूब डटकर स्वाद ले-लेकर खाइये और फिर पड़िये बीमार ! पर यदि हम इसे गलत समझते हैं और जीनेके लिये खाना चाहते हैं तो कबीरदासकी इस चेतावनीको याद रखना चाहिये—

कबिर छुधा है कूकरी, करत भजनमें भंग।
या को टुकरा डारि कै, भजन करौ निस्संक॥

क्षुधापूर्तिके लिये टुकड़ा फेंक दीजिये। शरीर-रक्षणके लिये जितना आवश्यक है, उतना पौष्टिक और संतुलित भोजन कीजिये। चार कौरकी भूख है तो दो-तीन कौरसे ज्यादा मत लीजिये। इससे शरीर भी स्वस्थ रहेगा, मन भी। वाणीपर भी नियन्त्रण रहेगा, अन्य इन्द्रियोंपर भी। स्फूर्ति भी रहेगी, नैतिकता और सदाचार भी रहेगा। पर इसके लिये हमें कड़ी साधना करनी पड़ेगी अस्वादकी।

× × ×

वह कैसे ?

पंजाबके एक संतकी आप-बीती है।

एक दिन किसी गाँवमें एक गृहस्थने उन्हें महेरी खिलायी।

बाबाजीको बहुत अच्छी लगी।

बोले—'बेटा ! तेरी महेरी बड़ी स्वादिष्ट बनी है। कल भी बनाना और कुछ ज्यादा मात्रामें बनाना।'

'बहुत अच्छा, महाराज ! आपके आशीर्वादसे क्या कमी है ? भैंसें दूध देती हैं, फसल भी खूब होती है। महेरीमें क्या लगता है ? कल आप पधारिये। खूब खाइये जी भरकर महेरी।'—किसान बोला।

दूसरे दिन बाबाजी पहुँचे तो गृहस्थ किसानने एक नाँद-भर महेरी बनवा रखी थी।

बड़े खुश हुए। लगे बैठकर महेरी खाने।

पेटके कोटरकी भी तो एक सीमा है। कहाँतक भरेगा इस थैलीमें। पर बाबाजी थे कि पेटमें महेरी डालते चले जा रहे थे।

आखिर पेटने इन्कार कर दिया।

नौबत यह आ गयी कि कै होने लगी।

पर बाबाजी महेरी पेटमें उड़ेलते जा रहे थे—'ले और खा, जीभ निगोड़ी ! और माँगेगी महेरी ?'

× × ×

अभी उस दिन लल्लू दादा भी एक ऐसी ही घटना सुना रहे थे।

एक बाबाजी उनके पास पहुँचे। बोले—'बेटा! पेड़े खाना चाहता हूँ।'

'बहुत अच्छा, महाराज !'

सस्तीका जमाना था। उन्होंने पावभर पेड़े मँगवा दिये।

बाबाजीने पेड़े खाकर फिर कहा—'बच्चा ! पावभर पेड़े और मँगवा दे।'

बाबाजी पेड़े खाते गये। दादा मँगवाते गये। बीच-बीचमें अपने-आपसे बाबाजी कहते जाते थे—'ले, और खायेगा ?'

अन्तमें उनकी आँखें लाल-लाल हो उठीं, पर पेड़े खाना चालू था। होते-होते उन्हें भी कै हो गयी।

और उसके बाद वे लल्लू दादाको आशीर्वाद देकर चल दिये।

× × ×

एक और उदाहरण लीजिये।

महाराष्ट्रके एक विख्यात नेता थे। एक दिन उनकी पत्नीने उन्हें बहुत अच्छा मीठा आम काटकर खानेके लिये दिया।

उन्होंने सिर्फ एक फाँक खायी, उसके बाद हाथ रोक लिया। पत्नीने पूछा—'क्यों, क्या बात है ! आम स्वादिष्ट नहीं है ?'

'स्वादिष्ट है, इसीलिये तो खाना बंद कर दिया।'

'यह कैसी उलटी बात ?'

'इसकी एक कहानी है। बचपनमें पूनामें मैं जिस मकानमें रहता था, उसके बगलमें एक महिला रहती थी। उस बेचारीने सम्पन्नताके दिन देखे थे, पर उन दिनों वह बड़ी गरीबीमें गुजर कर रही थी। उसे पुराने

आदत थी, चार-चार, छः-छः साग-तरकारियाँ खानेकी, नाना प्रकारकी चीजें खानेकी, पर इस आर्थिक तंगीमें कहाँसे लाती। इसलिये वह सुबहसे शामतक इसी प्रसङ्गको लेकर झींकती रहती। तभीसे मैंने सोचा कि मुझे यदि इस दुर्दशासे बचना है तो उसका उपाय यही है कि जो चीज जीभको स्वादिष्ट लगे, उसे कम-से-कम खाना।'

× × ×

हमें यदि पवित्र जीवन बिताना है, हमें यदि गरीबोंके साथ हमदर्दी है, हम यदि शुद्ध कमाईका शुद्ध अन्न खाना चाहते हैं, हम यदि दूसरोंको उनके अंशसे वञ्चित नहीं करना चाहते तो हमें अपने आहारपर नियन्त्रण रखना ही होगा। इस बातमें तो कोई संदेह है ही नहीं कि स्वादके चलते हम न तो शारीरिक दृष्टिसे स्वस्थ रह सकते हैं, न मानसिक दृष्टिसे और न चारित्रिक दृष्टिसे ही।

उसका तो साधन यही है कि हम जो भी आहार लें, वह शुद्ध हो, पवित्र हो। हम केवल उतना ही आहार लें, जितना हमारे शरीरके रक्षणके लिये अनिवार्य हो। जहाँ स्वादकी दृष्टिसे भोजन किया कि हमने मर्यादाका अतिक्रमण किया।

अस्वाद-व्रतकी साधना ही शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक स्वास्थ्यका एकमात्र उपाय है। इसके द्वारा केवल जीभ ही नहीं, अन्य सारी इन्द्रियाँ भी सहज ही हमारे वशमें हो सकेंगी।

गांधीजी कहते हैं—'अस्वाद-व्रतका महत्त्व समझ लेनेपर हमें उसके पालनके लिये नया प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये चौबीसों घंटे खानेके बारेमें ही सोचनेकी जरूरत नहीं। सिर्फ सावधानीकी, जाग्रतिकी पूरी आवश्यकता है। ऐसा करनेसे थोड़े ही समयमें हमें मालूम हो जायगा कि हम कब स्वादके फेरमें पड़ते हैं और कब शरीर-पोषणके लिये खाते हैं। यह मालूम हो जानेपर हमें दृढ़तापूर्वक स्वादको घटाते ही जाना चाहिये।'

× × ×

अन्न तो ब्रह्म है। वामनपण्डितके अनुसार—

जीवन-शक्तिदाता अन्नहि पूर्णब्रह्म।
उदर-भरण तुहे जाणए यज्ञकर्म॥

उदरपूर्तिको हम यज्ञ-कर्म मान लें और पूरी जागरूकतासे प्रतिदिन इस यज्ञकर्मको करते चलें तो सहज ही हम अस्वाद-व्रतकी साधनामें सफल हो सकेंगे।

तुलसीदासने भक्तके लक्षणोंमें कहा है—

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥
तुम्हहि निबेदित भोजन करहीं। प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं॥
(मानस २।१२८।१)

भक्त तो थालीमें सामने आये हुए भोजनको प्रभुका प्रसाद मानता है। प्रभु-चरणोंमें उसे निवेदित कर देता है—

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

यह जो कुछ है, हे प्रभु! तेरा प्रसाद है। प्रसादमें मीठा और सलोना क्या रे!

आइये, हम भी अस्वादका व्रत लेकर आहारको भगवान्‌का प्रसाद मानकर ग्रहण करें।

छार ऐसे जीबे पै

रुचिकर सँवारे नाहिं अंग-अंग स्यामा-स्याम,
आली धिक्कार और नाना कर्म कीबे पै।
पायनि कौं धोय निज कर तैं न पान कियौ,
आली अंगार गिरै सीतल जल पीबे पै॥
बिचरे न बृंदावन कुंजनि लतानि तरें,
गाज परै अन्य फुलवारी-सुख लीबे पै।
'ललित-किसोरी' बीते बरस अनेक, दृग
देखे नहिं प्रानप्यारे, छार ऐसे जीबे पै॥

प्रार्थना

तुम मेरे हो—मेरे अपने हो!

मेरे बन्धु !

तुम मेरे हो—मेरे अपने, अतिशय अपने हो। अपनेसे-भी-अपने हो तुम ! एकमात्र मेरे अपने हो तुम !

तुमसे मेरी यह ममता कितनी मधुर है ! यह मदीयता कितनी स्निग्ध है ! तुम्हारा-मेरा यह नाता कितना सुखद है कि तुम मेरे हो—मेरे एकमात्र अपने हो !

तुम्हारे और मेरे नातेकी मधुरता जगत्‌के किसी भी नातेसे व्यक्त हो ही नहीं सकती। जगत्‌के सभी नाते अधूरे हैं, एकाङ्गी हैं, परिमित हैं। जो अपनेसे भी अपना है, उसके साथ अपना नाता किन शब्दोंसे प्रकट हो ? इतना ही कहना बनता है—तुम मेरी आत्मा हो, तुम मेरे हो—मेरे अत्यन्त अपने हो।

मेरे सब प्रकारसे रीते जीवनकी कोई उपलब्धि है तो वह तुम हो। मुझ परम रङ्ककी कोई सम्पत्ति है तो वह तुम हो। तुम्हीं मेरी वह अनमोल निधि हो, जिसे पाकर अब मेरे लिये कुछ पाना शेष नहीं रहा। तुमको पाकर मैं कृतार्थ हूँ, आप्तकाम हूँ, पूर्ण हूँ। इहलोक एवं परलोकके मेरे समस्त स्वार्थ एवं परमार्थ सिद्ध हो गये; क्योंकि तुम मेरे हो—मेरे अपने हो।

मेरे बन्धु ! तुम्हारे अतिरिक्त मेरा है ही कौन। मैं जो हूँ, जैसा हूँ, जगत् भले ही न जाने, तुम जानते हो ही। मुझे यथार्थरूपसे जानकर भी तुम मेरे हो—मेरे अपने हो, यही तुम्हारा प्रेम है। मेरे अन्तर तथा बाहरकी बीभत्सता कभी भी तुम्हारे अपनत्वमें अन्तर नहीं ला सकी—यही तो तुम्हारा औदार्य है। अपने ही अङ्गको अशुचि और मलसे सना एवं दुर्गन्धयुक्त देखकर क्या कभी कोई उससे घृणा करता है ? अपने ही शरीरके किसी अवयवको कभी कोई दण्ड देनेका विचार मनमें लाता है ? हम अपने पैरोंको कीचड़से सना पाते ही उन्हें धोकर निर्मल कर लेते हैं, उन्हें उपदेश नहीं करते। इसी रीतिसे मेरे बन्धु ! तुम भी मुझे दोषयुक्त देखकर भी अपराधी नहीं गिनते, घिनौना पाकर भी घृणा नहीं करते, अनुचित करता हुआ जानकर भी दण्डनीय नहीं मानते। तुम्हारा स्वभाव है—प्यारसे नहलाकर मुझे निर्मल करते रहना, पतित देखकर मुझे गलेसे लगाते रहना, दुःखी देखकर मुझे मधुर वचनोंसे सान्त्वना देते रहना; क्योंकि तुम मेरे हो—मेरे अत्यन्त अपने हो।

तुम्हीं तो मेरे सुखके स्रोत हो, आनन्दके कोष हो। तुम्हें निहारना ही सुख है, तुम्हें आँखोंसे ओझल करना ही दुःख है। तुम्हारी स्मृति ही अमृत है, विस्मृति ही विष है। तुम्हारा सांनिध्य ही शीतलता है, तुमसे व्यवधान ही ताप है। मैं चेष्टा करके तुमसे बिछुड़ता हूँ, दुःख पाता हूँ; तुम चेष्टा करके मुझे अपनाते हो, अहर्निश मेरा आनन्द-विधान करते हो; क्योंकि तुम मेरे हो—मेरे अत्यन्त अपने हो।

मेरे बन्धु ! मैं तुम्हारी महिमाकी इतनी ही बात जानता हूँ कि तुम मेरे हो—मेरे अपने हो। तुम्हारा यश गाने लगता हूँ, तो यही गा पाता हूँ—तुम मेरे हो—मेरे अपने हो। कभी जागते-सोते, जाने-अनजाने मेरे अन्तरकी वीणाके तार झनझना उठते हैं तो उनसे एक ही स्वर झङ्कृत होता है—तुम मेरे हो—मेरे अपने हो। हे अशेषदानी ! तुम्हारे अपरिमित दानके बदले मेरे कृतज्ञता-ज्ञापनके केवल दो अस्फुट वाक्य ही मेरे जीवन-कोषमें हैं—'तुम मेरे हो—मेरे अपने हो'।

—तुम्हारा ही एक अपना

भाग्यवान् सम्पाति

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे)

भगवान् श्रीरामकी लीलामें वचन-सहाय करनेवाले भाग्यवान् सम्पाति महर्षि कश्यपके पौत्र एवं अरुणके पुत्र थे। श्रीराम-भक्त पक्षिराज जटायु इनके अत्यन्त प्रिय छोटे भाई थे। सम्पाति विशालकाय, अत्यन्त बलवान् तथा दीर्घजीवी थे। उन्होंने स्वयं कहा था—

जानामि वारुणाँल्लोकान् विष्णोस्त्रैविक्रमानपि।
देवासुरविमर्दांश्च ह्यमृतस्य विमन्थनम्॥
(वा० रा० ४। ५८। १३)

'मैं वरुणके लोकोंको जानता हूँ। वामनावतारके समय भगवान् विष्णुने जहाँ-जहाँ अपने तीन पग रक्खे थे, उन स्थानोंका भी मुझे ज्ञान है। अमृत-मन्थन तथा देवासुर-संग्राम भी मेरी देखी और जानी हुई घटनाएँ हैं।'

सम्पाति और इनके छोटे भाई शून्यमें अत्यन्त ऊँचाईपर बड़े ही वेगसे उड़ते थे। इतना ही नहीं, ये दोनों भाई इच्छानुसार रूप भी धारण कर लेते थे।

महर्षि चन्द्रमाने सम्पातिसे कहा था—

गृध्रौ द्वौ दृष्टपूर्वौ मे मातरिश्वसमौ जवे।
गृध्राणां चैव राजानौ भ्रातरौ कामरूपिणौ॥
(वा० रा० ४। ६०। १९)

'मैंने पहले वायुके समान वेगशाली दो गीधोंको देखा है। वे दोनों परस्पर भाई और इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। साथ ही वे गीधोंके राजा भी थे।'

सम्पाति और जटायु मांसभक्षी बलशाली पक्षी होनेके साथ ही अत्यन्त बुद्धिमान्, सरल एवं साधु-महात्माओंके चरणोंमें श्रद्धा रखनेवाले थे। भगवान् और भगवद्भक्त इन्हें अत्यन्त प्रिय थे। अन्याय और अत्याचारको ये सहन नहीं कर सकते थे।

पर यौवनकालमें ये गर्वोन्मत्त भी हो गये थे। एक बारकी बात है। अपने बल एवं वेगके अभिमानमें इन दोनों भाइयोंने कैलास पर्वतके शिखरपर ऋषियोंके सम्मुख प्रतिद्वन्द्विता की कि 'भगवान् सूर्यदेवके अस्ताचलपर पहुँचनेके पूर्व ही हम दोनों उनके समीप पहुँच जायँ।'

बस, दोनों महान् पक्षियोंने अपने पंख पसारे और अनन्त आकाशमें पवनकी गतिसे उड़ चले। कुछ ही देरमें वे इतने ऊँचे पहुँच गये, जहाँसे यह धरती, पर्वत, वन, सरिताएँ और समुद्र अत्यन्त छोटे खिलौनेकी तरह दीख रहे थे। फिर भी वे ऊपर अंशुमालीकी ओर उड़ते ही जा रहे थे। दिनमणिकी अग्निमयी तीक्ष्ण किरणोंकी चिन्ता किये बिना वे उनकी ओर बढ़ते ही जा रहे थे। कुछ देर बाद सूर्यदेवकी असह्य गर्मीसे सम्पाति और जटायुको पसीना आने लगा। फिर भी वे ऊपर उड़ते ही गये। पक्षिराज जटायुने देखा कि अब प्राण बचना सम्भव नहीं, अतएव उन्होंने अपना पंख समेटा और नीचेकी ओर चल पड़े; पर महाबलशाली सम्पाति भुवन-भास्करकी ओर उड़ते ही गये। कुछ ही क्षणोंमें सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंको सहना उनके लिये सम्भव नहीं रहा। वे मूर्च्छित-से हो गये। उन्हें नेत्रोंसे कुछ दिखायी नहीं देता था। किसी प्रकार धैर्य धारणकर उन्होंने देखा तो दिवाकर भी पृथ्वीके बराबर दीख रहे थे। अपने भाई जटायुको नीचे जाते देख महान् बलशाली सम्पातिने भी सूर्यकी असह्य ज्वालाके कारण उनकी ओर जानेका विचार त्याग दिया और नीचेकी ओर चल पड़े।

इनके छोटे भाई जटायु इन्हें प्राणप्रिय थे, इस कारण सूर्यदेवकी असह्य ज्वालासे जटायुको बचानेके लिये इन्होंने अपने दोनों पंखोंसे उन्हें ढक लिया। इस प्रकार जटायुकी तो रक्षा हो गयी, किंतु सम्पातिके पंख जलकर भस्म हो गये। वे व्याकुल होकर चीत्कार करते हुए विन्ध्यगिरिपर गिर पड़े[1] और मूर्च्छित हो गये।

सम्पाति छः दिनोंतक मूर्च्छित ही रहे। इसके बाद जब उनके नेत्र खुले, तब उन्हें कुछ समझमें नहीं आया

---

१. इस घटनाका उल्लेख गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसके किष्किन्धाकाण्डमें इस प्रकार किया है। सम्पाति कहते हैं—

हम द्वौ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गए रबि निकट उड़ाई॥
तेज न सहि सक सो फिरि आवा। मैं अभिमानी रबि निअरावा॥
जरे पंख अति तेज अपारा। परेउँ भूमि करि घोर चिकारा॥
(४। २७। १-२)

कि 'मैं कहाँ हूँ ?' वे इधर-उधर देखने लगे, पर सहसा किसी वस्तुको पहचान नहीं सके । धीरे-धीरे सर, सरिता, समुद्र, पर्वत एवं विभिन्न प्रदेशोंपर दृष्टि पड़ी तो उन्हें पता चला कि मैं दक्षिण समुद्र-तटपर गिरि-कन्दराओं एवं पशु-पक्षियोंसे भरे विन्ध्यपर्वतपर पड़ा हूँ ।

फिर ध्यानपूर्वक भाग्यवान् सम्पातिने देखा कि कुछ ही समीप एक अत्यन्त सुन्दर और पवित्र आश्रम था । वहाँ विविध प्रकारके सुन्दर और सुगन्धित पुष्प खिले थे और वृक्षोंकी डालियाँ फलोंके भारसे झुकी हुई थीं । वहाँ शीतल-मन्द-सुगन्धित बयार बह रही थी । आश्रमके समीप हिंसक जन्तुओंने अपने वैरका स्वभाव त्याग दिया था । वहाँका वातावरण सर्वथा सात्त्विक था और सर्वत्र शान्तिका साम्राज्य था । देवगण भी उस आश्रमका सम्मान करते थे । उस आश्रममें अत्यन्त वीतराग, महान् तेजस्वी एवं प्रभु श्रीरामके अनन्य भक्त महामुनि चन्द्रमा[२] रहते थे । महामुनिके दर्शनार्थ सम्पाति धीरे-धीरे अत्यन्त कष्ट सहकर भी गिरि-शिखरसे नीचे उतरे । वहाँ सर्वत्र तीखे कुश-कण्टक फैले थे । तथापि वे धीरे-धीरे किसी प्रकार उनके आश्रमके समीप पहुँचे । थोड़ी ही देरमें वे परम तेजस्वी मुनि आते हुए दिखलायी दिये । उन्हें देखकर ऋषि अत्यन्त प्रसन्न होकर आश्रममें चले गये और दो ही घड़ीमें फिर सम्पातिके समीप आकर उन्होंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक कहा—

सौम्य वैकल्यतां दृष्ट्वा रोम्णां ते नावगम्यते ।
अग्निदग्धाविमौ पक्षौ प्राणाश्चापि शरीरके ॥
(वा० रा० ४ । ६० । १८)

'सौम्य ! तुम्हारे रोएँ गिर गये और दोनों पंख जल गये हैं, इसका कारण नहीं जान पड़ता । इतनेपर भी तुम्हारे शरीरमें प्राण टिके हुए हैं ।'

कुछ देर बाद उन्होंने फिर कहा—

ज्येष्ठोऽवितस्त्वं सम्पाते जटायुरनुजस्तव ।
मानुषं रूपमास्थाय गृह्णीतां चरणौ मम ॥
(वा० रा० ४ । ६० । २०)

'सम्पाते ! मैं तुम्हें पहचान गया । जटायु तुम्हारा छोटा भाई था । तुम दोनों मनुष्यरूप धारण करके मेरा चरण स्पर्श किया करते थे ।'

और उन्होंने सम्पातिसे पूछा—'सम्पाते ! यह तुम्हें कौन-सा रोग हो गया है ? तुम्हारे पंख कैसे गिर गये ! तुम्हें किसीने दण्ड तो नहीं दिया ? तुम मुझे अपना वृत्तान्त बताओ ।'

सम्पातिने अत्यन्त दुःखके साथ महामुनिसे अपनी सारी करतूत सुना दी और उनसे कहा—

अब्रवं मुनिशार्दूलं दह्येऽहं दाववह्निना ॥
कथं धारयितुं शक्तो विपक्षो जीवितं प्रभो ।
(अ० रा० ४ । ८ । १०-११)

'अब मैं दावाग्निमें जल मरूँगा; क्योंकि प्रभो ! बिना पंखोंके मैं किस प्रकार जीवन धारण कर सकता हूँ ।'

सम्पातिका कष्ट देखकर दयामय चन्द्रमा मुनिके नेत्र सजल हो गये और उन्होंने अत्यन्त विस्तारपूर्वक उन्हें समझाया—'देहाभिमानके अभ्याससे जीवको नरकोंकी प्राप्ति एवं गर्भवासादि दुःख होते हैं । इस कारण देहादिकी ममता त्यागकर आत्मज्ञान-प्राप्तिका भरपूर प्रयत्न करना चाहिये । शुद्ध-बुद्ध-शान्तस्वरूप आत्माकी भावना एवं चिदात्माका ज्ञान होनेपर मोह नष्ट हो जाता है, फिर देह रहे या नष्ट हो जाय, इससे ज्ञानीको हर्ष या विषाद नहीं होता ।'

तस्माद्देहेन सहितो यावत्प्रारब्धसंक्षयः ॥
तावत्तिष्ठ सुखेन त्वं धृतकन्चुकसर्पवत् ।
(अ० रा० ४ । ८ । ४६-४७)

'अतः जबतक तेरा प्रारब्ध क्षय न हो, तबतक तू केंचुलसहित सर्पके समान आनन्दपूर्वक देह धारण करके रह ।'

और दयालु मुनिने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—'मैं तेरे परम कल्याणके लिये एक बात और बताता हूँ, तू ध्यानपूर्वक सुन—

त्रेताँ ब्रह्म मनुज तनु धरिही । तासु नारि निसिचर पति हरिही ॥
तासु खोज पठइहि प्रभु दूता । तिन्हहि मिलें तैं होब पुनीता ॥
(मानस ४ । २७ । ४)

२. चन्द्रमा महर्षि अत्रिके पुत्र थे। उनका नाम 'आत्रेय' और और 'निशाकर' भी है ।

'परब्रह्म परमेश्वर त्रेतायुगमें मनुष्यका शरीर धारण करेंगे। उनकी धर्मपत्नीका निशाचरराज (रावण) हरण करेगा। उनकी खोजमें प्रभु दूत भेजेंगे। उनके मिलनेपर तू पवित्र हो जायगा।' इसके अनन्तर कारुणिक मुनि चन्द्रमाने उनसे और कहा—

सर्वथा तु न गन्तव्यमीदृशः क्व गमिष्यसि।
देशकालौ प्रतीक्षस्व पक्षौ त्वं प्रतिपत्स्यसे॥
उत्सहेयमहं कर्तुमद्यैव त्वां सपक्षकम्।
इहस्थस्त्वं हि लोकानां हितं कार्यं करिष्यसि॥
त्वयापि खलु तत्कार्यं तयोश्च नृपपुत्रयोः।
ब्राह्मणानां गुरूणां च मुनीनां वासवस्य च॥

(वा० रा० ४। ६२। १२-१४)

'यहाँसे किसी तरह कभी दूसरी जगह न जाना। ऐसी दशामें तुम जाओगे भी कहाँ? देश और कालकी प्रतीक्षा करो। तुम्हें फिर नये पंख प्राप्त हो जायँगे[3]। यद्यपि मैं आज ही तुम्हें पंखयुक्त कर सकता हूँ, फिर भी इसलिये ऐसा नहीं करता कि यहाँ रहनेपर तुम संसारके लिये हितकर कार्य कर सकोगे। तुम भी उन दोनों राजकुमारों (श्रीराम-लक्ष्मण) के कार्यमें सहायता करना। वह कार्य केवल उन्हींका नहीं, समस्त ब्राह्मणों, गुरुजनों, मुनियों और देवराज इन्द्रका भी है।'

इस प्रकार विविध प्रकारसे महामुनि चन्द्रमाने सम्पातिको समझाया और भगवान् श्रीरामके कार्यमें सहायक बननेके कारण उनके भाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसके अनन्तर कृपामय चन्द्रमा ऋषि अपने आश्रममें चले गये और भाग्यवान् सम्पाति उक्त शुभ कालकी प्रतीक्षाके लिये धीरे-धीरे विन्ध्यगिरिके शिखरपर पहुँचे।

उक्त पर्वत-शिखरपर पक्षिराज सम्पाति भगवती सीताके दर्शनकी लालसासे अपने दिन व्यतीत करने लगे। कुछ दिनोंके बाद महामुनि चन्द्रमाने अपना भौतिक कलेवर त्याग दिया; इस कारण सम्पाति और अधिक दुःखी रहने लगे। उन्होंने कई बार अपना शरीर त्याग देनेका विचार किया, किंतु प्रत्येक बार उन्होंने महामुनि चन्द्रमाके अमृतमय सदुपदेशोंका स्मरण कर मनमें आया हुआ संकल्प त्याग दिया। इस प्रकार वे अपने प्राणप्रिय भाई जटायुसे बिछुड़कर शारीरिक एवं मानसिक यन्त्रणा सहते हुए अपने दिन व्यतीत कर रहे थे। उन्हें महामुनि आत्रेयके वचनोंपर दृढ़ विश्वास था। इस कारण वे उस क्षणकी निरन्तर प्रतीक्षा कर रहे थे, जब वे परात्परा भगवती सीताका दर्शन करते एवं निखिलसृष्टिनायक कमलनेत्र श्रीरामके भाग्यशाली दूतोंका दर्शनकर अपना जीवन और जन्म सफल करते। इस प्रकार वहाँ रहते हुए सम्पातिको आठ सहस्र वर्षसे भी अधिक समय व्यतीत हो गया।

अन्ततः वह समय भी आया, जब दयामय नवदूर्वादल-श्याम श्रीराम अवतरित हुए और अपने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वे अपने छोटे भाई लक्ष्मण एवं सहधर्मिणी सीतासहित चौदह वर्षके लिये अरण्यवास करने निकले। दण्डकारण्यमें निशाचरराज लङ्काधिपति रावणने भगवती सीताका छलपूर्वक हरण कर लिया। उन्हें खोजनेके लिये सुग्रीवने वानर-भालुओंको भेजा। हनुमान्, जाम्बवान् और अङ्गद आदि वानर माता सीताको ढूँढ़ते हुए दक्षिण-समुद्रके तटपर महेन्द्रपर्वतकी पवित्र उपत्यकामें पहुँचे।

वहाँ अगाध एवं असीम महासागरकी भयानक लहरोंको देखकर वे घबरा गये। सीतान्वेषणके लिये सुग्रीवकी दी हुई एक मासकी अवधि भी समाप्त हो गयी और सामने महासमुद्र! वीर वानर-भालुओंकी बुद्धि काम नहीं कर रही थी।

सब मिलि कहहिं परस्पर बाता। बिनु सुधि लएँ करब का भ्राता॥
कह अंगद लोचन भरि बारी। दुहुँ प्रकार भइ मृत्यु हमारी॥
इहाँ न सुधि सीता कै पाई। उहाँ गएँ मारिहि कपिराई॥

(मानस ४। २५। १-२)

''सब मिलकर आपसमें यह बात कहते हैं कि—'भाई! सुधि लिये बिना क्या करेंगे? (अर्थात् कोई बचनेका उपाय नहीं सूझता। अवधि बीत गयी, अब तो माता सीताका पता चले, तभी प्राण बच सकेंगे)। अङ्गदने नेत्रोंमें जल

---

३. तदा सीतास्थितिं तेभ्यः कथयस्व यथार्थतः।
तदैव तव पक्षौ द्वावुत्पत्स्येते पुनर्नवौ॥

(अ० रा० ४। ८। ५२)

'तब तू उन्हें सीताजीका ठीक-ठीक पता बतला देना। बस, उसी समय तेरे फिर नये पंख उत्पन्न हो जायँगे।'

'जमिहहिं पंख करसि जनि चिंता। तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता॥

(मानस, किष्किन्धा०)

भरकर कहा—'हमारी तो दोनों प्रकारसे मृत्यु हुई । यहाँ श्रीसीताजीकी सुधि नहीं मिली और वहाँ जानेपर कपिराज मारेगा ।'' वानरराज सुग्रीवके कठोर दण्डकी कल्पना कर वानरोंने कहा—

सुग्रीवस्तीक्ष्णदण्डोऽस्मान्निहन्स्येव न संशयः ।
सुग्रीववधतोऽस्माकं श्रेयः प्रायोपवेशनम् ॥
इति निश्चित्य तत्रैव दर्भानास्तीर्य सर्वतः ।
उपाविवेशुस्ते सर्वे मरणे कृतनिश्चयाः ॥
(अ० रा० ४ । ७ । २७-२८)

'राजा सुग्रीव बड़ा दुर्दण्ड है, वह हमें निस्संदेह मार डालेगा । सुग्रीवके हाथसे मरनेकी अपेक्षा तो प्रायोपवेशन (अन्न-जल छोड़कर मर जाने) हीमें हमारा अधिक कल्याण है । ऐसा निर्णय करके वे सब जहाँ-तहाँ कुश बिछाकर मरनेका निश्चय कर वहीं बैठ गये ।'*

वानरोंका कोलाहल सुनकर सम्पाति विन्ध्यगिरिकी कन्दरासे बाहर निकले और जब उन्होंने अन्न-जल त्यागकर मरनेका निश्चय किये वानर-भालुओंको कुशासनपर बैठे देखा तो उनकी प्रसन्नताकी सीमा न रही । सम्पातिने हर्षातिरेकसे कहा—

विधिः किल नरं लोके विधानेनानुवर्तते ।
यथायं विहितो भक्ष्यश्चिरान्मह्यमुपागतः ॥
परम्पराणां भक्षिष्ये वानराणां मृतं मृतम् ।
(वा० रा० ४ । ५६ । ४-५)

'जैसे लोकमें पूर्वजन्मके कर्मानुसार मनुष्यको उसके कियेका फल स्वतः प्राप्त होता है, उसी प्रकार आज दीर्घकालके पश्चात् यह भोजन स्वतः मेरे लिये प्राप्त हो गया । अवश्य ही यह मेरे किसी कर्मका फल है । इन वानरोंमेंसे जो-जो मरता जायगा, उसको मैं क्रमशः भक्षण करता जाऊँगा ।'

भोजनपर लुब्ध महाकाय सम्पातिको देखकर वानरगण अत्यन्त भयभीत हो गये । वे सोचने लगे—'हमसे न तो श्रीरामकी ही कोई सेवा हो सकी और न सुग्रीवकी ही आज्ञाका पालन हुआ । अब हमलोग व्यर्थ ही इसके पेटमें चले जायँगे ।' फिर उन्होंने कहा—

अहो जटायुर्धर्मात्मा रामस्यार्थे मृतः सुधीः ।
मोक्षं प्राप दुरावापं योगिनामप्यरिंदमः ॥
(अ० रा० ४ । ७ । ३४)

'अहो ! धर्मात्मा जटायु धन्य है, जिस बुद्धिमान्ने श्रीरामके कार्यमें अपने प्राण दे दिये । देखो, उस शत्रुदमनने वह मोक्ष-पद प्राप्त कर लिया, जो योगियोंको भी दुर्लभ है ।'

जटायुका नाम सुनकर सम्पाति अत्यधिक दुःखी हो गये । अत्यन्त आश्चर्यसे उन्होंने वानरोंसे कहा—

के वा यूयं मम भ्रातुः कर्णपीयूषसंनिभम् ॥
जटायुरिति नामाद्य व्याहरन्तः परस्परम् ।
उच्यतां वो भयं माभूत् मत्तः प्लवगसत्तमाः ॥
(अ० रा० ४ । ७ । ३५-३६)

''हे कपिश्रेष्ठगण ! आपलोग कौन हैं, जो आपसमें मेरे कानोंको अमृतके समान प्रिय लगनेवाला मेरे भाईका 'जटायु' नाम ले रहे हैं । आप मुझसे किसी प्रकारका भय न करके अपना वृत्तान्त कहिये ।''

सम्पातिके आश्वासन देनेपर भी वानर-यूथपतियोंने उनपर विश्वास नहीं किया । वे उनके कर्मसे शङ्कित थे । बहुत सोच-विचारके उपरान्त वानर उनके समीप गये और युवराज अङ्गदने उन्हें श्रीरामके जन्मसे लेकर सीता-हरणतककी सारी घटना अत्यन्त विस्तारपूर्वक सुनायी । इसके बाद जटायुका श्रीसीताकी रक्षाके लिये रावणके साथ युद्धकर श्रीरामकी गोदमें सुखपूर्वक प्राण-विसर्जन करनेकी बात कही । परम कारुणिक श्रीरामने जिस प्रकार जटायुकी अन्तिम क्रिया की, वह भी उन्होंने भाव-विभोर होकर बताया और अन्तमें उन्होंने यह भी कहा कि 'हमलोग वानरोंके राजा सुग्रीवके आदेशसे सीताकी खोजके लिये यहाँतक आये हैं । पर अबतक उनका कोई पता नहीं लगा, इस कारण हमलोग दुःखसे अधीर और व्याकुल हो रहे हैं ।'

अपने प्राणप्रिय भाई जटायुका प्रभुके लिये प्राणार्पण एवं उनकी अन्तिम गतिका सुखद संवाद सुनकर सम्पाति

* अस कहि लवन सिंधु तट जाई । बैठे कपि सब दर्भ डसाई ॥
(मानस ४ । २५ । ५)

आनन्दविह्वल हो गये। इतना ही नहीं, महामुनि चन्द्रमाके वचनके अनुसार अपने परम कल्याणका क्षण उपस्थित जानकर वे अपना सारा दुःख भूल गये। उनके अङ्ग-अङ्ग परमानन्दसे पुलकित हो गये।

अङ्गदस्य वचः श्रुत्वा सम्पातिर्हृष्टमानसः ॥
उवाच सत्प्रियो भ्राता जटायुः प्लवगेश्वराः।
बहुवर्षसहस्रान्ते भ्रातृवार्ता श्रुता मया ॥
(अ० रा० ४ । ७ । ४६-४७)

"अङ्गदके वचन सुनकर चित्तमें प्रसन्न होकर सम्पातिने कहा—'हे कपीश्वरो! जटायु मेरा परमप्रिय भाई था। आज कई सहस्र वर्षोंके अनन्तर मैंने भाईका समाचार सुना है'।" फिर उन्होंने कहा—

वाङ्मतिभ्यां हि सर्वेषां करिष्यामि प्रियं हि वः ॥
यद्धि दाशरथेः कार्यं मम तन्नात्र संशयः।
(वा० रा० ४ । ५९ । २४-२४½)

'मैं वाणी और बुद्धिके द्वारा तुम सब लोगोंका प्रिय कार्य अवश्य करूँगा; क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामका जो कार्य है, वह मेरा ही है—इसमें संशय नहीं है।'

सम्पातिने फिर कहा—'सर्वप्रथम तुमलोग मुझे जलके पास ले चलो, जिससे मैं अपने भाईको जलाञ्जलि दे लूँ[४]। फिर आपलोगोंकी कार्य-सिद्धिके लिये उचित मार्ग बताऊँगा।'

सम्पातिकी इच्छा जानकर महावीर हनुमान्‌जी उन्हें उठाकर समुद्र-तटपर ले गये[५]। वहाँ सम्पातिने स्नानकर जटायुको जलाञ्जलि दी। फिर वानरगण उन्हें उनके स्थानपर ले गये। वहाँ भगवान् श्रीरामके भक्तोंको सम्मुख बैठे देखकर सम्पातिके सुखकी सीमा नहीं थी। उनका शारीरिक एवं मानसिक कष्ट तो पहले ही दूर हो गया था। उन्होंने प्रभुके प्रिय भक्तोंको अत्यन्त आदरपूर्वक बताया—

गिरि त्रिकूट ऊपर बस लंका। तहँ रह रावन सहज असंका ॥
तहँ असोक उपबन जहँ रहई। सीता बैठि सोच रत अहई ॥

मैं देखउँ तुम्ह नाहीं गीधहि दृष्टि अपार।
बूढ़ भयउँ न त करतेउँ कछुक सहाय तुम्हार ॥
(मानस ४ । २७ । ६; २८)

'त्रिकूट पर्वतपर लङ्का नगरी है। वहाँ सहज ही निश्शङ्क रावण वास करता है। वहाँ अशोकका उपवन है, जहाँ श्रीसीताजी शोकमग्न बैठी हैं। मैं उन्हें देख रहा हूँ, तुम नहीं देख सकते; क्योंकि गृध्रकी दृष्टि बहुत लंबी होती है। मैं वृद्ध हो गया; नहीं तो तुम्हारी कुछ सहायता करता।'

फिर उन्हें प्रोत्साहित करते हुए सम्पातिने उनसे कहा—

तद् भवन्तो मतिश्रेष्ठा बलवन्तो मनस्विनः ॥
प्रहिताः कपिराजेन देवैरपि दुरासदाः।
(वा० रा० ४ । ५९ । २५-२६)

'तुमलोग भी उत्तम बुद्धिसे युक्त, बलवान्, मनस्वी तथा देवताओंके लिये भी दुर्जय हो। इसीलिये वानरराज सुग्रीवने तुम्हें इस कार्यके लिये भेजा है।'

फिर उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मणके तीक्ष्ण शरोंकी महिमाका गान करते हुए वानरोंसे कहा—

रामलक्ष्मणबाणाश्च विहिताः कङ्कपत्रिणः ॥
त्रयाणामपि लोकानां पर्याप्तास्त्राणनिग्रहे।
कामं खलु दशग्रीवस्तेजोबलसमन्वितः।
भवतां तु समर्थानां न किंचिदपि दुष्करम् ॥
(वा० रा० ४ । ५९ । २६-२७)

'श्रीराम और लक्ष्मणके कङ्कपत्रसे युक्त जो बाण हैं, वे साक्षात् विधाताके बनाये हुए हैं। वे तीनों लोकोंका संरक्षण और दमन करनेके लिये पर्याप्त शक्ति रखते हैं। तुम्हारा विपक्षी दशग्रीव रावण भले ही तेजस्वी और बलवान् है, किंतु तुम-जैसे सामर्थ्यशाली वीरोंके लिये उसे परास्त करना आदि कोई भी कार्य दुष्कर नहीं है।'

प्रोत्साहन देनेके अनन्तर सम्पातिने कहा—'आपलोग किसी-न-किसी तरह समुद्र लाँघनेका प्रयत्न कीजिये। राक्षस-राज रावणको तो वीरवर श्रीरामचन्द्रजी स्वयं मार डालेंगे। आपलोग विचार कर लें कि आपमें ऐसा कौन वीर है, जो समुद्रोल्लङ्घन कर लङ्कामें पहुँच जाय और माता सीताके

---

(४) मोहि लै जाहु सिंधु तट देउँ तिलांजलि ताहि।
बचन सहाइ करबि मैं पैहहु खोजहु जाहि ॥
(मानस ४ । २७)

(५) जयति धर्मांशु-संदग्धसंपाति-नवपक्ष-लोचन-दिव्यदेह-दाता। (विनयपत्रिका २८ वाँ पद)

दर्शन एवं उनसे बातचीत कर पुनः समुद्रके इस पार आ जाय ।'

सम्पातिके द्वारा माता सीताका पता पानेपर वानर-वृन्दके हर्षकी सीमा न रही । उन्होंने कौतूहलवश सम्पातिका पूरा जीवन-वृत्तान्त जाननेकी इच्छा व्यक्त की । सम्पातिने उन्हें बड़े ही आदर और प्रेमपूर्वक अपने पंख भस्म होने एवं चन्द्रमा मुनिकी कही सारी बातें सुना दीं । इसके अनन्तर उन्होंने कहा—'वानरो ! पंखहीन पक्षीकी विवशता क्या कही जाय । मेरी इस अत्यन्त दयनीय स्थितिमें मेरा पुत्र पक्षिप्रवर सुपार्श्व ही मुझे यथासमय आहार प्रदानकर मेरा भरण-पोषण करता आया है । हमलोगोंकी क्षुधा अत्यन्त तीव्र होती है । एक दिन मैं भूखसे छटपटा रहा था; किंतु मेरा पुत्र देरसे रिक्तहस्त लौटा, इस कारण मैंने उसे अनेक कटु बातें कहीं ।

"इसपर उसने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक मुझसे कहा—'मैं आपके आहारके लिये यथासमय आकाशमें उड़ा और महेन्द्रगिरिके द्वारको रोककर अपनी चोंच नीची किये समुद्री जीवोंको देखने लगा । उसी समय वहाँ मैंने एक कज्जलगिरि-की भाँति बलवान् पुरुषको देखा, जो अपने साथ एक अलौकिक तेजस्विनी स्त्रीको बलात् लिये जा रहा था । उस स्त्री और पुरुषको मैंने आपकी भूख मिटानेके लिये निश्चय किया, किंतु उस पुरुषकी अत्यन्त मधुर, विनम्र एवं दीन वाणीसे प्रभावित होकर मैंने उसे छोड़ दिया ।

४ 'इसके अनन्तर मुझे महर्षियों एवं सिद्ध पुरुषोंसे विदित हुआ कि वे दशरथनन्दन श्रीरामकी पत्नी भगवती सीता थीं और काला पुरुष लङ्काधिपति रावण था । श्रीसीताके केश खुल गये थे । वे अत्यन्त दुःखसे श्रीराम और लक्ष्मणका नाम लेकर विलाप कर रही थीं और उनके आभूषण गिरते जा रहे थे; इसी कारण मुझे यहाँ आनेमें देर हो गयी ।'

"पंखहीन, असहाय और विवश मैं छटपटाकर रह गया । मैं कुछ नहीं कर सकता था । दुष्ट रावणकी शक्तिसे मैं परिचित था, इस कारण जगदम्बा सीताकी रक्षा न करनेके कारण मैंने उसे कठोर वचन कहा ।" फिर सम्पातिने कहा—

तस्या विलपितं श्रुत्वा तौ च सीतावियोजितौ ॥
न मे दशरथस्नेहात् पुत्रेणोत्पादितं प्रियम् ।
(वा० रा० ४ । ६३ । ७-८)

'सीताका विलाप सुनकर और उनसे बिछुड़े हुए श्रीराम तथा लक्ष्मणका परिचय पाकर तथा राजा दशरथके प्रति मेरे स्नेहका स्मरण करके भी मेरे पुत्रने जो सीताकी रक्षा नहीं की, अपने इस बर्तावसे उसने मुझे प्रसन्न नहीं किया—मेरा प्रिय कार्य नहीं होने दिया ।'

परम भाग्यवान् सम्पाति वानरोंको अपनी आत्मकथा सुना ही रहे थे कि उन समस्त वानरोंके सम्मुख उनके दो नये पंख निकल आये । उनमें यौवनकालका बल भी उत्पन्न हो गया । महर्षि चन्द्रमाकी वाणीको स्मरणकर वे अत्यन्त सुखी हुए । उन्होंने वानरोंसे कहा—

सर्वथा क्रियतां यत्नः सीतामधिगमिष्यथ ॥
पक्षलाभो ममायं वः सिद्धिप्रत्ययकारकः ।
(वा० रा० ४ । ६३ । १२-१३)

'वानरो ! तुम सब प्रकारसे यत्न करो । निश्चय ही तुम्हें सीताका दर्शन प्राप्त होगा । मुझे पंखोंका प्राप्त होना तुम लोगोंकी कार्य-सिद्धिका विश्वास दिलानेवाला है ।'

फिर उन्होंने भगवान् श्रीरामके मङ्गलमय नामकी महिमाका बखान करते हुए उन सबके लिये समुद्रोल्लङ्घन अत्यन्त सरल कार्य बताया । सम्पातिने कहा—

यन्नामस्मृतिमात्रतोऽपरिमितं संसारवारांनिधिं
तीर्त्वा गच्छति दुर्जनोऽपि परमं विष्णोः पदं शाश्वतम् ।
तस्यैव स्थितिकारिणस्त्रिजगतां रामस्य भक्ताः प्रिया
यूयं किं न समुद्रमात्रतरणे शक्ताः कथं वानराः ॥
(अ० रा० ४ । ८ । ५५)

'वानरगण ! जिनके नामके स्मरणमात्रसे बड़े दुष्टजन भी इस अपार संसार-सागरको पार करके भगवान् विष्णुके सनातन परमपदको प्राप्त कर लेते हैं, आपलोग त्रिलोकीकी रक्षा करनेवाले उन्हीं भगवान् रामके प्रिय भक्तगण हैं । फिर इस क्षुद्र समुद्रमात्रको पार करनेमें आप क्यों समर्थ न होंगे?*'

वानरोंसे इस प्रकार कहकर पक्षिश्रेष्ठ सम्पाति उस पर्वतशिखरसे उड़ गये ।

* मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा । राम कृपाँ कस भयउ सरीरा ॥ पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं । अति अपार भवसागर तरहीं ॥ तासु दूत तुम्ह तजि कदराई । राम हृदयँ धरि करहु उपाई ॥
(रामचरितमानस ४ । २८ । १-२)

श्रीकृष्णका बालपन

(१)

यारो, सुनो य दधिके लुटैयाका बालपन,
औ मधुपुरी नगरके बसैयाका बालपन।
मोहन-सरूप नृत्य-करैयाका बालपन,
वन-वनके ग्वाल गौवें चरैयाका बालपन।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(२)

ज़ाहिरमें सुत वो नंद-जसोदाके आप थे,
वरना वो आपी माई थे और आपी बाप थे।
परदेमें बालपनके ये उनके मिलाप थे,
जोती-सरूप कहिये जिन्हें, सो वो आप थे।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(३)

उनको तो बालपनसे न था काम कुछ ज़रा,
संसारकी जो रीत थी, उसको रखा बजा[1]।
मालिक थे वे वह तो आपी, उन्हें बालपनसे क्या?
वाँ बालपन, जवानी, बुढ़ापा सब एक था।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(४)

वाले[2] हो बिर्जराज, जो दुनियाँमें आ गये,
लीलाके लाख रंग-तमाशे दिखा गये।
इस बालपनके रूपमें कितनोंको भा गये,
यक यह भी लहर थी, जो जहाँको जता गये।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(५)

परदा न बालपनका वो करते अगर जरा,
क्या ताव[4] थी जो कोई नजर भरके देखता।
झाड़ और पहाड़ देते सभी अपना सर झुका,
पर कौन जानता था, जो-कुछ उनका भेद था।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(६)

अब घुटनियोंका उनके मैं चलना बयाँ करूँ?
या मीठी बातें मुँहसे निकलना बयाँ करूँ?
या बालकोंमें इस तरह पलना बयाँ करूँ?
या गोदियोंमें उनका मचलना बयाँ करूँ?
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(७)

पाटी[6] पकड़के चलने लगे जब मदनगोपाल,
धरती तमाम हो गयी एक आनमें निहाल।
बासुकि चरन छुअनको चले छोड़के पताल,
आकासपर भी धूम मची देख उनकी चाल।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(८)

करने लगे ये धूम जो गिरधारी नंदलाल,
इक आप और दूसरे साथ उनके ग्वाल-बाल।
माखन-दही चुराने लगे सबके देखभाल,
दी अपनी दूध-चोरीकी घर-घरमें धूम डाल।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(९)

कोठेमें होवे, फिर तो उसीको ढँढोरना,
मटका हो तो उसीमें भी जा मुखको बोरना।
ऊँचा हो तो भी कंधेपै चढ़के न छोड़ना,
पहुँचा न हाथ तो उसे मुरलीसे फोड़ना।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

(१०)

गर चोरी करते आ गई ग्वालिन कोई वहाँ,
और उसने आ पकड़ लिया तो उससे बोले वाँ।
'मैं तो तेरे दहीकी उड़ाता था मक्खियाँ,
खाता नहीं मैं उसको, निकाले था चींटियाँ।'
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन॥

१—यथायोग्य पालन किया। २—अत्यन्त महान्। ३—जगत्। ४—सामर्थ्य। ५—शब्दोंमें अङ्कित। ६—चारपाईके डंडे।

(११)

गुस्सेमें कोई हाथ पकड़ती जो आनकर,
तो उसको वह स्वरूप दिखाते थे मुर्लीधर।
जो आपी लाके धरती वो माखन कटोरीभर,
गुस्सा वो उसका आनमें[11] जाता वहाँ उतर।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(१२)

उनको तो देख ग्वालिनें जो जान पाती थीं,
घरमें इसी बहानेसे उनको बुलाती थीं।
जाहिरमें उनके हाथसे वे गुल[10] मचाती थीं,
परदे[11] सभी वो कृष्णकी बलिहारी जाती थीं।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(१३)

कहती थीं दिलमें, दूध जो अब हम छिपायेंगे,
श्रीकृष्ण इसी बहाने हमें मुँह दिखायेंगे।
और जो हमारे घरमें ये माखन न पायेंगे,
तो उनको क्या गरज[12] है वो काहेको आयेंगे।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(१४)

सब मिल जसोदा पास यह कहती थीं आके, बीर[13]
अब तो तुम्हारा कान्हा हुआ है बड़ा शरीर[14]।
देता है हमको गालियाँ और फाड़ता है चीर,
छोड़े दही न दूध, न माखन मही[15] न खीर।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(१५)

माता जसोदा उनकी बहुत करतीं मिंतियाँ,
औ कान्हको डरातीं उठा मनकी[16] साँटियाँ।
तब कान्हजी जसोदासे करते यही बयाँ,
'तुम सच न मानो, मैया! ये सारी हैं झूठियाँ।'
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(१६)

'माता, कभी ये मुझको पकड़कर ले जाती हैं,
औ गाने अपने साथ मुझे भी गवाती हैं।
सब नाचती हैं आप मुझे भी नचाती हैं,
आपी तुम्हारे पास ये फरियादी[17] आती हैं।'
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(१७)

'मैया, कभी ये मेरी झगुलिया छिपाती हैं,
जाता हूँ राहमें तो मुझे छेड़े जाती हैं।
आपी मुझे रुठाती हैं, आपी मनाती हैं,
मारो इन्हें, ये मुझको बहुत-सा सताती हैं।'
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(१८)

इक रोज मुँहमें कान्हने माखन छिपा लिया,
पूछा जसोदाने तो वहाँ मुँह बना दिया।
मुँह खोल तीन लोकका आलम[18] दिखा दिया,
इक आनमें दिखा दिया और फिर भुला दिया।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(१९)

थे कान्हजी तो नंद-जसोदाके घरके माह[19],
मोहन नवलकिशोरकी थी सबके दिलमें चाह।
उनको जो देखता था, सो करता था वाह-वाह,
ऐसा तो बालपन न किसीका हुआ है आह।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(२०)

राधारमनके यारो अजब जाये गौर थे,
लड़कोंमें वो कहाँ हैं, जो कुछ उनमें तौर[20] थे।
आपी वो प्रभु नाथ थे, आपी वो दौर[21] थे,
उनके तो बालपनमेंही तेवर[22] कुछ और थे।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

८–क्षण। ९–प्रत्यक्षमें। १०–हल्ला। ११–मन-ही-मन। १२–स्वार्थ। १३–बहिन। १४–नटखट। १५–छाछ। १६–भारी। १७–शिकायत लेकर। १८–दृश्य। १९–चन्द्रमा। २०–रंग-ढंग। २१–समयका फेर। २२–रोषपूर्ण हाव-भाव।

(२१)

होता है यों तो बालपन हर तिफ़्ल[23] का भला,
पर उनके बालपनमें तो कुछ औरी भेद था।
इस भेदकी, भला, जो किसीको खबर है क्या;
क्या जाने अपनी खेलने आये थे क्या कला।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

(२२)

सब मिलके, यारो, कृष्ण-मुरारीकी बोलो जै,
गोविंद-छैल-कुंज-बिहारीकी बोलो जै।
दधिचोर, गोपीनाथ, बिहारीकी बोलो जै,
तुम भी 'नज़ीर' कृष्ण-मुरारीकी बोलो जै।
ऐसा था बाँसुरीके बजैयाका बालपन,
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण-कन्हैयाका बालपन ॥

—नज़ीर

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कर्तव्यनिष्ठ पिता-पुत्र

'कर्नल ! तुम्हारा पुत्र मैनुअल पकड़ लिया गया है। वह हमारे पास बंदीके रूपमें है। तुम आत्मसमर्पण कर दो, किलेके फाटक खोल दो, वरना तुम्हारे पुत्रको गोलीसे उड़ा दिया जायगा।' कम्युनिस्ट दलके नेता टेलीफोनपर कर्नल मास्करेडोसे कह रहे थे। उनकी वाणीमें बड़ा गर्व था।

कर्नल मास्करेडो एक वीर पुरुष थे। उन्होंने दृढ़तासे उत्तर दिया—'आपकी धमकीसे मैं कर्त्तव्यसे विचलित नहीं हो सकता। आप अपने बंदीके साथ यथेच्छ व्यवहार करनेमें स्वतन्त्र हैं।'

स्पेनमें भीषण गृहयुद्ध छिड़ा हुआ था। कम्युनिस्ट दल बहुत शक्तिसम्पन्न था; परंतु देशके सेनानायकको जब खबर मिली, तब उसने तत्काल भोजन-सामग्री तथा गोला-बारूदका समुचित प्रबन्ध करके पर्याप्त सेनाको टोलेडो नगरके किलेमें एकत्रित कर लिया और किलेका द्वार बंद कर दिया। कम्युनिस्ट दलने किलेपर धावा बोल दिया, पर वे किलेका कुछ भी नहीं बिगाड़ सके। आक्रमण-पर-आक्रमण हो रहे थे, पर सब व्यर्थ। कर्नल मास्करेडोका पुत्र मैनुअल मैड्रिड नगरमें पढ़ रहा था। कम्युनिस्टोंने उसे बंदी बना लिया और उसके जीवन-पर विजय पानेकी पूर्ण आशा कर बैठे; परंतु कर्नल मास्करेडोका टेलीफोनपर उत्तर सुनकर कम्युनिस्ट दलका नेता दंग रह गया। एक पिता अपने पुत्रके जीवनके लिये इस प्रकार निरपेक्षभावसे बोल सकता है, उन्हें इसकी आशा नहीं थी। उसने सोचा—'कर्नलको यह विश्वास नहीं हुआ होगा कि उनका पुत्र मैनुअल बंदी हो गया। दूसरे, पुत्रकी करुण-प्रार्थनासे पिताका वज्रहृदय पिघल जाता है।' ऐसा विचार करके उसने कर्नलको पुनः फोनपर कहा—'तुम इस भ्रममें न रहो कि मैनुअल बंदी नहीं है। लो, तुम अपने पुत्रसे स्वयं बात कर लो।'

मैनुअलने टेलीफोन हाथमें लिया और बोला—'पिताजी ! मैं मैनुअल बोल रहा हूँ। मैं अपने विद्यालयमेंसे बंदी बनाकर यहाँ ले आया गया हूँ और भीषण यन्त्रणा भोग रहा हूँ। मुझे अन्तिमरूपमें यह कह दिया गया है कि यदि तुम्हारे पिता किलेका फाटक नहीं खोलेंगे तो तुम गोलीसे उड़ा दिये जाओगे। पिताजी ! अब मेरा जीवन आपके हाथ है !'

कर्नल मास्करेडोने अपने पुत्र मैनुअलकी आवाज पहचान ली। पुत्रकी करुण वाणीने उनके हृदयको स्पर्श किया, पर कर्तव्यपालनकी दृढ़ताके सामने वात्सल्यकी लहर विलीन हो गयी। उन्होंने बड़ी गम्भीर वाणीमें दृढ़ताके साथ उत्तर दिया—'बेटे ! मेरे प्यारे बेटे ! तुम मेरा कर्त्तव्य जानते हो और अपना भी। मातृभूमिके लिये सत्पुत्रकी भाँति बलिदान होनेके लिये तैयार रहो; परमपिता तुम्हारे साथ हैं और सदा रहेंगे।'

वीर पिताका पुत्र भी वीर था। पुत्रने उत्तर दिया—'पिताजी ! आप मेरी प्रार्थनाको अनसुनी कर दें और प्रसन्नताके साथ अपने कर्त्तव्यका पालन करें।' कम्युनिस्ट दलके नेता पिता-पुत्रकी बात सुन रहे थे; पर विजयकी लालसासे वे इतने प्रमत्त हो रहे थे कि वे कर्नल मास्करेडो एवं उनके पुत्रकी बलिदान-भावनाका आदर नहीं कर सके।

उन्होंने तत्काल आज्ञा दी और मैनुअल गोलीसे उड़ा दिया गया।

कर्नल मास्करेडो अपने कर्तव्यपर अटल रहे। संघर्ष जारी रहा। कम्युनिस्ट दल किलेको तोड़नेमें असफल रहा। अन्तमें छः मास होते-होते भगवान्ने कर्नल मास्करेडोकी सहायता की और कम्युनिस्ट दल खदेड़ दिया गया।

(२)

कृतज्ञताकी सुवास

थोड़े दिन पूर्व मेरे एक मित्रने अपने जीवनकी एक अविस्मरणीय घटना सुनायी, उसे अपने शब्दोंमें मैं यहाँ दे रहा हूँ।

एक अफसरकी हैसियतसे जब वे स्टेशनपर उतरे थे, ऑफिसके ८-१० कर्मचारियोंने उनका भावपूर्ण स्वागत किया था और पुष्पहारोंका ढेर लग गया था। ऑफिसमें भी हर समय उनको कोई तकलीफ न हो, इसका खयाल सब कोई रखते थे। पूरा ऑफिस-स्टाफ उनपर इस प्रकार मँडराया रहता था, जिस प्रकार मिठाईपर मक्खियाँ।

तीन वर्षके बाद जब मेरे मित्रका स्थानान्तरण हुआ, तब उन्होंने अपने ऑफिस-कर्मचारियोंको सामान लदवाने आदिमें मदद करनेके लिये घरपर बुलाया, किंतु उनमेंसे एक भी कर्मचारी मदद करनेके लिये नहीं आया। विदाके समय रेल-स्टेशनपर भी कोई उपस्थित नहीं हुआ।

गाड़ी रवाना होनेसे पाँच-सात मिनट पूर्व एक व्यक्तिको पुष्पमाला लेकर आता हुआ देखकर वे नीचे खड़े रह गये। उसने पुष्पमाला पहनाते हुए कहा—'साहब, क्षमा कीजियेगा, मुझे ऑफिस छोड़नेमें आज देर हो गयी।' आनेवाला एक चपरासी था।

'ऑफिसके और कर्मचारी.......?'

'वे नहीं आयेंगे, साहब!'—चपरासी बोला—'वे तो नये आनेवाले साहबके स्वागतकी तैयारीमें लगे हैं।'

'तो फिर तू क्यों आया?' मित्रने प्रश्न किया। 'मेरे पास आज न सत्ता है, न कुर्सी! अब मैं तेरा साहब भी तो नहीं हूँ?'

'आप यह क्या कह रहे हैं, साहब!'—चपरासीके शब्दोंमें मौन वेदना थी। वह पुनः बोला—'एक अच्छे अफसरकी हैसियतसे आपका स्थान मेरे हृदयमें विद्यमान है और रहेगा। आपने अपने साधु-स्वभावसे हम सभीको कष्ट नहीं दिया था। मैं आपके स्नेह एवं उपकारोंको भूल नहीं सकता, दूसरे चाहे भूल जायँ।'

अपनी बात पूरी करते हुए मेरे मित्रने कहा—'चपरासी भाईकी दी हुई पुष्पमालाकी सुगन्धसे मेरा हृदय सुवासित हो गया।'

सचमुच, कृतज्ञताकी सुवास ऐसी ही प्रभावोत्पादिनी होती है।

'अखण्ड आनन्द' —चन्द्रकान्त द्विवेदी

(३)

साधु-व्यवहार

संतका व्यवहार लोकातीत होता है। उसकी अपनी कोई माँग नहीं होती और वह दूसरेकी माँगको पूरा करनेके लिये सदा तत्पर रहता है। भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार गृहस्थके रूपमें रहते हुए एक सच्चे संत थे। उनके जीवनकी अनेक घटनाएँ हैं, जहाँ उन्होंने दूसरोंकी उचित-अनुचित—सभी प्रकारकी माँगोंका आदर किया है।

अप्रैल, सन् १९६८ की बात है—श्रीभाईजी अपने परिवारसहित सत्सङ्गके लिये गीताभवन, स्वर्गाश्रम जा रहे थे। लखनऊ स्टेशनपर उनके लिये देहरादून एक्सप्रेसमें हरिद्वारतकके लिये चार प्रथम श्रेणीकी सीटोंकी एक केबिन आरक्षित करायी गयी थी। जब गाड़ी स्टेशनपर पहुँची और श्रीभाईजीके साथी डिब्बेमें घुसे, तब उन्होंने देखा—एक शिक्षित भद्र पुरुष सपरिवार उनके लिये आरक्षित केबिनमें बैठे हैं। श्रीभाईजीके साथके लोगोंने उन महाशयको केबिन खाली करनेके लिये कहा, किंतु पढ़े-लिखे होनेपर भी उन्होंने केबिन खाली करना अस्वीकार कर दिया। उसका हेतु पूछनेपर उन्होंने बताया कि उनके नामसे 'सी' केबिन आरक्षित है और चूँकि यह 'सी' केबिन है, अतएव वे उसे खाली नहीं करेंगे। श्रीभाईजीके व्यक्तियोंने उनसे प्रार्थना की—'लखनऊसे दो कम्पार्टमेंट हरिद्वारके लिये लगते हैं। आपका 'सी' केबिन दूसरे कम्पार्टमेंटमें है, इसमें नहीं; पर वे कुछ भी सुननेको तैयार नहीं हुए। श्रीभाईजीके व्यक्ति रेलवे अधिकारियोंको बुलाने जा रहे थे कि श्रीभाईजी डिब्बेमें प्रविष्ट हुए। जब उन्हें पता

चला कि केबिनके लिये विवाद हो रहा है; तब वे पूरी परिस्थिति समझे बिना ही अपने साथवालोंपर बिगड़ खड़े हुए—'यात्रामें दूसरोंकी सुख-सुविधापर ध्यान नहीं देते, मेरे लिये सुविधा करना चाहते हो। दूसरोंको असुविधा होनेसे मुझे जो हृदयमें कष्ट होगा, उसकी तुमलोगोंको कल्पना नहीं है। जब एक केबिनमें एक महाशय सपरिवार बैठे हैं, तब तुमलोगोंको उसमें क्यों प्रविष्ट होना चाहिये ?' श्रीभाईजीके सेवकने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—"हमलोगोंके नामसे यह केबिन आरक्षित है। इन महाशयके लिये इसी प्रकारकी दूसरी केबिन दूसरे कम्पार्टमेंटमें है। हम इनसे यही प्रार्थना कर रहे हैं—'आप भूलसे दूसरे कम्पार्टमेंटके 'सी' केबिनमें आ गये हैं। लाइये, आपका सामान अपने कुलियोंद्वारा उस कम्पार्टमेंटके 'सी' केबिनमें भेज दें।' हम इनके साथ तनिक भी अभद्र व्यवहार या ज्यादती नहीं कर रहे हैं।" श्रीभाईजी पूरी स्थितिको समझ गये, किंतु उनका संत-हृदय इस बातको स्वीकार नहीं कर सका कि जबतक वे सज्जन अपनी भूल समझकर स्वयं जानेको तैयार न हों, हमलोग उस केबिनमें घुसकर उन्हें वहाँसे हटनेकी प्रार्थना करें और स्वयं केबिनके बाहर गैलरीमें खड़े हो गये। संयोगसे कानपुरकी एक बहन भी उसी गाड़ीसे हरिद्वार जा रही थी। उनके नामसे 'बी' केबिन आरक्षित था। जब उसने देखा कि श्रीभाईजी अपनी धर्मपत्नी आदिके साथ गैलरीमें खड़े हैं, तब उसने प्रार्थना की—'आप मेरी केबिनमें आकर बैठ जायँ।' श्रीभाईजीने पहले तो इसे स्वीकार नहीं किया, पर जब सबने आग्रह किया, तब वे उस बहनकी केबिनमें अपनी धर्मपत्नी आदिके साथ जाकर बैठ गये। परंतु श्रीभाईजीका सब सामान गैलरीमें पड़ा रहा। साथवाले व्यक्तियोंको इससे बड़ा कष्ट हुआ और उनका बहुत समय इस विवादमें लग गया। परिणाम यह हुआ कि भाईजीके परिवारकी एक बहन, साथका एक नौकर तथा बहुत-सा सामान प्लेटफार्मपर रह गया और गार्डने सीटी दे दी तथा गाड़ी चल पड़ी। परिवारकी बहनके प्लेटफार्मपर रह जानेकी बात जब साथियोंने भाईजीको बतायी, तब उन्हें बड़ा कष्ट हुआ; किंतु वे इस बातसे निश्चिन्त थे कि लखनऊके अनेकों श्रद्धालु, जो उन्हें विदा करनेके लिये आये थे, उस बहनको सँभाल लेंगे तथा उसे सुरक्षित किसी दूसरी गाड़ीसे हरिद्वार भेज देंगे।

गाड़ी छूटनेपर सेवकने श्रीभाईजीको 'सी' केबिनवाले महानुभावकी नासमझी तथा हठधर्मीको समझानेकी चेष्टा की, पर श्रीभाईजी इस बातको स्वीकार ही नहीं कर पाये कि उनके साथवालोंको उन महाशयके साथ तनिक भी जबर्दस्ती करनी चाहिये थी। श्रीभाईजी बहुत देरतक सेवकको समझाते रहे—'जहाँ विवाद हो, वहाँ अपनी माँगका त्याग कर देना चाहिये। सुख-सुविधाका मनसे सम्बन्ध है; हमलोग जैसे-तैसे बैठकर चले जायँगे। तुमने उन महाशयसे बार-बार कहा-सुना है, तुम इसके लिये जाकर उनसे माफी माँगो। चलो, मैं उनसे माफी माँगता हूँ।'—इतना कहकर वे उठ खड़े हुए उन महाशयके पास जानेके लिये; पर सेवकने अनुनय-विनय करते हुए स्पष्ट किया—'उन महाशयके साथ मैंने तनिक भी अभद्र व्यवहार नहीं किया है। वे बड़े मजेमें अपना केबिन बंद किये बैठे हैं।'

इसी बीच हरदोई स्टेशन आ गया। कंडक्टर महोदयने उन महाशयकी टिकटोंकी जाँच की और उन्हें समझाया कि 'आपका आरक्षण दूसरे कम्पार्टमेंटमें है, इसमें नहीं।' अब उनको बाध्य होकर दूसरे डिब्बेमें जाना पड़ा। श्रीभाईजीने अपने सेवकसे कहा—'उनका सब सामान कुलियोंद्वारा उस डिब्बेमें भिजवा दो और कुलियोंको पैसा अपने पाससे दे दो तथा उनसे क्षमा माँग लो कि आपको डिब्बा परिवर्तन करनेका कष्ट उठाना पड़ रहा है।' सेवकने वही किया। इतना ही नहीं, जब वे सज्जन डिब्बेसे उतरने लगे, तब स्वयं श्रीभाईजीने उनसे कहा—'आपको असुविधा हुई, क्षमा कीजियेगा।'

भूल करनेवालेसे क्षमा माँगना श्रीभाईजीका ही काम था। श्रीभाईजीके इस साधु-व्यवहारको देखकर साथवाले मुग्ध हो गये।

(४)

स्वदेश-रक्षाके समक्ष निजी मानापमान गौण है

पूनाके पेशवा बाजीरावके पुत्र नानासाहबका विजयादशमीके उपलक्षमें विशाल दरबार लगा है। प्रतिवर्षकी भाँति इस वर्ष भी दरबारमें सभी सूबेदार आमन्त्रित किये गये हैं। दरबारका कार्य आरम्भ होता है, सूबेदारगण पारी-पारीसे उठते हैं तथा पेशवाके सम्मुख आकर, थोड़ा झुककर, दाहिने हाथसे परम्परागत ढंगसे पेशवाकी अभ्यर्थना करके पुनः अपने स्थानपर जाकर बैठ जाते हैं।

बड़ौदाके सूबेदार दामाजी गायकवाड़की पारी आती है। वे वीरोचित शानसे उठते हैं, सिंहासनके सम्मुख जाते हैं,

थोड़ा झुकते भी हैं, पर दायाँ हाथ उठानेके बदले अपना बायाँ हाथ उठाकर वे पेशवाकी अभ्यर्थना करते हैं। पेशवाको यह समझते देर नहीं लगती है कि दामाजीसे उनके सूबेकी आधी जमीन छीन लेनेकी यह प्रतिक्रिया है।

पेशवा सोच तो यह रहे थे कि दामाजी अभ्यर्थनाके समय दण्डस्वरूप पुष्कल धनराशि लायेंगे, अथवा दीनभावसे अनुनय-विनय करेंगे, पर अपनी आशाके विपरीत दामाजीको बायें हाथसे अभ्यर्थना करते देखकर पेशवाका शरीर क्रोधसे काँपने लगा, नेत्र अंगारेके सदृश लाल हो गये तथा होठ फड़कने लगे। पेशवाके हृदयमें क्रोधाग्नि जल रही थी, पर दामाजीकी देशभक्ति एवं शौर्यका स्मरण करके वे कुछ बोले नहीं। दरबार स्तब्ध रह गया। दरबारियोंकी दृष्टि दामाजीपर केन्द्रित हो गयी, पर दामाजीके चेहरेपर शिकनतक न आयी। दरबार बिना किसी अनिष्टके सम्पन्न हो गया।

अब तो प्रतिवर्ष दशहरेके दरबारमें दामाजी गायकवाड़ अपना बायाँ हाथ उठाकर ही पेशवाकी अभ्यर्थना करते तथा पेशवा भी हर बार अपमानका कड़ुआ घूँट पीकर रह जाते।

कालचक्र द्रुतगतिसे चलता रहा। पूना चारों ओर शत्रुओंसे घिर गया। सन् १७६० में पानीपतमें निर्णायक युद्ध होनेवाला था। पेशवा नानासाहब भी अपने मुट्ठीभर सैनिकोंके साथ शत्रुसे लोहा लेनेके लिये कटिबद्ध थे। युद्धकी तैयारी पूर्ण हो चुकी थी।

नानासाहबके चचेरे भाई सदाशिवराव भाऊके सेनापतित्वमें मराठा सैनिक पेशवासे अन्तिम विदा लेनेके लिये एकत्रित हुए। आजके दरबारकी शोभा देखते ही बनती थी। वीरवेषमें मराठा सैनिकोंके चेहरे चमक रहे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था—हर एक मराठा वीर मातृभूमिकी बलिवेदीपर अपने-आपको समर्पित करनेके लिये कटिबद्ध है।

दरबार आरम्भ हुआ। एक-एक करके सूबेदार उठते, पेशवाकी अभ्यर्थना करते तथा ओजस्वी भाषणके द्वारा राष्ट्ररक्षार्थ मर मिटनेका अपना निश्चय बताते।

सूबेदार दामाजीकी पारी आयी। वे धीरे-से उठे, राजसिंहासनके सामने गये, थोड़े-से झुके, पर उन्होंने आज बायाँ हाथ उठानेके स्थानपर अपना दाहिना हाथ उठाकर परम्परागत ढंगसे पेशवाकी अभ्यर्थना की तथा निःशब्द यथास्थान बैठ गये।

पेशवा सजल नेत्रोंसे दामाजीकी ओर देख रहे थे। दरबारमें उपस्थित सभी सरदार भावातिरेकसे रोमाञ्चित हो उठे।

दामाजी गायकवाड़की इस निःशब्द भाव-भङ्गिमाने यह स्पष्ट कर दिया कि स्वदेशरक्षाके समक्ष निजी मानापमान गौण हैं।

(५)

पानी न पीनेकी प्रतिज्ञा

मैं नड़ियाद (गुजरात) का निवासी हूँ, किंतु मेरी जन्मभूमिके गाँवका नाम है—‘सरसवणी’। मुझे कभी-कभी घर और खेतकी देखभालके लिये जन्मभूमि जाना पड़ता है। वर्षा ऋतुमें देहातोंमें जानेवाली मोटर-बसें बंद हो जानेके कारण पैदल चलना पड़ता है। सन् १९५९की वर्षा ऋतुमें एक बार मेरा सरसवणी जाना हुआ। दो-तीन मील जानेपर मुझे पानी पीनेकी इच्छा हुई। नजदीकके खेतमें कुआँ था। खेतमें एक किसान काम कर रहा था। मैंने उससे रस्सी और बाल्टी माँगी तो उसने स्वयं आकर पानी खींचकर मुझे पिलाया।

फिर मौसम और खेतके बारेमें बातचीत होने लगी। बातों-ही-बातोंमें कुएँकी भी बात निकल पड़ी। मैंने पूछा—‘अभी-अभी कुआँ बनवाया है क्या? पानी बहुत मीठा है इसका।’

किसान बोला—‘हाँ, इसी वर्ष कुआँ खुदवाया है। आनेवाले सभी व्यक्ति इसके पानीकी प्रशंसा करते हैं, किंतु पानी कैसा है, इसका मुझे पता नहीं है।’

‘क्यों?’—मैंने आश्चर्यसे प्रश्न किया। ‘खेत और कुआँ तुम्हारे होते हुए भी तुम्हें पता कैसे नहीं?’

‘मैंने कुएँके लिये कर्ज जो लिया है’—किसान बोला। गाँवके बनियेको जबतक कर्जका रुपया पूरा न भर दूँ, तबतक मैंने संकल्प किया है कि कुएँका पानी मुँहसे नहीं लगाऊँगा। प्रायः रुपया लौटा दिया गया है, पर अब भी थोड़ा ऋण बाकी है। अतः मैं कुएँका पानी कैसे पी सकता हूँ?’

मैंने उस ईमानदार किसानको मानसिक वन्दन किया। मुझे प्रसन्नता हुई कि वर्तमान समयमें जहाँ नेकी और ईमानदारीका अभाव दिखायी पड़ रहा है, वहाँ इतना सूक्ष्म विचार करनेवाला व्यक्ति भी है। मुझे अनुभव हुआ—जगत्के खारे समुद्रमें एक मीठा झरना भी बह रहा है। इसका संतोष लेकर मैं आगे चल पड़ा।

—अम्बालाल रा...

‘जनकल्याण’

सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे नम्र-निवेदन

इधर 'कल्याण'के साधारण अङ्कोंके लिये रचनाएँ बहुत प्राप्त हो रही हैं। यह 'कल्याण' के प्रति कृपा एवं प्रीति रखनेवाले लेखक महानुभावोंका सौजन्य है कि वे अपनी रचनाएँ निःस्वार्थभावसे भेजते हैं; परंतु हमें इस बातका बड़ा ही संकोच है कि हम लेखक महानुभावोंके श्रम, प्रतिभा एवं प्रीतिका समुचित आदर नहीं कर पाते। प्रथम तो 'कल्याण' के साधारण अङ्कोंकी पृष्ठ-संख्या सीमित है; दूसरे, 'कल्याण' एक विशुद्ध आध्यात्मिक पत्र होनेके नाते इसमें उन्हीं रचनाओंका उपयोग हो पाता है, जिनमें भगवद्विश्वास, भगवत्प्रेमके साथ-साथ दैवी सम्पदाका प्रतिपादन सुन्दर एवं सुव्यवस्थितरूपमें हुआ हो। रचनाओंके प्रकाशित न होनेपर लेखक महानुभावोंके मनमें विचार होता है और हम भी बड़े ही धर्म-संकटमें पड़ जाते हैं। अतएव सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे बड़ी ही विनम्रता एवं आत्मीयतासे यह प्रार्थना है कि वे ही महानुभाव रचनाएँ भेजनेका कष्ट करें, जिनका विषयपर अधिकार हो तथा जो अपने विचार परिमार्जित भाषामें सुव्यवस्थितरूपसे व्यक्त करनेकी क्षमता रखते हों। 'कल्याण' किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग एवं विचार-प्रणाली आदिके प्रति उपेक्षा, अश्रद्धा अथवा हीनभावनाके प्रचार-प्रसारको प्रश्रय नहीं देता। अतएव लेखक महानुभावोंको अपने लेखोंमें इस प्रकारके विचारोंसे सर्वथा विरत रहना चाहिये।

'पढ़ो, समझो और करो' स्तम्भके अन्तर्गत प्रकाशित होनेके लिये प्रतिदिन अनेकों घटनाएँ आती हैं। परंतु उनमें अधिकांश घटनाओंमें चामत्कारिक चीजें रहती हैं। लेखक महानुभावोंने देखा होगा कि इस स्तम्भमें हम उन्हीं घटनाओंको महत्त्व देते हैं, जिनमें मानव-हृदयके उदात्त भावों—क्षमा, दया, औदार्य, सरलता आदिका सुन्दर और प्रेरणाप्रद आदर्श हो। अतएव घटनाओंको भेजनेवाले महानुभावोंको अपनी रचना भेजनेके पूर्व उसे इस कसौटीपर स्वयं परख लेना चाहिये, अन्यथा उसका उपयोग 'कल्याण' में नहीं हो पायेगा और उनका श्रम एवं डाकखर्च व्यर्थ चला जायगा। हमारे पास अप्रकाशित बहुत-सी घटनाएँ रखी हैं। इसीसे विवश होकर यह निवेदन किया जा रहा है।

'कल्याण'के प्रकाशनमें जो महानुभाव किसी भी रूपमें अपना कृपापूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं, हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं। 'कल्याण' सभीकी अपनी वस्तु है। अतएव सभीको इसके प्रति आत्मीयता रखनी ही चाहिये।

—चिम्मनलाल गोस्वामी,
सम्पादक

श्रीकृष्णका स्तवन

नव-नीरद-नीलाभ कृष्ण तन परम मनोहर ।
त्रिभुवनमोहन रूपराशि रमणीय सुभग वर ॥
कस्तूरी-केसर-चन्दन-द्रव-चर्चित अनुपम ।
अङ्ग सकल सच्चिन्मय, सुषमामय, सुन्दरतम ॥
कीर-चञ्चु-निन्दक निरुपम नासा मणि राजत ।
कुञ्चित केश-कलाप कृष्ण लख अलि-कुल लाजत ॥
सिर चूड़ा, शिखिपिच्छ, मुकुट मणिमय अत्युज्ज्वल ।
कर्ण-युगल शुचि कर्णिकार-कुण्डल अति झलमल ॥
कुटिल भ्रुकुटि, दृग-युगल विशद विकसित अम्बुजसम ।
रुचिर भङ्गिमा, ललित त्रिभङ्गी, मध्य सुबंकिम ॥
पीत बसन तडिताभ, दशन द्युतिमय अरुणाधर ।
मुख प्रसन्न, मुसकान मधुर, मुरलिका मधुर कर ॥
भक्त-भक्त नित सेवक-भक्तानुग्रह-कातर ।
प्रेम-रसिक रस-प्रेम-सुधा-आस्वादन-तत्पर ॥
व्रज-प्रिय व्रज-जन-सखा-स्वामि-सेवक तन-मन-धन ।
नन्द-यशोदा-तनय बाल-व्रजरमणी-जीवन ॥
भगवत्ता, सत्ता, ईश्वरता सारी तजकर ।
व्रज-जन-सुख-हित हेतु द्विभुज निज-इच्छा-वपुधर ॥
भाद्र-अष्टमी, कृष्ण पक्ष, बुधवार अनुत्तम ।
शुभ रोहिणि नक्षत्र, मध्य-रजनी मङ्गलतम ॥
हुए प्रकट श्रीनन्द-यशोदाके प्रिय सुत बन ।
निज-स्वरूप-वितरण हित बनकर सबके निजजन ॥

'श्रीभाईजी'

कल्याण

* * *

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, सितम्बर १९७२

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार। सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

युगलछवि

कल्याण

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥
(रामरक्षास्तोत्र, ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, सितम्बर १९७२ { संख्या ९ / पूर्ण संख्या ५५०

श्रीयुगलवरसे प्रार्थना

दुहुनि की प्रीति अनादि, अनोखी ।
परम मधुर मूरति सनेह की; चिदानंदमय चोखी ॥
मन-अचननि ते परे दिव्य दंपति अनादि अति सोहनि ।
पटतर नहिं कोउ, भई, न होइहै, जोड़ी मोहन-मोहनि ॥
प्रेमी-प्रेमास्पद दोउ नित ही, नित्य एक, द्वै देही ।
नित्य रास-रस-मत्त, मत्ततारहित सुचारु सनेही ॥
व्रज-निकुंज प्रगटे दोउ रसमय, रसिक-जननि सुख हेतु ।
करत नित्य लीला तहँ सुललित लोकोत्तर रसकेतु ॥
सेवक मोहि करौ दोउ रसनिधि, करि अति नेह अकारन ।
राखौ चरननि मैं नित अपुनें, टारि बिष-बिषय-निवारन ॥ 'भाईजी'

सभीके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है—पाप क्या है, पुण्य क्या है? किसी भी देशका, किसी भी जातिका, किसी भी मतका, किसी भी सम्प्रदायका व्यक्ति हो, उसके सामने यह प्रश्न आता ही है। अतएव यदि पाप और पुण्यकी कोई ऐसी परिभाषा करें, जो सभी देशोंमें, सभी जातियोंमें, सभी मतोंमें, सभी सम्प्रदायोंमें समानरूपसे समादृत हो, तो वह है—'हमारे जिस कर्मसे हमारा और दूसरोंका परिणाममें हित होता हो, वह पुण्य है और हमारे जिस कर्मसे हमारा और दूसरोंका परिणाममें अहित होता हो, वही पाप है।'

'कर्म'का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसके अन्तर्गत हम सभी कर्मोंको ले सकते हैं—चाहे वह व्यापार हो, नौकरी हो, डाक्टरी हो, वकालत हो, न्यायाधीशका कार्य हो, देशकी सेवा हो, घरका काम हो, लेन-देन हो, खान-पान हो, उठना-बैठना, सोना आदि-आदि कुछ भी हो।

इस परिभाषामें दो शब्द मुख्य हैं—पहला 'दूसरोंका' और दूसरा 'परिणाममें'। बच्चेको माँ डाँटती है, गुरु शिष्यपर शासन करता है; इन दोनों प्रसङ्गोंमें माँ और गुरुका कर्म बड़ा कठोर प्रतीत होता है, पर उससे परिणाममें बच्चेका तथा शिष्यका हित होता है। चूँकि उस क्रियाके द्वारा दूसरेका हित हुआ है, अतएव माँ और गुरुका भी उससे हित निश्चित है। यह शाश्वत सत्य है कि जिस किसी कर्मके द्वारा दूसरेका परिणाममें हित होगा, उससे हमारा अहित होगा ही नहीं और जिस किसी कर्मके द्वारा दूसरेका परिणाममें अहित होगा, उससे हमारा हित होगा ही नहीं।

कर्म करते समय जब हम अपने छोटे-से स्वार्थकी सीमामें आबद्ध होकर दूसरोंके हितको भूल जाते हैं, वहाँ कर्म पुण्य दिखायी देता हुआ भी पाप हो जाता है। ऐसी स्थितिमें तीन तरहकी वृत्तियाँ होती हैं—पहली—दूसरेका हित हो यह तो ठीक है; परंतु यदि न होता हो तो हम क्या करें; हमें तो अपना हित देखना है। दूसरी वृत्ति, जो पहली वृत्तिसे नीची श्रेणीकी है, यह है कि हमारी क्रियासे दूसरोंका अहित होता है या होगा—यह हम जानते हैं; पर इसमें हमारा हित हो रहा है, तब हम उनके अहितकी परवा क्यों करें। तीसरी इससे भी नीची वृत्ति यह है कि हमें दूसरोंका अहित करना है, दूसरेके अहितमें ही हमारा हित है। पर मङ्गलकारी वृत्ति यह है कि अपना नुकसान भी सहन करके हम दूसरेका हित करें।

वास्तवमें पाप और पुण्य किसी कर्मविशेषके नाम नहीं हैं, कर्मके केवल बाहरी स्वरूपसे उनकी संज्ञा निश्चित नहीं होती, भावानुसार कर्मकी संज्ञा होती है। एक व्यक्ति चाकूसे किसीके अङ्गको तनिक-सा आघात पहुँचाता है; दूसरी ओर एक सर्जन चाकू-कैंचीसे एक व्यक्तिका अङ्ग काटता है। दोनोंकी क्रियाएँ समान हैं, अपितु दूसरेकी क्रिया प्रथमसे अधिक तीव्र है; किंतु प्रथमकी क्रिया अहित-भावनासे प्रेरित होनेके नाते पापकी श्रेणीमें आती है और दूसरेकी क्रिया हित-भावनासे प्रेरित होनेके नाते पुण्यकी श्रेणीमें आती है। एक व्यक्ति किसीको मारनेका विधान करता है, दूसरी ओर एक न्यायाधीश न्यायासनपर बैठकर किसी अपराधीके लिये फाँसीका—दूसरेको मारनेका विधान करता है; पर भावके अनुसार पहलेकी क्रिया पाप है, दूसरेकी पुण्य।

संक्षेपमें पाप-पुण्यका यह विवेचन है। इसको हम गम्भीरतासे समझें और प्रत्येक क्रिया करनेके पूर्व उसे इस विवेचनकी कसौटीपर कस लें। यदि हम सचाईके साथ इस कसौटीपर अपनी क्रियाओंको परखकर कर्ममें प्रवृत्त हों तो निश्चय ही हम बड़ी सरलतासे पापसे बच सकते हैं और पुण्यके भागी हो सकते हैं। 'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

भगवान्‌को प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा कीजिये !

भगवान्‌की प्राप्ति इच्छासे ही होती है । इच्छा जहाँ यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य हुई कि भगवान् मिले । भगवान्‌को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है । जगत्‌के सभी प्राणी चाहते हैं कि सुख मिले, दुःख नहीं; किंतु अधिकांशको दुःखकी ही उपलब्धि होती है । अतएव जड-पदार्थोंके लिये इच्छा करना मूर्खता है; इच्छा करनेसे जड-पदार्थ प्राप्त नहीं होते । उनके लिये पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप प्रारब्ध चाहिये और वह अब हमारे हाथमें नहीं । पर भगवान्‌के लिये तीव्र इच्छा करनेपर वे अवश्य मिल सकते हैं । अतः भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिये और उसे यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिये ।

भगवान्‌के मिलनमें जो देर हो रही है, उसमें त्रुटि हमारी ही है । भगवान् तो मिलनके लिये नित्य आतुर हैं; बस, हममें वैसी इच्छा होनी चाहिये । भगवान्‌के मिलनकी इच्छाको जाग्रत् करनेके लिये एकान्तमें बैठकर करुणभावसे हृदय खोलकर रोना चाहिये । अपने अपराधोंको स्मरणकर गद्गद होकर भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये—'प्रभो ! आपके अतिरिक्त संसारमें मेरा और कौन है ? नाथ ! मैं आपके शरण हूँ, आप मेरी रक्षा करें ।' भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अपने सम्मुख होनेवाले मनुष्यके अनन्त जन्मोंके पापोंको उसी क्षण क्षमा कर देते हैं ।

अपने आत्माकी उन्नति उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ करनी चाहिये । कल हमने जो साधन किया, उससे आज तीव्र होना चाहिये । आजसे आनेवाले कलको और तीव्र होना चाहिये । इसी प्रकार प्रातःकालसे मध्याह्नके, मध्याह्नसे सायंकालके, सायंकालसे रात्रिके और रात्रिसे अगले दिन प्रातःकालके साधनमें क्रमशः तीव्रता रहनी चाहिये । घंटे-घंटेमें, फिर क्षण-क्षणके साधनमें उत्तरोत्तर तीव्रता होनी चाहिये । यदि इस प्रकारका प्रयत्न किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता ।

भगवान्‌के दर्शन प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है प्रबल चाहकी

प्रभुमें श्रद्धा-प्रेम बढ़े, उनका चिन्तन बना रहे, एक पलके लिये भी उनका विस्मरण न हो—ऐसा ही लक्ष्य हमारा सदा बना रहना चाहिये । हमें वे चाहे जैसे रक्खें और चाहे जहाँ रक्खें, उनकी स्मृति अटल बनी रहनी चाहिये । उनकी राजीमें ही अपनी राजी, उनके सुखमें ही अपना सुख मानना चाहिये । प्रभु यदि हमें नरकमें रखना चाहें तो हमें वैकुण्ठकी ओर भी नहीं ताकना चाहिये और नरकमें वास करनेमें ही परम आनन्द मानना चाहिये । सब प्रकारसे प्रभुकी शरण हो जानेपर फिर उनसे इच्छा या याचना करना नहीं बन सकता । जब प्रभु हमारे और हम प्रभुके हो गये, तब बाकी क्या रहा ? हम तो प्रभुके बालक हैं । माँ बालकके दोषोंपर ध्यान नहीं देती । उसके हृदयमें बालकके लिये अपार प्यार रहता है । प्रभु यदि हमारे दोषोंका खयाल करें तो हमारा कहीं पता ही न लगे । प्रभु तो इस बातके लिये सदा उत्सुक रहते हैं कि कोई रास्ता मिले तो मैं प्रकट होऊँ । किंतु हम लोग ही उनके प्रकट होनेमें बाधक हो रहे हैं । देखनेमें तो ऐसी बात नहीं मालूम होती, ऊपरसे हम उनके दर्शनके लिये लालायित-से दीखते हैं; परंतु भीतरसे उन्हें पानेकी लालसा कहाँ है ? मुँहसे हम भले ही न कहें कि 'अभी ठहरो'; परंतु हमारी क्रियासे यही सिद्ध होता है । प्रभुके प्रकट होनेमें विलम्ब सहन करना

ही उन्हें ठहराना है। प्रभुसे हमारा बिछोह इसीलिये हो रहा है कि उनके वियोगमें (बिछोहमें) हमें व्याकुलता नहीं होती। जब हम ही उनका वियोग सहनेके लिये तैयार हैं और कभी उनके वियोगमें हमारे मनमें व्याकुलता या दुःख नहीं होता, तब प्रभुको ही क्यों परवा होने लगी ? यदि हमारे भीतर तड़पन होती और इसपर भी वे न आते तो हमें कहनेके लिये गुंजाइश थी। इसीसे हम उनके बिना जी रहे हैं। इस हालतमें वे यदि न आयें तो इसमें उनका क्या दोष है। प्रकट होनेके लिये तो वे तैयार हैं; पर जबतक हमारे अंदर उत्सुकता नहीं होती, तबतक वे आयें भी कैसे। उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है प्रबल चाहकी। वह चाह कैसी होनी चाहिये, इस बातको प्रभु ही पहचानते हैं। जिस चाहसे वे प्रकट हो जाते हैं, वही चाह असली चाह समझनी चाहिये। अतः जबतक वे न आयें, चाह बढ़ती ही रहे। घड़ा भर जानेपर पानी अपने-आप ऊपरसे बह चलेगा।

मन-बुद्धिको भगवान्‌के काममें ही लगा देना चाहिये

जो मनुष्य भगवान्‌में अपने मनको लगा देते हैं, उनको निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १० । १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनको आदेश दिया—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥
(गीता १२ । ८)

'मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

भगवान् जब इतना निश्चित आश्वासन देते हैं, तब फिर हमारे मन-बुद्धि और क्या काम आयेंगे। इन दोनोंको इसी क्षणसे भगवान्‌के काममें ही लगा देना चाहिये।

बुद्धिको भगवान्‌में लगा देना यह है कि परमात्मा सब जगह समानभावसे और विज्ञान-आनन्दरूपसे विराजमान हैं, सब जगह आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दके सिवा और कुछ है ही नहीं—इस प्रकारके ध्यानमें स्थित रहना। इस प्रकारके ध्यानका फल अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति है। बुद्धिमें खूब अच्छी तरहसे यह निश्चय हो जाना चाहिये कि निराकाररूपमें सब जगह हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर समानभावसे केवल एक परमात्मा ही हैं।

बुद्धिके इस निश्चयके अनुसार मनसे मनन करना—मनको भगवान्‌में लगाना है। इसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है।

अपने भाव और क्रियाको उत्तम-से-उत्तम बनायें

जिनका किसीसे भी द्वेष नहीं, सबपर हेतुरहित दया और प्रेम है; जो क्षमाशील हैं; अहंकार और ममताका जिनमें अत्यन्त अभाव है; जिन्होंने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको वशमें करके भगवान्‌में ही लगा दिया है; जिनसे किसीको भी उद्वेग नहीं होता; जिनका हृदय इच्छा, भय, उद्वेग और आसक्तिका अत्यन्त अभाव होनेसे परम शुद्ध हो गया है; जो पक्षपातरहित और दक्ष हैं; जो संसारसे उदासीन और विरक्त हैं; जिनमें कर्मोंके कर्तापन और फलेच्छाका अत्यन्त अभाव है; हर्ष-शोकका भी जिनमें अत्यन्त अभाव है; जिनका वैरी-मित्रमें, शीत-उष्णमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें और मिट्टी-स्वर्णमें समानभाव है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, भाव, क्रिया और परिस्थितिमें जिनका समानभाव रहता है; जो

भगवान्के विधानमें हर समय संतुष्ट हैं, तथा घर और देहमें अभिमानसे रहित हैं; जिनकी बुद्धि स्थिर है और जो परमात्माके स्वरूपमें ही नित्य स्थित हैं—ऐसे भक्तियुक्त, सद्गुणोंसे सम्पन्न भगवान्के भक्त भगवान्को अत्यन्त प्रिय हैं।

इसलिये हमें चाहिये कि अपने भाव और क्रियाओंको उत्तम-से-उत्तम बनायें। वास्तवमें भाव उत्तम होनेसे क्रिया अपने-आप स्वाभाविक ही उत्तम होने लगती है, उसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। जो सर्वथा ईश्वरके ही शरण हो जाता है, अपने-आपको ईश्वरके समर्पण कर देता है, उसमें ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे उत्तम गुण स्वतः ही आ जाते हैं। अतः हमलोगोंको उत्तम गुण और उत्तम भावकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर निष्काम प्रेमभावसे उनका अनन्य चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार करनेपर ईश्वरकी कृपासे प्रमाद, आलस्य, भोग-वासना, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थ संकल्पोंका अत्यन्त अभाव एवं परम कल्याणकारक विवेक और वैराग्ययुक्त सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

परमात्माके गुण-प्रभाव महात्माओंके गुण-प्रभाव हैं

भगवान्को जो तत्त्वसे जानता है, वही 'महात्मा' है। प्रथम तो लाखों-करोड़ोंमें कोई एक महात्मा होता है, फिर उसका मिलना बहुत ही दुर्लभ है, मिलनेपर भी उसे पहचानना उससे भी कठिन है। महात्माओंके पहचाननेकी एक साधारण युक्ति यह है कि जैसे अग्निके समीप जानेसे जानेवालेपर अग्निका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है, जैसे सरकारके किसी सिपाहीको देखनेसे सरकारकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवान्के भक्तके दर्शनसे भगवान्की स्मृति होती है। जिनका सङ्ग करनेसे अपनेमें दैवी-सम्पदाके लक्षण आयें, जिनके सङ्गसे, जिनके साथ वार्तालाप करनेसे, दर्शनसे, स्पर्शसे आत्माका सुधार हो, अपनेमें भक्तोंके लक्षण प्रकट होने लगें, गुणातीत पुरुषोंके लक्षण आने लगें तो समझना चाहिये कि यह 'महापुरुष' है। जब हम महापुरुषोंका सङ्ग करनेके लिये जायँ, तब हम यह समझें कि हम एक ज्ञानके पुञ्जके सम्मुख जा रहे हैं—जैसे सूर्यके समीप जानेसे अन्धकार तो दूर भाग ही जाता है, साथ-ही-साथ अधिक-से-अधिक प्रकाश होता चला जाता है। हम देखते हैं कि जब प्रातःकाल सूर्य उदय होता है, तब ज्यों-ज्यों सूर्य नजदीक आता है, त्यों-ही-त्यों सूर्यके प्रकाशका अधिक असर पड़ता है। वैसे ही हम महात्माओंके जितने ही समीप होते हैं, उतना ही हमको अधिक लाभ मिलता है। वे एक ज्ञानके पुञ्ज हैं, उस ज्ञान-पुञ्जसे हमारे अज्ञानान्धकारका नाश होकर हमारे हृदयमें भी ज्ञान-सूर्यका प्राकट्य होता है। महात्माओंमें अद्भुत प्रभाव होता है। उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे पापोंका नाश और दुर्गुण-दुराचारोंका अभाव होकर सद्गुण-सदाचार आ जाते हैं। अज्ञानका नाश होकर हृदयमें ज्ञान आ जाता है, जिससे हमें सहज ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। यह उन महापुरुषोंका प्रभाव है, जो भगवान्के भेजे हुए अधिकारी पुरुष हैं, अथवा जो महापुरुष परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, यानी ब्रह्ममें मिल चुके हैं, सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे महात्मा परमात्मा ही बन जाते हैं। इसीलिये परमात्माके गुण-प्रभाव उनके गुण-प्रभाव हैं, यह समझना ही महात्माको तत्त्वसे समझना है। वास्तवमें महात्माका आत्मा परमात्मासे अलग नहीं है; पर हम मानते नहीं, उसे परमात्मासे भिन्न समझते हैं, इसीलिये परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं।

(संकलित)

एक महात्माका प्रसाद

परिस्थितिका सदुपयोग

[गताङ्क पृष्ठ १०६२ से आगे]

परिस्थितिका अर्थ है—कर्तव्यपालनका क्षेत्र; कर्तव्य-पालनका अवकाश । कर्तव्यपालनसे भिन्न परिस्थितिकी आवश्यकता नहीं और कर्तव्य पालनमें पराधीनता नहीं है; क्योंकि कर्तव्य एक-सा तो रहता नहीं, परिस्थितिके अनुसार बदलता रहता है । जिस परिस्थितिमें हमें जो करना चाहिये, उसमें कोई व्यक्ति पराधीन नहीं है । कल्पना करें कि इस समय मेरे सिरमें बड़े जोरकी पीड़ा हो रही है । आप कहेंगे कि आपका कर्तव्य है कि इसकी चिकित्सा करें और चिकित्साका साधन न हो तो यह भी तो मेरा कर्तव्य है कि उस पीड़ाको मैं धीरजके साथ सहन कर लूँ; क्योंकि पीड़ा सदैव तो रहेगी नहीं—पहले नहीं थी और आगे भी रहेगी नहीं । तो जो चीज सदैव नहीं रहेगी, उससे हम भयभीत हो जायँ और उसे बदलनेके लिये व्यर्थ प्रयास करें—यह बुद्धि-संगत कैसे है ? फिर यह तो सोचिये कि आपके पास उस परिस्थितिको बदलनेका पहला साधन क्या होगा ? पहला साधन होगा, उस परिस्थितिसे भयभीत न होना । आप पहले ही साधनको गलत कर देते हैं और भयभीत हो जाते हैं तो जो सामर्थ्य आपमें उस परिस्थितिका सदुपयोग करनेकी थी, वह सामर्थ्य भयसे नाश हो जाती है । यह बड़ी गम्भीरतासे सोचनेकी बात है कि जो व्यक्ति भयभीत रहता है, वह कभी सामर्थ्यका संचय नहीं कर सकता । उसके जीवनमें पग-पगपर असमर्थता आती है और जो भयभीत नहीं रहता, वह चाहे कितना ही निर्बल क्यों न हो, अगर उसकी मृत्यु भी आती है तो वह हँसकर उसको गले लगाता है और कहता है—'आओ, आओ, आओ'; क्योंकि मृत्यु तो नवीन जीवनकी दात्री है, इसमें हानि ही क्या है ? बताओ, मृत्युसे क्या हानि होगी ? नवीन जीवन मिलेगा, अच्छा जीवन मिलेगा । जब शरीर कामके लायक नहीं रहता, तभी तो मृत्यु आती है ? विश्रामसे क्या हानि है ? विश्रामसे कोई हानि नहीं । ये सारी बातें हमलोगोंसे हो सकती हैं या नहीं ? हम किसी और बातमें भले ही पराधीन हों, परंतु यह कितने आश्चर्यकी बात है कि हम आज विश्राममें भी पराधीन हो गये, निद्रामें भी पराधीन हो गये, कामना-रहित होनेमें भी पराधीन हो गये । तो आप विचार करके देखें कि हम परिस्थितिका सदुपयोग तो करते नहीं, अप्राप्त परिस्थितिका चिन्तन करते रहते हैं अथवा परिस्थितिको कोसते रहते हैं, अथवा अपनेको कोसते रहते हैं, दूसरोंकी निन्दा करते हैं या अपनी निन्दा करते हैं । यह हमारा स्वभाव बन गया है । इसी स्वभावने चित्तको अशुद्ध कर दिया है । इसलिये, भाई ! प्रत्येक दशामें प्रत्येक परिस्थितिमें प्रसन्न रहना है, शान्त रहना है और प्राप्त परिस्थितिका आदर करना है । इससे हममें परिस्थितिके सदुपयोगकी सामर्थ्य आ जायगी और जब हम परिस्थितिका सदुपयोग कर डालेंगे तो परिस्थितिसे अतीतके जीवनमें प्रवेश हो सकता है, तब हमें किसी परिस्थितिसे भयभीत होनेकी कौन-सी आवश्यकता है । अथवा किसी परिस्थितिको सुरक्षित रखनेकी कौन-सी चिन्ता है । लेकिन हम या तो परिस्थितिसे भयभीत होते हैं या परिस्थितिको सुरक्षित रखना चाहते हैं । परंतु यह क्या किसीके वशकी बात है कि हम जिस परिस्थितिको सुरक्षित रखना चाहें, उसमें परिवर्तन न हो, या जिस परिस्थितिसे हम भयभीत होते हैं वह परिस्थिति हमारे सामने न रहे ? परिस्थितिके सदुपयोगसे परिस्थिति बदलती है, परिस्थितिके भयसे परिस्थिति बदलती नहीं । इसलिये हम सबको परिस्थितिका सदुपयोग करना है । अब परिस्थितिका सदुपयोग करनेकी सामर्थ्य हममें कहाँसे आयेगी ? उसके लिये सबसे पहली बात हमें यह माननी पड़ेगी कि परिस्थितिमें जीवन-बुद्धि न रखें । कोई भी परिस्थिति हमारा जीवन नहीं हो सकती ।

आज हमारा सारा प्रयास और हमारी सारी चिन्ता इस बातके लिये नहीं है कि हमें अपने लक्ष्यकी प्राप्ति करनी है; हम इस बातके लिये चिन्तित रहते हैं कि यहाँ जमीन खाली है, यहाँ एक कुटी कैसे बन जाय और अमुक चीज कैसे हो जाय । जितनी चिन्ता आप एक परिस्थिति पैदा करनेके लिये करते हैं, क्या उतना ही प्रयास आप जो परिस्थिति आपको प्राप्त है, उसके सदुपयोगके लिये करते हैं ? हम जीनेकी बड़ी भारी आशा रखते हैं । कभी किसीसे भी पूछिये कि 'भाई ! कबतक जिंदा रहना चाहते हो ?' तो वह इसकी कोई सीमा ही नहीं बता सकेगा । कितने आदमी ऐसे हैं, जो यह कहें कि अब तो सचमुच जिंदा रहना आवश्यक नहीं है । परिस्थितिसे घबराकर कोई आदमी आत्महत्या करनेकी सोचे,

मरनेकी बात सोचे, वह बात अलग है; लेकिन किसीसे यदि यह पूछा जाय कि 'आपको जिंदा रहनेकी आवश्यकता है या नहीं ?' तो यह बात साधारण व्यक्तिके मनमें कभी नहीं आती कि जिंदा रहनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति यही सोचता है कि जो कुछ उसे करना चाहिये था, वह अभी नहीं किया। इसीलिये हम जिंदा रहनेकी आशा करते हैं। जो काम कर लेना चाहिये, उसे कर चुकनेके बाद कभी यह बात मनमें नहीं आयेगी कि हमको जिंदा भी रहना है, या जब काम समाप्त हो गया, तब भी काम करनेकी, साधन करनेकी आवश्यकता है। एक आदमी लिखनेके लिये बैठे और उसका लिखना समाप्त हो जाय, तब उससे पूछा जाय कि क्या अब भी उसे कलम-दावातकी आवश्यकता है। ऐसे ही यह परिवर्तनशील जीवन भी एक साधन-सामग्री है। हम वर्तमान जीवनका सदुपयोग तो करें नहीं और जीनेकी आशा रखें तो बताइये, उसमें क्या कभी हमारा हित होनेवाला है ? कभी हित नहीं होगा। इसलिये जल्दी-से-जल्दी हमें इस बातको सोचना चाहिये कि परिस्थितिके सदुपयोगके द्वारा परिस्थितिसे अतीतका जो जीवन है, उसमें हमारी निष्ठा हो जाय, प्रतिष्ठा हो जाय, हमें वह प्राप्त हो जाय और जबतक प्राप्त नहीं है, तबतक उसकी लालसा जाग्रत् हो जाय। परिस्थितिसे अतीतके जीवनकी लालसामें इतनी सामर्थ्य है कि वह परिस्थितिजनित मोहका नाश कर देती है—परिस्थितिसे अतीतकी जो लालसा है, उसके द्वारा यह कई लोगोंको अनुभव होगा कि प्रियका मिलन जितना सुखद है, प्रियके वियोगमें प्रियकी स्मृति उससे कम सुखद नहीं है। आप यह न समझ बैठें कि मैं केवल ईश्वरवादकी दृष्टिसे यह बात निवेदन कर रहा हूँ। आपकी जो भी दृष्टि हो—आप अध्यात्मवादी हों या भौतिकवादी, आप उसी दृष्टिसे सोचिये कि जिस वस्तुकी लालसा जितनी प्रिय होती है, उसकी प्राप्ति कभी उतनी प्रिय नहीं होती। वस्तुकी दृष्टिसे भी आप सोचिये कि जिसकी लालसा आपको प्रिय है, उसका मिलन उतना प्रिय नहीं होता। कल्पना करें कि आपका कोई अभिन्न-मित्र विदेश गया है और वर्षोंसे आपके मनमें उसके मिलनेकी लालसा है। आपके पास यदि एकदम यह तार आये कि अमुक तारीखको वह आ रहा है, तार मिलते ही आपको बड़ा आनन्द होगा। आनन्द क्यों होगा ? मित्र तो आपको मिला नहीं, उसके साथ आपका वियोग तो ज्यों-का-त्यों है। आनन्द इसलिये होगा कि उस लालसाकी पूर्तिकी सम्भावना हो गयी, आप निश्चित समयपर मित्रका स्वागत करने हवाई अड्डेपर पहुँच गये। जब हवाई जहाज दिखायी दिया तो उत्कण्ठा और तीव्र हो गयी और रस बढ़ता गया, उत्कण्ठा बढ़ती गयी। यह बात गम्भीरतासे सोचनेकी है कि जब कोई नयी उत्कण्ठा जीवमें पैदा होती है, तब इन्द्रियोंका सीमितभाव मिटता जाता है। अगर किसीको देखनेकी उत्कण्ठा है तो सब इन्द्रियाँ उस समय नेत्रमें आ जायँगी। अगर किसी बातको सुननेकी उत्कण्ठा है तो सब इन्द्रियोंकी शक्ति श्रोत्रमें आ जायगी। यह प्राकृतिक नियम है कि जब कोई उत्कण्ठा जाग्रत् होती है, तब सारी इन्द्रियाँ एक इन्द्रिय-सी बन जाती हैं। हवाई जहाजके उतरते ही उसमेंसे और यात्री उतरने लगे; लेकिन आपकी दृष्टि अपने ही मित्रपर है। जिस समय आप अपने मित्रसे मिलते हैं, मिलनका पहला क्षण जितना सुखद होता है, दूसरा क्षण उतना नहीं होता। तीसरा उतना नहीं रहता। दो दिनके बाद क्या, चार-छः घंटेके बाद ही आप कह सकते हैं कि तुम बड़े नालायक आदमी हो, तुमने इतने दिनोंसे पत्र ही नहीं लिखा; और सम्भव है कि कुछ दिनोंके बाद आपसमें झगड़ा भी हो जाय। कहनेका तात्पर्य यह है कि भौतिक दृष्टिसे भी आप देखें तो वस्तुकी उत्कण्ठा जितनी सरस होती है, व्यक्तिके मिलनकी लालसा जितनी मीठी होती है, वस्तुकी प्राप्ति उतनी सरस नहीं होती, व्यक्तिका मिलन उतना सरस नहीं होता। क्यों नहीं होता ? इसमें एक रहस्य है और वह रहस्य यह है कि यदि वस्तुका मिलन ही जीवन होता तो सरसता रहती; किंतु वस्तुका मिलन जीवन नहीं है, व्यक्तिका मिलन जीवन नहीं है। इसलिये प्रत्येक वस्तुसे, प्रत्येक व्यक्तिसे अतीतकी लालसा प्राणीमें मौजूद है। परंतु उस लालसाको हम वस्तुओंकी, व्यक्तियोंकी एवं परिस्थितियोंकी कामनामें बदलते रहते हैं। हम जानते नहीं कि हमारे जीवनमें किसकी लालसा है, किसकी जिज्ञासा है; परंतु यह बात तो प्रत्येक भाई जानता है कि वस्तुकी कामनासे हमारी तृप्ति नहीं हुई, वस्तुकी प्राप्तिसे हमारी तृप्ति नहीं हुई, व्यक्तिकी प्राप्तिसे हमारी तृप्ति नहीं हुई। जब हम एक पक्ष जानते हैं, तब कम-से-कम हमें यह भी जानना चाहिये कि हमारे जीवनमें कौन-सी ऐसी जिज्ञासा है, जो अभीतक पूरी नहीं हुई; कौन-सी ऐसी लालसा है, जो अभीतक जाग्रत् नहीं हुई। उस लालसा अथवा जिज्ञासाको हमें जाग्रत् करना है। हम चाहे और किसी बातमें पराधीन हों, लेकिन किसीकी लालसामें

तो पराधीन नहीं हैं । किसीकी लालसामें तो हम सब स्वाधीन हैं । एक बात आप पूछ सकते हैं कि 'लालसामें शिथिलता कब आती है ?' इसका उत्तर यह है कि या तो जिसकी हमें लालसा हो, उसका अस्तित्व न हो तब शिथिलता आयेगी । जो वस्तु है ही नहीं, उसकी लालसा हम व्यर्थ ही करते हैं; अथवा जिसकी हमें लालसा हो, उसके मिलनेकी सम्भावना न हो, तब लालसामें शिथिलता आती है । परंतु जिसका अस्तित्व है और जिसके मिलनेकी सम्भावना है, उसकी लालसामें कभी शिथिलता आ ही नहीं सकती । आप कहेंगे, 'अच्छा, भाई ! हम मान लेते हैं कि वस्तुसे अतीत कोई जीवन नहीं है; तब तो आपका लालसावाला जीवन समाप्त हो जायगा ?' अच्छा भाई, अगर वस्तुसे अतीत कोई जीवन नहीं है, तो क्या आप इस बातको सिद्ध कर सकते हैं कि वस्तुमें जीवन है ? तब आपको यह भी मानना पड़ेगा कि वस्तुमें भी जीवन नहीं है और आपने यह भी मान लिया कि वस्तुसे अतीतमें भी जीवन नहीं है तो उसका अर्थ यह है कि जीवन है ही नहीं । तब तो फिर मृत्युका आवाहन करना चाहिये, मृत्युसे प्यार करना चाहिये, जीवनकी लालसा नहीं रखनी चाहिये । लेकिन अपने जीवनकी लालसा कभी किसीने मिटती देखी है ? नहीं देखी । इसलिये भाई ! जीवन वस्तुसे अतीत है । युक्तिसे कोई सिद्ध नहीं कर सकता कि जीवन वस्तुसे अतीत नहीं है । अच्छा, कल्पनाके लिये हमने मान लिया कि जीवन नहीं है । तब फिर मृत्युका भय कैसा ? और जब मृत्युका भय नहीं है, तब शरीरको रखनेकी आशा कैसी ? और जब शरीरको रखनेकी आशा नहीं है तब बताइये, फिर कोई कामना कैसी ? तब भी आपको कामनारहित ही होना है । अगर कोई व्यक्ति यह मान ले कि जीवन-जैसी कोई वस्तु है ही नहीं; तब भी कामना-रहित होना है और यदि जीवन है, तब भी वस्तुओंसे कामनारहित होना है । किसी भी युक्तिसे आप यह सिद्ध नहीं कर सकते कि कामनाको रखना मनुष्यको अभीष्ट है ।

किसी भी मानवको कोई भी कामना रखना अभीष्ट नहीं है । या तो उसको मिटाना अभीष्ट है या उसका पूरा करना अभीष्ट है । ऐसी स्थितिमें जो कामना मिट सकती है, उसको तो मिटा ही देना चाहिये और जो कामना नहीं मिट सकती हो, उसको तो महत्त्व नहीं देना है; क्योंकि कामनाकी पूर्ति किसी व्यक्तिके अधीन है क्या ? मान लो, मैं बोलना चाहता हूँ; परंतु कोई सुननेवाला न हो तो ? आपको यह मानना पड़ेगा कि कामना-पूर्तिमें व्यक्ति स्वाधीन नहीं है । ऐसी स्थितिमें जिसकी पूर्तिमें हम स्वाधीन नहीं हैं, उसको इतना महत्त्व देना, जितना हम आज दे रहे हैं, क्या आवश्यक है ? बिल्कुल आवश्यक नहीं । कहनेका तात्पर्य यह है कि जिसके करनेमें आप स्वाधीन हैं, उससे निराश हो जायें ? क्या यह कोई प्राकृतिक दोष है ? यह प्राकृतिक दोष नहीं है यह व्यक्तिगत दोष है । कामना-निवृत्तिसे, जिसमें हम स्वाधीन हैं, हम निराश हो बैठे हैं और कहते हैं—'महाराज कामनाओंका त्याग बड़ा कठिन है ।' अच्छा, भाई ! क्या कामना-पूर्ति सुगम है ? आप जीवनकी अनेक घटनाओं और अपनी अनुभूतिसे भलीभाँति जानते हैं कि छोटी-से-छोटी कामनाकी पूर्तिमें भी प्राणी स्वाधीन नहीं है; क्योंकि जिन साधनोंसे कामना पूरी होगी, वे सभी साधन आपसे भिन्न हैं । उदाहरणके लिये, मैं इस हाथको यहाँ रखना चाहूँ तो जबतक आपके हाथमें उसे कहीं भी रखनेकी सामर्थ्य है तभीतक आप उसे यहाँसे वहाँ रख सकते हैं । किंतु ऐसी परिस्थिति भी आती है, जब कि आप हाथ उठाना चाहते हैं और उठा नहीं सकते । अतः यदि हम पहलेसे ही सोच लें कि जो बात हम नहीं कर सकते, उसको हम नहीं करेंगे तो बताइये, इससे हमारी क्या हानि हो जायगी ? हमारे लिये क्या कठिनाई आ जायगी ? जो बात आप नहीं कर सकते, उसे करनेकी चाह आपके मनमें पैदा हुई है, तभी न आपको दुःखका अनुभव होगा ! आपका हाथ यदि उठ नहीं सकता तो कहिये उस हाथसे कि 'तुम तो बड़ा ही नाज करते थे कि हम यह कर सकते हैं, वह कर सकते हैं; परंतु देखो तुम्हारी आज क्या दशा है ? अब तो तुम्हें पता चला कि तुम कुछ नहीं कर सकते ।' अतः जब हम कुछ नहीं कर सकते और करनेकी बात सोचते हैं, तभी हमारे-आपके जीवनमें दुःख आता है, एक अभाव आता है । किंतु जब हम कुछ कर नहीं सकते और वैसी स्थितिमें यदि हम कुछ भी करनेकी बात न सोचें, क्या तब भी दुःख होगा ! जो काम आप नहीं कर सकते, उसे यदि आप नहीं करना चाहें तो आपके जीवनमें कोई अशान्ति नहीं आती । अशान्ति तभी आती है, जब हम कुछ करना चाहते हैं और उसे नहीं कर सकते । फिर भी आप कहेंगे—'भाई ! तब भी तो करनेकी रुचिका नाश नहीं हुआ ।' 'अच्छा भाई ! करनेकी रुचिका नाश नहीं हुआ तो जो कर सकते हो, उसे करके तुमने देख लिया । जो कर सकते हो, उसे करो नहीं और जो कर न सको, उसे त्यागो नहीं—यही तो हमारे जीवनकी एक परिस्थिति है । इसी परिस्थितिमें तो हम और आप पराधीनताका, जडताका और अभावका अनुभव करते हैं । आप कहेंगे कि 'जो नहीं कर सकते, उसको करनेमें जो सुख मिलता, वह न करनेसे नहीं मिलेगा ।' तो भाई ! करनेसे जो सुख मिलता, वह सदैव नहीं रहता । तब क्या करोगे ! क्या इस नियमको बदल दोगे ? मुझे बोलनेसे जो सुख होता

है, वह बोलते-बोलते थक जानेपर रहेगा ? बोलनेकी प्रवृत्ति रहेगी ? नहीं रह सकती । तो जब करनेकी प्रवृत्ति ही नित्य नहीं है, तब करनेके लिये परेशान क्यों होते हैं ? और जब करनेके लिये आप परेशान नहीं हैं; तब न करनेमें आपको क्या कठिनाई है ? और जब आपको कुछ न करनेमें कठिनाई नहीं होगी, तब आपको विश्राम मिलेगा और जब आपको विश्राम मिलेगा, तब आप सच मानिये, विश्राम-कालमें किसी परिस्थितिसे किसीका भी सम्बन्ध नहीं रहता । परंतु दुःखकी बात तो यह है कि आज हमें सही करना नहीं आया तो विश्राम भी करना नहीं आया और होता यह है कि जब हम विश्राम करते हैं, तब कमरेकी दीवाल ताकते रहते हैं, या जडतामें स्थित रहते हैं । तो भाई ! न तो जडतामें स्थित रहना है और न निरर्थक चेष्टा करनी है । जब हम निरर्थक चेष्टा नहीं करेंगे, तब अपने-आप बिना किसी श्रमके समस्त इन्द्रियाँ मनमें विलीन होंगी, मन बुद्धिमें विलीन होगा और बुद्धि सम हो जायगी । आज यदि हमारी बुद्धि सम नहीं होती, बड़े-बड़े बुद्धिमान्‌की भी बुद्धि सम नहीं होती, तो इसका एकमात्र कारण यह है कि निरर्थक चेष्टाके बिना हम रह नहीं पाते । कुछ नहीं तो आसमानको ही ताकेंगे, और नहीं तो बेकार बात ही सोचेंगे । इसमें तो हम थकते नहीं, परंतु इसपर यदि कोई कहे, 'भैया ! तुम्हें मालूम नहीं कि जो तुम चाहते हो, वह श्रम-रहित होनेसे मिलेगा, या जो तुम चाहते हो उसकी लालसा जाग्रत् करो, उसकी जिज्ञासा जाग्रत् करो ।' हमारे जीवनमें कितनी देर जिज्ञासा रहती है, कितनी देर लालसा रहती है और कितनी देर व्यर्थ-चिन्तन रहता है ? इसपर और ठीक-ठीक निर्णय करें । यदि हम और आप अपने जीवनको देखें तो पता चलेगा कि जिज्ञासा, लालसा और व्यर्थ-चिन्तन ही अधिक देर रहते हैं, तब अप्राप्त परिस्थितिका आवाहन बना रहता है, अप्राप्त वस्तुका आवाहन बना रहता है और अप्राप्त व्यक्तिका आवाहन बना रहता है । प्राप्त वस्तुका तो हमने सदुपयोग नहीं किया, प्राप्त व्यक्तिकी तो हमने सेवा नहीं की, उसे प्यार नहीं किया और जब अमुक व्यक्ति आयेगा, तब हमारे हृदयमें प्यार पैदा होगा—यह सोचना क्या कोई मनुष्यताकी बात है ? क्या यह कोई बुद्धिमानीकी बात है कि आप प्रत्येक व्यक्तिको प्यार नहीं कर सकते, प्राप्त वस्तुका सदुपयोग नहीं कर सकते ? प्रत्येक व्यक्तिको हम कैसे प्यार कर सकते हैं; क्योंकि वह तो हमारा अपना नहीं है । अजी बड़े-बड़े सत्सङ्गियोंतकको यह कहते देखा जाता है कि 'अरे, ये तो हमारे स्वामीजी नहीं हैं', इत्यादि । अच्छा भाई ! तुम्हारे स्वामीजी नहीं हैं, तो जो भी हैं, क्या उनसे काम ले सकते हो ? तात्पर्य यह कि आप जो यह सोचते हैं कि जो व्यक्ति हमारे सामने है, उसको तो हम प्यार नहीं देंगे, उसकी तो हम सेवा नहीं करेंगे और जो व्यक्ति मौजूद नहीं है, उसका हम चिन्तन करेंगे । तो भाई ! आपकी शान्ति सुरक्षित नहीं रह सकती । हाँ, अगर आपको व्यक्ति और वस्तुसे अरुचि हो गयी है तो आपका शरीर भी एक वस्तु है और आप भी एक व्यक्ति हैं और आपको अपनेसे भी **अरुचि होनी चाहिये । त्यागका अर्थ यह है कि अपना त्याग करें । प्रेमका अर्थ यह है कि हम सभीसे प्रेम करें** । त्यागका अर्थ यह नहीं है कि हम अमुक चीजका तो त्याग कर देंगे, अमुकको नहीं । यदि कोई कहे कि 'सबसे तो हम अलग हो गये, एक शरीरको लेकर कुटियाके अंदर बंद कर दिया और हम त्यागी हो गये', तो मैं कहूँगा कि 'इस प्रकार तो तुम्हारे बाप भी त्यागी नहीं हो सकते ।' यदि पूछो, 'क्यों त्यागी नहीं हो सकते ?' तो कहना होगा कि आपने अपना त्याग नहीं किया । भाई मेरे ! त्याग करना हो तो अपना त्याग करो । प्रेम करना हो तो सभीसे प्रेम करो । यदि अपने आपका त्याग नहीं कर सकते तो आप संसारका कभी त्याग नहीं कर सकते । तो आज दशा यह है कि हम त्यागमें भी पराधीन हो गये, आज हम प्रेममें भी पराधीन हो गये और भाई ! भोगमें तो हम सभी पराधीन हैं ही । तो फिर जिसमें सभी पराधीन हैं, उसमें यदि हम भी पराधीन हैं तो हम अपनेको कोसते क्यों हैं ? और भाई ! यदि सभीके मनकी बात पूरी नहीं हुई और हमारे भी मनकी बात पूरी नहीं हुई तो हम अपने लिये एक नया विधान क्यों चाहते हैं ? कहनेका तात्पर्य यह कि जिसमें हम पराधीन हैं, उसमें सभी पराधीन हैं और जिसमें हम स्वाधीन हैं, उसमें सभी स्वाधीन हैं । तब पराधीनता कबतक है ? जबतक हम उसे करना चाहते हैं, जो नहीं कर सकते, तभीतक पराधीनता है । जिस समय हमने-आपने निर्णय कर लिया कि जो नहीं कर सकते, उसे नहीं करेंगे; त्याग करेंगे तो अपना भी त्याग कर देंगे और प्रेम करेंगे तो सभीसे प्रेम करेंगे । इन तीन बातोंसे हमारी-आपकी शान्ति सुरक्षित रह सकती है और शान्तिके सुरक्षित रहनेसे आवश्यक सामर्थ्यका विकास होगा और आवश्यक सामर्थ्यका विकास होनेपर स्वाधीनता प्राप्त होती है । स्वाधीनता प्राप्त होनेसे चिन्मयता प्राप्त होती है और चिन्मयता प्राप्त होनेसे हम परिस्थितियोंसे अतीतके जीवनको प्राप्त कर लेते हैं—ऐसा मेरा अनुभव है या विश्वास, जो कुछ कहें, आप कह लीजिये ।

ओंकारकी सर्वरूपता

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः सम्प्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेद्ँसर्वमोंकार एवेद्ँसर्वम् ॥

(छा० उ० २ । २३ । ३)

यह जगत् तपद्वारा ही उत्पन्न हुआ है और तपमें ही स्थित है । समस्त साधनोंका सार तप ही है । श्रीमद्भागवतमें इस विषयका विशदरूपसे वर्णन किया गया है । भगवान्‌की नाभिसे एक कमल उत्पन्न हुआ । उस कमलसे समस्त प्रजाके पति लोक-पितामह ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई; ब्रह्माजी कमलपर बैठकर विचार करने लगे । उन्हें चारों ओर देखनेकी इच्छा हुई, तब उनके चारों दिशाओंमें चार मुख उत्पन्न हो गये । चतुर्भुज ब्रह्मा कमलपर बैठकर सोचने लगे—'यह कमल कहाँसे उत्पन्न हुआ है, इसके आदि-अन्तका पता लगाना चाहिये' । अतः वे कमल-नालमें घुसकर सहस्रों वर्षपर्यन्त उसका उद्गम खोजते रहे; किंतु वह तो अनादि-अनन्त था, अतः थककर पुनः ब्रह्माजी कमलपर आ बैठे । सोचने लगे—'मेरी उत्पत्ति सृष्टि करनेके निमित्त हुई है, अब मैं सृष्टि करूँ ! किंतु कोई साज नहीं, सामान नहीं ।' जब ब्रह्माजी इसी चिन्तामें निमग्न थे, तभी उन्हें न जाने कहाँसे दो अक्षर सुनायी दिये । एक तो व्यञ्जनोंका सोलहवाँ अक्षर 'त' था और दूसरा व्यञ्जनोंका इक्कीसवाँ अक्षर 'प' था । दोनोंके मेलसे 'तप' शब्द बना । यह 'तप' शब्द दो बार सुनायी दिया 'तप-तप' । अर्थात् 'तपस्या करो, तपस्या ।' इस तपके कारण ही ज्ञानी ब्रह्माजीको 'तपोधन' कहते हैं । अर्थके लिये जो 'धन' शब्दका प्रयोग किया जाता है, वह तो असत्य है । अर्थ तो अनर्थका कारण है । अर्थके साथ पंद्रह अनर्थ लगे रहते हैं । वास्तविक धन तो तप ही है । ब्रह्माजी सोचने लगे—'यह 'तप-तप' कौन कह रहा है ?' वे चारों ओर कहनेवालेको खोजने लगे, किंतु उन्हें कोई दिखायी नहीं दिया । तब वे सोचने लगे—'उन अचिन्त्य महिमावाले आदिप्रभुने मुझे तप करनेका आदेश दिया है, अतः मुझे तप करना चाहिये ।' यह सोचकर उन्होंने उस कमलपर बैठे-बैठे ही सहस्र दिव्य वर्षोंतक तप किया । ब्रह्माजीके सदृश तप कौन कर सकता है ? वे सबसे बड़े तपस्वी हैं । वे अमोघ ज्ञानसम्पन्न हैं । उनकी तपस्या ध्यानमय है, ज्ञानमय है । तपस्याके द्वारा वे समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो गये । उनके ध्यानरूप तपका परिणाम यह हुआ कि वे छः नीचेके लोकोंसहित भूलोक, अन्तरिक्षलोक और पाँच स्वर्गलोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो गये ।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! पुण्यलोकोंकी प्राप्तिका साधन बताकर अब अमृतत्व-प्राप्तिका—मोक्षकी प्राप्तिका साधन बताते हुए भगवती श्रुति कहती हैं—'तप ही समस्त साधनोंका सार है । शुद्ध तत्त्वकी प्राप्ति तपसे ही होती है ।'

शौनकजीने पूछा—सूतजी ! तपसे सार वस्तुकी प्राप्ति कैसे होती है ?

सूतजीने कहा—भगवन् ! जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह समल ही होती है—मलके बिना उत्पत्ति सम्भव ही नहीं । उत्पन्न होनेपर तपके द्वारा उसमेंसे मल पृथक् करके उसे निर्मल—सारभूत बनाया जाता है । खानसे जो सोना उत्पन्न होता है, वह मलसहित ही होता है । फिर अग्निद्वारा उसे तपाकर उसके मलको पृथक् किया जाता है । निर्मल सारभूत रह जानेपर

तब उससे दिव्य आभूषण बनाये जाते हैं। तपद्वारा ही वह शुद्ध किया जाता है।

ईखमेंसे जो रस निकलता है, वह समल होता है। अग्निमें तपाकर उसमेंसे मल निकालकर उससे गुड़ बनाते हैं। फिर गुड़को तपाकर, उसके मलको पृथक् करके खाँड़ बनाते हैं। खाँड़को तपाकर, उसका मल निकालकर बूरा बनाते हैं। बूरेको तपाकर, उसे निर्मल बनाकर उससे स्वच्छ, निर्मल, सारभूत मिश्री बनती है। मिश्री समस्त मधुर वस्तुओंका सार है, स्वच्छ है—निर्मल है। वह निर्मलता तपानेसे—तपके कारण ही हुई। इसी प्रकार ब्रह्माजीने तपद्वारा लोकोंका ज्ञान प्राप्त किया, फिर उस ज्ञानको तपाया। परमात्माका ज्ञान ही 'तप' है। जब ब्रह्माजीको लोकोंका ज्ञान हो गया, तब उन लोकोंको पुनः अभितप्त किया—तपाया। तब उनके सारभूत ऋक्, यजु और साम, इस त्रयीविद्याकी उत्पत्ति हुई। फिर इस त्रयीविद्याको भी ज्ञानमय तपसे पुनः तपाया, तब उन तीनोंका सार तीनों व्याहृतियोंके रूपमें प्रकट हुआ। अर्थात् तीनों वेदोंका सार भूः, भुवः और स्वः—ये तीन व्याहृतियाँ हैं। ये ऋक्, यजु और सामकी सारभूता हैं। तीनों वेदोंको तपानेके बाद प्रकट हुआ उनका निर्मल रूप व्याहृतियाँ हैं।

ब्रह्माजीने इन तीनों व्याहृतियोंको फिरसे तपाया। उनके सारसे ही अकार, उकार तथा मकाररूप ओंकार—प्रणवकी उत्पत्ति हुई। यह ओंकार ही सम्पूर्ण वाक्में व्याप्त है। उदाहरणके लिये आप पीपलके पत्तेको ले लीजिये। उसे ध्यानसे देखिये, उसमें छोटी-बड़ी नसें-ही-नसें व्याप्त हैं। यदि उन नसोंको निकाल दें तो पत्तेका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। उन नसोंके अस्तित्वसे ही पत्तेका अस्तित्व है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वाणी 'अ', 'उ' और 'म' के सम्मिश्रणसे बने प्रणवद्वारा व्याप्त है। यह जो दृश्य-प्रपञ्च है, यह ओंकारके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जो भी कुछ दृश्य है, श्रव्य है, मननीय है, वह सब-का-सब ओंकार ही है। ओंकार ही सर्व है, ओंकार ही सर्व है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! यह मैंने ओंकार-की सर्वरूपताका वर्णन किया। ओंकार-उपासनासे ही अमृतत्वकी प्राप्ति हो सकती है। ओंकार ही मुक्तिपदको प्राप्त करानेवाला है।

सरन बृषभानु की किसोरी कौ

काहू कौं सरन संभु-गिरिजा, गनेस-सेस,
काहू कौं सरन है कुबेर-ऐसे धोरी कौ।
काहू कौं सरन मच्छ-कच्छ, बलराम-राम,
काहू कौं सरन गौरी-साँवरी-सी जोरी कौ॥
काहू कौं सरन बोध, बामन, बराह, ब्यास,
एही निराधार सदा रहै मति मोरी कौ।
आनँद करन बिधि-बंदित-चरन एक,
'हठी' कौं सरन बृषभानु की किसोरी कौ॥

श्रीश्रीराधा-महिमाका स्मरण

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा श्रीश्रीराधाजन्माष्टमी-महोत्सवपर गीतावाटिका, गोरखपुरमें दिये गये एक प्रवचनका कुछ अंश]

आज भाद्रशुक्ला अष्टमी श्रीराधाजन्माष्टमी है। आजके ही मङ्गलमय दिवस साक्षात् सच्चिदानन्दरसविग्रहा, आनन्दांशघनीभूता, आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता, मन्मथ-मन्मथ-मन्मथा, परमानन्द-परमानन्ददायिनी, रसिकेन्द्र-शिरोमणि-रस-प्रदायिनी, रसिकेन्द्रेश्वरी, साक्षात् ह्लादिनी श्रीराधिकाजीका उनकी ननिहाल रावल ग्राममें मङ्गलमय प्राकट्य हुआ था। परम और चरम त्यागका, सर्वसमर्पणमय उज्ज्वलतम प्रेमका, स्व-सुखवाञ्छा-विरहित प्रियतम-सुखेच्छामय स्वभावका और अहंकी चिन्ता, मङ्गलकामना ही नहीं, अहंकी स्मृतिसे भी शून्य प्रियतम-स्मृतिमय जीवनका कैसा स्वरूप होता है—श्रीराधाने अपने प्रत्यक्ष जीवनसे इसका एक नित्य चेतन, क्रियाशील, मूर्तिमान् उदाहरण उपस्थित करके जगत्के इतिहासमें एक अभूतपूर्व दान दिया है। इस महान् दानका मङ्गलमूल आजका ही मङ्गलमय दिन है। इसलिये यह दिन धन्य है, यह भारतवर्ष धन्य है और इसके निवासी हमलोग भी धन्य हैं, जो आज श्रीराधाके प्राकट्य-महोत्सवके उपलक्षमें उसका मङ्गलमय स्मरण कर रहे हैं। ये श्रीराधाजी क्या हैं, इसका वास्तविक उत्तर तो वे स्वयं या उनके अभिन्नस्वरूप परमात्मा श्रीकृष्ण ही दे सकते हैं। हमलोग तो श्रीराधा-रानीका किंचित्-सा स्मरण करके धन्य हो जाते हैं।

साधन-जगत्में प्रधानतया उत्तरोत्तर विलक्षण चार राज्य हैं—१. कर्मराज्य, २. भावराज्य, ३. ज्ञानराज्य और ४. महान् परम भावराज्य। इसीके अनुसार साधकोंके स्वरूप हैं, साध्य-स्वरूप हैं और दिव्य लोकादि हैं। कर्मप्रवण पुरुष कर्मराज्यमें श्रौत-स्मार्त वैध कर्मोंके द्वारा कर्म-साधन करते हैं। सकामभाव होनेपर स्वर्गादि पुनरावर्ती लोकोंमें जाते हैं और सर्वथा कामनारहित होनेपर 'नैष्कर्म्यसिद्धि' को प्राप्त होते हैं। इनके तत्त्वज्ञानकी स्थितिमें लोककी कल्पना नहीं है और कर्मतत्त्वकी दृष्टिसे सृजन-पालन-संहार करनेवाले सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता ईश्वरके सांनिध्यमें इनका कर्मजगत्में कार्य चलता रहता है। इनमें कोई-कोई साधक सिद्धि प्राप्त करके ब्रह्माके पदतक पहुँच जाते हैं और मूल परम तत्त्वके अंशावतार विभिन्न ब्रह्माण्डाधिपति सृजनकर्त्ता ब्रह्मा, पालनकर्त्ता विष्णु तथा संहारकर्त्ता रुद्रोंमें कहीं 'ब्रह्मा' का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

इससे उच्चतर या आगे 'भावराज्य' है, वहाँ कर्मके साथ केवल निष्कामभावकी प्रधानता न होकर ईश्वर-प्रीतिसाधक भक्तिकी प्रधानता होती है। भावुक पुरुष इस भावराज्यके क्षेत्रमें भावसाधनाके द्वारा अपने भावानुरूप इष्टदेव, परमैश्वर्य-सम्पन्न, स्वशक्तियुक्त भगवत्स्वरूपोंके सांनिध्य और उनके दिव्य लोकोंको प्राप्त करते हैं। इनकी साधनाका फल दिव्य भगवल्लोकोंकी प्राप्ति है। ये भी सर्वथा मायामुक्त होते हैं।

इससे आगे 'ज्ञानराज्य' है। इसमें विचार-प्रधान पुरुष साधन-चतुष्टयादिके द्वारा महावाक्योंका अनुसरण करके विशुद्ध आत्मस्वरूपमें परिनिष्ठित होते हैं। इनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। ये ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं या ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करते हैं।

इससे आगे एक महाभावरूप 'भगवद्भाव-राज्य' है। भुक्ति-मुक्ति, कर्म-ज्ञान आदिकी वासनासे शून्य पुरुष ही इस परम 'भावराज्य'के अधिकारी होते हैं। उपर्युक्त तत्त्वज्ञानी मुक्त पुरुषोंमें भी किन्हीं-किन्हींमें भगवत्प्रेमाङ्कुरका उदय हो जाता है, जिससे वे दिव्य शरीरके द्वारा उपर्युक्त कर्म-भाव-ज्ञान-राज्यसे अतीत भगवद्भाव-राज्यमें प्रवेश करके प्रियतम भगवान्के साथ लीलाविहार करते हैं या उनकी लीलामें सहायक-सेवक होकर उनके सुखमें ही अपने भिन्न स्वरूपको विसर्जितकर नित्य-सेवा-रत रहते हैं। परंतु भोग-मोक्षकी कामना-गन्ध-लेशसे शून्य, सर्वात्मनिवेदनकारी महानुभावोंका ही इसमें प्रवेश होता है, चाहे वे पवित्र त्यागमय प्रेमस्रोतमें बहते हुए सीधे ही यहाँ पहुँच जायँ, अथवा उपर्युक्त ज्ञानराज्यमें ज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर किसी महान् कारणसे इस सर्वविलक्षण महाभावरूप परम दुर्लभ राज्यमें प्रवेश प्राप्त करें।

इस भावराज्यमें नित्य-निरन्तर भावमय सच्चिदानन्दघन दिव्य प्रेमरस-स्वरूप श्रीराधाकृष्णका भावमय नित्य लीला-

विहार होता रहता है। गोपीप्रेमकी उच्च स्थितिपर पहुँचे हुए गोपीहृदय महापुरुष तथा श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा नित्य-सिद्धा तथा विविध साधनोंद्वारा यहाँतक पहुँची हुई अन्यान्य गोपाङ्गनाओंका उसमें नित्य सेवा-सहयोग रहता है। इसीको 'गो-लोक' या 'नित्य प्रेमधाम' भी कहते हैं। यह 'भाव-राज्य' ज्ञानराज्यसे आगे या उससे उच्च स्तरपर स्थित है। प्रेमी महानुभावोंने तो भगवत्कृपासे 'स्वयं-भगवान्' श्रीकृष्णके द्वारा सखा भक्त अर्जुनके प्रति उपदिष्ट गीतामें भी इसके संकेत प्राप्त किये हैं। कुछ उदाहरण देखिये—तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेयके स्वरूपका वर्णन किया। उसमें सर्वत्र व्याप्त सगुण-निराकार तथा ज्ञानगम्य ब्रह्मस्वरूपका उपदेश करनेके बाद वे कहते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥
(१३।१८)

"इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान' एवं ज्ञेय संक्षेपमें कहा गया। इस क्षेत्र-ज्ञान-ज्ञेयको जानकर मेरा भक्त 'मेरे भाव'को प्राप्त होता है।"

चतुर्थ अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
(४।१०)

"बहुत-से राग-भय-क्रोधसे रहित, ज्ञानरूप तपसे पवित्र, मुझमें तन्मय, मेरे आश्रित पुरुष 'मेरे भाव'को प्राप्त हो चुके हैं।"

अठारहवें अध्यायमें स्पष्ट शब्दोंमें भगवान्ने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५४-५५)

'ब्रह्मभूत होकर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो शोक करता है न आकाङ्क्षा करता है, अर्थात् वह ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होकर शोक-कामनासे रहित प्रसन्नात्मा—आनन्दस्वरूप हो जाता है तथा सब भूतोंमें सम हो जाता है; तब वह मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है। उस भक्तिसे यानी परा ज्ञाननिष्ठासे जैसा और जो कुछ मैं हूँ, उस मुझको तत्त्वसे जानकर तदनन्तर मुझमें प्रवेश कर जाता है।' अभिप्राय यह है कि ब्रह्मस्वरूप समदर्शी शोकाकाङ्क्षारहित उच्च स्थितिपर पहुँच जानेपर भी भगवान्के 'यः यावान्' स्वरूपका ज्ञान और उस भावराज्यमें प्रवेश शेष रह जाता है, जो पराभक्ति—प्रेमाभक्तिसे ही सिद्ध होता है।

इस पराभक्तिसे भगवान्के जिस स्वरूपका ज्ञान होकर जिस भावराज्यकी लीलामें प्रवेश प्राप्त होता है, भगवान्का वह स्वरूप भी अद्वय अक्षर ज्ञानतत्त्व ब्रह्मसे (तत्त्वतः एक होनेपर भी) असाधारण विलक्षण है। इसका भी संकेत गीताकी भगवद्वाणीमें स्पष्ट है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७।३)

'सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये—तत्त्वज्ञानके लिये प्रयत्न करता है। उन यत्न करते हुए सिद्ध—सिद्धि-प्राप्त पुरुषोंमें कोई एक मुझको तत्त्वसे जानता है।' यहाँके 'तत्त्वतः वेत्ति'से उपर्युक्त 'तत्त्वतः अभिजानाति'का और यहाँके 'सिद्ध'से उपर्युक्त श्लोकके 'ब्रह्मभूतः'का सर्वथा साम्य है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानतत्त्व ब्रह्मकी अपेक्षा 'मां' शब्दके वाचक भगवान् विलक्षण हैं।

पंद्रहवें अध्यायमें दो प्रकारके पुरुषोंका वर्णन करते हुए भगवान् अपनेको 'क्षर' पुरुषसे अतीत और 'अक्षर' पुरुषसे उत्तम 'पुरुषोत्तम' बताते हैं और इसे 'गुह्यतम' कहते हैं। 'अक्षर' क्या है, यह भगवान्के शब्दोंसे ही स्पष्ट है—"**अक्षरं ब्रह्म परमम्**' (८।३) 'परम ब्रह्म अक्षर है'।

इससे भी अत्यन्त स्पष्ट भगवान्की उक्ति है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४।२८)

'अव्यय ब्रह्म, अमृत, नित्य धर्म और ऐकान्तिक सुख—(ये चारों ब्रह्मके वाचक हैं) की मैं ही प्रतिष्ठा हूँ।'

इससे सिद्ध है कि ज्ञानराज्यसे यह महा 'भावराज्य' विलक्षण है और ज्ञानगम्य ज्ञानतत्त्व 'ब्रह्म'से भगवान् 'श्रीकृष्ण' विलक्षण हैं।

ज्ञानतत्त्वमें परिनिष्ठित ब्रह्मीभूत महात्मा, अर्थात् जिनकी अज्ञान-ग्रन्थि टूट चुकी है—ऐसे आत्माराम मुनि भी भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करनेको बाध्य होते हैं; क्योंकि भगवान्‌में ऐसे ही विलक्षण स्वरूपभूत गुण हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

(श्रीमद्भागवत १ । ७ । १०)

इसीसे भगवान् श्रीकृष्णका एक सुन्दर नाम है—**'आत्मारामगणाकर्षी'** 'आत्माराम मुनिगणोंको आकर्षित करनेवाले' ।

कुन्तीदेवीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥

(श्रीमद्भागवत १ । ८ । २०)

'आप अमलात्मा—विशुद्ध-हृदय परमहंस मुनियोंको भक्तियोग प्रदान करनेके लिये प्रकट हुए हैं । फिर हम अल्पज्ञ स्त्रियाँ आपको कैसे जान सकती हैं ?'

इसीसे ज्ञानी महात्मा पुरुष मुक्तिका निरादर करते हैं और भक्तिनिष्ठ रहना चाहते हैं—'मुक्ति निरादर भगति लुभाने ।' मुक्ति उनके पीछे-पीछे घूमती है, पर वे उसे स्वीकार नहीं करते; क्योंकि वे संसारके मायाबन्धनसे तो सर्वथा मुक्त हैं ही, भगवान्‌के प्रेमबन्धनसे मुक्ति उन्हें कदापि इष्ट नहीं ! ऐसे प्रेमी भक्त जिन भगवान्‌को प्रेमरसास्वादन कराते हैं और स्वयं जिनके मधुरातिमधुर दिव्य प्रेमसुधा-रसको प्राप्त करते हैं, वे भगवान् निस्संदेह ही सर्वतत्त्वविलक्षण हैं ।

इन भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा है श्रीराधारानी—

आत्मा तु राधिका तस्य तयैव रमणादसौ ।
आत्माराम इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढवेदिभिः ॥

(स्कन्दपुराण)

"श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, उनके साथ सदा रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष श्रीकृष्णको 'आत्माराम' कहते हैं ।" इसी प्रसङ्गमें भगवान्‌की महिषी श्रीकालिन्दीजी कहती हैं—

'आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।'

'आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा निश्चय ही श्रीराधाजी हैं ।' इन श्रीराधा-माधवका वह भावराज्य अतिशय उज्ज्वल है । वहाँ प्रिया-प्रियतमकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला नित्य चलती रहती है । 'अक्षर कूटस्थ ब्रह्म' जिनकी पद-नख-ज्योति हैं और जो ब्रह्मके आधार हैं, उन परात्पर श्यामसुन्दरका वहाँ लीलाविहार निरन्तर होता रहता है । वह लीलाका महान् मधुर सागर अत्यन्त शान्त होनेपर भी सदा उच्छलित रहता है । स्वयं नटनागर ही विविध मनोहारिणी भावलहरियाँ बनकर खेलते रहते हैं । उस भावराज्यमें ज्ञान-विज्ञान छिपे रहकर रसिकेन्द्र-शिरोमणि रसरूप भगवान् श्यामसुन्दरके द्विधा रूप श्रीराधा-माधवका और श्रीराधाके कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंका मधुरतम लीला-रस देखते रहते हैं । जो ज्ञानी-विज्ञानी महात्मा इस भावराज्यमें पहुँचते हैं, उनके वे ज्ञान-विज्ञान यहाँ अपने ही दुर्लभ फलका सङ्ग पाकर परम प्रफुल्लित हो जाते हैं । ज्ञान-विज्ञानके अधिष्ठातृ-देवता सदा अतृप्त ही रहते हैं; क्योंकि उन्हें लीलारसका पान करनेके लिये कभी अवसर ही नहीं मिलता । पर प्रेममय ज्ञानी पुरुषोंके साथ वे जब यहाँ पहुँचते हैं, तब रसदर्शनके लिये वे छिप जाते हैं और अपने ही परम फलस्वरूप श्रीराधा-कृष्णकी रसमयी चिन्मय अविरल केवलानन्दरस-सुधा-प्रवाहिणी लीला देख-देखकर अपूर्व अतुलनीय आनन्दलाभ करते और कृतकृत्य होते हैं; ज्ञान-विज्ञानका जीवन यहाँ सार्थक हो जाता है । वे चुपचाप छिपे हुए रस-पान करते रहते हैं, कभी भी प्रकट होकर लीला-रसमें विघ्न नहीं डालते; क्योंकि इस प्रेम-रसमें ज्ञानकी खटाई पड़ते ही यह फट जाता है । वहाँ इसमें अलौकिक लीलाकी अनन्त मधुर तरंगें नित्य उठती रहती हैं । यह वही रस है, जो सभी रसोंका उद्गमस्थान नित्य महान् परम मधुर रस है । वस्तुतः निरतिशय रसमय श्रीभगवान् ही यहाँ महाभाव-परिनिष्ठित होकर रसरूपमें भी प्रकट रहते हैं । देवता, भाग्यवान् असुर, किंनर, ऋषि, मुनि, पवित्र तपस्वी, परम पवित्र सिद्ध पुरुष—सभी इसके लिये ललचाते रहते हैं; पर इसे पाना तो दूर रहा, इस मनभावन रसमय

भावराज्यको वे देख भी नहीं पाते। कर्म-कुशल कर्मी, समाधिनिष्ठ योगी और छिन्नग्रन्थि ज्ञानी पुरुष इस रसमय भावराज्यकी कल्पना भी नहीं कर पाते, इसका अर्थ ही उनकी समझमें नहीं आता। इसीसे वे इसकी अवहेलना करते हैं। इस भावराज्यमें निवास करनेवाली रसलीला-निरत, रस-सेवाकी जीती-जागती मूर्ति जो परम श्रेष्ठ दिव्य सखी, सहचरी, मंजरियाँ हैं, अति श्रद्धाके साथ जो उनकी चरण-रजका सेवन करता है, जो तर्कशून्य साधक अपने रसयुक्त हृदयको भावराज्यके उज्ज्वल भावोंसे भरता रहता है, जो तुच्छ घृणित भोगोंसे और कैवल्य मोक्षसे सदा विरक्त रहता है और जिसका हृदय निरन्तर भावराज्यके आराध्यस्वरूप श्रीराधा-माधवके चरणोंमें ही आसक्त रहता है, वही भावराज्यके किसी महान् जनका—किसी मञ्जरीका कृपाकण प्राप्त कर सकता है, और वही जन इस परम भावराज्यकी सीमामें प्रवेश कर सकता है।

नित्य रासेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी श्रीराधा और उनके प्रियतम श्रीकृष्णमें तनिक भी भेद नहीं है। पर लीला-रसास्वादनके लिये श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता परमाह्लादिनी श्रीराधा सदा श्रीकृष्णका समाराधन करती रहती हैं और श्रीकृष्ण भी उनका प्रेमाराधन करते रहते हैं। रस-सुधा-सागर ये श्रीराधा-माधव एक ही तत्त्वमय शरीरके दो लीलास्वरूप बने हुए एक-दूसरेको आनन्द प्रदान करते रहते हैं।

आनँदकी अह्लादिनि स्यामा अह्लादिनिके आनँद स्याम।
सदा सरबदा जुगल एक मन एक जुगल तन बिलसत धाम॥

इनमें परकीया-स्वकीया लीला भी वस्तुतः रस-निष्पत्तिके लिये है। इस भेदका आग्रह वस्तुतः श्रीकृष्णके स्वरूपकी विस्मृतिसे ही होता है। श्रीराधा-माधव एक ही सच्चिदानन्दमय वस्तु-तत्त्व है—उसमें न स्त्री है न पुरुष। ब्रह्मवैवर्तपुराण और देवीभागवतमें आया है कि इच्छामय सर्वरूपमय, सर्वकारणकारण, परम शान्त, परम कमनीय, नव-सजल-जलद श्याम परात्पर भगवान् श्रीकृष्णके वाम भागसे मूल प्रकृतिरूपमें श्रीराधाजी प्रकट हुईं। इन्हीं राधाजीके द्विविध प्रकाशमेंसे एकसे लक्ष्मीका प्राकट्य हुआ। अतएव श्रीकृष्णाङ्गसम्भूता होनेसे श्रीराधाजी नित्य श्रीकृष्णस्वरूपा ही हैं। श्रीदेवीभागवतमें श्रीराधाजीके मन्त्र, उपासना, स्वरूपका और भगवान् नारायणके द्वारा उनकी स्तुतिका वर्णन है, जो संक्षेपमें इस प्रकार है—

"भगवती श्रीराधाका वाञ्छाचिन्तामणि सिद्ध मन्त्र है—'ॐ ह्रीं श्रीराधायै स्वाहा'। असंख्य मुख और असंख्य जिह्वावाले भी इस मन्त्रका माहात्म्य वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। मूल प्रकृति श्रीराधाके आदेशसे सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्णने भक्तिपूर्वक इस मन्त्रका जप किया था। फिर उन्होंने विष्णुको, विष्णुने विराट् ब्रह्माको, ब्रह्माने धर्मको और धर्मने मुझ नारायणको इसका उपदेश किया। तबसे मैं निरन्तर इस मन्त्रका जप करता हूँ, इसीसे ऋषिगण मेरा सम्मान करते हैं। ब्रह्मा आदि समस्त देवता नित्य प्रसन्नचित्तसे श्रीराधाकी उपासना करते हैं।

कृष्णार्चायां नाधिकारो यतो राधार्चनं विना।
वैष्णवैः सकलैस्तस्मात् कर्तव्यं राधिकार्चनम्॥
कृष्णप्राणाधिका देवी तदधीनो विभुर्यतः।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तया हीनो न तिष्ठति॥
राध्नोति सकलान् कामांस्तस्माद्राधेति कीर्तिता।
(श्रीदेवीभागवत ९। ५०। १६—१८)

"क्योंकि श्रीराधाकी पूजा किये बिना मनुष्य श्रीकृष्णकी पूजाके लिये अनधिकारी माना जाता है; इसलिये वैष्णवमात्रका कर्तव्य है कि वे श्रीराधाकी पूजा अवश्य करें। श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्राणाधिका देवी हैं। कारण, भगवान् इनके अधीन रहते हैं। ये नित्य रासेश्वरी भगवान्के रासकी नित्य स्वामिनी हैं। इनके बिना भगवान् रह ही नहीं सकते। ये सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करती हैं, इसीसे ये 'राधा' नामसे कही जाती हैं।"

श्रीराधाका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

'श्रीराधाका वर्ण श्वेत चम्पाकुसुमके सदृश है। मुख शारदीय शशिका गर्व हरण करता है, श्रीविग्रह असंख्य चन्द्रमाओंकी कान्तिके सदृश झलमल करता है। नेत्र शरद्-ऋतुके खिले हुए कमलके समान हैं। अरुण अधर बिम्बफलके सदृश, स्थूल श्रोणि और क्षीण कटिप्रदेश दिव्य करधनीसे अलंकृत हैं। कुन्द-कुसुमके सदृश इनकी स्वच्छ दन्तपंक्ति सुशोभित है। दिव्य नील पट्टवस्त्र इन्होंने धारण कर रखा है। इनके प्रसन्न मुखारविन्दपर मृदु मुसकानकी छटा छायी है। उन्नत उरोज हैं। दिव्य रत्नमय विविध

आभूषणोंसे विभूषित ये देवी नित्य बालारूपमें अल्पवर्षीया प्रतीत होती हैं। इनके कुञ्चित केश मल्लिका और मालतीकी मालाओंसे सुशोभित हैं। अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त सुकुमार है। इनका श्रीविग्रह मानो शोभा—श्रीका लहराता हुआ अनन्त सागर है। ये शान्त-स्वरूपा शाश्वत-यौवना राधाजी रासमण्डलमें समस्त गोपाङ्गनाओंकी अधीश्वरीके रूपमें रत्नमय सिंहासनपर विराजमान हैं। वेद इन श्रीकृष्णप्राणाधिका परमेश्वरीकी महिमाका गान करते हैं।'

तदनन्तर पूजाविधान बतलाकर श्रीनारायण कहते हैं कि 'जो बुद्धिमान् पुरुष भगवती श्रीराधाका जन्म-महोत्सव मनाता है, उसे रासेश्वरी श्रीराधा अपना सांनिध्य प्रदान करती हैं—

× × × ×राधाजन्मोत्सवं बुधः।
कुरुते तस्य सांनिध्यं दद्याद् रासेश्वरी परा ॥

फिर श्रीनारायण 'राधास्तवन' करते हैं—

नमस्ते परमेशानि रासमण्डलवासिनि।
रासेश्वरि नमस्तेऽस्तु कृष्णप्राणाधिकप्रिये ॥
नमस्त्रैलोक्यजननि प्रसीद करुणार्णवे।
ब्रह्मविष्ण्वादिभिर्देवैर्वन्द्यमानपदाम्बुजे ॥
नमः सरस्वतीरूपे नमः सावित्रि शंकरि।
गङ्गापद्मावतीरूपे षष्ठि मङ्गलचण्डिके ॥
नमस्ते तुलसीरूपे नमो लक्ष्मीस्वरूपिणि।
नमो दुर्गे भगवति नमस्ते सर्वरूपिणि ॥
मूलप्रकृतिरूपां त्वां भजामः करुणार्णवाम्।
संसारसागरादस्मादुद्धराम्ब ! दयां कुरु ॥

(श्रीमद्देवीभागवत ९। ५०। ४६ से ५०)

'भगवती परमेशानी ! तुम रासमण्डलमें विराजमान रहती हो, तुम्हें नमस्कार है। रासेश्वरि ! भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते हैं, तुम्हें नमस्कार है। करुणार्णवे ! तुम त्रिलोककी जननी हो, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ, तुम मुझपर प्रसन्न होनेकी कृपा करो। ब्रह्मा, विष्णु आदि समस्त देवता तुम्हारे चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। जगदम्बे ! तुम सरस्वती, सावित्री, शंकरी, गङ्गा, पद्मावती और षष्ठी, मङ्गलचण्डिका—इन रूपोंमें विराजती हो, तुम्हें नमस्कार है। तुलसीरूपे ! तुम्हें नमस्कार है। लक्ष्मी-स्वरूपिणी ! तुम्हें नमस्कार है। भगवती दुर्गे ! तुम्हें नमस्कार है। सर्वस्वरूपिणी ! तुम्हें नमस्कार है। जननी ! तुम मू[ल]प्रकृतिस्वरूपा एवं करुणाकी सागर हो। हम तुम्हारी उपास[ना] करते हैं, अतः तुम इस संसार-सागरसे हमारा उद्धार करने[की] कृपा करो।'

इस स्तोत्रका माहात्म्य वे यों बतलाते हैं—'[जो] पुरुष त्रिकाल-संध्याके समय भगवती श्रीराधाका स्मर[ण] करते हुए उनके इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसके लि[ये] कभी कोई भी वस्तु किंचित् मात्र भी अलभ्य नहीं र[ह] सकती और आयु समाप्त होनेपर शरीरका त्याग करके व[ह] बड़भागी पुरुष गोलोकधाम—रासमण्डलमें नित्य निवा[स] करता है। यह परम रहस्य जिस-किसीके सामने नहीं कहना चाहिये।'

ये ही श्रीकृष्णस्वरूपिणी श्रीकृष्णाह्लादिनी श्रीराधा रावलग्राममें माता कीर्तिदादेवीके यहाँ महान् पुण्यमय मधु[र] रूपमें प्रकट होकर नित्य अभिन्न-स्वरूप श्रीकृष्णके साथ लीलाविहार करती हैं। इनके लीलासागरकी विचि[त्र] ऋजु-कुटिल तरंगें हैं। प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव—ये सभी इस लीला-भाव-तरंगोंके ही स्वरूप हैं। इनकी पूर्ण परिणतिका नाम ही 'महाभाव' है और श्रीराधा ही 'महाभावस्वरूपा' हैं। उनमें पूर्वोक्त सभी भावोंका एकत्र अन्तर्भाव है। लीलामें समय-समयपर सभी भावोंका लीला-क्षेत्रानुसार प्रकाश होता है। कभी वे अत्यन्त मानिनी बनकर श्रीकृष्णके द्वारा अत्यन्त विनयपूर्ण मानभङ्ग लीला कराती हैं, तो कभी अपना नितान्त दैन्य प्रकट करती हुई (ललिताजीसे) कहती हैं—

सखी री, हौं अवगुन की खान।
तन गोरी, मन कारी, भारी, पातक पूरन प्रान ॥
नहीं त्याग रंचक मो मन में, भरयौ अमित अभिमान।
नहीं प्रेम कौ लेस सेस, नित निज सुख कौ हौ ध्यान ॥
जग के दुःख-अभाव सतावैं, हो तन पीड़ा-भान।
तब तेइ दुख द्रग स्रवै अश्रुजल, नहिं कछु प्रेम-निदान ॥
तिन दुख-अँसुवन कौं दिखरावौं हौं सुचि प्रेम महान।
करौं कपट, हिय-भाव दुरावौं, रचौं स्वाँग सज्ञान ॥
भोरे प्रियतम मम, बिमुग्ध बन, करैं बिमल गुन गान।
अतिसय प्रेम सराहैं, मोकूँ परम प्रेमिका मान ॥
तुमहू सब मिलि करौ प्रसंसा, तब हौं भरौं गुमान।
करौं अनेक छद्म तेहि छन हौं, रचौं प्रपंच-बितान ॥

स्याम सरल-चित, ठगौं दिवस-निसि हौं करि बिबिध बिधान ।
धृग जीवन मेरौ यह कलुषित, धृग यह मिथ्या मान ॥

'री सखी ! मैं अवगुणोंकी—दोषोंकी खान हूँ । शरीरसे गोरी हूँ, परंतु मनसे बड़ी काली हूँ; मेरे प्राण पातकोंसे पूर्ण हैं । मेरे मनमें रंचकभर भी त्याग नहीं है, अपार अभिमान भरा है । प्रेमका तो लेश भी शेष नहीं है, नित्य-निरन्तर अपने सुखका ही ध्यान रहता है । जब जगत्के दुःख-अभाव सताते हैं और शरीरमें पीड़ाकी अनुभूति होती है, तब उस दुःखके कारण आँखोंसे अश्रुजल बहने लगता है; उसमें तनिक भी प्रेमका कारण नहीं है । पर उन दुःखके आँसुओंको मैं महान् पवित्र प्रेमके आँसू बताकर प्रेम प्रकट करती हूँ । हृदयके भावको छिपाकर कपट करती हूँ और जान-बूझकर स्वाँग रचती हूँ । मेरे भोले-भाले प्रियतम मुझे परम प्रेमिका मानकर विमुग्ध हो मेरा निर्मल गुणगान करते हैं और मेरे प्रेमकी अतिशय प्रशंसा करते हैं । तुम सब भी मिलकर मेरी प्रशंसा करती हो, तब मैं अभिमानसे भर जाती हूँ और उस अपने मिथ्या प्रेमस्वरूपकी रक्षाके लिये अनेक छल-छद्म और प्रपञ्चोंका विस्तार करती हूँ । इस प्रकार मैं सरल-हृदय श्यामसुन्दरको विविध विधियोंसे दिन-रात ठगती रहती हूँ । धिक्कार है मेरे इस कलुषित जीवनको और धिक्कार है मेरे इस मिथ्या मानको !'

गोपी-प्रेमका स्वरूप—स्वभाव है—श्रीराधा-माधवका सुख । वे श्रीराधा-माधवके सुखमें ही सुखका अनुभव करती हैं और नित्य-निरन्तर उनके सुख-संयोग-विधानमें ही लगी रहती हैं । एवं श्रीकृष्णप्राणा श्रीराधाजीका जीवन है श्रीकृष्ण-सुखमय । खाने-पीनेतकमें स्वाद-सुखकी अनुभूति भी उन्हें तभी होती है, जब उससे श्रीकृष्णको सुख होता है । वे 'अहं'को सर्वथा भुलाकर केवल श्रीकृष्णसुखकी ही चिन्ता करती रहती हैं और प्रेम-स्वभावानुसार अपनेमें दोषोंके तथा प्रियतम श्रीकृष्णमें गुणोंके दर्शन करती हुई कहती हैं—

क्षण भर मुझे उदास देख जो कभी प्राणप्रिय ! पाते ।
सारा मोद भूल तुम प्यारे ! अति व्याकुल हो जाते ॥
कभी किसी कारण जब मेरे नेत्रकोण भर आते ।
तब तुम अति विषण्ण हो प्यारे ! आँसू अमित बहाते ॥
कभी म्लानताकी छाया यदि मेरे मुखपर आती ।
लगती देख धड़कने प्रिय ! तत्काल तुम्हारी छाती ॥
मेरे मुख मुसकान देख तुमको अतिशय सुख होता ।
हो आनन्दमग्न अति मन तब सारी सुध-बुध खोता ॥
मुझको सुखी देखने-करनेको ही प्रतिपल प्यारे ।
होते पुण्य विचार मधुर, तब कार्य त्यागमय सारे ॥
मेरा सुख-दुख तनिक तुम्हें अतिशय है सुख-दुख देता ।
मेरा मन नित इन पावन भावोंसे अति सुख लेता ॥
दिया अमित, दे रहे अपरिमित, देते नित्य रहोगे ।
सहे सदा अपमान-अवज्ञा, आगे सदा सहोगे ॥
किया न प्यार कभी सच्चा, मैंने निज सुख ही देखा ।
निज सुख हेतु रुलाया, कभी हँसाया, किया न लेखा ॥
दे न सकी मैं तुम्हें कभी कुछ सुख-सामग्री कोई ।
निज मन-इन्द्रिय-तृप्ति हेतु मैंने सब आयुष् खोई ॥
बुरा मानना, दोष देखना, पर तुमने नहिं जाना ।
मेरे स्वार्थसने कामोंको सदा प्रेममय माना ॥
मत्सुखकारक विमल प्रेमको मैंने नित ठुकराया ।
तब भी प्रेम तुम्हारा मैंने नित बढ़ता ही पाया ॥
तुम-से तुम ही हो, अग-जगमें तुलना नहीं तुम्हारी ।
मेरा अति सौभाग्य यही, जो मान रहे तुम प्यारी ॥

'प्राणप्रियतम ! मुझे क्षणभरके लिये यदि कभी तुम उदास देख पाते हो तो प्रियतम ! सारा आनन्द भूलकर तुम अत्यन्त व्याकुल हो उठते हो । कभी किसी कारण जब मेरे नेत्रकोण भर आते हैं, तब तुम अत्यन्त उदास होकर आँखोंसे अपार आँसू बहाने लगते हो । कभी यदि मेरे मुखपर तनिक-सी म्लानताकी छाया भी आ जाती है तो उसे देखकर उसी क्षण तुम्हारी छाती धड़कने लगती है । कभी मेरे मुखपर तनिक मुसकान देख लेते हो तो तुमको अतिशय सुख होता है और तुम्हारा मन अत्यन्त आनन्दमग्न होकर सारी सुध-बुध खो देता है । मुझको सुखी बनाने और सुखी देखनेके लिये ही प्रियतम ! प्रतिपल तुम्हारे मधुर पवित्र विचार और त्यागमय समस्त कार्य होते हैं । मेरे तनिक-से सुख-दुःख तुम्हें अतिशय सुख-दुःख देते हैं । तुम्हारे इन पवित्र भावोंको ग्रहण करके मेरा मन निरन्तर अत्यन्त सुखका अनुभव करता है ।

'तुमने मुझको अपरिमित दिया, अपरिमित दे रहे हो और आगे भी सदा अपरिमित देते ही रहोगे । तुम मेरेद्वारा सदा ही अपमान-अवज्ञा सहते आये हो और भविष्यमें भी सदा सहते ही रहोगे । मैंने कभी सच्चा प्रेम नहीं किया,

केवल अपना ही सुख देखा। अपने ही सुखके लिये तुम्हें कभी रुलाया, कभी हँसाया। कुछ भी हिसाब नहीं रखा। मैं तुम्हें कभी कुछ भी सुखकी सामग्री नहीं दे सकी। मैंने अपनी सारी आयु अपने मन-इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये ही खो दी। पर तुमने तो कभी बुरा मानना, मेरे दोष देखना जाना ही नहीं और मेरे स्वार्थपूर्ण कार्योंको सदा प्रेममय ही माना। मुझे सुखी करनेवाले तुम्हारे निर्मल प्रेमको मैंने सदा ठुकराया, तब भी अपने प्रति तुम्हारे प्रेमको मैंने निरन्तर बढ़ता ही पाया। प्रियतम! इस अग-जगमें तुम-सरीखे एक तुम्हीं हो! तुम्हारी कहीं तुलना नहीं है। मेरा यही अत्यन्त सौभाग्य है, जो तुम मुझे अपनी प्रिया मान रहे हो!'

× × × ×

इसी प्रकार श्रीकृष्ण सदा अपने दोष देखते और श्रीराधाकी असाधारण गुणावलिपर विमुग्ध होकर उनके गुण-गानमें ही अपना सौभाग्य समझते हैं। जगत्के प्रेमी सिद्ध महापुरुषोंके प्रेमका निर्मल उच्च आदर्श दिखलाते हुए तथा साधन एवं तत्त्व बतलाते हुए वे श्रीराधाजीसे कहते हैं——

प्रिये! तुम्हारा-मेरा यह अति निर्मल परम प्रेम-सम्बन्ध।
सदा शुद्ध आनन्दरूप है, इसमें नहीं काम-दुर्गन्ध॥
कबसे है, कुछ पता नहीं, पर जाता नित अनन्तकी ओर।
पूर्ण समर्पण किसका किसमें, कहीं नहीं मिलता कुछ छोर॥
सदा एक, पर सदा बने दो, करते लीला-रस-आस्वाद।
कभी न बासी होता रस यह, कभी नहीं होता विस्वाद॥
नित्य नवीन मधुर लीला-रस भी न भिन्न, पर रहता भिन्न।
नव-नव रस-सुख सर्जन करता, कभी न होने देता खिन्न॥
परम सुहृद, घन परम, परम आत्मीय, परम प्रेमास्पद रूप।
हम दोनों दोनोंके हैं नित, बने रहेंगे नित्य अनूप॥
कहते नहीं, जनाते कुछ भी, कभी परस्पर भी यह बात।
रहते बसे हृदयमें दोनों, दोनोंके पुनीत अवदात॥
नहीं किसीसे लेन-देन कुछ, जगमें नहीं किसीसे काम।
नहीं कभी कुछ इन्द्रिय-सुखकी कलुष कामना अपगति-धाम॥
नहीं कर्मका कहीं प्रयोजन, नहीं ज्ञानका तत्त्वादेश।
नहीं भक्ति-साधन विधिसंगत, नहीं योग अष्टाङ्ग विशेष॥
नहीं मुक्तिको स्थान कहीं भी, नहीं बन्धभयका लवलेश।
आत्मरूप सब हुआ प्रेमसागरमें, कुछ भी बचा न शेष॥
प्रेम-उदधि यह तल गभीरमें रहता शान्त, अडोल, अतोल।
पर उसमें उन्मुक्त उठा करते हैं नित्य अमित हिल्लोल॥
उठती वहीं असंख्य रूपमें ऊपर उसमें विपुल तरंग।
पर उन तरल तरंगोंमें भी उसकी शान्ति न होती भङ्ग॥
अडिग, शान्त, अक्षुब्ध सदा गम्भीर सुधामय प्रेम-समुद्र।
रहता नित्य उच्छलित, नित्य तरंगित, नृत्य निरत अक्षुद्र॥
शान्त नित्य नव-नर्तनमय वह परम मधुर रसनिधि सविशेष।
लहराता रहता अनन्त वह नित्य हमारे शुचि हृद्देश॥
उसकी विविध तरंगें ही करतीं नित नव लीला-उन्मेष।
वही हमारा जीवन है, है वही हमारा शेषी-शेष॥
कौन निर्वचन कर सकता, जब परमहंस मुनि-मन असमर्थ।
भोक्ता-भोग्यरहित, विचित्र अति गति, कहना-सुनना सब व्यर्थ॥

"प्रियतमे! तुम्हारा और मेरा यह अत्यन्त निर्मल प्रेम-सम्बन्ध सदा विशुद्ध आनन्दरूप है, इसमें काम-दुर्गन्ध है ही नहीं। यह कबसे है, कुछ पता नहीं; परंतु यह नित्य-निरन्तर जा रहा है अनन्तकी ओर। किसका किसमें पूर्ण समर्पण है, इसका कहीं कुछ भी पता नहीं लगता। हम सदा एक हैं, परंतु सदा दो बने हुए लीला-रसका आस्वादन करते हैं। यह रस न कभी बासी होता है न इसका स्वाद ही बिगड़ता है। यह नित्य नवीन मधुर रहता है। यह लीला-रस भी हमारे स्वरूपसे भिन्न नहीं है, पर भिन्न रहता हुआ ही सदा नये-नये रस-सुखकी सृष्टि करता रहता है। कभी खिन्नता नहीं आने देता। हम दोनों ही दोनोंके नित्य अनुपम परम सुहृद्, परम घन, परम आत्मीय और परम प्रेमास्पद हैं। पर न तो कभी परस्परमें भी इस बातको कहते हैं और न कुछ जनाते ही हैं। हम दोनों ही दोनोंके हृदयमें पवित्र उज्ज्वल रूपमें सदा बसे रहते हैं। न किसी अन्यसे हमारा कुछ भी लेन-देन है, न जगत्में किसीसे कुछ काम ही है और न दुर्गतिके धामरूप इन्द्रिय-सुखकी ही कभी कुछ कलुषित कामना होती है।

"वस्तुतः न तो हमारा कहीं 'कर्म' से कुछ प्रयोजन है, न हमपर तत्त्वज्ञानका ही कोई आदेश है; न हममें विधि-संगत भक्ति-साधन है और न अष्टाङ्ग योग-विशेष है—यहाँ-तक कि मुक्तिके लिये भी कहीं हमारे जीवनमें स्थान नहीं है तथा बन्धनके भयका भी लवलेश नहीं है। सब कुछ प्रेमसागरने आत्मसात् कर लिया है। कुछ शेष बचा ही नहीं।

"वह प्रेम-समुद्र तलमें सदा ही अतुलनीय गम्भीर, शान्त और अचल रहता है; पर उसमें उन्मुक्त रूपसे नित्य

अपरिमित हिलोर उठते रहते हैं। वहाँ ऊपर असंख्य विपुल तरंगें नाचती रहती हैं, परंतु उन तरुण तरंगावलियोंसे उसके तलकी शान्ति कभी भङ्ग नहीं होती। यह सुधामय महान् प्रेम-समुद्र सदा ही अचल, अक्षुब्ध और शान्त बना रहता है; पर साथ ही यह नित्य उछलता, नित्य लहराता और नित्य नाचता भी रहता है। यह शान्त और नित्य नवीनरूपसे नृत्यरत, विशेषरूपसे परम मधुर अनन्त रस-समुद्र नित्य-निरन्तर हमारे पवित्र हृदय-देशमें लहराता रहता है। इसकी विविध तरंगें ही नित्य नवीन लीला-रसका उन्मेष करती हैं। हम परस्पर प्रेमी-प्रेमास्पद प्रिया-प्रियतमका यही जीवन है—यही हमारा शेष है और यही शेषी है। जब परमहंस मुनियोंका मन भी असमर्थ है, तब इस भोक्ता-भोग्य रहित, अत्यन्त विचित्र गतियुक्त हमारे स्वरूपका तथा इस प्रेम-रसका निर्वचन कौन कर सकता है। यहाँ कुछ कहना-सुनना सभी व्यर्थ है।"

श्रीराधा-माधवकी मधुर लीला अनन्त है। जिन भाग्यवानोंके मानस नेत्रोंमें इसका उदय होता है, वे ही इसके आनन्दका अनुभव करते हैं। अनिर्वचनीयका निर्वचन तो असम्भव ही है—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।'

आज रस-प्रेम-स्वरूप श्रीश्यामसुन्दरकी अभिन्नरूपा श्रीराधाका यह प्राकट्य-महोत्सव है। हमारा परम सौभाग्य है कि इस सुअवसरपर श्रीराधाके चरण-स्मरणका यह शुभ संयोग उपस्थित हुआ है। आइये, अन्तमें हम सब मिलकर प्रार्थना करें—

(क)

राधाजू! हम पै आजु ढरौ।
निज, निज प्रीतम की पद-रज-रति हमैं प्रदान करौ॥
विषम विषय-रस की सब आसा-ममता तुरत हरौ।
मुक्ति-मुक्ति की सकल कामना सत्वर नास करौ॥
निज चाकर-चाकर-चाकर की सेवा दान करौ।
राखौ सदा निकुंज निभृत में, झाड़ूदार बरौ॥

(ख)

दयामयि स्वामिनि परम उदार!
पद-किंकरि की किंकरि-किंकरि करौ मोय स्वीकार॥
दूर करौं निकुंज-मग कंटक-कुस सब सदा बुहार।
स्वच्छ करौं तव पगतरि पावन, धूर-धार सब झार॥
देखौं दूरहि तैं तव प्रियतम संग सुललित बिहार।
नित्य निहारत रहौं, मिलै कछु सेवा कौ सनकार॥
पद-सेवन कौ बढ़ै चाव नित काल अनंत अपार।
अर्पित रहै सदा सेवा में अंग-अंग अनिवार॥
कबहुँ न जगै दूसरी तृस्ना, कबहुँ न अन्य विचार।
रहै न कितहूँ कछु 'मेरौपन', 'अहंकार' होय छार॥
होंय तुम्हारे मन के ही; बस, मेरे सब ब्यौहार।
बनौ रहै नित तुम्हरौ ही सुख मेरौ प्रानाधार॥

(ग)

स्याम-स्वामिनी राधिके! करौ कृपा कौ दान।
सुनत रहैं मुरली मधुर, मधुमय बानी कान॥
पद-पंकज-मकरंद नित पियत रहैं दृग-भृंग।
करत रहैं सेवा परम सतत सकल सुचि अंग॥
रसना नित पाती रहै दुर्लभ मुक्त प्रसाद।
बानी नित लेती रहै नाम-गुननि रस-स्वाद॥
लगौ रहै मन अनवरत तुममें आठौ जाम।
अन्य स्मृति सब लोप हों सुमिरत छबि अभिराम॥
बढ़त रहै नित पलहिं-पल दिव्य तुम्हारौ प्रेम।
सम होवैं सब छंद पुनि, बिसरैं जोगच्छेम॥
मुक्ति-मुक्ति की सुधि मिटै, उछलै प्रेम-तरंग।
राधा-माधव सरस सुधि करै तुरत भव-भंग॥

(घ)

हे राधे! हे श्याम-प्रियतमे! हम हैं अतिशय पामर, दीन।
भोग-रागमय, काम-कलुषमय मन प्रपञ्च-रत, नित्य मलीन॥
शुचितम, दिव्य तुम्हारा दुर्लभ यह चिन्मय रसमय दरबार।
ऋषि-मुनि-ज्ञानी-योगीका भी नहीं यहाँ प्रवेश-अधिकार॥
फिर हम-जैसे पामर प्राणी कैसे इसमें करें प्रवेश।
मनके कुटिल, बनाये सुन्दर ऊपरसे प्रेमीका वेश॥
पर राधे! यह सुनो हमारी दैन्यभरी अति करुण पुकार।
पड़े एक कोनेमें जो हम देख सकें रसमय दरबार॥
अथवा जूती साफ करें, झाड़ू दें—सौंपो यह शुचि काम।
रजकणके लगते ही होंगे नाश हमारे पाप तमाम॥
होगा दम्भ दूर, फिर पाकर कृपा तुम्हारीका कण-लेश।
जिससे हम भी हो जायेंगे रहने लायक तव पद-देश॥
जैसे-तैसे हैं, पर स्वामिनि! हैं हम सदा तुम्हारे दास।
तुम्हीं दया कर दोष हरो, फिर दे दो निज पद-तलमें वास॥
सहज दयामयि! दीनवत्सला! ऐसा करो स्नेहका दान।
जीवन-[illegible] हो, जिससे कर पद-पङ्कज-मधुका पान॥

बोलो श्रीकीर्तिकुमारी वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णानन्दिनी राधारानीकी जय ! जय !! जय !!!*

*भगवती श्रीराधाजीका प्राकट्य-महोत्सव नयी वस्तु नहीं है। पाँच हजार वर्ष पूर्व जब उनका धराधामपर अवतार हुआ, तभीसे प्रतिवर्ष यह महोत्सव मनाया जाता है। शास्त्रोंमें इसकी स्पष्ट आज्ञा है। 'पद्मपुराण'में स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिवर्ष महोत्सव मनानेका आदेश है तथा उसका महान् फल बतलाया गया है—

'प्रत्यब्दमेव कुरुते राधाजन्ममहोत्सवम् ।' (पद्मपुराण, उत्तर०, अ० १६३)

अवश्य ही श्रीराधाजीका सम्बन्ध लौकिक लीलासे कम रहा और भगवान्‌की आनन्दरूपा निजशक्ति होनेके कारण उनके आनन्दविधानसे ही विशेष सम्बन्ध रहा; अतः भगवान् श्रीकृष्णकी जैसे विभिन्न रूपोंमें तथा भावोंसे सर्वत्र पूजा-उपासना हुई, उनका प्राकट्य-महोत्सव जैसे सर्वत्र मनाया जाने लगा, वैसे श्रीराधाजीका स्वाभाविक ही नहीं मनाया गया। परंतु भगवत्प्रेमके उच्चतम साधन-राज्यमें तो श्रीराधाजीके दिव्य आदर्शको सामने रखनेकी परम अनिवार्य आवश्यकता है ही, विश्वजगत्‌के मानव-प्राणीके लिये भी पारस्परिक प्रेमकी वृद्धिके हेतु जिस त्यागकी आवश्यकता है और जिसके बिना प्रेम केवल मोहका पर्यायवाची बना रहता है, वह त्याग श्रीराधाजीके परम त्यागमय जीवनको ही आदर्श मानकर चलनेसे शीघ्र सिद्ध हो सकता है। इसके लिये श्रीराधाजीके दिव्य प्रेमका, दिव्य भावोंका, उनके महान् त्यागका, उनकी दिव्य जीवनचर्याका और उनके स्वरूप-तत्त्वका स्मरण परम आवश्यक है और इसी महान् उद्देश्यको लेकर हमारे परम श्रद्धेय नित्यलीलालीन श्रीभाईजीने लगभग ३१वर्ष पूर्व प्राचीन परम्परागत श्रीराधा-जन्म-महोत्सवको देशभरमें व्यापक रूप देने, उनकी महान् शिक्षाका प्रचार-प्रसार करके उसके द्वारा क्षुद्र 'स्व' की सेवामें लगे हुए पशुता तथा असुरताकी ओर जाते हुए अधोगामी मनुष्यको ऊपर उठाकर उसको वास्तविक मानव बनाने तथा साधनाके उच्च स्तरपर पहुँचानेके लिये; इस आयोजनका एक महोत्सवके रूपमें अपने यहाँ प्रारम्भ किया था। अपने निवासस्थान गीतावाटिका (गोरखपुर) में श्रीभाईजी इस उत्सवको बड़ी ही भव्यता एवं उल्लासके साथ मनाते थे। भगवान् श्रीराधा-माधवकी कृपासे इस आयोजनमें उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त होती गयी और यह आयोजन साधनाके एक विशाल बोधिवृक्षके रूपमें परिणत हो गया। इतना ही नहीं, यहाँके महोत्सवसे प्रेरणा ग्रहणकर तथा 'कल्याण' में प्रकाशित इन महोत्सवोंपर दिये गये परमश्रद्धेय श्रीभाईजीके अनुभूतिपूर्ण, सारगर्भित प्रवचनोंसे प्रभावित होकर भावुक भक्त देशके कोने-कोनेमें श्रीराधारानीका यह प्राकट्य-उत्सव मनाने लगे हैं। इसकी व्यापकता दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। परिणामस्वरूप श्रीराधारानी तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके सम्बन्धमें फैले हुए मोहजनित दुर्भावोंका नाश होकर उनके परमोच्च दिव्य जीवनकी भी झाँकी कहीं-कहीं होने लगी है। आध्यात्मिक जगत् परमश्रद्धेय श्रीभाईजीके इस परम पावन प्रयासके प्रति सदा ऋणी रहेगा।

हमारी श्रीराधारानीके भक्तोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे अपने-अपने स्थानपर व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूपसे प्रतिवर्ष इस महोत्सवका आयोजन करें और श्रीराधारानीकी कृपा प्राप्त करें। साथ ही परम भागवत श्रीभाईजीद्वारा प्रचारित साधना-जगत्‌की एक महती परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखनेमें; अपना सहयोग प्रदानकर पुण्यके भागी बनें।

—चिम्मनलाल गोस्वामी

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको समर्पित करनेकी सच्ची चाह जाग्रत् करें

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः॥
(पद्म० उत्तर० ७२ । १००)

बस, मनुष्य-जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि निरन्तर श्रीभगवान्‌को स्मरण किया जाय। उपर्युक्त वचन महर्षि श्रीवेदव्यासके हैं, जिनके वचन त्रिकाल-सत्य हैं। वे कहते हैं कि शास्त्रमें जितनी विधियाँ हैं अर्थात् 'ऐसा करो' और जितने निषेध हैं अर्थात् 'ऐसा नहीं करो', सबका अन्तर्भाव—सबका पर्यवसान इसीमें है कि निरन्तर भगवान्‌को याद रक्खो और कभी भगवान्‌को मत भूलो।

हम लोगोंने अनन्त जन्मोंमें अनन्त बार परिवार इकट्ठे किये, अनन्त बार गृहस्थी की, अनन्त बार 'मेरा-मेरा' कहकर अनन्त प्राणियोंका मोह-जाल बाँधा, किंतु किसी भी जन्ममें एक बारके लिये भी हृदयसे, सच्चे मनसे श्रीभगवान्‌को 'मेरा' कहकर नहीं पुकारा, वरण नहीं किया। यदि यह किया होता तो फिर अब हमारी यह दशा नहीं होती। इसलिये इस बार अब भूल न करें। हृदयकी सारी शक्ति लेकर उनके चरणोंमें अपने आपको समर्पित करनेकी सच्ची चाह जाग्रत् करें। फिर प्रभु कृपामय हैं; वे देखेंगे कि ये सब अपनी नीयतभर बाज नहीं आ रहे हैं, इन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी है, इसलिये अब मैं इन्हें सँभाल लूँ। जिस दिन अन्तर्हृदयकी सच्ची चाहका प्रतिबिम्ब श्रीभगवान्‌के हृदय-में पड़ा कि उसी क्षण प्रतिक्रिया होगी, उनका संकल्प होगा और सब तत्क्षण उनके चरणोंमें पहुँच जायँगे।

जैसे भी हो, जिह्वाको श्रीभगवन्नामके उच्चारणमें लगाइये

प्रश्न है कि सच्ची चाह उत्पन्न कैसे हो। संतोंका यह अनुभव है कि मलिन मनमें शुद्ध चाह उत्पन्न नहीं होती। इसलिये सबसे पहले मनको शुद्ध करना है। मन शुद्ध करनेका उपाय आजकलके लिये एक ही है। वह उपाय है, भगवद्भजन—भगवत्स्मरण। किंतु मलिन मन भगवद्भजनमें लग जाय, यह भी कठिन है। इसलिये एक काम करें—जिह्वासे ही भजन करें—लेते जायँ भगवान्‌का नाम। नाममें ऐसी अपूर्व शक्ति है कि अपने-आप मन लगने लगेगा। बिना श्रद्धा, बिना प्रेम, केवल हठपूर्वक जिह्वाको श्रीभगवन्नामके उच्चारणमें लगाइये; मन लगे तो उत्तम है, नहीं तो कोई परवा नहीं। यदि जिह्वाने नामका आश्रय नहीं छोड़ा तो सब कुछ अपने-आप नामकी कृपासे हो जायगा। श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराजने कहा—'कोई अमृत-के कुण्डमें उतरकर अमृत-पान करे अथवा पैर फिसल-कर गिर पड़े अथवा किसीके ढकेल देनेपर गिर पड़े, अथवा जान-बूझकर जबर्दस्ती उस कुण्डमें गिरा दिया जाय, यदि अमृतका संस्पर्श हुआ तो गिरनेवाला चाहे किसी प्रकारसे ही गिरा हो, अमर हो जायगा। उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के नामसे सम्बन्ध किसी प्रकार भी क्यों न हो, यह सर्वथा दुःखसे छुड़ाकर अत्यन्त आनन्दमय प्रभुके चरणोंमें ले जानेवाला है।'

इसलिये पुनः-पुनः एक ही प्रार्थना है कि वाणीका संयम कर लें। विनोद करके क्या होगा ? क्षणभङ्गुर जीवनमें विनोद, हँसी-मजाकका अवसर नहीं है। बहुत रास्ता तै करना है। आवश्यक काम प्रभुकी सेवा समझकर करना है, इसीलिये आवश्यकतानुसार बोलनेकी

जरूरत होनेपर बोल लिया करें । ध्यान रखें कि कम-से-कम बोलकर ही काम चला लिया जाय और इसके बाद बाकी जो समय मिले, उसमें निरन्तर भगवन्नामकी ध्वनि होती रहे । धीरे-धीरे या जोर-जोरसे—जैसे भी सम्भव हो एवं सुविधासे हो ।

इस बातपर बड़ी गम्भीरतासे विचार करेंगे । समय अनमोल है; जो श्वास गया, वह फिर नहीं लौटेगा । भगवन्नामके बिना गया हुआ श्वास व्यर्थ हुआ । मृत्युका ठिकाना नहीं कि कब आकर यहाँका सब खेल मिटा दे । मेरे इस कथनसे किसी प्रकार निराश होनेकी जरूरत नहीं है । जरूरत है केवल अपनी ओरसे पूरी शक्ति लगाकर भगवान्‌को पुकारनेकी । हमारी शक्ति, चाहे कितनी भी क्षीण क्यों न हो, यदि भगवान्‌में लगा दी जाय अर्थात् भगवान्‌की शक्तिसे संयुक्त कर दी जाय तो फिर उस क्षीण शक्तिकी ताकत इतनी बढ़ जाती है कि उसके द्वारा हम अपनी बुराइयोंको दूर करके सर्व-दुर्लभ भगवच्चरणोंको प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये भगवत्कृपाकी डोरीको अपनी ओर खींचते रहें ।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

× × ×

जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥

× × ×

ऐसी कवन प्रभु की रीति।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पै प्रीति॥

(विनयपत्रिका २१४)

—इन वचनोंपर श्रद्धा बढ़ाते रहें । संतोंका कहना है कि यदि कोई सचमुच भगवत्कृपापर निर्भर हो जाय तो फिर वह अपने-आप आवश्यक साधनोंसे सम्पन्न हो जाता है । उसके लिये सब कुछ भगवान्‌की कृपा कर देती है ।

सारांश यह है कि भगवत्कृपा और नामको अवलम्बन बनाकर जीवनके दिन बितायें । जगत् एवं जागतिक चेष्टासे अलग होनेकी चेष्टा करें ।

आजका वातावरण भगवन्मार्गमें किसीको प्रोत्साहन दे, ऐसी आशा कम रखियेगा । कलियुगका निरन्तर बढ़ता हुआ प्रभाव साधना करनेवालोंको अभिभूत कर रहा है। फिर जो भगवान्‌से विमुख हैं, उनकी तो बात ही क्या है। इसलिये इस मार्गमें अकेले बढ़ना होगा । रोकनेवाले बहुत मिलेंगे, बढ़ानेवाले विरले । आपका मन कभी कर्तव्यके नामपर, कभी धर्मके नामपर आपको भगवान्‌से हटाकर जगत्‌में लगायेगा । इसलिये सावधान रहें ।

हम कहीं भी रहें, किसी भी अवस्थामें रहें, भजनको पकड़ें

माता देवहूतिजी कहती हैं—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

(श्रीमद्भा० ३ । ३३ । ७)

'बड़े आश्चर्यकी बात है—जिसने तुम्हारा नाम लिया, उसने सारी तपस्या कर डाली, हवन कर लिये, तीर्थ-स्नान कर लिया, वेद-पारायण कर लिया एवं उसने सभी आर्यगुणोंका संचय कर लिया । इसलिये जिसकी जीभपर तुम्हारा नाम है, वह चाण्डाल होनेपर भी अत्यन्त पूज्य है ।'

उपर्युक्त श्लोकको पढ़कर मनमें कई बार यह बात आती है कि सचमुच कलियुगके अनर्थकारी वातावरणमें पड़कर हमलोगोंने शास्त्रोंपर श्रद्धा खो दी; अन्यथा श्रीमद्भागवतके एक बार पढ़ लेनेपर फिर भगवान्‌का नाम कैसे छूटना चाहिये । ये वचन अर्थवाद नहीं हैं। इनको कहनेवाली स्वयं भगवज्जननी हैं एवं जगत्‌पर प्रकट करनेवाले महर्षि वेदव्यास हैं । किंतु समयके फेरसे हम इसे पढ़कर भी नहीं पढ़ते, सुनकर भी नहीं सुनते ।

मन कभी-कभी विचित्र तरहसे धोखा देता है। भजनमें लगना चाहता नहीं, इसलिये अनेक युक्तियोंसे मनुष्यको प्रलोभित करता है। मन तीर्थ करनेकी सलाह देता है, बड़ी-बड़ी आडम्बरपूर्ण चेष्टाओंके द्वारा उपासनाके लिये प्रेरित करता है, तपस्याका नया-नया रूप लाकर सामने रखता है, दया एवं धर्माचरणकी नयी-नयी योजना उपस्थित करता है, किंतु एकनिष्ठ होकर निरन्तर भजनकी सलाह बहुत कम देता है—जिस एक भजनसे सर्वस्वकी सिद्धि अत्यन्त सुलभतासे होती है, उसमें प्रवृत्त नहीं होने देता। इसीलिये महात्मा पुरुष कहते हैं—'सावधान रहो, भजनको मुख्य बनाओ, और सारे कर्मोंको गौण रखो।'

उपर्युक्त कथनका यह अर्थ नहीं है कि तीर्थ नहीं करना चाहिये। यदि सम्भव हो तो अवश्य करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक एवं पापरहित तीर्थाटन अत्यन्त हितकर होता है। किंतु यदि हमें भगवान्‌ने ऐसी परिस्थितिमें रखा हो, जहाँ तीर्थाटन सुगम न हो, बड़े-बड़े पुण्यकर्मोंका आचरण कठिन हो तो इससे हताश होनेकी कोई बात नहीं है। सबका फल हमें मिल जायगा, यदि हमने ठीक भजन किया। तीर्थमें तीर्थपन क्या है, यह विचारें। किसी भी धर्म, किसी भी सम्प्रदायका कोई भी तीर्थ क्यों न हो, उसका तीर्थपन दो बातोंके कारण ही है—(१) या तो भगवान्‌ने वहाँ साक्षात् कोई लीला की है अथवा (२) किसी संतने उपासना की है (उपासनाका प्रकार भिन्न-भिन्न हो सकता है)। अतः यदि हमने ठीक जैसा चाहिये वैसा भजन किया तो प्रभु हमें कृतार्थ करनेके लिये अवतीर्ण होकर एक नये तीर्थका निर्माण कर सकते हैं। इसलिये हम कहीं भी रहें, किसी भी अवस्थामें रहें, भजनको पकड़ें। मन नहीं लगता, कोई बात नहीं; जीभके द्वारा भगवान्‌के नामका आश्रय लें—**जिह्वाग्रे, न हि मनसः अग्रे।** इस भजनसे ही जगन्नियन्ता सर्वेश्वर हमारे पास आ जायँगे—आ ही नहीं जायँगे, बल्कि सर्वेश्वर, सर्वस्वतन्त्र होकर भी भजनेवालेके अधीन हो जायँगे।

'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥'
(मानस १। २५। ३)

यह सर्वथा सत्य सिद्धान्त है।

मृत्यु सच्चे प्रेमियोंके लिये स्वागतकी वस्तु होती है

मृत्युका नियन्त्रण करनेवाले श्रीभगवान् हैं, जो किसीका कभी भी अमङ्गल नहीं करते। उनकी भेजी हुई मृत्यु हमें अमङ्गलमयी दीखती है, किंतु उसकी आड़में हमारा कितना मङ्गल है—इसकी कल्पना हम नहीं कर सकते। हाँ, यदि हम चाहें तो हम स्वयं मृत्युका आनन्द ले सकते हैं। जो मृत्यु जगत्‌के लिये अत्यन्त भयानक है, वही सच्चे प्रेमियोंके लिये, प्रभुके प्रियजनोंके लिये अत्यन्त स्वागतकी वस्तु होती है; क्योंकि मृत्यु उन्हें अपने प्रियतम प्रभुके अत्यन्त निकट पहुँचा देती है। अवश्य ही यह कहना-सुनना बड़ा आसान है, वास्तविक मृत्युको इस रूपमें स्वीकार करना थोड़ा कठिन है। किंतु भगवान्‌की कृपासे असम्भव कुछ भी नहीं—यह बात भी भूलनी नहीं चाहिये।

अन्तिम बात यही है—हम सब लोग भजन करें।

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी-३

[लेखक—डॉ० (सेठ) श्रीगोविन्ददासजी]

[गताङ्क पृष्ठ १०७८ से आगे]

तीसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—फतेहपुर सीकरीके किलेमें सम्राट् अकबरका शयनागार।

समय—रात्रि।

[लाल पत्थरोंसे निर्मित फतेहपुर सीकरीके किलेके इस कक्षकी दीवारें भी लाल पत्थरोंकी ही हैं। तीन ओरकी दीवारें दिखती हैं, जो अत्यन्त भव्य हैं। दाहिनी ओर बाँयी दीवारके सिरोंपर बड़े-बड़े दरवाजें हैं, जिनकी चौखटों और पल्लोंकी लकड़ीपर खुदावका काम है। उन दरवाजोंपर कमख्वाबके मेहराबदार परदे लगे हुए हैं। भूमिपर रंग-बिरंगा फूल-पत्तीवाला ईरानी कालीन है। पीछेकी दीवारके दाहिनी ओर सोनेके पायोंवाला पलंग है, जिसपर श्वेत चादर और श्वेत खोलीसे ढके हुए तकिये लगे हैं। इसी दीवारके बाँयीं ओर बैठनेकी एक बड़ी गादीदार चौकी (कुर्सी) और एक छोटी गादीदार चौकी रखी है। कक्षकी छतपर रेशमी जरीकी चाँदनी लगी है, जिसमें झाड़-फानूस टँगे हैं। बड़ी चौकीपर सम्राट् अकबर बैठे हैं और छोटीपर राजा बीरबल। अकबर ढीला कुरता और ढीला पाजामा पहने हैं। सिर खुला हुआ है, जिसपर मुग़लकालके पट्टे दीख पड़ते हैं। अकबरके गलेमें बड़े-बड़े मोतियोंका दो लड़ोंका कंठा है। बीरबल राजसी वेशमें हैं। घेरदार जामेके सदृश अँगरखा, पाजामा और मुगलकालीन पगड़ी, जिसपर रतनजटित सिरपेंच बँधा है।]

अकबर—हाँ, मैं समझता हूँ मेरी सारी सल्तनतमें विट्ठलनाथके मानिंद कोई संत नहीं है। उन्होंने जिस तरह रूहानी और जिस्मानी बातोंका मेल-मिलाप किया है, उस तरह शायद किसी दूसरेने नहीं।

बीरबल—शायद ही नहीं, जहाँपनाह! तमाम तवारीखमें ऐसे किसी शख्सकी मिसाल नहीं मिलती।

अकबर—फिर उनका यह मानना कि तमाम काम खुदाके हैं और यही मानकर खुदाके लिये ही सारे काम करना एक खसूसियत है।

बीरबल—बेशक!

अकबर—और देखो, बीरबल! अपने छोटे-से कच्चे मकानमें ज्यादा-से-ज्यादा सादगीसे रहते हैं। साथ ही मुनासिब मौकोंपर शाही लिबास भी होता है।

बीरबल—फिर दूसरी बातोंपर भी ग़ौर कीजिये। श्रीनाथजीके अधिकारीकी बंदीखानेसे रिहाईके बिना पानी भी न पीनेकी शपथ और कौन ले सकता था!

अकबर—और फिर कैसे अधिकारीकी रिहाईके मुताल्लिक शपथ, जिसने उनके लिये श्रीनाथजीकी ड्योढ़ी ही छः महीनेसे बंद करा दी थी।

बीरबल—माँ-बदौलत शायद जानते होंगे कि उन छः महीनोंमें विट्ठलनाथजीने अन्न छोड़ दिया था और यह प्रतिज्ञा की थी कि वे अन्न तभी खायेंगे, जब उन्हें श्रीनाथजीके दर्शन मिल जायँगे।

अकबर—और ये दर्शन भी उन्होंने शाही फ़रमानपर करना मंजूर नहीं किया। (कुछ रुककर) हालाँकि उनके बड़े भाईके लड़के पुरुषोत्तमकी इतनी कम उम्रमें मौत होना एक अफसोसकी बात है, पर परवरदिगार जो कुछ करता है अच्छेके लिये ही करता है। इसकी वजहसे अब श्रीनाथजीके मन्दिरके तिलकायतका झगड़ा निपट गया और विट्ठलनाथ तिलकायत हो गये।

बीरबल--आप ठीक फरमा रहे हैं, जहाँपनाह ! पर आप शायद जानते होंगे कि विट्ठलनाथजीको तिलकायत होनेकी जरा भी परवा नहीं थी । वे तो कहते थे, उनका काम सेवा करना है । अपने बड़े भाईके तिलकायत रहते हुए भी वे सेवा करते थे और चाहे कोई भी तिलकायत हो, वे सेवा करते रहेंगे ।

अकबर--जानता हूँ, यही सब तो उनकी खूबी है ।

(कुछ देर निःस्तब्धता)

अकबर--बीरबल ! उस दिन जब तुम मुझे वेष बदलकर श्रीनाथजीके दर्शन कराने ले गये थे, तब जानते हो, मुझे क्या दीखा ?

बीरबल--क्या, जहाँपनाह ?

अकबर--श्रीनाथजीके एक बाजू नवनीतप्रिय पालना झूल रहे थे और उन्हें झुला रहे थे विट्ठलनाथ । पहले तो मुझे यही दीखा कि विट्ठलनाथ नवनीतप्रियको झुला रहे हैं, पर फिर एकदमसे सारा नजारा बदल गया । दीखा कि पालनेमें विट्ठलनाथ बैठे हैं और नवनीतप्रिय कृष्णकी शक्लमें उन्हें पालना झुला रहे हैं । कभी दिखता, विट्ठलनाथ नवनीतप्रियको झुला रहे हैं और कभी दिखता नवनीतप्रिय विट्ठलनाथको । जबतक मैं दर्शन करता रहा, इसी तरहका खेल चलता रहा ।

बीरबल—मुझे वह अनुभव नहीं हुआ, जो माँ-बदौलतको हुआ । बात यह है कि मेरा दिल अभी वैसा साफ-सुथरा नहीं बन पाया है, जैसा जहाँपनाहका है । ऐसा अनुभव उन्हींको हो सकता है, जिनका दिल स्फटिकके माफिक निर्मल हो जाय । और फिर एक बात और है ।

अकबर—क्या ?

बीरबल—वल्लभाचार्यजीके सम्प्रदायका सिद्धान्त है —शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद ।

अकबर--इन लफ़्ज़ोंको मुझे ज़रा और समझाओ, क्योंकि तुम जानते हो, मुख्तलिफ़ सम्प्रदायोंके उसूलोंको समझनेमें मेरी बड़ी दिलचस्पी है ।

बीरबल—'शुद्धाद्वैत'का मतलब है–वह अद्वैत, जो शुद्ध है। और 'ब्रह्मवाद'का मतलब है—सब कुछ, जो दिखायी देता है और जो नहीं भी दिखता, वह ब्रह्म है । आप शंकराचार्यजीके सिद्धान्तको तो भलीभाँति जानते हैं ?

अकबर--हाँ, बीरबल ! उनका कहना है--
'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।'

बीरबल—ठीक फ़रमा रहे हैं, जहाँपनाह ! और इसीलिये शंकराचार्यजीके सम्प्रदायके वादको 'मायावाद' कहा गया है ।

अकबर--और वल्लभाचार्यका सम्प्रदाय क्या मानता है ?

बीरबल--वह मानता है कि जगत् भी ब्रह्मका ही रूप है, इसलिये वह मिथ्या नहीं हो सकता । जैसा कि मैंने अर्ज़ किया--वह सभी कुछ ब्रह्म है, यह मानता है; इसलिये जो नवनीतप्रियजी हैं, वही विट्ठलनाथजी और जो विट्ठलनाथजी हैं, वही नवनीतप्रियजी । जुदा-जुदा शक्लें होनेपर भी सभी ब्रह्म हैं, जिसका आपने दर्शन ही कर लिया ।

अकबर—(कुछ सोचते हुए) सच बात तो यह है बीरबल ! कि इन बातोंके मुताल्लिक सच्ची बात समझी ही नहीं जा सकती ।

बीरबल—पर, जहाँपनाह ! उसकी बखूबी कल्पना की जा सकती है ।

(कुछ देर निःस्तब्धता)

अकबर—तुम विट्ठलनाथको समझा-बुझाकर फ़तेहपुर सीकरी तो ले आये, पर मेरी सल्तनतके इस वक्तके सबसे बड़े संतको मैं जो सबसे बड़ा मजहबी खिताब 'गोसाईं' देना चाहता हूँ और श्रीनाथजीके मन्दिरके लिये जो बड़ी भारी जागीर, वह लेना उन्होंने मंजूर कर लिया ?

बीरबल--दो शर्तोंपर ।

अकबर—कौन-सी शर्तें हैं वे ?

बीरबल—एक शर्त यह है जहाँपनाह ! कि हिंदुओंको हिंदू होनेकी वजहसे जो कर देना पड़ता है, वह खत्म कर दिया जाय और दूसरी यह कि आपके राज्यमें गोकुशी बंद हो ।

(अकबर गम्भीर विचारमें डूब जाते हैं । उनका चेहरा झुक जाता है । बीरबल एकटक उनकी ओर देखते हैं । कुछ देर निःस्तब्धता ।)

अकबर—(सिर उठाते हुए धीरे-धीरे) बीरबल ! तुमसे ज्यादा इस बातको कोई नहीं जानता कि मैं इंसान-इंसानमें

कोई फ़र्क नहीं समझता। मेरे लिये हिंदू और मुसल्मान सब एक-से हैं। मैं बहुत दिनोंसे खुद यह सोच रहा था कि हिंदुओंका यह कर बंद होना चाहिये और जहाँतक गोकुशीका मामला है, बहुत कुछ सोचने-विचारनेके बाद मैं इस नतीज़ेपर पहुँचा हूँ कि इस मुल्कमें वही सल्तनत मुद्दतों चल सकती है, जिसमें गायकी क़ुरबानी बंद कर दी जाय।

बीरबल—आपने अगर यह किया तो तवारीख़में आपका नाम सुनहरे लफ़्ज़ोंमें लिखा जायगा और मुग़ल हुकूमत मुद्दतों चलेगी।

(कुछ देर निःस्तब्धता)

अकबर—तुम विठ्ठलनाथसे कह दो कि मैं एक दरबार करके उन्हें 'गोसाईं'का ख़िताब दूँगा और उसी दरबारमें यह ऐलान करूँगा कि हिंदुओंको हिंदू होनेकी वजहसे जो कर देना पड़ता है, वह अब नहीं लिया जायगा और मेरी सल्तनतमें गोकुशी नहीं होगी।

बीरबल—धन्य हैं आप—धन्य हैं जहाँपनाह !

अकबर—(कुछ रुककर) अच्छा, देखो, मैंने सुना है कि श्रीनाथजीका ठाट-बाट बढ़ जानेकी वजहसे उनके मन्दिरपर क़र्ज़ हो गया है।

बीरबल— यह सच बात है।

अकबर—मैं नहीं चाहता कि श्रीनाथजीके ठाट-बाटमें किसी तरहकी कमी हो; क्योंकि यह ठाट-बाट अवामको मजहबकी तरफ खींचता है। श्रीनाथजीका आगेका खर्च चलानेमें तो जो जागीर मैं दे रहा हूँ, उससे मदद मिलेगी, लेकिन जो क़र्ज़ हो गया है, उस रकमको तुम शाही खज़ानेसे लेकर अपने नामसे विठ्ठलनाथको देकर इस क़र्ज़को चुका दो और यह बात पोशीदा रहे कि तुम यह क़र्ज़ शाही खज़ानेसे पटा रहे हो।

बीरबल—यह रकम भी शाही खज़ानेके नामसे क्यों न दी जाय ?

अकबर—इसलिये कि श्रीनाथजीकी तो दूसरी बात है। विठ्ठलनाथ जिस तरह इस वक्तके सबसे बड़े संत हैं, उसी तरह श्रीनाथजी सबसे बड़े देव। जागीरोंकी बात अलग है। उसके लिये मैंने कुछ उसूल तय कर दिये हैं। जागीर उन्हींको मिल सकती है, जो उन उसूलोंपर चलें। हाँ, कम-ज़्यादा करना मैंने अपने हाथमें रखा है; पर शाही खज़ानेसे कर्ज पटानेके लिये इस तरह रकमें दी जाने लगें तो बहुत बड़ी गड़बड़ मच सकती है। ऐसी नज़ीरें सामने रख कुछ धोखा देनेवाले भी उससे नाजायज़ फ़ायदा उठा सकते हैं। मैं जानता हूँ, तुमने मेरे इतने नज़दीक रहकर भी कोई बहुत बड़ी दौलत इकट्ठी नहीं की है, इसलिये श्रीनाथजीका क़र्ज़ तुम अपने पाससे नहीं पटा सकते। वह रकम शाही खज़ानेसे मैं तुम्हें दूँगा और तुम उससे वह क़र्ज़ पटा देना। यह मंजूरी तुम विठ्ठलनाथसे और ले लो।

बीरबल—आप जो दरबार करके उन्हें 'गोसाईं'का ख़िताब दे रहे हैं और श्रीनाथजीके मन्दिरको जागीर, साथ ही हिंदुओं का कर और गोकुशी बंद करनेका ऐलान कर रहे हैं, उसके बाद इसके मुताल्लिक मैं विठ्ठलनाथजीसे बात करूँगा।

अकबर—(कुछ विचार करते हुए) यह ठीक है। (कुछ रुककर) बीरबल ! श्रीनाथजीकी सेवाने मुग़ल दरबारकी शान शौक़तको भी फीका कर दिया है। आज मेरे दरबारमें कुछ मुसाहबों और खुदग़र्ज़ोंको छोड़कर कौन आता है ? अवाम तो श्रीनाथजीकी तरफ ही खिंचे हुए हैं।

बीरबल—आप खुद भेस बदलकर भी श्रीनाथजीके दर्शन के लिये जाते हैं।

(दोनों हँसते हैं। अकबर खड़े होते हैं। बीरबल भी खड़े होते हैं।)

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—फ़तेहपुर सीकरीके क़िलेका दीवाने आम।

समय—मध्याह्न।

[दीवाने आमकी तीन ओरकी दीवारें दिखती हैं, जो लाल पत्थरकी हैं। दीवाने आमकी भूमिपर लंबी गद्दियाँ बिछी हुई हैं, जिसपर दरबारी बैठे हैं। दीवाने-आममें शाही बैठक सुन्दरतासे सजी हुई है। बैठकके पीछे दरबारी पोशाक पहने हुए दो चँवरवाले सुरागायकी पूँछके श्वेत चँवर

लिये और दो व्यजनवाहक दो जरीके पंखे लिये हुए खड़े हैं। नेपथ्यसे शहनाईकी मन्दध्वनि आ रही है। कुछ ही देरमें नेपथ्यमें "बाख़बर, बाअदब, बामुलाहिजा, होशियार, शहंशाहे हिन्दोस्तां तशरीफ़ ला रहे हैं" आवाज़ आती है। उसके बाद ही दो छड़ीदार धीरे-धीरे दाहिनी ओरसे प्रवेश करते हैं। सारे दरबारी खड़े हो जाते हैं। अकबरका शाही लिबासमें प्रवेश। वे अपने पीठपर आसीन होते हैं। उसके तुरंत बाद शब्द होता है, 'विट्ठलनाथ—जय विट्ठलनाथ।' प्रतिहारीके साथ बाँयी ओरसे विट्ठलनाथजीका प्रवेश। वे आज मुगलकालके पूरे शाही लिबासमें हैं। उनके अपूर्व सौन्दर्य और इस लिबासके कारण उस सौन्दर्यके और निखर जानेके कारण अकबरतकका सौन्दर्य फीका पड़ जाता है। विट्ठलनाथजी शाही बैठकमें ही बैठते हैं।]

अकबर—इस मुल्कमें कई मजहब हैं और उनको माननेवाली बड़ी-बड़ी जमातें। मैंने सल्तनतकी बागडोर सँभालनेके पहले यह तस्फ़िया कर लिया था कि मेरी हुकूमतमें ये सारे मजहब और इनको माननेवाले एक नज़रसे देखे जायँगे। हिंदू और मुसल्मानमें कोई फर्क मैं नहीं समझता। जिस ख़ुदाने मुसल्मानोंको बनाया है, उसीने हिंदुओंको भी। जैसे आँख, नाक, कान, हाथ, पैर मुसल्मानोंके हैं, वैसे ही हिंदुओंके भी। हिंदोस्तान बड़ा पुराना मुल्क है। इस मुल्ककी तहजीबकी तवारीखसे यह मालूम होता है कि इस मुल्कके ऋषियों-मुनियों, संतों-भक्तों और विचारकोंने इस बातको समझ लिया था। इस मुल्ककी तहजीबका उसूल एक ही लफ़्ज़में आ जाता है। वह लफ़्ज है—'अभेद'। अभेदपर चलनेवाली इस तहजीबमें हमें जो एक—दूसरेके उसूलोंको इज्ज़तकी निगाहसे देखनेकी बात मिलती है, वह दुनियाकी और किसी तहजीबमें नहीं। इसीलिये कोई किसीका किसी तरह भी मन दुखाये, यह बात हिंदोस्तानकी तहजीबके खिलाफ जाती है। जब सारे इंसान एक-से हैं, तब हिंदुओंपर हिंदू होनेकी वजहसे कोई कर लो, यह मैं तो सोच भी नहीं सकता। इसी तरह अगर गोकुशीसे किसी जमात या फ़िरकेका मन दुखता है तो वह भी मेरी सल्तनतमें नहीं चल सकती। इसलिये मैं ऐलान करता हूँ कि हिंदुओंका यह कर आगेसे नहीं लिया जायगा और इस मुल्कमें गायकी कुर्बानी बिल्कुल बंद हो जायगी।

दरबारी—(एक स्वरमें) धन्य है......धन्य है।

अकबर—मैंने अभी-अभी कहा कि मेरी हुकूमतमें सारे मजहब और उनको माननेवाले एक नज़रसे देखे जायँगे। सभी मजहबोंके गुरु और नबीकी एक-सी इज्ज़त रहेगी। जहाँ-तक मुझे पता लगा है, आज वल्लभ-सम्प्रदायके आचार्य विट्ठलनाथजीसे बड़ा इस मुल्कमें कोई गुरु और संत नहीं है। इसलिये मैं वह 'गोसाईं' खिताब उन्हें देता हूँ, जो मजहबी नज़रसे हिंदुओंका आज सबसे बड़ा खिताब है।

दरबारी—गोसाईं विट्ठलनाथजीकी जय!

अकबर—इसीके साथ मैं एक बड़ी जागीर श्रीनाथजीके मन्दिरके खर्चके लिये लगाता हूँ।

दरबारी—श्रीगोवर्धननाथजीकी जय!

अकबर—एक बात मैं और साफ़ कर देता हूँ कि जागीरके मुताल्लिक मैंने कुछ उसूल तय किये हैं। उन उसूलोंपर चलनेवाले दूसरे मजहबोंकी संस्थाओंको भी इस तरहकी जागीरें मिल सकती हैं। मेरी हुकूमतमें इस मुल्ककी तहजीब जिस एक लफ्ज 'अभेद'में आ जाती है, उसके मुताबिक सारे काम होंगे।

दरबारी—धन्य हैं, धन्य हैं।

अकबर—मुझे इस बातसे निहायत खुशी है कि विट्ठलनाथजीने हमारी दरख्वास्तको मंजूर कर इस 'गोसाईं' खिताब और जागीरको कबूल कर लिया है।

(अकबर खड़े होते हैं। गोसाईंजी भी खड़े होते हैं। सारे दरबारी खड़े होते हैं।)

लघु यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान—फ़तेहपुर सीकरीके क़िलेका वह कक्ष, जिसमें गोसाईं विट्ठलनाथजी ठहरे हैं।

समय—अपराह्न।

[कक्षकी तीन ओरकी दीवार दिखती है। दाहिनी और बायीं ओरकी दीवारमें दो छोटे-छोटे

दरवाजे हैं । यद्यपि दीवारें लाल पत्थरकी ही हैं, तथापि दरवाजोंकी चौखटों और पल्लोंकी लकड़ीपर कोई खुदाव आदिका काम नहीं है । कक्षकी छतपर सफेद चाँदनी तनी हुई है, पर इससे कोई झाड़-फानूस आदि नहीं लटक रहे हैं । कक्षकी भूमि लाल पत्थरोंसे ही पटी हुई है । इसपर दो आसनोंके अतिरिक्त और कोई बिछायत नहीं है । कक्ष एकदम सादा है, पर स्वच्छ । एक आसनपर गोसाईं विट्ठलनाथजी और दूसरेपर दामोदरदासजी हर्षानी बैठे हैं । इस समय गोसाईंजीकी वेषभूषा उपरना और धोती ही है, राजसी वेषभूषा नहीं । कोई आभूषण वे नहीं पहने हैं । हर्षानीजी भी धोती और उपरना ही धारण किये हैं ।]

गोसाईंजी—हर्षानीजी ! आज अभी थोड़ी देर पहले ही राजा बीरबल मुझसे मिलने आये थे और उन्होंने जो प्रस्ताव किया है तथा उस प्रस्तावकी मेरे मनपर जो प्रतिक्रिया हुई है, उसीपर सम्मति देनेके लिये मैंने आपको बुलाया है ।

हर्षानी—मैं तो सदा ही सेवाके लिये उपस्थित हूँ, कृपानाथ ! राजा बीरबलका क्या प्रस्ताव है ?

गोसाईंजी—उनका प्रस्ताव है कि श्रीनाथजीके मन्दिरपर जो ऋण है, उसे उनसे धन लेकर चुका दिया जाय ।

हर्षानी—और आपकी इस प्रस्तावपर क्या प्रतिक्रिया है ?

गोसाईंजी—इस प्रस्तावपर मुझे पिताजीके जीवनकी वह घटना स्मरण आयी, जो राजा कृष्णदेव रायके यहाँ उस समय हुई थी, जब कृष्णदेव रायने उनका सौ मन सोनेसे कनकाभिषेक किया था और थाल भरकर मोहरें उन्हें भेंटमें रखी थीं । पिताश्रीने कनकाभिषेकका वह सोना लेना अस्वीकृत कर दिया था और थालभर मोहरोंमेंसे केवल सात मोहरें दैवी द्रव्य मानकर अङ्गीकार की थीं । मैं राजा बीरबलका यह प्रस्ताव स्वीकार करनेको तैयार नहीं हूँ; क्योंकि जो द्रव्य राजा बीरबल मुझे श्रीनाथजीका ऋण चुकानेके लिये देना चाहते हैं, वह दैवी द्रव्य नहीं हो सकता । या तो वह गुप्तरूपसे राज्यकोषसे लिया जायगा या ऐसा द्रव्य होगा, जो बीरबलने न जाने किन उपायोंसे एकत्रित किया होगा । न तो राजकोषका धन दैवी द्रव्य हो सकता; क्योंकि न जाने कितने प्रकारसे वह राजकोषमें आता है और न बीरबलका द्रव्य ही दैवी द्रव्य हो सकता; क्योंकि उसका परिमाण इतना अधिक होगा कि बीरबल उसे नैतिक उपायोंसे एकत्रित कर ही नहीं सकते ।

हर्षानी—यह तो ठीक है ।

गोसाईंजी—आप कह सकते हैं कि फिर मैंने सम्राट् अकबरसे श्रीनाथजीके लिये जागीर कैसे ली ? जागीर लेना एकदम दूसरी बात है । जागीरका अर्थ होता है, ऐसी स्थावर-सम्पत्ति जो कृषकोंकी आयसे सम्बन्ध रखती है और जागीरके रूपमें उसे लेनेका अर्थ केवल यह होता है कि कृषकोंकी आयका जो भाग शासनको जाता है, वह शासन नहीं लेगा और वह जागीरदारको मिलेगा । जो जागीर मैंने श्रीनाथजीके लिये स्वीकार की है, उस जागीरकी उतनी ही आय मैं लूँगा, जो शास्त्रके अनुसार ग्राह्य है अर्थात् कृषकोंकी आयका एक षष्ठांश । फिर इस आयके धनको लेनेके समय भी मैं यह देखूँगा कि ऐसे कृषकोंसे तो धन नहीं आ रहा है, जो किसी प्रकारके भी कष्टमें हैं । हर्षानीजी ! मानवको अपना जीवन नैतिकरूपसे चलानेके लिये धर्मशास्त्रोंका ही आश्रय लेना चाहिये । हमारे धर्मशास्त्रोंमें मनुस्मृतिका प्रधान स्थान है । मनुस्मृतिमें आदेश है कि राज्यको प्रजासे कररूपमें उसकी आयका एक छठा भाग लेना चाहिये । अतः श्रीनाथजीके लिये जागीर लेने और श्रीनाथजीके ऋणको चुकानेके लिये राजा बीरबलसे धन लेनेमें आकाश-पातालका अन्तर है ।

हर्षानी—आपकी विवेकबुद्धि इतनी उच्चकोटिकी हो गयी है कि आपके निर्णय सर्वथा धर्मपूर्ण और नैतिकतासे भरे हुए होते हैं ।

गोसाईंजी—तो आपकी भी यही सम्मति है न कि राजा बीरबलसे यह धन न लिया जाय ।

हर्षानी—मैं आपसे सर्वथा सहमत हूँ; जय !

गोसाईंजी—श्रीनाथजीके मन्दिरपर ऋण श्रीनाथजीकी वर्तमान वैभवशाली सेवापद्धतिसे ही हुआ है । वह ऋण दैवी द्रव्यका ऋण है और श्रीनाथजीके प्रतापसे दैवी द्रव्यद्वारा ही चुकेगा ।

हर्षानी—इसमें भी मुझे कोई संदेह नहीं है ।

गोसाईंजी—फ़तेहपुर सीकरी आकर हमने कोई भूल की है, ऐसा तो मुझे नहीं दिखता। 'गोसाईं' उपाधि एक धार्मिक उपाधि है। इसे यदि मैंने स्वीकार किया तो इससे सम्प्रदायका महत्त्व बढ़ेगा। श्रीनाथजीके लिये जागीर स्वीकार की तो इसमें भी मुझे कोई अनौचित्य नहीं दिखता। फिर इन दोनों बातोंको स्वीकार करनेके पहले मैंने उस राज्यकरको बंद करा दिया, जो हिंदुओंको हिंदू होनेके कारण देना पड़ता था तथा सारे राज्यमें गोवधबंदी-की घोषणा करा दी।

हर्षानी—यह आप ही करा सकते थे।

गोसाईंजी—परंतु अब फ़तेहपुर सीकरीमें थोड़ा भी ठहरना मैं ठीक नहीं समझता। यहाँ राज्यके न जाने कितने प्रलोभन हैं। भगवान्ने भगवद्गीतामें तीन नरकके द्वार कहे हैं—काम, क्रोध और लोभ। 'काम'से भगवान्का अर्थ केवल उस काम-वासनासे नहीं है, जिसकी उत्पत्ति पुरुष-स्त्रीके आपसी संसर्गमें रहती है। यहाँ कामसे अर्थ है, सब प्रकारकी इच्छाओंका। और सारी इच्छाओंकी पूर्ति सम्भव नहीं है, अतः जब इच्छाओंकी पूर्ति नहीं होती, तब क्रोधकी उत्पत्ति होती है। फिर फ़तेहपुर सीकरीके सदृश स्थानमें रहनेसे नाना प्रकारके लोभ आ सकते हैं; अतः राजा बीरबलको उनके प्रस्तावकी अस्वीकृति दे, हमलोगोंको तत्काल फ़तेहपुर सीकरी छोड़ देनी चाहिये।

हर्षानी—धन्य है—आपके सभी निर्णयोंको धन्य है।

लघु यवनिका

चौथा दृश्य

स्थान—फ़तेहपुर सीकरीके क़िलेमें अकबरका शयन-कक्ष।

समय—रात्रि।

[यह वही कक्ष है, जो इस अङ्कके पहले दृश्यमें था। सम्राट् अकबर कुछ उद्विग्नतासे इधर-उधर टहल रहे हैं। बीरबलका प्रवेश।]

अकबर—(बीरबलको देखते ही जल्दीसे) तो गोसाईंजीने क्या जवाब दिया?

बीरबल—उन्होंने श्रीनाथजीके मन्दिरका कर्ज चुकानेके लिये जो धन मैं देना चाहता था, उसे मंजूर नहीं किया, जहाँपनाह!

अकबर—(कुछ आश्चर्यसे) अच्छा!

बीरबल—जी हाँ, उन्होंने कहा, वह दैवी द्रव्य नहीं है।

अकबर—जो राज्यकी जागीर उन्होंने श्रीनाथजीके लिये मंजूर की, वह दैवी द्रव्य है?

बीरबल—उन्होंने कहा, जागीरकी बात दूसरी है। उसमें किसानोंको खूनका पसीना बनानेपर जो आमदनी होती है, धर्मशास्त्रके मुताबिक उसका छठा हिस्सा मिलता है, जो दैवी द्रव्य है; पर जो धन मैं श्रीनाथजीका क़र्ज़ चुकानेको देना चाहता हूँ, वह न जाने किन तरीक़ोंसे इकठा किया गया है।

अकबर—एकदम नया उसूल है और ऐसा उसूल, जो सारी ख़ुदगर्ज़ीको लात मारता है।

बीरबल—गोसाईंजी फ़तेहपुर सीकरीमें और किसी लोभ-लालचमें न पड़ जायँ, इसलिये वे कल अलस-सुबह ही फ़तेहपुर सीकरी छोड़ रहे हैं।

अकबर—बड़ा—बहुत बड़ा आदमी है।

बीरबल—मैंने अपना गुरु किसी छोटे आदमीको थोड़े ही बनाया है, जहाँपनाह! मेरी क़तई राय है कि आज हिंदोस्तानमें वे सबसे बड़े संत हैं।

लघु यवनिका

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—फ़तेहपुर सीकरीका बुलंद दरवाज़ा।

समय—उषाकाल।

बड़ा भारी फाटक है। फाटकपर निम्नलिखित शिलालेख खुदा हुआ है—

शिलालेख

'यह दुनिया एक पुलके सदृश है। इस पुलपरसे निकल जा, लेकिन इसपर मकान बनानेका विचार न कर। जो यहाँ घड़ीभर भी रुकनेकी इच्छा करेगा, वह सदैवके लिये यहीं ठहरनेका इच्छुक हो जायगा। इस दुनियाका जीवन तो क्षणमात्र है। उसे भगवत्स्मरण तथा भगवद्भक्तिमें बिता। भगवान्की उपासनाके सिवा और सब कुछ निरर्थक है, असार है।'

दरवाजेके दोनों ओर क़िलेकी लाल पत्थरकी विशाल प्राचीर दिखायी देती है। गोसाईंजी और हर्षानीजी कुछ वैष्णवोंके साथ दरवाजेमेंसे बाहर निकल रहे हैं। सब लोग उच्चस्वरसे हरिधुन कर रहे हैं।

यवनिका

'कृपालु शील कोमलम्'

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

एक सज्जन हैं । वे कहा करते हैं कि 'अपना कुछ नहीं है; जो है, भगवान्‌का है । वे ही देते हैं, वे ही ले लेते हैं । सुख भी उन्हींका है, दुःख भी उन्हींका है । शरीर उनका है, मन उनका है, प्राण उनके हैं; जबतक वे चाहेंगे, रखेंगे; न चाहेंगे, न रखेंगे । इसे लेकर बहुत चिन्ता-फिक्र व्यर्थ है ।'

जो कुछ वे कहते हैं और जिसे और भी बहुतेरे लोगोंसे सुनता हूँ, उसे उन्होंने कितना गुना है, कितना केवल जिह्वागत है, कितना प्राणगत––यह कौन बता सकता है; परंतु जो कुछ वे कहते हैं, और जो संत-महात्माओंसे सुना है, वह यही है कि स्वार्थसे, परार्थसे, अपने हितके लिये या परायेके लिये, चाहसे या अनचाहे, साधनाके बिना या तपःपूत भावसे, दुःखमें या सुखमें—जैसे भी उनको पुकारो, वे सुनते हैं । उनके दरवाजेपर थपकी पड़ी कि वह खुल जाता है—'Knock and it shall be opened unto you.' 'वह सुनते हैं इसलिये कि सुने बिना रह नहीं सकते; इसलिये कि वह वहाँ भी हैं, जो पावन है, शुद्ध है और वहाँ भी हैं, जो अपावन है, अशुद्ध है । कुछ भी उनसे रिक्त नहीं है । और सुनते हैं तो द्रवित भी होते हैं । कठोर भी हैं, परंतु कठोरता और वेदनाके बीच भी वे हाथ पकड़े रहते हैं । यह उनकी शोधन-क्रिया है । उनके दण्डमें भी, उनकी दया है । वे इसी तरह उबारते रहते हैं । जहाँ कोई उपाय शेष नहीं रहता, वहाँ वे ही उपाय हैं—निराश्रितोंके आश्रयः अवलम्बरहितोंके अवलम्ब !

हाँ, तो मैं उन सज्जनकी बात कर रहा था । सामान्यतः वे सात्त्विक वृत्तिके व्यक्ति हैं । उनका अपने लिये कोई दावा नहीं है, सर्वहारा हैं । किसीको अपना नहीं मानते, पर छोड़ते किसीको नहीं, मानो अपने न होते हुए सभी उनके हैं । पुत्र हैं, बहुएँ हैं—समर्थ पुत्र, परंतु इस भीड़में भी वे एकाकी हैं । अपने पराये हो गये हैं; उन्हींके साधनोंसे पले पुत्रोंने बधिक-जैसी निर्दयताका प्रयोग उनके साथ किया है । उन्हींके गृह-प्रकोष्ठमें रहकर उन्हींके साधनोंका इस्तेमाल करते हुए पुत्र-वधू, कष्ट और रोगमें भी उनके सामने आकर हाल-चालतक नहीं पूछते; सान्त्वना और सेवा तो बहुत बड़ी बात है । परंतु वे हैं कि सब निरपेक्ष भावसे सहन करते हैं; जैसे दुर्व्यवहार उनके साथ न हो रहा हो और वे सिनेमाके पर्देपर गुजरते हुए दृश्योंको देख रहे हों । कहा करते हैं कि 'यह मेरे ही संचित कर्मोंका परिणाम होगा और प्रभुका न्याय-दण्ड ठीक है ।' इस अवस्थामें भी सभी बच्चोंके लिये कुछ-न-कुछ करते रहते हैं, उनके कल्याणकी बात सोचा करते हैं; अपने लिये कुछ नहीं सोचते । इसके लिये कभी पत्नीसे कभी अधपनशी संतानसे कहा-सुनी भी हो जाती है–सब उन्हें सनकी समझते हैं । कोई कहता है––अपने मनके राजा हैं । कोई कहता है—'बड़ा अहं है इसमें ।' एक प्रकारसे जितने अपने हैं, सभी उनकी उपेक्षा करते हैं ।

परंतु भगवान्‌की कैसी दया है कि जहाँ अपने पराये हैं, वहाँ कितने ही पराये अपने हो गये हैं और उनके स्नेह-श्रद्धाका आश्वासन उन्हें जीवनकी कण्टक-यात्रामें पग-पगपर प्राप्त हुआ है । जब अपनोंने उन्हें अपने दुर्व्यवहार-बाणसे विद्ध कर दिया है, तब दूसरोंने उसे सहलाकर निकाल दिया है और उसपर मरहमपट्टी कर दी है ।

तब वे क्या बुरा कहते हैं कि यहाँ कोई अपना नहीं, या जितने हैं, सब अपने हैं । पत्नीको भी यही समझाते हैं—'कैसा गौरव है प्रभुका । तुमको तुम्हारी संतानने त्याग दिया, किंतु दूसरे कितनोंने तुम्हें माँ बना लिया ! जो कुछ है, सब प्रभुकी दया है । वही, जो हमारे सबसे अपने हैं—हृदयके हृदय हैं । उन्हींमें डूबना सीखो, उन्हींको पुकारना सीखो, उन्हें ही अपनाओ; तुम्हारे कलेजेकी कसक और आग शान्त हो जायगी ।'

उनकी स्त्रीको बात तो कर्णसुखद लगती है, परंतु हृदयमें नहीं पैठती । सोचतीं और कहतीं कि 'सब ठीक है, पर कोई तो हमें सँभालनेके लिये होना ही चाहिये । फिर संतान किसलिये होती है ?'

वे कहते—'भगवान् ही हमारी संतान हैं; वे ही हमारे माता-पिता, सखा-बन्धु और सर्वस्व हैं। वे ही स्वामी हैं, वे ही सेवक हैं। वे एकमें अनेक हैं। उन्हें पकड़ो, सब मिलेगा।'

बात कुछ समझमें नहीं आयी। सामान्य मानवकी समझमें नहीं आता कि भगवान्‌की करुणा कैसे अपनी गोदमें सर्वदुःखोंको समेट लेती है। परंतु इसी बीच हुआ यह कि वे सज्जन अच्छे-भले एक दिन रातको बीमार पड़े। नाड़ी एकदम गिर गयी—१८ प्रतिमिनट। उन्होंने आँखें उलट दीं, जिह्वा बाहर निकल आयी। मृत्युके लक्षण प्रत्यक्ष दिखायी पड़ने लगे। हृदयकी गति रुक गयी। रात बारह बजेका समय। कोई डाक्टर नहीं मिला। लोग घबराते हैं, चीखते हैं, दौड़ते-धूपते हैं और वे हैं कि हिलाने और पूछनेपर अश्रुतस्वरमें कहते हैं—'सब ठीक है। मुझे कुछ नहीं हुआ है।' वे चुपचाप भगवान्‌का स्मरण-जप कर रहे हैं। मृत्यु सामने खड़ी है—हाथ बढ़ाये हुए, गोदमें उठा लेनेके लिये और वे हैं कि परम शान्तिके साथ यह कौतुक देख रहे हैं। सात घंटेतक यह स्थिति रही; प्राण गये और आये, आये और गये। लोग हाय-हाय करते, अशक्त, विवश बैठे रहे। सुबह साढ़े छःके लगभग डाक्टर आये, एक विशेष इंजेक्शन दिया और घबराये बैठे रहे। ब्लडप्रेशरका पता न चलता था। डाक्टर खुद परीशान; कहने लगे कि मैंने तो २२ नाड़ी-गतिपर पर्यवसान देखा है—ये तो १८ पर पड़े झेलते रहे। कौतुक ही है। अन्तमें नाड़ी लौटने लगी और दो घंटे बाद नाड़ीकी गति ७० हो गयी। लोग घबराते घूमते रहे, परंतु वे हँसते-मुसकराते पड़े रहे। मानो कहते हों—'म्हारी नाड़ तमारे हाथे; चिन्ता क्या है, प्रभुजी!'

बीस दिनों बाद फिर वही स्थिति हुई। मौत आकर चली जाती है और वे प्रभुकी यादमें खो जाते हैं। घर-के लोग परीशान हैं, परंतु वे शान्त हैं। दवा न करनेका हठ भी नहीं है, किंतु कहते हैं कि दया तो वस्तुतः वे ही हैं। आधी रातमें जब मृत्यु केश पकड़कर ले चली थी, तब किसने अपने अमृत-स्पर्शसे मुझे बचाया? और वे न बचाते, ले ही जाते तो भी क्या उनकी दया और करुणा कुछ कम होती? लोग कहते हैं कि वे भक्तवत्सल हैं; तुलसीदासने भी वन्दना करते हुए कहा है—

'नमामि भक्तवत्सलं'

किंतु भक्तपर, सेवकपर कृपालु होना तो कोई बड़ी बात नहीं; सभी अपने सेवकोंपर सदय रहते हैं; यह तो मानव-स्वभाव है। इसमें प्रभुकी क्या विशेषता हुई? प्रभु तो भक्त-अभक्त, सज्जन-दुर्जन—सभीको अपने करुण बाहु-पाशमें समेट लेते हैं। उनकी दया-परिधिमें कोई विशेष्य नहीं है। सभी उनके अपने हैं। खल उनकी अशेष करुणामें नहाकर स्वच्छ, मृदुल हो जाता है। हाँ, उन्हें पुकारना आवश्यक है; वाणीसे न सही, हृदयसे, मौनमें। उन्हें याद करो, वे दर्शन देंगे। जब स्त्री-पुत्र सब असहाय बैठे छटपटा रहे थे, उन्हीं दीनबन्धुने तो गोदमें लिये रखा? हमलोग उनसे दूर भागते रहे, किंतु वे तो हमें चिपटाये ही रहे। यही है उनका दया-वैभव! यही है उनका अपरिमित शील। इसीलिये तुलसीदास—

'नमामि भक्तवत्सलं'

—कहकर ही नहीं रह जाते। फिर कहते हैं—

'कृपालु शील कोमलं'

और मैं देखता कि वे सज्जन गुनगुनाते रहते हैं—**'कृपालु शील कोमलं'** गुनगुनाते जाते हैं और रोते जाते हैं; रोते जाते हैं और गुनगुनाते जाते हैं—

'कृपालु शील कोमलं'

'कृपालु शील कोमलं'

श्रेष्ठ कौन ?

हो का वर्ण माजी अग्रगणी। जो विमुख हरिचरणीं॥
त्याहुनि श्वपच श्रेष्ठ मानी। जो भगवद्भजनीं प्रेमल॥

कोई सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हो, और हरिके चरणोंसे विमुख हो तो उससे वह श्रेष्ठ है, जो भगवान्‌के भजनका प्रेमी हो; भले ही वह श्वपच हो।

(संत एकनाथः नाथभागवतः ५। ६०)

गुरु नानककी अमृत-वाणी

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

कहते हैं कि गुरु नानक जब मक्का-मदीनेके प्रवासमें थे, तब वहाँके क़ाज़ी और मुल्ला उनसे प्रार्थना करने लगे—

'हुज़ूर, आप यहीं मुकाम कीजिये ।'

गुरु साहिब बोले—मुकाम ? दुनिया कोई जगह है मुकामकी ? कोई ठहरनेकी जगह है यह ? कोई पक्का ठिकाना है यहाँ ? तकिया है यहाँ ?

दुनिया कैसि मुकामे ?

मुकाम तो स्थिर होता है, निश्चल होता है, अटल होता है । यहाँ क्या स्थिर है ? हम मकानमें बैठते हैं थोड़ी देरके लिये; पर चिन्ता लगी है कि चलना है, चलना है ।

मुकाम, कुटिया, रैनबसेरा—है यह दुनिया । छोटे और बड़े, सिद्ध और साधक, राजा और महाराजा, सूर्य और चन्द्र, जल और थल—किसीका कोई मुकाम है यहाँ ?

मुकामु करि घरि बैसणा, नित चलणै की धोक ।
मुकामु ता परु जाणिए, जा रहै निहचलु लोक ॥

दुनिया कैसि मुकामे ।
करि सिदकु करणी खरचु बाधहु लागि रहु नामे ॥

दुनिया यदि टिकनेवाली होती तो कोई बात भी थी, पर यह तो है आनी-जानी, यह तो है फ़ानी नाशवान् । इसमें किसीका क्या ठिकाना ।

कैसा मुकाम है यह संसार ?

कैसा रैन-बसेरा, कैसा स्टेशन है यह जगत् ?

सभी जानते हैं कि यहाँ किसीका कोई ठौर-ठिकाना नहीं । किसे, कब यहाँसे चल देना पड़ेगा, कोई नहीं जानता ।

जब यह हाल है, तब समझदारी तो इसीमें है कि मनुष्य अपना पाथेय जुटा ले । इस जीवनके परेकी यात्राके लिये, परलोक जानेके लिये खर्च जुटा ले । हृदयमें श्रद्धा रखकर, सिदक करके प्रभुका नाम ले । परलोकके लिये सं[illegible] पाथेय है— प्रभुका नाम ।

दुनियाके स्टेशनसे हरेककी गाड़ी छूटनेवाली है । [illegible] योगी हो या मुल्ला, पण्डित हो या सिद्ध, देवता हो [illegible] गन्धर्व, शेख हो या पीर, ऋषि हो या मुनि—हरेकको [illegible] कूचेसे गुजरना होगा—

जोगी त आसणु करि बहै मुला बहै मुकामि ।
पंडित वखाणहि पोथीआ सिध बहहि देवसथानि ॥
सुर सिध गण गंधरब मुनिजन सेख पीर सलार ।
दरिकूच कूचा करि गए यह अवरे भि चलणहार ॥

स्टेशनपर मुसाफ़िरोंकी भीड़ लगी है । गाड़ी आती है, कुछ मुसाफ़िरोंको ले जाती है । बचे हुए लोग आगे[illegible] गाड़ीका इंतजार करते हैं ।

स्वर्गलोककी इस गाड़ीमें सभीको चढ़ना है; फिर भले ही कोई सुल्तान हो, बादशाह हो, राजा हो, अमीर हो, खान हो—सभी यहाँसे कूच करते जाते हैं ।

अजब सरा है यह दुनिया फ़ानी,
किसीका कूच, किसीका मुकाम होता है ।

जो लोग बच रहे हैं, उनके नाम 'वेटिंग लिस्ट'में हैं। प्रतीक्षावाली सूचीमें उनका नाम चढ़ा है । ऐ दिल, तेरा भी जल्दी ही नंबर आनेवाला है !

सुलतान खान मलूक उमरे गए करि करि कूचु ।
घड़ी मुहति कि चलणा दिल समझु तूं भि पहूचु ॥

ऐ दिल ! तुझे भी इस बातको समझ लेना चाहिये कि पता नहीं, किस घड़ी तेरा बुलावा आ जाय !

सब दुनि आवण जावणी

सबदाह माहि बखाणीअहि विरला त बूझै कोइ ।
'नानकु' बखाणे बेनती जल थलि महीअलि सोइ ॥

मुँहसे तो सभी कहते हैं कि हमें इस दुनियासे एक दिन चल देना ही है, शब्दमें इसी बातका सं[illegible]

मिलता है, पर इस सत्यको, इस तथ्यको समझनेवाले कितने लोग हैं। नानककी विनती तो यही है कि जल और स्थल, आकाश और पातालमें एकमात्र प्रभु ही व्याप्त हैं। वे ही एकमात्र शाश्वत हैं, स्थिर हैं, अटल हैं—

अलाहु अलखु अगंम कादरु करणहारु करीमु।
सभ दुनी आवण-जावणी मुकामु एकु रहीमु॥

और तो सारी दुनिया अस्थिर है, चलती-फिरती है। स्थिर है केवल एक परम पुरुष। उसे चाहे ईश्वर कहो, चाहे अल्लाह। वह अलख भी है अगम भी। उसका न कोई वर्णन हो सकता है, न उसतक किसीकी पहुँच है। वह कुदरतका मालिक भी है, कुदरतका सिरजनहार भी है। कर्ता भी है, कादिर भी है। वह परम प्रभु अत्यन्त करुणामय भी है दयालु भी, रहीम भी है रहमान भी।

वही एक मुकाम है, वही एक ठिकाना है, वही एक तकिया है। उसके अलावा और जो कुछ है, सब नश्वर है, नाशवंत है, क्षणस्थायी है, आज है, कल नहीं।

मुकाम त्रिसनौ आखीऐ जिसु सिसिन होवी लेखु।
असमानु धरती चलसी, मुकामु ऊही एकु॥
दिन रवि चले निसि ससि चलै, तारिका लख पलोइ।
मुकाम ऊही एकु है, नानका सचु बुगोइ॥

एकमात्र अकाल पुरुष ही मृत्युके—नाशके चक्रसे मुक्त है। उसे छोड़कर पृथ्वी हो या आकाश, चन्द्रमा हो या सूर्य, दिन हो या रात, तारे हों या तारिकामण्डल—सब आते हैं और थोड़ी देरमें चल देते हैं। स्थिर रहता है एकमात्र वह अकाल पुरुष, वह सत्यस्वरूप, वह वाहि-गुरु।

अलख अपार अगंम अगोचर

कैसा है यह अकाल पुरुष!
कैसा है यह परम ब्रह्म!
कैसा है यह परमेश्वर!

यह है अलख, यह है अपार, यह है अगंम, यह है अगोचर—

अलख अपार अगंम अगोचर ना तिसु कालु न करमा।
जाति अजाति अजोनी संभउ ना तिसु भाउ न भरमा॥
साचे सचिआर विटहु कुरबाणु।
ना तिसु रूप वरनु नहीं रेखिजा साचै सबदि नीसाणु॥ रहाउ॥

यह अकाल पुरुष स्वयम्भू है, निराकार है, निर्विकार है, सत्यस्वरूप है।

वह वाहि-गुरु घट-घटव्यापी है! घट-घटमें उसकी ज्योति समायी हुई है। सद्गुरुकी कृपासे, सद्गुरुके शब्दसे उस परमप्रभुका द्वार खुलता है—

ना तिसु मात पिता सुत बंधप ना तिसु कामु न नारी।
अकुल निरंजन अपर परंपरु सगली जोति तुमारी॥
घट घट अंतरि ब्रह्मु लुकाइआ घटि घटि ज्योति सबाई।
बजर कपाट मुकते गुरमती निरभै ताड़ी लाई॥

उस परमज्योतिमें एकाकार होनेके लिये, जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये सद्गुरुकी सेवा करनी पड़ती है।

शुद्ध और पवित्र बनकर ही उस सत्यस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त किया जा सकता है। गुरुकी कृपासे प्रभुकी शरण लेनेसे ही बेड़ा पार हो सकता है—

जंत उपाइ कालु सिरि जंता बसगति जुगति सबाई।
सतिगुरु सेवि पदारथु पावहि छूटहि सबदु कमाई॥
सूचै भाडै साचु समावै विरले सूचा चारी।
ततै कउ परमतंतु मिलाइआ 'नानक' सरणि तुमारी॥

तू अकाल पुरखु नाही सिरि काला

वह परमपुरुष, अकाल पुरुष अजन्मा है, न उसके कोई माता-पिता या सम्बन्धी हैं; न उसका कोई कुल है न कोई जाति। जरा-मरणसे वह परे है। वह अलख है, अगम है—

जगु तिसकी छाइआ जिसु बापु न माइआ।
ना तिसु भैण न भराउ कमाइआ॥
ना तिसु औपति खपति कुल जाती। ओहु अजरावरु मनि भाइआ॥
तू अकालु पुरखु नाही सिरि कालु।
तू पुरखु अलेख अगंम निराला॥

सच्चा साहिब है वह। आदि पुरुष है, अगम है, अगोचर है, ऊपर है, अपार है, परब्रह्म है। उस प्रभुके चरणोंमें मन लगानेमें ही जीवनकी सार्थकता है—

मेरा मनो मेरा मनु राता राम पिआरे राम।
सचु साहिबो आदि पुरखु अपरंपरो धारे राम॥
अगम अगोचरु अपर अपारा पार ब्रहमु परधानो।
आदि जुगादी है भी होसी अवरु झूठा समु मानो॥
करम-धरम की सार न जाणै सुरति मुकति किव पाईऐ।
नानक गुरमुखि सबदि पछाणै अहनिसि नामु पिआईऐ॥

राम तेरी कुदरति तूं कादिर करता

वह परम प्रभु ही कर्ता है, स्रष्टा है, सारी सृष्टिकी रचना करता है । वह कादिर है, करीम है । वही सबको रोजी देता है—

बड़े कीआ वडिआईआ किछु कहणा कहणु न जाइ ।
सो करता कादर करीमु दे जीआ रिजकु संबाइ ॥
साई कार कमावणी धुरि धोड़ी तिनें पाई ॥
'नानक' एकी बाहरी होर दूजी नाही जाई ।
सो करै जि तिसै रजाइ ॥

सब कुछ उसी परमप्रभुकी रचना है । उसीकी सारी कुदरत है । वही एक कर्त्ता है, करणहार है, सिरजनहार है । उसके हुकुमसे ही सब कुछ होता है । भीतर और बाहर एकमात्र उस परमप्रभुकी ही सत्ता है, हस्ती है ।

जो कुछ दिखायी पड़ता है, जो कुछ दृष्टिमें आता है, दृष्टिगोचर होता है, जो कुछ सुनायी पड़ता है, उसीकी सृष्टि है । 'गो गोचर जहँ लगि मनु जाई ।'—सब उसी कर्त्ताकी कुदरत है—

कुदरति दिसै कुदरति सुणीऐ
कुदरति भउ सुख सारु ॥
कुदरति पाताली आकासी,
कुदरति सरब आकारु ॥
कुदरति वेद पुराण कतेबा
कुदरति सरब वीचारु ॥
कुदरति खाणा पीणा पैन्हणु
कुदरति सरब पिआरु ॥
कुदरति जाती जिनसी रंगी
कुदरति जीअ जहान ॥
कुदरति नेकीआ कुदरति बदीआ
कुदरति मानु अभिमानु ॥
कुदरति पउणु पाणी बैसंतरु
कुदरति धरती खाकु ॥
सभ तेरी कुदरति तू कादिरु करता
पाकी नाई पाकु ॥
'नानक' हुकमै अंदरि वेखै
वरतै ताको ताकु ॥

कुदरत माने क्या ?
कुदरत माने सृष्टि ।
कुदरत माने माया ।
कुदरत माने शक्ति ।

उस मालिककी कुदरतसे ही सब कुछ दीख पड़ता है, उसीसे सब कुछ सुन पड़ता है । उसकी कुदरतसे ही आकाश और पाताल बना है । उसीकी बदौलत प्राणी और पदार्थ आकार ग्रहण किया है । कुदरतसे ही वेद और पुराण, इंजील और क़ुरान, फुरकान और तौरेतकी रचना हुई है। सारा विचार, सारा ज्ञान उस मालिककी कुदरतसे ही उत्पन्न हुआ है ।

सारे जीवोंका, सारे प्राणियोंका खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, आपसी प्रेम-प्यार उस मालिककी कुदरतसे ही होता है । नाना प्रकारके सारे जीव-जन्तु, सारी रंग-विरंगी सृष्टि, नेकी और बदी, भलाई और बुराई, मान और अभिमान—सब उसकी कुदरतकी ही बदौलत है ।

'छिति जल पावक गगन समीरा ।' पञ्चतत्त्व—सब उस प्रभुकी कुदरतसे ही उत्पन्न हुए हैं । सारी कुदरत उस मालिककी है । उसी कर्ताकी यह सृष्टि, उसी सिरजनहारकी यह रचना है ।

उस **'पवित्राणां पवित्रम्'** पाकसे भी पाक परम प्रभुकी ही यह सारी सृष्टि है । वही सबका कादर है, मालिक है, वही सबका कर्ता है । उसीकी एकमात्र हस्ती है ।

उस **'गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्'** परम पवित्र प्रभुका ही यह सारा खेल है । उसीकी यह सारी माया है । उसीके नामका यह जादू है । उसीका यह सारा विस्तार है । उसीके हुकुमका यह सारा तमाशा है । वह इस सृष्टिके कण-कणमें आप ही अकेला अपनी मर्जीके अनुसार बरत रहा है ।

ब्रह्मा विसनु महेस न कोई

सब कुछ उस मालिककी ही कुदरत है, एकमात्र उसीकी हस्ती है । वही सब कुछ करता है । सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—सब उसीकी कुदरत है । उसके अलावा न कोई ब्रह्मा है, न कोई विष्णु, न कोई महेश ।

ब्रह्मा बिसनु महेसु न कोई । अवरु न दीसै एको सोई ।

आश्चर्यजनक है प्रभुका यह सारा खेल। चकित रह जाना पड़ता है मनुष्यको। उसकी अकल ही काम नहीं करती।

देखि विडाणु रहिआ विसमादु

विसमादु नाद विसमादु वेद। विसमादु जीअ विसमादु भेद॥
विसमादु रूप विसमादु रंग। विसमादु नागे फिरहि जंत॥
विसमादु पउणु विसमादु पाणी। विसमादु अगनी खेडहि विडाणी॥
विसमादु धरती विसमादु खाणी। विसमादु सादि लगहि पराणी॥
विसमादु संजोगु विसमादु विजोगु। विसमादु भुख विसमादु भोगु॥
विसमादु सिफति विसमादु सालाह। विसमादु उझड़ विसमादु राह॥
विसमादु नेड़े विसमादु दूरि। विसमादु देखै हाजरा हजूरि॥
वेखि विडाणु रहिआ विसमादु। 'नानक' बुझणु पूरै भागि॥

शब्द और ज्ञान, जीवन और भेद, रूप और रंग, नंगे और खुले घूमनेवाले जीव-जन्तु, पवन और पानी, अग्नि और पृथ्वी, नाना प्रकारके रस और स्वाद, संयोग और वियोग, भूख और भोग, सिफति और सालाह, मार्ग और कुमार्ग, निकट और दूर, हाजरा-हजूर, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष-— देख-देखकर मनुष्य आश्चर्यसे चकित रह जाता है। कोई बात ही नहीं समझमें आती।

प्रभुकी इस आश्चर्यमयी रचनाको देख-देखकर मनुष्य हैरान रह जाता है। इसके रहस्यको समझना बड़े भाग्यकी बात है। सौभाग्यशाली व्यक्ति ही प्रभुकी इस रहस्यमयी रचनाको समझ पाते हैं; दूसरोंके वशकी यह बात है नहीं।

जब यह स्थिति है कि इस रहस्यको समझना कठिन है, सबके वशकी बात नहीं है, तब यह सवाल उठता है कि किया क्या जाय।

माना कि वह परम प्रभु, वह अकाल पुरुष, वह वाहि-गुरु हमारी बुद्धिसे परे है, हमारी अक्ल उसके दरबारमें प्रवेश नहीं कर पाती, वह जो चाहे सो करता है, उसके हुकुमसे, उसकी मर्जीसे सृष्टिमें पल-पलमें परिवर्तन होता रहता है, तब हम क्या करें? हमारे निस्तारका भी कोई रास्ता है?

माना कि वह अल्लाह अलख है, अगम्य है, कादिर है, करणहार है—सब कुछ है, पर वह करीम भी तो है। वह दयासागर भी तो है। करुणानिधान भी तो है।

भले ही उसे समझनेमें हमारी अक्ल काम न करे, पर उसकी दयालुताका तो हम लाभ उठा सकते हैं। क्यों न हम उस दयानिधानसे प्रार्थना करें कि वह हमें अपनी शरणमें ले ले? क्यों न हम उससे विनती करें कि वह हमपर अपनी कृपादृष्टि बरसाये? क्यों न हम उससे माँगें कि 'हे मालिक! तू हमपर अपने अमृतकी वर्षा कर! तूने हमें पैदा किया है तो हमारी चिन्ता भी तुझे ही करनी है।'

हरि अनंत हरि कथा अनंता

अनन्त नाम हैं उस परमेश्वरके। उसकी कथा भी अनन्त है।

वह वासुदेव भी है हरि भी, गोविन्द भी है राम भी, इन सबका संयुक्त रूप वाहि-गुरु भी है अकाल पुरुष भी। वह प्रभु भी है भगवान् भी, विशन भी है ब्रह्मा भी, गोपाल भी है गोसाँई भी, मुरारी भी है, माधो भी, निरंजन भी है पारब्रह्म भी।

वह अल्लाह भी है करीम भी, रब भी है रहीम भी, राजक भी है कादिर भी, साहिब भी है मालिक भी, मीर भी है शाहंशाह भी।

वह मीत भी है पिआरा भी, प्रीतम भी है मनमोहन भी, कन्त भी है खसम भी, गुरु भी है पीर भी, पिता भी है माता भी, मित्र भी है भाई भी।

वह निराकार भी है निरंकार भी, सगुण भी है निर्गुण भी, अमृत भी है बे-अन्त भी, आत्मा भी है परमात्मा भी, खालिक भी है खलक भी।

वह सत्य भी है सच भी, अगम भी है अगाध भी, भोगी भी है अभोगी भी, राजा भी है पातशाह भी, सागर भी है दरिआव भी, आनन्द भी है सुखसागर भी, अकाल पुरख भी है अकाल मूरत भी, सरबजोत भी है सर्वनिवासी भी, आप भी है सोहं भी, दातार भी है दीनदयाल भी, अकाल भी है अदेश भी।

जिनि करते करणा कीआ चिन्ता भि करणी ताह

जीवनकी, जगत्‌की, सृष्टिकी, अपनी-परायी चिन्ताका भार हम क्यों ढोयें? क्या जरूरत है इसकी? जिस मालिकका यह सारा पसारा है, वही करे इसकी चिन्ता।

मुझे तो बस तेरा आसरा है, तेरा भरोसा है।

मनि चाउ घनेरा सुणि प्रभ मेरा मैं तेरा भरवासा।
दरसनु देखि भई निहकेवल जनम मरण दुखु नासा॥

अवरु न जाणा दूजा तीया

हे परमप्रभु ! मैं तो और किसी दूसरे-तीसरेको नहीं जानता । मुझे तो मालिक ! बस, तेरा ही एक सहारा है--

आदि निरंजनु निरमलु सोई । अवरु न जाणा दूजा कोई ॥
एकंकारु बसै मनि भावै । हउमै गरबु गवाइदा ॥

प्राप्तव्य एक—मार्ग अनेक

जिस प्रकार बिजलीकी रोशनी आती एक स्थानसे है, किंतु शहरमें नाना स्थानोंमें नाना रूपोंसे प्रकाशित होती है, उसी प्रकार नाना देशोंके विभिन्न जातियोंके धर्मगुरुओंको उसी एक भगवान्‌से स्फूर्ति मिलती है ।

जल है तो एक पदार्थ, किंतु देश, काल और पात्रके भेदसे उसके नाम भिन्न-भिन्न हो जाते हैं । हिंदीमें उसे 'जल' कहते हैं, उर्दूमें 'पानी' और अंग्रेजीमें 'वाटर'। एक दूसरेकी भाषा न जाननेके कारण ही कोई किसीकी बात नहीं समझ पाता, किंतु जान लेनेपर फिर भावमें किसी तरहका भेद नहीं रह जाता ।

भगवान् एक हैं, पर साधक और भक्तगण भिन्न-भिन्न भाव और रुचिके अनुसार उनकी उपासना किया करते हैं । एक ही दूधसे कोई रबड़ी तो कोई पेड़ा बनाकर खाते हैं, कोई दही या मट्ठा बनाकर पीते हैं और कोई-कोई मक्खन या घी निकालकर खाते हैं । इसी प्रकार जिनकी जैसी रुचि होती है, वे उसी भावसे भगवान्‌का साधन-भजन तथा उनकी उपासना करते हैं ।

छतके ऊपर जानेके लिये जैसे जीना, बाँस, सीढ़ी आदि अनेक उपाय हैं, उसी प्रकार एक ईश्वरके पास पहुँचनेके लिये अनेक उपाय हैं । प्रत्येक धर्म ही एक उपाय है ।

ईश्वर तो एक हैं, परंतु उनके नाम और भाव अनन्त हैं । जो जिस नाम और जिस भावसे उनकी आराधना करता है, वे उसी नाम और उसी भावसे उसे दर्शन देते हैं ।

जितने मत हैं, उतने ही पथ हैं । जैसे इस काली-मन्दिरमें आनेके लिये कोई तो नावसे, कोई गाड़ीसे और कोई पैदल आता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न मतोंके द्वारा भिन्न-भिन्न लोगोंको सच्चिदानन्दकी प्राप्ति होती है ।

कोई किसी भी भाव, किसी भी नाम या किसी भी रूपसे उस अद्वितीय सच्चिदानन्दकी उपासना या साधन-भजन क्यों न करे, उसे निश्चय ही भगवान्‌का लाभ होगा ।

भगवान्‌का नाम और ध्यान चाहे जिस रीतिसे करो, उससे कल्याण ही होगा । मिश्रीकी रोटी चाहे सीधी करके खाओ, चाहे टेढ़ी करके, वह मीठी ही लगेगी ।

महात्मा केशवचन्द्र सेनने श्रीरामकृष्णदेवसे पूछा—'भगवान् तो एक हैं, फिर धर्म-सम्प्रदायोंमें इतना पारस्परिक वाद-विवाद क्यों दिखायी पड़ता है ?' श्रीरामकृष्णदेवने उत्तर दिया—"जैसे इस पृथ्वीपर लोग 'यह हमारी जमीन और यह हमारा घर' कहकर उसे घेरकर बैठ जाते हैं, किंतु ऊपर वही एक अनन्त आकाश है, उसे कोई नहीं घेर सकता, उसी प्रकार लोग अज्ञानवश अपने-अपने धर्मको श्रेष्ठ बताकर निरर्थक वाद-विवाद किया करते हैं । जब ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब परस्पर वाद-विवाद नहीं रह जाता ।"

जो लोग संकीर्ण विचारके हैं, वे ही दूसरोंके धर्मकी निन्दा करते हैं और अपने धर्मको श्रेष्ठ बताकर सम्प्रदाय गढ़ते हैं; किंतु जो ईश्वरानुरागी हैं, वे केवल साधन-भजन किया करते हैं, उनके भीतर किसी तरहकी दलबंदी नहीं रहती । बँधी ताल-तलैयामें ही काई आदि जमती है, बहती नदीमें नहीं ।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

प्रार्थना

जो तुमने मेरे लिये किया, वह असमोर्ध्व था

मेरे बन्धु !

जो तुमने मेरे लिये किया, वह असमोर्ध्व, तथापि अपर्याप्त था। जो कुछ तुमने मेरे लिये किया, वह अपरिमित था, फिर भी उसमें कुछ और करनेकी गुंजाइश थी। अपर्याप्त इसलिये कि तुम मेरे लिये जो कुछ कर सकते थे, उसकी कहीं कोई सीमा है ही नहीं। अनादि कालसे अनन्त कालपर्यन्त, अनन्त रूप धारणकर, अनन्त तरीकोंसे तुम मेरा अनन्त हित करते रहो—यही मेरे प्रति तुम्हारे प्रेमका स्वरूप है। इसकी कोई इति, थाह अथवा सीमा है ही नहीं। असमोर्ध्व तो वह है ही; क्योंकि, बन्धु ! तुम स्वयं इस विश्व-ब्रह्माण्डमें अनुपमेय हो। तुम्हारा रूप, गुण, कर्म, यश, लीला और स्वभाव—सब कुछ अतुलनीय है। मुझ, तुम्हारे प्रेमपात्रके प्रति तुम्हारा प्रेम-व्यवहार किसी अन्यके अन्यके प्रति प्रेम-व्यवहारसे कैसे अतुलनीय हो सकता है? मेरे-तुम्हारे प्रेम-सम्बन्धकी समता कहीं अन्यत्र हो ही नहीं सकती।

प्रिय बन्धु ! तुम्हारे असमोर्ध्व यशके विस्तारके लिये ही तुम महाभावमय हो तथा विधाताने मुझे परम अभावमय रचा। यदि मैं नित्य रीता, नित्य याचक, नित्य भिखारी, नित्य सूना नहीं होता तो तुम्हारे अनन्त दान, अहैतुक दान, अमर्यादित एवं अतर्कित दानका योग्य पात्र कहाँ मिलता ! मैं सदैव स्वीकार करनेको तैयार रहा, तभी न, बन्धु ! तुम नित्य देते रहे, अनादि कालसे देते रहे, अनन्त रूपोंसे देते ही रहे और अनन्त कालतक देते ही रहोगे। तुम देते-देते कभी भी नहीं थके और मैं लेता-लेता कभी नहीं अघाया। विश्वमें तुम्हारे दानकी कहीं तुलना नहीं; विश्वमें मेरे दानग्रहणका भी कोई उपमान नहीं।

बन्धु ! मैंने तुम्हारे साथ जो व्यवहार किया, उसे जानते हो तुम अथवा जानता है मेरा हृदय। बन्धु ! जो तुमने मेरे लिये किया, उसे जानता हूँ मैं अथवा जानता है तुम्हारा हृदय। मेरे-तुम्हारे व्यवहारके औचित्य-अनौचित्यका निर्णय हमारे अतिरिक्त दूसरा कौन निर्णायक कर सकता है? हमारे प्यारकी, उपेक्षाकी, रोषकी, मनुहारकी, सत्कारकी-दुत्कारकी, सद्व्यवहारकी एवं अत्याचारकी गाथाको, उसकी मार्मिकताको हम दोनोंके अतिरिक्त अन्य कोई क्योंकर जान सकता है। उसे तो जानता है मेरा मर्मस्थल तथा जानता है तुम्हारा अन्तर्हृदय।

मेरे बन्धु ! तुम्हारे प्यारको मैंने ठुकराया है। मैंने तुम्हारे मीठे सत्कारकी उपेक्षा की है। मैंने तुम्हारे प्रेमभरे उपहारोंको एक किनारे रख दिया और कभी तुमसे एक भी मीठा बोल नहीं बोला। अपने इन कुत्सित व्यवहारोंसे जो पीड़ा तुम्हारे कोमल हृदयको मैंने पहुँचायी है, उससे अधिक पीड़ा तो ऐसा करके मैंने स्वयं सहन की है। तुम्हारे प्यारकी उपेक्षा करके जो घुटन, जो उमस, जो व्याकुलता, अन्तर्व्यथा एवं तड़पन मेरे हृदयने मूकभावसे सहन की है, क्या उस परितापसे मेरे अपराधका परिमार्जन नहीं हो गया?

मेरे बन्धु ! मेरा हृदय जानता है, अथवा जानते हैं मेरे प्राण कि तुमसे रूठकर, तुमसे अलग होकर, तुमसे अनबोले-अनजाने रहकर मुझपर क्या बीतती है? पर यह पीड़ा भी मुझे इसलिये प्यारी है कि यह तुम्हें लेकर है। वह अनदेखी तुम्हारी झाँकी, वह अनसुनी तुम्हारी मिठास-भरी वाणी, वह अनचीन्हा तुम्हारा माधुर्यपूर्ण व्यवहार, वह मेरी कल्पनाके तुम और तुम्हारी अननुभूत लीला यही मेरे सुखका स्रोत है, मेरे आनन्दका कोष है, मेरे प्राणोंका आधार है।

बन्धु ! तुम वही हो, जो तुम्हें होना चाहिये। मैं भी वैसा ही हूँ, जो मुझे होना था। न तुममें कोई सुधार, कोई भी परिवर्तन अपेक्षित है; क्योंकि प्यारकी हदतक तुम प्रेममय हो, प्रेमके अन्तिम छोर-तक तुम प्यारे हो। न मुझमें कोई परिवर्तनकी गुंजाइश है। मेरे नीचतम और तुम्हारे अतिशय महान् होते हुए भी तुम्हारा अनुपमेय प्रेमदान मुझे सदैवसे निरन्तर प्राप्त हो रहा है। यही तुम्हारा नित्य स्वभाव है, यही तुम्हारा यश-विस्तार है।

—तुम्हारा ही अपना एक

अर्धनारीश्वर

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

(मानस १ । २ श्लोक)

भवानी श्रद्धा और भगवान् शिव विश्वास ! आप श्रद्धा-विश्वासके मध्य कहीं सीमा-रेखा बना सकते हैं ? ये परस्पर अभिन्न हैं ।

गौरव-बुद्धि-समन्वित विश्वासका ही नाम 'श्रद्धा' है और अविचल श्रद्धाका ही नाम 'विश्वास' है ।

आजकल लोग अन्धश्रद्धा-अन्धविश्वासका नाम लेकर नाक-भौं चढ़ानेमें अपनी श्रेष्ठता मानते हैं, किंतु समझदार इतने हैं कि जानतेतक नहीं कि श्रद्धा या विश्वास कहते किसे हैं !

यदि आप जानते हैं कि यह बात ऐसी है, इस वस्तु या व्यक्तिमें यह गुण, यह विशेषता है, तो आप अपनी जानकारीको मानते हैं । इसमें श्रद्धा या विश्वासका प्रश्न नहीं है । यदि आप नहीं जानते कि इस वस्तु या व्यक्तिमें यह गुण—यह विशेषता है या नहीं, किंतु आपने ऐसी बात किसी विश्वस्त व्यक्तिसे सुनी है, पढ़ी है, इसलिये मानते हैं, तो आप श्रद्धा करते हैं, आप विश्वास करते हैं ।

जानकर मानना ज्ञानको मानना है, बिना जाने सुन या पढ़कर मान लेना श्रद्धा एवं विश्वास है । इसमें 'अन्ध' विशेषण लगाना अज्ञताके अतिरिक्त कुछ नहीं ।

समस्त सृष्टि श्रद्धासे व्यक्त हुई । भवानी—माया ही सृष्टिकी मूल हेतु हैं और समस्त ज्ञान विश्वाससे व्यक्त होता है । ये श्रद्धा-विश्वास नित्य अभिन्न हैं । महाकवि कालिदास कहते हैं—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

(रघुवंश १ । १)

कोई उस परमतत्त्वको 'पार्वती-परमेश्वर' कहते हैं, कोई 'लक्ष्मी-नारायण' कोई 'राधा-कृष्ण' और कोई 'सीता-राम' । गोस्वामी तुलसीदासजी महाकवि कालिदासकी ही बात अपने ढंगसे कहते हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।
बंदउँ सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न ॥

(मानस १ । १८)

वाणी और उसका अर्थ, जल और लहर—ये नाम दो हैं—इसी प्रकार वह मूल सच्चिदानन्द तत्त्व शक्ति शक्तिमान्‌रूपमें होनेपर भी नित्य अभिन्न है ।

'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥'

आप जप-तप आदि साधन करके सिद्ध हो सकते हैं । सिद्धियोंकी प्राप्ति तो ओषधिसे हो जाती है ।

'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ।'

(योगदर्शन ४ । १)

कुछ लोग जन्म-सिद्ध होते हैं । सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा जन्मसे ही उनमें कुछ अधिक शक्तियाँ होती हैं । तपस्यासे, मन्त्रद्वारा अथवा मनकी एकाग्रतासे सिद्धि—शक्ति-विशेष प्राप्त करनेकी प्रथा प्राचीन कालमें थी । आज विज्ञान ओषधिसे सिद्धियोंको सुलभ करनेमें लगा है ।

महर्षि विश्वामित्रने तप करके नवीन सृष्टि करनेकी शक्ति प्राप्त कर ली थी । उन्होंने नवीन वनस्पति तथा प्राणी उत्पन्न कर दिये थे । सिद्धिका मूल जैसे तप है, वैसे ही ओषधि भी है । अतः कलको यदि विज्ञान नवीन प्राणी यन्त्रसे उत्पन्न कर लेता है तो आश्चर्यकी क्या बात होनेवाली है ।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

(गीता १३ । ६)

यह जो देहमें दृश्यमान चेतनता है, यह संघातका है और वह क्षेत्रके अन्तर्गत है । यह क्षेत्र सिद्धिके वशवर्ती है । 'सिद्धि' का अर्थ ही है—क्षेत्रमें इच्छानुसार

आविर्भाव-तिरोभाव एवं परिवर्तनकी शक्ति। अतः यह शक्ति किसीमें जन्मसे हो सकती है; कोई तप, मन्त्र या समाधिसे उसे पा सकता है तो कोई ओषधिसे—विज्ञानके माध्यमसे भी उसे पा सकता है।

सभी भौतिक माध्यम भौतिक उपलब्धि कर सकते हैं। फलतः सिद्धि केवल क्षेत्रमें प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, क्षेत्रज्ञतक उसकी गति नहीं है। आप सिद्ध भले हो जायँ—यदि आपमें श्रद्धा-विश्वास नहीं है तो आपके अपने भीतर ही जो अन्तर्यामी क्षेत्रज्ञ है, उसकी उपलब्धि आपको नहीं हो सकती। श्रुति कहती है—

'श्रद्धत्स्व सौम्य !'

श्रद्धा माता हैं—भवानी हैं। इनके गर्भसे साधक-देहका जन्म होता है और यही शिवकी गोदमें अपने शिशुको देती हैं। आस्था—विश्वास भगवान् शिव हैं। जीवका कल्याण विश्वाससे होता है। आस्थाहीन-के सम्बन्धमें तो भगवान्ने कहा है—

'संशयात्मा विनश्यति।' (गीता)

परमात्मा अपने हृदयमें ही है, वह अपने भीतर है, किंतु मिल इसलिये नहीं पा रहा है कि आपमें श्रद्धा नहीं; और श्रद्धा नहीं तो विश्वास कहाँसे होगा। श्रद्धारहित तो विश्वास हुआ नहीं करता।

'जान लेने—प्रत्यक्ष कर लेनेके बाद विश्वास होता है।' आप यह कहते हैं! क्या और कितना जानते हैं आप? आपकी जानकारी पूर्ण है क्या? जीवकी जितनी जानकारी है, वह सदा अपूर्ण रहती है। कहीं-न-कहीं आपकी मान्यता-आपकी श्रद्धा है, जिसपर आपकी जानकारी टिकी है।

यह श्रद्धा-विश्वासका अभेद—यह भवानी-शंकरकी अर्ध-नारीश्वर भव्यमूर्ति—यह ध्यानमूर्ति भी है और शिक्षामूर्ति भी। इसमें सृष्टिका रहस्य निहित है। आज प्राणिशास्त्री कहते हैं—'सृष्टिका प्रत्येक प्राणी उभयलिङ्गी है। पुरुषमें स्त्री-अवयव केवल अविकसित दशामें हैं और पुरुष-अवयव स्त्रीमें अविकसित दशामें हैं।'

पदार्थविज्ञान कहता है—'प्रकृतिके प्रत्येक अणुमें आकर्षण-विकर्षणकी दोनों शक्तियाँ एक साथ हैं। आकर्षक-कण (प्रोटोन) एवं आकर्षित कण (इलैक्ट्रोन) से ही समस्त परमाणु बने हैं।'

शक्ति-शक्तिमान्का अभेद सृष्टिके अणु-अणुमें आज स्पष्ट होने लगा है और आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि यदि कलको चलकर विज्ञान कहने लगे कि 'उसे अणुओं-के आकारमें सर्वत्र भारतीयोंद्वारा पूजित शिवलिङ्ग दीखने लगा है।'

साधकके लिये एक परम संदेश है इस अर्धनारीश्वर-मूर्तिमें। यह पराकाष्ठाके संयम एवं वैराग्यकी प्रतीक-मूर्ति है—

विश्वेश्वरत्वे सति भस्मशायिने
उमापतित्वे सति चोर्ध्वरेतसे।
वित्तेशभृत्ये सति चर्मवाससे
निवृत्तरागाय नमस्तपस्विने॥

कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं, किंतु शयन करते हैं भस्मपर। संग्रह-परिग्रह-विलासकी गन्ध भी समीप नहीं आने देते।

आप हैं तो अर्द्धनारीश्वर—देहका अर्धभाग ही देवीको दे रखा है; किंतु संयमकी पराकाष्ठा हैं। ऊर्ध्वरेता, मदनरिपु हैं। इतना नित्य स्थिर अविचलित एकरस संयम-आदर्श है।

सेवक हैं धनाधीश कुबेर और वह भी दूर नहीं—समीप ही रहते हैं; किंतु प्रभु कटिमें गजचर्म लपेटे रहते हैं। वस्त्रतक रखना स्वीकार नहीं है उन्हें।

तपस्वी-साधक, परमार्थके जिज्ञासुमें राग—विषयासक्तिका लेश भी नहीं होना चाहिये, इसका आदर्श उपस्थित करनेके लिये प्रभु स्वयं परम तापसरूपमें रहते हैं।

यह ध्येय मूर्ति है। आप इसका ध्यान करें और देखें कि हृदयमें श्रद्धा-विश्वास किस प्रकार अपना आसन स्थिर करने लगे हैं।

एकलोचनमेकार्धे सार्धलोचनमन्यतः।
नीलार्धं नीलकण्ठार्धं महः किमपि मन्महे॥

वामभागमें सुदीर्घ केशकलाप है—मणि-रत्नग्रथित और दक्षिणार्धमें कपिश जटाजूट सर्प-बन्धनसे बँधा है। ऊपर द्वितीयाका चन्द्रमा तथा गङ्गाकी धारा है। ललाटपर एक ओर कुङ्कुम-बिन्दु है और एक ओर त्रिपुण्ड्र। एक भागमें विशाल खञ्जनमञ्जु एक दृग् है और दूसरे भागमें डेढ़ नेत्र हैं। वामाङ्ग सम्पूर्ण किंचित् नीलाभ है और दक्षिणाङ्ग कर्पूरगौर होनेपर भी कण्ठदेश नील है। यह ज्योतिर्मयी अर्धनारीश्वर मूर्ति—यह श्रद्धा-विश्वासकी अधिदेव-मूर्ति हृदयमें आये।

अनेक वैष्णवाचार्योंका मत है कि उपासना शक्तिसमन्वित शक्तिमान्‌की ही की जानी चाहिये । महाभावालिङ्गित रसराज ही मधुरोपासनाका आराध्य है । वह रसराज ही इसलिये है कि उसे महाभावने अङ्कमाल दे रखी है । इस बातकी अर्ध नारीश्वररूप सम्यक् अभिव्यक्ति है ।

परमार्थकी पराकाष्ठातक इस बातको खींचनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि योगकी निर्विकल्प समाधि, बौद्ध साधनका परिनिर्वाण और अद्वैतमतके 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के समान अनेक अपवाद इसमें निकलेंगे ।

'रसो वै सः ।'

परमपुरुष ही रस हैं । आनन्दस्वरूप हैं वे । शक्ति उस रसके व्यक्तीकरणकी प्रक्रिया है । वे आह्लादिनी हैं । बहुत ही सरल—व्यावहारिक रूप है इनका श्रद्धा-विश्वास । साधकको समाश्रयण देनेवाला रूप है यह ।

कथा है कि गणेशजी और स्वामिकार्तिकमें प्रथमपूज्य होनेके प्रश्नपर विवाद छिड़ गया । निर्णय किया गया कि जो पहले पृथ्वीकी प्रदक्षिणा कर ले, वह प्रथमपूज्य । षण्मुख स्वामिकार्तिक अपने मयूरपर बैठे और उड़ चले । लम्बोदर, ठिंगने चरणवाले गणेशजी मूषकपर बैठकर यह प्रतियोगिता जीत नहीं सकते थे । उन्होंने माता-पिताको समीप बैठे देखा तो उनकी ही प्रदक्षिणा कर ली और वे विजयी घोषित किये गये ।

माता-पिता भवानी-शंकर—श्रद्धा-विश्वास जिसपर सानुकूल है—जो इनको प्रदक्षिण रख सकता है, वह नित्य विजयी—नित्य सफल है । सर्वत्र समादरप्राप्तिका वही अधिकारी है । बुद्धिके अधिदेवता गणेशजीने संदेश ही यह दिया—'विजय, सफलता एवं समादर चाहिये तो अपने बल-पौरुषका गर्व त्यागकर श्रद्धा-विश्वासको दाहिने करो । इन भवानी शंकरके श्रीचरणकी शरण ग्रहण करो ।'

रात्रि-प्रतीक्षा

[विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोरके 'मेघेर पर मेघ जमे छे' पदका श्रीसत्यकाम विद्यालंकारद्वारा किया हुआ भावानुवाद]

बादलोंपर बादल छा गये, अँधेरा हो गया—
ऐसे समय मुझ अकेलेको अपने द्वारके बाहर, प्रतीक्षामें
क्यों बिठा दिया, मेरे प्रियतम !
दिन ढलनेपर, शामकी वेलामें, मैं रोज विविध कामों और
विविध लोगोंमें व्यस्त रहता हूँ ।
आज इस अँधेरी शाममें यहाँ अकेला केवल तेरे दर्शनकी
आशापर ही बैठा हूँ ।
तूने यदि आज भी अपने दर्शन न दिये, और मेरी निपट
उपेक्षा कर दी, तो यह बरसातकी लंबी रात कैसे कटेगी !
दूरके उदास नीले आकाशको मैं निर्निमेष देख रहा हूँ—
मेरा मन हवामें उड़ते बादलोंके साथ व्योम-विहार कर
रहा है,
मुझ अकेलेको द्वारोंके बाहर क्यों बिठा दिया, मेरे प्रियतम !

महात्मा श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी

(लेखक—श्रीरामलाल)

महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने सत्यरसामृत ब्रह्मानन्दके वितरणके लिये शरीर धारण किया था। उन्होंने आजीवन सत्य—ब्रह्मके शिवमय दिव्य सौन्दर्यका चिन्तन किया, असंख्य प्राणियोंको अपने ब्रह्म-संगीतसे मोहित कर लिया। निस्संदेह उनकी उपस्थितिसे केवल शस्यश्यामला कोमल कान्तिमयी स्वर्णिम वङ्गभूमि ही नहीं, आसेतु हिमाचलकी दिव्य गरिमा धन्य हो गयी। वे श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दके समकालीन थे। योगी गम्भीरनाथकी साधना और तपस्यासे पवित्र उत्तरापथमें संचरण कर उन्होंने ब्रह्मके दिव्य गानसे भारतकी धरतीका कण-कण पवित्र कर दिया। ब्राह्मसमाजके सिद्धान्तोंको भारतीय शास्त्र-मर्यादा और भागवती चेतनाकी कसौटीपर कसकर उन्होंने सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संरक्षण तथा जागरणमें महान् योग दिया। उन्होंने अपने समयकी अध्यात्म-चेतनाको भागवतरससे पूर्ण प्लावित कर दिया। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरके उपदेशामृत-पानसे उनकी अन्तरात्मा ज्योतित हो उठी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने सत्यका साक्षात्कार किया। उनका जीवन भव-बन्धनसे मोक्ष और राष्ट्रीय अभ्युत्थान अथवा निर्माणका प्रतीक था। उनके जीवनका अधिकांश बंगालमें ही बीता। वे महात्मा, भक्त और संत—सबके अद्भुत और असाधारण समन्वय थे।

महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने परम भागवत कुलमें जन्म लिया था। उनके पूर्वज चैतन्यदेवके समकालीन परम वैष्णव अद्भुत ब्रह्मानन्दी कृष्णभक्त अद्वैताचार्य महाशय थे, जिन्होंने शान्तिपुरमें जन्म लेकर, नवद्वीपधामको अपनी सरस भगवद्भक्तिसे गौरवान्वित कर महाप्रभु चैतन्यकी रसमयी लीलाका विस्तार किया था, जिनके 'जीवे दया नामे रुचि' महामन्त्रने बंगालको व्रजमें परिवर्तित कर दिया था। महात्मा विजयकृष्णके शरीरमें अद्वैताचार्य महाशयका पवित्र रक्त प्रवाहित था। अद्वैताचार्य महाशयकी जीवन-कथासे उन्होंने अपार प्रेरणा प्राप्त की थी। अपने पूर्वजोंके प्रति उनके मनमें अगाध श्रद्धा, असाधारण गौरवबुद्धि और पूज्यभावना थी। भगवद्भक्ति उनकी पैतृक सम्पत्ति थी।

बंगाल प्रान्तके नदिया जनपदमें परम पवित्र भगवती भागीरथीके तटपर स्थित शान्तिपुरमें उनका निवासस्थान था। विजयकृष्ण गोस्वामीके पिता आनन्दकिशोर लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे। उनकी पत्नीका नाम स्वर्णमयी था। दैवयोगसे माता स्वर्णमयी अपने नैहर गयी हुई थीं। स्वर्णमयीका नैहर नदिया जनपदके शिकारपुर ग्रामका निकटवर्ती दहकुल ग्राम था। उन्होंने संवत् १८९८ वि०की झूलन-पूर्णिमाको विजयकृष्ण गोस्वामीको जन्म दिया। शान्तिपुर और दहकुल—दोनों ग्रामोंमें प्रसन्नता और आनन्दकी बाढ़ आ गयी। स्वजन और सगे-सम्बन्धी नवजात शिशुके आगमनसे हर्षित हो उठे। विजयकृष्णके माता-पिता बड़े सात्त्विक स्वभावके थे। उन्होंने अपने प्राणप्यारे पुत्रके सुचारु पालन-पोषणमें अमित सावधानीका परिचय दिया। कभी विजयकृष्ण मामाके घर रहते थे तो कभी अपने घर शान्तिपुरमें। इस प्रकार उनकी शिक्षाका कोई निश्चित क्रम न था; कभी वे शान्तिपुरकी पाठशालामें पढ़ने जाते थे तो कभी दहकुलके विद्यालयमें शिक्षा पाते थे। बचपनसे ही माता-पिताके सात्त्विक सम्पर्कके कारण साधु-संतों और देवी-देवता तथा भगवान्में उनकी श्रद्धा बढ़ती गयी। वे अद्भुत प्रतिभाशाली और बुद्धिमान् थे। यद्यपि देखनेमें वे बड़े चञ्चल थे, तथापि उनका स्वभाव कोमल और मधुर था। मनमें दयाका भाव था। घरमें भगवान् गोविन्ददेवकी पूजा होती थी। विजयकृष्ण बड़े प्रेमसे अपने गृहदेवता गोविन्ददेवको साथमें खेलनेके लिये बुलाया करते थे और जब यह देखते थे कि भगवान् नहीं आते हैं, तब उनपर अपना क्रोध प्रकट करते थे। इस प्रकार बाल्यावस्थामें ही उनमें भगवान्के प्रति विश्वास और अगाध प्रेमकी वृद्धि होने लगी। ग्राम-पाठशालाका अध्ययन समाप्त होनेपर संस्कृतके अध्ययनके लिये वे कलकत्ता आये। कलकत्ताके लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंके सम्पर्कसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा। उनकी देवेन्द्रनाथ महर्षिसे घनिष्ठता बढ़ गयी। उनके उपदेशोंसे उन्हें आत्मज्ञानका प्रकाश मिला। थोड़े समयके बाद उनका विवाह कर दिया गया। उनकी पत्नीका नाम योगमाया देवी था, जो बड़ी सती-साध्वी और उदात्त चरित्रकी रमणी थीं। विजयकृष्ण गोस्वामीने गृहस्थाश्रममें

प्रवेश करनेके बाद महर्षि देवेन्द्रनाथके उपदेशोंसे प्रभावित होकर ब्राह्मधर्मकी दीक्षा ले ली। महर्षिके उपदेशोंने उनके हृदयमें भागवत माधुर्य भर दिया। उन्होंने ब्राह्मसमाजके लोगोंमें निर्मल भगवदुपासना-पद्धतिका प्रचार किया। ब्राह्मसमाजके मूलमें लगे वैदेशिकताके कीड़ोंका अन्त कर डाला। पहले उन्होंने पूर्व वङ्गीय जनपदों—ढाका, खुलना, नोआखाली और मैमनसिंह आदिमें ब्राह्मसमाजका प्रचार किया, जनताको नवीन ज्ञान-प्रकाशमें भागवत-चेतना दी, ब्रह्म-उपासनाकी विधि समझायी, उसके बाद केशवचन्द्र सेनके साथ उत्तर-पश्चिममें प्रचार-यात्रा की। देशके कोने-कोनेमें ब्राह्म-समाजका प्रचार करना उनका जीवन-व्रत हो गया।

वे कलकत्तासे शान्तिपुर आते-जाते रहते थे। उन दिनों उनके मनमें भगवद्भक्ति बड़े वेगसे बढ़ रही थी। एक बार वे शान्तिपुर आये हुए थे। उनके जीवनपर नवद्वीपके चैतन्यदास बाबाने बड़ा प्रभाव डाला। शान्तिपुर-निवासकालमें महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी भगवान्के भजनके लिये बड़े व्याकुल रहते थे। सदा भगवच्चिन्तनमें लगे रहना ही उनका दैनिक कार्यक्रम हो गया था। वे नित्य भागीरथीके तटपर वासन्ती ज्योत्स्नामें विचरण करते थे तथा उद्विग्न होकर अपने प्रेमास्पदकी खोज करते थे। दिव्य प्राकृतिक सौन्दर्यकी पवित्रताका नयनोंमें संचार होनेपर उन्हें अपने प्रियतमका स्मरण हो आया करता था। एक दिन विजयकृष्ण गोस्वामीने अपने मनकी भावना शान्तिपुर-निवासी हरिमोहन प्रामाणिकके सम्मुख रखी; हरिमोहनने उनके भगवत्प्रेमसे विशेष प्रसन्न होकर उन्हें पढ़नेके लिये 'चैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ दिया। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीके हाथमें चैतन्यचरितामृत ग्रन्थका आना था कि उनके रोम-रोममें अखण्ड और अतर्क्य भगवन्निष्ठा जाग उठी। जीवमात्रके प्रति दया, भगवन्नाममें भक्ति और रुचि तथा अनन्याश्रयकी भावनासे उनके विरहविदग्ध हृदयको बड़ी शान्ति मिली।··· एक दिन विजयकृष्ण चैतन्यदास बाबासे मिलने गये। उनके साथ उनके बन्धु नीलकमल देव थे। उन्होंने बाबासे भगवद्भक्ति लाभका उपाय पूछा। चैतन्यदास बाबाका रोम-रोम सिहर उठा; उन्होंने बड़े प्रेमसे विजयकृष्णकी ओर देखकर कहा—'भक्ति तो तुम्हारे ही घरकी सम्पत्ति है, अद्वैताचार्यके वंशजोंके रोम-रोममें भक्तिका निवास है।' बाबाने विजयकृष्णसे कहा कि यदि प्रेम-भक्तिके लाभकी मनमें इच्छा है तो संसारसे अनासक्त होकर दीन-हीन और अकिंचन अवस्था वरण कर लेना चाहिये। मनमें अहंकारकी एक कणिका रहनेपर भी भगवान्की भक्ति नहीं मिल सकती। विजयकृष्णके मनपर चैतन्यदास बाबाके कथनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके मनमें भगवद्भक्ति प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा जाग उठी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने भक्ति-व्रत ग्रहण किया।

एक दिन वे शान्तिपुरमें गङ्गातटपर रात्रिमें विचरण कर रहे थे। चाँदनी रात थी। मन्द-मन्द समीर बह रहा था। वे भगवच्चिन्तनमें विमुग्ध हो उठे। उन्होंने निश्चय किया कि बिना भगवद्भक्ति और दिव्य प्रेमके ब्राह्मसमाजका कल्याण नहीं हो सकता। दूसरे दिन सबेरा होते ही ब्राह्मसमाजमें भक्तिरस भरनेके लिये वे कलकत्ता चले गये।···भक्तिविषयक उपदेश और रचनामें लग गये। उन्होंने गीतोंकी रचना की, जो भक्तिरससे परम समृद्ध थे। पूर्व बंगालकी यात्रा की और घर-घरमें उन्होंने भक्ति-चेतनाका उदय सम्भव किया। उनकी यात्रा सफल हो गयी। उन्होंने ब्राह्मसमाजके साधारण नियमोंकी ओर जनताका ध्यान आकृष्ट किया कि सदा परमेश्वरकी महिमाका चिन्तन करते रहना चाहिये। उनमें भक्ति और श्रद्धा सुदृढ़ करनी चाहिये। उन्होंने लोगोंको भक्तिका स्वरूप समझाया कि 'भक्तिको कृपणके धनकी तरह गुप्त रखना होगा। शास्त्रकार युवतीके स्तनोंके साथ उसकी तुलना किया करते हैं। बालिका खुले शरीर घूमती-फिरती है, पर युवती होनेपर स्तनोंको वस्त्रसे ढक लेती है। स्वामीके अतिरिक्त पिता, माता, गुरु—कोई भी उन्हें देख नहीं पाता। भक्तिका भी यही रूप है। उसे भी सावधानीसे सभीके सामने गुप्त रखना चाहिये।···भक्ति गोपनीय है।' महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने समझाया कि ज्ञान और कर्मके समन्वयसे ब्रह्मानन्दकी माधुरीका रसास्वादन करना चाहिये। उन्होंने भक्ति-साधनाके लिये निर्जन स्थानमें तप करना चाहा। वे तप करनेके लिये गया आये। गयाकी पहाड़ियोंमें उन्होंने परिभ्रमण कर सत्य-तत्त्वके अनुसंधानका व्रत लिया। उन दिनों सिद्धपुरुष परमयोगी गम्भीरनाथजी महाराज कपिलधारा पहाड़ीपर

तप कर रहे थे । विजयकृष्ण गोस्वामीने आकाशगङ्गा पहाड़ीको अपने तपका स्थान चुना । वे कभी-कभी आकाशगङ्गा पहाड़ीसे कपिलधारा पहाड़ीपर गम्भीरनाथजी महाराजसे यौगिक साधनाके सम्बन्धमें विचार करने आया करते थे ।

कभी-कभी रातको वे उन्मत्तकी भाँति आकाशगङ्गासे उतरकर कपिलधारा पहाड़ीकी ओर बाबा गम्भीरनाथके सितारवादनसे मुग्ध होकर दौड़ पड़ते थे । कपिलधारा पहाड़ीकी चोटीपर बैठकर नीरव अर्धरात्रिमें बाबा गम्भीरनाथ सितारपर भजन गाया करते थे । विजयकृष्ण गोस्वामी झाड़ियों और काँटोंको रौंदते हुए उनके पास पहुँच जाया करते थे । एक बार चाँदनी रात थी । आधी रातके समय गम्भीरनाथजी सितार बजाकर भजन गा रहे थे । विजयकृष्ण गोस्वामीने उन्मत्त होकर शिष्योंको जगाया और कहा—'सुनो; कितना मधुर भजन बाबा गम्भीरनाथ भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर रहे हैं ।' वे योगी गम्भीरनाथसे बहुत प्रभावित थे । वे उन्हें प्रेमकी सजीव मूर्ति कहा करते थे । महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने उनसे गुरुतत्त्वके सम्बन्धमें बात की । योगीने संकेत किया कि 'तुम्हें गुरुकी प्राप्ति होगी' और उनके संकेतानुसार एक गुप्त संतने, जो आत्मविज्ञापनसे बहुत दूर रहते थे, विजयकृष्णको दीक्षित किया । आकाशगङ्गा-निवासकालमें उन्होंने गुरुतत्त्वका बोध प्राप्त किया । गयासे विजयकृष्ण कलकत्ता आये । वे स्वामी रामकृष्णसे मिलने दक्षिणेश्वर गये । उन्होंने गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया था, गृहस्थाश्रमका परित्याग कर दिया था । रामकृष्ण परमहंससे अध्यात्म-पथमें निरन्तर बढ़ते रहनेका उन्होंने आशीर्वाद प्राप्त किया ।

वे भगवद्भक्ति-प्रचारमें लग गये । उन्होंने साधारण ब्राह्मसमाजके प्रचारकका पद छोड़ दिया । उन्होंने भगवान्‌से निवेदन किया—'प्रभो ! मेरी यही वासना है कि आपके श्रीचरण सदा मेरे हृदयमें रहें । इससे मेरा मन शान्त होगा, दुःख मिट जायगा तथा अमूल्य धनकी प्राप्ति होगी । मैंने यह सुना है कि बिना पापी या पुण्यात्माका विचार किये ही भवसागरसे आप पार उतार देते हैं । इसलिये मैंने आपकी शरण ली है ।' उन्होंने मधुर-कोमल-कान्त पदावलीमें आत्मनिवेदन किया—

प्रेम-गिरि-कन्दरे योगी हइबे रहिब,
आनन्द-निर्झर-वारि दु हाते पान करिब ।
मिटाते विषय-तृषा संसारेर कूपजले आर जाब ना
हृदय-कमण्डलु भरि शान्ति-वारि पान करिब ॥

भाव यह है कि 'मैं प्रेम-गिरिकी कन्दरामें योगी होकर रहूँगा और दोनों हाथोंसे आनन्दके झरनेका शीतल जल पीऊँगा । विषय-वासनाको मिटानेके लिये संसारकूपके जलका आश्रय नहीं लूँगा । हृदयके कमण्डलुमें शान्तिरूपी जलको भरकर उसीका पान कर विषय-तृष्णा शान्त करूँगा ।'

बारीसालके अश्विनीकुमार दत्त, कृष्णनगरके नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय तथा मनोरञ्जन गुह ठाकुर और नवकुमार विश्वास आदिने उनके सम्पर्क और पथ-प्रदर्शनमें ब्रह्मानन्दका मर्म-रहस्य समझा ।

गयासे लौटनेपर उन्हें पारिवारिक वियोग-दुःख सहना पड़ा । वे अपने परिवारके साथ कभी कलकत्तामें रहते थे तो कभी शान्तिपुर चले जाते थे । पुत्र और कन्याके विवाहके उपरान्त उनकी पत्नीका देहावसान हो गया । गोस्वामी महोदयने पत्नीके समाधि-मन्दिरकी स्थापना की ।

विजयकृष्ण गोस्वामीके जीवनमें अनेक विलक्षण घटनाओंका उल्लेख मिलता है, पर उनमेंसे एक अत्यन्त मार्मिक है । एक बार ब्राह्मसमाजके प्रचार-कार्यके लिये वे लाहौर गये हुए थे । एक धर्मशालामें वे ठहरे थे । उन्होंने सोचा कि संसारकी दृष्टिमें तो मैं उपदेष्टा हूँ, पर मेरा जीवन पाप-चिन्तनमें रत है । इसकी रक्षा करना अनावश्यक है । आधी रातका समय था । उन्होंने आत्महत्याका निश्चय किया । शय्याका परित्याग कर रातकी नीरवतामें वे भगवती रावीके तटपर गये । उन्होंने डूबकर शरीरका त्याग करना चाहा । वे रावीकी गोदमें अवस्थित होनेवाले ही थे कि उन्हें एक महात्माका दर्शन हुआ । महात्माने विजयकृष्ण गोस्वामीको समझाया कि शरीरका त्याग करनेसे पापका नाश नहीं होता । अभी तुम्हारे शरीर-नाशका समय नहीं है । ईश्वर सब कुछ पहलेसे निश्चित रखते हैं । विश्वेश्वर परमात्माकी लीलाका दर्शन करो, भला होगा ।' महात्मा इतना कहकर अन्तर्धान हो गये । विजयकृष्ण गोस्वामीने आत्महत्याका विचार त्याग दिया ।

उनके जीवनका एकमात्र सिद्धान्त था —भगवच्चिन्तन। उन्होंने न तो किसी नवीन सम्प्रदायको जन्म दिया और न कोई नया मत ही चलाया। ईश्वर-प्रेममें रात-दिन उन्मत्त रहना ही उनका ध्येय था। उन्होंने कहा कि 'भक्ति धर्मका प्राण है, जीवन है, जीवकी शान्ति है; पापीकी गति है। भक्तिशून्य धर्मका जीवनमें कोई स्थान नहीं है। ब्रह्मकी उपासना परमशान्तिका दान करती है।' उन्होंने अनन्त असीम सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप भगवान्‌की भक्ति की। उन्होंने भगवान्‌को सर्वव्यापी, निराकार और चैतन्य स्वरूप बताया, अलौकिक, अप्राकृत तथा सर्वथा दिव्य ब्रह्मतत्त्वका गान किया। उन्होंने भगवान्‌के श्रीचरणोंमें निवेदन किया—

ओहे जगदीश ! आमार आर केह नाइ।
तोमा बिने ए संसारे।
आमार केवल पापे मति,
(ओहे) कि हइबे गति बल, हे आमारे।
आमि देखितेछि सब, एइ जे वैभव,
ए सकल नय नाथ आमारि कारण;
आमि तोमारि कारणे; (दयामय) ए संसार अरण्ये
(ओहे) आसियाछि, तोमाय पाइबार तरे।

आशय यह है कि 'हे जगदीश ! इस संसारमें आपको छोड़कर मेरा दूसरा कोई नहीं है। मेरी तो पापमें ही गति है; आप ही कहिये कि इसका क्या परिणाम होगा। मैं देख रहा हूँ कि संसारका जो कुछ भी वैभव है, यह मेरे कारण नहीं है। यह तो आपके कारण है और मेरी स्थिति आपके ही कारण है। मैं आपकी प्राप्तिके लिये, हे दयामय ! इस संसाररूपी अरण्यमें आ गया हूँ।'

उन्होंने स्पष्ट कहा—'दीनबन्धो ! मैं और कुछ नहीं चाहता। मैं नराधम अबोध और मूर्ख हूँ। हे दयालो ! हे कंगाल-धन !! आप बड़े दयालु हैं। यदि आप दयालु होकर ऐसा बोध न करायेंगे तो रक्षा किस तरह होगी। मेरे हृदयधन ! मैं कुछ नहीं जानता, फिर किस तरह कुछ बोल सकता हूँ। मेरी इच्छा है कि मेरे रोम-रोममें आपके नामका गुंजार हो। आप मेरे प्राणकी वस्तु हैं, मैं आपकी शरणमें हूँ।' विजयकृष्ण गोस्वामीने साधनाके माध्यमसे कहा —'हे प्रभो ! आप मेरे हृदयके स्पर्शमणि हैं। आपका दर्शन मेरे नयनोंका भूषण है। मेरे मुखकी शोभा आपका नाम-संकीर्तन है। आपके चरणोंकी सेवा मेरे हाथोंका अलंकार है। आपका नाम श्रवण ही मेरे कानोंका आभूषण है। मैंने प्रेम-मणिहार धारण कर लिया है तो अब कौन-सा भूषण बाकी रह गया।' यह है महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीकी साधनाका स्वरूप। वे सदा भगवान्‌से दर्शन देनेकी प्रार्थना किया करते थे। उनकी उक्ति है—

वासना करेछि मने देखिब तोमाय;
तोमार करुणा बिना ना देखि उपाय हे।
पापे मलिन आमि दिवस-यामिनी,
दया करि त्राण कर देखि दीन-हीन हे॥
दयामय नाम तोमार शुनिया श्रवणे,
लयेछि शरण, पिता ! देह दरशन हे॥

उनके कथनका आशय यह है कि 'मैं आपको देखनेकी मनमें इच्छा करता हूँ, पर यह आपकी करुणासे ही सम्भव है। दूसरा उपाय कोई है ही नहीं। मैं तो रात-दिन पापाचरणसे मलिन हो गया हूँ। आप मेरे-जैसे दीन-हीनपर कृपा-दृष्टि कीजिये, मेरी रक्षा कीजिये। हे पिता ! मैंने आपका नाम सुनकर आपकी शरण ली है। हे दयामय ! आप दर्शन दीजिये।'

उन्होंने बताया कि 'ईश्वर-भक्तिमें तो प्राणिमात्रका अधिकार है। भक्तिमें विचार या तर्कके लिये स्थान नहीं है। वह साधनातीत है, अहैतुकी है।' वे योग-साधनाको बड़ा महत्त्व देते थे। जीवनके अन्तिम दिनोंमें उन्होंने अगणित शिष्योंको योग-साधनाकी शिक्षा दी। हरिद्वार, प्रयाग आदिके कुम्भ-मेलोंमें सम्मिलित हुए। उन्होंने कुछ दिन वृन्दावनमें भी निवास किया। वृन्दावनमें उन्होंने ईश्वरभक्तिका प्रचार किया। वैष्णवोंकी उनमें श्रद्धा हो गयी। वे तीर्थभ्रमणको धर्म-साधनका बहुत बड़ा अङ्ग मानते थे।

उन्होंने जीवनका अन्तिम समय पुरीमें बिताया। चैतन्य महाप्रभुके नीलाचलका दर्शन उन्हें आकृष्ट करने लगा। एक दिन कलकत्ता-निवासकालमें वे पुरीका वर्णन सुनकर प्रेमविभोर हो गये। 'शचीनन्दन, शचीनन्दन' कहकर चैतन्य महाप्रभुके प्रेममें उन्मत्त हो गये। उन्हें

कहा कि 'मेरा कोई संगी-साथी नहीं है। मैं जगन्नाथदेवका दर्शन करनेके लिये पुरी जाऊँगा। मेरे पूर्वज अद्वैताचार्यने पुरीमें चैतन्यदेवकी कृपासे जगन्नाथका दर्शन कर अपना जीवन धन्य कर लिया था। मेरे पिताने शान्तिपुरसे साष्टाङ्ग दण्डवत् करते-करते पुरीकी यात्रा की थी। उनके पद क्षत-विक्षत और रक्तार्द्र हो गये। उनमें छाले पड़ गये, पर वे निरस्त न हो सके। मैं लाठी लेकर पुरी जाऊँगा। मैं पैदल जाकर चैतन्य महाप्रभुकी लीला-माधुरीसे सम्पन्न जगन्नाथ-क्षेत्रमें अपना जीवन कृतार्थ करूँगा। मेरे इस पवित्र कर्मसे अद्वैताचार्यकी आत्माको बड़ी शान्ति मिलेगी।' यों कहकर वे पुरीकी ओर चल पड़े। उन्होंने कहा कि 'मैं अकेला जाऊँगा। मेरे साथ कोई नहीं जायगा।' विदाका दृश्य बड़ा ही करुण था। उन्होंने कहा कि 'आपलोग मुझे आशीर्वाद दें कि जगन्नाथजी मुझे अपना लें।' श्रद्धालु शिष्योंसे यह करुण दृश्य नहीं देखा गया। उन्होंने साथ चलनेका हठ किया, जिसे वे दयावश टाल न सके। फलतः वे पचास शिष्योंके साथ पुरीमें उपस्थित हुए। पुरी-प्रवेशके समय वे प्रेममग्न होकर नृत्य करने लगे। उन्होंने समुद्रमें स्नान कर भगवान् जगन्नाथका दर्शन किया। उन्होंने ज्योतिःस्वरूप चिदानन्दघन जगदाधारकी झाँकी देखी, प्रभुके पादपद्मोंमें निवेदन किया। उनका पद है—

> चिर दिन ज्वलिब कि हृदय-अनले प्रभो।
> ऐ विषय-वासना, पापेर वेदना एखनोत घूचिल ना॥
> देहू दर्शन, जुड़ाइ हे नयन, नाहि प्रयोजन अन्य कोन धन
> प्रभु तोमार चरण अमूल्य रतन, आमि शुनेछि हे;
> दुखानले दग्ध होल हे जीवन, ओहे दीननाथ लइलाम शरण
> दरिद्रेर दुःख कर हे मोचन, दरिद्रेर दुःखहारी हे।

इसका आशय यह है कि 'हे प्रभो! क्या मैं चिरकालतक हृदयकी ज्वालामें जलता रहूँगा? क्या करूँ! कोई भी विषय-वासना तथा पापकी वेदना अबतक समाप्त न हुई। हे प्रभो! आप अपने दर्शनसे मुझे कृतार्थ कीजिये, मेरे नयन शीतल हो जायँगे, मुझे किसी दूसरे धनकी आवश्यकता नहीं है। प्रभो! मैंने सुना है कि आपका चरण अमूल्य रत्न है। मेरा जीवन दुःखकी आगमें दग्ध हो चुका है। हे दीनानाथ! मैंने आपकी शरण ले ली है। आप दरिद्रों का दुःख दूर करनेवाले हैं। मेरे-जैसे दीन-हीनका दुःख दूर कीजिये।'

वे नित्य समुद्र-स्नान करनेके लिये जाया करते थे। समुद्रतटके स्वर्णिम वालुका-कणोंमें लोट-लोटकर बड़े उल्लसित होते थे। पुरीमें उन्होंने दरिद्रनारायणकी सेवाका व्रत लिया था। देह क्षीण होनेपर शिष्योंने 'कलकत्ता' चलनेका प्रस्ताव किया तो उन्होंने कहा—'मेरे एकमात्र आश्रय जगन्नाथदेव हैं। मैं उन्हें छोड़कर कहीं नहीं जा सकता।' महाप्रसादके साथ उन्हें किसी दुष्ट आत्माने विष खिला दिया। उनका शरीर रुग्ण हो चला। संवत् १९५६ वि०के ज्येष्ठ मासकी कृष्ण द्वादशीको दस बजे दिनके लगभग उन्होंने ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त किया। पुरीमें नरेन्द्र सरोवरके उत्तर शिष्योंने उन्हें समाधि प्रदान की। उनका जीवन भक्ति, ज्ञान और कर्मका मधुर समन्वय था। वे अलौकिक प्राणी थे, अद्भुत महात्मा थे।

चेतावनी

> चलत कत टेढ़ौ-टेढ़ौ रे।
> नऊँ दुवार नरक धरि मूँदे, तू दुरगंधि कौ बेढ़ौ रे॥
> जे जारै तौ होइ भसम तन, रहि त किरम उहि खाई।
> सूकर-स्वान-काग कौ भक्खिन, तामैं कहा भलाई॥
> फूटे नैंन, हिरदै नहिं सूझै, मति एकै नहिं जानीं।
> माया-मोह-ममिता सूँ बाँध्यौ, बूड़ि मुवौ बिन पानीं॥
> बारू के घरवा मैं बैठौ, चेतत नहीं अयानौं।
> कहै कबीर एक राम-भगति बिन, बूड़े बहुत सयानौं॥

भक्ति एक विज्ञान है

(लेखक—डॉ० श्रीअवधबिहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल०)

साधारण दृष्टिकोणसे भक्ति और विज्ञान एक-दूसरेके विरोधी हैं। भक्तिके आधार हैं—श्रद्धा, विश्वास और शरणागति, तथा विज्ञानके निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग। भक्त विश्वास करता है, शङ्का नहीं करता; विज्ञान शङ्का किये बिना रह नहीं सकता। भक्त कहता है—'संशयात्मा विनश्यति।' विज्ञान कहता है—संशय सत्यको जन्म देता है। भक्त श्रद्धाको कलेजेसे लगाकर रखता है, जैसे अंधा अपनी लकड़ीको उसे सारी मंजिल उसीके सहारे तय करनी होती है। वैज्ञानिक एक कदम भी आगे नहीं रखता, जबतक वह उसके लिये निश्चयात्मक ज्ञानका ठोस आधार तैयार नहीं कर लेता। भक्तकी उपलब्धियाँ उसके हृदय-क्षेत्रतक ही सीमित रहती हैं, विज्ञानकी उपलब्धियाँ सार्वजनिक होती हैं। भक्त अपना हृदय चीरकर अपनी उपलब्धियोंको दूसरोंके समक्ष नहीं रख सकता, वैज्ञानिक प्रयोगशालाओंमें अपने प्रयोगोंको बार-बार दुहराकर विश्वके सामने रख सकता है।

आजका युग विज्ञानका युग है। इसलिये आजका अपनेको प्रगतिशील माननेवाला साधारण व्यक्ति भक्तिको अंधविश्वास, रुढ़िवाद और पिछड़ेपनका प्रतीक माने तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पर आश्चर्यकी बात यह है कि विज्ञानकी ध्वजा फहरानेवाले इस बातका दावा करते हैं कि वे अपने मस्तिष्ककी खिड़कियाँ सदा खुली रखते हैं और किसी भी तथ्यको तबतक स्वीकार या अस्वीकार नहीं करते, जबतक वैज्ञानिक ढंगसे उसे परख नहीं लेते; धर्म-जगत्‌के तथ्योंके प्रति विपरीत ढंगसे व्यवहार करते हैं—विशेषरूपसे भक्तिके प्रति, जिसे वे बिना परखे कोरी भावुकता (sentimentalism) मान बैठते हैं।

वैज्ञानिक कहते हैं कि भक्तिका विषय विज्ञानकी परिधिमें नहीं आता। यह उनकी एक बड़ी भूल है। भक्ति भी एक विज्ञान है, उतना ही जितना भौतिक-विज्ञान (Physics) या और कोई विज्ञान। भक्तिमें भी वैज्ञानिक विधियोंका उतना ही प्रयोग होता है, जितना अन्य किसी विज्ञानमें। भक्तिमें भी निरीक्षण और प्रयोग होते हैं। भक्तिके सिद्धान्त भी उसी प्रकार भक्तिके क्षेत्रमें किये गये प्रयोगोंके परिणाम हैं, जिस प्रकार अन्य किसी विज्ञानके नियम उस विज्ञानके क्षेत्रमें किये गये प्रयोगोंके परिणाम। भक्तिके नियमोंकी भी हम उसी प्रकार जाँच कर सकते, जिस प्रकार और किसी विज्ञानके नियमोंकी।

अन्तर केवल इतना है कि अन्य विज्ञानोंके विषय और उनपर किये जानेवाले प्रयोगोंके उपकरण बाह्य जगत्‌की वस्तुएँ होती हैं, जिनमें परिवर्तन आसानीसे किये जा सकते हैं। पर भक्तिसम्बन्धी प्रयोगोंके न तो विषय ही बाह्य जगत्‌के होते हैं और न उनके उपकरण ही। भक्तिकी प्रयोगशाला मनुष्य स्वयं है। भक्तिके प्रयोगोंमें उसे सब कुछ अपने अन्तरमें करना होता है। इसीलिये यह प्रयोग उतने आसान नहीं होते। वैज्ञानिक रीतिसे किसी विषयका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आवश्यक होता है कि उस विषयको पृथक्‌रूपसे उसकी असली और शुद्ध अवस्थामें अध्ययन किया जाय। पर प्रकृति इतनी संसृष्ट है कि कोई वस्तु हमें अपने शुद्धरूपमें नहीं मिलती। दूसरी अनेक वस्तुएँ उससे मिली-जुली होती हैं। वैज्ञानिक प्रयोगशालामें उसे उन सभी वस्तुओंसे पहले अलग कर लेता है। तब उसमें तरह-तरहके परिवर्तन करके देखता है कि उनका क्या परिणाम हुआ। तभी वह उसके गुण-दोष और उनसे सम्बन्धित नियमों (laws) की खोज कर पाता है।

मनुष्यका अपना आत्मा भी उसी प्रकार अपनी विशुद्ध अवस्थामें नहीं है। वह देहसे संसृष्ट है, देहात्मबुद्धियुक्त है। मायाका आवरण उसपर पड़ा है। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोहसे वह दूषित हो रहा है। भक्ति शुद्ध आत्माका धर्म है। भक्तिके प्रयोगमें विषयोंसे आत्माका सम्बन्ध तोड़कर भगवान्‌से जोड़ना होता है; यह एक लंबा प्रयोग है। इसमें पूरा जन्म लग सकता है। कई जन्म भी लग सकते हैं। कठिन भी यह बहुत है। विषयासक्तिसे आत्माको मुक्त करना आसान नहीं। मनुष्यके लिये चन्द्रमा तक उड़कर जाना आसान है, पर विषयोंसे थोड़ा भी ऊपर उठना आसान नहीं। समुद्रकी तहमें जाकर मुक्ता राशि निकाल लाना आसान है, पर अपने देह, मन, बुद्धि, अहंकार आदिके तलमें जाकर अपने ही आत्मस्वरूपकी उपलब्धि करना आसान नहीं।

इन प्रयोगोंकी कठिनाई ही वैज्ञानिकोंद्वारा इनकी उपेक्षाका कारण है। मनुष्यका स्वभाव है कि जो विषय उसे कठिन जान पड़ता है, उसकी वह उपेक्षा करता है और ऐसा करनेके लिये कोई-न-कोई कारण ढूँढ़कर आत्मतुष्टि कर लेता है। पर संसारमें ऐसे लोगोंकी कमी नहीं, जिन्होंने इन प्रयोगोंको किया है। भक्त-गाथाएँ उनके प्रयोगोंसे भरी पड़ी हैं। भक्तिके सिद्धान्त और नियम आदि उन्हीं प्रयोगोंपर आधारित हैं। गीता, भागवत, नारद-भक्तिसूत्र, भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिसंदर्भ आदि ग्रन्थोंमें भक्तिके नियमोंका, उसके विभिन्न प्रकार, स्तर और अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका विस्तृत और व्यवस्थित विवेचन है; जिसके आधारपर कहा जा सकता है कि भक्ति विज्ञानके किसी भी मापदण्डके अनुसार एक विज्ञान है।

विज्ञानका अर्थ है—किसी विषयका यथार्थ और नियमित ज्ञान। इसलिये यदि हमें निर्णय करना हो कि किसी विषयके ज्ञानको 'विज्ञान'की संज्ञा देना कहाँतक उचित है तो उसे इन दो कसौटियोंपर कसके देखना होगा—

(१) वह ज्ञान कहाँतक यथार्थ है ?

(२) वह कितना नियमित है; अर्थात् उस विषयसे सम्बन्धित नियमोंपर वह कितना प्रकाश डालता है और वे नियम कितने व्यापक और सुनिश्चित हैं ?

इन दोनों कसौटियोंपर भक्ति-विज्ञान जितना खरा उतरता है, उतने और विज्ञान खरे नहीं उतरते। बल्कि यदि कहा जाय कि केवल भक्ति-विज्ञान ही खरा उतरता है तो भी अनुचित न होगा; क्योंकि आजके बड़े-बड़े वैज्ञानिक प्रायः सभी इस बातकी साक्षी भरते हैं कि विज्ञान न तो किसी विषयके वास्तविक रहस्यका उद्घाटन कर पाता है और न उसके नियम सुनिश्चित और अवश्यम्भावी हैं।

भौतिक-विज्ञानका उदाहरण लेकर इस बातको अच्छी तरह समझाया जा सकता है; क्योंकि जितनी भौतिक-विज्ञानने प्रगति की है उतनी और किसी विज्ञानने नहीं की और भौतिक-विज्ञानका विषय अधिकांश विज्ञानोंका आधारभूत विषय भी है। वैज्ञानिकोंने भौतिक-जगत्के पदार्थोंका विश्लेषण कर यह मालूम किया कि छोटे-से-छोटा पदार्थ भी करोड़ों परमाणुओं (electrons) के संयोगसे बना है। इसलिये वे परमाणुके अध्ययनमें लग गये। पर परमाणु उनके लिये एक पहेली बनकर रह गया। उसके वास्तविक स्वरूपके ज्ञानकी बात तो दूर रही; उन्हें यह भी निर्णय करनेमें कठिनाई बोध होने लगी कि वह ठोस है या कोई तरल पदार्थ ! वह कभी तो एक कण (particle)-जैसा व्यवहार करता जान पड़ता और कभी लहर (wave)-की तरह लहराता जान पड़ता। उन्होंने उसे एक ऐसा पदार्थ मान लिया, जो कण भी है और लहर भी। यद्यपि 'कण' और 'लहर' के प्रत्यय परस्पर विरोधी हैं। (wave) और particle, इन दोनों शब्दोंको जोड़कर उन्होंने उसे (wavicle) की संज्ञा दे डाली; पर उन्होंने निश्चय किया कि उसका स्वरूप जो भी हो, वह एक शक्ति (energy) है—एक गति (process)। स्वाभाविक रूपसे प्रश्न हुआ कि वह शक्ति या गति किसकी है; क्योंकि शक्ति किसी शक्तिमान्की और गति किसी गतिशील पदार्थकी ही हो सकती है। विज्ञान आजतक इस प्रश्नका उत्तर नहीं दे सका। आगे दे सकेगा, इसकी भी कोई सम्भावना नहीं है; क्योंकि उसकी नजरमें शक्तिके सिवा कोई दूसरी वस्तु रह ही नहीं गयी है, जिसके प्रति संकेत करके वह कह सके—शक्ति इसकी है। इसलिये जड-वस्तुमात्रका स्वरूप उसे अज्ञात रह गया है और जड-तत्त्व (matter)-के बारेमें उसे C. E. H. Goad के शब्दोंमें यह कहनेको बाध्य होना पड़ा है कि 'जड तत्त्व (matter) के बारेमें मैं निश्चितरूपसे सिर्फ इतना जानता हूँ कि वह क्या है; मैं नहीं जानता—Matter is I know not what.'

भौतिक-विज्ञान जब इस निष्कर्षपर पहुँच जाता है कि जड-वस्तुमात्र शक्ति है, तो यह सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि इस शक्तिका आश्रय अथवा स्वामी कोई चेतन सत्ता ही हो सकती है। आइन्स्टीन (Einstien), एडिंग्टन (Eddington) और जेम्स जीन्स (James Jeans)-जैसे कुछ वैज्ञानिकोंने इसी प्रकारका संकेत दिया है। पर भौतिक-विज्ञान ऐसा संकेत या अनुमान करनेके सिवा और कुछ नहीं कर सकता। उसके पास कोई ऐसा साधन नहीं, जिससे वह उसका प्रत्यक्ष कर सके और उसे निकटसे जान सके। ऐसा न कर सकनेके कारण वह किसी भी वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है।

पर भक्ति-विज्ञानका सम्बन्ध सीधे उस चेतन सत्तासे

है। भक्त जानता है कि जिस शक्तिका विस्तार भौतिक विज्ञान सारे जगत्में देखता है, वह उसी चेतन सत्ता (परब्रह्म) की शक्ति है—

एकदेशस्थितस्याग्नेर्ज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।
परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥
(विष्णुपु० १ । २२ । ५६)

'जिस प्रकार एक स्थानमें प्रज्वलित अग्निकी किरणें चारों ओर फैली रहती हैं, उसी प्रकार परब्रह्म—भगवान्की शक्ति सारे जगत्के रूपमें सर्वत्र विस्तृत है।'

यह न केवल उसका अनुमान है और न केवल शास्त्रोंके आधारपर माना हुआ एक सिद्धान्त। भक्ति उसे इसका साक्षात् अनुभव कराती है—

'भक्तिरेवैनं दर्शयति।'
—श्रुति

यह बहुत सूक्ष्म तत्त्व है। किसी भी प्राकृत विज्ञानके द्वारा इसे जानना सम्भव नहीं। शुद्ध अन्तःकरणसे ही इसे जाना जा सकता है। भक्तिके प्रभावसे धीरे-धीरे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और तब उसे इसका साक्षात्कार हो जाता है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २६)

'जैसे अञ्जनके उत्तम प्रयोगसे दृष्टि निर्मल होकर सूक्ष्म वस्तुको देखनेमें समर्थ हो जाती है, उसी प्रकार जैसे-जैसे मेरी पवित्र कथाके श्रवणसे मनुष्यका चित्त शुद्ध होता है, वैसे-वैसे वह मेरे इस सूक्ष्म तत्त्वको देखनेमें समर्थ होता है।'

विज्ञानके किसी सिद्धान्तकी भाँति भक्ति-विज्ञानका यह आधारभूत सिद्धान्त परीक्षणोंद्वारा सिद्ध किया जा सकता है। इतिहास इसके अनेकों सफल परीक्षणोंका साक्षी है। प्रह्लादने स्तम्भमें, द्रौपदीने साड़ीमें और मीराँने राणाकी भेजी हुई साँपकी पिटारीमें परब्रह्म भगवान्को प्रकटकर सिद्ध किया था कि सभी भौतिक पदार्थ उनकी शक्तिका परिणाम हैं और वे शक्तिमान्के रूपमें सर्वत्र विराजमान हैं।

अब रही भौतिक-विज्ञानके नियमोंकी बात। सत्रहवीं शताब्दीमें गैलीलिओ (Galileo) और न्यूटन (Newton) के समयसे भौतिक-विज्ञानमें (Mechanistic Theory) का बोलबाला था। वैज्ञानिकोंका दृढ़ विश्वास था कि सारा विश्व एक विशाल यन्त्र (machine) है और यान्त्रिक नियमोंद्वारा परिचालित होता है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततक यन्त्रवादका इतना विस्तार हो गया और कार्य-कारणका यान्त्रिक नियम इतना सार्वभौम माना जाने लगा कि मनुष्य स्वयं भी उसका शिकार बन गया। उसका इच्छा-स्वातन्त्र्य एक भ्रम समझा जाने लगा और उसकी सभी क्रियाएँ किसी यन्त्रकी क्रियाओंकी भाँति बाहरी वातावरणकी उसके ऊपर हुई क्रियाओंकी यान्त्रिक प्रतिक्रिया मात्र समझी जाने लगीं। इच्छा-स्वातन्त्र्यके साथ मनुष्यकी नैतिकता और उसकी धार्मिक भावनाएँ यन्त्रवादकी भयंकर बाढ़में बह चलीं।

बीसवीं शताब्दी विज्ञानके क्षेत्रमें एक ऐसी क्रान्ति लेकर आयी, जिसने विज्ञानकी प्रायः सभी मौलिक मान्यताओंको जड़से उखाड़कर फेंक दिया। क्रान्तिका कारण था—विज्ञानके रंगमञ्चपर परमाणुओंका प्रवेश। परमाणु यन्त्रवादके विरुद्ध इनक़लाबी नारे लगाते आये और यन्त्रवादको सदाके लिये रंगमञ्चको छोड़कर चला जाना पड़ा। अभीतक वैज्ञानिक जड पदार्थके जिन छोटे-से-छोटे कणोंको जड पदार्थकी अन्तिम इकाइयाँ मानते थे और जिनके और छोटे टुकड़े करनेमें वे असमर्थ थे, वे करोड़ों परमाणुओंके समूह सिद्ध हुए। उन परमाणुओंकी गति-विधियोंका व्यक्तिगत रूपसे अध्ययन करनेपर जान पड़ा कि वे उनमेंसे किसी नियमके अधीन नहीं हैं, जो परमाणुओंके समूह अर्थात् साधारण जड पदार्थोंपर लागू होते हैं। वे अपने व्यवहारमें पूर्ण स्वतन्त्र हैं। कार्य-कारणका नियम जो समस्त विज्ञानोंका मूलाधार है, उसका उनकी दुनियामें कोई अस्तित्व नहीं है[1]। उनका व्यवहार पूर्णरूपसे उनकी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार होता जान पड़ता है। यदि कोई नियम उनपर लागू होता है तो वह प्रोफेसर हाइसेनबर्ग (Prof. Heisenberg)

1. 'The concept of strict causation finds no place in the picture of the universe, which the new physics presents to us.'—James Jeans: 'Mysterious Universe', p. 43.

के शब्दोंमें अनियमितता या अनिश्चितताका नियम (Principle of Indeterminacy) है।

ऐसी स्थितिमें यदि हमें अपने दैनिक व्यवहारमें परमाणुओंसे सीधा काम पड़ता तो हमारा जीवन असम्भव होता। पर भाग्यवश परमाणु हमारी दृष्टिसे ओझल रहते हैं और हमारे व्यवहारमें वे पदार्थ आते हैं, जिनमेंसे छोटे-से-छोटा पदार्थ भी अनन्त परमाणुओंका समूह है। व्यक्तिगत-रूपसे परमाणुओंकी क्रिया कितनी ही अनियमित और अनिश्चित क्यों न हो, समूहमें उनकी क्रियाएँ उन नियमोंके अनुरूप होती हैं, जिनकी समष्टि हमारा विज्ञान है।

पर विज्ञानके ये नियम वस्तुगत नहीं हैं। परमाणु समूहमें भी अपनी स्वतन्त्रता नहीं छोड़ देते। उनकी क्रियाएँ उतनी ही अनिश्चित रहती हैं, जितनी व्यक्तिगत रूपमें। सामूहिक रूपमें उनके व्यवहारमें जो एकरूपता (uniformity) दिखलायी देती है, उसका कारण यह है कि हम उन परमाणुओंकी क्रियाओंको अलग-अलग ग्रहण नहीं करते। ग्रहण करते हैं उनकी सामूहिक क्रियाओंके औसत-को। जेम्स जीन्स (James Jeans) ने इसे एक उदाहरण देकर समझाया है। यदि हम दो पैंसका एक सिक्का आकाशमें उछालें तो हम यह नहीं कह सकेंगे कि वह उलटा गिरेगा या सीधा। सौ, दो सौ सिक्के उछालें तो भी हम नहीं कह सकेंगे कि कितने सीधे गिरेंगे और कितने उलटे। पर यदि हम उनकी संख्या बढ़ाते जायँ तो गणित-शास्त्रके औसतोंके नियम (Law of Averages) के अनुसार उलटे और सीधे गिरनेवाले सिक्कोंकी संख्यामें अन्तर कम होता जायगा; यहाँतक कि यदि हम दस लाख टन सिक्के एक साथ उछालें तो यह निश्चित है कि पाँच लाख टन सीधे गिरेंगे और पाँच लाख टन उलटे। यह देखकर हम मान लेंगे कि सिक्कोंकी क्रियामें एकरूपता है और उस एकरूपताको विज्ञानके एक नियमका रूप दे डालेंगे। पर वास्तविकता यह है कि एकरूपता केवल गणितशास्त्रके औसतोंके नियमके अनुसार दीखती है। जहाँतक प्रत्येक दो पैंसके सिक्केका प्रश्न है, उसकी व्यक्तिगत क्रियामें, उस समूहमें भी एकरूपता नहीं है। इसी प्रकार जो एकरूपता औसतोंके नियमके अनुसार परमाणुओंके विशाल समूहमें दीखती है, वह उसकी इकाईमें या उसके अल्पसंख्यक समूहमें नहीं होती। दस लाख टनमें जितने दो पैंसके सिक्के होते हैं, उनसे कहीं अधिक परमाणु एक छोटे-से-छोटे भौतिक पदार्थमें होते हैं। इसीलिये हमें उसकी क्रियामें एकरूपता दीख पड़ती है। एकरूपता वस्तुओंका स्वरूपगत लक्षण नहीं है। वह गणितशास्त्रकी देन है।[1] यही पुराने विज्ञानमें व्याप्त एकरूपता और नियमबद्धताके भ्रमका रहस्य है, जिसे नया विज्ञान दूर करता है।

इसीलिये नया विज्ञान अपने नियमोंको सम्भवात्मक (probable) मानता है, निश्चयात्मक (necessary) नहीं। परमाणुओंका समूहमें गठबन्धन, जिसके कारण हमें सांसारिक पदार्थोंकी नियमबद्धताका भ्रम होता है, किस प्रकार होता है और कबतक टिका रहेगा, यह विज्ञान नहीं जानता। कभी भी परमाणुओंका विघटन हो सकता है और उनके विघटनके साथ-साथ वस्तुओंका और उनकी नियम-बद्धताके भ्रमका भी अन्त हो सकता है। सूर्य प्रतिदिन नियमपूर्वक पूर्व दिशामें उदित होता है। कल भी उदित होगा या नहीं, यह विज्ञान पूर्ण निश्चयके साथ नहीं कह सकता, यद्यपि इस बातकी सम्भावना विज्ञानकी दृष्टिमें इतनी अधिक है कि उसकी अनिश्चितताके कारण हमें अपनी नींद हराम करनेकी आवश्यकता नहीं।

भक्ति-विज्ञानकी स्थिति किसी अंशमें भौतिक विज्ञानके सदृश होते हुए भी उससे कहीं अच्छी है। जीव और ईश्वर दोनों भौतिक विज्ञानके परमाणुओंके समान स्वतन्त्र हैं। उनके व्यवहारको एकरूपता और कार्य-कारणके नियमोंकी श्रृङ्खलामें नहीं बाँधा जा सकता। पर जिस प्रकार सामूहिक क्षेत्रमें परमाणुओंकी स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचारिताका स्थान नियमबद्धता लेती जान पड़ती है, उसी प्रकार भक्तिके क्षेत्रमें ईश्वर और जीवकी स्वाधीनताका स्थान पराधीनता ले लेती है। भक्तिके क्षेत्रमें ईश्वर भी उतना ही पराधीन है, जितना जीव। परम स्वतन्त्र होते हुए भी वह प्रेम-परतन्त्र है—

यद्यपि ईश्वर तुमि परम स्वतन्त्र।
तथापि स्वभावे हओ प्रेम-परतन्त्र॥

(चैतन्य-चरितामृत, म० १२। २९)

1. "When we are dealing with atoms and electrons in crowds, the mathematical law of averages imposes the determinism, which physical laws failed to provide." *Ibid*. P. 42.

भक्तिका सम्बन्ध न तो उस जीवसे है, जो स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी है और न उस ईश्वरसे, जो पूर्ण स्वतन्त्र है। भक्तिका सम्बन्ध उस भक्तसे है, जो भगवान्‌के हाथ बिक चुका है और उन भगवान्‌से, जो भक्तके हाथ बिक चुके हैं। भक्त कहता है—मैं भगवान्‌का हूँ। वे जैसे रक्खेंगे वैसे रहूँगा—

जो पहिरावे सोई पहरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावे तहँ ही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ।
—मीराबाई

भगवान् कहते हैं—मैं भक्तोंके पराधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है—

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'
(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

मैं उनके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ, जिससे उनके चरणोंकी रज उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ—

'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥'
(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

भक्त भगवान्‌के इशारेपर नाचता है, भगवान् भक्तके इशारेपर। और सच पूछिये तो दोनों नाचते हैं प्रेमके इशारेपर। प्रेम दोनोंका इष्ट है। भक्तिके साम्राज्यमें प्रेम ही सम्राट् है। भगवान् और भक्त दोनों उसकी प्रजा हैं। भगवान् उसी तरह उसके इशारेपर नाचते हैं, जैसे कोई नटका शिष्य अपने गुरुके इशारेपर नाचता है—

राधिका प्रेम गुरु, आमि शिष्य नट।
सदा आमा नाना नृत्ये नाचाय उद्भट॥
(चैतन्यचरितामृत, आ० ४।१२४)

प्रेमके साम्राज्यमें न कोई सेवक है न स्वामी, न कोई भक्त है न भगवान्। वहाँका भगवान् है प्रेम, जिसे रसिक भक्त 'रस' भी कहते हैं—

'रसो वै सः।'

इस रसमें ऐसी मादकता है कि यह भक्तका भक्ताभिमान और भगवान्‌की भगवत्ता, नायकका नायकत्व और नायिकाका नायिकात्व भुलाकर दोनोंको तरह-तरहके खेल खिलाता रहता है—

'नायक तहाँ न नायिका, रस करवावत केलि।'
(ध्रुवदास)

भगवान्‌की रास-लीलामें न तो भगवान् ही अपनी स्वतन्त्र इच्छासे लीला करते हैं न गोपियाँ। रस ही दोनोंसे नृत्य कराता है। इसलिये उस नृत्यका नाम 'रास' है।

पूर्णरूपसे प्रेमके अधीन होनेके कारण भक्त और भगवान् पूर्णरूपसे प्रेम या भक्तिके नियमोंके भी अधीन हैं। उनका उल्लङ्घन करनेकी स्वतन्त्रता उनमें नहीं है। भक्तिके नियम भौतिक-विज्ञानके नियमोंकी तरह न तो औसतके नियम हैं और न वे केवल सम्भावनात्मक ही हैं। वे वस्तुगत और निश्चयात्मक हैं। उदाहरणरूपसे भौतिक शास्त्रके मध्याकर्षणके नियम (Law of Gravitation) के समान, जिसके अनुसार पृथ्वी सभी भौतिक पदार्थोंको अपनी ओर आकर्षित करती है, भक्तिका एक नियम है कि वह भगवान्‌को अपनी ओर आकर्षित करती है। इसलिये भगवान्‌के भक्त जहाँ उनका गुणगान करते हैं, वहाँ वे आप ही खिंच आते हैं और आसन जमाकर बैठ जाते हैं—

'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'
(आदिपुराण)

यह नियम अटल है। इसके विपरीत मध्याकर्षणके नियमके बारेमें भौतिक-विज्ञान कहता है कि अभीतक संसारके सारे पदार्थ इसके द्वारा परिचालित होते रहे हैं और इस बातकी लगभग पूरी सम्भावना है कि आगे भी ऐसा होता रहेगा। पर विज्ञानके पास ऐसा कोई आधार नहीं है, जिसके बलपर वह कह सके कि निश्चय ही आगे भी ऐसा होता रहेगा। भक्तिका यह नियम पूर्णरूपसे निश्चित है कि वह भगवान्‌को सदा आकर्षित करती रहेगी; क्योंकि भक्ति और भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है। यह स्वरूप नित्य है, इसलिये यह नियम भी नित्य है। यह सम्भव है कि फल टूटकर वृक्षपर ही रह जाय और पृथ्वी उसे आकर्षित न कर सके; पर यह सम्भव नहीं कि भक्ति-कमल किसी भक्तके हृदय-सरोवरमें खिले और भगवान्‌रूपी भौंरा उसकी ओर आकर्षित न हो।

इसी प्रकार और भी भक्तिके नियम हैं, जो अटूट, अटल और अव्याहत हैं, जैसे—भगवान्‌को जो जैसे भजता है, भगवान् भी उसे वैसे ही भजते हैं'—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'
(गीता ४।११)

जो सब धर्मोंको त्यागकर अनन्यभावसे भगवान्की शरणमें आता है, उसे भगवान् सब पापोंसे मुक्त कर देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८ । ६६)

जो अनन्य भावसे भगवान्का चिन्तन करता है, उसका योगक्षेम भगवान् स्वयं वहन करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(गीता ९ । २२)

जो अन्तकालमें भगवान्का स्मरण करते हुए शरीर-त्याग करता है, वह भगवान्के साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(गीता ८ । ५)

भक्तिके नियमोंमें कभी किसी प्रकारका व्याघात होनेका प्रश्न इसलिये नहीं उठता कि भक्ति पूर्णरूपसे स्वतन्त्र और निरपेक्ष है । अन्य सभी ज्ञान और विज्ञान अन्य किसी-न-किसी वस्तुकी अपेक्षा रखते हैं—यदि और किसी वस्तुकी नहीं तो भगवान्की अपेक्षा तो रखते ही हैं; उनके नियमादि सब भगवान्की इच्छाके अधीन होते हैं; पर भक्ति भगवान्की अपेक्षा भी नहीं रखती, अपितु भगवान् ही भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं ।

भक्तिके द्वारा प्राप्त ज्ञानके अयथार्थ होनेका प्रश्न इसलिये नहीं उठता कि भगवान् सभी ज्ञान-विज्ञानके मूल और स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं—**ज्ञानं ज्ञानवतामहम्**—और भक्त उन्हें तत्त्वसे जानता है—

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।'

(गीता १८ । ५५)

भगवान् भक्तके हस्तामलकवत् रहते हैं । उनका कोई भी रहस्य उससे छिपा नहीं रहता । उनका हृदय ही जैसे उसके हाथमें होता है—

'साधुभिर्ग्रस्तहृदयः'

(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६३)

इस प्रकार विज्ञानकी दोनों कसौटियोंपर यदि कोई विज्ञान पूरी तौरसे खरा उतरता है तो वह भक्ति-विज्ञान है । इसलिये भक्ति ही श्रेष्ठ विज्ञान है; भक्ति ही महान् है—

'भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी।'

(नारद-भक्तिसूत्र ८१)

साधो ! निंदक मित्र हमारा

साधो ! निंदक मित्र हमारा।
निंदक कौं निकटे ही राखौं, होन न देउँ नियारा॥
पाछे निंदा करि अघ धोवै, सुनि मन मिटै बिकारा।
जैसे सोना तापि अगिन में, निरमल करै सोनारा॥
घन अहरन कसि हीरा निवटै, कीमत लच्छ-हजारा।
ऐसे जाँचत दुष्ट संत कूँ, करन जगत उँजियारा॥
जोग-जग्य-जप पाप कटन हितु करै सकल संसारा।
बिन करनी मम करम कठिन सब मेटै निंदक प्यारा॥
सुखी रहौ निंदक जग माहीं, रोग न हो तन सारा।
हमरी निंदा करनेवाला उतरै भवनिधि पारा॥
निंदक के चरनों की अस्तुति भाखौं बारंबारा।
'चरनदास' कहै सुनियो साधो, निंदक साधक भारा॥

—संत चरनदास

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कर्तव्य-पालन

बात पुरानी है । गांधीजी दक्षिण अफ्रीकामें गये हुए थे और वहाँ फैले हुए रंगभेदके विरुद्ध सत्याग्रह चला रहे थे । तबतक वे महात्मा नहीं बने थे । उसी बीच एक आवश्यक कार्यसे उनका भारत आना हुआ । एक दिन वे रेलगाड़ीसे यात्रा कर रहे थे । वे तृतीय श्रेणीमें बैठे थे । और भी यात्री डिब्बेमें थे । संयोगकी बात, उसमें बैठे हुए एक व्यक्तिको थूकनेकी इच्छा हुई और उन्होंने डिब्बेके बाहर न थूककर डिब्बेके फर्शपर ही थूक दिया । पासमें बैठे यात्रियोंने इसे देखा, लेकिन वे चुपचाप बैठे रहे; न कुछ कहा, न कुछ किया । गांधीजीको डिब्बेके फर्शपर पड़ा थूक सहन नहीं हुआ । उन्होंने अपने पासके अखबारसे थोड़ा कागज लिया और फर्शपर पड़े थूकको पोंछकर कागज बाहर फेंक दिया । जिस व्यक्तिने थूका था, वह गांधीजीकी इस चेष्टासे चिढ़ गया । उसे चाहिये था कि वह गांधीजीकी इस चेष्टासे शिक्षा लेकर डिब्बेके बाहर थूकता, परंतु उसने अपने मनमें इस प्रकारकी भावना बना ली कि यह सफाई-पसंद व्यक्ति मुझे नीचा दिखानेके लिये फर्शपर पड़ा थूक पोंछकर बाहर फेंक रहा है । ऐसा सोचकर उसने फिर फर्शपर थूक दिया । गांधीजीने पुनः कागजका टुकड़ा लिया और थूक पोंछकर कागज डिब्बेसे बाहर फेंक दिया । अब तो वह व्यक्ति बार-बार थूकने लगा । किंतु गांधीजी भी सामान्य व्यक्ति तो थे नहीं, जो उसकी इस चुनौतीसे विचलित होते । जैसे ही वह व्यक्ति थूकता, गांधीजी उसी प्रसन्नताके साथ उसे कागजसे पोंछकर फेंक देते । डिब्बेमें बैठे सभी व्यक्ति आश्चर्यचकित थे ।

थोड़ी देरमें स्टेशन आ गया । प्लेटफार्मपर बड़ी भीड़ जमा थी और 'गांधीजीकी जय'से सम्पूर्ण वातावरण गूँज रहा था । ज्यों ही गाड़ी रुकी, भीड़ उस डिब्बेकी ओर दौड़ पड़ी, जिसमें गांधीजी बैठे थे । गांधीजीने डिब्बेका फाटक खोला और दरवाजेपर खड़े होकर हाथ जोड़कर हँसते-हँसते भीड़का स्वागत किया । थूकनेवाला व्यक्ति यह सब देखकर भौंचक्का-सा हो गया । उसने देखा—फर्शपर पड़े थूकको पोंछनेवाला व्यक्ति कितना श्रद्धास्पद है, कितना सम्माननीय है । उसे अपनी भूल समझमें आयी और वह अपनी दुश्चेष्टाके लिये बहुत लज्जित हुआ । वह लपककर गांधीजीके चरणोंपर गिर पड़ा और बार-बार उनसे क्षमा-याचना करने लगा । गांधीजी जनताका स्वागत ग्रहण करनेमें लगे थे । अचानक अपने चरणोंपर किसी व्यक्तिको गिरा हुआ देखकर उन्होंने उस ओर दृष्टि घुमायी । गांधीजी समझ गये कि इस भाईको अपनी दुश्चेष्टाका दुःख है । उन्होंने हँसते हुए कहा—'भैया ! क्षमाकी कोई बात नहीं है । मैंने तो अपना कर्तव्य पालन ही किया है । ऐसा अवसर आनेपर तुम भी ऐसा ही करना ।'

थूकनेवाला भाई खड़ा हो गया । उसकी आँखें छलक आयीं ।

(२)

हृदयकी विशालता

'भैया ! तुम कल जो पुस्तककी पाण्डुलिपि दे गये थे, उसे मैं आद्योपान्त पढ़ गया हूँ । तुमने मुझे लक्ष्य बनाकर बहुत ही सुन्दर शैलीमें तीखे व्यंग्य किये हैं । कई स्थलोंपर तो तुमने मुझे जी भरकर गालियाँ दी हैं; पर यह तो बताओ, मुझे गालियाँ देनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ?' —अपने समयके मूर्धन्य मनीषी फ्रांस-देशके उद्भट विद्वान् एवं प्रबुद्ध साहित्यकार मिस्टर डिडेरोने मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए बहुत ही शान्त स्वरमें युवक लेखकसे कहा ।

युवक लेखक झिझक मिटाते हुए बोला—'श्रीमन् ! आप यहाँके सुप्रतिष्ठित विद्वान् हैं, किंतु देशमें बहुत-से ऐसे लेखक भी हैं, जो ईर्ष्यावश आपकी खुले-आम आलोचना करते हैं । अतः मैंने सोचा कि यदि मैं आपको लक्ष्य बनाकर एक व्यंग्यपूर्ण पुस्तक लिखूँ तो मैं आपके विरोधियोंका स्नेहभाजन तो हो ही जाऊँगा, पुस्तककी अच्छी बिक्री होनेसे पैसेवाला भी हो जाऊँगा । पर क्या करूँ, मुझे तो अभी अच्छी प्रकार लिखना भी नहीं आता है ।'

हँसते हुए बड़े ही प्यारमें भरकर मिस्टर डिडेरोने कहा—'सचमुच तुमने अपनी दृष्टिसे बहुत अच्छा काम किया है । किंतु इस पुस्तकके प्रकाशनके लिये तुम्हें पैसोंकी भी तो आवश्यकता होगी ? ऐसा करो, एक महाशय मेरे धार्मिक

विचारोंके कट्टर विरोधी हैं। तुम बहुत ही भावपूर्ण शब्दोंमें यह पुस्तक उन्हें समर्पण कर दो। अपनी प्रशंसा देखकर वे मुग्ध हो जायँगे तथा इस पुस्तकके प्रकाशनमें तुम्हारी आर्थिक सहायता अवश्य कर देंगे।'

युवक लेखकने उत्तर दिया—"महाशय! मेरा भाषापर अधिकार नहीं है तथा मुझे यह भी संदेह है कि मैं 'समर्पण'-को इतने भावपूर्ण शब्दोंमें लिख भी पाऊँगा क्या, जिसे पढ़कर आपके विरोधी महाशय प्रसन्न हो जायँ।"

मिस्टर डिडेरोने उसी शान्त स्वरमें कहा—"भैया! तुम थोड़ी देर आराम कर लो; मैं अभी तुम्हें इस पुस्तकका 'समर्पण' लिख देता हूँ। मेरा विश्वास है, उसे पढ़कर मुझसे मतभेद रखनेवाले महाशय तुम्हारी आर्थिक सहायता अवश्य कर देंगे।"

इतनी बात कहकर विद्वान् महाशय पुस्तकका 'समर्पण' लिखनेमें तल्लीन हो गये और थोड़ी ही देरमें उन्होंने 'समर्पण' लिखकर तैयार कर दिया। युवक लेखक 'समर्पण'को देखकर संतुष्ट हो गया। उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि अब उसे अर्थकी प्राप्ति हो जायगी।

ऐसी थी मिस्टर डिडेरोके हृदयकी विशालता! आत्म-प्रशंसा करनेवाले तथा अपनी प्रशंसा सुननेके इच्छुक व्यक्तियोंको यह घटना सदा सचेत करती रहेगी।

(३)

'मैं उसके पक्षमें लिख दूँगा'

शुद्ध अन्तःकरणका यह स्वरूप है कि वह किसीके प्रति रूक्ष व्यवहार या कड़ा व्यवहार न कर सकता है न होता देख सकता है। फिर चाहे वह व्यवहार उसकी किसी भूलके लिये ही क्यों न हो। वास्तवमें संतमें शासनके भावका सर्वथा अभाव होता है। वे प्रेमके शासनको ही महत्त्व देते हैं।

लगभग १८ वर्ष पूर्व श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी) के निवास-स्थानपर श्रीराधारानीका जन्मोत्सव था। उन दिनों श्रीभाईजी कुछ अस्वस्थ थे। अपने कमरेमें लेटे रहते थे। गीताप्रेसके एक वरिष्ठ सदस्य तथा एक वरिष्ठ अधिकारी श्रीभाईजीसे मिलनेके लिये गये। रात्रिका प्रथम प्रहर था। श्रीभाईजीने एक तार लगानेके लिये लिखवाया। वरिष्ठ सदस्य पासके कमरेमें रखे हुए टेलीफोनके पास गये और उन्होंने फोनोग्राम देनेके लिये तारघरका नंबर माँगा। तारबाबूने टेलीफोनपर उत्तर दिया—'अभी थोड़ी देर ठहरकर तार लूँगा।' थोड़ी देर बाद पुनः फोन किया गया, पर तारबाबूने तार लेना स्वीकार नहीं किया, कुछ और ठहरनेके लिये कहा। इस प्रकार रात्रिके नौ बज गये। उन दिनों रात्रिके नौ बजेके बाद तार देनेपर एक रुपया अधिक चार्ज लगता था। तार देनेवाले महानुभावने तारबाबूको फोन किया। तारबाबूने उत्तर दिया—'नौ बज गये हैं; अब तार लेनेका एक रुपया अधिक चार्ज लगेगा।' तार लगानेवाले महानुभावको उनके द्वारा एक रुपया अधिक लेनेकी बात अनुचित लगी और उन्होंने तारबाबूके इस व्यवहारका विरोध करते हुए कहा—'हम एक रुपया अधिक नहीं देंगे। हमने तो बहुत देर पहले तार नोट करनेको कहा था। आपने अबतक तार क्यों नहीं लिया।' इसपर तारबाबू झल्ला गये और इस प्रकार तार देनेवाले सज्जन और तारबाबूमें थोड़ी कहा-सुनी हो गयी। गीताप्रेसके अधिकारी महानुभाव पासमें ही खड़े थे। उन्होंने अपने हाथमें टेलीफोन लिया और थोड़ी कड़ाईके शब्दोंमें तारबाबूको तार लेनेके लिये कहा। साथ ही उन्होंने यह धमकी दी—'यदि आप तार न लेंगे तो हम आपके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करेंगे।' तारबाबूपर इस धमकीका प्रभाव हुआ और उन्होंने बिना अधिक चार्जके ही तार ले लिया।

इस पूरे वार्तालापको श्रीभाईजी कमरेमें लेटे हुए सुन रहे थे। अपने स्वजनोंद्वारा तारबाबूको इस प्रकारके धमकीके शब्द कहना उन्हें सहन नहीं हुआ। उनका नवनीतके समान कोमल संत-हृदय स्वजनोंके इस कठोर व्यवहारसे पिघल गया। उन्होंने तुरंत दोनों स्वजनोंको अपने पास बुलाया। दोनों व्यक्तियोंके आनेपर श्रीभाईजीने कहा—'भैया! पैसेका लोभ किसको नहीं है। बेचारा एक रुपया ज्यादा माँगता था तो आप उसके प्रति कड़ी कार्रवाई करनेकी धमकी देने लगे। यदि आप उसकी शिकायत करेंगे तो मैं उसके पक्षमें लिख दूँगा..........।' श्रीभाईजीके इस प्रकारके वचन सुनकर दोनों स्वजन चुप हो गये। उनके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। दोनोंके हृदयमें बड़ी ग्लानि हुई कि हमें तारबाबूके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करनेकी धमकी नहीं देनी चाहिये थी।

(४)

स्वावलम्बनकी शिक्षा

गुजरातके खेड़ा जिलेके बोचासन गाँवमें 'वल्लभ-विद्यालय' नामका एक विद्यालय है । नवशिक्षकोंको भी वहाँ शिक्षण दिया जाता है ।

शिक्षकोंका शिक्षणवर्ग शुरू होनेवाला था । सभी शिक्षक लोग आ चुके थे, केवल एक शिक्षक भाई शामकी गाड़ीसे आनेवाले थे ।

विद्यालय स्टेशनके समीप ही था । गाड़ीसे उतरकर उस शिक्षक भाईने सोचा कि विद्यालय दूर होगा; अतः अपने बिस्तरको उठानेके लिये वे मजदूरकी खोजमें इधर-उधर देखने लगे । उसी समय विद्यालयके प्रधानाचार्य वहाँ घूमनेके लिये आये हुए थे । उनके सादे वेषसे नवागन्तुक शिक्षक उन्हें पहचान न सके । प्रधानाचार्यने सामने आकर पूछा—'सामान उठाना है क्या ?'

शिक्षक उन्हें पहचान न पाया । उसने सोचा—'यह मजदूर है; मजदूरी करना चाहता है ।' उन्होंने उत्तर दिया—'बोलो, क्या लोगे ? एक ही बिस्तर उठाकर विद्यालयमें पहुँचा देना है ।'

'आप जो भी देंगे, ले लूँगा'—कहकर प्रधानाचार्यजीने बिस्तर उठा लिया और नवागत शिक्षकको विद्यालयमें पहुँचाकर चल पड़े । शिक्षकने कहा—'अरे भाई ! तुम्हारे पैसे ....।'

'मुझे नहीं चाहिये'—कहकर आचार्य चल दिये ।

दूसरे दिन शिक्षाके प्रारम्भकी प्रार्थनामें उन आचार्यको देखकर शिक्षक घबरा गये और प्रार्थना पूरी होनेके बाद उनके कमरेमें जाकर वे क्षमा-याचना करने लगे । आचार्य बोले—'इतने छोटे-से बिस्तरको उठानेके लिये आप मजदूर क्यों खोजते रहे ? मजदूर आपसे दुबला-पतला होनेपर भी सामानको उठा सकता है और आप इतने भले-चंगे होकर भी उसे नहीं उठा सकते ?'

शर्मके मारे नीचा मुँह किये शिक्षक बोला—'महाशयजी ! आजसे मैं यथाशक्य अपना बोझ अपने ही हाथोंसे उठाऊँगा ।' 'अखण्ड आनन्द'

—रमणलाल च० पटेल

(५)

मुझे नहीं, मेरे पड़ोसीको

केरलके एक छोटे-से गाँवमें कृष्णन् नामका व्यक्ति रहता था । चित्रकारीका काम करके वह अपनी माता, पत्नी और दो छोटे-छोटे बच्चोंका तथा अपना निर्वाह करता था । एक दिन उसके मुसलमान पड़ोसीके घरमें आग लगी । आगकी लपेटमें दो बच्चे फँस गये । मौतके मुँहमें जाकर भला, उन्हें कौन बचाये ।

कृष्णन् घटनास्थलपर था । यह दृश्य वह देख नहीं सका । वह आगकी परवा न करके भीतर घुस गया । दोनों बालकोंको बचाकर वह बाहर आया, किंतु स्वयं बुरी तरहसे जल गया था । दो दिनके बाद वह मर गया । कालीकटके 'मातृभूमि' नामक पत्रद्वारा कृष्णन्के कुटुम्बीजनोंके लिये चंदा एकत्रित होने लगा । देखते-देखते चौबीस हजार रुपये एकत्रित हो गये ।

जब लोग उस चंदेकी रकम लेकर कृष्णन्की पत्नीको देने लगे, तब उस विशालहृदया देवीने कहा—'मेरे घरका मालिक चला गया, पर हमलोगोंको रहनेके लिये घर तो छोड़ गया है, किंतु मेरे इस पड़ोसीके पास तो रहनेके लिये छप्पर भी नहीं बचा । अतः इस रकममेंसे सर्वप्रथम उन लोगोंको एक मकान बनवा दीजिये । बची हुई रकमसे हमलोग गुजारा कर लेंगे ।'

सुननेवाले लोग धन्य-धन्य पुकारने लगे ।

'अखण्ड आनन्द'

—अमृत मोदी

(६)

'श्रीरामरक्षास्तोत्र' का अद्भुत प्रभाव

मेरे एक मित्र हैं—श्रीरामनरेशजी शर्मा । आप एक सीमेंट फैक्ट्रीसे सम्बद्ध विद्यालयमें शिक्षक हैं । इसी जुलाईकी बात है, आपके इकलौते चारवर्षीय पुत्रको तेज ज्वर हो गया । ज्वरके साथ बालकको कै भी होने लगी । धीरे-धीरे बालक बेहोश होने लगा, नाड़ी मंद पड़ने लगी तथा शरीर ठंडा होने लगा । बालककी स्थिति उत्तरोत्तर गम्भीर होती देखकर समीपस्थ कस्बेसे सरकारी चिकित्सक महाशयको बुलवाया गया । चिकित्सक महाशयने आते ही बालककी

परीक्षा की तथा एक इंजेक्शन लगाया। बालकके शरीरमें कुछ गर्मी आयी, पर स्थितिमें विशेष सुधार नहीं हुआ। घरवाले चिन्तातुर हो रहे थे। सभी बालककी ओर टकटकी लगाये हुए बैठे थे। बालककी स्थितिमें सुधार होता न देखकर रात्रिको फिर एक अनुभवी चिकित्सक महाशयको बुलाया गया। उन्होंने बताया—'बालक मृत्युसे संघर्ष कर रहा है, स्थिति गम्भीर होती जा रही है तथा बचनेकी सम्भावना बहुत कम है।' यह सुनकर परिवारके सदस्य रोने लगे। घरमें कोहराम मच गया। बालककी पुतलियाँ स्थिर होती देखकर कुछ लोगोंको बालकके चल बसनेकी आशङ्का होने लगी।

बालककी इस गम्भीर अवस्थासे पड़ोसी चिन्तित हो गये। मैं भी सूचना प्राप्त होते ही अपने मित्रके घरकी ओर रवाना हुआ। मुझे 'कल्याण'में प्रकाशित 'श्रीरामरक्षास्तोत्र'के सम्बन्धमें पाँच पुष्पोंके प्रयोगकी घटनाका स्मरण हो आया। मैंने 'श्रीरामरक्षास्तोत्र'की पुस्तिका तथा पुष्प लिये। इसी बीच सूचना मिली कि बालककी मृत्यु हो गयी है। अपने मित्रपर इस वज्रपातकी बात सुनकर मैं स्तब्ध रह गया, किंतु उसी समय एक महिलाने बताया कि 'बालककी साँस सर्वथा लुप्त नहीं हुई है, रुक-रुककर चल रही है।' मैं अविलम्ब बालकके पास पहुँचा। मैंने 'कल्याण'में बताये अनुसार एक लोटेमें जल लिया, उसमें थोड़ा गङ्गाजल मिला लिया तथा लोटेमें पुष्प भी डाल लिये। सामने श्रीहनुमान्‌जी महाराजका चित्र रख लिया तथा बहुत ही आतुरभावसे प्रार्थना करके 'श्रीरामरक्षास्तोत्र'का पाठ करने लगा। पाठ पूरा होनेपर पुष्पसे बालकपर जल छोड़ता जा रहा था तथा वहाँ बैठे सभी लोगोंसे परमपिता परमेश्वरका आतुरभावसे स्मरण करनेके लिये कह रहा था।

'श्रीरामरक्षास्तोत्र'के चार-पाँच पाठ पूरे होते-होते बालकपर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। बालकने धीरे-से करवट बदली। सभीके मनमें आशाका संचार हुआ। मेरा भी उत्साह बढ़ गया। मैं निरन्तर 'श्रीरामरक्षास्तोत्र'का पाठ करता जा रहा था। इक्कीस पाठ पूरे होते-होते बालक जल माँगने लगा। हमलोगोंकी प्रसन्नताका पार न रहा। पाठके समय जो घृतका दीपक जलाया गया था, उसकी बत्तीका ताप मैं अपने हाथोंसे बालकके शरीरपर लगाने लगा। बालक गम्भीर स्थितिको पार कर गया था। मैंने पूजाके पुष्प बालकके सिरहाने रख दिये और भगवान् श्रीरामकी महिमाका स्मरण करता हुआ घर लौट आया। कुछ ही दिनोंमें बालक पूर्ण स्वस्थ हो गया।

परमपिता परमेश्वरकी असीम कृपा तथा 'श्रीरामरक्षा-स्तोत्र'के अद्भुत प्रभावको प्रत्यक्ष अनुभव करके मेरा हृदय गद्गद हो गया।

—भुवनेश्वर पाण्डेय, इचाक (बिहार)

(७)

भूल स्वीकार

ईरानके शाहका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन खराब होता जा रहा था। बचनेके आसार नजर नहीं आ रहे थे। अन्तमें वहाँके सभी हकीमोंने मिलकर यह निश्चय किया कि यदि निर्धारित लक्षणोंवाले किसी व्यक्तिका पित्ताशय प्राप्त हो सके तो शाहके जीवनको बचाया जा सकता है।

शासकीय कर्मचारी निकल पड़े और दो-तीन दिनकी खोज-बीनके बाद चाहे हुए लक्षणोंवाले एक बालकको पकड़ लाये। निर्धन माँ-बापका वह सीधा-सादा बालक। पिताको विपुल मात्रामें धन दे दिया गया तो उसने चूँतक न की।

क़ाज़ीसे इस सम्बन्धमें परामर्श लिया गया तो उन्होंने भी कह दिया कि राजाकी प्राण-रक्षाके लिये यदि प्रजाके किन्हीं एक-दो व्यक्तियोंको अपना बलिदान भी देना पड़े तो वह अपराधकी कोटिमें न आयेगा।

वह लड़का राजाके सम्मुख उपस्थित किया गया। सभी हकीम अपनी तैयारीके साथ आये ही थे। जल्लादको तलवारसे काम तमाम करनेकी आज्ञा दे दी गयी। जल्लादने जैसे ही तलवार उठायी कि बालकको ऊपर आकाशकी ओर देखकर हँसी आ गयी।

मृत्युके मुँहमें जाते हुए बालकको इस प्रकार हँसते देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने संकेतसे उस जल्लादको रुकनेके लिये कहा। जल्लादने अपना हाथ नीचे कर लिया। राजाने बालकसे हँसीका कारण पूछा। बालक गम्भीर हो गया। पीछे उसने कहा—'आज मैंने देखा कि माता-पिता जिस संतानके लिये प्राण देते हैं, उसीको उन्होंने पैसोंके लोभमें आकर बेच दिया। क़ाज़ी जो धर्म और मर्यादाकी

रक्षा करनेवाला कहा जाता है, उसने राजाको खुश करनेके लिये धर्मके सिद्धान्तको ही बदल दिया और राजाके जीवनको बचानेके लिये भले ही किसीके प्राण लिये जायँ, पर धर्म उस अपराधको अपराध और पापके रूपमें अस्वीकार करनेको तैयार नहीं। प्रजाका रक्षक बादशाह ही जब भक्षक बनने जा रहा हो, उस समय ईश्वरके अलावा व्यक्तिको सहारा देनेवाला हो भी कौन सकता है। अतः मुझे उस परमात्माकी याद करके हँसी आ गयी कि यहाँ तो ऐसा अंधेर मचा हुआ है देखें, सबका रक्षक क्या करता है!'

'मुझे क्षमा कर, बेटा! अब तू निश्चिन्त हो जा जल्लादकी तलवार अब तुम्हारा कुछ भी न बिगाड़ सकेगी'— शाहने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा। एकत्रित जनसमुदायके मुखसे बरबस—'शाहकी जय' का उद्घोष होने लगा।

—'अखण्ड ज्योति'

करूँ तो क्या करूँ !

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

देव !

दिलके गमलेमें सबसे छिपाकर मैंने तुम्हारे प्रेमकी तुलसीका बिरवा लगाया।

चुप-चुप अँधेरे-उजाले आँसू बहाकर अश्रु-वारिसे उसे सींचा।

निशीथकी निःस्तब्ध वेलामें जब सब सोये पड़े रहते हैं, उसे पूजा।

मन-ही-मन मुँहसे आप भी न निकालकर मनौती मानी।

यह सब इस तरह इसलिये किया मैंने कि किसीको पता न चले, बात फैले नहीं।

लेकिन बात बनी नहीं, सारी सतर्कता—सजगता धरी रह गयी।

सींचना, पूजना, मनौती मानना फल लाया।

तुलसीका बिरवा बढ़ा, फैला और समूचे विश्वपर छा गया।

तुम डोर-खिंचे-से, पागल बने मेरे चारों ओर चक्कर काटने लगे। स्वयं परवाना बनकर तुमने मुझे शमा बना डाला।

शमाके प्रकाशमें किसे क्या न सूझे!

पता चल गया, बात फैल गयी।

कानाफूसियाँ होने लगीं। अँगुलियाँ उठने लगीं। जैसे मैंने बड़ा गुनाह कर डाला हो और तुमने भी।

क्या सचमुच गुनहगार हूँ मैं और तुम भी? क्या तुमसे प्रेम करना गुनाह है? क्या तुमपर अपनेको समर्पित कर देना, तुम्हारे लिये तिल-तिल करके जलना-घुलना पाप है? लज्जाके मारे मरी जा रही हूँ मैं।

मेरी लाजके स्वामी!

मेरी पतके राखनहार!

मेरे माखनके चाखनहार!

कुछ तुम्हीं बोलो, बतलाओ!

करूँ तो क्या करूँ मैं अब!

ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अनुभवपूर्ण लेखोंके कुछ पुस्तकाकार संग्रह

						अजिल्द	सजिल्द
१–आत्मोद्धारके साधन	पृष्ठ-संख्या ४६४,	रंगीन चित्र ४		....	मूल्य	१.२५	
२–भक्तियोगका तत्त्व	,, ४५६,	,,	४	....	,,	१.२५	
३–कर्मयोगका तत्त्व	,, ४२०,	,,	२, सादे ३	....	,,	१.१२	
४–महत्त्वपूर्ण शिक्षा	,, ४७६,	,,	४	....	,,	१.००	१.३७
५–परम साधन	,, ३७२,	,,	५	....	,,	१.००	१.३७
६–मनुष्यका परम कर्तव्य	,, ४१०,	,,	४	....	,,	१.००	
७–परमशान्तिका मार्ग	,, ४१६,	,,	४, सादा २	....	,,	१.००	१.३७
८–ज्ञानयोगका तत्त्व	,, ३८४,	,,	३	....	,,	१.००	१.३७
९–प्रेमयोगका तत्त्व	,, ३८०,	,,	५	....	,,	१.००	१.३७
१०–आत्मोद्धारके सरल उपाय	,, २६८,	,,	१	....	,,	०.७५	

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग ।

विशेष जानकारीके लिये सूचीपत्र अलगसे मँगाइये ।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९७३ ई०

आकार २२×२९ बत्तीस-पेजी, पृष्ठ-संख्या ४००, मूल्य साधारण जिल्द ७५ पैसे, डाकखर्चसहित मूल्य एक प्रतिका २.००, दो प्रतियोंका ३.००, तीन प्रतियोंका ३.९०

इस वर्ष सजिल्द नहीं बनायी गयी है

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक-क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कैलेन्डर, प्रार्थना, वेदभगवान्का पवित्र आदेश, ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश, नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृतोपदेश, कुछ अन्य उपदेशात्मक सामग्री, कुछ जानने योग्य उपयोगी बातें — जैसे रेलभाड़ा, डाक-तार, इन्कमटैक्स, मृत्युकर, माप-तौलकी नयी मैट्रिक प्रणाली, उनका तुलनात्मक परिवर्तन, कागजका माप, दैनिक वेतन और मकानभाड़ा चुकानेका नक्शा, अनुभूत घरेलू दवाओंके प्रयोग, स्वास्थ्यरक्षाके सप्तसूत्र, ध्यान और आरती भी दी गयी हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीराधा-भक्तकी एकान्तिक अभिलाषा

पूर्णानुरागरसमूर्ति तडिल्लताभं
ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यम् ।
यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे
तत्किंकरी भवितुमेव ममाभिलाषः ॥

एक रहस्यमयी परम ज्योति है, जो परात्पर परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको अपने आपमें रमा लेती है, जिसकी कान्ति विद्युल्लताके समान देदीप्यमान है और जो पूर्णतम अनुराग-रसकी मूर्ति है । अहो ! कृपापूर्वक ही वह श्रीवृषभानु-भवनमें प्रादुर्भूत हुई है । मेरी तो यही अभिलाषा है कि उसीकी दासी हो रहूँ ।

यस्या अपाररससारविलासमूर्ते-
रानन्दकंदपरमाद्भुतसौम्यलक्ष्म्याः ।
ब्रह्मादिदुर्गमगतेर्वृषभानुजायाः
कैंकर्य्यमेव मम जन्मनि जन्मनि स्यात् ॥

जो अपार रस-सारकी विलास-मूर्ति, आनन्दकी मूल एवं परमाद्भुत सौम्य शोभा-स्वरूपिणी हैं एवं जिनकी गति ब्रह्मादिके लिये भी दुर्गम है, उन श्रीवृषभानुनन्दिनीजूका कैंकर्य्य ही मुझे जन्म-जन्मान्तरोंमें प्राप्त होता रहे ।

यस्याः प्रेमघनाकृतेः पदनखज्योत्स्नाभरस्नापित-
स्वान्तानां समुदेति कापि सरसा भक्तिश्चमत्कारिणी ।
सा मे गोकुलभूपनन्दनमनश्चोरी किशोरी यदा
दास्यं दास्यति सर्ववेदशिरसां यत्तद्रहस्यं परम् ॥

जिन प्रेम-घनाकृति किशोरीके पद-नख-ज्योत्स्ना-प्रवाहमें अवगाहन किये हुए अन्तःकरणवाले भक्तोंके अंदर कोई अनिर्वचनीय सरस चमत्कारिणी भक्ति सम्यक् रूपसे उदय हो जाती है, वे गोकुल-भूप-नन्दन (श्रीलालजी) के भी मनको हरण करनेवाली किशोरी मुझे अपना सर्ववेदशिरोभूत (उपनिषदोंका) भी परम रहस्यरूप दास्य कब प्रदान करेंगी !

उपास्यचरणाम्बुजे व्रजभृतां किशोरीगणै-
र्महद्भिरपि पूरुषैरपरिभाव्यभावोत्सवे ।
अगाधरसधामनि स्वपदपद्मसेवाविधौ
विधेहि मधुरोज्ज्वलामिव कृतिं ममाधीश्वरि ॥

हे व्रजश्रेष्ठकिशोरीगणाराध्यचरणाम्बुजे ! हे नारदादि महापुरुषोंकी कल्पनामें भी न आनेवाले भावोत्सवसे सम्पन्न स्वामिनि ! आप अगाध रसधामभूत अपने चरण-कमलोंकी सेवा-विधिमें मेरे लिये मधुर एवं उज्ज्वल कर्तव्यका ही विधान कीजिये ।

अतिस्नेहादुच्चैरपि च हरिनामानि गृणत-
स्तथा सौगन्ध्याद्यैर्बहुभिरुपचारैश्च यजतः ।
परानन्दं वृन्दावनमनुचरन्तं च दधतो
मनो मे राधायाः पदमृदुलपद्मे निवसतु ॥

मैं अत्यन्त स्नेहपूर्वक उच्चस्वरसे श्रीहरिके नामोंका गान करता रहूँ, सुगन्ध आदि अनेक उपचारोंसे उनका पूजन करता रहूँ तथा श्रीवृन्दावनमें विचरते हुए परमानन्दस्वरूप भगवान् नन्दनन्दनको हृदयमें धारण किये रहूँ; फिर भी मेरा मन निरन्तर श्रीराधाके मृदुल पाद-पद्मोंमें ही बसा रहे ।

(श्रीराधासुधानिधि)

* * *

संस्करण १,६६,५००
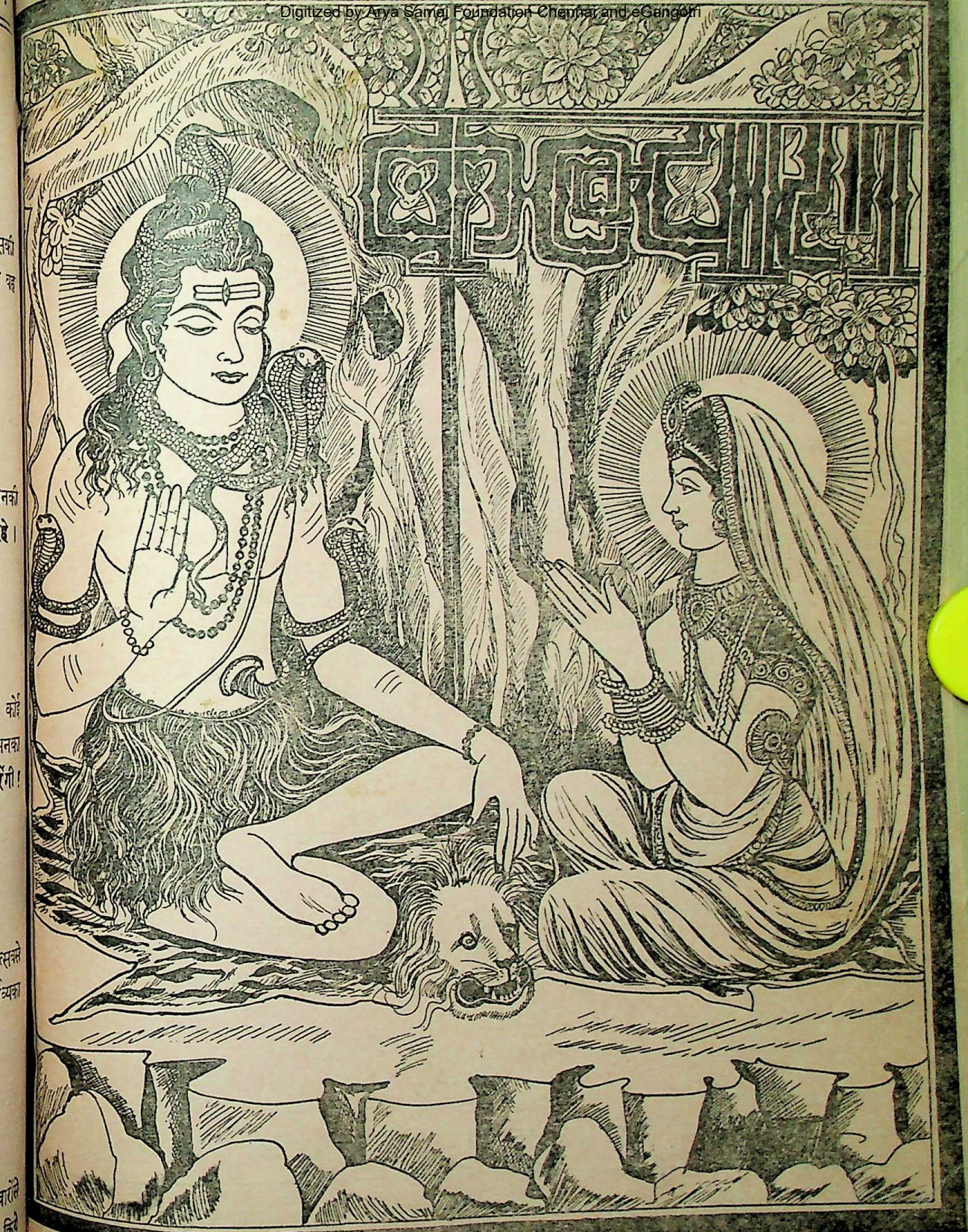
विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अक्टूबर १९७२

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

भगवती महिषासुरमर्दिनी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र ३१)

वर्ष ४६ | गोरखपुर, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, अक्टूबर १९७२ | संख्या १० | पूर्ण संख्या ५५१

श्रीश्रीदुर्गास्तवन

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः
स्वस्थैः स्मृता मतिमतीव शुभां ददासि ।
दारिद्र्यदुःखभयहारिणि का त्वदन्या
सर्वोपकारकरणाय सदाऽऽर्द्रचित्ता ॥

(श्रीदुर्गासप्तशती ४ । १७)

माँ दुर्गे ! आप स्मरण करनेपर सब प्राणियोंका भय हर लेती हैं और स्वस्थ पुरुषोंद्वारा चिन्तन करनेपर उन्हें परम कल्याणमयी बुद्धि प्रदान करती हैं । दुःख, दरिद्रता और भय हरनेवाली देवि ! आपके सिवा दूसरी कौन है, जिसका चित्त सबका उपकार करनेके लिये सदा ही दयार्द्र रहता हो !

कल्याण

बार-बार हमलोग यह बात कहते-सुनते हैं—'हम मनुष्य हैं।' किंतु मनुष्यकी मनुष्यताका वास्तविक आरम्भ होता है तब, जब मनुष्य मानव-जीवनके लक्ष्यपर चलना आरम्भ करता है। विषय-भोग, इन्द्रियोंके भोग, मानव-शरीरके—मनुष्य-योनिके उद्देश्य नहीं हैं—

'एहि तन कर फल बिषय न भाई।'
(मानस ७ । ४३½)

मानव-शरीरमें और इतर शरीरोंमें यही भेद है। दूसरे समस्त शरीर भोगयोनि हैं; मानव-शरीर कर्मयोनि है और वह मोक्षका द्वार है। शास्त्रोंने इसे भवसागरसे पार उतार देनेवाली सुदृढ़ नौका कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । १७)

भगवान् कहते हैं मनुष्य-जन्म—मनुष्यका शरीर बड़ा दुर्लभ है। यह भगवत्कृपासे सुलभतासे प्राप्त हुआ है। यह है कैसा ? यह बड़ी सुन्दर, सुदृढ़, भवसागरसे पार उतार देनेवाली नौका है। संत-महात्मा, गुरु-आचार्य तथा स्वयं भगवान् इसके कर्णधार हैं—नावको खेनेवाले निर्भ्रान्त, सबल तथा ठीक-ठीक पार पहुँचा देनेवाले केवट प्राप्त हो गये हैं। नौकाके पार उतरनेके लिये अनुकूल वायुकी आवश्यकता होती है, बिना अनुकूल वायुके नौकाके पार उतरनेमें संदेह होता है—कठिनाई होती है।

'मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्'

—भगवान्‌की कृपारूपी अनुकूल वायु इसे प्राप्त है। इतनेपर भी जो **'भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा'**—भवसागरसे पार नहीं उतरता, वह आत्महत्यारा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(मानस ७ । ४४)

—यह है मानव-जीवनका उद्देश्य और उसकी उपयोगिता। अतएव बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार करके मानवको अपने जीवनका कर्तव्य निश्चित करना चाहिये तथा उसका पालन करना चाहिये। जहाँ मानव-जीवन बहुत बड़ी आशाकी चीज, बहुत बड़े भरोसेकी चीज—भगवत्प्राप्तिका साधन है, वहाँ वह बड़े खतरेकी चीज भी है। यह खतरा दूसरी योनियोंमें नहीं है। अन्य योनियाँ—चाहे वे बाघ, कुत्ता, बिच्छू, साँपकी ही क्यों न हों—अपने-अपने कर्मका फल भोगकर आगे बढ़ रही हैं—उनकी क्रमोन्नति हो रही है; लेकिन मानव-जीवन कर्मयोनि होनेके कारण इसे कर्म करनेका अधिकार है **'कर्मण्येवाधिकारस्ते।'** मानवके लिये ही भगवान्‌ने, ऋषियोंने विधि-निषेधात्मक शास्त्रोंकी रचना की है, जिनसे वह जान सके कि उसके लिये क्या करना उचित है, क्या अनुचित है। क्या विधेय है, क्या निषिद्ध है यह जानकर वह उन कर्मोंको करने लगता है, जिन कर्मोंके द्वारा भगवद्भक्ति प्राप्त हो, भगवान्‌की उपलब्धि हो, भगवान्‌का तत्त्वज्ञान प्राप्त हो। यदि वह उन कर्मोंको नहीं करता, यदि वह मोहवश भोगोंमें आसक्त होकर भोगोंमें ही लिप्त रहता है, तो मानव-जीवन बड़े खतरेकी चीज बन जाती है।

जिसका जीवन भोगपरायण है—जो कामोपभोग-परायणताको ही जीवनका चरम लक्ष्य मानता है, वह मानवके रूपमें असुर है। उस असुर मानवको पाँच चीजें प्राप्त होती हैं—चार इसी जीवनमें और एक इस जीवनकी समाप्तिके पश्चात्। प्रथम—उसका चित्त

कभी शान्त नहीं रहता, यह अनुभवपूर्ण सत्य है कि यहाँ कोई कितना ही वैभवसम्पन्न क्यों न हो जाय—अरबपति हो जाय, विश्वका सम्राट् हो जाय, सब प्रकारकी सुविधाएँ उसे प्राप्त हो जायँ, जबतक वह भोग-जगत्में है, उसके चित्तको कभी शान्ति नहीं मिलती। द्वितीय—मृत्युके अन्तिम श्वासतक वह अत्यन्त चिन्ताग्रस्त रहता है—चिन्ताके दुःख-सागरमें डूबता-उतराता रहता है, वह चिन्ताकी अग्निमें निरन्तर जलता रहता है। तृतीय—वह पापमें लीन रहता है। भोग-कामना उसके विवेकका अपहरण कर लेती है और उसका जीवन पाप-परायण हो जाता है। चतुर्थ—उसकी मृत्यु अत्यन्त दुःखमय होती है। मृत्युके समय उसे स्मरण होता है—यह छूट गया, वह छूट गया, वह काम नहीं हुआ……………। न जाने कहाँ-कहाँ उसकी वृत्ति जाती है और बहुत ही वेदनाके साथ उसका अन्त होता है। पञ्चम—मरनेके बाद उसे बुरे-बुरे नरकोंकी प्राप्ति होती है—'पतन्ति नरकेऽशुचौ',—एक बार नहीं, वह 'जन्मनि-जन्मनि—एक जन्मके पश्चात् दूसरे जन्ममें' असुरयोनिको प्राप्त होता है। इस प्रकार जिस महान् उद्देश्यके लिये—भगवान्को प्राप्त करनेके लिये मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, वह उद्देश्य अधूरा रह जाता है तथा जीवनकी समाप्तिके पश्चात् उसे अधम गतिकी प्राप्ति होती है, नरकोंमें घोर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

मानव-जीवनका यह स्वरूप कि जहाँ यह मोक्षका द्वार है, वहीं नरकका भी द्वार है, इस सत्यको हम ठीकसे अनुभव करें, उसको समझें और वास्तविक रूपमें मानव बननेका प्रयत्न करें। "भाईजी"

नतमस्तक

(विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोरके 'जेथाय थाके सबार अधम' पदका श्रीसत्यकाम विद्यालंकारद्वारा किया हुआ भावानुवाद)

नाथ ! जहाँ सबसे अधम, दीनों-के-दीन जन रहते हैं, वहाँ
सबसे पिछड़े और सबसे तिरस्कृत लोगोंके मध्य तेरे
चरण विराजमान हैं।

जब मैं तुझे प्रणाम करता हूँ, तब मेरा विनत मस्तक नमनकी
सीमातक पहुँचकर भी तेरी चरण-पीठिकातक नहीं
पहुँच पाता।

क्योंकि तेरे चरण सबसे निम्न और दीन जनोंके मध्य स्थित
हैं। मेरा मस्तक झुककर भी तेरे चरणोंकी सतहतक
नहीं पहुँचता !

जहाँ तू दीन-जनोंके दरिद्रवेषमें सर्व-दलित, सर्व-तिरस्कृत,
अतिदीन जनोंके मध्य संचार करता है, वहाँ मेरा
अहंकार नहीं पहुँचता।

धन-मान-सम्पन्नोंके मध्य मैं तुझे पानेकी आशा करता हूँ;
किंतु मेरा साहचर्य तो उनसे है, जिनका कोई और
सहचर नहीं।

उन सर्वदलित, तिरस्कृत और दीनोंके दीनजनोंतक मेरा
हृदय नहीं पहुँच पाता।

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

मनुष्य-जीवनकी दुर्लभता और हमारा कर्तव्य

मनुष्य-जीवन बड़ा दुर्लभ है, बड़े पुण्य-संचयसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ही यह प्राप्त होता है। इसका एक-एक क्षण भगवत्स्मरणमें और भगवान्‌की सेवामें ही बिताना चाहिये। पर बड़े ही खेदकी बात है कि हमारा बहुत-सा समय यों ही बीत गया और अब भी बीता ही जा रहा है। इसलिये शीघ्र सचेत होकर हमें अपने कर्तव्यका पालन करते हुए मनुष्य-जीवनको सफल बनाना चाहिये, जिससे भविष्यमें पश्चात्ताप न करना पड़े।

अतः प्रतिक्षण क्षीण होनेवाले इस मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयका हमने किस हदतक सदुपयोग किया, यह हमें विचारना चाहिये। केवल मनुष्यका ही शरीर ऐसा है, जिसमें यह जीव सदाके लिये जन्म-मरणसे छुटकारा पाकर परमात्माको प्राप्त कर सकता है। यदि हम अपनी असावधानीसे इस दुर्लभ मानव-जीवनको पशुओंकी भाँति आहार, निद्रा और मैथुनमें लगा दें तो हमारा जीवन पशु-जीवन ही समझा जायगा।

श्रीचाणक्यने कहा है—

> आहारनिद्राभयमैथुनानि
> समानि चैतानि नृणां पशूनाम्।
> ज्ञानं नराणामधिको विशेषो
> ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥
> (चाणक्यनीति १७। १७)

'आहार, निद्रा, भय और मैथुन—ये मनुष्यों और पशुओंमें एक समान ही हैं। मनुष्योंमें केवल विशेषता यही है कि उनमें ज्ञान अधिक है, किंतु ज्ञानसे शून्य मनुष्य पशुओंके ही तुल्य हैं।'

अतः हमलोगोंको अपने समयका सदुपयोग करना चाहिये, नहीं तो अन्तमें हमको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस विषयमें श्रुति हमें चेतावनी देती हुई कहती है—

> इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
> न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
> भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
> प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
> (केनोपनिषद् २। ५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है; और यदि इस जन्ममें हमने उसको नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तन कर—परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं, अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि समस्त प्राणियोंमें परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही अपना जीवन सफल बनाये। मनुष्यका जन्म बहुत ही दुर्लभ है। वह ईश्वरकी कृपासे हमें प्राप्त हो गया है। ऐसा सुअवसर पाकर जीवनके महत्त्वपूर्ण समयका एक क्षण भी हमें व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। जिस कामके लिये हम आये हैं, उसे सबसे पहले करना चाहिये। जो काम हमारे बिना हमारी जीवितावस्थामें दूसरे कर सकते हैं, वह काम उन्हींसे करा लेना चाहिये, उस काममें अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये। और जो काम हमारे मरनेके बाद हमारे उत्तराधिकारी कर सकते हैं, चाहे वह कैसा भी जरूरी क्यों न हो, उस काममें भी अपना अमूल्य समय नहीं लगाना चाहिये। पर जो काम हमारे बिना न हमारे जीवनकालमें

और न मरनेपर ही दूसरे किसीके द्वारा सम्पन्न हो सकता है तथा जो हमारे इस लोक और परलोकमें परम कल्याण करनेवाला है और जिस कामके लिये ही हमें यह मनुष्य-शरीर मिला है एवं जिस काममें थोड़ी भी कमी रहनेपर हमें पुनः जन्म लेना पड़ सकता है, साथ ही जिस कार्यकी पूर्ति हमारे बिना किसी भी दूसरेसे कभी हो ही नहीं सकती, उस कामको तो सबसे अधिक महत्त्वका और सबसे अधिक जरूरी समझकर तत्परताके साथ सबसे पहले हमें करना ही चाहिये। वह काम है—परमात्माकी प्राप्ति। उसकी प्राप्तिका उपाय है—ईश्वरकी भक्ति, उत्तम गुणोंका संग्रह, उत्तम आचरणोंका सेवन, संसारसे वैराग्य और उपरति, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान, मन और इन्द्रियोंका संयम, दुःखी और अनाथोंकी निष्काम सेवा आदि-आदि। अतः इन्हीं कामोंमें अपना समय अधिक-से-अधिक लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

श्रद्धाका स्वरूप एवं महत्त्व

ईश्वर, महात्मा और श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंके वचनोंमें जो प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वास है, उसका नाम 'परम श्रद्धा' है। जो कुछ हमारी जानकारीमें आता है, उसे तो हम मानते ही हैं; परंतु जो हमारे ज्ञानमें नहीं है, उसके सम्बन्धमें उपर्युक्त प्रकारके वचनोंमें प्रत्यक्षसे भी बढ़कर जो श्रद्धा है, उसको 'परम श्रद्धा' कहते हैं। उदाहरणके लिये, भगवान् सर्वसाधारणके देखनेमें नहीं आते, पर शास्त्रोंपर और महात्माओंपर विश्वास करके दृढ़रूपसे यह समझ लेना कि निश्चय ही परमात्मा है—यह परम श्रद्धाका एक स्वरूप है। सत्यवादी महात्मा पुरुष किसी एक मकानको सोनेका कह दें और श्रद्धालु पुरुषको उसी क्षण वह मकान सोनेका ही दीखने लगे—यह 'परम श्रद्धा' है। श्रद्धाका यह भाव बड़ा अद्भुत है; क्योंकि वह मकान उसीकी जानकारी तथा देख-रेखमें चूना, मिट्टी, पत्थर और ईंटोंसे बना हुआ है; पर जब संतके मुखसे निकल गया कि 'यह सोनेका है', तब तत्काल वह सोनेका ही दीखने लग गया, यह सर्वोत्तम श्रद्धा है।

इससे निम्न श्रेणीकी श्रद्धामें मकान तो चूनेका ही दीखता है, किंतु उसके विश्वासमें वह सोनेका हो गया है। अर्थात् वह समझता है कि ऊपरसे वह चूनेका दीखता है, परंतु भीतरसे सोनेका अवश्य हो गया। इस प्रकार चूनेका मकान दीखते हुए भी उसे वह सोनेका ही समझता है। इससे और नीचे दर्जेकी श्रद्धावाला पुरुष कहता है कि 'यदि महात्मा कह देते कि मकान सोनेका बन जायगा तो वह सोनेका बन चुका होता; किंतु इनके मुखसे जिस समय यह बात निकली, उस समय यह मकान चूनेका ही था। अतः अब भी चूनेका ही है। हाँ, उसे यह विश्वास अवश्य है कि यदि महात्मा कह दें कि यह सोनेका बन जायगा तो सोनेका बन सकता है।' यह तृतीय श्रेणीकी श्रद्धा है। इससे भी नीची—चौथे दर्जेकी श्रद्धा उसकी है, जो यह समझता है कि जो बात सम्भव है, वह तो महात्माके कहनेसे अवश्य हो सकती है—जैसे यदि किसीको लड़का या लड़की होनेवाली है और महात्मा कह दें कि यह होगा, तो वह बात हो सकती है; परंतु वे कह दें कि उसके पत्थर पैदा होगा तो यह असम्भव है—ऐसा नहीं हो सकता। सच्चे महात्माओंके लिये सब कुछ सम्भव है। उदाहरणके लिये यादव-बालकोंने साम्बको गर्भवती स्त्री सजाया और उसे मुनियोंके पास उनकी परीक्षाके लिये ले जाकर पूछा कि 'इसके क्या होगा?' मुनियोंने कह दिया कि 'इसके मूसल होगा।' तो वह मूसल ही निकला। मुनियोंने यादव-बालकोंका कपट जान लिया।

जानकर उन्होंने असम्भव-सी बात कह दी, पर वह सत्य हो गयी। साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि 'इस मूसलसे तुम्हारे कुलका नाश होगा' तो उससे उनका नाश ही हो गया।

अतएव जो पुरुष वास्तवमें परम श्रद्धालु है और जिसे संत-महात्माकी बातपर अचल विश्वास है, उसका तो यह निश्चय है कि महात्मा यदि असम्भव बात भी कह दें तो वह सम्भव हो सकती है और उनके कहनेसे सम्भव भी असम्भव हो सकती है। इसी प्रकार उच्चकोटिके पुरुषोंका संकल्प भी ऐसा ही होता है। उच्चकोटिके पुरुष न तो भविष्यकी बात ही निश्चितरूपसे कहते हैं और न निश्चितरूपसे भविष्यका संकल्प ही करते हैं। जो कुछ हो रहा है, वे उसीमें मस्त हैं। एक क्षणके बाद क्या होनेवाला है, क्या होगा—इसको वे न तो जाननेकी इच्छा ही करते हैं, न जाननेकी आवश्यकता ही समझते हैं और न इस बातके जाननेको अच्छा ही समझते हैं। ऐसे पुरुष ही सत्य-संकल्प होते हैं। जो लोग वृथा संकल्प करते रहते हैं, उनके संकल्प सत् नहीं होते। संकल्पके विषयमें एक रहस्यकी बात यह है कि जो मनुष्य अपना कल्याण चाहते हैं, उनको भविष्यका कोई भी संकल्प नहीं करना चाहिये। भावी संकल्प भावी जन्मका कारण होता है। आपके मनमें यह संकल्प हुआ कि 'मैं कल कलकत्ते जाऊँगा' और किसी कारणसे आज आपकी मृत्यु हो गयी तो फिर आपको उस संकल्पके कारण दूसरा जन्म लेकर कलकत्ते जाना पड़ेगा। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको यही समझना चाहिये कि मुझको कुछ भी नहीं करना है। जो कुछ हो रहा है, उसे देखते रहना चाहिये। एक क्षणके बाद मुझे यह काम करना है, यह संकल्प भी नहीं करना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'ऐसा संकल्प न करनेसे कार्य कैसे होगा? भोजन करना है, नीचेसे ऊपर जाना है, ऊपरसे नीचे उतरना है, इसके लिये तो पहले मनमें संकल्प होगा, तभी उसके अनुसार क्रिया होगी।' तो यह बात ठीक है। पर इस विषयमें विकल्पसहित ही संकल्प करना चाहिये। 'विकल्पसहित'से तात्पर्य यह है कि जैसे ऊपर जानेकी आवश्यकता है, यह ठीक है, पर ऊपर जाना बन जाय तो बन जाय, न बने तो न बने। भोजन करनेका समय हो गया तो भोजनके लिये वहाँसे चल दिये। भोजन मिल गया तो खा लिया, नहीं तो नहीं। कोई संकल्प नहीं। यदि कोई संकल्प उठे भी तो उसके साथ यह भी विकल्प रहे—'हो जाय तो अच्छी बात है, न हो तो भी अच्छी बात है, अमुक काम करनेका विचार है, कोई निश्चय नहीं। जो कुछ बन जाय, वही सत्य है।' किसीने पूछा कि 'अब आपको क्या करना है?' तो भीतरसे यह आवाज आनी चाहिये कि 'कुछ भी करना नहीं है।' जैसे महात्मा—कृतकृत्य पुरुषको तो कुछ करना शेष रहता ही नहीं, वैसे ही साधकको भी अपने हृदयमें यह भाव रखना चाहिये कि मुझे कुछ करना नहीं है। वर्तमानमें जो भजन-ध्यान हो रहा है, वह वर्तमान क्रिया हो रही है भविष्यके लिये नहीं। वर्तमान क्रियामें जो साधन चल रहा है, उसके विषयमें साधककी यही समझ रहनी चाहिये कि 'ऐसी अवस्थामें प्राण चले जायँ तो कोई हर्ज नहीं है। भविष्यमें तो मेरे लिये कुछ करना शेष है नहीं। जो कुछ हो रहा है, परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। जो भी हो रहा है, सब ठीक हो रहा है। मेरेद्वारा जो कुछ हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। परेच्छा, अनिच्छासे जो हो रहा है, वह भी परमात्माकी मर्जीसे हो रहा है। मुझको तो कुछ करना है ही नहीं। मेरे-

द्वारा भी जो कुछ भी परमात्मा करवा रहे हैं, वह मेरे लिये मङ्गलकी बात है। उनकी जैसी इच्छा हो, करवायें। मुझे तो कुछ भी करना है नहीं।' मनमें ऐसा निश्चय रक्खे कि 'जो कुछ हो रहा है, सब स्वाभाविक ही हो रहा है, परमात्मा करवा रहे हैं। उनकी मुझपर दया है।' इस प्रकार निश्चिन्त होकर रहे। जैसे कोई मनुष्य टिकट खरीदकर गठरी-मोटरी लिये ट्रेनपर बैठनेके लिये तैयार रहता है और ट्रेनकी बाट देखता रहता है, उसी प्रकारसे मनुष्यको समस्त कार्योंसे निपटकर मृत्युकी प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। यह बहुत ही उत्तम भाव है। महात्मा पुरुषका जो स्वाभाविक भाव है, साधकके लिये वही साधन है।

अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि परमात्माको आत्मसमर्पण करके यह निश्चय रक्खे कि परमात्मा मेरे-द्वारा जो करवा रहे हैं, सो ठीक करवा रहे हैं; जो कुछ अनिच्छा-परेच्छासे हो रहा है, ठीक हो रहा है। ऐसा भाव रक्खे कि भगवान्का जो विधान है, वह वास्तवमें न्याय है और मेरे लिये मङ्गलकारक है। साधकका यह भाव उच्चकोटिका है।

अनिच्छासे जैसे किसीका लड़का मर गया, शरीरमें रोग हो गया, घरमें आग लग गयी तो बहुत आनन्दकी बात है। इसके विपरीत लड़का पैदा हो गया, घरमें लाख रुपये आ गये या शरीर स्वस्थ हो गया—तब भी आनन्दकी बात है। चाहे कोई मान करे या अपमान करे, निन्दा करे या स्तुति करे—दोनोंमें तनिक भी अन्तर नहीं। जैसी निन्दा, वैसी ही स्तुति। जैसा मान, वैसा ही अपमान। जैसा मित्र, वैसा ही शत्रु और जैसा सुख, वैसा ही दुःख। इस प्रकार जिनका सर्वत्र समभाव है, वे ही पुरुष श्रेष्ठ हैं। ऐसे महात्माके जो लक्षण शास्त्रोंमें बताये गये हैं, उनको लक्ष्य बनाकर जो अभ्यास करता है, वह शीघ्र महात्मा बन जाता है। यह बड़ी मूल्यवान् वस्तु है। महात्मामें तो यह स्वाभाविक है, साधकके लिये वही आदर्श साधन है। जो मनुष्य साधन मानकर इस प्रकार अभ्यास करता है, वह आगे चलकर शीघ्र ही महात्मा बन जाता है। किसी आदमीने गाली दी तो आनन्द, प्रशंसा की तो आनन्द; उनमें किंचित् भी भेद न समझे। यों समझे कि निन्दा-स्तुति दोनों ही वाणीके विषय हैं—आकाश-के गुण हैं, शब्दमात्र हैं। इनमें भला और बुरा क्या है? निन्दा और स्तुति होती है नामकी। मैं नामसे रहित हूँ। मान-अपमान होता है रूपका—देहका, मैं इस रूप या देहसे सर्वथा पृथक्—रहित हूँ। न मेरा मान है न मेरा अपमान; न मेरी निन्दा न मेरी स्तुति। इनसे मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारका ज्ञान आत्माका कल्याण करनेवाला है।

श्रीकृष्ण-चरणारविन्द ही जीवकी एकमात्र गति हैं

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात् संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहादचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्॥

ब्रह्मा और शिवादि देवेश्वर भी जिनकी वन्दना करते हैं, जो भक्तोंकी इच्छाके अनुसार परम सुन्दर और चिन्तन करनेयोग्य लीला-शरीर धारण करते हैं, जिनकी शक्ति अचिन्त्य है तथा जिनके अभिप्रायको उनकी कृपाके बिना कोई भाँप भी नहीं सकता, उन श्रीकृष्ण-चरणारविन्दोंके सिवा जीवके लिये कोई दूसरी गति नहीं दीख पड़ती।

(आचार्य निम्बार्कः दशश्लोकी ८)

श्रीश्रीमाँ आनन्दमयीकी सुधामयी वाणी

मनुष्य स्वाधीन गतिके अभावसे कर्म-क्षेत्रमें पङ्गु हो जाता है। धर्म-क्षेत्रमें भी यही बात होती है। अपनी अपनी चिन्ताओंको प्रसार न मिलनेसे साधककी साधन-चेष्टा संकुचित हो जाती है। अतएव जो जिस मार्गपर अग्रसर हो रहा है, उसी मार्गमें शुद्ध-भावकी परिपुष्टि लाभ करनेके लिये अपने-अपने पुरुषार्थका प्रयोग करें। जब लक्ष्य प्राणमय हो जायगा, तब जिसको जो चाहिये, आप से आप हो जायगा।

× × ×

आकृष्ट होनेका अर्थ है—परिवर्तन होना। तुम जब कभी किसी मनुष्य, किसी वस्तु या भावके प्रति आकृष्ट होते हो, तभी तुम्हें अपना कुछ त्याग करना पड़ता है। यह स्वतः सिद्ध है कि जितना त्याग करोगे, उतना ही पाओगे। यह कभी नहीं हो सकता कि कुछ भी त्याग न करो और सब पा जाओ। कारण, एक समय और एक ही स्थानमें दो वस्तुएँ नहीं रह सकतीं और त्यागके बिना कोई भी कर्म नहीं चलता। भगवान्के भावमें मन-प्राणको जितना अधिक लगाओगे, भोग-वासनाएँ उसी परिमाणमें कम होती जायँगी; और जिस समय उनमें आकृष्ट, परिवर्तित और अनुभावित हो जाओगे, उसी क्षण मनका लय हो जायगा। यह ठीक है कि उनका आकर्षण अन्तरमें जाग्रत् न होनेसे आकर्षित हुआ नहीं जाता, तो भी उस अनुभूतिके लिये दृढ़ चेष्टाकी आवश्यकता है। इसीलिये व्यापारियोंके दैनिक बाजार-भाव जाननेकी तरह प्रतिक्षण उसके सम्बन्धमें आलोचना करनी चाहिये।

× × ×

सीमाके अंदर एक भावको लेकर रहनेसे जब लक्ष्य स्थिर हो जाता है, तब सीमाका बन्धन खुल जाता है और एक ही अनेक और अनेक ही एक प्रतीत होता है। असीम-तक पहुँचनेकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये पहले सीमाबद्ध होकर चलना उचित है; जबतक देहात्मज्ञान प्रबल है, तबतक अपनेको आचार-विचार अथवा लौकिक नियमोंके बन्धनमें रखना ही उचित है। इसके लिये धैर्य चाहिये, सहिष्णुता चाहिये। विश्व-प्रकृति स्वयं अस्थिरा होनेपर भी कभी भी किसीकी चञ्चलतासे सहायक नहीं होती।

× × ×

भव-यन्त्रणाके बिना भव-यन्त्रके यन्त्रीके साथ परिचयकी इच्छा जाग्रत् नहीं होती। अतएव रोग, शोक, अभाव, अनुताप इत्यादि मनुष्य-जीवनके लिये आवश्यक हैं। जिस प्रकार अग्नि मैले इत्यादिको जला देती है, उसी प्रकार त्रितापद्वारा हृदयकी मलिनता नष्ट होती है और भगवान्के प्रति एकाग्रता होती है। हृदयमें जब अपनी दुर्बलता और उच्छृङ्खलता इत्यादिके स्मरणसे व्यथा होती है तथा पीड़ा, दारिद्र्य, स्त्री-पुत्रके वियोग, अपमान इत्यादिके कारण जीवित रहना व्यर्थ प्रतीत होता है, तभी विश्वास और श्रद्धाके मनुष्य भगवान्के चरणोंमें आत्म-निवेदन करनेको व्याकुल हो उठता है। इसी कारणसे दुःखको स्वीकार करो। ग्रीष्मके तापसे दग्ध चित्तको चन्द्रकिरणें जितनी मधुर लगती हैं, अन्य किसी भी समय वैसी प्रतीत नहीं होतीं।

× × ×

तुम कहते हो कि 'हम भगवत्-लाभ चाहते हैं।' विचार कर देखो—क्या तुम मन-प्राणसे चाहते हो ? वास्तवमें यदि तुम चाहो तो उसे अवश्य पा सकते हो। उन्हें चाहनेका क्या लक्षण है, जानते हो ? जैसे डूबनेवाली नावका यात्री किनारा चाहता है, पुत्र-शोकातुर माता पुत्रको चाहती है, उसी भावसे यदि तुम भगवान्को चाहो, तब देखो कि वे दिन-रात तुम्हारे साथ-साथ हैं। तुम उनसे संसारकी अनेक वस्तुएँ चाहते हो, इसीलिये वे तुमको धन-जन, प्रतिष्ठा इत्यादि देकर भुलाकर रखते हैं। उनको उन्हींके लिये चाहो, निश्चय ही उनका दर्शन-लाभ करोगे।

× × ×

संसारमें अश्रद्धा एवं उपेक्षाकी कोई वस्तु नहीं है। वे भगवान् ही अनन्त भावों और अनन्त रूपोंसे अनन्त खेल खेलते हैं। बहुत न होनेसे यह खेल कैसे चले ? देखते नहीं, प्रकाश और अन्धकार, सुख और दुःख, अग्नि और जल किस प्रकार एक ही श्रृङ्खलामें बँधे हुए हैं। याद रक्खो, शुद्ध भावके साथ साधना होती है। हम जितना ही अशुद्ध तथा संकीर्ण चिन्ताओंको आश्रय देते हैं, उतने ही हम संसारके अमङ्गलके कारण सृजन करते हैं। दूसरेका क्या है, क्या नहीं है—तुम्हें इस विचारसे क्या मतलब; स्वयं ही

तैयार रहो। स्वयं सुन्दर होकर सुन्दर हृदय-आसनमें चिर-सुन्दरको यदि प्रतिष्ठित कर सको तो सब ही सुन्दर प्रतीत होगा।

× × ×

संसारमें सब एक ही पिताकी सृष्टि है। इस कारण कोई भी किसीसे भिन्न नहीं है। जिस प्रकार एक परिवारमें बहुत-से बच्चे होनेपर जीवन-निर्वाहकी सुविधाके लिये दसियों प्रकारकी वृत्तिका अवलम्बन कर दस जगह दस घर बनाकर वे लोग रहते हैं, वैसे ही मूलरूपमें एक होते हुए भी सब लोग विभिन्न कर्म-शृङ्खलाके वशमें होकर केवलमात्र कई प्रकारसे कई रूपोंमें अलग-अलग होकर रहते हैं। संसारमें जिस तरह रोग-निवारणके लिये ऐलोपैथिक, होमियोपैथिक, वैद्यक इत्यादि व्यवस्थाएँ हैं—जिसको जो उपयोगी लगती है, वह उसी चिकित्साको करता है, उसी प्रकार भव-रोगके लिये शास्त्र-वाक्यों और साधु-मुखसे नाना विधान, नाना उपदेश कहे गये हैं; लक्ष्य सबका एक ही है। हिंदू, मुसल्मान, शाक्त एवं वैष्णवोंके विभिन्न मार्ग उसीके द्वारमें पहुँचाते हैं।

× × ×

ऐसा प्रतीत होता है कि यह संसार मृदङ्गकी तरह है और इसका एक वादक है। वह जो बोल बजाता है, वही बजता है। देखा गया है कि कीर्तनमें मृदङ्गकी तालोंपर बहुत लोग नाचते हैं, गाते हैं। किंतु वाद्य-यन्त्र और वादकके प्रति कम जनोंकी दृष्टि रहती है। संसारमें जिसके आनन्दका कणमात्र लेकर सभी सुखसे दिन बिताते हैं, उसको जाननेके लिये कोई उत्सुक नहीं। सब विषयोंके मूलरूपमें जो विद्यमान है, उसका अनुसंधान करो; यही है तपस्या, यही है साधना।

× × ×

'भगवान्‌का भजन करना चाहता हूँ, किंतु कर नहीं पाता'—क्या इतना कहना पर्याप्त है ? घरमें यदि साधारण बीमारी हो तो समय-असमय डाक्टर और वैद्योंके यहाँ कितने चक्कर लगाते हो ? यदि कोई सांसारिक कार्य बिगड़ जाता है तो उसे ठीक करनेके लिये कितने यत्न करते हो, परंतु जैसे ही ईश्वर-भजन (चिन्ता) का प्रश्न आया कि उसकी कृपाकी दुहाई देकर एक ओर हो जाते हो। कर्मियोंके लिये क्या यह उचित है ? एक बार उत्साहके साथ जाग उठो, फिर खूब स्मरण कर सकोगे। अपने शरीरको स्वस्थ-सुन्दर बनानेके लिये जिस तरहसे यत्न करते हो, उसी तरह मनको भजनके लिये तैयार करनेकी व्यवस्था करो; फिर देखना, भजनका भाव मनमें अवश्य ही आयेगा। केवल तत्त्वको लेकर बैठे रहनेसे काम नहीं चल सकता, उसीके अनुसार कर्म और अभ्यास भी करना चाहिये। एक लक्ष्य होकर कर्म करते-करते कर्म-सिद्धिका कौशल स्वयं विदित हो जाता है।

× × ×

मनमें चाञ्चल्य, अस्थिरता, संशय आदि अनेक दोष क्यों न रहें, आनन्द ही इसकी मूल प्रकृति है; मन तो केवल शिशुकी तरह बिना विचारे जहाँ-तहाँ, अच्छे-बुरेमें आनन्द ही ढूँढ़ता है; किंतु संसारके प्रत्येक आनन्दके छोटे-छोटे खण्ड मनको अधिक समयतक स्थिर नहीं रख सकते। जैसे बच्चोंको प्यार और ताड़ना—दोनोंसे ही शिक्षा दी जाती है, उसी प्रकार मनको भी तैयार करो। सत्सङ्ग, शुद्धभाव, सदालोचना इत्यादिद्वारा मनको बाहर-भीतर पुष्ट करो। इससे क्रमशः यह ताप-शून्य होकर परमपदमें विश्रामलाभ करनेके योग्य होगा। जैसे युद्धक्षेत्रमें आक्रमण करनेकी अपेक्षा आत्मरक्षाका सबसे पहले आयोजन किया जाता है, उसी प्रकार शुभ-कर्मादिसे मनको विवेक और विचारपूर्वक सावधान रक्खो, जिससे भोग-तृष्णारूपी बाहरी शत्रु इसको चञ्चल न कर सकें। मनका शत्रु और मित्र मन ही है। मनसे मनकी अज्ञानता दूर करनी होगी। मनको निर्मल करनेका सबसे सरल उपाय साधु-सङ्ग और निरन्तर भगवन्नामकीर्तन है।

× × ×

पुकार तो केवल एक ही है। उसी पुकारके लिये नाना जातियोंमें नाना व्यवस्थाएँ हैं। जिस दिन किसीको वैसा पुकारना आ जाता है, उस दिन उसके लिये पुकारने या न पुकारनेका छन्द मिल जाता है। वास्तवमें तुम उसे पुकारते नहीं हो, वही सर्वदा तुम्हें पुकार रहा है। जिस प्रकार निःस्तब्ध रात्रिमें देव-मन्दिरके शङ्ख-घण्टोंकी ध्वनि स्पष्टरूपसे सुनायी देती है, उसी तरह उसके प्रति अनन्य भाव-भक्तिके द्वारा विषय-विक्षुब्धता शान्त होनेसे उस पुकारकी प्रतिध्वनि आकर पूर्णरूपसे अन्तर्नादित होती है। तभी वास्तविक पुकार निकलती है। ऐसी बात सभीको होगी; क्योंकि जब शिव जीवरूपमें परिणत हुए हैं, तब जीव भी फिर शिवरूपमें

परिवर्तित होगा। बर्फ और जलकी तरह जीव और शिवका यह खेल सदासे चला आ रहा है।

× × ×

आदि सबका एक है; एकसे ही इस विश्व-ब्रह्माण्डका प्रकाश है। हिमालय जिसने देखा नहीं है, वह नाम सुनकर समझेगा कि हिमालय केवल एक पहाड़ है; किंतु हिमालयके नीचे खड़े होकर देखोगे कि सैकड़ों पहाड़, लाखों पेड़, जीव-जन्तु और झरने इत्यादिको लेकर कितने ही योजनके विस्तारमें यह गिरिराज हिमालय विराज रहा है। इसी तरह साधनाके राज्यमें जो साध्यके समीप पहुँचेगा, जो जितना उस राज्यके भीतर प्रवेश कर सकेगा, वह देखेगा कि एकके ही अनेक रूप हैं और अनेकोंका एक रूप है। हम सर्वदा एकको ही लेकर चलते हैं, किंतु अनेकोंमें भटकते रहते हैं। एक-एक पाँव चलकर सीखनेसे चलना आता है, एक-एक ग्रास खानेसे क्षुधा निवृत्त होती है, एक-एक अक्षरकी योजना करनेसे शब्द बनता है, एक-एक दिनकी ग... करनेसे मास एवं एक-एक मास वर्षमें परिणत हो जाता है।

× × ×

तुम्हारे मुँहसे सुना जाता है—'एकमेवाद्वितीयम्' वास्तवमें बात ऐसी ही है; संसारमें एकसे भिन्न कुछ ... है। रूप-रस-गन्धादिको लेकर ही संसार है; इनमेंसे प्र... विविध रूपोंमें प्रकाशित होकर सृष्टिकी महिमाको प्र... करता है, किंतु एकसे ही इन सबका आविर्भाव और एक... ही लय एवं एककी पूर्णताके लिये ही सबकी सार्थकता है। एकलक्ष्य होकर एक रूप, एक रस, एक गन्ध, एक र... अथवा एक शब्दमें प्रतिष्ठित होनेकी चेष्टा करो। उस ... देखोगे कि इसी एकके भीतर सब सम्मिलित हैं। इसके ... बाद उपलब्धि होगी—एक ही सब है, सभी एक है ... उस एकके अतिरिक्त और कोई अस्तित्व ही नहीं है।

एक महात्माका प्रसाद

[प्रभु-विश्वास और लक्ष्यकी प्राप्ति]

पराधीनता, नीरसता एवं अभावमें आबद्ध प्राणी सदैव सुखकी दासता एवं दुःखके भयमें आबद्ध रहता है और ऊँच-नीच योनियोंमें भटकता रहता है। इस समस्याका भान तभी हो सकता है, जब साधक वेदवाणी, गुरुवाणी, भक्तवाणी आदिके द्वारा अनुत्पन्न, अविनाशी, स्वाधीन रसरूप प्यारे प्रभुके अस्तित्वको स्वीकार करे। प्रभुके अस्तित्वको स्वीकार करनेपर फिर किसी औरके अस्तित्वकी अपनेको अपने लिये अपेक्षा ही नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि चित्त सब ओरसे स्वतः विमुख होकर अपनेमें जो अपने प्रेमास्पद हैं, उनमें लग जाता है। जीवन-विज्ञानसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि जबतक चित्त प्रभुसे भिन्न किसी औरमें लगता है, तबतक उसका अस्तित्व बना रहता है और वह स्वभावसे स्थिर नहीं होता, अर्थात् मनमें स्थिरता, चित्तमें प्रसन्नता और हृदयमें निर्भयताकी अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना साधक शान्ति, मुक्ति और भक्तिका अधिकारी नहीं हो पाता। इस दृष्टिसे चित्तका सब ओरसे विमुख होकर अपनेमें जो अपना जीवन है, उससे अभि... होना अनिवार्य है। इसी पवित्रतम उद्देश्यकी पूर्ति... लिये आस्थावान् साधकोंने सर्वसमर्थ प्रभुके अस्ति... महत्त्व और अपनत्वको स्वीकार किया। मानव जिस... अस्तित्वको स्वीकार करता है, उसका चिन्तन उस... स्वतः होने लगता है। अतएव जिसके चिन्तनसे अपनेको मुक्त होना है, उसके अस्तित्वको ही स्वीकार मत करो। केवल प्रतीति एवं प्रवृत्तिके आधारपर अस्तित्वको स्वीकार करना भारी भूल है। जिसकी प्राप्ति सम्भ... है, भले ही उसकी प्रतीति न हो, उसके अस्तित्वको स्वीकार करना अनिवार्य है। प्राप्ति उसीकी होती है जो सदैव अपनेमें है—और वह अपना है। उसीमें सहजभावसे प्रियता होती है। जो अपनेमें है, साधक उससे अपनी भूलसे ही विमुख होता है और फि... प्रवृत्तिद्वारा अपनेको शक्तिहीन ही बनाता है। श्रमसे शक्तिका ह्रास होता है, यह जीवनका विज्ञान है।

श्रमका आरम्भ ही तब होता है, जब मानव अपने-में अपने जीवन तथा जीवन-धनको स्वीकार ही नहीं

करता। यदि कोई यह कहे कि 'जो सदैव अपने अंदर है, उसे स्वीकार करनेकी क्या बात है', तो यह देखना चाहिये कि जो अपना नहीं है, अपनेमें नहीं है, सदैव नहीं है, केवल प्रतीतिमात्र है, उसके अस्तित्वको अस्वीकार करनेके लिये अपनेमें अपने प्यारे प्रभुको स्वीकार करना अनिवार्य होता है। इसपर भी यदि कोई प्रभुको स्वीकार किये बिना, जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है, उसे स्वीकार न करे तो भी साधक अपनेमें अपने साध्यको पा जाता है। संसारकी निवृत्तिसे परमात्माकी प्राप्ति और परमात्माकी प्राप्तिसे संसारकी निवृत्ति अपने-आप होती है। जिस अनन्तसे समस्त स्वीकृतियाँ सिद्ध होती हैं, वह वास्तवमें सभीका अपना है, अपनेमें है, अभी है।

इस वास्तविकतामें अविचल आस्था, श्रद्धा, विश्वास अत्यन्त आवश्यक है। प्रभु-विश्वास प्रभु-प्राप्तिका अचूक उपाय है। अन्य विश्वासने ही साधकको अन्य चिन्तनमें आबद्ध कर अपने प्यारे प्रभुसे विमुख कर दिया है। अन्य विश्वासके त्यागसे प्रभु-विश्वास सजीव होता है, जिसके होते ही आत्मीयताकी अभिव्यक्ति होती है, जो अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियताकी जननी है।

अभावमें आबद्ध रहना किसीको अभीष्ट नहीं है। अपनेमें अपने प्रेमास्पदको स्वीकार करनेमात्रसे स्वतः अभावका अभाव हो जाता है, जिसके होते ही किसी प्रकारकी पराधीनता, जडता एवं नीरसता शेष नहीं रहती—अर्थात् अविनाशी, स्वाधीन, रसरूप, चिन्मय जीवनसे अभिन्नता हो जाती है। यह शरणागत साधकोंका अनुभव है। जो अपनेमें हैं, अपने हैं, अभी हैं, वे ही वास्तवमें हैं। अपनेमें अपने प्रेमास्पद मौजूद हैं, उन्हींको अपना मानना अनिवार्य है। जिसका सदैव कोई अपना है, उसीमें प्रियताकी अभिव्यक्ति स्वतः होती है। प्रियतासे ही प्रियतमको रस मिलता है। अतः सोयी हुई प्रियताको जगानेके लिये बिना देखे, महावाणीके आधारपर, प्रभुके साथ आत्मीय-सम्बन्ध स्वीकार करना अनिवार्य है।

आत्मीय-सम्बन्धसे ही नित्य-नवीन प्रियताकी अभिव्यक्ति होगी। प्रियता प्रियतमके समान ही अविनाशी, अनन्त, चिन्मय तत्त्व है; कारण कि प्रीति और प्रियतममें जातीय भिन्नता नहीं है। इतना ही नहीं, प्रेमी और प्रेमास्पदका नित्य विहार ही भक्ति-तत्त्व है, जिसकी प्राप्ति जो जीवनका एकमात्र सत्य है, अर्थात् अपना प्रेमास्पद सदैव अपनेमें मौजूद है, उसे स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। अपनेसे भिन्न जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह कभी भी अपना नहीं है, अपने लिये नहीं है—इस सिद्धान्तको अपनाकर जो अपनेमें अपना है, उसीके लिये अपनेको समर्पित कर सदाके लिये उसीका हो जाना अपना जीवन है। जो अपना जीवन है, वही अनन्तका स्वभाव है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब प्रभु-विश्वासी साधक अचाह एवं अप्रयत्न होकर सदाके लिये शरणागत हो जाय। शरणागति कोई अभ्यास नहीं है, अपितु विश्वास है। निज ज्ञानसे असङ्गता और आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासके साथ आत्मीयता स्वीकार करना रसरूप जीवनकी प्राप्तिका अचूक उपाय है। यदि अपना प्रिय अपनेको प्रिय नहीं हो सकता तो प्रियता-प्राप्तिका और कोई उपाय हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार निर्ममताके बिना निर्विकारता एवं निष्कामताके बिना चिर-शान्ति तथा असङ्गताके बिना जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासके साथ आत्मीयताके बिना अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता सम्भव नहीं है, इस दृष्टिसे जो साधक शीघ्रातिशीघ्र वर्तमानमें ही पराधीनता, नीरसता एवं अभावका अन्त करना चाहते हैं, वे आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासके साथ अपनेमें अपने प्रेमास्पदको स्वीकारकर निश्चिन्त तथा निर्भय हो जायँ। सफलता अवश्यम्भावी है।

त्यागका महत्त्व

[पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश]

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी ऐडवोकेट)

त्यागका तो सीधा अर्थ है—छोड़ना या नहीं करना; लेकिन हमारे जीवनमें इस त्यागका क्या महत्त्व है, यह सचमुच एक विचारणीय प्रश्न है। यह संसार निश्चय ही एक कर्मभूमि है, जहाँ हम केवल काम करनेके लिये भेजे गये हैं और यहाँ आनेपर हमें क्या करना है और क्या नहीं करना है—इसका हमारे शास्त्रोंमें असंदिग्ध विवेचन है। निषिद्ध कर्मोंको न करनेकी जो आज्ञा है, उसीका हम यदि ठीक-ठीक पालन कर लें और इसी एक आदेशको जीवनमें ठीक-ठीक उतार लें तो निस्संदेह थोड़े ही समयमें हम महान् और यशस्वी हो जायँ ? मान लीजिये—कोई विद्यार्थी है, जिसको यह आदेश है कि 'तुम अपना समय व्यर्थ मत गँवाओ' और यदि उस विद्यार्थीने इस आदेशका ठीक-ठीक पालन किया तो परिणामतः उसका समय सम्यक् प्रकारसे पठन-पाठनमें लगेगा और अल्प समयमें ही वह विद्या प्राप्त करनेके साथ-साथ अपना यश भी प्राप्त कर लेगा। पुनः कल्पना कीजिये, कोई राज्यकर्मचारी है, जिसे यह आदेश है कि वह किसी भी व्यक्तिके साथ दुर्व्यवहार न करे और न किसीसे घूस आदि ले। यदि उक्त राज्यकर्मचारीने तद्वत् आचरण किया और न करनेयोग्य कोई कर्म नहीं किया तो उसके लिये भी यह सम्भव है कि वह यथावत् पदोन्नति प्राप्त करता जाय और जनसाधारणमें उसकी विशेष मान्यता हो जाय; इसी प्रकार समाजके प्रत्येक व्यक्तिके लिये कुछ-न-कुछ निषिद्ध कर्म अवश्य हैं। यदि उन निषिद्ध कर्मोंको ही वह छोड़ दे तो उसका परिणाम यह होगा कि उसके द्वारा विहित कर्म स्वयं होते जायँगे। विहित कर्म तो उसने जानकर किये नहीं, केवल न करनेयोग्य कर्मोंको न करनेके व्रतका उसने पालन किया और इसके फलस्वरूप उससे अनायास ही शुभ कर्म होते गये तो परिणाम सुखद होगा ही।

लेकिन इस प्रकार कर्तव्य कर्म करनेपर भी सम्भव है किसी त्रुटिके कारण उसकी विफलता हो जाय, जिससे मनमें विषाद हो अथवा सफलता मिलनेपर मनमें अभिमान पैदा हो जाय या उक्त कर्ममें ही उसे एक प्रकारकी आसक्तिका अनुभव होने लगे, तो इन सारी बातोंपर हमारे ऋषियोंने अति प्राचीन कालमें विचार किया है। ईशोपनिषद्का प्रथम मन्त्र है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

'अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी यह जड-चेतनात्मक जगत् है, वह सब-का-सब परमपिता परमेश्वरसे व्याप्त है और उन्हींसे परिपूर्ण है—यह समझकर उन परमेश्वरको निरन्तर अपने साथ रखते हुए त्यागभावसे कर्तव्य-पालनके लिये ही विषयोंका यथाविधि उपभोग करो, उनमें आसक्त मत होओ। यथार्थमें ये भोग्य पदार्थ किसीके भी नहीं हैं। मनुष्य भूलकर उसमें ममता और आसक्ति करता है।' इस त्यागका उपदेश अति प्राचीन कालमें हमारे ऋषियोंने दिया था।

गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

(४।२०)

'जो व्यक्ति सदा संतुष्ट रहकर बिना किसी आसक्तिके कर्म करता है, वह कर्म करते हुए भी वास्तवमें कर्म नहीं करता।' हमारी संस्कृतिमें कर्म करनेका यही आदर्श है। पुनः भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(१८।११)

'किसी भी देहधारी पुरुषद्वारा सम्पूर्णतासे सारे कर्म त्यागे नहीं जा सकते। इसलिये जो पुरुष कर्म

फलका त्याग करता है, वही त्यागी है। इसीको कर्म-योग कहते हैं।'

भगवान् पुनः कहते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(गीता २। ४८)

"हे अर्जुन! तुम आसक्तिका त्याग करके, हानि-लाभ, विजय-पराजय, सिद्धि-असिद्धिका विचार न करते हुए कर्म करो। समत्व ही 'योग' कहा जाता है।" लेकिन प्रायः लोग यह सोचते हैं कि 'जब कर्मोंके प्रति इतनी उपेक्षाका आदेश हमारे धर्मशास्त्रोंमें है, तब कर्म करनेकी आवश्यकता ही क्या है? न हम कर्म करेंगे और न आसक्ति या ममता होगी, न हानि होगी और न लाभ ही होगा।' इसपर हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं कि 'इस संसारमें बिना कर्म किये हम रह ही नहीं सकते। कर्म करना हमारे लिये अनिवार्य है।' शास्त्र पुनः आज्ञा करते हैं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतꣳसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

'इस संसारमें कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। इसके सिवा दूसरा कोई उपाय हमारे लिये नहीं है।' प्रकटमें जब हम सो रहे होते हैं, हमारा शरीर स्थिर है, कोई भी काम इन अपनी इन्द्रियोंद्वारा नहीं कर रहे हैं; किंतु हमारा यह सोना भी एक आवश्यक कर्म है और इस सोनेको भी क्रिया बतलाया गया है। भाव यह कि जब हम बिना कर्म किये यहाँ रह ही नहीं सकते, तब हमारे लिये त्यागकी वस्तु रह जाती है केवल आलस्य। अपने लिये विहित कर्मोंके करनेमें हमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिये। प्रायः देखा जाता है कि आलस्यवश हम बहुत-से अच्छे-अच्छे काम नहीं कर पाते और इस प्रकार हम अपने जीवनके अल्पक्षण नष्ट करते रहते हैं। अतएव वासनाओंके त्यागके साथ-साथ हमें आलस्यका भी त्याग करना चाहिये।

इस त्यागके विषयमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी गीतामें कहते हैं—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥
(१८। ४)

'हे अर्जुन! मेरे विचारमें यह त्याग तीन प्रकारका है—सात्त्विक, राजस और तामस।' तामस त्याग क्या है, पहले इसीपर विचार कीजिये। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि "मोहसे जो लोग अपने स्वाभाविक या वर्णाश्रमोचित कर्मका त्याग करते हैं, वह उनका 'तामसिक त्याग' है।" वर्णाश्रम-धर्मानुसार प्रत्येक व्यक्तिके लिये अलग-अलग कर्म निर्धारित हैं, जिनको 'सहज कर्म' कहते हैं। यदि उसमें दोष भी हो तो उसका त्याग नहीं करना चाहिये—

'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।'
(१८। ४८)

राजस त्याग क्या है, इसके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो अपने लिये विहित कर्म है, क्लेशादिके भयसे या बोझ समझकर जो उस कर्मको नहीं करते, उनका वह त्याग राजसी है। और जो लोग यह समझकर कि हमें यह कर्म करना ही है—इस दृष्टिसे अपना कर्त्तव्य समझकर श्रद्धादिके साथ केवल आसक्ति त्यागकर कर्म करते हैं, फलादिकी परवा नहीं करते, ऐसे लोगोंका सात्त्विक वह त्याग है।'

इस प्रकार हमारे यहाँ त्यागकी बड़ी महिमा है। अपने-अपने कर्त्तव्यमें जो भी त्याज्य बातें बतलायी गयी हैं, उन्हींको हम यदि त्याग दें तो बाकी जो भी काम हम करेंगे, वह अवश्य ही सुन्दर और मर्यादानुकूल होगा और भविष्यमें हम अपने जीवनमें त्यागको एक साधन बनाकर सुख-समृद्धि-लाभ और भगवत्प्राप्तितक कर सकते हैं—इसमें तनिक भी संदेह नहीं मानना चाहिये।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत वचन]

गृह, सम्पत्ति तथा सम्बन्धियोंके साथ भगवान्‌के नाते सम्बन्ध रखिये

सूर्योदयसे पूर्व जैसे उषाकी लाली उसके आनेकी सूचना देती है, उसी प्रकार भोगोंके प्रति उदासीनता प्रभुकृपाके आविर्भावका ही पूर्वसंकेत है; इसलिये आपके हृदयमें सांसारिक भोगोंकी ओरसे जो निर्वेद है, वह तो प्रभुकी परम कृपा ही है। परंतु प्रभुकी पूर्ण कृपाका अनुभव तबतक नहीं होता, जबतक जीवके अन्तःकरणका सारा मल निर्वेदकी ज्वालामें जल नहीं जाता। पर जलन जरूर ही मनको अच्छी नहीं लगती। इसके कारण चित्तमें एक प्रकारका विक्षेप, अशान्ति और निराशा-सी भी बनी रहती है। परंतु ऐसा हुए बिना मनका मैल भी तो नहीं जलता। जिस दिन मन निर्मल हो जाता है, उस दिन प्रभु स्वयं ही प्रेम-दान कर देते हैं। परंतु प्रेमीकी प्यास कभी शान्त नहीं होती। हाँ, उस प्यास और इस अशान्तिमें अन्तर अवश्य है। इस समय तो मन विस्मृति होनेपर इधर उधर भटकता है, परंतु तब स्मृति-विस्मृति—दोनों ही भगवन्मयी होती हैं। हाँ, स्मृतिमें प्यारा आँखोंके सामने रहता है और विस्मृतिमें आँखें उसीको ढूँढती रहती हैं—इतना अन्तर अवश्य होता है। इस लुका-छिपीमें भी चित्त अनेकों बार विषादमें डूबता है, परंतु वे निराशा और विषाद भी परम आनन्दमय होते हैं; क्योंकि वे भी प्रेमकी ही एक अवस्थाविशेष हैं।

अतः आप जिस तपनमें तप रहे हैं, उससे घबराइये मत। दूने उत्साहसे प्रभुका स्मरण कीजिये। सब काम करते हुए भी निरन्तर नामजप और उनका चिन्तन करते रहें। बच्चे और घर भी उन्हींकी सम्पत्ति हैं। जब सारा संसार उन्हींका है तब ये क्या उससे बाहर हैं? इन्हें उन्हींकी चीज समझकर प्रेमपूर्वक इनकी देखभाल कीजिये। इन्हें छोड़ देनेपर भी आपकी आँखोंके सामने कुछ पुरुष, स्त्रियाँ, बच्चे और गृह आदि आयेंगे ही। केवल ममता न होनेसे ही आप उनके कारण अपने लिये कोई बाधा नहीं समझेंगे। उसी प्रकार आज इन गृह, सम्पत्ति और सम्बन्धियोंसे भी ममताके नाते नहीं, बल्कि भगवान्‌की वस्तुके नाते सम्बन्ध रखिये और उनकी यथोचित देखभाल और सेवा कीजिये। यों करनेसे आपका प्रभु-चिन्तन अखण्ड हो जायगा और फिर प्रभु-कृपाका अनुभव होनेमें भी देर नहीं लगेगी। परंतु यह सब होते हुए भी प्यारे श्यामसुन्दरके नाम और रूपका चिन्तन हर समय होते रहना चाहिये।

और अधिक क्या लिखूँ। भगवान् आपको जल्दी-से-जल्दी अपना प्रेमदान करें, यह मेरी आन्तरिक अभिलाषा है।

भगवान्‌को पानेके लिये जैसी स्थितिमें रहना पड़े, उसीमें रहिये

जीवनमें हँसने-खेलनेकी और गम्भीर रहनेकी—दोनों ही बातोंकी आवश्यकता है। दोनोंसे ही प्रत्येक जीवका पाला भी पड़ता है। जो लोग हँसने-खेलने और मौज उड़ानेको ही सार समझते हैं, उन्हें जब विपत्तिका सामना करना पड़ता है, तब उदास होना ही पड़ता है और जो जीवनकी गुत्थीको सुलझानेकी समस्या लेकर सर्वदा गम्भीर रहते हैं, उन्हें भी कभी-कभी दैवकी अटपटी चालपर हँसी

आती है। असलमें जीवनका लक्ष्य हँसना-खेलना या उदासीन रहना—इन दोनोंमेंसे कोई नहीं है। जीवनका लक्ष्य है—भगवान्‌को पाना। उन्हें पानेके लिये जैसी स्थितिमें रहना पड़े, उसीमें रहना अच्छा है।

सदा-सर्वत्र भगवान्‌को देखना चाहिये

संसारमें जहाँ-जहाँ मन दौड़कर जाय, वहाँ-वहाँ ही श्रीभगवान्‌को देखना चाहिये। मनसे कह देना चाहिये कि या तो तुम बिना भटके श्रीभगवान्‌के मधुर दिव्य स्वरूपमें तथा उनके लीला-गुण-नामकी स्मृतिमें ही निरन्तर अटके रहो या फिर जहाँ-कहीं भी जाओ, वहीं आगे-से-आगे मिलेंगे तुम्हें मेरे प्रभु ही; क्योंकि वे ही सर्वत्र-सदा हैं। तुम उनको छोड़कर जाओगे कहाँ?

सखीभावसे भजन करना बहुत बड़े अधिकारकी बात है

सखीभावका एक रूप है—भगवान्‌की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति श्रीसीताजी-श्रीराधाजी प्रभृति दिव्य भगवत्स्वरूपा भगवत्प्रेममयी महारानियोंकी अपनेको सखी समझकर भगवान्‌को भजना। यह बहुत ही ऊँचा भाव है। इसमें अपने लिये कहीं किसी भी कामनाका लेश नहीं है। बस, प्रिया-प्रियतमके मिलनेमें ही इनको सुख मिलता है! और उनकी मिलन-लीलामें सहायक होना ही इनका एकमात्र कर्तव्य है। यह भाव व्रजकी महामहिमामयी कतिपय गोपदेवियोंमें था, जिसके कारण वे प्रेममार्गकी आचार्यरूपा मानी जाती हैं। सखीभावके और भी कितने ही स्वरूप महाभाग भक्तोंने माने हैं। परंतु इतना ख्याल रहे कि सखीभावमें सर्वत्र समर्पण, इन्द्रिय-सुखका सर्वथा त्याग और श्रीकृष्ण (भगवान्) में सर्वथा भगवद्भावका निश्चय अवश्य होना चाहिये। यह भाव बहुत ही श्रेष्ठ है। इस भावका साधक जगत्‌के समस्त पदार्थोंको अपने इष्टदेवके प्रति समर्पण कर देता है और उसका उपभोग अपनी इन्द्रिय-तृप्तिके लिये न करके भगवान्‌की सेवाके लिये करता है। संसारसे पूर्ण विराग होनेपर ही इस भावकी साधना सम्भव है। इसमें लहँगे, साड़ी या चूड़ी-जूड़ाकी जरूरत नहीं है; जरूरत है समर्पणपूर्ण सखीभावकी। सखीभावसे भगवान्‌का भजन करनेवाला पुरुष भोजन करनेकी भाँति ही, शास्त्रसे अविरुद्ध अन्यान्य आवश्यक विषयोंका ग्रहण भी करता है; परंतु उसका लक्ष्य इन्द्रिय-सुख-भोग कदापि नहीं रहना चाहिये। वह तो अपनेको स्वयं श्रीभगवान्‌का 'भोग्य' बना चुका रहता है; फिर वह 'भोक्ता' किसका और कैसे होगा? उसके लिये तो जगत्‌में एकमात्र श्रीराम या श्रीकृष्ण ही भोक्ता—पुरुष हैं, उनके अतिरिक्त सभी कुछ भोग्य—प्रकृति है। भोग्य भोगका भोग क्या करेगा? कहनेका तात्पर्य यह है कि सखीभावसे भगवान्‌का भजन करना बहुत बड़े अधिकारकी बात है। सबके लिये यह भाव सम्भव नहीं है। इसलिये यदि इस भावसे कोई महानुभाव भजन करना चाहें और वैसी योग्यता उनमें न हो, तो उन्हें इस पथपर पैर नहीं रखना चाहिये।

भगवान् सदा हमारे रहेंगे ही

तुमने अपने हृदयको मलिन बताया और श्रीभगवान्‌के परम अनन्य प्रेमकी इच्छा प्रकट की, ये दोनों ही बातें आदर्श हैं। अपने हृदयकी मलिनता मनुष्यको ठीक-ठीक दिखायी देने लगे और वह सहन न हो तो भगवत्कृपासे वह सारी मलिनता धुल जा सकती है। और भगवत्प्रेमकी चाह तो अन्तःकरणकी शुद्धिके बिना होती ही नहीं। सारी चाहोंको खा जाती है—भगवत्प्रेमकी चाह। और भगवान् तो—जो उनके प्रेमकी चाह करता है, उसके हाथों बिना मोल बिके रहते हैं। वे उसके सर्वथा अपने बन जाते

हैं, इसमें जरा भी संदेहकी बात नहीं है। प्रेमीको तो कभी इसमें संदेह होता भी नहीं; वह तो नित्य-निरन्तर अपने प्रभुको अपना ही मानता है, अपना ही देखता है, अपना ही अनुभव करता है। भगवान्‌ने हमको सर्वथा अपना लिया है, हम भगवान्‌के हो चुके हैं, भगवान् हमारे हैं—यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। शरीर कहीं रहे, रहे न रहे, भगवान् सदा हमारे रहेंगे ही, हमारे पास रहेंगे ही। उन्हें छोड़ना न हमारे लिये सम्भव है न वे ही हमें छोड़ सकते हैं—यह दृढ़ निश्चय रहे।

प्रभुकी प्रसन्नतामें ही सदा प्रसन्न रहना चाहिये

हमारे सबके मनोंकी बात प्रभु पूरी-पूरी जानते हैं और वे सर्वशक्तिमान् होते हुए भी हमारे परम सुहृद् भी हैं। अतएव वे वही करते हैं, जो हमारे लिये उचित तथा आवश्यक होता है। हमें उनकी कृपा तथा उनके विधानपर विश्वास करना चाहिये। प्रभु हमारे मनकी नहीं होने देते, इसका अर्थ ही है कि वे अपने मनकी करते हैं और हमें उनके मनकी प्रसन्नतामें ही सदा प्रसन्न रहना चाहिये।

अशान्तिका कारण है—भगवान्‌में विश्वासकी कमी

मनमें अशान्ति रहनेका कारण है—भगवान्‌में, उनके मङ्गलविधानमें पूर्ण विश्वासकी कमी। भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास हो जानेपर चित्त सर्वथा शान्त और सुखमय हो जाता है, फिर उसपर किसी भी बाहरी परिस्थितिका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भगवान् हमारी योग्यताकी ओर नहीं देखते, अपने विरदकी ओर देखते हैं

तुमने श्रीमहाप्रभु तथा उनके भक्तोंकी बात लिखी, सो उनका तो स्मरण ही हमलोगोंके लिये कल्याणप्रद है। उन-जैसी स्थिति, निष्ठा, साधना, रति-विरति ······ हमलोगोंमें कहाँ है। कभी प्रभु-कृपासे किसी अंशमें वैसी स्थिति हो जाय तो बड़े ही सौभाग्यका विषय हो। पर हम चाहे कैसे भी हों, भगवान् तो हमारे अकारण सुहृद् हैं ही, तथा उनका सौहार्द हमारी योग्यताकी अपेक्षा नहीं रखता। वह तो सहज, स्वाभाविक ही है। भगवान् हमारी ओर नहीं देखते ········ वे तो अपने विरदकी ओर देखा करते हैं—

'बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ॥'

प्रेमीमें तनिक भी अभिमान नहीं आना चाहिये

तुमपर भगवान्‌की सचमुच बड़ी ही कृपा है, जो तुम्हें उनकी पवित्रतम मधुर लीलाओंके चिन्तन-दर्शनका सौभाग्य प्राप्त है। भगवान्‌की इस महान् कृपाके लिये उनके सदा कृतज्ञ रहो और उनके चरणोंमें अपनेको न्योछावर करके धन्य हो जाओ। तुमने लिखा कि 'लीलामें सांसारिक दृष्टि या किंचित् विकार बिल्कुल नहीं आता' सो यह बहुत ही अच्छी बात है। इस पथके असावधान साधक यहीं गिर जाया करते हैं। मनमें तनिक भी अभिमान नहीं आना चाहिये। यही समझना चाहिये कि यह सब प्रभुकी अहैतुकी कृपाका ही सुफल है, मेरे किसी साधन या पुरुषार्थका तनिक भी नहीं; और वास्तवमें यही बात है भी।

प्रेमीके मनके तीन स्तर

तुम्हारे लीला-दर्शनका क्रम चलता होगा। प्रेम-राज्यमें जब कोई प्रेमी आगे बढ़ जाता है, तब उसके

मनमें प्रेमास्पदका मन आकर उसके मनको मिटाकर अपना एकाधिकार कर लेता है। उस अवस्थामें उसके मनमें प्रतिकूलता नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती।

प्रेमके तीन स्तर हैं—

(१) भगवान्‌का प्रत्येक विधान मङ्गलमय है। वे जो कुछ विधान करते हैं, उसीमें हमारा निश्चय ही परम मङ्गल निहित है—यह समझकर, विश्वास करके प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके प्राप्त होनेपर उसमें मङ्गल देखना। इसमें अपने मङ्गलकी इच्छा वर्तमान है, पर भगवान्‌के विधानमें मङ्गलका विश्वास है।

(२) मङ्गल-अमङ्गलकी कोई कल्पना ही नहीं है, किंतु मनमें अनुकूलता-प्रतिकूलता है और प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिके प्राप्त होते ही वह यह तुरंत मान लेता है—'मेरे प्रेमास्पद प्रभुको इसमें सुख है, अतएव मेरे लिये यही परम सुख है।' इस प्रकार प्रतिकूलता परम सुखमें परिणत हो जाती है। परंतु प्रतिकूलता यहाँ सर्वथा मिटी नहीं है।

(३) प्रतिकूलताकी सत्ता ही नहीं है। जो कुछ भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थिति प्राप्त होते हैं, वे ही सर्वथा अनुकूल हैं। प्रियतमका मन उसका मन बना हुआ अपनी निर्मित प्रत्येक परिस्थितिमें प्रियतमका सुख ही देखता है।

प्रेम, भाव, समर्पण श्रीश्यामसुन्दरमें ही होना चाहिये

शरीरकी कोई चिन्ता ही नहीं करनी चाहिये। यह कच्ची मिट्टीका पुतला तो एक दिन ढहनेवाला है। पीछे दुःख या धोखा न हो, इसलिये शुद्ध-सच्चिदानन्दघन-विग्रह भगवान् श्रीश्यामसुन्दरमें ही प्रेम, भाव, समर्पण होना चाहिये, किसी मानवमें नहीं। —(पुराने पत्रोंसे संगृहीत)

ब्रजराज-कुँवर सौं बेगहि करि पहिचान

मूरख, छाड़ि बृथा अभिमान।
औसर बीति चल्यौ है तेरौ, दो दिन कौ मेहमान॥
भूप अनेक भए पृथिवी पर, रूप-तेज-बलवान।
कौन बच्यौ या काल ब्याल तैं, मिटि गए नाम-निसान॥
धवल-धाम, धन, गज, रथ, सेना, नारी चंद्र-समान।
अंत समै सबही कौं तजि कैं, जाय बसे समसान॥
तजि सतसंग भ्रमत बिषयन में, जा बिधि मरकट स्वान।
छिन भरि बैठि न सुमिरन कीन्हौं, जासौं होय कल्यान॥
रे मन मूढ़ ! अनत जनि भटकै, मेरौ कह्यौ अब मान।
'नारायन' ब्रजराज-कुँवर सौं बेगहि करि पहिचान॥

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

जिह्वाको श्रीभगवन्नामके उच्चारणमें लगाइये

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः॥

मनुष्य-जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि निरन्तर श्रीभगवान्‌को स्मरण किया जाय। उपर्युक्त वचन महर्षि श्रीवेदव्यासके हैं, जिनके वचन त्रिकालसत्य हैं। वे कहते हैं—"शास्त्रमें जितनी विधियाँ हैं अर्थात् 'ऐसा करो' और जितने निषेध हैं, अर्थात् 'ऐसा नहीं करो'—सबका अन्तर्भाव, सबका पर्यवसान इसीमें है कि निरन्तर भगवान्‌को याद रक्खो और कभी भगवान्‌को मत भूलो।"

हमलोगोंने अनन्त जन्मोंमें, अनन्त बार परिवार इकट्ठे किये, अनन्त बार गृहस्थी की, अनन्त बार 'मेरा-मेरा' कहकर अनन्त प्राणियोंका मोहजाल बाँधा; किंतु किसी भी जन्ममें एक बारके लिये भी हृदयसे—सच्चे मनसे श्रीभगवान्‌को 'मेरा' कहकर नहीं पुकारा, वरण नहीं किया। यदि ऐसा किया होता तो हमारी यह दशा नहीं होती। इसलिये इस बार अब भूल न करें। हृदय-की सारी शक्ति लगाकर उनके चरणोंमें अपने आपको समर्पित करनेकी सच्ची चाह जाग्रत् करें। फिर प्रभु कृपामय हैं। वे देखेंगे कि ये सब अपनी नीयतभर बाज नहीं आ रहे हैं, इन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी है; इसलिये अब मैं इन्हें सँभाल लूँ। जिस दिन अन्तर्हृदय-की सच्ची चाहका प्रतिबिम्ब श्रीभगवान्‌के हृदयपर पड़ा कि उसी क्षण प्रतिक्रिया होगी, उनका संकल्प होगा और सब तत्क्षण उनके चरणोंमें पहुँच जायँगे।

अब प्रश्न है कि सच्ची चाह उत्पन्न कैसे हो? संतोंका यह अनुभव है कि मलिन मनमें ऐसी शुद्ध चाह उत्पन्न नहीं होती। इसलिये सबसे पहले मनको शुद्ध करना है। मन शुद्ध करनेका उपाय आजकलके लिये एक ही है। वह उपाय है—भगवद्भजन—भगवत्स्मरण। किंतु मलिन मन भगवद्भजनमें लग जाय, यह भी कठिन है। इसीलिये एक काम करें—जिह्वासे ही भजन करें—लेते जायँ भगवान्‌का नाम। नाममें ऐसी अपूर्व शक्ति है कि अपने आप मन लगने लगेगा। बिना श्रद्धा, बिना प्रेम केवल हठपूर्वक जिह्वाको श्रीभगवन्नामके उच्चारणमें लगाइये। मन लगे तो उत्तम है, नहीं तो कोई परवाह नहीं। यदि जिह्वाने नामका आश्रय नहीं छोड़ा तो सब कुछ अपने आप नामकी कृपासे हो जायगा। श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराजने कहा है—'कोई अमृतके कुण्डमें उतरकर अमृतपान करे अथवा पैर फिसलकर गिर पड़े, अथवा किसीके धक्के देनेपर गिर पड़े, अथवा जान-बूझकर जबरदस्ती उस कुण्डमें गिरा दिया जाय, यदि अमृतका संस्पर्श हुआ तो गिरनेवाला चाहे किसी प्रकारसे गिरा हो, अमर हो जायगा। उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के नामके साथ सम्बन्ध किसी प्रकार भी क्यों न हो, यह सर्वथा दुःखसे छुड़ाकर अत्यन्त आनन्दमय प्रभुके चरणोंमें ले जानेवाला है।'

इसलिये पुनः-पुनः एक ही प्रार्थना है कि वाणीका संयम कर लें। विनोद करके क्या होगा। क्षणभङ्गुर जीवनमें विनोद-हँसी-मजाकका अवसर नहीं है। बहुत रास्ता तय करना है। आवश्यक काम प्रभुकी सेवा समझकर करना है, इसीलिये आवश्यकतानुसार बोलनेकी जरूरत होनेपर बोल लिया करें। ध्यान रखें कि कम-से-कम बोलकर ही काम चला लिया जाय और इसके बाद बाकी जो समय मिले, उसमें निरन्तर भगवन्नामकी ध्वनि होती रहे। धीरे-धीरे या जोर-जोरसे, जैसे भी सम्भव हो एवं सुविधासे हो।

इस बातपर बड़ी गम्भीरतासे विचार करेंगे। समय अनमोल है। जो श्वास गया, वह फिर नहीं लौटेगा। भगवन्नामके बिना गया हुआ श्वास व्यर्थ हुआ। मृत्युका ठिकाना नहीं कि कब आकर यहाँका सब खेल मिटा दे। केवल अपनी ओरसे पूरी शक्ति लगाकर भगवान्‌को पुकारनेकी जरूरत है। चाहे हमारी शक्ति कितनी भी क्षीण क्यों न हो, यदि भगवान्‌के

लगा दी जाय अर्थात् भगवान्‌की शक्तिसे संयुक्त कर दी जाय तो फिर उस क्षीण शक्तिकी ताकत इतनी बढ़ जाती है कि उसके द्वारा हम अपनी बुराइयोंको दूर करके सबसे दुर्लभ भगवच्चरणोंको प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये भगवत्कृपाकी डोरीको अपनी ओर खींचते रहें।

निराश होना प्रभुके प्रेमका तिरस्कार करना है

प्रभुकी बड़ी कृपा है; सच मानिये, हमलोग उनकी कृपामें स्नान कर रहे हैं, डूबे हुए हैं। फिर घबरायें क्यों? यह बात बिल्कुल याद रखनेकी है कि एक क्षणके लिये भी निराश होना, अर्थात् ऐसा सोचना कि 'मेरा क्या होगा' उनकी कृपाका—उनके अहैतुक प्रेमका तिरस्कार करना है। यह कहना हो सकता है—'मैं उन्हें प्रभु मानता तो बात ठीक थी, पर मैं तो उन्हें प्रभु ही नहीं मानता। प्रभु मानकर उनके आश्रित ही नहीं हूँ, फिर वे मुझे क्यों सँभालेंगे?' बहुत ठीक, पर उन्होंने स्वयं गीतामें कहा है—**सुहृदं सर्वभूतानाम्**—'मैं सब भूतोंका सुहृद् हूँ।' क्या हम भूतोंकी श्रेणीमें नहीं हैं? यदि वे '**भजतां सुहृदम्**—भजन करनेवालोंके सुहृद्' होते तो हमारे लिये अवश्य ही निराशाकी बात थी; पर वे तो स्पष्ट कहते हैं कि 'मैं सब भूत-प्राणियोंका सुहृद् हूँ। केवल भजन करनेवालोंका ही नहीं।' फिर उन परम सुहृद्‌को, जो सर्वलोकमहेश्वर भी हैं, हमारी सुधि नहीं होगी? अवश्य होगी, ऐसा दृढ़ विश्वास करें; यह विश्वास दृढ़ हुआ कि सब साधन अपने-आप अनुकूल हो जायँगे। बिना किसी परिश्रमके उनका संयोग पाकर हम कृतार्थ हो जायँगे। यह बात बिल्कुल ठीक होनेपर भी अन्तःकरणकी मलिनता ही इस प्रकार अविश्वासमें हेतु है। इस अविश्वासको आप दूर कर सकते हैं, बड़ी आसानीसे दूर कर सकते हैं, भगवन्नामका आश्रय ले लीजिये। दृढ़ संकल्प करके, उन्हींकी कृपाका आश्रय करके, जीभ निरन्तर नाम ले, इसकी पूरी चेष्टा कीजिये। जबतक ऐसा समझमें नहीं आता है कि निरन्तर नामका स्मरण ही होता रहे, तबतकके लिये नियम कर लीजिये कि कामभर बोलूँगा, कम-से-कम बोलकर काम चलानेकी चेष्टा करूँगा, बाकी कुल समय प्रभुके नाममें बीतेगा। बस, इतना ही मेरे हृदयके प्रेमसे लपेटी हुई प्रार्थना है। जिस दिन नाम-जप निरन्तर होने लग जायगा, फिर कोई कर्तव्य नहीं रहेगा।

जागतिक प्रेमका पर्यवसान श्रीभगवान्‌में होना चाहिये

जिस प्रेमसे हमलोगोंने अपने जीवनके इतने दिन बिताये, उस प्रेमका पर्यवसान श्रीभगवान्‌में होना चाहिये, तभी वास्तविक रूपमें हमलोगोंके प्रेमकी सार्थकता है। जगत्‌में किसीके प्रति भी यदि हमारा प्रेम है, किंतु बीचमें भगवान् नहीं हैं, तो वस्तुतः वह प्रेम दुःखान्त ही होता है। जगत्‌में आज इतना दुःख, दैन्य, निराशा, विश्वासघात, स्वार्थपरता और नृशंसता आदि इसलिये ही बढ़ रहे हैं कि श्रीभगवान्‌से रहित चेष्टा होने लगी है, अर्थात् किसी भी चेष्टाका तात्पर्य भगवान्‌की प्रसन्नता नहीं है। भगवत्प्रसन्नताकी बात तो दूर, 'भगवान् हैं'—यह विश्वास भी अधिकांश मनुष्य खोते चले जा रहे हैं। 'प्रेम'के नामपर आत्मेन्द्रिय-प्रीतिकी वासना काम करती है। इसलिये हमलोगोंको इस सम्बन्धमें बहुत सावधान रहनेकी जरूरत है।

अन्तःकरणकी स्वच्छताके तारतम्यसे ही सत्यके प्रकाशका तारतम्य होता है

महात्मा लोगोंसे आपने न जाने कितनी बार सुना होगा—'अणु-अणुमें प्रभु विराज रहे हैं; ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ वे न हों।' महात्मा लोग केवल

ऐसा कहते हैं, ऐसी बात नहीं है; उन्हें अणु-अणुमें प्रभुके दर्शन होते हैं। पर क्या हमलोग उनके इस कथनका पूरा-पूरा मर्म ग्रहण कर पाते हैं ? यदि ग्रहण कर पाते तो तत्क्षण हमें भी अणु-अणुमें प्रभुका दर्शन होने लग जाता। ऐसा क्यों नहीं होता ? अर्थात् 'अणु-अणुमें प्रभु हैं'—इस कथनका मर्म ग्रहण होकर अणु-अणुमें प्रभुका दर्शन क्यों नहीं होने लग जाता ?

इसका वास्तविक कारण तो प्रभु जानें, पर महात्मा लोग स्थूल कारण बतलाते हैं कि अन्तःकरणमें सामर्थ्य नहीं है कि वह सत्यके मर्मको ग्रहण कर सके। अन्तःकरण मलिन है। अन्तःकरणकी स्वच्छताके तारतम्यसे ही सत्यके प्रकाशका तारतम्य हो जाता है। सत्य वस्तु एक होते हुए भी ग्रहण-शक्तिके तारतम्यसे अनुभवका भी तारतम्य हो जाता है।

असभ्य विज्ञापन

बिस्तरपर पड़े-पड़े और डाक्टरोंके आज्ञानुसार गम्भीर वाचनके टालनेकी कोशिश करते हुए मेरी नजर संयोगवश अखबारोंके विज्ञापन-पृष्ठोंपर पड़ जाती है। वे कभी-कभी बड़ी दुःखदायी शिक्षा देते हैं। अक्सर प्रतिष्ठित पत्रोंमें मैं कामोत्तेजक विज्ञापनोंको देखता हूँ। शीर्षक धोखा देनेवाले होते हैं। एक उदाहरण लीजिये। शीर्षक था—'योग-सम्बन्धी पुस्तकें'; पर विज्ञापनके मजमूनको पढ़नेपर मुझे दस पुस्तकोंमेंसे मुश्किलसे एक किताब ऐसी मिली, जो योगसे कुछ सम्बन्ध रखती थी। शेष सब कामशास्त्र-सम्बन्धी थीं, जिनके नामोंसे यह सूचना मिलती थी कि युवक और युवतियाँ बेखटके विषयानन्द ले सकते हैं और वे उसके लिये गुह्य उपाय बतानेका वचन देती थीं। मैंने और भी कई ऐसी चीजें देखीं, जिनको मैं इन पृष्ठोंमें देना नहीं चाहता। शराब और ऐसी दवाओंके विज्ञापनोंसे, जिनसे युवकोंके चित्त अपवित्र होते हैं, शायद ही कोई अखबार बचा हो। इन अखबारोंके सम्पादक और मालिक तो स्वयं शराब, तम्बाकू आदि बुराइयोंके विरोधी समझे जाते हैं, कभी-कभी वे इन चीजोंके विज्ञापनोंसे मिलनेवाली आयके विरोधी भी नहीं मालूम होते, जो कि स्पष्टरूपसे उन बुराइयोंको बढ़ानेके लिये दिये जाते हैं जिन्हें वे स्वयं टालते हैं। इसके उत्तरमें कभी-कभी यह दलील पेश की जाती है कि सिवा इसके और किसी तरह अखबार चल नहीं सकते। पर क्या हर बातका बलिदान देकर इस तरह अखबार जारी रखना आवश्यक है ? क्या वे जिस भलाईका प्रचार कर रहे हैं, वह इतनी बड़ी है, जो इन हानिकर विज्ञापनोंसे फैलनेवाली बुराईको दबा दे ? हमारे यहाँ अखबार चलानेवालोंकी एक संस्था है। क्या उसके द्वारा अपने लिये एक निश्चित नियम बनाकर इस तरहका लोकमत तैयार करना सम्भव नहीं है, जो एक प्रतिष्ठित पत्रके लिये उन नीति-नियमोंका उल्लङ्घन करना असम्भव कर दे ?

—महात्मा गांधी

मृत्युसे प्रेरणा लें

(लेखक—संत श्रीविनोबा भावे)

मृत्यु एक ऐसी घटना है, जिसके बारेमें मनुष्यको खूब सोचना चाहिये । 'साम्य-सूत्र'में लिखा है—'**मृतिस्मृतिः शुद्धये**—मरणकी स्मृति चित्तशुद्धिके लिये बहुत उपयोगी है'; इसलिये मृत्युका सतत स्मरण होना चाहिये । हम मृत्युका स्मरण टालते हैं, वह टालना गलत है । मृत्यु जीवनकी एक हकीकत है और बहुत लाभदायी है । हम जहाँ जन्म पाते हैं, उसके पहले भी अव्यक्तमें हमारा लंबा जीवन था । यह बीचमें छोटा-सा मुकाम । आगे और पीछे बहुत लंबा काल है । बीचमें यह छोटा-सा काल है । इस छोटे-से कालमें एक बात याद रखें कि किसीके चित्तको कभी भी न दुखायें ।

मरणका सतत स्मरण रहेगा तो यह बात हमेशा हमारे चित्तमें जाग्रत् रहेगी । जीवनमें इतना साध लें कि किसीको दुखायेंगे नहीं । इसको पूर्वजोंने 'अहिंसा' नाम दे दिया—'अहिंसा' यानी किसीके चित्तको दुखाना नहीं । शेक्सपीयरका एक वाक्य है—'अगर मेरा मित्र आज शामको मरेगा, यह मुझे मालूम होता, तो सुबह उसे जो कटु बोला, वह नहीं बोलता ।' मालूम हो कि यह शामको मरनेवाला है, तो सुबह उसके साथ झगड़ा नहीं करेंगे । इसलिये मनुष्यको हमेशा समझ लेना चाहिये कि हमारा या हमारे मित्रका अन्त आज ही हो सकता है । इसलिये किसीके चित्तको न दुखाना हमारा बहुत बड़ा कर्त्तव्य माना जाना चाहिये । हम दान-धर्म करते हैं, वह गौण वस्तु है । मुख्य वस्तु है किसीके चितको न दुखाना ।

दूसरी बात, मरणका स्मरण हमेशा रहेगा, तो उससे चित्त प्रसन्न रहेगा । चंद दिन रहना है; चंद दिनमें हमारी सबके साथ प्रेममय सम्बन्ध बनानेकी कोशिश हमेशा होगी। उसका परिणाम यह होगा कि आत्माके अमरत्वका ख्याल होगा । भागवतमें वचन आता है, उसका आधार उपनिषद्में है । 'परमेश्वर'ने अनेक प्राणी पैदा किये, उसका समाधान हुआ नहीं । आखिर मनुष्य पैदा हुआ और '**मुदमाप देवः**—परमेश्वर संतुष्ट हुआ ।' '**तैस्तैरतुष्टहृदयः**—उसका हृदय असंतुष्ट था ।' '**पुरुषं विधाय**—मनुष्यकी आकृति बनी' और वह प्रसन्न हुआ । क्यों आनन्द हुआ भगवान्को ? क्योंकि वह तनु ऐसी है, जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी शक्ति है । मतलब, इस मानव-शरीरमें पैदा होना और ब्रह्म-साक्षात्कार किये बिना मरना—यह मानव-जीवनका दुरुपयोग हुआ । इसलिये जहाँ मृत्युका स्मरण रहेगा निरन्तर, वहाँ ब्रह्मविद्याका भान रहेगा । हमारा कर्त्तव्य आत्मसाक्षात्कार करना है, वह करके ही हम जायँगे ।

तीसरी बात, उसके लिये रोज साधना करनी चाहिये । वह कौन-सी ? उसको मैंने नाम दिया है, मेरा दिया हुआ नाम है, 'मृत्युका पूर्व-प्रयोग' । जब कोई नाटक करते हैं, तो नाटक उत्तम हो, इसके लिये उसका पूर्वप्रयोग—rehearsal करके देखते हैं । वैसे ही अगर हम चाहते हैं कि मृत्यु अच्छी तरह आये, मृत्युके समय परमात्माका स्मरण हो, हम सावधान रहें, हमारे सारे विकार नष्ट हों तो मृत्युका पूर्वप्रयोग करना चाहिये । निद्रा मृत्युका पूर्वप्रयोग है । रातको निद्राके समय, हम मर रहे हैं—ऐसी भावना कर, परमात्माकी गोदमें लेट रहे हैं, ऐसी भावना करके सो जायँ । यानी सोते समय ध्यान, नामस्मरण करते हुए—मृत्युके समय हम जो करना चाहेंगे, वह करते हुए सो जायँ ।

तीन बातें मैंने कहीं—१. किसीका चित्त न दुखायें; २. आत्मसाक्षात्कारका ख्याल करें; ३. निद्राके समय ध्यान, भगवत्स्मरण करते हुए सो जायँ ।

गोसाईं श्रीविट्ठलनाथजी–४

[लेखक—डा० (सेठ) श्रीगोविन्ददासजी]

(गताङ्क, पृ० ११२९ से आगे)

चौथा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान–गढ़ा (मध्यप्रदेश) में विष्णुताल ।

समय–अपराह्न ।

[बीचमें एक छोटे-से सरोवरका कुछ भाग दिखायी देता है, जो छोटी-छोटी पहाड़ियोंसे घिरा हुआ है । ये पहाड़ियाँ श्याम शिलाखण्डोंकी हैं, जो यत्र-तत्र पेड़-पौधों-लताओंसे आच्छादित हैं । इन हरित पेड़ों आदिके बीच-बीचमें काले शिलाखण्ड दिखायी देते हैं । यह श्याम और हरे रंगका मिश्रण दृश्यको बड़ी रमणीयता दे रहा है । चारों ओर घना जंगल है । इन पहाड़ियों और जंगली वृक्षोंका प्रतिबिम्ब इस सरोवरपर पड़ रहा है, जिससे दृश्य और सुन्दर हो गया है । कुछ गढ़ा-निवासी खड़े हुए बातें कर रहे हैं । सबकी वेश-भूषा उस समयके बुंदेलखंडके कृषकों-की-सी है, परंतु सबके ललाटपर वल्लभ-सम्प्रदायका तिलक और छापे लगे हैं ।]

एक–ऐसा विद्वान्, विचारशील, त्यागी और चमत्कारी व्यक्ति कदाचित् ही कहीं हो ।

दूसरा–हाँ, गोसाईं विट्ठलनाथजीके सदृश महापुरुष देखा क्या, सुना भी नहीं था ।

तीसरा–सम्राट् अकबरको इतना प्रभावित कोई हिंदू तो क्या, मुल्ला या मौलवीतक नहीं कर सका ।

चौथा–हाँ, 'गोसाईं'की सबसे बड़ी हिंदू-पदवी अकबरने उन्हें दी और कितनी बड़ी जागीर श्रीनाथजीके मन्दिरके पीछे लगा दी !

पाँचवाँ–और जागीर स्वीकार करनेपर भी गोसाईंजीने श्रीनाथजीके कृष्णभंडारका ऋण चुकानेके लिये राजा बीरबलसे धन लेना मंजूर नहीं किया ।

दूसरा–इस सम्बन्धमें उनका सिद्धान्त स्पष्ट है । वे अपने पिताकी भाँति दैवी द्रव्य ही लेते हैं । जागीरका धन भी जितना शास्त्रके अनुसार लिया जा सकता है (अर्थात् उपज का छठा हिस्सा), उतना ही कृषकोंसे लेंगे और फिर यह देख लेंगे कि कृषक कोई कष्ट पाकर तो नहीं दे रहा है। उसे वे दैवी द्रव्य मानेंगे । राजा बीरबलका धन उन्होंने इसलिये स्वीकार नहीं किया कि वह न जाने किन मार्गोंसे इकट्ठा किया गया हो ।

पहला–और उनका चमत्कार हम गढ़ा-निवासियोंने तब देखा, जब उनके कुछ चाकरोंने 'इस्तु-इस्तु' कहकर अग्नि माँगी और उनकी यह भाषा समझमें न आनेके कारण किसीने उन्हें अग्नि नहीं दी । उनके ठाकुरजीके कामोंमें बिना अग्निके बाधा पड़ रही थी और विलम्ब हो रहा था; अतः कुछ क्षोभसे उनके मुँहसे निकल गया—'क्या इस गाँवमें अग्नि नहीं है ।' उनके मुखसे यह निकलते ही सारे गढ़ाकी अग्नि बुझ गयी और हाहाकार मच गया । झुंड-के-झुंड नागरिक—यहाँतक कि हमारी महारानी दुर्गावती भी—उनके पास दौड़े हुए आये ।

दूसरा–हाँ, यह बात फैलते देरी नहीं लगी थी कि उनके मुखसे यह निकलते ही कि 'क्या इस गाँवमें अग्नि नहीं है', गाँवकी अग्नि बुझ गयी ।

तीसरा–और जब महारानी तथा नागरिकोंने प्रार्थना की कि 'फिरसे अग्नि जल उठे', तब उनके मुखसे 'तथास्तु' शब्द निकलते ही सब जगह अग्नि प्रज्वलित हो उठी ।

पहला–मैंने कहा न, ऐसा चमत्कारी व्यक्ति कहीं न होगा, जिसके अधीन सृष्टिके पाँचों तत्त्व भी हो ।

चौथा–सुना है कि उनकी धर्मपत्नी, जिन्हें ये लोग 'बहूजी महाराज' कहते हैं, अब नहीं हैं ।

पाँचवाँ–हाँ, जतीपुरामें मैंने देखा है कि श्रीनाथजीकी इस वैभवशाली सेवामें बहूजी महाराजका कितना अधिक हाथ था ।

दूसरा—अब हमारी महारानीके आग्रहसे पुरानी बहूजी महाराजके स्थानपर नयी बहूजी आ जायँगी।

पहला—वे फिरसे विवाह करना स्वीकार करें, तब तो।

तीसरा—इस अग्निकाण्डकी घटनाके कारण हमारी महारानीपर उनका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। वे उनकी दीक्षासे दीक्षित हो गयी हैं और जितना प्रभाव महारानीपर उनका पड़ा है, उससे कम प्रभाव महारानीका भी उनपर नहीं है। अतः वे महारानीका आग्रह नहीं टाल सकेंगे।

पहला—नहीं, महारानीपर उनका जितना प्रभाव है, उतना महारानीका उनपर नहीं। तुम्हें पता नहीं है, महारानीने सोमवती अमावस्यापर जिन १०८ गाँवोंको दान करनेका संकल्प किया था, उन गाँवोंको महारानी जब उन्हें भेंट करने गयीं, तब उस भेंटको उन्होंने स्वीकार नहीं किया और कहा कि 'दानमें दी हुई वस्तु हम ग्रहण नहीं कर सकते।' उन्होंने वे गाँव यहाँके भट्टोंको बाँट दिये। अतः महारानीकी दूसरा विवाह करनेके सम्बन्धमें यह विनती वे स्वीकार करेंगे, यह कैसे माना जाय।

(नेपथ्यमें कुछ हल्ला होता है। नागरिकोंका ध्यान उस ओर आकर्षित होता है।)

कुछ नागरिक—(एक साथ) देखो-देखो, गोसाईंजी इधर ही पधार रहे हैं।

दूसरे कुछ नागरिक—(एक साथ) हमारी महारानी भी कदाचित् उनके साथ आ रही हैं।

(गोसाईंजीका कुछ वैष्णवों और महारानी दुर्गावतीके साथ प्रवेश। गोसाईंजी उपरना और धोती ही धारण किये हैं। नागरिक उस कालके बुन्देलखंडके कृषकोंकी-सी वेशभूषामें हैं, पर सबके ललाटपर वल्लभ-सम्प्रदायका तिलक और छापे लगे हुए हैं। पहलेवाले नागरिक आगन्तुकोंके साथ मिल जाते हैं। महारानी अधेड़ अवस्था और बलिष्ठ शरीरकी ऊँची-पूरी सुन्दर महिला हैं। रंग गोरा है। उनका उस कालका मर्दाना सैनिक वेष है। दो भृत्य सरोवरके एक चौड़े घाटपर दो आसन बिछाते हैं। विट्ठलनाथजी एक आसनपर बैठते हैं। दुर्गावती दूसरे आसनको हटाते हुए भूमिपर ही यह कहते हुए बैठती हैं—'जयके सम्मुख मैं आसनपर बैठूँ ?')

गोसाईंजी—महारानीजी ! प्राकृतिक दृष्टिसे आपका यह गढ़ा क्षेत्र सचमुच ही बड़ा सुन्दर है।

दुर्गावती—आपके यहाँ पधारनेसे इसकी सुन्दरता निखर गयी है।

गोसाईंजी—कितनी रमणीय पहाड़ियाँ ! कितना मनोरम वन और बीच-बीचमें स्फटिक मणिके सदृश श्वेत निर्मल जलसे भरे हुए ये सरोवर। व्रजमण्डलसे ही यहाँकी प्राकृतिक छटाका मिलान हो सकता है।

दुर्गावती—परंतु जय ! उस क्षेत्रमें तो आनन्दकंद भगवान् कृष्णचन्द्रकी लीलाएँ हुई थीं। वह सौभाग्य इस क्षेत्रको कहाँ !

गोसाईंजी—हाँ, यह अन्तर तो अवश्य है।

दुर्गावती—फिर, कृपानाथ ! आज भी वहाँ श्रीनाथजीके रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण ही विराजे हैं। मेरा तो दुर्भाग्य है कि अबतक मैं श्रीनाथजीके दर्शन नहीं कर सकी; परंतु अब यदि कृपानाथने मेरा प्रस्ताव स्वीकार कर लिया तो सतत ही मुझे श्रीनाथजीके दर्शन मिलते रहेंगे।

गोसाईंजी—(मुस्कराते हुए) और यदि मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार न हुआ तो आप जतीपुरा नहीं आयेंगी ?

दुर्गावती—यह मैं थोड़े ही कहती हूँ। परंतु मैंने सुना है कि रुक्मिणीजीका श्रीनाथजीकी वर्तमान वैभवशाली सेवामें कितना हाथ था। मैं चाहती हूँ कि उनके स्थानपर मेरे राज्यकी ही एक सुशील कन्या पहुँचे और श्रीनाथजीकी सेवामें रुक्मिणीजीके लीलामें पधारनेसे जो एक प्रकारकी शून्यता-सी आ गयी है, वह भर जाय।

गोसाईंजी—पर, महारानी ! यह सम्भव ही कैसे है। पिताश्री विवाह ही नहीं करना चाहते थे; परंतु सम्प्रदायके हितके लिये संतानकी आवश्यकता है और उन्हें इसके लिये विवाह करना चाहिये, यह उन्हें पाण्डुरङ्ग विट्ठलनाथजीकी आज्ञा हुई। केवल इसी कारण उन्होंने विवाह किया। मेरे तो छः पुत्र और चार पुत्रियाँ हैं।

दुर्गावती—परंतु जय ! बहूजी महाराजके लीलामें पधारनेके पश्चात् क्या आपने यह अनुभव नहीं किया कि श्रीनाथजीकी सेवामें वह रस कुछ सीमातक शुष्क हो गया है, जो बहूजी महाराजके रहते हुए वह रहा था। मुझे आपकी शरणमें आये बहुत समय नहीं बीता है; पर इस अल्पकालमें ही

आपने मुझे श्रीनाथजीकी उस सेवाका वृत्त बताया है; जो सेवा आप दोनों मिलकर करते थे। आपने मुझे महाप्रभुजीके चौरासी वैष्णवोंमेंसे कइयोंकी तथा आपके स्वयंके शिष्योंमेंसे कइयोंकी वार्ताएँ बतायी हैं। इनमें जिन्होंने दम्पतिके रूपमें सेवा की थी और जो आज भी दम्पतिके रूपमें सेवा करते हैं, उनकी सेवा एकाकियोंसे कहीं अधिक रसमयी होती है। महाप्रभुजीने यदि सम्प्रदायकी परम्पराके हेतु संतानके लिये विवाह किया था तो आपको भगवत्सेवामें रसकी उत्पत्तिके लिये फिरसे विवाह करना चाहिये। भगवान्‌की कृपासे आपकी शारीरिक सम्पत्ति भी अभी विवाहके योग्य है।

गोसाईंजी—नहीं-नहीं, महारानी! आप यह आग्रह छोड़ दें। रुक्मिणीका स्थान मैं किसी अन्य कुमारीसे भरूँ, यह मेरे लिये सम्भव नहीं है।

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—वही।

समय—संध्या।

[एक ओरसे कुछ और दूसरी ओरसे अन्य नागरिकोंका प्रवेश।]

एक—अरे, सुना, सुना तुमने—पद्मावतीने प्रतिज्ञा की है कि यदि वह विवाह करेगी तो गोसाईंजीसे, अन्यथा आजीवन कुमारी ही रहेगी।

दूसरा—हाँ, अभी-अभी सुना। पद्मावतीके पिताके लिये तो बड़ी भारी समस्या हो गयी।

तीसरा—किसी भी पिताके लिये इससे बड़ी कौन-सी समस्या हो सकती है।

चौथा—और गोसाईंजी किसी प्रकार भी विवाह करनेके लिये स्वीकृति नहीं दे रहे हैं।

पाँचवाँ—मेरा तो विश्वास है कि श्रीनाथजीकी जो इच्छा होगी, वही होगा।

पहला—हाँ, इसे तो मैं भी स्वीकार करता हूँ।

दूसरा—और श्रीनाथजीकी इच्छा यदि यह न होती कि गोसाईंजीका फिरसे विवाह हो तो यह प्रश्न ही न उठता।

तीसरा—श्रीनाथजी उस कालकी सेवा देख चुके हैं, जिस कालमें गोसाईंजी और रुक्मिणीजी मिलकर उनकी सेवा करते थे।

(नेपथ्यमें कुछ हल्ला होता है।)

कुछ नागरिक—लो, गोसाईंजी फिर इसी अपने प्रि[य] स्थलपर पधार रहे हैं।

दूसरे कुछ नागरिक—और विवाहका यह प्रश्न [भी] कदाचित् अब हल हो जायगा।

(गोसाईंजी हर्षानीजी तथा कुछ वैष्णवोंके साथ प्रवेश करते हैं। सरोवरके उसी घाटपर उनका आसन बिछता है, जिसपर पहले दृश्यमें बिछा था। गोसाईंजी अपने आसनके आधे भागपर बैठते हैं, शेष आधे भागपर हर्षानीजी। अन्य वैष्णव भूमिपर बैठते हैं।)

हर्षानी—इस प्रश्नके निर्णयका भार आपने, जय! मुझपर रख दिया था। मैंने सारे विषयपर गम्भीरता-पूर्वक विचार किया है।

गोसाईंजी—जो भी निष्कर्ष आपने निकाला हो, वह मुझे बता दीजिये। मैंने तो कह ही दिया था कि जो निर्णय आप करेंगे, वह मुझे स्वीकृत होगा। पिताश्री जिस प्रकार मुझे आपको सौंप गये थे, उसे देखते हुए मैं अन्यथा कर ही क्या सकता था। आजपर्यन्त आपके किसी मन्तव्यके विरुद्ध मैं चला हूँ?

हर्षानी—जय! आपकी जो कृपा और जो विश्वास मुझपर है, क्या मैं वह जानता नहीं? जैसा मैंने निवेदन किया, सारे प्रश्नपर मैंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया। महारानी दुर्गावतीका एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है। उनका प्रस्ताव है। श्रीनाथजीकी सेवासे भी इस प्रस्तावका निकटका सम्बन्ध है और फिर अभी-अभी मैंने सुना कि उस कन्याने तो निश्चय किया है कि यदि वह विवाह करेगी तो आपसे, अन्यथा कुमारी ही रहेगी। मैं इसी निश्चयपर पहुँचा हूँ कि यह विवाह आपको विवश होकर करना ही होगा।

गोसाईंजी—(आँखोंमें आँसू भरकर, गद्गद स्वरमें) मैंने कहा ही है कि आप जो भी निर्णय करेंगे, मैं उसके अनुसार चलूँगा; परंतु, हर्षानीजी! क्या मैं किसी प्रकार भी रुक्मिणी-को भूल सकता हूँ? उनके स्थानपर किसी अन्य कुमारीको बिठाना········।

हर्षानी—कृपानाथ! जीवनमें कई ऐसे प्रसङ्ग आते हैं, जब भावनाओंको एक ओर रख, छातीपर पत्थर रखकर

कर्तव्यका पालन करना पड़ता है। श्रीनाथजीकी ऐसी ही इच्छा है कि आप फिरसे विवाह करें।

लघु यवनिका (क्रमशः)

ऊखल-बन्धन-लीला

(लेखक--अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

ब्रिटिश शासनकालमें बंगालके सुप्रसिद्ध रङ्गमञ्चपर 'नीलदर्पण' नाटकका अभिनय किया जा रहा था। उस दृश्यमें नीलके व्यापारी गोरे साहब गरीब जनतापर कैसा अत्याचार-अनाचार करते हैं, यह दिखलाया गया था। दर्शकोंकी श्रेणीमें विश्व-विश्रुत विद्वान् श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर बैठे हुए थे। अभिनय देखते-देखते उन्हें यह विस्मृत हो गया कि यह नाटक है। वे क्रोधसे तिलमिलाकर मञ्चपर चढ़ गये और अंग्रेज बने अभिनेताको जूतेसे पीटने लगे। पर्दा गिरा। वे शान्त होकर अपने स्थानपर बैठ गये। नाटकके व्यवस्थापकने मञ्चपर आकर दर्शकोंके सम्मुख भाषण किया कि आज हमारी अभिनय-कला धन्य-धन्य हो गयी, विद्यासागर-जैसे महान् विद्वान् इस दृश्यके नाटकपनको भूल गये और सत्य समझकर अभिनेता नटपर प्रहार कर बैठे। धन्य है कला और धन्य है दर्शककी तन्मयता।

प्रपञ्चका विस्मरण और भगवान्में तन्मयता यही लीलाका प्रयोजन है। यह प्रपञ्चका लय करती है और भगवान्में लीन करती है। जहाँ स्वयं भगवान् ही लीलानायक हों, उस लीलाकी पूर्णतामें कोई संदेह नहीं हो सकता। वहाँ प्रपञ्चका विस्मरण हो जाय, भगवान्की भगवत्ता भी भूल जाय, हम उनकी लीलामें तन्मय हो जायँ, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि भगवान्की लीलाके प्रतीकार्थ निकाले जा सकते हैं; परंतु वस्तुतः भगवान्की लीला प्रतीक नहीं होती। निराकारका साकार प्रतीक होता है। परोक्षका प्रत्यक्ष प्रतीक होता है। अज्ञातका ज्ञात प्रतीक होता है। परंतु जो सर्वात्मा, सर्वस्वरूप है, वह लीलाधारी और लीला भी है। अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। सुनार भी वही, सोना भी वही। अतएव भगवान्की लीला भगवत्स्वरूप ही होती है और उसमें तन्मयता भगवत्स्वरूपापत्ति ही होती है। उस रस-कल्लोलमें उन्मज्जन-निमज्जनके अतिरिक्त उसका कोई अन्य प्रयोजन या फल नहीं होता। भगवान् स्वयं सब फलोंके फल हैं। उनकी लीला भी वैसी ही है। वह गौण हो और उसका फलितार्थ मुख्य—यह कल्पना ठीक नहीं है। उच्छलित रसका ही नाम 'लीला' है। यह भगवन्मय भगवद्विलास है। अविद्यामूलक बन्धनकी निवृत्तिके अनन्तर ही इसका यथार्थ अनुभव होता है।

आइये, मेरे साथ गोकुलमें चलिये। भले ही आप अन्तर्देशके निभृततम प्रदेशमें प्रवेश करके नितान्त शान्त स्थितिमें विराजमान हों, आइये, एक बार एकान्त कान्तारका शून्य प्रदेश छोड़कर, जहाँ गौएँ—इन्द्रियाँ घूम-फिरकर विषय-सेवन करती हैं, वहीं, उन्हींके बीचमें, उन्हीं विषयोंमें, निराकार नहीं साकार, अचल नहीं चञ्चल, कारण नहीं कार्य, विराट् शिशु, गम्भीर नहीं स्मितसुन्दर, जगन्नियन्ता नहीं यशोदोत्सङ्ग-लालित, साक्षात् परब्रह्मका दर्शन करें। यह ब्रह्मका प्रतीक नहीं है, साधन करके ब्रह्म नहीं हुआ है, अविद्यानिवृत्ति करके ब्रह्मानुभूति नहीं प्राप्त की है, यह ब्रह्मका अवतार नहीं है, यह आचूल-आपादमूल शिशु ब्रह्म है—इसके दर्शन कीजिये।

अभी-अभी यशोदा माता इस शिशुके मुखमें विश्व-दर्शन करके चकित-विस्मित हो चुकी हैं। श्याम ब्रह्मने सोचा—कहीं मेरी माँ मुझे सिंहासनपर बैठाकर चन्दन-माल्य अर्पित न करने लगे, आरती न उतारने लगे, इसलिये 'मैया-मैया' कहकर गलेमें दोनों हाथ डाल दिये, हृदयसे मुख लगा दिया। माता सब कुछ भूलकर दुग्धाकार परिणत हार्दस्नेह-रसका पान कराने लगी। पहलेका विश्वरूप विस्मृतिके गर्भमें लीन हो गया। ऐश्वर्य अन्तर्हित हो गया। शैशव-माधुरी अभिव्यक्त हुई। इसमें प्रपञ्चका विस्मरण और शिशुब्रह्ममें परमासक्ति अनिवार्य है। यह सुख स्वर्गके समान परोक्ष नहीं है, ब्रह्मानुभूतिके समान शान्त नहीं है, विषय-संसर्गके समान आपातरमणीय एवं विनाशी नहीं है। इस रसमें देश, काल एवं वस्तुका लोप हो जाता है। ऐसा ही हुआ। माँ सब कुछ भूलकर इसी रसमें डूब गयीं।

राजा परीक्षित् यह लीला सुनते-सुनते मृत्युकी विभीषिका और मोक्षकी अभीप्सासे मुक्त हो गये। उन्होंने अपने हृदयकी लालसा प्रकट की—'यह सुख-सौभाग्य जो देवकी-वसुदेवके लिये भी अलभ्य है, इन्हें कैसे मिला? मुझे कैसे मिलेगा?' शुकदेव मुनि मुस्कुराये—'बस, इतनेमें ही आश्चर्यचकित हो गये? यशोदा माताने इस शिशु ब्रह्मको गाय बाँधनेकी रस्सीसे ऊखलमें बाँध दिया था। इतने भक्त-वत्सल, भक्तोंके इतने अपने। वस्तुतः प्रेम भक्तके हृदयमें नहीं होता, वह ईश्वरके हृदयमें होता है। ईश्वर जब भक्तके परवश होकर विवशताकी माधुरीका आस्वादन करता है, तब उसे आत्मसुखसे भी कुछ अधिक अनुभूति होती है। जहाँ विवशतामें भी मिठासका अनुभव हो, वहाँ प्रेमरस छलकता है। ईश्वरका यह बन्धन भक्तवात्सल्यका अनुपम उदाहरण है।

इसकी उपलब्धि कैसे होती है? जो साधनसे मिलता है, वह सीमित पारिश्रमिक होता है। जो स्वामीकी कृपासे मिलता है, वह कब मिले, कब न मिले—यह निश्चित नहीं रहता। तब भगवद्रसका आस्वादन कैसे हो? न साधन, न कृपा। एक तीसरा मार्ग है। वह है—महापुरुषका प्रसाद। यह ठीक है कि ईश्वरके अधीन सब कुछ है; परंतु वह ईश्वर प्रेमके अधीन है। प्रेमका धनी है महापुरुष और प्रेमका प्रेप्सु है ईश्वर। महापुरुष भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके हृदयमें प्रेमरसका संचार करके उसके द्वारा ईश्वरकी रस-पिपासाको तृप्त करते हैं। अतएव महापुरुष जब ईश्वरसे कह देते हैं कि तुम इस भक्तके साथ ऐसी लीला करो, ईश्वरको वही करना पड़ता है और इस विवशतामें ईश्वरका प्रेमरस उच्छलित होने लगता है। महापुरुषके प्रसादसे यह रस केवल भक्तको ही नहीं, अभक्तको भी मिल सकता है। इसके उदाहरण हैं—कुबेरके उद्दण्ड एवं जडभावापन्न पुत्र यमलार्जुन।

नित्यसिद्ध भक्तोंकी चर्चा छोड़ दें। नित्यसिद्ध यशोदा-नन्दका दर्शन दुर्लभ है। ब्रह्मा हैं महापुरुष। उनके कृपा-प्रसादके पात्र हैं द्रोण वसु एवं उनकी पत्नी धरा। इनका स्नेह सिद्ध हुआ ब्रह्माकी कृपासे। इन्होंने शिशु ब्रह्मको प्रेम-बन्धनमें बाँध लिया। यशोदाने उन्हें रस्सीसे ऊखलमें बाँधा। कृष्णके साथ बँधे ऊखलने जड वृक्षोंका उद्धार कर दिया। यह महापुरुषके प्रसादकी परम्परा हुई। और भी देखिये, महापुरुष नारदके मनमें उद्दण्ड, सुरापायी, अनाचारी, परस्त्रीसमासक्त यक्षराजकुमारोंपर करुणाका उदय हुआ। उन्होंने उनमें स्वधर्म (भगवद्भक्ति) का संचार कर दिया। उन्हें प्रपञ्च-विस्मृतिके रूपमें जड वृक्ष-योनि और हृदयमें भगवत्स्मृति प्राप्त हुई, यह 'अनुग्रह' है। श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई—यह 'प्रसाद' है। इस प्रकार प्रपञ्च-विस्मरण, भगवत्स्मरण, भगवद्दर्शन महापुरुषके कृपा-प्रसादसे ही प्राप्त होते हैं।

आइये यहाँ गोकुल गाँवके तीन लोकसे न्यारे पथमें। यहाँ स्थान-विशेषमें सर्वोपादान परमेश्वरका आविर्भाव है। दामोदर-मास कार्तिकमें अर्थात् कालविशेषमें लीलाका अवतरण है। यशोदा मैयाकी गोदमें रूपका अवतरण है। सब कृष्ण-ही-कृष्ण हैं।

भक्त माता यशोदाका दर्शन कीजिये। वह समग्र रसके निधान भगवान् श्रीकृष्णको सतृष्ण बनाकर अपना स्नेह-सार आस्वादन करनेके लिये उत्सुक बना देती है। उसमें ऐसी क्या विशेषता है? देखिये, स्वयं आनन्दगेहिनी नन्दगेहिनी है, परंतु अपने शिशुके प्रति इतना प्रेम है कि जान-बूझकर गृहदासियोंको दूसरे कर्मोंमें लगा देती है। अपने हाथों श्रीकृष्णके लिये विशेष रूपसे निश्चित पद्मगन्धा गायके दूधसे जमे दहीका मन्थन करती है। माँ अपने हृत्पिण्ड वात्सल्य-भाजन शिशुके लिये अपने हृदयका स्नेह तो देती ही है, उसका मूर्तरूप दूध भी पिलाती है। यदि नवनीत खिलाना हो तो दूसरोंके हाथका निकाला हुआ नहीं, अपने हाथका निकाला हुआ हो। माता अर्थात् मूर्तिमान् स्नेह। माताके अतिरिक्त और किसीके हृदयका भाव शिशुके लिये (दूध-जैसी, ठोस वस्तुका रूप ग्रहण नहीं करता। माता यशोदाका कर्म—दधि-मन्थनरूप कर्म कृष्णके लिये है। उसके हृदयमें स्मरण कृष्णकी बाललीलाओंका है। स्मरण संगीतकी रसमयी धाराके रूपमें वाणीसे मूर्छित हो रहा है। कर्म, मन और वाणी—तीनों कृष्णके लिये। भक्तिका यही स्वरूप है। कर्ममें उद्देश्य भगवान् हो, अर्थात् उसके लिये किया जा रहा हो। स्मरणका विषय भगवान् हो। वाणीके शब्द भगवत्सम्बन्धी हों। यशोदा मूर्तिमती भक्ति है। इसे अपने शरीर और शृङ्गारका विस्मरण है। स्वेद झलकता है मुखपर। मालतीके पुष्प सिरसे झड़कर पाँवोंमें गिरते हैं। शुकदेवजी इसकी झाँकीका दर्शन करते हैं। सचमुच यह भक्तिमाता ही रसके निधान भगवान्‌में अविद्यमान रसका दान करती है। भगवान् स्वतन्त्र हैं, वे भक्तके परतन्त्र हो जाते हैं।

ऐसा यन्त्र-मन्त्र भक्तिमाताके जीवनमें ही होता है। माता न होती तो भक्तवश्यताका रस कहाँसे मिलता ?

हाँ, तो माता दधि-मन्थन कर रही है। उसके मनमें लालसा है कि लालाके शयनसे उठनेके पूर्व सद्लोनी (सद्योनवनीत) निकाल लूँ। परंतु मन्थन करे, कृष्णको खिलानेके लिये लालसा करे और वे सोते रहें—यह भगवत्स्वरूपके अनुरूप नहीं है। 'तांस्तथैव भजाम्यहम्'—इस स्वभावके अनुगुण ही कुछ करना चाहिये। माँका स्नेह देखकर कृष्णका हृदय स्नेहसे भर गया। हृदय द्रवित हुआ। शरीरमें रोमाञ्च, मुखपर मुसकान, नेत्रोंमें चमक, साथ ही माँके पास पहुँच जानेकी ललक। अँगड़ाई ली, हाथोंसे नेत्र मल लिये, कपोलोंपर कज्जल फैल गया। माँ-माँ बोले; पलंगपर पाँव लटकाकर बैठ गये। बिना हाथ-मुँह धोये माँके पास पहुँचकर पल्ला पकड़ लिया—'ऊँ-ऊँ, मैं दूध पीऊँगा।' माँ मन्थनमें लगी रही। शिशु अपना। दूध छातीमें। मक्खन आनेवाला ही है, कहीं बैठ न जाय। ध्यान नहीं दिया। शिशु ब्रह्म धरतीमें लोट-पोट होने लगा। रोने लगा। फिर भी ध्यान न देनेपर उसने मथानी पकड़कर मन्थनका निषेध कर दिया। सारे कर्म, सभी साधन तभी-तक हैं, जबतक परमेश्वर न मिले। वह नवनीतोंका नवनीत श्याम ब्रह्म आ गया तो मन्थनसे क्या लाभ ? प्रयोजन-पूर्तिसे साधनका बाध हो जाता है। नदीके पार पहुँच गये, अब नावका क्या प्रयोजन ? यशोदा माताने उपनिषत्सुधाब्धिमें आहिण्डन करनेवाली विवेककी मथानी मानो छोड़ दी। अपने हृदयसे लगे शिशु ब्रह्मको दूध पिलाने लगी।

आचार्य वल्लभ इस प्रसङ्गका रसास्वादन करते हुए कहते हैं कि ऊखल-बन्धनका अत्यन्त विस्मयकारी चरित्र भक्तिको निश्चल करनेके लिये है। इसके द्वारा भगवान्‌के स्वरूप, कृपालु स्वभाव और दया-मिश्रित ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है। यदि भक्तोंका भगवान्‌में और भगवान्‌का भक्तोंमें परस्पर निरोध हो जाय तो उभय-सम्बन्धसे वह दृढ़ हो जाता है। जीवका ज्ञान-वैराग्य और भगवान्‌का अनुग्रह—इन्हींसे भगवान्‌का वशीकार सिद्ध होता है। भक्ति 'नवधा' प्रसिद्ध है। दसवीं 'गुणातीत' है। अथवा भक्तिके नौ अङ्ग हैं और उनमें अनुगत दसवीं भक्ति 'स्नेह' है। अतः इसमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका समावेश हो जाता है। जीव जब ईश्वरसे प्रेम करने लगता है, तब एक बार भगवान् भागते हैं। इससे आसक्ति और दृढ़ हो जाती है।

यशोदा गुणगान और दधि-मन्थन—दोनों साथ-साथ करती हैं। बाललीलाएँ अनेक हैं। उनका गान मुख्य है। दधि-मन्थन गौण है। यदि वह शीघ्र समाप्त हो जाय तो गानके रसमें बाधा पड़े। केवल दही नहीं मथा जाता, क्रिया-शक्ति भी मथी जाती है। इसीसे विषय (दही) और क्रिया (मन्थन) के सम्बन्धसे स्मृति परिपुष्ट होती है। परंतु यशोदाने इस गानामृतके आस्वादनमें भी स्वसुखरूप स्वार्थ देखा। अतः उसको गौण करके वे पूरी शक्तिसे दधि-मन्थनमें लग गयीं। भले ही अपने शरीरको पीड़ा पहुँचे—स्वेदादि हों, भगवद्भोग्य स्तन्य-पयोरसका भी निरोध करना पड़े, तद्गत देवताका निरोध करना पड़े, आन्तर स्नेहधारामें प्रतिबन्ध उपस्थित हो; फिर भी यशोदा दही मथती जा रही हैं। उनकी यह तत्परता देखकर मुक्त पुरुषोंके हृदयमें भी क्षोभ होता है। वे भी अपने स्नेह-लोभका संवरण नहीं कर सकते। सोचने लगते हैं—'हाय ! यह सुख-सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हुआ।' यशोदा माताके सिरसे मालतीके पुष्प गिर रहे हैं—इसका अभिप्राय बताते हुए आचार्य कहते हैं कि माताका केशपाश सिद्ध स्थान है। वहाँ मालती अर्थात् ब्रह्मविद्याकी स्थिति है। मालती=मा+अलम्=लक्ष्मीसे परिपूर्ण जगत् 'मालम्' है; उसका अतिक्रम करके जो रहे, वह 'मालती' अर्थात् ब्रह्मविद्या। वह भी भले चली जाय, परंतु यशोदा दही मथेगी।

भगवान्‌का आना और दर्शन देना, यह क्रिया और ज्ञान—दोनोंका समन्वय है। सगुण-साकार दर्शनमें यह समन्वय अपेक्षित है। इसीसे बाह्य और आन्तर उभयविध वृत्तियोंका निरोध होता है। हरि दुःखहारी हैं। वे माताका श्रम-दुःख निवारण करनेके लिये मथानीको पकड़ते हैं अर्थात् करणका निरोध कर देते हैं। यह मातृनिष्ठ और स्वनिष्ठ प्रीतिके युगपत् उदयके लिये युक्तिविशेष है। प्रीति जग गयी। भगवान् अङ्कातीत होनेपर भी अङ्कपर आरूढ़ हुए। माताकी प्रीति और भगवान्‌के अनुग्रहका यह स्पष्ट निदर्शन है। कृष्ण माँका हार्द-रस-स्नेह पी रहे हैं और माता पुत्रके स्मित-विकसित मुखारविन्दके मधुका पान कर रही है। उभय-निष्ठ रस ही पूर्ण होता है, एकाङ्गी रस अपूर्ण होता है।

श्रीजीव गोस्वामीके मतमें उलूखल-बन्धन-लीला पूर्वलीला एवं उत्तरलीलासे विलक्षण है। मृद्भक्षण एवं ग्वालिनोंकी तालीके साथ नृत्यसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परंतु श्रीधर स्वामीने इस लीलाकी यह संगति लगायी है कि मुखमें विश्वदर्शनसे माताके मनमें जो विस्मयका उदय हुआ था, उसकी शान्तिके लिये प्रत्येक रस्सी दो अंगुल न्यून है, यह दिखाकर अपनी पूर्णता अभिव्यक्त कर दी गयी। श्रीभक्ति-रसायनकार भक्तकवि श्रीहरिसूरिने कहा है कि मुखमें नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका दर्शन हो जानेपर भगवत्सेवाके कार्यमें भक्तकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जो कर्मानुष्ठानके समय भी भगवत्स्मरण करता है, उसे भगवान् सुलभ होते हैं। माताके वस्त्राभूषणके वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि जो भगवान्के श्रवण-वर्णन, ध्यान-गान एवं सेवा-स्नेहमें संलग्न है, उसको संसार-त्यागकी आवश्यकता नहीं है। वह अपने विहित सांसारिक विषय-भोगोंके साथ भी भगवान्को प्राप्त कर सकता है। भगवान् हृदयके स्तनद्वारा छलकते हुए रसको देखते हैं और उसका पान करना चाहते हैं। वे बाह्य नैवेद्यरूप नवनीतकी ओर नहीं देखते। भक्तिकी पूर्णतामें कर्मत्यागका प्रत्यवाय नहीं है। जब अमृतस्वरूप 'मैं' प्राप्त हो गया, तब भूसी कूटनेसे क्या लाभ? यशोदाने सारे कर्म छोड़ दिये। वे स्मित-सुन्दर मुखका पान करने लगीं और श्रीकृष्ण दूधका।

शिशुका नैसर्गिक पेय है—माताका स्तन्य। वह भगवद्भोग्य—श्रीकृष्ण-पेय पय हो चुका है। अब प्रश्न है—दूसरोंके पयको भगवद्भोग्य बनानेका। यह भी महापुरुष ही कर सकते हैं। अतएव मन्थनस्थानके बाह्यदेशमें परिपक्व होनेके लिये अग्निपर गायका दूध चढ़ाया गया है। अग्नितापसे उसमें (उफान) आया। भागवत हृदयका स्वभाव यह है कि वह आत्मसुखका संकोच अथवा परित्याग करके भी अन्य सुखको समृद्ध करे। इस प्रसङ्गमें माताने आत्मसुखका ही नहीं, भगवत्सुखमें भी बाधा डाली। वह श्रीकृष्णको छोड़-कर वेगसे जलते दूधको सँभालनेके लिये दौड़ पड़ी। दूधमें उफान क्यों आया? मन्थनानुरोधका परित्याग करके भगवदनुरोधके अनुसार दुग्धद्वारा उनके आप्यायनमें प्रवृत्त यशोदा उसकी उपेक्षा करके दुग्ध-रक्षणमें क्यों प्रवृत्त हुई?

सब कुछ भगवदात्मक ही है। भगवद्धामके जडवत् प्रतीयमान पदार्थ भी चेतन ही होते हैं। भूमि, लता, वृक्ष—सब भावरूपसे अभिव्यक्त सद्ब्रह्म हैं। पशु-पक्षी, गाय-गोपालके रूपमें चिद्ब्रह्म है। आलम्बन-विभाव यशोदा-कृष्ण, श्रीदामादि सखा एवं कृष्ण, गोपी-कृष्ण आनन्दब्रह्म हैं। अग्निपर संतप्त होता हुआ दुग्ध भी भाव-संवृत चेतन है। वह अनेक जन्मोंमें तप करता हुआ भगवद्भोग्य दूधके रूपमें परिणत हुआ है। अब भी तप कर रहा है। उसके मनमें तीव्र अनुतापकी ज्वाला प्रदीप्त हो उठी—'हाय! हाय! सामने मेरे स्वामी हैं। उनके नाम-स्मरणसे भी जीवोंका पाप-ताप भस्म हो जाता है, परंतु मैं अभागा उन्हींके सामने संतप्त हो रहा हूँ। मुझे धिक्कार है। अब मैं आगमें कूदकर आत्महत्या कर लूँगा।' दूधके इस संकल्पको जानकर भगवान् श्रीकृष्णने ही यशोदाको उसपर दृष्टिपात करनेकी प्रेरणा दी। संस्कृतमें **'यशोदयेक्षितम्'** पद है। इसका अर्थ यह भी है कि अपने यश और दयाको आज्ञा दे दी कि इसको सँभालो। भक्त-रक्षणके बिना मेरा यश अधूरा, दया निकम्मी है। अन्यथा यशोदा श्रीकृष्णमुखारविन्द का पान छोड़कर दूधके लिये क्यों दौड़ती[1]?

दूधको अपनी भूल ज्ञात हुई। यशोदाका भगवद्दर्शन छूट गया। भगवान्के स्तन्य-पानमें बाधा पड़ी। दूध है तो तपस्वी, परंतु प्रियतमको सुख पहुँचानेके उल्लासातिशयमें इतना तन्मय हो गया कि इससे उन्हींके सुखमें बाधा पहुँच जायगी—इसका उसे ध्यान नहीं रहा। उसे अपने मर्यादातिक्रमणका ज्ञान हुआ। अपनेको धिक्कारा उसने। लज्जा-संकोचका उदय हुआ उसमें। मुँह लटक गया उसका। अर्थात् पात्रमें वह अपने स्थानपर बैठ गया[2]।

वह अधिक तपस्या करके अपने पूर्ण परिपाककी प्रतीक्षा करने लगा। भगवान्के सम्मुख या भागवतका दृष्टिपात होनेपर प्रतीक्षाकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। भगवान् किसीकी परीक्षा नहीं लेते; क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। जो न जानता हो, वह परीक्षा करके जाने। वे जैसे अपनेको अभिव्यक्ति देकर भक्तोंमें प्रकट होते हैं, वैसे ही भक्तोंके

---

१. यन्नामस्मृतिरप्यलं विधुनुते संतापमस्य प्रभो-
रग्रे तापमुपैमि तद्धिगिति मां मत्वाग्नियाने पयः।
उद्युक्तं भवतीत्यवेक्ष्य हरिणा सर्वेश्वरेणैव तत्
सत्यानन्दयशोदयेक्षितमिहाकारीति मन्यामहे ॥

२. उन्मार्गवर्तनेन हि पररसभङ्गो मयाधुनाकारि।
धिङ् मामिति किं त्रपया पयस्तदासीदधोमुखं सद्यः ॥
(भक्तिरसायन)

भावको अभिव्यक्ति देकर साधकोंके लिये आदर्शकी व्यञ्जना करते हैं। अब भगवान्‌के मनमें विचार-परम्पराका समुदय हुआ। माँ भक्तको बचानेके लिये दौड़ी, यह ठीक है; परंतु मुझे छोड़कर क्यों गयी? बड़े-बड़े ऋषि-मुनि 'सोऽहं'-भावनाके द्वारा भी मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वही मैं इसका भाव देखकर शिशु बना। यह दूधके लिये मुझे छोड़कर जाती है। अवश्य इसपर क्रोध करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि यशोदा श्रीकृष्णको छोड़कर चली जायँ और श्रीकृष्ण चुपचाप पड़े रहें तो मातृस्नेहकी अभिव्यक्ति नहीं हुई और यदि श्रीकृष्ण कुछ उपद्रव करें तथा माता उसके लिये शिक्षा—दण्डका प्रयोग न करे तो पुत्र-स्नेहकी अभिव्यक्ति नहीं हुई। स्नेह एक भाव है, जो वस्तु, क्रिया अथवा शब्दके वाहनपर आरूढ़ होकर व्यवहारमें उतरता है। निष्क्रियतामें केवल असङ्गता ही अभिव्यञ्जित होती है। वहाँ लीला-रस नहीं। स्नेहके प्रवाहमें बाधा पड़नेपर कोपका जन्म हुआ।

यहाँ यह ध्यान देनेयोग्य है कि सबसे प्रथम श्रीकृष्णके मनमें स्तन्य-पानकी 'कामना' अवतीर्ण हुई। कामनाके बाद स्तन्यका 'भोग' हुआ। भोगमें अतृप्ति हुई—यह 'लोभ' है। लोभके प्रतिहत होनेपर 'कोप'का उदय हुआ। भाण्ड-भञ्जनकी क्रिया 'हिंसा' आयी। झूठे आँसू—'दम्भ'का आना रोदनात्मक रुद्रके आगमनकी सूचना है। बासी माखनकी चोरी 'तृष्णाधिक्य' है। भय, पलायन और बन्धन उसके उत्तरभावी परिणाम हैं। कामनासे बन्धनपर्यन्त ईश्वरकी लीला है। उसके द्वारा जीवके लिये सावधान रहनेकी प्रेरणा है। भगवान् सर्वात्मक हैं। वे स्तेनों और तस्करोंके भी पति हैं। स्त्री-पुरुष, कुमारी-कुमार, युवा-वृद्ध—सब उनके स्वरूप हैं। जो उनको पहचान लेता है, वह सब भावोंमें, सब रूपोंमें उनका दर्शन करता है। अच्छा, तो अब इस लीलामें प्रवेश किया जाय।

एक जिज्ञासाका उदय होता है—'श्रीकृष्ण हार्द-स्नेह-रसका पान कर रहे हैं और यशोदा दर्शन-रसका। फिर वे उन्हें छोड़कर क्यों चली गयीं?' इसके समाधानमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका कहना है कि 'आप यह शङ्का सर्वथा मत कीजिये कि यशोदाकी श्रीकृष्णपर जितनी ममता है, उससे अधिक दूधपर है; क्योंकि प्रेमकी परिपाटी ही ऐसी है।'

> **तन्नक्ष्यपेयादिषु काप्यपेक्षता**
> **यया पुनः सोऽपि समेत्युपेक्ष्यताम्।**
> **प्रेम्णो विचित्रा परिपाट्युदीरिता**
> **बोध्या तथा प्रेमवतीभिरेव या॥**

'अपने प्रियतमके भक्ष्य, पेय आदि उपयोगकी वस्तुओंमें कोई ऐसी अपेक्षा होती है, जिसके कारण कभी-कभी प्रियतम भी उपेक्षाका पात्र हो जाता है। यह प्रेमकी विचित्र परिपाटी है। इसे कोई-कोई प्रेमवती ही समझ सकती है।'

दूसरी बात यह है कि यशोदा माता परम भागवत हैं। उनकी करुणापूर्ण दृष्टिसे ही दूध भगवद्भोग्य एवं भगवत्-तादात्म्यापन्न हो सकता था। ऐसे अवसरोंपर भगवान्‌को एक ओर रखकर भी भक्तकी ओर देखना पड़ता है। यशोदा माता यदि एक-दो बार दूधको गर्म-ठंडा न करतीं तो वह भगवत्प्राप्तिके योग्य नहीं हो सकता था।

किसी-किसीने ऐसी उत्प्रेक्षा की है कि जब यशोदा माताकी दृष्टि अपने उत्सङ्गमें अमङ्ग क्रीड़ा करते हुए श्याम-सुन्दरसे हट गयी और दूधपर चली गयी, तब वहाँ आसक्ति होना युक्तियुक्त ही है। भगवद्विमुखताके परिणामका यह निदर्शन है। इसमें संसारासक्त स्त्रियोंके स्वभावका भी स्फुटीकार है। श्रीहरिसूरिका 'भक्ति-रसायन'में कहना है कि 'महान् सत्पुरुषका तिरस्कार करके क्षुद्र वस्तुके प्रति आदर-भावका होना स्वाभाविक है। कृष्णको छोड़कर दुग्धको सँभालना यही सूचित करता है।'

गुमान गोबिंदहि भावत नाहीं

अवनीस अनेक भए अवनीं, जिन के डर तें सुर सोच सुखाहीं।
मानव-दानव-देव सतावन रावन घाटि रच्यो जग माहीं॥
ते मिलये धरि धूरि सुजोधनु, जे चलते बहु छत्र की छाहीं।
बेद-पुरान कहैं, जगु जान, गुमान गोबिंदहि भावत नाहीं॥

—तुलसीदास

गुरु नानककी अमृत वाणी

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

कूड़ु राजा, कूड़ु परजा, कूड़ु सभु संसारु

सतिगुरु मिलै सु मरणु दिखाए ॥
मरण रहण रसु अंतरि भाए ।
गरब निवारि गगनपुरु पाए ॥ १ ॥

जीवन और मृत्यु ।
एक सिक्केके दो पहलू ।
जीवनसे हमें प्यार है ।

मौतका हम नाम भी नहीं सुनना चाहते । मरणके हम दर्शन भी नहीं करना चाहते । पर हम लाख चाहें, मौतसे हमारा पिण्ड छूट नहीं सकता ।

मौत तो हमारे भाग्यमें लिखी ही हुई है; जो पैदा होता है, उसे एक दिन मरना ही है ।

और सब बातें संदेहास्पद हो सकती हैं, पर मृत्युके बारेमें तो किसीको संदेह होता ही नहीं । अंग्रेजीमें कहावत ही है—

'It is as sure as death.' (फलाँ बात उतनी ही निश्चित है, जितनी मृत्यु) ।

मरणु लिखाई आए नहीं रहणा

ब्रह्माने जिस दिन हमारे भाग्यकी रचना की, उसी दिन उसमें लिख दिया कि फलाँ दिन फलाँ घड़ी इस शरीरका अन्त हो जायगा ।

मरणु लिखाई आए नहीं रहणा ॥

जब एक दिन मरना ही है, इस जगत्से जाना ही है, 'सभ दुनिया आवण-जाणिआ' ही है, तब अक्लमंदी तो इसीमें है कि हम जीवन और मृत्युके रहस्यको समझ लें और मृत्युकी तैयारी करें ।

मृत्युके भयसे मुक्त होनेका एक ही रास्ता है और वह है—

हरि-जप जापि रहणु हरि-सरणा

प्रभुका नाम जपना और प्रभुकी शरणमें रहना ।

लोग शवयात्राके साथ 'रामनाम सत्य है' कहते चलते हैं, 'सत श्रीअकाल' कहते चलते हैं, 'हरि बोल, हरि बोल' कहते चलते हैं; पर यह पुकार तो पहले ही ल[illegible] है । चोला छूट जानेपर, देह छूट जानेपर देहीको [illegible] क्या लाभ ।

और तमाशा कैसा बढ़िया है !

हम कंधेपर अरथी रखे हैं, 'राम नाम सत्य'की आ[illegible] लगा रहे हैं, 'सत श्रीअकाल'की आवाज लगा रहे हैं, सोचते यह जा रहे हैं कि इस आवाजको सुनकर या [illegible] मरनेवाले व्यक्तिका परलोक सुधरेगा या दूसरे सुननेवालोंका कल्याण होगा । हमें मानो उससे कोई वास्ता ही नहीं । [illegible] मानो कभी मरना ही नहीं । हमें मानो मृत्युकी चेताव[illegible] आवश्यकता ही नहीं । कैसे अचम्भेकी बात है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम् ।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥
(महाभारत, वनपर्व ३१३ । ११

रोज मर रहे हैं लोग, रोज लोग यमालयकी यात्रा [illegible] रहे हैं—यह देखते हुए भी बचे हुए लोग सोचते हैं [illegible] हमें कभी मरना ही नहीं । इससे बढ़कर आश्चर्यकी [illegible] क्या बात होगी ?

पर कबूतर भले ही आँख मूँदकर बैठा रहे, बिल्ली [illegible] पकड़कर खा ही जायगी ।

मीचु बिलइआ खइहै रे ॥
ऐसो यह संसार पेखना रहन न कोई पइहै रे ॥

कंधे पै हवा के है मकाने हस्ती

'बिस्मिल' साहबने हस्तीकी रुबाइयोंमें बहुत बढ़ि[illegible] खाका खींचा है मौतका—

एक एक से कहती है ज़बाने हस्ती,
बेकार हैं सब नामोनिशाने हस्ती ।
सौदा नहीं, सौदा न करो अय 'बिस्मिल',
बढ जायगी एक रोज़ दुकाने हस्ती ॥
करता हूँ बयाँ, सुनिये बयाने हस्ती,
कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं शाने हस्ती ।

इस साँस की बुनियाद ही क्या अये 'बिस्मिल',
कंधे पै हवा के है मकाने हस्ती ।।

सचमुच क्या बुनियाद है इस साँसकी ! किस घड़ी, किस क्षण यह साँस रुक जायगी, कौन कह सकता है । फिर तो यही कहते बनेगा—

करते हैं वज़ू आबे फ़नासे 'बिस्मिल',
होती है अदा आज नमाज़े हस्ती ।

जीवनकी यह आखिरी घड़ी कब आ जायगी, अन्तिम वेला किस समय, किस दिन आ जायगी—कौन जानता है ।

इसकी तैयारी न करना सबसे बड़ी बेवक़ूफ़ी है । पर हम सब इसी बेवक़ूफ़ीमें फँसे हैं । दुनियाकी, नश्वर जगत्‌की चकाचौंधमें फँसे हुए हैं । मौतको सामने देखते हुए भी इस मौतसे दूर भागते हैं ।

चिलिमिलि बिसीआर दुनीआ फानी

हम जानते हैं कि दुनियाका यह तमाशा पता नहीं, किस क्षण बंद हो जायगा; पता नहीं, किस घड़ी यह खेल खत्म हो जायगा; पता नहीं, किस वक्त यह पर्दा गिर जायगा; पर हम उसी खेलमें भूले हुए हैं—

चिलिमिलि बिसीआर दुनीआ फानी ।
कालूबि अकल मन गोर न मानी ॥
मन कमीन कमतरीन तू दरीआउ खुदाइआ ।
एकु चीजु मुझै देहि अवर जहर चीज न भाइआ ॥
पूराब खाम कूजै हिकमति खुदाइआ ।
मन तुआना तू कुदरति आइआ ॥
सग नानक दीवान मस्ताना नित चड़ै सवाइआ ।
आतस दुनीआ खुनक नामु खुदाइआ ॥

यह दुनिया फ़ानी है, नश्वर है; पर इसकी झलमलाहट, इसकी जगमगाहट, इसकी चमक हमें आकृष्ट करती है । हम इसकी नश्वरता देखकर भी देखना नहीं चाहते ।

हे खुदा ! हे परमेश्वर ! हे अकाल पुरुष ! कहाँ मैं कमतरीन, कहाँ तू उदारोंसे भी उदार ! तू ठहरा दयासागर, करुणा-सागर, कृपासागर ।

मुझपर तो तू बस एक इनाइत कर दे । मुझे केवल एक चीज दे दे । वह चीज है—तेरा अपना प्यारा नाम ।

और सब चीजें मेरे लिये ज़हर हैं, विष हैं । वे मुझे अच्छी नहीं लगतीं । वे मुझे नहीं भातीं ।

मेरा यह घड़ा, मेरा यह कूजा है तो मिट्टीका, है तो कच्चा; पर यह पूर-आब है; आबसे, पानीसे भरपूर है—इसमें जीवन—जल भरा है ।

यह सब तेरी हिकमत है, हे परमपुरुष ! हे खुदा ! मुझे सारी शक्ति, सारी ताक़त तुझसे ही मिली है । मैं हूँ तेरे दरवाजेका कूँचा (झाड़ू) मुझे तेरा ही नशा छाया है । दिन-दिन उसकी मस्ती सवायी होती चलती है ।

हे खुदा ! हे ईश्वर ! हे अकाल पुरुष ! हे वाहि गुरु ! यह संसार, यह दुनिया, यह जगत् आतिश है, आग है । सब लोग इसकी लपटोंमें, इसकी ज्वालामें जल रहे हैं । इसे शीतल करनेवाला, इसे ठंडा करनेवाला है—तेरा नाम ।

मनुष्य जब इस प्रकार जगत्‌की नश्वरताको समझकर प्रभुकी शरण लेता है, प्रभुके नाममें अपनी लौ लगाता है, तभी होता है उसका उद्धार ।

पर हमारे मनमें तो जगत्‌की नश्वरता बैठती ही नहीं । हमारी आँखोंके सामने रोज़ ही यह खेल खेला जा रहा है, पर हमारे कानोंपर जूँतक नहीं रेंगती । रोज़ हम देखते हैं कि राजा और रईस, छोटे और बड़े, ग़रीब और अमीर—सभी मौतके घाट उतर रहे हैं; पर हमें रत्तीभर भी चेत नहीं होता ।

से तन होवहि छार

केते नचहि मंगते गिड़ि मिड़ि पूरहि ताल ।
बाजारी बाजार महि आइ कढहि बाजार ॥
गावहि राजे राणीआ बोलहि आल पताल ।
लखटकिआ के मुंदड़े, लखटकिया के हार ।
जितु तनि पाईअहि नानका से तन होवहि छार ॥

हजारों भिखारी, हजारों मँगते गलियोंमें नाच-कूदकर भीख माँग रहे हैं, बाजारमें अपना खेल दिखा रहे हैं । राजा-रानीकी तरह गा रहे हैं, ऊट-पटाँग बोल रहे हैं । लाख टकेकी अँगूठी पहने हैं वे और लाख टकेके हार पहने हैं । पर क्या होता है इस सारे नाच-कूदसे ? क्या होता है इस सारे वैभवसे ? जिस शरीरको इतना सजाया जाता है, वह पलभरमें ख़ाक हो जाता है । मिट्टीमें मिल जाता है यह शरीर !

मुइआ साथि न जाई

मरनेपर कोई किसीका साथ नहीं देता । सारा वैभव, सारा माल-खजाना, सारा महल यहीं पड़ा रह जाता है । एक कौड़ी भी साथ नहीं जाती ।

कहा सु खेल तबेला घोड़े, कहा भेरी सहनाई ।
कहा सु तेगबन्द गाडेरड़ि, कहा सु लाल कवाई ।
कहा सु आरसीआ मुह बंके ऐथै दिसहि नाही ॥

कहाँ हैं घोड़े, कहाँ है घुड़साल ? कहाँ है भेरी, कहाँ है शहनाई ? कहाँ है तलवार, कहाँ है रथ ? कहाँ हैं लाल वर्दीवाले सिपाही ? कहाँ है आरसी, कहाँ है आरसीमें देखे जानेवाले सुन्दर चेहरे ? हमें तो इनमें कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता ।

इहु जगु तेरा, तू गोसाई ।
एक घड़ी महि थापि उथापे, जरु वंडि देवै भाई ॥

हे स्वामी ! हे मालिक ! हे परवरदिगार ! यह सारा जगत् तेरा है । तू ही इसका मालिक है ! एक घड़ीमें तू इसे बनाता है, दूसरी घड़ीमें इसे बिगाड़ता है; पलभरमें सृष्टि करता है, पलभरमें प्रलय । एककी दौलत दूसरोंको बाँट देता है । ऐसा चलता है तेरा खेल ।

कहाँ सु घर दर मंडप महला, कहाँ सु बंक सराई ।
कहाँ सु सेज सुखाली कामणि, जिसु वेखि नीद न पाई ।
कहाँ सु पान तँबोली हरमा, होइआ छाई भाई ॥

कहाँ हैं वह घर, वह द्वार, वह महल ! कहाँ हैं वे बाँकी सरायें ? कहाँ हैं वे रूपसी कामिनियाँ, परम सुन्दरियाँ, जिन्हें देखे बिना चैन नहीं पड़ता था, आँखोंकी नींद हराम हो जाती थी ? कहाँ है उनकी सुखाली सेज ? कहाँ है वे पान, जिनसे होठ रँगे जाते थे ? कहाँ हैं वे बीड़ा लगानेवाले तमोली ? कहाँ हैं वे पर्दानशीन सुन्दरियाँ ! सभी तो खाकमें मिल गये ।

इसु जर कारण घणी विगुती, इनि जर घणी खुआई ।
पापा बाझहु होवै नाही, मुइआ साथि न जाई ॥

जिस धन-सम्पत्तिके लिये लाखों लोग बर्बाद होते हैं, इतनी दुर्गति सही जाती है, इतनी ख्वारी होती है, कहाँ है वह धन ? बिना पापके पैसा इकट्ठा नहीं होता, बिना अन्यायके सम्पत्ति संचित नहीं होती । धन पानेके लिये, सम्पत्ति जुटानेके लिये मनुष्य कौन कौनसे पाप नहीं करता ! पर वही सम्पत्ति, वही धन, वही माल-खजाना अन्त समयमें पड़ा रह जाता है । मरनेपर एक कौड़ी भी साथ नहीं जाती ।

बिखु माइआ चितु मोहिआ ।

मनुष्य कामिनी-काञ्चनके आकर्षणमें पड़कर जीवन नष्ट करता है । मायाका सुनहला जाल उसे गर्तकी ओर ढकेलता है । उसके अमृतमय जीवनमें घोल देता है—

बिखु माइआ चितु मोहिआ भाई चतुराई पांत
चित महि ठाकुरु सचि वसै भाई जै गुर गिआनु

मायाके विषने, मायावी पदार्थोंने हमारे चित्तको लिया है । हमारी सारी चतुराई खो गयी है । हमारी अक्लमन्दी समाप्त हो गयी है । ठगिनी मायाके इस तभी बचा जा सकता है, जब गुरुका ज्ञान प्राप्त हो । चरणोंमें स्थान पाकर ही इस ठगिनीसे बचा जा सकता है ।

बड़े-बड़े साधु-संन्यासीतक मायाके जालसे मुक्त नहीं कर पाते । कबीर साहब कहते हैं—

माया तजूँ तजी नहिं जाय ॥
फिरि-फिरि माया मोहि लपिटाय ॥

नाना रूप हैं इस मायाके । बार-बार आकर मनुष्यसे लिपट जाती है—

राजु मालु रूपु जाति जोबनु पंजे ठग ।
एनी ठगीं जगु ठगिआ किनै न रखी लाज ॥
एना ठगन्हि ठगसे जि गुर की पैरी पाहि ।
नानक करमा बाहरे होरि केते मुठे जाहि ॥

राज्य, धन-सम्पत्ति, रूप, जाति, यौवन—ये हैं ठग । पद-प्रतिष्ठा, अधिकार, सम्पत्ति, रूप, यौवन, आदिके चक्करमें मनुष्य जीवनभर पड़ा रहता है । दुनिया इन ठगोंके चक्करमें पड़ी है । मनुष्यको बुरी तरह बेइज्जत कर देते हैं ये ठग । इन्होंने किसीकी प्रति बची नहीं रहने दी । जिसे देखिये, वही इन ठगोंके चंगुलमें फँसा नजर आता है ।

इन ठगोंसे केवल वही बच पाता है, वही इन ठगोंको अपने वशमें कर पाता है, जो गुरुकी शरणमें चला जाता है । अभागे हैं वे, जो इस मायाचक्रमें पड़े भवसागरमें गोते खाते रहते हैं ।

मनु माइआ बँधिओ सर जालि ।
भटि बटि बिआपि बद्धिओ विखु नालि ॥
जो आँजै सो दीसै कालि ।
कारजु सीधो रिदै सम्हालि ॥

जालकी तरह मायाने हमें चारों ओरसे लपेट लिया है। विषयोंके विषका हम रात-दिन पान करते रहते हैं। विषय-विकारोंके कीचड़में हमेशा फँसे रहते हैं। जो कोई इस जगत्में आया है, वह इस चक्करमें फँसे बिना नहीं रहता। हृदयमें प्रभुको बसा लेनेसे ही इस चक्करसे छुटकारा मिल पाता है।

कूड़ु सभु संसारु।

इस मायाको समझनेकी आवश्यकता है। यह झूठ है, असत्य है, क्षणभङ्गुर है, भ्रम है, धोखा है, छल है—इस तथ्यको हम जबतक नहीं समझते, तबतक हमारा कल्याण नहीं।

कूड़ु राजा, कूड़ु परजा, कूड़ु सभु संसारु ।
कूड़ु मंडप, कूड़ु माड़ी, कूड़ु बैसणहारु ॥
कूड़ु सुइना, कूड़ु रुपा, कूड़ु पैन्हणहारु ।
कूड़ु काइआ, कूड़ु कपड़ु, कूड़ु रूपु अपारु ॥

यह सारा संसार मिथ्या है, भ्रम है, धोखा है, नश्वर है, नाशवान् है। राजा भी मिथ्या, प्रजा भी मिथ्या। आकाशचुम्बी महल, आलीशान इमारतें, ऊँची अट्टालिकाएँ—सभी मिथ्या हैं, नश्वर हैं। उनमें रहनेवाले, उनके निवासी भी नश्वर हैं। सोना भी नश्वर है, चाँदी भी। सोना-चाँदी पहननेवाले व्यक्ति भी नश्वर हैं। काया नश्वर है, कपड़ा नश्वर है, रूप नश्वर है।

कूड़ु मीआ, कूड़ु बीबी, खपि होए खारु ।
कूड़ि कूड़ै नेहु लागा, विसरिआ करतारु ॥
किसु नालि कीचै दोसती सभु जगु चलणहारु ।
कूड़ु मिठा, कूड़ु माखिउ, कूड़ु डोबे पूरु ॥
नानक वखाणै बेनती तुधु बाझु कूड़ो कूड़ु ॥

मियाँ भी नश्वर है, बीबी भी। पति और पत्नी दोनों नश्वर हैं। इस जालमें फँसकर मनुष्य ख्वार हो रहा है। मिथ्या मिथ्याको प्यार कर रहा है। झूठा झूठेके चक्करमें पड़ा है। रात-दिन उसीके मोहमें फँसा है और उसने अपने स्रष्टाको भुला रखा है। नश्वर प्राणी और पदार्थोंके मोहमें फँसकर मनुष्य अपने सिरजनहारको भुला बैठा है।

जब सारा जगत् चलनहार है; जानेवाला है, नश्वर है, क्षणभङ्गुर है, अस्थायी है, न टिकनेवाला है, तब फिर यहाँ किससे दोस्ती की जाय? किससे मैत्री की जाय? इस परिवर्तनशील जगत्में किस नाशवान् पदार्थसे, किस क्षणभङ्गुर प्राणीसे लगन लगायी जाय?

परम तत्त्व तो एक ही है। एक ही तो परम सत्य है और वह है परमेश्वर, प्रभु, वाहिगुरु। वही टिकनेवाला है। उसे छोड़कर और किसीसे मैत्री करनेका अर्थ ही क्या है? सारे मीठे पदार्थ सारे मधुमय विलास, सारे भोक्ता, मधु और मक्खियाँ—सभी तो नाशवान् हैं। सारे आकर्षण-विकर्षण, सारे मौज-मजे व्यर्थ हैं, झूठे हैं, क्षणस्थायी हैं; वे यों दिखायी तो पड़ते हैं, फिर भी हैं मिथ्या, धोखा हैं, जाल हैं। इस मायाके चक्करमें लोग डूब रहे हैं।

प्रभुको छोड़कर और सब कुछ मिथ्या है, क्षणभङ्गुर है, नाशवान् है।

मायाकी मोहनीमें फँसे हुए हम सब रात-दिन कुत्तोंकी तरह भौंक-भौंककर मरे जा रहे हैं—

कूकर सूकर कहीअहि कूड़िआरा ।
भउकि मरहि भउ भउ भउ हारा ॥
मनि तनि झूठे कूड़ु कमावहि ।
दुरमति दरगह हारा हे ॥

हम कुत्तोंकी तरह, सूअरोंकी तरह पापमें रात-दिन रचे-पचे रहते हैं। भयभीत रहते हैं। भौं-भौं करके मरते रहते हैं। हमारा मन भी झूठा है, तन भी। रात-दिन हम झूठके ही व्यापारमें डूबे रहते हैं। दुर्बुद्धिमें फँसे हुए हम प्रभुके दरबारमें जा ही नहीं पाते।

नतीजा क्या होता है? यही कि हमारा सारा जीवन व्यर्थ ही बर्बाद हो जाता है।

हीरे-जैसा जनमु है, कउड़ी बदले जाइ

रैणि गवाई सोइ कै, दिवसु गवाइआ खाइ ॥
हीरे-जैसा जनमु है, कउडी बदले जाइ ॥

सो-सोकर हम रात गँवा देते हैं, खा-खाकर दिन। खाना-पीना, सोना, भोग-विलास करना ही हमारे जीवनका लक्ष्य रह जाता है। जिस जीवनसे हम परमप्रभुको प्राप्त कर सकते हैं, उसी जीवनको हम भोग-विलासमें समाप्त कर देते हैं। हीरेको कौड़ियोंके मोल लुटा देते हैं।

पलभरके लिये भी हम गम्भीरतासे इस बातपर विचार नहीं करते कि हमें करना क्या था, हम कर क्या रहे हैं !

किया के आइआ, के जाइ किआ, फासहि जम-जाला ।
डोलु बधा कसि जेवरी आकासि पताला ॥

हम इस जगत्‌में क्या लेकर आये थे और क्या लेकर जा रहे हैं ! क्या हम कभी सोचते हैं इस प्रश्नपर ! यमराज-के फंदेमें फँसे हुए हम रात-दिन भवसागरमें गोते खाया करते हैं और अपने जीवनको कौड़ीके मोल लुटाते चलते हैं । कैसी दयनीय हालत है हमारी ।

प्रश्न है कि इस चक्रसे छुटकारेका भी कोई उपाय है ?

उपाय एक ही है—प्रभुके चरणोंकी शरण के परमप्रभुके, अकाल पुरुषके, वाहिगुरुके चरणोंमें आत्म-समर्पण करना ।

सद्गुरुकी कृपासे प्रभुचरणोंमें स्थान मिलता है। उससे माया-मोहका चक्र छूटता है और ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जिससे घट-घटमें उस साँईकी झाँकी देखनेको मिलती है, घट-घटमें उस प्रभुके दर्शन होने लगते हैं । गुरुकी कृपासे ही मरणका सच्चा दर्शन होता है। जीवनका सदुपयोग करनेके लिये, मायाके बन्धनसे मुक्त होनेके लिये यही एकमात्र उपाय है कि हम उस परमप्रभुसे यह प्रार्थना करें कि 'हे मालिक ! तू हमें अपने चरणोंमें स्थान दे ।'

एक सम्मान्या बहनके पत्रके उत्तरमें नम्र निवेदन

सम्मान्या बहनजी !

सादर भगवत्स्मरण ।

आपका कृपापत्र मिला । यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि 'कल्याण' पढ़ते रहनेसे आपके मनमें छुटपनसे ही प्रभुपर विश्वास जम गया है और सुख-दुःख—दोनोंमें ही आप भगवान् शंकरको पुकारती रहती हैं । भगवान्‌की आपपर बड़ी कृपा है । बिना उनकी कृपाके उनपर विश्वास नहीं जमता । मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप इस विश्वासको बढ़ाती रहें ।

(१) विश्वास बढ़ानेका अमोघ उपाय यही है कि आप सुख और दुःख—दोनोंमें ही उनकी कृपाका दर्शन करें । भगवान् हमारे-आपके—नहीं-नहीं—जीवमात्रके परम सुहृद् हैं । गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इसकी घोषणा की है । भगवान्‌से बढ़कर हमारा कोई भी हितू—सच्चा हित चाहनेवाला, निरस्वार्थ हित चाहनेवाला नहीं है । अपने आत्मासे बढ़कर अपना हितू क्या कोई दूसरा हो सकता है ? और भगवान् हमारे आत्मा—हमारे आत्माके भी आत्मा, अपने-से-अपने हैं । अपने आत्मासे बढ़कर हमें कोई प्यार नहीं कर सकता । अमृतके सेवनसे चाहे मृत्यु हो जाय, परंतु भगवान् कभी—त्रिकालमें भी हमारा अहित करना तो दूर रहा, सोच भी नहीं सकते । वे अंशी हैं, हम उनके अंश हैं । वे हमारे पिता हैं, हम उनकी प्यारी संतान हैं । किसी भी दृष्टिसे वे हमारा अहित कभी कर ही नहीं सकते ।

फिर हमारा वास्तविक हित किसमें है, इसे हम नहीं जान सकते । कारण, हमारी बुद्धि सीमित है, वह केवल वर्तमानको देखती है; हमारे आगे-पीछे क्या है, इसे समझने-की शक्ति उसमें नहीं है । जिसमें हम अपना हित समझते हैं, उसमें हमारा अहित भरा हो सकता है और जो स्थिति हमें अत्यन्त प्रतिकूल लगती है, वही हमारे लिये परिणाममें अत्यन्त हितकर सिद्ध हो सकती है । बालक आगको चमकीली वस्तु समझकर छूना चाहता है, तेज धारके छुरे या चाकूको लेकर उससे खेलना चाहता है । माता उसके रोनेकी परवा न करके उसे आगसे दूर हटा ले जाती है, चाकू अथवा छुरा यथासम्भव फुसलाकर और किसी प्रकार भी न माननेपर जबर्दस्ती छीन लेती है । शरीरमें फोड़ा हो जानेपर उसे निर्ममताके साथ योग्य सर्जनके पास ले जाकर चिरवा डालती है, चाहे बच्चा कितना ही उछले-कूदे, चिल्लाये-छटपटाये । इसी प्रकार भगवान्‌रूपा हमारी परम स्नेहमयी जननी—संसारकी समस्त माताओंके सम्मिलित हृदयमें लहरानेवाला वात्सल्य जिनके असमोर्ध्व वात्सल्य-रूपी अनन्त महोदधिकी एक बूँदके समान भी नहीं ठहरता—आवश्यक होनेपर हमारे परम हितके लिये हमारी प्यारी संतानको छीन लेती है, हमारा धन हर लेती है, हमारी सम्पत्ति कुर्क करवा देती है, हमें मृत्युका ग्रास बना देती है, बाढ़, अकाल, महामारी, अग्निकाण्ड आदिके द्वारा संहार लीला करती है; परंतु उनकी इस क्रियामें हमारा

परमहित ही छिपा रहता है, जिसे हम अज्ञानी जीव समझ नहीं पाते और भगवान्‌को अन्यायी और क्रूर कहकर कोसने लगते हैं। परंतु भगवान् हमारे कोसनेकी परवा न करके हमारे हितके लिये हमारा ऑपरेशन (शल्यक्रिया) कर ही डालते हैं। विश्वमोहनीके स्वयंवरमें भगवान्‌से उनका रूप माँगनेपर भी उन्होंने देवर्षि नारदको अपना रूप नहीं दिया और अपनी कामनामें बाधा पड़नेपर क्रुद्ध होकर देवर्षि नारदने भगवान्‌को शाप दे दिया, जिसके कारण उन्हें श्रीरामरूपमें पृथ्वीपर प्रकट होकर पत्नी-वियोगका अपार दुःख सहना पड़ा। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि भगवान् जो कुछ भी करते हैं, हमारे मङ्गलके लिये ही करते हैं, चाहे वैसी बात हमें दीखे नहीं; और उनके प्रतिकूल-से-प्रतिकूल विधानमें भी हमको प्रसन्न रहना चाहिये। भगवद्विश्वासका वास्तविक स्वरूप यही है और ऐसे भगवद्विश्वासी ही भगवान्‌को प्रिय होते हैं। अपने मनके प्रतिकूल भगवद्-विधानको विवश होकर सह लेना उससे हल्की बात है।

(२) आर्थिक संकटकी निवृत्तिके लिये आप विश्वास-पूर्वक श्रीशंकराचार्यकृत 'कनकधारास्तोत्र'का पाठ नियमित-रूपसे किया करें। ग्यारह पाठ प्रातःकाल बिना कुछ खाये-पीये कर सकें तो उत्तम है, अन्यथा एक ही पाठ बिना लाँघा कर लिया करें। आपने पाठ आदिका जो कार्यक्रम बना रखा है, वह सुन्दर है। उसे चालू रखें, परंतु नियमका भङ्ग न होने दें। जिस कामको हम महत्त्वपूर्ण समझते हैं, उसे कभी नहीं छोड़ते। शौच-स्नान, भोजन, निद्रा आदि जैसे हमारे जीवनके अनिवार्य अङ्ग हैं, उसी प्रकार भजन भी हमारे जीवनका आवश्यक अङ्ग बन जाना चाहिये।

आपके पतिदेव यदि यह आपत्ति करते हैं कि उस भजनसे क्या लाभ, जिससे पैसा न मिले तो आप उनसे यह पूछ सकती हैं कि क्या प्रत्येक कार्य जीवनमें पैसेके लिये ही किया जाता है? बच्चोंका पालन-पोषण, उनको पढ़ाना-लिखाना क्या आप पैसोंके लिये करते हैं? यदि उनके माता-पिता जीवित हैं तो उनकी सेवा क्या वे पैसेके लिये करते हैं? क्या दीन-दुःखियोंकी, अनाथोंकी, अपाहिजोंकी, भूखों-प्यासोंकी, रोगियोंकी, आपद्ग्रस्तोंकी सेवा पैसेके लिये की जाती है? मनुष्यको भगवान्‌ने विवेकशक्ति दी है, जो दूसरे जीवोंमें नहीं है। मनुष्य जगत्‌में कुछ कर्तव्य लेकर आता है, उन कर्तव्योंका पालन उसे करना ही चाहिये। मनुष्यको अपने जीवन-निर्वाहके लिये दूसरोंकी सहायता अनिवार्यरूपसे लेनी पड़ती है। इसी ऋणको चुकानेके लिये उसे भी यथासामर्थ्य दूसरोंकी सहायता करनी चाहिये। भगवान्‌ने उसे मनुष्यका जीवन दिया है, जिसके द्वारा वह भगवान्‌को पा सकता है तथा हवा, पानी, प्रकाश और विविध खाद्य-पदार्थ दिये हैं। बदलेमें उसका भी कर्तव्य होता है कि वह भगवान्‌को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करे, उनकी आराधना करे, बंदगी करे, उनसे सद्‌बुद्धि माँगे, दया, क्षमा, प्रेम आदि मनुष्योचित गुणोंको माँगे। संसारमें पैसा ही सब कुछ नहीं है। पैसा भी भगवान् सबको अपनी-अपनी आवश्यकताके अनुरूप कर्मानुसार जितना उचित समझते हैं, देते ही हैं। कामना और आवश्यकताका तो कोई अन्त ही नहीं है। जितना अधिक जिसके पास है, उसकी भूख भी उतनी ही अधिक है; किसी कामनाकी पूर्ति तो सम्भव ही नहीं है। किसीकी तृप्ति पैसेसे अथवा विषय-भोगसे कभी हुई ही नहीं। किसीसे भी पूछकर देख लीजिये, कोई भी अपनी स्थितिसे संतुष्ट नहीं है। वास्तवमें शान्ति संतोषसे ही मिलती है, अपनी आवश्यकताओंको कम करनेसे मिलती है।

(३) शंकर, राम, कृष्ण, माँ दुर्गा—सभी भगवान्‌के स्वरूप हैं। सभीकी आराधना हम कर सकते हैं, परंतु आराध्य अथवा इष्ट हमारा एक ही होना चाहिये—यह सत्य है। पतिव्रता स्त्रीके लिये पति ही परमेश्वर है। वह पतिके नाते अपने सास-श्वशुर, ननद, जेठ-जेठानी, देवर-देवरानी, पुत्र-पुत्री, पतिके अन्य सम्बन्धी, मेहमान आदि सबकी सेवा आवश्यकता एवं योग्यताके अनुसार समय-समयपर करती है, सबको आदर देती है, सबका सम्मान करती है, स्नेह भी देती है; परंतु जीवन-प्राण उसके अपने पतिको ही समर्पित रहते हैं। पतिका स्थान वह किसीको नहीं देती, वह तो उन्हींके लिये सुरक्षित रहता है। इसी प्रकार पूजा-अर्चा, स्तुति आदि हम सभी भगवत्स्वरूपोंकी कर सकते हैं; परंतु हमारे सर्वस्व तो उनमेंसे एक ही हो सकते हैं, सब नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी विनय-पत्रिकामें वन्दना गणेशकी, शिवकी, कालिकाकी, सूर्यकी—सबकी की है, पर सबसे माँगी है—रामके चरणोंमें रति। यही बात सबके लिये लागू होती है।

(४) आपने लिखा कि पतिका, गृहस्थीका, बच्चोंका—सब प्रकारका सुख रहनेपर भी आत्मा भटकती

रहती है; आप सबके बीचमें रहकर भी अकेलेपनका, सूनेपनका अनुभव करती हैं—यह ठीक ही है। धन, पुत्र, पतिमें सुख नहीं है। इनमेंसे कोई भी वास्तवमें अपना नहीं है। ये सब हमसे एक दिन छूट जायँगे, यहाँतक कि यह शरीर भी, जिसे हम सबसे अधिक अपना—नहीं-नहीं, अपना स्वरूप, अपना आप ही मानते हैं, जिसके पीछे ये सारे सम्बन्ध हमने मान रखे हैं, नहीं रहेगा। फिर जगत्‌में हमारा कौन है? किसलिये यह माया-जाल हमने फैला रक्खा है? हम इसमें क्यों फँसे हैं? एकमात्र भगवान् ही हमारे हैं, वे ही हमारे सच्चे सम्बन्धी—हमारे अपने हैं, और कोई भी अपना नहीं। अतः भगवान्‌के साथ कोई भी सम्बन्ध हम जोड़ लें, वे सभी सम्बन्ध मान लेंगे। हम उन्हें पुत्र मान सकते हैं, पिता मान सकते हैं, भाई मान सकते हैं, पति मान सकते हैं, गुरु मान सकते हैं, सखा मान सकते हैं। उनका यह उद्घोष है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४। ११)

'जो जिस भावसे मुझे भजते हैं, मैं उनको उसी रूपमें स्वीकार कर लेता हूँ।' ऐसे प्रभु, जो हमारे सब कुछ बननेको तैयार हैं, उनको पा लेनेमें ही हमारे जीवनकी सार्थकता है। अन्यथा भोग तो सभी योनियोंमें मिल सकते हैं।

(५) शरीरको नीरोग रखनेके लिये 'अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नमः'—इस मन्त्रका जप किया करें। आयुर्वेदके मूलप्रवर्तक भगवान् धन्वन्तरिका वचन है—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन भगवन्नामोंके उच्चारणरूप औषधसे सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं; यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।'

बीमारी आदि जितने भी कष्ट हैं, सब हमें अपने ही पूर्वकृत कर्मोंके फलरूपमें मिलते हैं। भगवान्‌की पूजासे तो हमारे दुष्कृतोंका नाश होता है; अतः लोगोंका यह कहना कि तुम जितनी ही पूजा करती हो, उतनी ही बीमार पड़ती हो, उनकी नासमझीके कारण है। उनकी इस उक्तिपर ध्यान नहीं देना चाहिये।

शेष भगवत्कृपा!

आपका भाई,
चिम्मनलाल गोस्वामी

विवेकी पुरुषका कर्तव्य

साहरे हत्थपाए य, मणं पञ्चेन्द्रियाणि य। पावगं च परीणामं भासादोसं च तारिसं॥

विवेकी पुरुष अपने हाथ-पाँव, मन और पाँचों इन्द्रियोंको वशमें रखे। दुष्ट मनोभाव और भाषादोषोंसे अपनेको बचावे।

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वम्फेज्ज मम्मयं। मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा अणुचिन्तिय वियागरे॥

वह बोलते हुएके बीच नहीं बोले, मर्मभेदी बात न कहे, माया-भरे वचनोंका परित्याग करे। जो बोले सोचकर बोले।

अप्पपिण्डासि पाणासि अप्पं भासेज्ज सुव्वए। खन्ते भिनिव्वुडे दन्ते वीतगिद्धी सया जए॥

सुव्रती पुरुष अल्प खाये, अल्प पीये, अल्प बोले। वह क्षमावान् हो, लोभादिसे निवृत्त हो, जितेन्द्रिय हो, गृद्धि-रहित—अनासक्त हो तथा सदाचारमें सदा यत्नवान् हो।

न बाहिरं परिभवे अत्ताणं न समुक्कसे। सुयलाभे न मज्जेज्जा जच्चा तवसि बुद्धिए॥

विवेकी पुरुष दूसरेका तिरस्कार न करे, न अपनी बड़ाई करे। अपने शास्त्रज्ञान, जाति और तपका अभिमान न करे।

—महावीर स्वामी

साधक कमलाकान्त

(लेखक--श्रीरामलाल)

शस्यश्यामला वङ्गभूमिके निवासियोंके हृदयमें भगवती कालीकी उपासनाकी सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। महात्मा रामप्रसाद सेन, साधक कमलाकान्त और श्रीरामकृष्ण परमहंसने शक्तिकी उपासना-समृद्धि बढ़ानेमें असाधारण योगदान दिया। तीनों-के-तीनोंने जगदीश्वरीके चरणकमलोंमें मन संस्थितकर त्राणकी याचना की। कमलाकान्तने निवेदन किया—

उमे ! त्राण दे मा शिवे ! त्राण दे ।
तृषित चातक मत निरखि नव घन तव चरण गो ।
आमि दुराचारी, शरण तोमारि, निस्तार ए घोर भवे ॥
तुमि जननी, जनम-हारिणी, सृष्टि-स्थिति-संहारिणी ।
हे कङ्काले ! शशधरभाले ! गिरिजा भवानी भवे ॥
जया प्रचण्डा शमन-दलनी 'कमलाकान्त' कृतान्तभये ।
त्राहि महेशि ! विगलितकेशि, तरि भवराणि, भवे ॥

'हे माँ पार्वती ! उमादेवि ! आप मेरी रक्षा कीजिये। मैं प्याससे विकल चातककी तरह आपके चरणरूप नवजलदकी ओर आशापूर्ण दृष्टिसे देखता हूँ। मैं दुराचारी-पापी हूँ, फिर भी आपके शरणागत हूँ; इस भीषण संसारसे आप मुझे उबार लीजिये। हे माँ ! आप मोक्षदायिनी हैं, आप सृष्टि, पालन और संहार करनेवाली महाशक्ति हैं। आप मुण्डोंकी माला धारण करनेवाली हैं, आपके भालमें बालचन्द्र शोभित है; आप पार्वती हैं, भवानी हैं, भगवान् शिवकी अभिन्न आत्मा हैं; आप जया हैं, आप विकरालरूपधारिणी—प्रचण्डा हैं। आप ही कालका भी संहार करनेवाली महामाया हैं, मुझे यमके त्राससे उबार लीजिये। हे खुले केशोंवाली करालवदना ! शिवकी हृदयेश्वरी ! मैं मृत्युरूपी संसार-सागरसे आपकी कृपासे पार उतरनेमें समर्थ हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।' साधक कमलाकान्तने जगदीश्वरीके चरणोंमें अपने हृदयकी भक्ति उँड़ेलकर तथा उनकी आराधना कर भवसागरमें मृत्युभयसे त्राण पाया।

साधक कमलाकान्तका जन्म बर्दवान जनपदमें भगवती गङ्गाके तटपर स्थित अम्बिका कालना ग्राममें बंगीय संवत् ११७० में एक ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था। पाँच सालकी ही अवस्थामें उन्हें पिता छोड़कर परलोक चले गये। कमलाकान्त दो भाई थे। माँने बड़े स्नेहसे उनका पालन-पोषण किया। उनकी जीविका यजमानी वृत्तिसे चलती थी। भू-सम्पत्तिका अभाव था। अम्बिका कालनासे जीवन-निर्वाहके लिये माँके साथ कमलाकान्त अपने मामा नारायणचन्द्र भट्टाचार्यके घर चान्ना ग्राम चले आये। चान्नामें ही उनकी शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई। अपनी माँके चरणोंमें साधक कमलाकान्त बड़ी श्रद्धा निष्ठा रखते थे। वे उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन बड़ी तत्परतासे करते थे। उन्होंने एक बार बाल्यकालमें ही माँके प्रति निवेदन किया था—'माँ ! आप मेरे लिये साक्षात् आनन्दमयी जगदम्बा हैं। मैं उन्हें और आपको सर्वथा अभिन्न मानता हूँ।'

उन्होंने माँकी आज्ञाके अनुसार लाकुडी ग्रामके एक सुपात्र ब्राह्मणकी कन्याका पाणिग्रहण कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया। वे जगदम्बाकी साधनामें लग गये। चान्ना ग्राम खड्गेश्वरी नदीके तटपर स्थित है। उस ग्राममें विशालाक्षी देवीके मन्दिरमें बैठकर वे जगदम्बाके चरण-कमलोंमें निवेदन किया करते थे—'माँ ! आपके चरणाम्बुज देख-देखकर मैं प्राणधारण करता हूँ। इस संसारमें आपको छोड़कर कोई दूसरा अपना है ही नहीं।' उनकी देवीके प्रति संस्तुति है—

अनुपम रूप, अनूप श्यामातनु हेरिये नयन जुड़ाय ।
सजल कादम्बिनी जिनिये कुन्तल, तार माझे सौदामिनी खेलाय ॥
अञ्जन अधरे अतसी मुकुता फल, नीललोहित पद्म भ्रमे अलिकुल धाय ।
क्षणे-क्षण हास्य कटाक्ष-शरे शिवेर मन सहजे भुलाय ॥
मृगाङ्क अरुण चरण-नख-किरणे, रक्तोत्पल जिनि पदतल ताय ।
कमलाकान्त अन्त ना जाने गुण श्रीचरण, मानव कि पाय ॥

'कालीका रूप अनुपम है। श्यामाके अनूप शरीरको देखकर नेत्र शीतल होते हैं। उनके पूरे शरीरको वेष्टित किये हुए काले-काले केश-जालमें उनका रूप ऐसा दीख पड़ता है, मानो सजल मेघमालामें दामिनी चमक रही है। उनके अधरकी लालिमा तीसीके फूल और मुक्ताफलकी शोभा धारण करती है; नीले और लाल कमल समझकर भ्रमर-समूह अधरोंकी ओर दौड़ पड़ता है। क्षण-क्षण निरन्तर श्यामाकी मन्द-मन्द मुसकान और कटाक्ष-शरसे (मनसिजको भी भस्म करनेवाले) शिवका मन अनायास ही मुग्ध हो उठता है। अरुणवर्णके नखोंकी किरणोंकी चन्द्रमाके समान शुभ्र ज्योतिसे आवेष्टित जगदीश्वरीके पदतल ऐसे दीख पड़ते हैं, मानो (स्वच्छ जलधारामें)

लाल वर्णके कमल विकसित हों। कमलाकान्तका कथन है कि भगवतीके श्रीचरणोंके गुण-महत्त्वका मर्म स्वयं कमलाकान्त (विष्णु) भी नहीं समझते; तब भला, साधारण मनुष्य मैं क्या समझ सकता हूँ।'

अपनी माँके आग्रहसे वे सपरिवार आर्थिक संकट दूर करनेके लिये अम्बिका कालना चले आये। उस गाँवमें उनके धनी-मानी शिष्य रहते थे। थोड़े समयके बाद माँ रोगग्रस्त हो गयीं। माँने समझाया कि 'मेरे देहावसानके बाद तुम्हें पूरे परिवारके प्रतिपालनमें लगे रहना चाहिये; वैराग्य नहीं ग्रहण करना चाहिये।' उन्होंने माँकी इस आज्ञाका जीवनभर पालन किया। माँकी मृत्युके बाद वे पुनः चान्ना चले आये। वहाँ उनकी पत्नीका भी देहान्त हो गया। उन्होंने घरका प्रबन्ध भाईके हाथमें सौंप दिया और स्वयं देवीकी उपासनामें लग गये; पर माँकी आज्ञाके अनुसार उन्होंने कभी घरका त्याग नहीं किया। उन्होंने देवीके चरणोंमें निवेदन किया—

आमारके आछे, करुणामयी ।
ओ पदे विपद नाशे, नितान्त भरसा ओइ ।
कखन-कखन मने करि, धन-परिजन कोथा रवे ॥
कोथा रवे, से भाव थाकये कै । मजिये विषय-विषे,
दिन गेल रिपु-वशे, आपनारि क्रिया दोषे ॥
अशेष यन्त्रणा सइ ।
सुकृति ये जन, से साधने पावे श्रीचरण,
अकृति अधम आमि, कि गति तारिणी वइ ।
कमलाकान्तेर आश, हवे तव पदे दास,
किंतु मम मन अवश, आमि त तादृश नइ ॥

'हे करुणामयी माँ! यहाँ—इस जगत्में मेरा कौन है? आपके चरणोंमें ही मेरी विपत्तिका नाश होगा; मुझे तो एकमात्र आपके चरणोंका ही भरोसा है। कभी-कभी यह बात मनमें आती है कि धन और परिवारके लोग रहेंगे क्या? क्या वे इसी तरह सदा बने रहेंगे? विषय-विषमें अनुरक्त होनेके नाते मेरे दिन काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रुओंकी अधीनतामें बीत गये; मैं अपने ही कर्मोंके दोषसे सारी यातनाएँ सहता हूँ। जो पुण्यात्मा है, वह साधनके द्वारा आपके श्रीचरणकी प्राप्ति कर पाता है; किंतु मैं तो पापी और अधम हूँ, साधनहीन हूँ। मेरा तो आपको छोड़कर कोई दूसरा है ही नहीं। मैं तो यही आशा लगाकर बैठा हूँ कि मैं आपके चरणोंका दास बनूँगा; परंतु मनपर मेरा अधिकार नहीं है। वह अत्यन्त चञ्चल है। मैं आपका दास भी बननेयोग्य नहीं हूँ।'

महात्मा कमलाकान्तका सम्पर्क चार व्यक्तियोंके लिये बड़े महत्त्वका कहा जाता है। वे थे विश्वेश्वर डाकू, शिष्य केनाराम चट्टोपाध्याय और बर्दवानके महाराजा तेजचंद तथा उनके पुत्र युवराज प्रतापचाँद। साधक कमलाकान्तके चरणदेशमें उन चारोंकी प्रणति अपने-अपने ढंगकी निराली थी। विश्वेश्वर—विशु प्रसिद्ध डाकू था। एक समयकी बात है। कमलाकान्त गैरिक परिधान धारणकर खड्गेश्वरी नदी पारकर चान्नासे सात-आठ कोसकी दूरीपर स्थित अमरारगढ़ स्थानपर अपने शिष्य केनारामसे मिलने जा रहे थे। कई गाँवोंको पारकर ओड़ग्रामके निकट पहुँचे ही उन्होंने देखा कि कई लोग उनका पीछा कर रहे हैं। शाम हो गयी थी। पश्चिममें लालिमा थी। सूर्य अस्ताचलको जा चुके थे। वे तनिक भी भयभीत नहीं हुए। वे गीत गाकर जगजननीका स्मरण करने लगे—

आर किछु नाइ श्यामा, तोमार केवल दुटि चरण रांगा।
शुनि तायो नियेछेन त्रिपुरारी, अतेव हलेम साहस भांगा॥
ज्ञातिबन्धु सुत-दारा, सुखेर समय सवाइ तारा।
विपद-काले केउ कारो नय, घरवाड़ी ओड़गाँयेर डांगा॥
निज गुणे यदि राख, करुणा-नयने देख,
नइले जप करे ये तोमाय, पाओया से सब कथा भूतेर सांगा।
कमलाकान्तेर कथा, मारे बलि मनेर व्यथा,
जपेर माला, झूलि, काँथा, जपेर घरे रइल टांगा॥

'हे श्यामा! आपके लाल-लाल कोमल दोनों चरणोंके सिवा मेरे लिये और कुछ भी नहीं है। सुनता हूँ कि उन्हें भगवान् शंकरने पहलेसे अपने अधिकारमें कर लिया है; इससे हतोत्साह हो उठा हूँ। ये सब जाति-भाई, सुत-स्त्री आदि सुखके समयके साथी हैं, विपत्तिके समयमें कोई किसीका भी नहीं होता। घर-बाड़ी तथा इस ओड़गाँवकी ऊँची भूमि भी अन्त समय मेरा साथ नहीं देगी। आप अपने स्वभाव-गुणसे ही अपना बना लेती हैं। यदि इस गुणके वशीभूत होकर मुझे अपना लेती हैं तो मुझपर कृपा दृष्टि कीजिये। जप करनेसे आपकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह तो भूतको सिद्ध करनेकी-सी बात है, मुख्य वस्तु तो आपकी करुणा है। माँ! मैं तो अबोध बालक हूँ, केवल माँसे ही अपने मनकी व्यथा कहता हूँ। माँकी कृपा मिलेगी ही। जपमाला, झोली, गुदड़ी तो जपके घरमें टँगी-की-टँगी ही है। मुझे तो आपकी ही करुणाका भरोसा है।'

विशु डोमपर उनके उपर्युक्त भक्तिपूर्ण गानका प्रभाव पड़ा। वह विमुग्ध हो गया। 'आप कौन हैं?' विशुका प्रश्न था। साधक कमलाकान्तने कालीके किंकरके रूपमें अपना परिचय दिया।

'कमल ठाकुर!' विशु चकित हो गया। दौड़कर उसने कमलाकान्तके चरण पकड़ लिये। विशु डाकूके साथी आश्चर्यमें पड़ गये। विशुने साथियोंसे कहा कि 'मैं तुम लोगोंका साथ नहीं दे सकता। कमल ठाकुरके चरण जीवन-भर नहीं छोड़ सकता। कालीका नाम ही मेरा मन्त्र है।' कमलाकान्तके भी समझानेपर वह घर नहीं गया और आजीवन उन्हींकी सेवामें रहकर उसने जगदीश्वरीकी आराधना की। बंगालका अभिनव अङ्गुलिमाल सदाके लिये धर्म और वैराग्यकी शरणमें आ गया, शक्तिका उपासक हो गया।

केनाराम चट्टोपाध्याय अमरारगढ़के निवासी थे। कमल ठाकुरमें उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा और निष्ठा थी। वे कभी-कभी चान्ना आकर विशालाक्षीके मन्दिरमें साधक कमलाकान्तसे मिला करते थे। कमल ठाकुर केनारामको अपनी कृपा और स्नेह-वृष्टिसे कृतार्थ करनेके लिये अमरारगढ़ जाया करते थे।

बर्दवानके महाराजाकी साधक कमलाकान्तके चरणदेशमें महती अभिरुचि थी। महाराजाके बड़े अनुरोधपर उन्होंने बर्दवानमें बाँका नदीके तटपर स्थित कोटालहाटमें नवनिर्मित श्यामा-मन्दिरमें रहना स्वीकार कर लिया। एक दिन महाराजाके मनमें यह संदेह उठनेपर कि मिट्टीकी मूर्तिसे किस तरह देवी-शक्तिका आविर्भाव हो जाता है, कमल ठाकुरने समझाया कि सभी वस्तुओंमें महाशक्तिका अस्तित्व है, इसका साक्षात्कार करना अनेक जन्मोंके पुण्यका फल है, जन्म-जन्मके भाग्योदयका प्रतीक है। सच्चिदानन्दरूपका 'सोऽहं' भावमें उदय होनेपर महाशक्तिका आविर्भाव समस्त वस्तुओंमें प्रतीत होता है।

साधक कमलाकान्तका जीवन पूर्णरूपसे जगदम्बाके चरणोंमें समर्पित था। एक बार उनके अस्वस्थ हो जानेपर महाराजा तेजचाँद उन्हें देखने गये। वे मिट्टीसे बने कच्चे घरमें रहते थे। महाराजाकी इच्छा थी कि घर पक्का बन जाय तो शरीर ठंडक आदि ऋतु-विकारोंसे कम प्रभावित होगा। कमल ठाकुरने बड़े ही संतोषसे कहा कि 'मेरी माँ श्मशानमें रहती हैं, कङ्काल ही उनके आभूषण हैं। अब आप ही सोचिये कि मुझे पक्के घरकी आवश्यकता है या नहीं।' इसपर महाराजाने और आग्रह नहीं किया। चलते समय केवल यह निवेदन किया कि यदि किसी वस्तुकी आवश्यकता हो तो सेवामें अविलम्ब भेज दी जाय। कमल ठाकुरने कहा कि 'एक मिट्टीका कोसा चाहिये; पहला थोड़ा-सा फूट गया है, इसलिये पानी पीते समय जल गिर जाता है।' महाराजा आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने कमल ठाकुरकी चरण-धूलि सिरपर चढ़ाकर उन्हें प्रणाम किया और चले गये।

कमलाकान्तके जीवनमें बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण घटनाओंका समावेश पाया जाता है। एक समयकी बात है, वे अमरारगढ़में थे। केनाराम कहीं बाहर गये थे। कमलाकान्त श्यामा-घरमें बैठकर देवीका चिन्तन कर रहे थे। केनारामकी लड़कीने कहा कि 'बाबा! आज जलानेकी लकड़ी नहीं है।' उसे इस बातका पता नहीं था कि उसके पिता कहीं बाहर चले गये हैं। कमल ठाकुर विशुको साथ लेकर ईंधन लेने चल पड़े। हाथमें टाँगी थी। लौटते समय लोगोंने देखा कि हाथमें टाँगी लेकर ठाकुर आगे-आगे चल रहे हैं और विशु कंधेपर ईंधन रखकर उनके पीछे-पीछे आ रहा है। गाँवके लोग इस असाधारण घटनासे आश्चर्यमें पड़ गये। चारों ओर इसी बातकी चर्चा थी। केनारामने घर आकर बड़ा पश्चात्ताप किया।

अपने कोटालहाटवाले निवास-स्थानमें ५३ सालकी अवस्थामें बँगला संवत् १२२३ में उन्होंने महाप्रस्थान किया। उनका एक पद है—

> आमार गति कि हवे, तारा जाने, मा जाने।
> तारा बिने आर, इहकाल, परकालेर कथा के जाने॥
> आमि यत निपुण साधने, विदित जननीर चरणे।
> कत दिने हवे त्राण, कमलाकान्तेर ए मोर भवबन्धने॥

'मेरी क्या दशा होगी, यह बात तारा जानती है, माँको भी ज्ञात है। इस समयकी एवं दूसरे समय—भूत, भविष्य-कालकी बात माँके सिवा दूसरा कौन जान ही सकता है। मैं साधनमें कितना सफल हूँ, यह बात जननीके चरणोंपर प्रकट है। न जाने कितने दिनोंमें इस भवबन्धनसे मेरा उद्धार होगा!'

बङ्गीय शक्ति-साधनाके क्षेत्रमें साधक कमलाकान्तका नाम अमर है। उन्होंने जगज्जननी जगदीश्वरी महाकालीके चरणामृत-रसकी प्राप्तिमें जीवन सार्थक किया।

दानका महत्त्व

(लेखक—प्रभु-प्रेम-प्यासी एक दासी)

इसलिये हे पार्थ ! यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी सम्पूर्ण कर्म, आसक्ति और फलोंको त्यागकर, अवश्य करने चाहिये—ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है। (गीता १८ । ६)

हम नित्य गीताका पाठ करते हैं, गीता पढ़े विना भोजन नहीं करते, लेकिन अगर पढ़ेपर विचार नहीं करते, पढ़े अनुसार आचरण नहीं करते तो व्यर्थ है सारी पढ़ाई-लिखाई, चतुराई-निपुणाई । नित्य पढ़ते हैं, 'दान' देना चाहिये ! बताओ, कितना दान करते हो अपनी कमाईमेंसे ?

'पेट ही नहीं भरता, दान कहाँसे दें ?' किसी दूसरेका पेट नहीं भरा कभी तो तुम्हारा पेट कभी नहीं भर सकता । लगा लो जोर एड़ी-चोटीका ! यह 'दैवी नियम' है, इससे कोई व्यक्ति बच नहीं सकता । अपना दिया ही वापस मिलता है समयानुसार— बल्कि लाखों गुना बढ़कर ! देना ही नहीं तो मिले क्या ?

सब गुरुके सिक्खोंको हुक्म है कि अपनी कमाईमेंसे 'दसवंद' निकालो । कमाईका दसवाँ हिस्सा दान करो । कितने सिक्ख हैं, जो इतना दान करते हैं ? गुरुदेव तभी प्रसन्न होते हैं, जब हम गुरुके आदेशानुसार कार्य करें । दसवाँ हिस्सा नहीं दे सकते तो जितना दे सकते हो, उतना ही सही । कुछ-न-कुछ नियमसे आयमेंसे दान देना अवश्य चाहिये । बूँद-बूँदसे भी घड़ा भर जाता है । दानका महत्त्व ज्ञात होनेपर ही दानका ख्याल मनमें उठता है । (ख्याल आते ही उसी वक्त अवश्य दे देना चाहिये । बादमें, हो सकता है, ख्याल बदल जाय ।) सबसे पहले हमें मालूम होना चाहिये कि दान अवश्य कल्याण करता है । चाहे उसी वक्त बदलेकी भावना न भी हो, कर्तव्यभावसे दिया गया दान अवश्य फलीभूत होता है—अपने समयपर ! पिछले जन्मोंमें हम जो दे चुके हैं, वही ले रहे हैं इस जन्ममें ।

मरकर तो सभी छोड़ जाते हैं; दान वह है जो अभी हाथसे दिया जाय—देश-काल और पात्र देखकर, प्रत्युपकार न करनेवालेके लिये दिया जाय । (गीता १७ । २०)

जब प्राण देहसे छूटने लगते हैं; तब अक्सर दानकी याद आती है—वह भी किसी बिरलेको ! 'शायद दान देनेसे कुछ साँस और आ जायँ । कौन जाने, अभी भी बच जायँ ? सारा धन दे दिया तो फिर खाऊँगा क्या ?' यह ख्याल आते ही बस, दानका गला घुट जाता है ।

'जाते-जातेसे ही कुछ दान तो करवा दो ।' ऐसा दान देनेवालेके काम भले ही आ जाय, जानेवालेको कोई लाभ नहीं पहुँचाता । प्यास लगनेपर कुआँ खुदवानेपर प्यास बुझेगी क्या ? ठीक समयपर बोया हुआ बीज ही पनपता है ।

सिकंदरने बेहिसाब दौलत जमा कर ली ! जाने लगा तो पता चला, यह तो यहीं रह जायगी सारी ! चलो, मेरी आँख नहीं खुली समयपर, औरोंकी तो खोल जाऊँ ! बोला—'मेरे मरनेके बाद मेरे दोनों हाथ कफनसे बाहर रखना, जिससे देखनेवालोंको पता चले कि 'सिकंदरके हाथ खाली, दोनों कफनसे निकले ।'

सब लोगोंको ज्ञान तो बेहिसाब है कि साथ कुछ नहीं जानेका । वही साथ जायगा, जो हाथसे दिया गया । फिर भी किसी बिरले भाग्यवान्को ही दानका ख्याल आता है । 'खा लो, पी लो, मौज उड़ा लो । पड़ोसी चाहे भूखा मरे, तुम ऐश करो ।' जब दुःख आता है, तब रोते हैं चीख चीखकर ! दुःख, रोग, पीड़ा, अशान्ति क्यों है इतनी संसारमें ? स्वार्थ भरा है कूट-कूटकर हर दिलमें । अपनी ही फिक्र है, दूसरेका ख्याल नहीं । दूसरेका दुःख दूर करनेवालेको दुःखका मुख नहीं देखना पड़ता ।

हम सब एक पिताकी संतानें हैं । एक पुत्र तो धनमें लोटे, दूसरा दूसरोंको लूटे, तीसरा एक लोटे जलके लिये तरसे, यह नहीं बरदाश्त होता परमपिता प्रभुको ! धनवान् अपना धन निर्धनोंमें बाँटकर खाय, तभी पिता प्रसन्न होता है । पिता कहीं दूर नहीं बसता टीलोंपर । वह हर हृदयमें बैठा है, 'बहीखाता' लिये ! हर हरकत नोट करता है !

बेशक दान जरूरत-मन्दकी जरूरत पूरी करनेके लिये दिया जाता है, परंतु न चाहते हुए भी देनेवालेका कल्याण

करता है अपने-आप । दूसरेके लिये नहीं देना, अपनी तो फ़िक्र है तुम्हें ? अपने लिये तो दो । तुम्हें वही चीज़ मिल सकती है, जो तुम दे दोगे ! धन चाहते हो ? तो धनका दान करो । बढ़िया खाने, बढ़िया पोशाकें चाहते हो तो खिलाओ भूखोंको, ढक दो नंगे ठिठुरते तन-बदन । तुम्हारी पोशाकें अपने-आप तैयार होकर तुम्हारी प्रतीक्षा करेंगी । छत्तीस व्यञ्जन तुम्हारी थालीपर सज जायँगे । रोगसे बचना चाहते हो तो रोगियोंको दवाइयाँ दान करो, तुम रोगोंसे बचे रहोगे ! लेकिन तुम अपने रोगपर तो हँसके खर्च करते हो, दूसरेके दर्दकी तरफ़ ध्यान ही नहीं देते तो कैसे हो तुम्हारा कल्याण ? क्या यह सौदा पसंद नहीं कि तुम्हारा रोग कोई दूजा भुगते, तुम्हारे धनसे और तुम रोगकी पीड़ासे बच जाओ ? दानमें प्रत्युपकारके भावका निषेध है, लेकिन बच्चोंसे कई बार 'लालच' देकर ही काम लिया जाता है । उल्टा-सीधा, जैसा भी बीज पड़े धरतीपर, उगता ज़रूर है । किसी भी भावसे किया गया दान कल्याण ज़रूर करता है । लेनेवालेको सुख मिलता है, देनेवालेको आनन्द आता है । आनन्द लिया नहीं जाता, अपने-आप आता है आनन्दकन्द भगवान्‌की कृपासे । गीतामें भगवान् कहते हैं—'जो केवल अपने लिये पकाता है, वह तो केवल पाप ही खाता है ।' इन्सान होकर, इन्सानके ढंगसे खाओ—भूखेको बाँटकर ! अपने बच्चोंको तो सभी खिलाते हैं । खिलाता है वह, जो दूसरेके बच्चोंको खिलाये । अपने लिये तो सभी जीते हैं । जीना वही है, जो दूसरोंके लिये जीया जाय ! बाँटकर खानेवाला 'अमृत' खाता है । बाँटकर खानेवालेके भंडार कभी खाली नहीं होते । देकर खानेवालेके घर रोग नहीं आता । खिलाकर खानेवाला आनन्दमें झूमता है । क्या खायें ? भूख ही नहीं लगती ! खाते हैं तो हजम नहीं होता । गोलियोंके साथ खाना हजम करते हैं । भूखकी गोलियाँ खाते हैं, नींदकी गोलियाँ खाते हैं । बाँटकर न खानेवाले दुश्मनकी गोलियाँ भी खाते हैं । गाँठको बाँधकर रखनेवालोंको गठिया-जैसे रोगोंसे तड़पना पड़ता है । जिन्हें भूख ही नहीं लगती, उन्हें, भला, खानेका 'स्वाद' खाक आता होगा ! खानेका आनन्द केवल उसीको आता है, जो दूसरेका दर्द बाँटता है । गरीब, जो दो रोटियोंमेंसे भी आधी दे देता है, वह रोटीका भी आनन्द लेता है और नींदका भी मज़ा लूटता है ।

अपने सुखके लिये तो दान करो । दूसरेको सुख पहुँचाओ दानद्वारा । दूसरेकी ज़रूरत पूरी करोगे तो तुम्हारी ज़रूरत अपने-आप पूरी होगी ।

किसी एक मुल्कका रिवाज़ था कि हर राजाको पाँच साल बाद छुट्टी हो जाती थी । उसे राजधानीसे बाहर निकाल दिया जाता था । प्रजा बहुमतद्वारा एक योग्य व्यक्तिको अपना राजा नियुक्त कर लेती थी । पाँच साल बाद दोबारा चुनाव होता था । एक बार एक 'प्रवीण' नामक बुद्धिमान् राजा बना । उसने सोचा—'अच्छा ! तो पाँच साल बाद मेरा भी वही हाल होगा, जो कइयोंका हुआ । इसका तो कोई इलाज होना चाहिये । इस समय तो मैं राजा हूँ । मेरा हुक्म चलता है । सारे साधन मेरे पास हैं । सारा धन मेरा ! जन-जन मेरा !' उसने अपने लिये एक नया शहर बसाना शुरू कर दिया । शानदार सजे हुए महल, बाग-बगीचे, ताल-तालाब, हर चीज जो उसे चाहिये थी, वहाँ पहुँचा दी, बनवा दी । हजारों लोगोंको लगाकर शानदार शहर बनवा दिया । इधर वह हुकूमतकी मौज लूटता रहा, उधर शहर तैयार होता रहा । पाँच साल पूरे होनेपर हँसता-हँसता सिंहासनसे उठकर आरामसे अपने नये महलमें जा लेटा । यह है बल बुद्धिका । उसने अपना 'प्रवीण' नाम सार्थक कर दिया ।

बेशक मरनेके बाद हमारे साथ कुछ नहीं जा सकता; लेकिन दूरदर्शी वह है, जो इस शरीरके रहते अगलेका अभीसे फ़िक्र करे । जो चीज़ चाहिये, अभी दे दे । अगले जन्ममें वह अपने-आप मिलेगी । एक मनुष्य-शरीरमें ही अपना कल्याण हो सकता है । भगवत्प्राप्तिकी इच्छा न भी हो, सुख, शान्ति, आनन्दके लिये ही दानकी अति आवश्यकता है । दानसे धनमें कभी कमी नहीं आती, बल्कि बरकत आती है । दानसे पिछले पापों-कुकर्मोंका प्रायश्चित्त भी हो सकता है । ढंग आना चाहिये । हर काम ढंगसे करनेपर ही 'रंग' आता है ।

चिड़ी चोंच भर ले गई, नदी न घटियौ नीर ।
दान दिएँ धन ना घटे, कह गए दास कबीर ॥

खाली पढ़ने-सुनने-कहनेसे कुछ नहीं बनता । लाभ तो तभी होता है, जब हाथसे कुछ करके दिखाओ !

अब प्रश्न यह उठता है—दानीका भाव कैसा होना चाहिये ? दानकी खबर, भगवान्‌के सिवा, किसी

दूसरेको नहीं मिलनी चाहिये । यहाँतक कहा गया है—'दायाँ हाथ दान करे, बायेंको पता न चले ।' दान करनेवालेमें अहंभाव नहीं होना चाहिये, दिलके किसी कोनेमें भी । 'मैं नहीं देता, देनेवाला भी तू है ।' इस भावसे देना चाहिये ! अकबर बादशाहका माँके चरणोंमें चढ़ाया हुआ सोनेका थाल एकदम पीतलका बन गया, जब बादशाह सलामतको यह ख्याल आया—मेरे-जैसा महादानी नहीं है दूसरा !

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर ।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर ॥

खाली मुँहसे कहनेसे कुछ नहीं बनता ! 'दाता' तो दानीके रग़-रग़की जानता है । भगवान् केवल 'भाव'का भूखा है । दानको घरसे शुरू होकर, ब्रह्माण्डतक, बल्कि 'ब्रह्माण्ड-नायक'तक पहुँचना चाहिये, फैलना चाहिये। घरमें माँ नाराज़ है तो पहले उसे प्रसन्न करके, फिर बाहरकी सोचो । तुम्हारे भाईके बच्चेको पढ़ाईके लिये धन चाहिये, तो पहले उसकी ज़रूरत पूरी करो, बचे तो बाहर दो ।

जिस धनके बदले तुम कोई काम लेते हो किसीसे, वह धन दानमें नहीं गिना जाता । दान तो निष्कामभावसे, बिना किसी बदलेकी भावनासे होना चाहिये । अगर उसी वक्त तुमने अपने धनका एवज ले लिया, तब तो हिसाब-किताब वहीं खत्म हो गया । ऐसा दान दान नहीं, व्यापार होता है ।

यश-मानके लिये दिया गया दान भी सात्त्विक नहीं होता । क्या वह अन्तर्यामी मालिक नहीं जानता, जिसके लिये तुमने दिया है ? सवा रुपयेका भोग लगाकर, बार-बार अरदासमें अपना नाम सुनवाते हो, एक शिला लगवाकर उसपर अपना नाम खुदवाते हो ? यही ज्ञान है तुम्हारा ? जिसके लिये तुम दान देते हो, वह तो बिना बोले, बिना लिखे, नहीं भूलता जन्म-जन्म ! तुम उसे प्रसन्न करनेके लिये नहीं, अखबारोंमें अपना नाम छपवानेके लिये देते हो ! 'वाहवाही' तुम्हारी तो हो गयी, तालियाँ तो सुनवा दीं तुम्हारे दानने; और क्या लेना है तुमको !

दान तथा भेंटमें भेद

जब दान देनेवाला दान लेनेवालेको भगवान्‌का रूप मानकर उसके श्रीचरणोंमें प्रेमसे दान अर्पण करता है, तब दान दान न रहकर, महान् भेंट बन जाता है ।

'और हे अर्जुन ! न दानसे, न वेदोंसे, न तपसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं देखा जा सकता हूँ, जैसे मुझे तुमने देखा है । परंतु हे शत्रुतापन अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा तो इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखा और तत्त्वसे जाना अर्थात् एकीभावसे प्राप्त किया जा सकता हूँ ।'

(गीता ११ । ५३-५४)

जिस भगवान्‌ने कहा है कि 'मैं केवल सत्कर्मोंसे प्राप्त नहीं होता, मुझे प्राप्त करनेके लिये अनन्य भक्ति चाहिये', यकीन करो, सच मानो, वही आज कह रहा है कि 'अगर दान प्रेमभावसे अर्पण किया जाय तो केवल दानसे ही मेरी प्राप्ति हो सकती है ।' यदि दानमें इतनी सामर्थ्य है तो क्यों न हम दानमें भक्तिभाव भर दें कूट-कूटकर ? जो भी देना हो, बड़े प्रेम-भावसे, दूसरेको भगवान् मानकर उसके श्रीचरणोंमें भेंटरूपमें धरें ? हर रूप भगवान्‌का है । इस कलियुगमें तो भगवान् अंधे, अपाहिज, कोढ़ी कँगलेके रूपमें ही विचरता है । हर व्यक्तिको भगवान्‌का रूप मानकर, उसके चरणोंमें अपने दानकी भेंट चढ़ानेवाला भले ही नियमसे न जाय मन्दिर या मस्जिदमें, भगवान् उसपर प्रसन्न होकर, स्वयं उसके हृदय-मन्दिरमें प्रकट होकर उसे आनन्द देते हैं । यकीन नहीं तो करके देखो ।

दान गरीब लेता है, अमीरसे । भगवान्, जो सबका दाता है, दान नहीं लेता । हाँ, मित्रकी भेंटकी उसे भी जरूरत रहती है । प्रेमकी प्यास लिये वह भी भटकता है द्वार-द्वार ! एक जगह प्रभु ईसामसीह लिखते हैं—'तुम कोई भेंट लेकर गिरजा जा रहे हो । रास्तेमें तुम्हें याद आती है कि तुम्हारा भाई तुमसे नाराज़ है, तो भेंटको वहीं रास्तेमें रखकर पहले जाकर अपने भाईको मनाओ, फिर भेंट चढ़ाओ ! तब स्वीकार होगी तुम्हारी भेंट दाताके दरबारमें !'

तनसे, मनसे, धनसे दान करो—सामर्थ्यके अनुसार । सबसे उच्चकोटिका दान 'सेवाका दान' है । सेवा करते-करते भाई लहना गुरु-गद्दीका मालिक बन गया । तनद्वारा सेवा-दानसे मनमें नम्रभाव पैदा होता है, हृदयमें प्रेम जागता है,

अहंकारका अन्धकार मिटता है। किसी अपरिचित रोगीको उसकी दवाका दाम देनेवाला तो प्रिय होगा ही, लेकिन उसका हर काम करनेवाला, उसे खिलाने-पिलानेवाला, उसका बिस्तर झाड़नेवाला, उसका मल-मूत्र उठानेवाला उसे सबसे प्यारा लगेगा। रामायणमें श्रीराम कहते हैं—

तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥

(उत्तरकाण्ड ८५। ४)

गुरु नानकदेवजी तो प्रभु-सेवकके चरणोंकी धूल माँगते हैं। दासोंका दास केवल प्रभु ही हो सकता है।

"हे अर्जुन! एक ओर तो मेरी सारी सेना है, दूसरी ओर मेरी 'सेवा' है। हाथोंसे तेरा रथ हाँकूँगा और मुखसे तेरे साथ बातें करूँगा; अब चुन लो, जो लेना हो।" भगवान्‌के 'बुद्धि-दान'से न केवल अर्जुनको जीत मिली, अपितु सारे संसारको गीता-जैसा महान् ग्रन्थ मिला, जो अनेकोंका कल्याण कर चुका और करता रहेगा अनन्त-कालतक।

हमारे मुल्कमें विद्यादान होता था। गुरुओंमें कल्याणभावना थी और शिष्योंमें सेवाभाव। जिस दिनसे विद्याका व्यापार होने लगा, विद्या बेची जाने लगी, न वे गुरु रहे न शिष्य, देश कंगाल हो गया। आजकलके शिक्षकों तथा विद्यार्थियोंका हाल किसीसे छिपा नहीं है। शिक्षक रोते हैं—हमारा सत्कार नहीं होता। विद्यार्थी रोते हैं—तुम सत्कारके योग्य नहीं। हमारे पैसेका हमें दाम नहीं मिलता।

जो भी दे सकते हो, दो। गरीबोंको दो, दुःखियोंको दो, रोगियोंको दो और कभी-कभी उनका भी ख्याल करो, जो तुम्हारे उत्थानका ख्याल रखते हैं। साधु-महात्मा तुम्हारी आत्माकी फिक्र करते हैं। तुम उनके शरीरकी तो रक्षा करो। उन तपस्वियोंकी तो जरूरतें ही बहुत कम होती हैं, फिर भी हम खुशीसे उनकी सेवा नहीं करते। हमारा धर्म है, हमारा कर्त्तव्य है कि हम ब्राह्मणों (यहाँ केवल पढ़ाईका ही जिक्र है), विद्वानों, पण्डितों, साधुओं, महात्माओंके चरणोंमें सेवादान करें—तनसे, मनसे, धनसे, तभी हमारा कल्याण हो सकता है।

गुरु और प्रभु एक हैं। प्रभु अन्तर्यामी हैं, सर्वसमर्थ हैं; वे निराकार भी हैं और साकार भी! वे हिंदू-सिक्ख, मुसल्मान-ईसाई—सब कुछ हैं। एक ही अनेक रूपोंमें विचर रहे हैं। यकीन करो! विश्वास करो, किसी रूपमें भी, किसी रूपको दिया हुआ भगवान् स्वयं ग्रहण करते हैं।

'हे अर्जुन! पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादिक मैं सगुणरूपसे भोग लगाता हूँ।'

(गीता ९। २६)

प्रेमसे, श्रद्धासे अर्पण की हुई भेंटसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। जब उनकी बारी आती है तो वे क्या नहीं देते। जिस खुशनसीबपर उनका दिल आता है, वे महादानी तो अपने आपको ही भक्तके चरणोंमें रख देते हैं! वे पूर्णसे पूर्ण देकर भी पूर्ण रहते हैं!

लेकिन देनेके लिये मनमें थोड़ा 'त्याग' होना चाहिये। उदाहरणार्थ, बीस रुपये गजवाला कपड़ा न लेकर, अगर हम दस रुपये गजवाला ले लें, तो उतने ही पैसोंमें एककी जगह दो तन ढके जा सकते हैं! 'देना' याद रखो देनेसे पहले! देकर भूल जाओ! हम हमेशा देनेकी बनिस्बत लेते बहुत हैं! हमारी खुशहाली तभी बढ़ सकती है, जब हम देनेको लेनेकी अपेक्षा अधिक महत्त्व दें!

आओ, आज हम प्रतिज्ञा करें कि आगेसे हम इतना दान अवश्य किया करेंगे अपनी आयमेंसे! खूब दिल खोलकर प्रभु-चरणोंमें श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करें! मैं तुच्छ कुछ नहीं कह रही! यह जो भी कह रहे हैं, भगवान् स्वयं कह रहे हैं अपने श्रीमुखसे! वे अपने बच्चोंका दुःख नहीं देख सकते। उनकी खुशीके लिये स्वयं ही सिखाते हैं हर ढंग, अनेक रूपोंमें!

महाराज हमें सुबुद्धि दें, बल दें, ताकि हम उनके कथनानुसार चलते हुए अपना कल्याण करें।

प्रार्थना

मुझ अकिंचनको तुम अपना प्यार दे दो !

मेरे प्राणसखे !

इस संसारमें मुझ-सा अकिंचन, मुझ-सा दरिद्र तो सम्भवतः कोई न होगा। कुछ भी तो नहीं है मेरे पास अपना कहनेको ! कुछ भी तो विशिष्ट नहीं है मुझमें। मेरे प्रिय ! तुम्हें रिझानेको, तुम्हारे चरणोंमें अर्पित करनेको कुछ भी नहीं है मेरे पास !

देखो न, इस धरित्रीको ही देखो ! कितना रंग-बिरंगा पुष्पाभरणयुक्त वेष धारण किया है इसने ! हरी-हरी कोमल दूबकी मनोहर साड़ी पहनी है इसने ! एक क्षणके लिये भी इस दूर्वापथपर तुमने अपने कोमल चरण रख दिये कि इसकी सम्पूर्ण सज्जा, सम्पूर्ण शोभा कृतकार्य हो जायगी।

और, इस आकाशको देखो। प्रतिदिन अगणित किरणोंसे बुना चमकीला वस्त्र ओढ़े, सूर्य-चन्द्रके मणिदीपोंसे तुम्हारी आरती उतारता है। धन्य हैं इसके भाग्य कि तुम्हारी अर्चना करनेको ऐसे उज्ज्वल दीपक इसने पाये हैं।

इस रात्रिको ही देखो, अनन्त तारकावलि-जड़ी श्याम चूनरी ओढ़े अपने चन्द्रमुखसे तुम्हारी सुषमा निहारती रहती है।

और, यह तरुमाला अपने शाखा-करोंमें अगणित सुमधुर फल-फूलोंके उपहार सजाये एक पैरपर खड़ी तुम्हारी प्रतीक्षामें रत है। एक बार भी तुम इसकी शीतल छायामें क्षणिक विराम लेकर इसके फूल-फलोंको ग्रहण कर लोगे तो इसकी तप-साधना सफल हो जायगी।

ये विहंगमगण निरन्तर अपनी कलरव-काकलीसे तुम्हारा यशोगान गा रहे हैं। एक बार भी तुम प्रेमसे इनकी ओर निहार लोगे तो इनका जीवन धन्य हो जायगा।

यह सुरभित मन्द-मन्द मलय-समीर, ये नृत्यपरायणा विद्युन्मालाएँ, ये झूमती-झुकती मेघावलियाँ, ये वेगसे धावित जल-धाराएँ—सभी तो तुम्हारे सुख-साधनमें, तुम्हारे पूजा-आयोजनमें संलग्न हैं।

सभी तो मुझसे अच्छे हैं। सबका जीवन सार्थक है, सोद्देश्य है, सफल है। एक मैं ही निरुद्देश्य, व्यर्थ, भारस्वरूप हूँ। कोई भी गुण नहीं है मुझमें, कुछ भी विशेषता नहीं है मेरे जीवनमें—न रूप न शील, न माधुर्य न लावण्य, न कौशल न कर्मपरायणता—केवल कामनाएँ हैं, प्रार्थनाएँ हैं, आँसू हैं, अभियोग हैं।

चाह थी अपने हृदयका निर्मल प्यार तुम्हें दे पाता ! पर प्यार भी नहीं है मेरे पास कि तुम्हें दे सकूँ। मेरे प्राण इतना प्यार पा ही कहाँ सके कि तुम्हें दे पाते। मुझमें तो प्यारका लवलेश भी नहीं है। तुम्हें समर्पित करनेको कणमात्र भी प्यार मुझे प्राप्त होता कहाँसे ?

प्रीतिके साकार विग्रह तो तुम्हीं हो ! तुम्हीं तो मूर्तिमान् प्रेम हो ! मात्र प्रेमसे ही निर्मित एक प्यारी मूर्ति हो तुम, मेरे प्रेम-देवता ! प्रेम-नैवेद्यसे ही तुम रीझते हो। प्रेम-पूजा ही तुम्हारी यथार्थ पूजा है।

मेरे अवलम्ब तो केवल तुम हो ! मैं तो तुम्हारे ही द्वारका एक याचक हूँ । तुम्हारा होकर किसी अन्यके द्वारपर जानेका विचार भी मनमें कैसे ला सकता हूँ ? तुमसे याचना एक ही वस्तुकी करता हूँ । वह वस्तु है—प्यार । मेरे प्राणसखे ! मुझे तो एकमात्र 'प्यार' नामक पदार्थ दे दो, शेष सभी कुछ अपने पास ही रहने दो । अन्य किसी वस्तुकी छाया भी छूनेकी मुझे चाह नहीं ।

यह प्यार—एकमात्र तुम्हारा प्यार ही मुझे प्राप्त हो गया तो मैं इस जगत्में मुक्त, निर्भय होकर विचरण करूँगा । जगत्के सम्पूर्ण ताप मुझे छू भी नहीं पायेंगे । संसारके सारे विष मेरी तनिक भी क्षति नहीं कर सकेंगे । मैं प्यारका अमृत जो पिये रहूँगा !

मेरे प्राणधन ! तुम तो इतना ही करो, अपना प्यार मुझे दे दो । उसीको मैं तुम्हारे चरणोंमें समर्पित करता रहूँगा तथा बदलेमें कईगुना तुमसे और पाता रहूँगा । इस प्रकार अनन्तकालतक हम दोनों प्रेमका ही आदान-प्रदान करते रहेंगे । मेरे हृदयधन ! मैं अनन्तकालतक तुम्हें प्यार करता रहूँ और अनन्तकालतक तुम्हारा प्यार पाता रहूँ—इससे बड़ी और कौन-सी अभिलाषा तुम्हारे सामने व्यक्त करूँ ?

हम दोनों अनन्तकालतक प्रेम-सिन्धुकी लहरोंमें डूबते-उतराते रहें—यही मेरे प्राणोंकी चिर साध है; यही माँगता हूँ तुमसे ।

—तुम्हारा ही अपना एक

गतवर्षके श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

(कार्तिक पूर्णिमा २०२८ से चैत्र पूर्णिमा २०२९ तक)

बड़े आनन्दकी बात है कि प्रतिवर्ष हमारी प्रार्थनापर ध्यान देकर 'कल्याण'के भगवन्नाम-प्रेमी सम्मान्य पाठक-पाठिकाएँ स्वयं जप करते हैं तथा अन्यान्य महाभाग्यवान् महानुभावों तथा महाभागा देवियोंको प्रेरित करके उनके द्वारा जप कराते हैं और उसकी सूचना हमें देते हैं । प्रतिवर्ष, **'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'**—इस षोडश नाम-मन्त्रके बीस करोड़ जपके लिये प्रार्थना की जाती है, परंतु भाग्यशाली जपकर्ताओंका उत्साह इतना अधिक होता है कि प्रतिवर्ष ही जप-संख्या चालीस-पचास करोड़ हो जाया करती है । गतवर्ष हमारे यहाँ मन्त्र-संख्या ६६, ५८, ८५, ५०० (छाछठ करोड़, अट्ठावन लाख, पचासी हजार, पाँच सौ) तथा नाम-संख्या १०, ६५, ४१, ६८ ०००, (दस अरब, पैंसठ करोड़, इकतालीस लाख, अड़सठ हजार) अङ्कित हुई । इस महान् पुण्यकार्यमें जिन्होंने सहयोग दिया है, हमलोग उनके बड़े कृतज्ञ हैं और इस कृपाके लिये हम उनको श्रद्धावनत हृदयसे बार-बार नमस्कार करते हैं । श्रीभगवन्नाम-प्रेमी सम्मान्य पाठक-पाठिकाओंसे हमारा विशेष अनुरोध है कि इस वर्ष यह संख्या इससे भी अधिक होनी चाहिये और इसके लिये उन्हें सूचना प्राप्त होते ही प्रयत्न करना चाहिये । श्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा प्रचारित इस 'भगवन्नाम-जप-यज्ञ'में जो महानुभाव अपनी आहुति डालेंगे, उन्हें निश्चय ही भगवान्‌की कृपा प्राप्त होगी । नाम और नामीमें अभेद है, नामका आश्रय भगवान्‌का आश्रय ही है ।

गतवर्ष जिन-जिन स्थानोंसे नाम-जप होनेकी सूचना हमें प्राप्त हुई है, उनकी सूची अगले अङ्कमें प्रकाशित की जा सकती है ।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृहन्नारदीयपुराण)

'एकमात्र श्रीहरिका नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें निश्चय ही और कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।'

अहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य। तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

'जिस प्रकार सूर्यभगवान् एक बार उदय होनेमात्रसे ही सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीहरिका नाम एक बार उच्चारणमात्रसे ही जीवमात्रके समस्त पापोंको नष्ट कर देता है, अतएव जगत्के मङ्गलकारी श्रीहरिनामकी जय हो!'

हमारे शास्त्रोंने तथा संतोंने भगवान्के नाम-स्मरणको कलियुगका मुख्य धर्म माना है। इतना ही नहीं, जगत्के समस्त धर्म-सम्प्रदाय भी किसी-न-किसी रूपमें भगवान्के नामस्मरणके महत्त्वको स्वीकार करते हैं। नामके स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई भी नियम नहीं है। श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है—

'नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।'

'हे भगवन्! आपने लोगोंकी विभिन्न रुचि देखकर नित्यसिद्धि अपने बहुतसे नाम कृपा करके प्रकट कर दिये, प्रत्येक नाममें अपनी सारी शक्ति भर दी और नाम-स्मरणमें देश-काल-पात्रका कोई नियम भी नहीं रखा।'

'कल्याण'के माध्यमद्वारा भी आरम्भसे ही भगवान्के नाम-स्मरणका प्रचार हुआ है, कारण 'कल्याण'के प्रवर्त्तक एवं आदि सम्पादक परमश्रद्धेय नित्यलीलालीन हमारे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पूर्वजन्मके संस्कारवश एवं भगवत्कृपासे बाल्यकालसे ही भगवन्नामके प्रति बड़ी निष्ठा तथा रुचि थी और उन्होंने जीवनभर नामकी साधना की। वे आजीवन षोडशनाम-महामन्त्र—**'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'** का जप करते रहे। उन्होंने श्रीभगवन्नाम-स्मरणको ही वर्तमान युगके लिये एकमात्र साधन माना। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है—

'इस नामके सिवा संसार-सागरसे पार कर देनेवाला दूसरा कोई भी सहज साधन मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता। ×××××× मैं भगवन्नामकी महिमा क्या लिखूँ? मैं तो नामका जिलाया जी रहा हूँ।' एक बार ऋषिकेशके सत्सङ्गमें भी उन्होंने कहा था—'मैं भगवान्के नामके जपपर जोर क्यों देता हूँ? इसका कारण यही है कि मैंने जीवनभर यही किया है। जो कुछ भी अच्छी बात मेरे जीवनमें आयी है, वह नाम-जप एवं भगवत्कृपाके प्रतापसे। पारमार्थिक जीवनका आरम्भ नाम-जपसे हुआ और जीवनमें साधना भी इसीकी हुई है।'

श्रीभाईजी स्वयं तो नामपरायण थे ही, वे जगत्के जीवोंको भी नामपरायण करना चाहते थे। अतएव उन्होंने 'कल्याण'के प्रवर्तनसे एक वर्ष पूर्व ही अर्थात् संवत् १९८२ में, जब वे बम्बईमें निवास करते थे, सामूहिक नाम-जपके लिये प्रार्थना की। मित्रों, स्वजनों तथा नाम-प्रेमियोंने उनके इस सत्प्रयासका स्वागत किया और पर्याप्त नाम-जप हुआ। संवत् १९८३ में जब 'कल्याणका' प्रवर्तन हो गया, तब श्रीभाईजीने 'कल्याण'के द्वारा भगवन्नाम-

के प्रचारका उद्घोष किया। प्रथम वर्षके सातवें अङ्कमें (अर्थात् माघ सं० १९८३ में) उन्होंने उसी वर्षकी फाल्गुन पूर्णिमातक अर्थात् २ मासके अल्प समयमें षोडशनाम-महामन्त्रके साढ़े तीन करोड़ जप करनेकी 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की। सच्चे नामप्रेमीकी प्रार्थनाका आशातीत प्रभाव होना ही था। फलतः उस वर्ष प्रार्थित संख्यासे दस-गुनी संख्यामें नाम-जप हुआ। इसके पश्चात् तो श्रीभाईजी नाम-प्रचारपर तुल गये और उन्होंने 'कल्याण'का प्रथम विशेषाङ्क अर्थात् श्रावण सं० १९८४ का अङ्क 'श्रीभगवन्नामाङ्क'के नामसे प्रकाशित किया। इस अङ्कके पठन-मननसे सहस्रों व्यक्ति नामपरायण हुए। तबसे श्रीभाईजी प्रतिवर्ष 'कल्याण'में नाम-जपके लिये प्रार्थना प्रकाशित करने लगे तथा उस प्रार्थनापर ध्यान देकर देश-विदेशमें फैले हुए 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाएँ बड़े उत्साह एवं प्रेमसे नाम-जप करते-करवाते रहे। इतना ही नहीं, श्रीभाईजी अपने सत्सङ्गमें नामस्मरणपर विशेष जोर देते थे। व्यक्तिगतरूपसे साधना पूछनेवालोंको भी नामजप अवश्य बतलाते थे।

किंतु विधिका विधान! हमारे स्नेहमूर्ति श्रीभाईजी, जिनका तन-मन-प्राण श्रीभगवन्नाममय हो गया था, प्रत्यक्षरूपमें आज हमारे बीच नहीं हैं। नाम-प्रेमी होते हुए भी मेरा जीवन नामपरायण नहीं है। अतएव श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना करनेमें मुझे बड़े संकोचका अनुभव हो रहा है। परंतु शास्त्रों एवं संतोंद्वारा प्रतिपादित तथा अपने परमश्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा प्रचालित नाम-स्मरणकी इस साधन-परिपाटीको बराबर चालू रखना अपना कर्तव्य मानकर **'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे विनम्र प्रार्थना करता हूँ कि वे गत वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी कृपापूर्वक स्वयं प्रेम एवं उत्साहके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें एवं प्रेरणा देकर अपने स्वजनों, बान्धवों, पड़ोसियों आदिसे करायें। इसमें उनका तथा उनकी इस प्रार्थनाको जो भी स्वीकार करेंगे, उनका परम हित होगा।** साथ ही, वे सभी नाम-प्रेमी सज्जन मुझे आशीर्वाद दें, जिससे मेरा जीवन भी नामपरायण हो जाय।

गत वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२–इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५, सोमवार, सं० २०२९ (२० नवम्बर १९७२) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५, मंगलवार सं० २०३० (१७ अप्रैल १९७३) तक रहेगा। जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५, सं० २०३० को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है, करना चाहिये ही। देरसे जपकी सूचना मिले तो जब मिले, तभीसे जप शुरू कर देना चाहिये।

३–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४-एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप तो अवश्य करना चाहिये । अधिक कितना भी किया जा सकता है ।

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रक्खी जा सकती है ।

६-यह आवश्यक नहीं है कि असुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय । प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है ।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये । पर यदि ऐसा सम्भव न हो तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये ।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है ।

९-स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये । संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये ।

१०-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं । पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है । हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्र-जपकी ही दें । लिखित भगवन्नाम हमें नहीं भेजने चाहिये; कारण, हमारे यहाँ उनके पूजन आदिकी व्यवस्था नहीं है ।

११-सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है । सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये ।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं । उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं । अतएव जिस दिनसे जो भाई-बहन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये ।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र-पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र-पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र-पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो ।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा । स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साह-वृद्धिमें सहायक बनते हैं ।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है ।

१६-सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीतावाटिका (गोरखपुर)

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

हो सकता पुत्र कुपुत्र, कभी माता न कुमाता होती पर

(श्रीशंकराचार्यविरचित प्रसिद्ध 'श्रीदेव्यपराधक्षमापनस्तोत्र' का पद्यानुवाद)

(१)

मन्त्रों-यन्त्रोंका ज्ञान नहीं, करना न स्तवन मुझको आता।
अविदित आह्वान-ध्यान-विधि या कैसे गुण-गान किया जाता॥
जानता न तव मुद्राओंको, करना न मुझे आता बिलाप।
माँ! परम तथ्य जानता कि तव अनुसरण मिटाता पाप-ताप॥

(२)

विधिके न जाननेसे, निर्धनतासे, मेरे सालस-पनसे।
त्रुटि हुई चरण-सेवामें जो अथवा कर्तव्यापालनसे—
माँ! सकलोद्धारिणि शिवे! चाहिये, क्षमा-दृष्टि फेरो इसपर।
हो सकता पुत्र कुपुत्र, कभी माता न कुमाता होती पर॥

(३)

हैं सरलचित्तवाले अम्बे! पृथ्वीपर तेरे पुत्र बहुत।
उन सबमें सबसे विरल-बक्र मैं भी हूँ एक तुम्हारा सुत॥
है शिवे! उचित तुमको न मुझे तज देना, जाना मुझे बिसर।
हो सकता पुत्र कुपुत्र, कभी माता न कुमाता होती पर॥

(४)

तव चरणोंकी माँ! जगदम्बे! मुझसे न हुई सेवा विरचित।
हे देवि! न और किया तुमको मैंने धन-धान्य विपुल अर्पित॥
तब भी करती हो प्रचुर स्नेह अनुपम तुम इसीलिये मुझपर।
हो सकता पुत्र कुपुत्र, कभी माता न कुमाता होती पर॥

(५)

तज दिया सुरोंको नानाविधि सेवासे मैंने अकुलाकर।
अब कुछ भी हाथ न लगा, यदपि हो गया पचासीसे ऊपर॥
इस समय तुम्हारी कृपा-दृष्टि यदि मातः मुझपर फिरी नहीं।
जन निरालम्ब हेरम्ब-जननि! पायेगा कैसे ठौर कहीं॥

(६)

अविशद-भाषी चण्डाल प्राप्त करता मधु-सदृश रसाल गिरा।
निर्भय विहार करता चिर दिन निर्धन निष्कोंसे कोटि घिरा॥
कानोंमें पड़े अपर्णे! तव मन्त्रस्थित-सकृदक्षर-फल यह।
क्या-क्या फिर प्राप्य सविधि जापकजनको न जानता; सकता कह॥

(७)

तन चिता-भस्मसे भूषित, वेश दिगम्बर, भोजन कालकूट।
पशुपति, ग्रीवामें अहिपतिकी माला शोभित, सिर जटाजूट॥
भूतेश, कपाली तदपि अखिल-जगदीश्वर पदवीसे भूषित।
तव पाणिग्रहण-परिपाटीका ही है अम्बे! यह फल निश्चित॥

(८)

है नहीं मोक्षकी आकाङ्क्षा, भव-विभव-लालसा मुझे नहीं।
विज्ञान अपेक्षित नहीं; न तो उर बीच सुखेच्छा छिपी कहीं॥
अतएव जननि! याचना यही, मेरा जीवन-पथ जाये नप।
शिव, शम्भु, भवानी, उमा, मृडानी, रुद्राणीका करते जप॥

(९)

की नहीं आराधना विधिमयी बहु-उपचार-सज्जित।
किया वाणीने न क्या-क्या रूक्ष-चिन्तनमें निमज्जित॥
शिवे! अशरण-दीन मुझपर यदि कृपा किंचित तुम्हारी।
तो तुम्हारे लिये माँ यह बात औचित्यानुसारी॥

(१०)

आपत्ति-सिन्धुमें डूबा करता हूँ स्मरण तुम्हारा।
हे दुर्गे! करुणा-सागर, हे महामहेश्वरि तारा॥
आचरण इसे शठताका मानना न मेरे द्वारा।
हो क्षुधा-तृषाकुल माँको शिशुने है सदा पुकारा॥

(११)

जग-जननि! अघट क्या, यदि मुझपर तुममें करुणा भर-भर आती।
संतत अपराध-निरत सुतकी भी माँ न उपेक्षा कर पाती॥

(१२)

मुझ-सा न अघी कोई न तथा तुम-सम करनेमें हरण दुरित।
हे महादेवि! यह तथ्य जान, अब करो वही जो लगे उचित॥

—माधवशरण

'अभयं मित्रादभयममित्रात्'

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

वेदवाणी जीवनके अनुभूत तत्त्वज्ञानसे पूर्ण है। उसमें अनेक शाश्वत सत्योंका उद्घाटन हुआ है। इसीलिये वह ऋषिवाणी, देववाणी, सनातन वाणी है। अथर्ववेदके ऋषि १९। १५। ६ में कहते हैं—

> अभयं मित्रादभयममित्राद्
> अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
> अभयं नक्तमभयं दिवा नः
> सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

'हमें मित्रसे भय न हो, अमित्र (शत्रु)से भी भय न रहे। जो ज्ञात है, उससे भय न हो और जो आगे है, आनेवाला है, उससे भी भय न हो। हमें रातमें भी भय न हो, दिनमें भी भय न हो; सभी दिशाएँ—सभी दिशाओंके प्राणी मेरे मित्र हो जायँ, मेरे मित्र होकर रहें।'

अभय सर्वात्मसाधनाका प्राणविन्दु है। ज्ञात अथवा अज्ञात विश्वमें जो भी जीवन है, वह सब परमात्मसत्ताके कारण और उसीको लेकर है। हम सब उसीके हैं, उसीसे हैं, उसीके अन्तर्गत हैं। कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूपमें उसी विराट्को पाने, उसको अनुभव करनेकी प्रेरणा मानवमें स्फुरित होती है। मानव ही क्यों, समस्त जगत्, जगत्का प्रत्येक अणु उसी मूल चिन्मय शक्तिकी धारामें बहता हुआ उसको पानेके लिये थिरकता, नृत्य करता चल रहा है। सब कुछ उसीमें और उसीकी ओर प्रधावित है। मनुष्यमें उस चिन्मयताके कुछ अधिक कण होनेके कारण, विकासकी प्रक्रिया अपेक्षाकृत तीव्र होनेके कारण, वह प्रयत्न करनेपर उसका आभास पा सका है। वह जान सका है कि सब उसीके चिदंश हैं, इसलिये इन चिदंशोंमें भी एक आकर्षण है। सबमें एकत्व है, इसलिये उनमें एक-दूसरेको अपनानेकी सहज प्रेरणा है। यही प्रेरणा कि सब अन्तमें एक हैं, कर्म-सुलभ होनेपर नीति, भाव-सुलभ होनेपर धर्म या भक्ति और ज्ञान-सुलभ होनेपर दर्शनके रूपमें अवतरित होती है।

जब ज्ञान परिष्कृत होकर दर्शन बनता है, तभी मनुष्यमें यह वास्तविक ऐक्य-बोध आता है कि सब कुछ एक ही सत्ताका रूपान्तरण है। मानवने अपनी सुख-सुविधाके लिये एक जगह रहना सीखा; ऐक्य-बोधकी यह निरन्तर गतिशील प्रक्रिया ही उसे एक-दूसरेकी ओर खींचती रही। मानवमें जो प्रेमतत्त्व है, ममत्वकी भावना है, वह वस्तुतः इसी ऐक्य-बोधको लेकर है। इसीलिये श्रेष्ठ नीतिका आधार है मानवका मानवके प्रति, बल्कि जीवमात्रके प्रति भ्रातृत्व-बोध, ऐक्य-बोध। जब सब अपने हैं, बन्धु हैं, तब उनके प्रति विरोध, रोष या हिंसाका भाव आ ही कैसे सकता है। जब समग्र जगत् उसी एक प्रभुसे आच्छन्न है, जो सबका है, जिसमें सबका अस्तित्व है और सब जिसके अंश हैं, तब विरोध कैसा, हिंसा कैसी ? वही बात है, जो तुलसीदासने उमाके प्रति शिवके वचनरूपमें कहलायी है—

> उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
> निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

यह ऐक्य-बोध मानवकी समस्त साधनाका हृदय है। इसीसे अभयकी स्थिति आती है। जब सब अपने ही हैं, तब भय किससे ? संसारमें जो कुछ विरोध है, विडम्बनाएँ हैं, प्रतिस्पर्द्धा है, वह इसीलिये कि मनुष्य निम्नस्तरपर जी रहा है, वह अपना स्वरूप भूल गया है; सारा झगड़ा देहगत अनुभवों एवं कल्पनाओंको लेकर है। जब मानव दैहिक जगत्में स्थित होता है, भ्रमवश अपनेको देह समझ लेता है; जब उसकी सारी प्रक्रिया देहको सँभालने-सँवारने, उसीके लिये साधन जुटाने, उसीकी रक्षा एवं शृङ्गारसे सुख पानेकी ओर अग्रसर होती है; जब वह भूल जाता है कि यह देह भी किसी अमर-तत्त्वके स्पर्शसे जीवनमय दिखायी पड़ती है। वास्तविक स्थिति देहातीत है, आत्मगत है, आत्मिक है और आत्मबोध ऐक्यबोधको लेकर है, तभी सत्य असत्यसे आच्छन्न हो जाता है; जो सनातन है, उसका बोध लुप्त हो जाता है; हम अपनेको देह समझते हैं और इसी देह तथा उसकी परिधिको लेकर राग करते हैं, प्रतिस्पर्द्धा करते हैं, अपना-पराया भेद करते हैं और जहाँ गहराईमें ऐक्य है, वहाँ अनैक्य देखते हैं। जब अपना पराया हो जाय तो आकर्षण कैसे हो। इसीलिये विकर्षण, हिंसा, युद्ध, झगड़े, दूसरोंको नष्ट करके अपना विस्तार करनेकी आकाङ्क्षा जन्मती है। जितनी भी मनोगत दुर्भावनाएँ हैं, सब भयके कारण उत्पन्न होती हैं। भय विभेदके असत् अनुभवोंसे उत्पन्न होता है। भय देहानुभव है, अभय देहातीत अस्तित्वका अनुभव है।

इसीलिये अभय आत्मज्ञानकी पहली शर्त है। योगशास्त्र इसकी महिमाका गान करता है। गीतामें भगवान् 'अभय'से ही दैवी सम्पदाकी गणना आरम्भ करते हैं। 'अभय'का अर्थ ही है देह-लोकको पारकर आत्म-जगत्में प्रवेश करना। जब यह आता है, तब स्वभावतः हमारी दृष्टि पलट जाती है। तब यह अनुभव होता है कि सुप्त एवं जागरित, जितना भी जीवन है, उस सबका स्रोत एक ही है। एक ही सत् अनेक रूपोंमें व्यक्त हुआ है—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।'** यहाँतक कि सामान्य एवं व्यावहारिक जगत्में जिन्हें हम जड और जंगम, चर और अचर दो विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं, वे भी एक ही शक्तिकी विभिन्न स्थितियाँ हैं, जो विभिन्न रूप-नामके साथ हमारे सामने आती हैं। इनमें केवल अवस्था-भेद है, तत्त्वभेद नहीं। अन्तिम और आत्यन्तिक दर्शनमें सब एक ही हैं या यों कह लीजिये कि सब एकके अवान्तर-भेद हैं। श्रुति कहती है—**एकोऽहं बहु स्याम्;** एक ही ब्रह्म (या पुरुष) अनेक रूपोंमें अवतरित हो गया।

जीवनका स्रोत एक होते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति एवं विकासके भिन्न-भिन्न स्तर हैं। सबमें वही है, किंतु मात्रा-भेदसे। या यह कहना अधिक यथार्थ होगा कि वह मूलचिच्छक्ति किसीमें अपेक्षाकृत अधिक सुप्त है और किसीमें अधिक सक्रिय, घनीभूत एवं व्यक्त है। इसीलिये जड भी वस्तुतः जड नहीं, अव्यक्त चेतन है। चिदंश तो सबमें है, केवल उसके रूप-ग्रहण या अभिव्यक्तिमें भेद है। मानवमें यह चिदंश सबसे अधिक चैतन्य-रूप है और मूल स्रोतके सबसे अधिक निकट है। इसीलिये वह आत्मरूप है, उसमें ब्रह्मशक्तिका, परमात्म-ज्योतिका या सत्यका स्फुरण है। उसमें स्वरूपका अनुभव करनेकी शक्ति भी है।

इसीलिये मानवने अपने सत्यान्वेषणकी यात्रामें अपने स्रोतके प्रति अपने विच्छेदको मिलनमें परिवर्तित कर देनेकी पिपासा और तत्सम्बन्धी अनुभूतिके कारण यह उपलब्धि की कि विश्व-प्रपञ्चमें जो कुछ भी है, सबके साथ वह एक आकर्षण-शक्तिमें बँधा है। सब एक ही रज्जुमें बँधे हुए हैं; केवल इतना अन्तर है कि मानव उसकी अनुभूतिमें समर्थ है, दूसरी योनियाँ नहीं। और जब यह अनुभूति आती है, तब सब जीव, सब प्राणी एक ही पिताकी संतति हो जाते हैं अथवा यह प्रतीति हो जाती है कि सब एक ही शक्तिके विविध स्फुरण हैं।

स्वभावतः समस्त जगत् एक ही शक्ति-स्रोत या परमात्माका अंश होनेसे, सृष्टि-मात्रमें अंशीके प्रति, और इसीलिये एक-दूसरेके प्रति भी मिलनकी एक गूढ़ पिपासा है। अणु-मात्र एक आकर्षणशक्तिसे चञ्चल है और स्वतन्त्र होते हुए भी सब एक-दूसरेसे बँधे हुए हैं।

यह जो शरीर-गत भेद है, वही वस्तुतः आत्मैक्यके अनुभवमें बाधक है। ज्यों-ज्यों मानव साधनाकी अवस्थामें आता है और ऊपर उठता है, त्यों-त्यों वह देहातीत होता जाता है, उसमें आत्मैक्यकी अनुभूति विकसित होती जाती है; और ज्यों-ज्यों यह आत्मैक्यकी अनुभूति आती है, त्यों-त्यों समस्त भेदभाव लुप्त होते जाते हैं और विश्वकुटुम्बकी भावना पनपती है। तब जिन्हें हम अमित्र समझते आ रहे थे, उनके प्रति भी मैत्रीभाव जगता है। शत्रु भी मित्र हो जाते हैं, इसलिये अभयकी स्थिति प्रकट होती जाती है।

इसीलिये श्रुति पुकार-पुकारकर बार-बार प्राणिमात्रके प्रति मित्र-दृष्टि रखनेकी घोषणा करती है। रचनाके आरम्भमें अथर्ववेदकी जो ऋचा दी गयी है, उसमें इसी द्वैधवृत्तिसे एकात्मानुभवकी वृत्तिका चित्रण है। साधक सर्वत्र अभयकी स्थितिकी कल्पना और याचना करता है। वेदमें बार-बार इस अभयावस्थाकी याचना है। अथर्ववेद पुनः कहता है—

इदमुच्छ्रेयोऽवसानभागां
शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु
न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥

(१९ । १४ । १)

अर्थात् अब यही कल्याणकर है कि मैं समाप्तिपर आ जाऊँ; द्वेष-परम्परापर विराम लगा दूँ। अतः हे शत्रु ! तेरे साथ मैं तो द्वेष करना छोड़ ही देता हूँ। द्यौ और पृथिवी भी मेरे लिये अब कल्याणकारी हो जायँ। दिशाएँ एवं अवान्तर दिशाएँ भी मेरे लिये शत्रुताशून्य हो जायँ, मेरे लिये अब अभय ही अभय हो जाय।

आज हमारे चतुर्दिक् भयका अन्धकार छा गया है। इसीलिये इतने ज्ञान-विज्ञानके बाद भी मनुष्य दूसरे प्राणियोंके प्रति मैत्रीभाव रखनेकी अपेक्षा द्वेष-बुद्धिसे आक्रान्त है। अपने भ्रमजालसे उसने अपनेको तो संकटमें डाल ही रखा है, समस्त जगत्के एकात्मानुभवकी प्रक्रियामें भी वह बाधक हो रहा है।

सफलता-प्राप्तिके सात नियम

जीवनमें सफलता-प्राप्तिके लिये इन सात नियमोंका पालन कीजिये—

१–परिश्रम—दीपकके आलोकका रहस्य इस बातमें निहित है कि अपने आलोकको बनाये रखनेके लिये बत्ती एवं तेल जलाता रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने शरीरका तेल जलाते हैं, अर्थात् कठिन परिश्रम करते हैं, वे निश्चय ही अपने जीवनमें सफलता प्राप्त करते हैं। हमें सदैव स्मरण रखना चाहिये कि संघर्ष ही जीवन है और निष्क्रियता मृत्युका दूसरा नाम है। सरोवरके स्थिर जल और कल-कल करती हुई प्रवाहमयी नदीके जलमें कितना अन्तर होता है! बह रही नदीका जल निर्मल, आकर्षक एवं स्वादिष्ट होता है, जब कि सरोवरका स्थिर जल मलिन, दुर्गन्धयुक्त एवं स्वादरहित होता है। यदि आप जीवनमें सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो नदीकी भाँति निरन्तर आगे बढ़ते रहिये। परिश्रम! परिश्रम!! परिश्रम!!!—यही सफलताका प्रथम मन्त्र है।

२–त्याग एवं बलिदान—जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये हृदयमें त्याग एवं बलिदानकी भावना होनी चाहिये। यदि आप कुछ पाना चाहते हैं तो कुछ देना भी सीखिये। एक बीजको विशाल वृक्ष बननेके लिये अपने-आपको मिटाना पड़ता है। सम्पूर्ण आत्मबलिदानका परिणाम 'फल' होता है।

मिटा दे अपनी हस्ती को अगर तू मर्तबा चाहे,
कि दाना खाक में मिलकर गुले गुलजार होता है।

३–तीव्र लगन—किसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिमें तीव्र लगनका होना आवश्यक है। आत्मविस्मृतिसे जो कार्य किया जायगा, उसमें आपको सफलता मिलेगी। यदि आप विचार कर रहे हैं तो स्वयं विचार बन जाइये, आप यदि कार्य कर रहे हैं तो स्वयं कार्य बन जाइये; सफलता आपके पाँव चूमेगी।

४–स्नेह एवं सहानुभूति—दूसरोंके प्रति आपके हृदयमें स्नेह एवं सहानुभूति होनी चाहिये। जब आप किसीको प्यार देंगे तो दूसरा भी आपपर प्यार लुटायेगा। स्नेह देना और स्नेह पाना सफलताका चौथा सिद्धान्त है।

५–प्रफुल्लता—प्रत्येक दशामें प्रसन्नचित्त रहना सफलताका पाँचवाँ सिद्धान्त है। आपके खिलते हुए मुखपर मुस्कुराहट देखकर मुझको प्रसन्नता होती है। आप मुस्कुराते हुए पुष्प हैं। आप मानवताके मुस्कान-भरे अङ्कुर हैं। आप प्रफुल्लताके प्रतीक हैं और मैं चाहूँगा कि आप जीवनके अन्तिम क्षणतक प्रसन्नचित्त रहें। कार्यके लिये कार्य कीजिये। भूत एवं भविष्यकी चिन्ता किये बिना लगनसे कार्यरत रहिये। निश्चय ही इस प्रकारकी चित्तवृत्ति हर समय आपको प्रफुल्लता प्रदान करेगी।

६–निर्भयता—भीरुता मृत्युके समान है। अतः इसे अपनेसे दूर रखिये। निर्भय व्यक्ति असम्भवको सम्भव बना सकता है। आपकी साहसपूर्ण दृष्टि शेरतकको वशमें कर सकती है, बड़े-से-बड़े शत्रुको शान्त कर सकती है। हिमालयके घने-घने जंगलोंमें मैंने भ्रमण किया है। चीते, रीछ, भेड़िये आदि खूँखार जानवरोंसे सामना हुआ है, परस्पर नजरें मिली हैं; किंतु वे बिना कोई हानि पहुँचाये मेरे पाससे निकल गये हैं। याद रखिये—निडरता एवं साहसके सामने बड़ी-से-बड़ी आपत्ति भी नहीं टिक सकती।

७–आत्मविश्वास—सफलताका मूलाधार आत्मविश्वास एवं आत्मनिर्भरता है। यदि कोई मुझसे सफल-जीवनकी परिभाषा पूछे तो मेरा उत्तर होगा—आत्मविश्वास एवं आत्मज्ञान। भगवान् उन्हींकी सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं।

—स्वामी रामतीर्थ

पढ़ो, समझो और करो

(१)

प्रार्थना आत्माका भोजन है

बात उन दिनोंकी है, जब गांधीजी खादी-प्रचारके लिये देशभरमें भ्रमण कर रहे थे। मोटरमें दिन-रात यात्रा करते हुए वे आन्ध्रप्रदेशके चिकाकोल नामक स्थानमें पहुँचे। उस दिन वहाँ कताईकी प्रतियोगिताका आयोजन था। गांधीजीके साथ काका कालेलकर तथा महादेव भाई देसाई भी थे। तीनों ही इस थकानभरी यात्रासे अत्यन्त श्रान्त हो गये थे। काकासाहब तथा महादेव भाई प्रतियोगितामें नहीं गये, वे जाकर सो रहे। गांधीजीकी उपस्थिति प्रतियोगितामें अनिवार्य थी। अतः वे गये। कितनी रातको वहाँसे निवृत्त होकर सो पाये, यह कोई नहीं जान सका।

प्रातः चार बजे सभी लोग प्रार्थनाके लिये उठे। गांधीजी उस समय बैठे हुए थे। उन्होंने पूछा—'रातको सोनेके पहले क्या तुमलोगोंने प्रार्थना कर ली थी ?'

काकासाहबने सकुचाते हुए उत्तर दिया—'मैं तो थककर इतना चूर हो गया था कि प्रार्थनाकी स्मृति भी मुझे नहीं हुई। मैं कब सो गया, मुझे यह भी पता नहीं है।'

महादेव भाईने उत्तर दिया—'थका हुआ तो मैं भी बहुत अधिक था; परंतु सोनेके पूर्व मुझे प्रार्थनाका स्मरण हो आया और मैंने बिस्तरपर ही बैठकर प्रार्थना कर ली।'

गांधीजीने कहा—'मैं घंटे-डेढ़-घंटे प्रतियोगितामें बैठा था। थकानके मारे लौटकर आते ही सो गया। प्रार्थना करना ही भूल गया। दो-ढाई बजे अचानक मेरी नींद टूटी। मुझे स्मरण हो आया कि मैं आज बिना प्रार्थना किये ही सो गया था। यह ज्ञान होते ही मेरा सारा शरीर काँपने लगा। मैं पसीनेसे लथपथ हो गया। उठकर बैठा तो पश्चात्तापके मारे सोच नहीं पा रहा था कि क्या करूँ। जिसकी कृपासे मैं जीवन धारण किये हूँ, मेरी श्वास जिसकी शक्तिसे चल रही है, उसी भगवान्‌को मैं स्मरण किये बिना सो गया। मुझे बार-बार यही पश्चात्ताप हो रहा था कि मुझे बिना प्रार्थना किये नींद आ कैसे गयी। क्या मेरे लिये प्रार्थना नींदसे भी कम आवश्यक है ? मैं बारंबार प्रभुसे क्षमा माँगता रहा। उसके बाद मुझे अबतक नींद नहीं लगी, तबसे मैं इसी प्रकार बैठा हूँ।'

इसके पश्चात् गांधीजीने सबके साथ प्रातःकालकी प्रार्थना की। प्रार्थनाका कार्यक्रम सम्पन्न होनेपर उन्होंने कहा—'सायंकालकी प्रार्थनाका कोई नियत समय न होनेसे ही यह भूल हुई है। हमलोग दिनभरका कार्यक्रम पूरा करके सोनेसे पूर्व जब समय मिलता है, तब प्रार्थना करते हैं—यही हमारी भूल है। हमें प्रार्थनाको प्रधानता देनी चाहिये। जैसे शरीरके लिये भोजन आवश्यक है, वैसे ही प्रार्थना आत्माके लिये आवश्यक है। आजसे सायंकालकी प्रार्थनाका समय निश्चित कर लिया है। ठीक सात बजे सायंकालकी प्रार्थना करनी है, फिर चाहे हम कहीं हों, कुछ भी करते हों।'

इस नियमका गांधीजीने आजीवन दृढ़तासे पालन किया। वे जहाँ भी होते—चाहे बस्तीमें चाहे जंगलमें, चाहे ट्रेनमें चाहे मोटरकारमें, चाहे किसी आवश्यक सभामें या किसी गोष्ठीमें—सायंकालके सात बजनेपर सब कार्यक्रम स्थगित करके गांधीजी प्रार्थना करने लग जाते थे।

(२)

वफ़ादारी एवं ईमानदारी मनुष्यका धर्म है

प्राचीन बड़ौदा राज्यमें एक भले अमलदारका नाम था, श्री एस० आर० शिंदे। नौकरीके अन्तिम दिनोंमें वे मेहसानेके डिस्ट्रिक्ट जज थे। वे बहुत ईमानदार एवं स्पष्ट-वक्ता थे।

स्व० सयाजीराव महाराजके हृदयमें श्रीशिंदेकी कद्र थी। महाराजा जब-जब विदेश जाते थे, अपने निजी मन्त्रीके रूपमें वे श्रीशिंदेको अपने साथ ले जाते थे। किंतु श्रीशिंदे स्पष्टवादी एवं सत्यवक्ता होनेके कारण अन्य मन्त्रियोंके समान विशेष आर्थिक लाभ नहीं उठा सके।

एक बार महाराजाने फ्रांसके पेरिस नगरमें ठहरकर एक बड़े जौहरीकी दूकानसे बहुमूल्य जवाहरात खरीदे। दूसरे दिन दूकानका एक प्रतिनिधि श्रीशिंदेसे मिला और उसने उनसे पूछा—'आपका कमीशन नगद दिया जाय या चेकसे ?'

श्रीशिंदे ऐसी बातोंके अभ्यस्त नहीं थे। अतः उन्होंने आश्चर्यसे प्रश्न किया—'मेरा कमीशन ? किस बातका ?'

दूकानका प्रतिनिधि कुशल व्यक्ति था। वह समझ गया कि मैं किस आदमीसे बातें कर रहा हूँ। अतः उसने बड़ी विनयसे कहा—'साहब ! आपको इस बातसे बुरा नहीं मानना चाहिये। सराफोंकी दूकानोंमें यही रिवाज है कि अच्छे ग्राहक लानेवालेको कमीशन दिया जाता है और उसे सभी लोग बिना संकोच ले लेते हैं। कमीशनके ऊपर तो आपका हक होता है।'

'आपका रिवाज जो भी हो', श्रीशिंदेने कहा—'किंतु मैं सरकारका कर्मचारी हूँ, मैं इसे नहीं ले सकता।'

'कमीशन स्वीकार करनेसे महाराजाको कोई नुकसान नहीं पड़ता और न अस्वीकार करनेसे उन्हें कोई फायदा होता है।' प्रतिनिधिने परिस्थिति स्पष्ट करते हुए कहा। 'यह तो हमारी दूकानकी परिपाटी है। मैं यह बात आपके महाराजाके समक्ष स्पष्ट भी कर सकता हूँ।'

'आप कृपया ऐसा न करें। आप इस कमीशनको काट करके ही अपना बिल बना दीजिये, यह कमीशन ग्राहकको ही मिलना चाहिये न कि साथमें आनेवालेको।'—श्रीशिंदेने अपना निर्णय बता दिया।

'अच्छी बात है',—प्रतिनिधि बोला। 'अगर आपकी ऐसी ही इच्छा है तो ऐसा ही किया जायगा; किंतु आप इतना बड़ा स्वार्थत्याग कर रहे हैं। आपकी ईमानदारीकी सूचना मैं महाराजाके कानतक पहुँचाऊँ तो आपको कोई हर्ज तो नहीं?'

'देखो, भाई!' श्रीशिंदेने उत्तर दिया। 'वफादारी एवं ईमानदारी मनुष्यका धर्म है और धर्म कोई प्रदर्शन या प्रचार-की वस्तु नहीं है।' 'और दूसरी बात।' थोड़ी देर रुककर श्री-शिंदेने कहा—'हमारे महाराजा यह बात जानकर भूतकालीन अधिकारियोंके प्रति शङ्का करेंगे। उस जाँच-पड़तालमें मेरे किसी पूर्ववर्ती निर्दोष अधिकारीको हैरान होना पड़ सकता है। अतः इस प्रश्नको यहीं दबा दें।'

'वाह, वाह!' नतमस्तक होकर वह प्रतिनिधि बोला—'भारतवर्षमें ऐसे व्यक्ति भी रहते हैं, जो धर्मके लिये इतनी बड़ी रकमको भी ठोकर लगा सकते हैं तथा उस त्यागका परिचय अपने मालिकको भी नहीं देते।'

श्रीशिंदेको वन्दन करके प्रतिनिधि विदा हुआ।

'अखण्ड आनन्द' —श्रीविजयकुमार मा० त्रिवेदी

(३)

आदर्श शिक्षक

घटना कुछ पुरानी है। अल्पवयस्क एक विद्यार्थी स्कूलसे छूटकर अपने साथियोंके साथ पेड़के ऊपर चढ़कर खेल रहा था। पेड़की ऊँची डालसे वह एकाएक गिर पड़ा और दैववशात् उसकी दोनों आँखें हमेशाके लिये जाती रहीं। बालकके अंधे हो जानेसे उसके माता-पिताकी वेदनाका पार नहीं था।

स्कूलके मुख्य आचार्यको जब इस घटनाकी सूचना मिली, तब वे दौड़कर विद्यार्थीके पास पहुँचे। विद्यार्थीने रोते हुए कहा—'गुरुजी! अब मैं पढ़ नहीं सकूँगा।'

'अरे मेरे पागल बच्चे!'—हँसते-हँसते आचार्य बोले—'तू क्यों नहीं पढ़ सकेगा, मैं जो बैठा हूँ?' मैं तुझे अवश्य पढ़ाऊँगा।'

विद्यार्थीका चेहरा खिल उठा। आचार्यजीके ये शब्द केवल आश्वासनके लिये नहीं थे। आचार्यजी स्वयं रातमें जागकर ब्रेललिपि (नेत्रहीनोंकी पढ़ने-लिखनेकी कला) सीखने लगे। प्रतिदिन रातको अपनी आँखोंपर पट्टी बाँधकर दो-तीन घंटे वे ब्रेललिपिमें लिखी पुस्तकें पढ़नेका अभ्यास करने लगे। कुछ ही दिनोंमें वे उस लिपिके अभ्यस्त हो गये। अब वे प्रातः दस बजेसे उस विद्यार्थीको स्वयं स्कूलमें ले जाकर पढ़ाने लगे। एक-दो-तीन, नहीं पूरे सात वर्ष परिश्रम करके उन्होंने उसको एस० एल० सी०की परीक्षा पास करा दी। इसके पश्चात् वह विद्यार्थी लगनसे पढ़ता रहा। कुछ ही वर्षोंमें उसने इन्टरमीडिएट, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाएँ पास कर लीं और अन्तमें वह पी-एच्० डी० हो गया।

आज वही अन्ध विद्यार्थी हमारे राष्ट्रके पञ्चवर्षीय आयोजनमें अन्धजनोंके हितका विचार करनेवाली समितिके सलाहकार हैं तथा आज भी वे शिक्षक उसी स्कूलके आचार्यके पदपर हैं। —श्रीगुणवन्तराय आचार्य

(४)

कथनी-करनीमें एकरूपता अनिवार्य है

माँ भागीरथीके बायें तटपर स्थित गीताभवन (स्वर्गाश्रम) में प्रत्येक वर्ष ग्रीष्म-ऋतुमें लगभग तीन-साढ़े-तीन महीने सत्सङ्गका आयोजन होता है। गीताभवनमें ठहरनेवाले व्यक्तियोंको गङ्गापार ले जानेके लिये यन्त्र-चालित नौका (मोटर बोट) की व्यवस्था है। प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों तीर्थयात्री भी स्वर्गाश्रम पधारते हैं। उस मोटरबोटद्वारा दर्शनार्थ आने-जानेवाले यात्रियोंको भी गीताभवनके यात्रियोंके साथ यथासम्भव गङ्गापार करनेका सुअवसर दिया जाता है। पर जब गङ्गाजीमें जल बढ़ जाता है, तब बोटद्वारा गङ्गापार करना निरापद नहीं रहता। उन दिनों अनिवार्य होनेपर ही सीमित यात्रियोंको लेकर बड़ी सावधानीके साथ बोट चलाया जाता है। उस समय दर्शनार्थ आये यात्रियोंको बोटद्वारा गङ्गापार होनेकी सुविधा बहुत कम उपलब्ध हो पाती है; पर, 'रहत न आरत के चित चेतू' की उक्तिके अनुसार यात्री जबरन बोटपर आरूढ़ होनेका प्रयत्न करते हैं। बोटके कर्मचारी स्थितिकी गम्भीरताका ज्ञान रखनेके कारण उन व्यक्तियोंके साथ सहानुभूति रखते हुए भी उनके दुराग्रहको स्वीकार नहीं कर पाते। परिणामतः कभी-कभी

कुछ यात्री उग्र हो जाते हैं और बोट-कर्मचारियोंके साथ संघर्ष कर बैठते हैं।

इसी प्रकारकी विकट परिस्थिति ५-६ वर्ष पूर्व एक दिन गीताभवनके बोट-कर्मचारियोंके समक्ष उपस्थित हो गयी। गीताभवनमें ठहरे हुए यात्रियोंको पहुँचानेके लिये बोट लगा हुआ था और उसमें सामान लादा जा रहा था। दर्शनार्थ आनेवाले यात्रियोंको उस बोटद्वारा पार ले जाना सम्भव नहीं था। सीमित व्यक्तियोंसे अधिक व्यक्तियोंके सवार होनेसे बोटके डूब जानेका भय था। बोटके कर्मचारी दर्शनार्थियोंको हाथ जोड़कर बड़ी ही नम्रतापूर्वक अपनी लाचारीका परिचय दे रहे थे और प्रायः यात्री उनकी विवशता समझकर वहाँसे हट जा रहे थे। इसी समय एक प्रसिद्ध नगरसे आये हुए एक सम्भ्रान्त परिवारके आठ-दस सदस्य उस बोटपर चढ़नेके लिये पहुँचे। उनमें दो-तीन पुरुष थे, दो-तीन बच्चे तथा शेष महिलाएँ। बोटके कर्मचारियोंने उन्हें पूरी स्थितिसे अवगत कराया और समझाया—'गीताभवनमें ठहरे हुए कुछ यात्रियोंको उस पार पहुँचानेके लिये ही बोट लगा हुआ है। यात्रियोंकी संख्या पर्याप्त है और श्रीगङ्गाजीकी बढ़ी हुई स्थितिमें अधिक यात्रियोंके साथ बोट ले जानेमें उसके उलट जानेका पूरा भय है।' परंतु उन नागरिकोंने कर्मचारियोंकी इस अनुनय-विनयका मजाक उड़ाया और जबरदस्ती बोटपर चढ़नेका प्रयत्न किया। जब कर्मचारियोंने उन्हें यों करनेसे रोका, तब उन नागरिकोंने अपशब्द कहे तथा पीटनेकी धमकी दी। बात बढ़ गयी और कर्मचारियोंपर कुछ घूँसे पड़े तथा उनके कपड़े भी फट गये। उन यात्रियोंमें भी जो सबसे बड़े व्यक्ति थे, उनके कपड़े फट गये। स्थितिको बिगड़ते देखकर घाटपर खड़े लोगोंने बीचमें हस्तक्षेप करके दोनों ओरके व्यक्तियोंको पृथक्-पृथक् कर दिया।

बोटके कर्मचारी बेचारे कर्मचारी ही ठहरे। अतएव वे उन यात्रियोंको भला-बुरा कहते हुए अपने काममें लग गये। परंतु उन यात्रियोंने इस घटनाको बड़ा अपमान समझा और वे इसके लिये पुलिसमें रिपोर्ट करनेके लिये जाने लगे। संयोगवश वहाँपर खड़े हुए कुछ व्यक्तियोंने उन्हें समझाया—'यह बोट गीताभवनका है और गीताभवनके प्रधान श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) आजकल यहीं हैं। आप उन्हींके पास जाइये और उन्हें अपना दुःख सुनाइये।' यात्रीलोग 'कल्याण' के पुराने ग्राहक थे और उनके हृदयमें श्रीपोद्दारजीके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। अतएव लोगोंका परामर्श मानकर वे श्रीभाईजीके निवास-स्थानपर जा पहुँचे। क्रोधके मारे उनका हृदय जल रहा था और वे बड़े ही कठोर शब्दोंमें प्रतिशोध लेनेके विविध रूपोंका उल्लेख कर रहे थे।

उस समय श्रीभाईजी अपने कमरेमें थे। जब उन्होंने कुछ लोगोंकी क्रोधजनित धमकियाँ तथा अपशब्द सुने, तब वे अपनी सहज प्रसन्न एवं शान्त मुद्रामें कमरेसे बाहर आये। दोनों हाथ जोड़े हुए सबका अभिवादन करते हुए उन्होंने कहा—'आइये, यहाँ विराजिये।' श्रीभाईजीके इन प्रेमभरे शब्दोंने तथा उनकी सहज आत्मीयताने जादूका-सा काम किया और वे सभी सज्जन श्रीभाईजीके समीप वहीं बरामदेमें बैठ गये। श्रीभाईजीने कहा—'आपलोग इतने दुःखी क्यों हो रहे हैं; कृपया निवेदन करें।' बस, इतना संकेत पाते ही उन्होंने अपना रोष प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया। मनुष्यस्वभावकी यह कमजोरी है कि उसकी दृष्टि अपनी भूलोंकी ओर नहीं जाती, दूसरेमें ही सब दोष दिखायी पड़ते हैं। यही बात उन लोगोंके साथ थी। उन्होंने खूब अतिरञ्जित करके बोटके कर्मचारियोंका दोष बताया तथा यह प्रश्न उपस्थित किया कि 'हमें भी आज घर लौट जाना है। ऐसी स्थितिमें हमें बोटसे पार क्यों नहीं किया गया?' श्रीभाईजीने बड़े ही शान्तभावसे उनकी प्रत्येक बात सुनी और फिर वे बोले—'आपलोग जैसा कह रहे हैं, यदि ऐसा ही हुआ है तो सचमुच बहुत ही अशोभन है। परंतु बोटके कर्मचारी पुराने व्यक्ति हैं और प्रतिदिन उनका सैकड़ों व्यक्तियोंसे काम पड़ता है। आजतक ऐसे अभद्र व्यवहारकी शिकायत उनके सम्बन्धमें नहीं आयी है। सम्भव है, आपलोगोंके द्वारा हुई किसी चेष्टाका उन्होंने गलत अर्थ लिया हो। मैं उन लोगोंको बुलाकर पूछूँगा और उनकी भूलके लिये उन्हें सावधान करूँगा। आपलोग उन्हें क्षमा कर दीजिये और शान्त हो जाइये।'

श्रीभाईजीके ये सद्भावपूर्ण शब्द भी उन लोगोंके क्रोधसे तप्त हृदयको रुचिकर नहीं लगे। वे क्रोध और दुःखके आवेशमें कर्मचारियोंके प्रति प्रतिहिंसाके शब्द बोलने लगे। संतका हृदय नवनीतके सदृश होता है। वे किसीके भी अनिष्टको सहन नहीं कर पाते। श्रीभाईजीको लगा होगा—ये महानुभाव अपने व्यस्त जीवनमेंसे कुछ समय निकालकर माँ गङ्गाके जलसे पवित्र होने तथा पुण्यभूमि एवं संत-महात्माओं-के दर्शन करनेके लिये आये हैं; किंतु अहंताके वशीभूत होकर यहाँसे ले जा रहे हैं—प्रतिहिंसा, द्वेष, घृणा, असद्भाव, अशान्ति, जो लोक और परलोक दोनोंके विघातक हैं। अतएव इनके इन दोषोंके परिक्षालनका उपाय उन्होंने किया। श्रीभाईजीने दोनों हाथ जोड़ लिये और बड़े ही मन्द स्वरमें निवेदन किया—'बोटके कर्मचारी हमारे व्यक्ति

हैं। कर्मचारीकी चेष्टा मालिककी चेष्टा होती है। हमारे कर्मचारियोंके द्वारा जो कुछ भी अपराध हुआ है, उसे मैं अपने द्वारा हुआ अपराध मानता हूँ और इसके लिये आप सबसे क्षमा चाहता हूँ। आप उन कर्मचारियोंके प्रति प्रतिहिंसाके विचारको सर्वथा त्याग दीजिये। मैं आपके समक्ष नतमस्तक हूँ.....।' इतना कहते-कहते श्रीभाईजीकी आँखोंमें अश्रुकण छलक आये और उन्होंने अपना मस्तक उन लोगोंके समक्ष जमीनपर टेक दिया। उनके दोनों हाथ उसी प्रकार जुड़े हुए थे। सबके श्रद्धास्पद, वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध महापुरुषको इस प्रकार नेत्रोंमें जल भरे, हाथ जोड़े तथा पृथ्वीपर मस्तक टेककर क्षमा-याचना करते हुए देखकर यात्रियोंका हृदय द्रवित हो गया और वे सब-के-सब सुबक-सुबककर रोने लगे। नवयुवकोंने अपने हाथोंसे श्रीभाईजीके मस्तकको ऊँचा किया और स्वयं उनके परम-पावन चरणोंमें गिर पड़े। एक अपूर्व सात्त्विक दृश्य उपस्थित हो गया! सब मौन थे और सबकी आँखें झर रही थीं। यात्रियोंका रोष, उनका असंतोष, उनकी घृणा आदि अश्रुबिन्दुओंके साथ बह गये थे। अब उनका हृदय इस वेदनासे परिपूर्ण था कि श्रीभाईजी-जैसे सच्चे एवं निर्दोष संतको अपने व्यवहारसे हमने क्यों व्यथित किया। वे उनके चरणोंपर सिर रखे हुए यही भीख माँग रहे थे—'भाईजी! हमारे कारण आपका हृदय व्यथित हुआ, इसके लिये हमें क्षमा कीजिये।' श्रीभाईजीने अपनी धोतीके छोरसे अपने नेत्र पोंछे और उन नवयुवकोंके सिरपर प्यारसे हाथ फेरते हुए उन्हें ऊपर उठाया। साथ ही उन्होंने अपने सेवकको, जो इस मर्मस्पर्शी दृश्यको देखकर द्रवित हो रहा था, जल लानेका आदेश दिया। जल आनेपर श्रीभाईजीने सब व्यक्तियोंको मुँह धोनेके लिये कहा। जब सब मुँह धोकर तैयार हो गये, श्रीभाईजीने उनसे प्रार्थना की—'भोजन तैयार है। आप सब लोग भोजन करके जाइयेगा।' जिस भाईके कपड़े फट गये थे, उनके लिये नये कपड़े लानेका आदेश अपने सेवकको दिया, किंतु उस भाईने हाथ जोड़कर विनय की—'भाईजी! आपकी कृपासे किसी चीजकी कमी नहीं है। कपड़े साथमें हैं, मैं बदल लेता हूँ। हाँ, आपके यहाँका प्रसाद हमलोग अवश्य ग्रहण करेंगे।'

सब व्यक्ति प्रसाद ग्रहण करने लगे। श्रीभाईजीकी धर्मपत्नी आदि परिवारके सदस्य बड़ी मनुहारके साथ उन्हें भोजन करा रहे थे। उधर श्रीभाईजीने बोटके कर्मचारियोंको बुलाया और उन्हें बड़े ही प्रेमसे समझाया। उन लोगोंने पूरी परिस्थितिका परिचय देते हुए अपनी भूल स्वीकार की कि उन लोगोंके अभद्र व्यवहार करनेपर भी हमें क्षुभित नहीं होना चाहिये था। अपनी भूलके लिये वे बार-बार क्षमा-याचना करने लगे। श्रीभाईजीने उनसे कहा—'तुम लोगोंको यात्रियोंसे क्षमा-याचना करनी चाहिये। वे लोग भोजन करके अभी बाहर आ रहे हैं तथा बड़े प्रेमसहित उन्हें बोटद्वारा उस पार पहुँचाकर आना।' इसी बीच यात्री प्रसाद ग्रहण करके बाहर आ गये। बोटके कर्मचारियोंने उनसे हाथ जोड़कर अपनी भूलके लिये क्षमा माँगी। उन यात्रियोंने पुरुषोंने कहा—'आपलोग हमें हमारे अभद्र व्यवहारके लिये क्षमा कीजिये।' दोनों ओरके हृदय शान्त थे, दोनों ओर अपनी भूलकी स्वीकृति थी और उसके लिये क्षमा-याचना थी।

श्रीभाईजीने यात्रियोंसे प्रार्थना की—'अब आपलोग इन कर्मचारियोंके साथ जाइये। ये आपलोगोंको बोटद्वारा उस पार पहुँचा देंगे।' सबने श्रीभाईजीको प्रणाम किया और उनका आशीर्वाद लेकर बोटके कर्मचारियोंके साथ विदा हो गये।

यात्रियोंके जानेके पश्चात् सेवकने श्रीभाईजीसे कहा—'बाबूजी! आपने तो साधुताकी हद ही कर दी। इस प्रकारसे उन नवयुवकोंके सामने नेत्रोंमें जल भरकर तथा हाथ जोड़े हुए पृथ्वीपर मस्तक टेककर क्षमा-याचना करनेकी क्या आवश्यकता थी?' श्रीभाईजीने सहज भावसे उत्तर दिया—'तुम्हारा अपने दृष्टिकोणसे कहना ठीक है; किंतु किसीको हमारे व्यवहारद्वारा उद्वेग प्राप्त हुआ हो तो उसके लिये हमें सच्चे हृदयसे परिताप होना ही चाहिये। ऐसा करना साधुता नहीं है, यह तो अपनी भूलका परिशोधन है। बोटके कर्मचारी हमारे हैं; **उनके व्यवहारका दायित्व हमपर है। हम गीता-भवनमें प्रवचनकर्ताके स्थानपर बैठकर तथा सम्पादकके रूपमें 'कल्याण' में जो-जो बातें कहते-लिखते हैं, कम-से-कम वे तो हमारे जीवनमें होनी ही चाहिये। यदि वे हमारे जीवनमें और व्यवहारमें न आयें तो हमें न तो प्रवचन ही करना चाहिये, न 'कल्याण' में ही कुछ लिखना चाहिये। कथनी-करनीमें एकरूपता अनिवार्य है; आचरणके बिना उपदेश व्यर्थ है—बकवास है—कुत्तेकी भाँति भौंकना है—**

करनी बिन कथनी कथे, अज्ञानी दिन-रात।
कूकर जिमि भूसत फिरे, सुनी-सुनायी बात॥

—सेवकको अपनी भूल समझमें आयी। उसने अपना मस्तक श्रीभाईजीके चरणोंमें टेक दिया। उसकी आँखोंसे अश्रुजल बह रहा था।

सम्मान्य एवं प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा निवेदन

१—'कल्याण'का यह ४६वें वर्षका १०वाँ अङ्क है। ११वाँ एवं १२वाँ अङ्क—ये दो अङ्क और निकल जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। सदाकी भाँति ४७वें वर्षका प्रथम अङ्क विशेषाङ्क होगा। इस वर्षका विशेषाङ्क 'श्रीविष्णु-अङ्क' के नामसे प्रकाशित होने जा रहा है। 'श्रीविष्णु-अङ्क'में भगवान् विष्णु तथा भगवती लक्ष्मीके स्वरूपतत्त्व, नामतत्त्व, लीलातत्त्व और धामतत्त्वपर आचार्यों, भक्तों एवं विद्वानोंके बड़े ही महत्त्वपूर्ण विचार रहेंगे। साथ ही इस अङ्कमें भगवान् श्रीविष्णुके आदर्श गुणों, प्रभाव, महत्त्व आदिपर भी विशेष प्रकाश डाला जायगा। अवतार-सिद्धान्तके विवेचनके साथ भगवान्‌के विभिन्न अवतारोंका संक्षिप्त, किंतु सरस परिचय रहेगा। त्रिदेवोंके स्वरूप, एकता एवं कार्योंपर भी पर्याप्त सामग्री रहेगी। वैष्णवी देवियों, वैष्णव शास्त्रों, वैष्णव आचार, उपासना, व्रत, तीर्थ, मन्दिरों आदिका भी दिग्दर्शन इसमें कराया जायगा। विभिन्न वैष्णवदर्शनों, उनके प्रवर्तक परम पूजनीय आचार्यों-महात्माओं तथा प्रसिद्ध विष्णुभक्तों आदिका परिचय भी दिया जायगा। भगवान् श्रीलक्ष्मीनारायणकी प्रसन्नता और कृपा-प्राप्तिके लिये तथा उनके साक्षात्कारके लिये सफल अनुष्ठान, मन्त्र, स्तोत्र आदि भी रहेंगे। भगवान् श्रीविष्णुके ध्यानके तथा उनके अवतारोंके अनेक सुन्दर भावपूर्ण रंगीन चित्र दिये जायँगे। इस प्रकार भगवान् श्रीविष्णु-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयोंपर प्रामाणिक सामग्रीका संग्रह इस अङ्कमें रहेगा और अङ्क तत्त्व एवं साधनाकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होगा।

२—गतवर्षकी भाँति इस वर्ष भी 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क १०.०० रुपये ही है। यह सर्वविदित है कि कागजके दाम लगातार बढ़ रहे हैं तथा छपाईके अन्य उपकरणोंके मूल्योंमें भी वृद्धि हो रही है। कर्मचारियोंके वेतन आदि इधर दो-तीन वर्षोंमें बहुत बढ़ गये हैं। इस वर्ष इक्साइज ड्यूटी तथा गतवर्ष डाक-पोस्टेज बढ़ गया था। इन सब कारणोंसे 'कल्याण' में आगामी वर्ष लगभग ४-४॥ लाख रुपयेका घाटा लगनेकी सम्भावना हो गयी है। गतवर्षोंसे 'कल्याण' को बराबर ढाई लाखसे ऊपर घाटा हो रहा है। ऐसी परिस्थितिमें 'कल्याण' का वार्षिक शुल्क दो वर्ष पूर्व एक रुपया बढ़ाकर १०.०० रुपये कर देना पड़ा था। इस वर्ष पुनः शुल्क बढ़ानेकी विवशतापूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी है, परंतु गम्भीरतासे विचार करनेपर यह बात ध्यानमें आयी कि 'कल्याण' का शुल्क १०.०० रुपयेसे अधिक न किया जाय; अन्यथा सर्वसाधारणको उसे प्राप्त करनेमें असुविधा हो सकती है। अतः बढ़ते हुए घाटेको कुछ नियन्त्रित करनेके लिये 'कल्याण'के विशेषाङ्कमें पृष्ठ-संख्या कम कर देना अधिक उपयुक्त होगा—इस विचारसे विशेषाङ्कमें कुछ पृष्ठ कम करनेका निश्चय किया गया है। गत विशेषाङ्कमें ७०० पृष्ठ थे, इस वर्ष ५४० पृष्ठ दिये जायँगे। ऐसा निर्णय लेनेमें हम स्वयं बहुत संकुचित हैं, किंतु सर्वसाधारणको 'कल्याण' सरलतासे सुलभ करानेकी हमारी नीतिका निर्वाह करनेमें हमें ऐसा करनेके लिये विवश होना पड़ा है। आशा है, कृपालु सदस्य हमारे इस निश्चयका स्वागत करेंगे। पृष्ठ-संख्या कम करनेके साथ ही हम इसके लिये पूर्ण प्रयत्नशील हैं कि श्रीविष्णु-सम्बन्धी आवश्यक सभी विषयोंपर ठोस सामग्रीका समावेश इतने कलेवरमें ही कर दिया जाय। हमें विश्वास है कि भगवान्‌की कृपा एवं संत-महात्माओं, विद्वानों आदिके आशीर्वाद तथा बहुमूल्य सहयोगसे यह विशेषाङ्क पिछले विशेषाङ्कोंकी भाँति ही सुन्दर एवं उपयोगी होगा। मासिक साधारण अङ्कोंमें जितने पृष्ठ दिये जा रहे हैं, वे उसी रूपमें दिये जाते रहेंगे।

३—सदस्योंको अपना वार्षिक शुल्क शीघ्र भेजनेकी कृपा करनी चाहिये । सदस्योंकी सुविधाके लिये मनीआर्डर-फार्म गत मासके अङ्कके साथ भेजा जा चुका है । रुपये भेजते समय मनीआर्डरमें अपना नाम, पता ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ-साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें । ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें । नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें । ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका शुभनाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है ।

४—सदस्योंको रुपये भेजनेमें शीघ्रता करनी चाहिये, कारण विशेषाङ्क सीमित संख्यामें ही छापा जा रहा है । गत वर्ष 'श्रीरामाङ्क' के लिये कई हजार व्यक्तियोंको निराश होना पड़ा । श्रीविष्णु-अङ्कके सम्बन्धमें भी यही बात समझनी चाहिये । अतः मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजकर अपना अङ्क पहलेसे सुरक्षित करा लेना चाहिये ।

५—जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर अवश्य सूचना दे दें, जिससे आपके 'कल्याण' को व्यर्थ हानि न सहनी पड़े ।

६—इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। सजिल्द अङ्कका वार्षिक मूल्य ग्यारह रुपये पचास पैसे हैं ।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

नया संस्करण ! *प्रकाशित हो गया !!*

श्रीरामचरितमानस

[सटीक]

(टीकाकार—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

साइज २२×२९ चार-पेजी, मोटा टाइप, बृहदाकार, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ-संख्या ९८४, सजिल्द मूल्य १८.००, डाकखर्च ५.०० अलग ।

अधिक उम्रवाले वृद्ध पुरुषोंके नित्य पाठ करनेकी सुविधाको ध्यानमें रखकर यह बृहदाकार सटीक संस्करण निकाला गया है ।

गीता-दै[illegible]नी सन् १९७३ ई०

आकार २२×२९ बत्तीस-पेजी, पृष्ठ-संख्या ४००, मूल्य साधारण जिल्द ७५ पैसे, डाकखर्चसहित मूल्य एक प्रतिका २.००, दो प्रतियोंका ३.००, तीन प्रतियोंका ३.९०

इस वर्ष सजिल्द नहीं छापी गयी है । केवल एक लाख प्रतियाँ अजिल्द ही छापी गयी हैं । जिन सज्जनोंको लेना हो वे अपना आर्डर यहाँ भेजनेसे पहले स्थानीय पुस्तक-विक्रेताओंसे लेनेकी कृपा करें । इससे समय तथा धनकी बचत होगी ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

कल्याण
स्वामीनाथ

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, नवम्बर १९७२

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

हरे राम हरे राम
राम राम हरे हरे
हरे कृष्ण हरे कृष्ण
कृष्ण कृष्ण हरे हरे

कल्याण

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥

(रामरक्षास्तोत्र ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, नवम्बर १९७२ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ५५२

भगवन्नामकी जय हो !

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ॥

(श्रीलक्ष्मीधर : भगवन्नामकौमुदी १ । १)

जिस प्रकार सूर्यदेव उदय होनेमात्रसे अन्धकारके समुद्रको नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीहरिका नाम एक बार उच्चारणमात्रसे ही जीवमात्रके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देता है । उस जगन्मङ्गलरूप श्रीहरि-नामकी जय हो ।

कल्याण

भगवान् शंकर पार्वतीजीसे कहते हैं—

'सुनहु उमा ते लोग अभागी।
हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥'
(मानस ३ । ३२ । १½)

'हे उमा! जो भगवान्‌को छोड़कर भोगोंमें राग करते हैं, भोगोंसे प्रेम करते हैं, भोगोंमें आसक्त रहते हैं, वे अभागे हैं।'

बहुत बड़े भाग्यसे हमें मनुष्यका शरीर मिला है—**'बड़े भाग मानुष तनु पावा'** और मनुष्य-शरीरको पाकर भी यदि कोई भगवत्प्राप्तिके साधनमें नहीं लगा, जो इस शरीरके लाभका वास्तविक फल है—अपितु और-और फँसानेवाले विषयोंमें नीची गतिमें ले जानेवाले भोगोंमें, नरकोंमें ले जानेवाले अवैध पाप-कर्मोंमें ही लगा रहा तो सचमुच वह अभागा है—उसका भाग्य फूटा हुआ है; क्योंकि उसके ये कर्म लोक-परलोक दोनोंमें दुःखदायी हैं। हम सबको इसी गजसे अपनेको नापना है कि हम कहाँ जा रहे हैं। भगवान्‌में यदि हमारा अनुराग बढ़ रहा है तो हमारी वास्तविक प्रगति हो रही है, अन्यथा हम विनाशकी ओर बढ़ रहे हैं।

जिसके जीवनमें भगवदनुराग जग गया है—अङ्कुरित हो गया है, उसके मनमें जगत्‌के भोगोंके प्रति उदासीनता, विरक्ति, अनास्था आने लगती है। सर्वप्रथम उदासीनता आती है—भोगोंके प्रति उपेक्षा बुद्धि होती है, इसके बाद भोगोंसे मन हटता है—भोग खारे लगते हैं। जिसको भोग खारे लगें, समझना चाहिये कि वह ठीक मार्गपर चल रहा है। उसके बाद धीरे-धीरे उसके मनसे भोगोंकी सत्ता ही मिट जाती है और अनुरागके जो एकमात्र विषय हैं—भगवान्, बस, उनकी सत्ता रह जाती है। जहाँ ऐसा हुआ, वहाँ भोग भोगरूपमें नहीं रहते, वे भगवान्‌की पूजाकी सामग्रीके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं।

भगवदनुरागके अङ्कुरित होनेकी यह कसौटी है। जबतक यह स्थिति न हो, तबतक निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसके लिये अन्तर्मुखी वृत्तिसे निरन्तर चेष्टा करनेकी आवश्यकता है। यह नहीं कि हम घड़ी, आध घड़ी दिनमें कभी बैठ गये, मन लगा न लगा, हमने अपना नियम पूरा कर लिया। कुछ न करनेसे तो इतना करना भी अच्छा है। किसी प्रकारसे भी—बिना मन लगे ही—घड़ी, आध घड़ी भगवान्‌की स्मृतिके लिये जो बैठनेका अभ्यास है, वह भी बहुत लाभदायक है। अतएव इस साधनको छोड़ना नहीं चाहिये; परंतु इससे काम नहीं बनता। उसके लिये तो लगातार प्रयत्न करते रहना पड़ता है।

भक्तिके आचार्य श्रीनारदजीने बताया है कि 'अखण्ड भजनसे ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सम्भव है—**'अव्यावृतभजनात्।'** (प्रेमदर्शन ३६)। विषयोंसे मुँह मोड़ना 'वैराग्य' है और भगवद्भजन 'अभ्यास'। भजनरूपी अभ्यास वही सिद्ध होता है, जो सदा होता रहे, सतत होता रहे और सत्कारपूर्वक हो। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'
(योगदर्शन १ । १४)

'दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर सत्कारके साथ करनेपर ही अभ्यास दृढ़ होता है।'

भगवान्‌ने भी कहा है—'जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें लगे हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८ । १४)

अतएव अखण्डरूपसे तथा प्रेमपूर्वक भगवान्‌का चिन्तन करते हुए ही देह एवं जगत्‌के व्यापार करने चाहिये। भगवत्स्मरणयुक्त होनेसे प्रत्येक क्रिया—उठना-बैठना, सोना-जागना, खाना-पीना, पढ़ना-लिखना, व्यापार-व्यवसाय, सेवा-चाकरी आदि-आदि भजन हो जायगी। बस, जीवनमें यही करना है। यह हो गया तो मानव-जीवन सफल है, अन्यथा पछताना-ही-पछताना है।

—**'श्रीभाईजी'**

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

मानव-जीवनकी सार्थकता परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लगनेमें है

मनुष्य-जन्म सबसे उत्तम एवं अत्यन्त दुर्लभ और भगवान्‌की विशेष कृपाका फल है। ऐसे अमूल्य जीवनको पाकर जो मनुष्य आलस्य, भोग, प्रमाद और दुराचारमें अपना समय बिता देता है, वह महान् मूढ़ है। उसको घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

छः घंटेसे अधिक सोना एवं भजन-ध्यान-सत्सङ्ग आदि शुभ कर्मोंमें ऊँघना 'आलस्य' है। करने-योग्य कार्यकी अवहेलना करना एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरसे व्यर्थ चेष्टा करना 'प्रमाद' है। शौक, स्वाद और आरामकी बुद्धिसे इन्द्रियके विषयोंका सेवन करना 'भोग' है। झूठ, कपट, हिंसा, चोरी, जारी आदि शास्त्रविपरीत आचरणोंका नाम 'दुराचार' (पाप) है। अपने हितकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंको इन सब दोषोंको मृत्युके समान समझकर सर्वथा त्याग देना चाहिये।

क्लेश, कर्म और सारे दुःखोंसे मुक्ति, अपार, अक्षय और सच्चे सुखकी प्राप्ति एवं पूर्ण ज्ञानका हेतु होनेके कारण यह मनुष्य-शरीर चौरासी लाख योनियोंमें सबसे बढ़कर है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, मुक्ति और शिक्षाकी प्रणाली सदासे बतलानेवाली होनेके कारण यह भारतभूमि सर्वोत्तम है। सारे मत-मतान्तरोंका उद्गमस्थान, विद्या, शिक्षा और सभ्यताका जन्मदाता तथा स्वार्थत्याग, ईश्वरभक्ति, ज्ञान, क्षमा, दया आदि गुणोंका भंडार, सत्य, तप, दान और परोपकार आदि सदाचारका सागर और सारे मत-मतान्तरोंका आदि और नित्य होनेके कारण वैदिक सनातनधर्म सर्वोत्तम धर्म है।

केवल भगवान्‌के भजन और कीर्तनसे ही अल्पकालमें सहज ही कल्याण करनेवाला होनेके कारण कलियुग सर्वयुगोंमें उत्तम युग है। ऐसे कलिकालमें सभी वर्ण, आश्रम और जीवोंका पालन-पोषण करनेवाला होनेके कारण सभी आश्रमोंमें गृहस्थाश्रम उत्तम है। यह सब कुछ प्राप्त होनेपर भी जिसने अपना आत्मोद्धार नहीं किया, वह महान् पामर एवं मनुष्यरूपमें पशुके समान ही है। उपर्युक्त सारे संयोग ईश्वरकी अहैतुकी और अपार दयासे ही प्राप्त होते हैं; क्योंकि जीवोंकी संख्याके अनुसार यदि पारीका हिसाब लगाकर देखा जाय तो इस जीवको पुनः मनुष्यका शरीर लाखों-करोड़ों वर्षोंके बाद भी शायद ही मिले। वर्तमानमें मनुष्योंके आचरणोंकी ओर ध्यान देकर देखा जाय, तब भी ऐसी ही बात प्रतीत होती है। प्रथम तो मनुष्यका शरीर ही मिलना कठिन है और यदि वह मिल जाय तो भी भारतभूमिमें जन्म होना, कलियुगमें होना तथा वैदिक सनातनधर्मका आश्रय प्राप्त होना दुर्लभ है। इससे भी दुर्लभतर शास्त्रोंके तत्त्व और रहस्यके बतलानेवाले पुरुषोंका सङ्ग है। इसलिये जिन पुरुषोंको उपर्युक्त संयोग प्राप्त हो गये हैं, वे यदि परम शान्ति और परमानन्दके निधान परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहें तो इससे बढ़कर उनकी मूढ़ता क्या होगी।

ऐसे क्षणिक, अल्पायु, अनित्य और दुर्लभ शरीरको पाकर जो अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताते, जिनका तन, मन, धन और सारा समय केवल सब लोगोंके कल्याणके लिये ही व्यतीत होता है, वे ही जन धन्य हैं। वे देवताओंके लिये भी पूजनीय हैं। उन्हीं बुद्धिमानोंका जन्म सफल और धन्य है।

प्रथम तो जीवन है ही अल्प; और जितना है, वह भी अनिश्चित है। न जानें मृत्यु कब आकर हमें मार दे। यदि आज ही मृत्यु आ जाय तो हमारे पास

क्या साधन है, जिससे हम उसका प्रतीकार कर सकें। यदि नहीं कर सकते तो हम तो अनाथकी तरह मारे जायँगे। इसलिये जबतक देहमें प्राण हैं और मृत्यु दूर है, तबतक हमलोगोंको अपना समय ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये। शरीर और कुटुम्बका पोषण एवं धनका संग्रह भी, यदि सबके मङ्गलके कार्यमें लगे, तभी करना चाहिये। यदि ये सब चीजें हमें सच्चे सुखकी प्राप्तिमें सहायता नहीं पहुँचातीं तो उनका संग्रह करना मूर्खता नहीं तो और क्या है। देहपातके बाद धन, सम्पत्ति, कुटुम्बकी तो बात ही क्या, हमारी इस सुन्दर देहसे भी हमारा कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा और हम अपने देह और सम्पत्ति आदिको अपने उद्देश्यके अनुसार अपने और संसारके कल्याणके काममें नहीं लगा सकेंगे। सम्पत्ति तो यहाँ ही रह जायगी और देहकी मिट्टी या राख हो जायगी, अतः वह किसी भी काममें नहीं आयेगी।

सब बातें सोचकर हमको अपनी सब वस्तुएँ ऐसे काममें लगानी चाहिये, जिससे हमें पश्चात्ताप न करना पड़े। परम शान्ति, परम आनन्द और परम प्रेमरूप परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें ही इस जीवनको बितानेकी तत्परताके साथ प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान्‌की दयाकी कोई सीमा ही नहीं है

दयासागर भगवान्‌की जीवोंपर इतनी अपार दया है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं। वस्तुतः उन्हें 'दयासागर' कहना भी उनकी स्तुतिके व्याजसे निन्दा करना है; क्योंकि सागर तो सीमावाला है, परंतु भगवान्‌की दयाकी तो कोई सीमा ही नहीं है। अच्छे-अच्छे पुरुष भी भगवान्‌की दयाकी जितनी कल्पना करते हैं, वह उससे भी कहीं बढ़कर है। उसकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। कोई ऐसा उदाहरण नहीं, जिसके द्वारा भगवान्‌की दयाका स्वरूप समझाया जा सके। माताका उदाहरण दें तो वह भी उपयुक्त नहीं। कारण, दुनियामें असंख्य जीव हैं और उन सबकी उत्पत्ति माताओंसे ही होती है। उन सारी माताओंके हृदयोंमें अपने पुत्रोंपर जो दया या स्नेह है, वह सब मिलकर भी उन दयासागरकी दयाके एक बूँदके बराबर भी नहीं है। ऐसी हालतमें और किससे तुलना की जाय। तो भी माताका उदाहरण इसीलिये दिया जाता है कि लोकमें जितने उदाहरण हैं, उन सबमें इसकी विशेषता है। माता अपने बच्चेके लिये जो कुछ भी करती है, उसमें उसकी सब दया भरी रहती है। इस बातका बच्चेको भी कुछ-कुछ अनुभव रहता है। जब बच्चा शरारत करता है तो उसके दोष-निवारणार्थ माँ उसे धमकाती-मारती है और उसको अकेला छोड़कर कुछ दूर हट जाती है। ऐसी अवस्थामें भी बच्चा माताके ही पास जाना चाहता है। दूसरे लोग उससे पूछते हैं—'तुम्हें किसने मारा?' वह रोता हुआ कहता है—'माँने!' इसपर वे कहते हैं—'तो अब उसके पास मत जाना।' परंतु वह उनकी बातपर ध्यान न देकर रोता है और माताके पास ही जाना चाहता है। उसे भय दिखलाया जाता है—'माँ तुझे फिर मारेगी' पर इस बातका उसपर कोई असर नहीं होता, वह किसी भी बातकी परवा न करके अपने सरल भावसे माताके ही पास जाना चाहता है। रोता है परंतु चाहता है माताको ही। जब माता उसे हृदयसे लगाकर उसके आँसू पोंछती है, आश्वासन देती है, तभी वह शान्त होता है। इस प्रकार माताकी दयापर विश्वास करनेवाले बच्चेकी भाँति जो भगवान्‌के दया-तत्त्वको जान लेता है और भगवान्‌की मारपर भी भगवान्‌को ही पुकारता है, भगवान् उसे अपने हृदयसे लगा लेते हैं। फिर जो भगवान्‌की कृपाको विशेषरूपसे जान लेता है, उसकी तो बात ही क्या है।

'राम ते अधिक राम कर दासा'

दयासागर भगवान्की दयाके तत्त्व और रहस्यको यथार्थ जाननेवाला पुरुष भी दयाका समुद्र और सब भूतोंका सुहृद् बन जाता है। भगवान्ने कहा है— **'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।'** (गीता ५। २९)

इस कथनका रहस्य यही है कि दयामय भगवान्को सब भूतोंका सुहृद् समझनेवाला पुरुष उस दयासागरके शरण होकर निर्भय हो जाता है तथा परम शान्ति और परमानन्दको प्राप्त होकर स्वयं दयामय बन जाता है। इसलिये भगवान् ठीक ही कहते हैं कि 'मुझको सबका सुहृद् समझनेवाला शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' ऐसे भगवत्प्राप्त पुरुष ही वास्तवमें संत-पदके योग्य हैं। ऐसे संतोंको कोई-कोई तो विनोदमें भगवान्से भी बढ़कर बता दिया करते हैं। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥
(मानस ७। ११९। ८–८½)

'भगवान् समुद्र हैं तो संत मेघ हैं, भगवान् चन्दन हैं तो संत समीर (पवन) हैं। इस हेतुसे मेरे मनमें ऐसा विश्वास होता है कि रामके दास रामसे बढ़कर हैं।' दोनों दृष्टान्तोंपर ध्यान दीजिये। समुद्र जलसे परिपूर्ण है, परंतु वह जल किसी काममें नहीं आता—न कोई उसे पीता है और न उससे खेती ही होती है। परंतु बादल जब उसी समुद्रसे जलको उठाकर यथायोग्य बरसाते हैं, तब केवल मोर, पपीहा और किसान ही नहीं—सारे जगत्में आनन्दकी लहर बह जाती है। इसी प्रकार परमात्मा सच्चिदानन्दघन सब जगह विद्यमान हैं; परंतु जबतक परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले भक्तजन उनके प्रभावका सब जगह विस्तार नहीं करते, तबतक जगत्के लोग परमात्माको नहीं जान सकते। जब महात्मा संतपुरुष सर्वसद्गुणसागर परमात्मासे समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान और आनन्द आदि गुण लेकर बादलोंकी भाँति संसारमें उन्हें बरसाते हैं, तब जिज्ञासु साधकरूप मोर, पपीहा, किसान ही नहीं, किंतु सारे जगत्के लोग उससे लाभ उठाते हैं। भाव यह है कि भक्त न होते तो भगवान्की गुणगरिमा और महत्त्व-प्रभुत्वका विस्तार जगत्में कौन करता। इसलिये भक्त भगवान्से ऊँचे हैं। दूसरी बात यह है कि जैसे सुगन्ध चन्दनमें ही है, परंतु यदि वायु उस सुगन्धको वहन करके अन्य वृक्षोंतक नहीं ले जाता तो चन्दनकी गन्ध चन्दनमें ही रहती, नीम आदि वृक्ष कदापि चन्दन नहीं बनते, इसी प्रकार भक्तगण यदि भगवान्की महिमाका विस्तार नहीं करते तो दुर्गुणी, दुराचारी मनुष्य भगवान्के गुण और प्रेमको पाकर सद्गुणी, सदाचारी नहीं बनते। इसलिये भी संतोंका दर्जा भगवान्से बढ़कर है। वे संत जगत्के सारे जीवोंमें समता, शान्ति, प्रेम, ज्ञान और आनन्दका विस्तार कर सबको भगवान्के सदृश बना देना चाहते हैं।

—(संकलित)

माखन-चाखनहारौ सो राखनहारौ

द्रौपदि औ गनिका, गज, गीध, अजामिल सौं कियौ सो न निहारौ।
गौतम-गेहिनी कैसैं तरी, प्रहलाद कौ कैसैं हर्‍यौ दुख भारौ॥
काहे कौं सोच करै रसखानि, कहा करिहै रविनंद बिचारौ?
कौन की संक परी है जु माखन-चाखनहारौ सो राखनहारौ॥

—रसखान

श्रीरामनाम-माहात्म्य

[महात्मा श्रीसीतारामदास ॐकारनाथजीकी कृपासे प्राप्त]

महाशम्भु-संहितामें

श्रीरामनामाखिलमन्त्रबीजं
संजीवनं चेद् हृदये प्रविष्टम्।
हालाहलं वा प्रलयानलं वा
मृत्योर्मुखं वा विशतां कुतो भीः॥
रामनामप्रभावेण स्वयम्भूः सृजते जगत्।
बिभर्त्ति सकलं विष्णुः शिवः संहरते पुनः॥
यस्य प्रसादाद्देवेशि मम सामर्थ्यमीदृशम्।
संहरामि क्षणादेव त्रैलोक्यं सचराचरम्॥

निखिलमन्त्रबीज श्रीरामनामरूप संजीवनी बूटी यदि हृदयमें प्रविष्ट हो जाय तो हलाहल विष, प्रलयाग्नि अथवा मृत्युके मुखमें प्रवेश करनेपर भी कोई भय नहीं है।

रामनामके प्रभावसे ब्रह्मा जगत्‌की रचना करते हैं, विष्णु सबका पालन करते हैं और शिव संहार करते हैं।

हे देवेशि! राम-नामके प्रसादसे मुझमें ऐसी सामर्थ्य है कि मैं क्षणमात्रमें सचराचर त्रिभुवनका संहार कर सकता हूँ।

अगस्त्य-संहितामें

अहं भवन्नाम जपन् कृतार्थो
वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मरिष्यमाणस्य विमुक्तयेऽहं
दिशामि मन्त्रं तव रामनाम॥
रकारो रामचन्द्रः स्यात् सच्चिदानन्दविग्रहः।
आकारो जानकी प्रोक्ता मकारो लक्ष्मणः स्वराट्॥
नामसंकीर्तनं चैव गुणानामपि कीर्तनम्।
भक्त्या श्रीरामचन्द्रस्य वचसः शुद्धिरिष्यते॥

भगवान् शंकर श्रीरामसे कहते हैं—मैं तुम्हारा नाम-जप करते हुए कृतार्थ होकर भवानीके साथ काशीमें निरन्तर वास करता हूँ। मरनेवालोंकी मुक्तिके लिये उनके कानोंमें राम-नामरूप मन्त्र प्रदान करता हूँ।

'र' सच्चिदानन्दविग्रह रामचन्द्रजीका स्वरूप है, 'आ' जानकीजी कही गयी हैं और 'म' स्वप्रकाश लक्ष्मणजी हैं।

भक्तिपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीका नाम-संकीर्तन और गुणोंका कीर्तन वाणीको शुद्ध करता है।

विश्वामित्र-संहितामें

राम-रामेति यो नित्यं मधुरं जपति क्षणम्।
सर्वसिद्धिमवाप्नोति सत्यं नैवात्र संशयः॥
धन्याः पुण्याः प्रपन्नास्ते भाग्ययुक्ताः कलौ युगे।
संविहायाथ योगादीन् रामनामैकनैष्ठिकाः॥
सर्वमन्त्रमयं नाम मन्त्रास्पदमनुत्तमम्।
स्वाभाविकीं परां सिद्धिं दुर्लभां तज्जपाल्लभेत्॥
वृथा नानाप्रयोगेषु मन्त्रतन्त्रेषु मानवाः।
यत्नं कुर्वन्त्यहो मूढास्त्यक्त्वा श्रीरामसुन्दरम्॥
अन्धानां नेत्रमुत्कृष्टं स्वच्छं श्रीनाममङ्गलम्।
बधिराणां तथा कर्णौ पङ्गूनां हस्तपादकौ॥

जो क्षणमात्र भी नित्य **'राम-राम'**—इस मधुर नामका जप करता है, वह सचमुच सब प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त करता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। कलियुगमें धन्य, पुण्यवान् और भाग्यशाली वे शरणापन्न लोग हैं, जो योग-ज्ञान-कर्म आदि मार्गोंको त्यागकर एकमात्र राम-नाममें परिनिष्ठित हैं।

नाम सर्वमन्त्रमय है, वह मन्त्रका भी सर्वोत्कृष्ट प्रतिष्ठा-स्थान है, नाम-जपसे मनुष्य दुष्प्राप्य स्वाभाविकी परा सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

अहा! सुन्दर श्रीराम-नामको त्यागकर मूढ़ मानव नाना प्रकारके अनुष्ठान और मन्त्र-तन्त्रमें व्यर्थ यत्न करता रहता है।

कल्याणजनक श्रीरामनाम अंधोंके लिये उत्कृष्ट निर्मल नेत्र है, बहरोंके लिये कर्णयुगल तथा पङ्गुओंके लिये हाथ-पैर है।

सौर-संहितामें

श्रीरामनाम सततं परिकीर्त्तनीयं
वर्त्तेत मोदसुनिधानमशेषसारम्।
जन्मार्जितानि विविधानि विहाय दुःखा-
न्यत्यन्तधर्मनिचयं परधाम याति॥

आनन्दके सुन्दर आकर तथा सबके साररूप श्रीरामनामका निरन्तर सर्वतोभावेन कीर्तन करना चाहिये। इसके द्वारा बहुजन्मार्जित विविध प्रकारके दुःखोंका त्याग कर तथा आत्यन्तिक (स्थायी) धर्मसमूहको प्राप्तकर जीव अन्तमें परमधामको गमन करता है।

जाबालि-संहितामें

रामनामप्रभा दिव्या यस्योरसि प्रकाशते।
तस्यास्ति सुलभं सर्वं सौख्यं सर्वेशजं फलम्॥
नाम्नि यस्य रतिर्नास्ति स वै चण्डालतोऽधिकः।
सम्भाषणं न कर्त्तव्यं तत्समं नामतत्परैः॥

रामनामकी अलौकिक प्रभा जिसके हृदयमें प्रकाशित है, उसको सर्वेशकी कृपादृष्टिके फलस्वरूप सारे सुख सुलभ हो जाते हैं। इसके विपरीत, जिसका नाममें अनुराग नहीं है, वह व्यक्ति चण्डालसे भी अधम है। नाम-परायणजनोंके लिये उसके साथ बात करना भी उचित नहीं।

ब्रह्म-संहितामें

रामेति वर्णद्वयमादरेण
सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः।
कलौ युगे कल्मषमानसाना-
मन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥

'राम'—इन दो अक्षरोंका सतत आदरपूर्वक स्मरण करते हुए जीव मुक्तिलाभ करता है। कलियुगमें मलिन चित्तवालोंका [धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध आदि] अन्य धर्मोंमें (सामर्थ्यहीनताके कारण) अधिकार नहीं है।

तापनीय-संहितामें

स्वप्नेऽपि यो वदेन्नित्यं रामनाम परात्परम्।
सोऽपि पातकराशीनां दाहको भवति ध्रुवम्॥

जो मनुष्य स्वप्नमें भी परात्पर राम-नामका नित्य उच्चारण करता है, वह निश्चय ही पाप-समूहको दग्ध कर देता है।

हिरण्यगर्भ-संहितामें

अभिरामेति यन्नाम कीर्तितं विवशैश्च यैः।
तेऽपि ध्वस्ताखिलाघौघा यान्ति रामास्पदं परम्॥

जो बरबस—'अभिराम' कहकर अर्थात् 'अभिराम' शब्दका उच्चारण करके भी राम-नामका कीर्तन करते हैं, वे भी सम्पूर्ण पापोंका नाश करके श्रेष्ठ रामपदको प्राप्त होते हैं।

पुलह-संहितामें

सावित्री ब्रह्मणा सार्द्धं लक्ष्मीर्नारायणेन च।
शम्भुना रामनामेति पार्वती जपति स्फुटम्॥
रकारोच्चारणेनैव बहिर्निर्याति पातकम्।
पुनः प्रवेशकाले च मकारस्तु कपाटकम्॥

सावित्री ब्रह्माके साथ, लक्ष्मी नारायणके साथ और पार्वती शंकरके साथ रामनाम स्पष्टरूपसे जपती हैं।

'र'कार उच्चारण करते ही पाप बाहर निकल जाता है, और उसके पुनः प्रवेशके समय 'म'कार कपाटके समान होकर उसको प्रवेश नहीं करने देता।

पतञ्जलि-संहितामें

कलौ युगे राघवनामतः सदा
परं पदं यान्ति विना प्रयत्नम्।
सर्वैर्युगैः पूजितमुन्नतं युगं
समस्तकल्याणनिकेतनं परम्॥

कलियुग सब युगोंके द्वारा पूजित और उन्नत युग है तथा समस्त कल्याणका श्रेष्ठ निकेतन है। इस कलियुगमें बिना प्रयत्नके रामनामके द्वारा मनुष्य परमपदको प्राप्त होता है।

सनत्कुमार-संहितामें

श्रीराम-रामेति जना ये जपन्ति च सर्वदा।
तेषां भुक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशयः॥
मानसं वाचिकं पापं कर्मणा समुपार्जितम्।
श्रीरामस्मरणेनैव तत्क्षणान्नश्यति ध्रुवम्॥
श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।
ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदो विदुः॥

जो मनुष्य सदा श्रीराम-नामका जप करते हैं, उनको भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है।

मानस, वाचिक और कर्मजनित पाप श्रीरामके स्मरण-मात्रसे तत्काल निश्चयपूर्वक नष्ट हो जाते हैं।

वेदवेत्ता कहते हैं कि श्रीराम-नाम, जो 'तारक ब्रह्म' भी कहलाता है, ब्रह्महत्या आदि पापोंका नाश करनेवाला है, वह जप करनेयोग्य मन्त्रोंमें सर्वश्रेष्ठ है।

सुश्रुत-संहितामें

रामनाम्नः परं किंचित्तत्त्वं वेदे स्मृतिष्वपि।
संहितासु पुराणेषु नैव तन्त्रेषु विद्यते॥
कारणं प्रणवस्यापि रामनाम जगद्गुरुः।
तस्माद् ध्येयं सदा चित्ते यतिभिः शुद्धमानसैः॥

वेद-स्मृति, संहिता-पुराण और तन्त्रोंके भीतर राम-नामसे श्रेष्ठ कोई भी तत्त्व नहीं है।

प्रणवका भी कारण जगद्गुरु राम-नाम है, अतएव शुद्धचित्त यतिगणको निरन्तर चित्तमें राम-नामका ध्यान करना चाहिये।

एक महात्माका प्रसाद

मानव आध्यात्मिक और नैतिक साधनाका प्रतीक है। आध्यात्मिक साधना और नैतिक साधना एक ही जीवनके दो पहलू हैं। आध्यात्मिकताकी उपेक्षासे नैतिक साधना निर्जीव हो जायगी और नैतिकताके बिना आध्यात्मिकता शून्य हो जायगी, जो मानव-समाजको अभीष्ट नहीं है।

आध्यात्मिकताका अर्थ है—अपनेमें अपने जीवनको पा जाना, अर्थात् स्वाधीन होकर अमरत्वसे अभिन्न होना और सभीके लिये उदार होना एवं नैतिकताका अर्थ है—पर-पीड़ासे पीड़ित होकर स्वभावसे सेवापरायण होना। नैतिकता मानवको बुराईसे रहित कर देती है और आध्यात्मिकता भलाईके अभिमानसे रहित कर देती है। जब दोषकी उत्पत्ति नहीं होती और गुणोंका अभिमान नहीं होता, तभी परिच्छिन्नता मिट जाती है और व्यापकता आ जाती है, जो मानवमात्रकी अपनी माँग है।

आध्यात्मिकता और नैतिकता जीवनके प्रत्येक पहलूमें रहनी चाहिये। प्रत्येक कर्तव्यकर्ममें आध्यात्मिकताका प्रकाश हो, तभी नैतिकता व्यापक होती है। आध्यात्मिकता और नैतिकतामें विभाजन भ्रम है।

आध्यात्मिकता और नैतिक साधना ज्यों-ज्यों स्थायी होती जाती हैं, त्यों-त्यों मानव सभीके लिये उत्तरोत्तर उपयोगी होता जाता है, अर्थात् मानव-जीवन अपने लिये और जगत्‌के लिये मङ्गलमय और हितकर होता जाता है। जीवन और विधानमें एकता हो जाती है। सत्यसे दूरी-भेद-भिन्नता शेष नहीं रहती। आध्यात्मिकतामें अचाह और उदारता निहित हैं। अचाहसे मानव अपने लिये और उदारतासे जगत्‌के लिये उपयोगी हो जाता है।

'मुक्ति'का अर्थ है—अपनेमें अविनाशी जीवनको प्राप्त करना, अर्थात् अपने लिये किसी प्रकारकी परापेक्षाका न रहना। उसी जीवनसे समाजमें वह चेतना आती है, जिससे भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें प्रत्येक मानव स्वाधीनताकी प्रेरणा पाता है। पराधीनतामें जीवन-बुद्धि होनेसे ही समाज बन्धनमें है। स्वाधीनता प्राप्त किये बिना पर-सेवा सम्भव नहीं है। पराधीन मानव ही सेवाके अन्तमें स्वयं भोगी हो जाता है। इसी दृष्टिसे स्वयं मुक्त हुए बिना न तो समाजको मुक्तिकी प्रेरणा ही मिलती है और न सही उदारता ही आती है। समाज हमें ईमानदार तथा उदार देखना चाहता है। जो स्वयं पराधीनतामें आबद्ध है, वह समाजके लिये कभी भी उपयोगी सिद्ध नहीं होता। स्वाधीन हुए बिना मानव की हुई भलाईका फल माँगने लगता है। उसका परिणाम बड़ा ही भयंकर होता है। व्यक्तिका अपना कल्याण और सुन्दर समाजका निर्माण एक ही जीवनके दो पहलू हैं। अपने निर्माणके बिना समाजका निर्माण सम्भव नहीं है। कर्म, चिन्तन और स्थितिसे असङ्ग होनेमें ही अपना कल्याण है, अर्थात् मुक्त पुरुषको अपने लिये सर्व-हितकारी प्रवृत्ति, सार्थक चिन्तन तथा निर्विकल्प स्थिति भी कुछ नहीं चाहिये। जिसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये, वही सभीके लिये उपयोगी हो जाता है। अतः सर्वहितकारी सेवाके लिये अपनेको अचाह करना अनिवार्य है।

मुक्ति साधकको अचाह कर देती है। इस दृष्टिसे स्वयं मुक्त होनेपर ही मानव समाजको मुक्त होनेकी प्रेरणा दे सकता है। मुक्त पुरुषका जीवन समाजके लिये पथ-प्रदर्शक होता है। वस्तुतः मुक्ति उसीको मिलती है, जो मुक्त होना चाहता है। व्यक्तिगत मुक्ति समाजरूपी ट्रेनका इंजन है और मुक्त हुए बिना समाज-की मुक्तिकी बात करना अपनेको बहलाना है। व्यक्ति-निर्माणसे समाज-निर्माण होता है, यह अनुभव सिद्ध

सत्य है। लोभरहित होनेसे उदार, मोहरहित होनेसे अभय, कामरहित होनेसे शान्त और सङ्गरहित होनेसे अर्थात् स्वाधीन होनेसे ही सुन्दर समाजका निर्माण सम्भव है। लोभरहित हुए बिना दान आदिकी प्रवृत्ति तो दम्भपूर्वक भी हो सकती है, किंतु लोभ-मोह आदि विकारोंसे रहित होनेमें दम्भ नहीं चल सकता।

समाजकी मुक्तिका स्वरूप है ऐसा समाज, जिसे सरकार, न्यायालय और सेनाकी आवश्यकता न हो, जहाँ अधिकार-लालसासे रहित होकर केवल कर्तव्यपरायणता आ जाय, समाजमें इतनी चेतना आ जाय कि वह निज-ज्ञानके प्रकाशमें रहने लगे, अपनेसे अपनेको समझा सके और अपनेपर अपना शासन कर सके। पर यह तभी होगा, जब समाजमें कुछ ऐसे व्यक्ति हों, जिन्होंने अपनेको अपने द्वारा स्वाधीन करके उदार तथा प्रेमी बना लिया हो। उनके सम्पर्कसे समाज मुक्त हो सकता है। यही समाजकी मुक्तिका अचूक उपाय है।

ब्रह्मलीन श्रीपुनीतजी महाराजके पुनीत उपदेश

(संतानमात्रके प्रति)

१-तुम और सब कुछ भले ही भूल जाना, अपने माँ-बापको कभी न भूलना।

२-उनके तुमपर अगणित उपकार हैं, इसे निरन्तर याद रखना।

३-न जाने कितने देवी-देवताओंकी मनौती मनानेके बाद उन्हें तुम्हारा मुख देखनेको मिला।

४-ऐसे पुनीत गुरुजनोंके कलेजोंको पत्थर बनकर छेदना नहीं।

५-अपने मुँहका ग्रास तुम्हारे मुँहमें देकर उन्होंने तुम्हें पाला-पोसा था।

६-इस प्रकार अमृतका दान करनेवालोंके प्रति कभी विष न उगलना।

७-तुम्हारे माता-पिताने तुमको लाखों प्रकारसे लाड़ लड़ाया और तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी कीं; इस प्रकार तुम्हारी इच्छाओंको पूर्ण करनेवालोंकी इच्छाओंको मत ठुकराना।

८-भले ही तुम लाखों रुपये कमाते हो, परंतु यदि माता-पिताकी आत्माको तुमने तृप्त नहीं किया तो तुम्हारे कमाये हुए लाखों रुपये राखके समान हैं।

९-यदि तुम अपनी संतानसे सेवाकी आशा करते हो तो तुम जिनकी संतान हो, उनकी सेवा करना तुम्हारा कर्तव्य है।

१०-तुम माता-पिताके प्रति जो कुछ करोगे, उसीका बदला तुम्हें मिलेगा।

११-याद रक्खो—तुम्हारे माता-पिताने स्वयं गीले वस्त्रोंमें सोकर तुम्हें सूखे वस्त्रोंपर सुलाया था।

१२-उनके अमृत-रससे भरे नेत्रोंको भूलकर भी आँसुओंसे गीले न करना।

१३-जिन्होंने तुम्हारे मार्गमें सदा प्रेम-प्रसून बिछाये हैं, उनके मार्गके कभी कण्टक न बनना।

१४-धन खरचनेसे भले ही और सब कुछ मिल जाय, परंतु गये हुए माता-पिता नहीं मिल सकते।

१५-एक क्षणके लिये भी उन माता-पिताके चरणोंकी स्मृतिको न भूलना।

ऊखल-बन्धन-लीला

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क पृष्ठ ११८५ से आगे]

माताके चले जानेपर श्रीकृष्णके मनमें कोपका संचार हुआ। प्रलयके समय ईश्वरके कोपसे ही संहार-क्रिया होती है। अतः ईश्वरके साथ कोपका मेल नहीं है—यह सोचना असंगत है। माता छोड़कर चली जाय और बालक असङ्ग—उदासीन रहे, उपेक्षा कर दे तो उसके हृदयमें माताके प्रति प्रेमकी न्यूनता है। शिशु अपना है तो माता भी अपनी है, वह क्यों चली जाय? आचार्य वल्लभका कहना है कि श्रीकृष्णके हृदयमें बहुत-से बालक विद्यमान हैं। उनकी रक्षा एवं संवर्धनके लिये वे उन्हें पुष्टि दे रहे थे। भक्तिमार्गके अनुसार माताके द्वारा उसमें बाधा डाली गयी। अतएव कोपका उदय हुआ। कोपके अनुभाव प्रकट हुए। होंठ लाल-लाल होकर फड़कने लगे। लाल-लाल होना रजोगुण है और फड़कना कुछ बोलनेके लिये उद्योग है। कोप और यशोदाके बीचमें भगवान्‌के अधरमें स्थित लोभ प्रकट हो गया। मानो वह कह रहा हो, 'दोष माताका नहीं, मेरा है। आपमें अतृप्ति—लोभ है और मातामें दूधकी रक्षाका लोभ है। आप मुझे दण्ड दीजिये, माताको नहीं।' कृष्णने दोनोंके लिये दण्ड-विधान किया। रक्तवर्ण रजोगुणको श्वेत-वर्ण सत्त्वगुणरूप दाँतोंसे दबा दिया। श्वेतिमा सात्त्विक ब्राह्मण है। रक्तिमा राजस क्षत्रिय है। दाँत द्विज हैं। सत्त्व-गुणके द्वारा रजोगुणको अथवा ब्राह्मणके द्वारा क्षत्रियको शिक्षा दी गयी। माताके लिये भी दण्ड-विधान हुआ। शैशवमें ऐसा होता है। दूधके लोभसे मुझे छोड़कर गयी तो दूध-दहीकी और भी हानि उठानी पड़ी, यज्ञायुध (दृषदश्मा) लोढ़ेसे भागवतयज्ञमें बाधक भाण्डासुरको भग्न कर दिया।

श्रीकृष्णने मन-ही-मन कहा—'जब मनुष्य यशोदया-विहीन होता है अर्थात् यश-दयासे रहित होता है, तब उसके ऐसे ही कृत्य होते हैं। मानो श्रीकृष्णने यहींसे शिक्षा लेकर गीतामें कहा हो—'कामी दीन हो जाता है, लोभी पुत्रके प्रति भी निर्दय होता है, क्रोधीका बिवेक नष्ट हो जाता है; अतः काम, लोभ और क्रोध—तीनोंका परित्याग करना चाहिये। इस बातको विस्तारसे समझानेकी आवश्यकता नहीं है।

परंतु यह क्रोध और ये आँसू मिथ्या हैं, इसका प्रमाण क्या है? तत्काल एक व्यवहित स्थानपर जाकर नवनीतका आस्वादन करने लगते हैं। क्रोध और आँसूके साथ भोजनका मेल नहीं है। सच्चे आँसू आ रहे हों तो उदानवायुकी प्रबलताके कारण निगलनेकी क्रिया नहीं हो सकती। वे अपना विनोद प्रकट कर रहे हैं। बालकोंको भोजन दे रहे हैं और माताको उलाहना दे रहे हैं।

माताने शान्तिसे दूधको परिपक्व करके भागवद्योग्य बना दिया। उसे अग्नितापसे मुक्त करके उतार दिया—पार कर दिया। भागवतका काम पूरा हुआ। लौटकर आयी, देखा, मटका फूटा हुआ है, अपने पुत्रका कर्म। हँसी आ गयी। जलते हुए दूधको तारा माताने। मटकेरहित दधिको तारा भगवान्‌ने। दैवगतिसे हानि देखकर माताको हँसी आ गयी। भला, होनीको कौन टाल सकता है। किसीने कहा भी है—

> पीयूषेण सुराः श्रिया सुररिपुर्मर्यादया मेदिनी
> शक्रः कल्परुहा शशाङ्ककलया श्रीशंकरस्तोषितः।
> मैनाकादिनगा निजोदरगृहे यत्नेन संरक्षिता-
> स्तच्चूलीकरणे घटोद्भवमुनिः केनापि नो वारितः॥

'समुद्रने अमृतके द्वारा देवताओंकी, लक्ष्मीके द्वारा भगवान् विष्णुकी, मर्यादा-स्थापनके द्वारा पृथिवीकी, कल्प-वृक्षसे इन्द्रकी, चन्द्रकलासे शंकरकी सेवा की; उन्हें संतुष्ट किया। अपने उदर-गृहमें बसाकर यत्नपूर्वक मैनाकादि पर्वतोंको संरक्षण दिया। परंतु जब अगस्त्य मुनि उसको पीने लगे, तब किसीने उनको रोका नहीं, उसकी रक्षा नहीं की।'

माताको हँसी क्यों आयी? भाण्डासुर मर चुका था। क्रोध आनेका कोई कारण नहीं था। थोड़ेकी रक्षाके लिये गयी और बड़ी हानि हुई, क्या आश्चर्य है? पुत्र माताकी सम्पत्ति-की रक्षा करता है और हमारे घरमें ऐसा लाला आया जो अपने हाथों सम्पदाको बिगाड़ता है। हँसनेका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण डरकर कहीं भाग न जाय।

ऊखल उलटा करके रखा हुआ था। वह अग्नि-नाभि है। सुपर्ण-चयनमें यज्ञपुरुषके समान भगवान् उसपर बैठ

गये। मर्कटोंको बासी मक्खन देने लगे। अतिरिक्त वस्तु अतिरिक्तको देनेसे अतिरिक्तकी शान्ति हो जाती है। दानमें यथेष्टता थी। इस चोरीके कर्ममें नेत्र विशङ्कित हैं। यशोदा धीरे-धीरे पीछेसे आ रही हैं। पीछेसे आनेके कारण श्रीकृष्ण-के पृष्ठमें स्थित अधर्मका दर्शन होता। श्रीसुदर्शनसूरि एवं श्रीवीरराघवाचार्यने यहाँ 'मर्क' शब्दका अर्थ मर्कट, मार्जार एवं व्रजके सखा लिखा है। किसी-किसीने मर्क अर्थात् माखनके लिये आये हुए सखा—यह अर्थ किया है।

श्रीहरिसूरि कहते हैं कि यह उलूखल नहीं, खल है। माताके द्वारा पुत्रकी उपेक्षा होनेपर खल-संगति स्वाभाविक है। खल भी अभिमानीके साथ टकराता है और विनयीके साथ मेल-जोल कर लेता है। मानो इसी दृष्टिसे श्रीकृष्ण उखलके निचले भागपर, जो उलटा होनेके कारण ऊपर हो गया था, बैठ गये। खल-वशीकारके लिये उसका चरण-स्पर्श विहित है। और भी, खल-सङ्ग प्राप्त होनेपर भी उदार पुरुषके सौजन्य–शील-स्वभावमें अन्तर नहीं पड़ता। उखलपर बैठे हुए श्रीकृष्ण भी उदारतापूर्वक दान कर रहे हैं। श्रीकृष्णने स्पन्दमान रोषका स्पर्श किया था। उसके दोषका सोष (नाश) करनेके लिये दान कर रहे हैं। दान ही दोष-शोषक है।[1] श्रीकृष्णके मनमें है—'मैं वानरोंको भी नवनीतामृत सुलभ करनेके लिये पृथिवीपर आया हूँ। भजन करो और अमृत लो। ये वानर हमारे रामावतारके सखा, सहायक एवं सेवक हैं।' इसीलिये अमृतका वितरण हो रहा है।

हाथमें गाय हाँकनेकी छड़ी लेकर मैया दौड़ी। श्रीकृष्ण-ने भलीभाँति उसका भाव भाँपकर भीतके समान भागना प्रारम्भ किया। योगियोंका तपःपूत अतएव प्रवेशक्षम मन भी जिनको प्राप्त नहीं कर सकता, पकड़नेके लिये माँ उन्हें खदेड़ रही है।

श्रीकृष्णनिष्ठ स्नेह और मातृनिष्ठ स्नेहमें स्पर्धा हो गयी। माँने मनमें विचार किया कि 'मैं अपने शिशुकी सब बुराइयाँ सह सकती हूँ, परंतु खलसंगति नहीं; इसलिये गाय हाँकनेवाली छड़ी लेकर दौड़ी।' श्रीकृष्णने कहा—'जिसके मनमें क्रोध है, उसकी बुद्धि चाहे कितनी अच्छी हो, मैं उससे मिल नहीं सकता। तमोगुणीसे दूर रहना चाहिये। इसलिये मैं भागता हूँ।'[2]

श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़नेमें भी माताकी विशेष शोभा है। विजयध्वजतीर्थने **'अन्वञ्चमाना'** पदका विवरण करते हुए कहा है कि यशोदाके दौड़नेमें एक पूजनीय गति है, हँसीकी-सी गति है। **'अञ्चु'** धातुका अर्थ गति और पूजा है। भगवान्‌के पीछे दौड़ने मात्रसे ही केशके बन्धन टूट गये; प्रसूना—हिंसाके भाव च्युत हो गये। अन्तःकरणकी शुद्धि हो गयी। संतकी अनुगतिसे कल्याण होता है, भगवन्तकी अनुगतिसे तो कहना ही क्या, अनुगतिका फल है—श्रीकृष्णका स्पर्श।

माँने उन्हें पकड़ लिया। जगत्‌का स्वामी, जिसे कभी कोई अपराध छू नहीं सकता, आज अपराधीके कठघरेमें खड़ा है। फफक-फफककर रो रहा है। एक हाथसे बार-बार नेत्रोंके कज्जलमिश्र अश्रु पोंछ रहा है। भय-विह्वल नेत्र ऊर्ध्वमुख हो गये हैं। हाथ पकड़कर माँने धमकाया। ये सब भगवान्‌के रूप हैं—अपराधी, रोनेवाला, भय-विह्वल। जो उन्हें पहचानते हैं, वे सब रूपोंमें पहचानते हैं। भगवत्स्पर्शी अपराध, रोदन और भय भी धन्य हैं। माँने पीटा नहीं, धमकाया—'मनचले! क्रोधी! लोभी! चञ्चल! चोर!' नये नाम रख दिये। 'ऐसा बाँधके रख दूँगी कि बाहर जा न सकोगे, माखन खा न सकोगे, सखाओंसे मिल न सकोगे।' कृष्णने कहा—'मैं तुम्हारा लगाया हुआ काजल भी पोंछ दूँगा। मैं तुम्हारे हाथसे आँसू नहीं पोंछवाऊँगा, स्वयं पोंछ लूँगा।' वे अपने नेत्र स्वयं स्वच्छ करते हैं और उनकी क्रियासे यशोदाके नेत्र तथा उनमें भगवत्प्रतिबिम्ब स्वच्छ होता है। यही भक्तिकी विशेषता है। रजोगुण-तमोगुण नष्ट हो गये।

माताने छड़ी फेंक दी। बालकको भयभीत करना उचित नहीं। उसके प्रति भीषणता उचित नहीं, वात्सल्य ही योग्य है। अन्तमें उसने उसे बाँधकर रखनेका निश्चय किया। कृष्णने कहा—'मुझे ताड़ना मत दो।' माँने कहा—'यदि ताड़नसे डरते हो तो आज दादी-सासके समयका दधि-भाण्ड क्यों फोड़ दिया?' कृष्ण—'अच्छा, अब ऐसा कभी नहीं करूँगा।' माँ—'ले छड़ी फेंक दी।' देखिये, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका श्लोक—

---

१. न हीयते वदान्यस्य सच्छीलं खलसङ्गतः।
उलूखलकृतावासोऽप्यौदार्यान्न च्युतोऽच्युतः॥
दानमेव जने यावद्दोषदोषावमोषकम्।
भवतीत्यच्युतो भुक्तं तद्दानं तत्कृतेऽकरोत्॥

२. अकृत्यमपि मे सर्वं सह्यमस्य परंतु न।
उलूखलाङ्घ्रिभजनमित्यागात् सा सयष्टिका॥
क्रोध्यद्रोषं मनो यावत् तावदीशः पराङ्मुखः।
सूक्ष्मवेत्राश्रितस्यापि भवेदित्यभवत् स्फुटम्॥
(भक्तिरसायन)

ताडने यदि तवातिशया भी-
स्तत् किमद्य दधिभाण्डमभाङ्क्षीः ।
मातरेवमथ नैव करिष्ये
पातय स्वकरतो बत यष्टिम् ॥

श्रीहरिसूरिने 'भक्तिरसायन'में 'माता अपने बलका प्रयोग कर रही है स्नेहकी अधिकतासे तो मैं भी अपना बल-स्नेहकी अधिकता दिखाऊँ। स्नेहपर स्नेह ही सफल होता है । 'रोदन ही शिशुका बल है'—ऐसी उत्प्रेक्षा की है । 'मेरे नेत्रमें स्थित हैं—सूर्य और चन्द्रमा । वे हमारे वंशके आदि भी हैं । उनके साथ कज्जल-कलङ्क-कालिमाका सम्बन्ध उचित नहीं है'—यही सोचकर उन्हें स्वच्छ करते हैं, उन्हें उकसाते हैं—'तुम साक्षी हो । किसी कर्मके कर्ता नहीं हो । तुमलोग मेरी माँको यह बात समझा दो ।'

'श्रीभक्तिरसायन'में श्रीहरिसूरिने इस प्रसङ्गमें एक बड़ा ही सुन्दर भाव प्रकट किया है—मनुष्य चाहे जितना साधन-सम्पन्न हो, ओजस्वी हो, अपनी मलिनता मिटानेके लिये उसे दूसरेकी आवश्यकता होती है । प्रकाशमान सूर्य और चन्द्रमा सहस्रकर हैं । साथ ही, भगवान्के नेत्रके रूपमें अथवा नेताके रूपमें स्थित हैं; तथापि भगवद्हस्तावलम्बके बिना उनके कलङ्क-कज्जलका मार्जन नहीं हुआ ।'[1]

श्रीकृष्णने विचार किया कि संतोंने मेरी नाम-महिमाका इस रूपमें गान किया है कि "'श्रीकृष्ण' नाम षड्रिपुओंका नाशक है । क्रोधका अवरोधक मैं सम्मुख खड़ा हूँ और माँके हृदयमें रोषका संचार हो रहा है । यह मेरी नामकीर्तिके विपरीत है ।" इसीसे श्रीकृष्णके नेत्र भय-विह्वल हो गये ।[2]

माँके हृदयमें वात्सल्यका उदय हुआ श्रीकृष्णको भयभीत देखकर । जैसे गैया-मैया जब अपने सद्योजात शिशुको मूत्रादिसे लथपथ एवं जरायु-परिवेष्टित देखती है तो वह उसे चाटने लगती है, वत्सला हो जाती है, उसका हृदय वात्सल्य-स्नेहसे भरपूर होकर छलकने लगता है, वैसे ही यशोदामाताका हृदय वात्सल्यसे उल्लसित हो गया । उसने अपने हाथसे बछड़ेको डरानेवाली छड़ी फेंक दी । 'ठीक ही है—तभीतक हृदयमें जडता और हाथमें छड़ी रहती है, जब-तक चेतनकी प्राप्ति न हो—पवित्र चेतनाका जागरण न हो । श्रीकृष्णका हाथ पकड़ना और अपने हाथमें जड़ छड़ीको रखना एक साथ शक्य नहीं है ।'[3]

देखिये, श्रीकृष्णका हृदय । 'मुझे अपने हृदयकी गोदमें लेकर स्नेह-मोद देकर यदि कोई पुनः क्षुद्र कर्मोंमें लग जाय तो अवश्य ही उसकी अर्थ-क्षति और मेरी दूर-स्थिति हो जायगी । परंतु यदि वह फिर मेरे पास लौट आये तो मैं उसे सुलभ हो जाता हूँ ।'[4]

'यद्यपि मैं बुद्धिके पेटमें अँटनेवाला नहीं हूँ, तथापि जो दूसरे काम छोड़कर मेरा अनुगत होता है, मेरे पीछे-पीछे दौड़ता है उसे मैं सुलभ हो जाता हूँ ।'[5] यशोदा माताने विचार किया—'गर्गाचार्यने अनामीको नामके घेरेमें ले लिया। श्रुतिके अनुसार नाम और दाम (रस्सी) एक ही हैं। अतः अब इसको बाँध लेना—दामोदर बना देना सुगम है ।'[6]

माताके मनमें भगवान् श्रीकृष्णको बाँधनेकी इच्छा उदित हुई । ऐसा क्यों हुआ ? भगवान्के स्वरूपमें बन्धन नहीं है । क्या यशोदा भगवान्के इस सामर्थ्यसे अपरिचित है ? शुकदेवजी कहते हैं कि 'हाँ अपरिचित है ।' तब क्या वह पूतना, तृणावर्त आदिके वधका ऐश्वर्य-वीर्य देखकर भी न पहचान सकी ? यही प्रेमका सामर्थ्य है । वह प्रियतमके माधुर्यको पहचानता है, ऐश्वर्यको नहीं । मूलमें कहा गया है कि भगवान्में भीतर-बाहर, पूर्वापरका भेद नहीं है । वे ही बाह्याभ्यन्तर, पूर्वापर एवं जगत् भी हैं । वे अजन्मा और अव्यक्त हैं, इन्द्रियातीत हैं । फिर भी मनुष्यरूपमें प्रकट श्रीकृष्णको गोपीने रस्सीसे ऊखलमें इस प्रकार बाँध दिया, मानो कोई प्राकृत शिशु हो ।

श्रीधर स्वामीने कहा है—बन्धन तो उसका हो, जिसको बाहरसे चारों ओरसे लपेटा जा सके और वह रस्सीके घेरेमें आ जाय । एक ओरसे रस्सी पकड़ें और दूसरी ओरसे

---

१. नानासाधनशालिनोऽपि पुरुषस्यौजस्विनः स्वात्मनो
मालिन्यापहृताववश्यमपरापेक्षेति युक्तं यतः ।
भास्वच्चन्द्रमसोः सहस्रकरयोरप्यत्र नेत्रात्मनो-
रासीदञ्जनमार्जनं न भगवद्धस्तावलम्बं विना ॥

२. तवाभिधानं षडरिप्रभञ्जकं ब्रुवीति सद्भिर्यदहं प्रकीर्तितः ।
मयि स्थिते द्वेषिणि रोषसम्भवः कथं जनन्यामिति तादृशेक्षणः ॥

३. तावज्जडाभयो युक्तो न यावच्चेतनागमः ।
युक्तं श्रीशकरं धृत्वा सा जहौ यष्टिकां जडाम् ॥

४. मदीयं संतोषं सुफलदमसम्पाद्य मनुजो
यदि क्षुद्रे किंचित्फलिनि दिनकर्मण्यभिरतः ।
भवित्री तस्यार्थक्षतिरपि च दूरस्थितिरहं
पुनर्मद्गामी चेत् प्रतिपदमहं तस्य सुलभः ॥

५. बुद्ध्यग्राह्योऽप्यहमिह सुलभस्तस्यास्मि यस्तु मदनुगतः ।
उज्झितकर्मेत्याशयमबोधयन् मातृहस्तगो हि हरिः ॥

६. गर्गोक्तनामबद्धेऽस्मिन् सुकरं दामबन्धनम् ।
इत्यैषीत् सा नामदामपर्यायैकार्थदर्शिनी ॥

मिला दें। यहाँ भगवान् सर्वथा उसके विपरीत हैं। व्याप्य व्यापकको बाँध नहीं सकता और फिर दूसरा कोई हो तो बाँधे। जब भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, तब कौन किसको बाँधे ? फिर भी यशोदाने मनुष्यरूपमें प्रकाशमान इन्द्रियातीतको अपना पुत्र मानकर बाँध लिया।

श्रीजीवगोस्वामीका अभिप्राय है कि श्रीकृष्ण व्यापक हैं, इसलिये उनके बाहर कुछ नहीं है। बाहरके प्रतियोगीके रूपमें प्रतीयमान अन्तर भी नहीं है। पूर्वापरकी भी यही दशा है। वे ही जगत् हैं अर्थात् कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं होता। देश-काल-वस्तु वे ही हैं। उनकी शक्तिसे ही जगत्‌की शक्ति है। ऐसी अवस्थामें उनकी शक्तिका एक क्षुद्र अंश रस्सी उन्हें कैसे बाँध सकती है ? क्या स्फुलिङ्ग (चिनगारी) अग्निको जला सकते हैं ? परंतु यशोदामाताने कृष्णको बाँध लिया। वे अधोक्षज (इन्द्रियातीत) होनेके साथ-ही-साथ मनुष्य-वेषधारी भी हैं। 'नारायणाध्यात्मम्' में कहा गया है कि 'अव्यक्त भगवान् अपनी शक्तिसे ही दर्शनके विषय होते हैं। उन्हें दूसरा कोई अपनी शक्तिसे नहीं देख सकता।' श्रुति कहती है—'देवता और इन्द्रिय उसके बनाये हुए—उससे उत्पन्न हैं। वे अपने पूर्ववर्ती अनुत्पन्न कारणको नहीं जान सकते।' मध्वाचार्यने भगवान्‌को अस्थूल-स्थूल, अनणु-अणु एवं अवर्ण-श्यामवर्ण कहा है। अर्थात् उनमें परस्पर-विरोधी धर्म हैं। श्रीनृसिंहतापनी श्रुति कण्ठतः घोषणा करती है—

'तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्।'

तुरीय-अतुरीय, आत्मा-अनात्मा, उग्र-अनुग्र, वीर-अवीर, महान्-अल्प, विष्णु-अविष्णु, प्रदीप्त-शान्त, व्यापक-अव्यापक—सब भगवान् ही हैं। गीतामें 'मत्स्थानि' एवं 'न च मत्स्थानि' एक साथ ही हैं। वे विरुद्ध-अविरुद्ध अनन्त शक्तियोंके निधान हैं और उनकी प्रत्येक शक्ति अचिन्त्य है। अतः बन्धनकी असम्भावना और सम्भावना दोनों ही उनमें युक्तियुक्त हैं। दोनों एक साथ ही संगत हैं।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने यह आशय प्रकट किया है कि यद्यपि भगवान् वैसे ही हैं, फिर भी उन्हें अनन्त प्रेमका, असाधारण वात्सल्यका विषय बनाकर माताने उन्हें बाँध दिया। बात यह है कि ईश्वरके अधीन सब है; परंतु ईश्वर प्रेमके अधीन है। भक्तिमें जो बाँधनेकी शक्ति है, वह भी प्रभुकी ही शक्ति है। वे किसी औरसे नहीं, अपनी शक्तिसे ही बँधते हैं। प्रेम उनके ऐश्वर्यको आच्छादित कर देता है। वे प्राकृत नहीं हैं, चित्पुञ्ज हैं। फिर भी प्राकृतके समान बाँध दिये गये—यही प्रेमकी शक्ति है।'

आचार्य वल्लभ बन्धन-प्रसंगपर प्रसन्न-गम्भीर विवेचन करते हैं। उनका कहना है—"भगवान्‌में दोनों प्रकारसे बन्धनका अभाव सिद्ध होता है। पहला, भगवत्स्वरूपका विचार और दूसरा, बन्धन-साधनके स्वरूपका विचार। देखिये, बन्धन दो काम करता है—बाहरसे निरोध और भीतरसे ताप। ये दोनों उसीको हो सकते हैं, जिसमें अन्तर-बाह्यका भाव हो। भगवान् पूर्ण हैं। सबमें व्याप्त हैं। वे किसीके भीतर नहीं हैं। वे निरवयव हैं। अतः उनका कोई परिच्छेदक नहीं है। 'अन्तः' शब्दका अर्थ है—शब्द-सहित आकाश। उसकी प्रवृत्ति भगवान्‌में नहीं है। अर्थात् न भगवान् आकाशके अन्तर्गत हैं, न तो शब्दके विषय हैं। 'अन्तर्यामी ब्राह्मण'के अनुसार वे ही सर्वान्तर हैं। फिर वे किसके अन्तर्गत होंगे, जिससे वे उसमें बाँधे जायँ ? आधार होनेपर तो उनका किसीमें अन्तर्भाव हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि बन्धन वेष्टनात्मक होता है। वह देश-परिच्छिन्नमें ही सम्भव है। निरवयव अनिरुक्त स्वयम्प्रकाश ज्ञातृ-ज्ञेय-भावके द्वैतसे रहित परमात्मामें पूर्वापर या उत्तर-दक्षिण सम्भव ही नहीं है। अतः स्वरूपकृत, देशकृत, कालकृत या अन्यकृत बन्धन भगवत्स्वरूपमें सम्भव नहीं है।"

अब बन्धन-साधन-स्वरूपपर विचार कीजिये। रज्जु आदिके पूर्वापर भागमें ये ही विद्यमान हैं। स्वयं यशोदा इस सम्बन्धमें प्रमाण हैं कि उन्होंने भगवान्‌के मुखमें सम्पूर्ण विश्व देख लिया था। वे सबके बाहर और भीतर हैं। न केवल वे जगत् हैं, जगच्चय (जगतां चयः) भी हैं। जहाँतक जगत्‌की गति है, भगवान् उतने ही नहीं हैं। क्या जगत् जगदात्माको बाँध सकता है ? स्वयं स्वको नहीं बाँधता। किसी भी प्रकारसे भगवान्‌में बन्धन नहीं है, यह सोचकर भक्त निश्चिन्त रहते हैं। परंतु इस रूपमें लोग भगवान्‌को नहीं जानते। यदि वे अपनेको सर्वथा गुप्त ही रखें तो उनका स्वरूप किसीको ज्ञात नहीं होगा। अतः भगवान् स्वयं अपने परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका बोधन कराते हैं; क्योंकि दूसरोंके समझानेपर भी संदेहकी पूर्ण निवृत्ति नहीं होती। मर्मज्ञ पुरुष अन्याभिनयपरायण नटके वास्तविक स्वरूपको पहचान लेते हैं; परंतु ये अधोक्षज (अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात्, प्रत्यक्षादिजन्य ज्ञान जिसका स्पर्श नहीं कर सकते) हैं। जबतक ये स्वयं अपनी पहचान स्वयं न करायें, तबतक क्या हो सकता है। अतः बद्ध-मुक्त सब ये ही हैं—यह प्रकट करनेके लिये 'बन्धन-लीला' है।

यशोदामाताने उन्हें ऊखलमें क्यों बाँधा ? इसपर हरिसूरिकी उत्प्रेक्षा सुनिये—नामैकदेशग्रहण न्यायसे उलूखल खल है । खलसङ्ग छुड़ानेमें उसका अतिसङ्ग ही कारण बन जाता है । अत्यन्त सांनिध्यसे अवज्ञाका उदय होता है—इस नीतिके अनुसार ही यशोदाने श्रीकृष्णके उलूखलमें बाँधा ।[७] यशोदा मैयाने सोचा कि उलूखल भी चोर है; क्योंकि माखनचोरी करते समय इसने कृष्णकी सहायता की थी । चोरका साथी चोर । इसलिये दोनों बन्धनके योग्य हैं ।[८]

कविकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि क्या देख रही है ? ध्यान दीजिये । यशोदामाताने श्रीकृष्णको बाँध लिया, यह बात अलग रहे । मुझे तो ऐसा दीखता है कि श्रीकृष्णने ही यशोदा माता और ऊखल दोनोंको ही बाँध लिया । यशोदा भगवत्-स्नेहमें बँध गयी और ऊखल कृष्णके साथ बँधकर दूसरोंके उद्धारमें समर्थ हो गया ।[९] भगवत्स्वरूपके बोधमें शब्दनिष्ठ शक्ति, योग, लक्षणा और गौणी वृत्ति कारण होती है । ऐसा लगता है कि योगीन्द्र गर्ग और वेदोंने पहली वृत्तियोंसे बोध कराया और यशोदामाता गौणी वृत्ति (रस्सी) से जानना चाहती हैं ।[१०]

उपक्रममें ही यह अभिप्राय प्रकट कर दिया गया है कि महापुरुषकी कृपा ही भगवत्प्राप्तिका हेतु है । यशोदा-माता इस रज्जु-बन्धनद्वारा ऊखल (खल) का भी श्रीकृष्णके साथ बन्धन-सम्बन्ध करनेमें समर्थ हैं । माता-महापुरुषके द्वारा भगवान्‌के साथ बाँधा गया ऊखल भी जड नलकूबरका उद्धार करनेमें समर्थ हो जाता है । बन्धन कुछ नहीं है । वह किसके द्वारा किसके साथ किया गया है—इसीका महत्त्व है ।

अपना बालक है—इसलिये माताको बाँधनेका अधिकार है । पराया बालक होता तो उपेक्षा की जा सकती थी । कृष्णने अपराध किया है, इसलिये वे बन्धनके योग्य हैं । श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं कि 'रस्सी जब पहली बार दो अंगुल कम पड़ी, तब यशोदाने सोचा कि यह दैववश हुआ । परंतु जब वह बार-बार दो अंगुल न्यून होने लगी, तब विभुता-शक्तिका चमत्कार देखनेमें आया । प्रेम बहुत अधिक है, परंतु परिश्रमकी पूर्णता और कृपा-विशेषकी अपेक्षा है । अतएव सभी रस्सियाँ दो-दो अंगुल न्यून होती गयीं । विभुता-शक्ति भी इसीलिये प्रकट हुई कि श्रीकृष्णकी बाल्योचित हठकी लीला पूर्ण हो ।'

आचार्य वल्लभका कथन है कि भगवान्‌ने अपनेमें दो दोष दिखाये—पहला, यशोदापुत्र होना और दूसरा, अपराधी होना । दो अंगुल न्यून होकर रस्सी कहती है कि ये दोनों दोष श्रीकृष्णमें नहीं हैं । माताको आश्चर्य भी होता है, परंतु श्रीकृष्णमें अपनी व्यापकताके प्रदर्शनकी इच्छा भी है । पेट बढ़ता नहीं, कमर मोटी नहीं होती, रस्सीमें रस्सी जोड़नेपर भी वह दो ही अंगुल कम होती है । देवता तीन बार अपना सत्य प्रकट करता है । अतएव तीन बार न्यूनता हुई । गोपियाँ हँसती थीं । उन्हें लीला-दर्शनका आनन्द आता था । गोपियोंने यशोदामातासे कहा—'अरी यशोदा ! पतली-सी कमरमें रुनझुन-रुनझुन करती हुई छोटी-सी करधनी बँधी है और घरकी सारी रस्सियोंसे यह नटखट बँधता नहीं । यह बड़े मङ्गलकी सूचना है कि विधाताने इसके ललाटमें बन्धनका योग नहीं लिखा है । अब तू छोड़ दे यह उद्योग ।' परंतु यशोदामाताने कहा—'भले ही बाँधते-बाँधते संध्या हो जाय, गाँवकी सारी रस्सियाँ लग जायँ, मैं आज बाँधे बिना नहीं मानूँगी ।' कृष्णका हठ है—मैं नहीं बँधूँगा । माताका हठ है—मैं बाँधूँगी । यह निश्चय है कि भक्तका हठ विजयी होगा । भगवान्‌ने अपना आग्रह छोड़ दिया । बात यह है कि भगवान्‌में असङ्गता, विभुता आदि अनेक शक्तियाँ हैं; परंतु परम भास्वती भगवती कृपाशक्ति ही सर्वशक्ति-चक्रवर्तिनी हैं । वे भगवान्‌के मनको नवनीतके समान पिघला देती हैं और असङ्गता, सत्यसंकल्पता, विभुताको छिपा देती हैं । दो अंगुलकी न्यूनताका अभिप्राय यह है कि जबतक भक्तमें भजनजन्य श्रान्तिका उदय नहीं होता और भगवान्‌में भक्तका परिश्रम देखकर कृपाका उदय नहीं होता, तबतक वे भक्तके वशमें नहीं होते । जब दोनों एकत्र हो गये, तब भगवान् बँध गये । यह श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीका भाव है ।

—क्रमशः

७. परिहातुं खलसंगममतितरखलसंग एव हेतुरिति । अतिसंनिकर्षशास्त्राज्जानत्येषा बबन्ध किमु तस्मिन् ॥

८. अयं चोरश्चौर्यकर्मण्येतत्साहाय्यभागभूत् । इति वीक्ष्य द्वयोर्बन्धार्हतां तत्र बबन्ध तम् ॥

९. सा बबन्ध तमित्यास्तां मन्मतं तु बबन्ध सः । गोपिकोलूखले एव तमस्तन्तुगुणाद् प्रभुः ॥

१०. शक्तिर्योगो लक्षणा गौण्यपीति बोधे हेतौ श्रीपतौ तत्र चोक्तम् ।
तद्बोध्यत्वं गर्गयोगीन्द्रवेदैर्मन्ये गौण्या गोपिका ज्ञातुमैच्छत् ॥

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

प्रेमका सम्बन्ध केवल भगवान्‌को लेकर उन्हींके लिये हो

सारा प्रेम सब ओरसे सिमटकर होना चाहिये एकमात्र श्रीश्यामसुन्दरमें ही। ममताके एकमात्र पदार्थ वे ही रह जायँ और वह ममता भी अनन्य-विशुद्ध-प्रेमजनित हो। श्रीनन्दनन्दनके अतिरिक्त अन्यत्र होनेवाले प्रेममें कहीं कदाचित् कोई स्वसुखकी कामना रह सकती है और वह सारे प्रेमको विरस या नीरस कर देती है। इसीसे कहा गया है—सारी ममता केवल भगवान्‌में हो और वह हो केवल प्रेममयी। अन्य किसी भी प्राणी, पदार्थ या परिस्थितिसे जो प्रेमका सम्बन्ध हो, वह केवल उन्हींको लेकर, उन्हींके लिये हो। अपने शरीरसे भी, शरीरके कार्योंसे भी प्रेम उन्हींके लिये हो। प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक कार्य केवल प्रियतम श्रीकृष्णके लिये ही हो। अन्य सबके लिये कुछ रहे ही नहीं—यही जीते-जी मर जाना है। इसमें जीना भी बनता है, खाना-पीना भी बनता है, कपड़े-लत्ते पहनना भी बनता है, दवा-इलाज भी होता है और मरना भी होता है, पर होता है—प्राणप्रियतमके लिये, अपने शरीरके या अपने लिये नहीं। कहीं शरीरमें आसक्ति भी हो सकती है, पर वह शरीरके लिये—अपने लिये नहीं, प्रियतमके लिये ही होती है।

अपने और दूसरेके लियेका प्रश्न ही नहीं, सब उनके लिये। अपना काम तो अब समाप्त ही हो जाना चाहिये। भगवान्‌ने गोपियोंके लिये कहा था—वे अपना काम तो सब मेरे लिये कभीका छोड़ चुकी हैं—'मदर्थे त्यक्तदैहिकाः'।

सब कुछ उन्हींका मङ्गलविधान है

मनमें बहुत प्रसन्न रहना चाहिये। भगवान्‌के शील-स्वभावकी ओर देखकर हमलोगोंको बार-बार मुग्ध होना चाहिये। उनकी कितनी कृपा है, कितना स्नेह है, कहीं उसकी तुलना ही नहीं है। सदा-सर्वदा उनका मधुर स्मरण करते रहना चाहिये। संसारकी अनुकूलता-प्रतिकूलताका कुछ भी असर न होने पाये। सब कुछ उन्हींका मङ्गलविधान है।

सबसे बड़ा लाभ, पुण्य और सौभाग्य

हर हालतमें—तथा बीमारीमें विशेषरूपसे—उनकी पवित्र, मधुर-मनोहर लीलाके दर्शन करते रहो। मनको उनकी लीलाके दर्शनमें लगाये रखो—यही सबसे बड़ा लाभ, पुण्य और सौभाग्य है।

जैसे भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपका ध्यान होता है और उसमें ध्येयाकार वृत्ति होनेपर एक-एक अङ्ग स्पष्ट दीखता है, वैसे ही रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शका भी ध्यान होता है। उसमें स्पष्ट रसास्वादन, भगवान्‌की मधुर अङ्ग-गन्ध, उनकी मुरली-नूपुर-ध्वनि, उनके पवित्र चरणादि अङ्गोंके स्पर्शकी अनुभूति होती है। और जहाँ अपनी कृपासे वे इससे भी आगेकी स्थिति बना देते हैं, वहाँ तो साक्षात् ही यह सब होता है। इसकी उत्कट इच्छा करनी चाहिये तथा उनसे इसके लिये प्रार्थना करनी चाहिये।

असली स्वस्थता भगवान्‌में स्थित रहनेमें ही है

असली स्वस्थता 'स्व' में— अपने परम प्रियतम भगवान्‌में स्थित रहनेमें ही है। तुम निश्चिन्त

होकर सदा-सर्वदा अपने भगवान्में ही संस्थित रहना—एकदम 'स्वस्थ' रहना। तुम दूसरी बात सोचते ही क्यों हो ? जिनकी जड-शरीरमें ही प्रीति है, वे सोचा करें। तुम तो प्रियतमकी वस्तु हो, सदा-सर्वदा हँसते हुए प्रियतमके हाथका खिलौना बने रहो। इन पंक्तियोंको सदा स्मरण रखो—

दूर हुआ दो के अभाव में भय, चिन्ता, विषाद, मद मान।
× × ×
जाना-आना, मरना-जीना रखता कुछ भी अर्थ नहीं।
एक तुम्हारे मनकी हो—बस, स्वार्थ यही, परमार्थ यही॥
× × × × ×

असलमें स्वस्थ वही है, जो श्रीश्यामसुन्दरको ही अपना सब बनाकर उनके श्रीचरणोंमें स्थित रहता है। शेष—जगत्में स्थित रहनेवाले तो सभी अस्वस्थ हैं। तुम प्रत्येक अवस्थामें श्रीश्यामसुन्दरकी मुसकान देख-देखकर हँसते रहा करो। तुम्हारा रोम-रोम सदा हँसता रहे—खिलता रहे—सूर्य-किरणोंके प्रकाशमें विकसित होनेवाले कोमल कमलोंकी भाँति।

शरीरकी दृष्टिसे औषध तथा पथ्य घरवालों तथा चिकित्सकोंकी इच्छापर छोड़ दो। वे जो कहें, जो बतायें, वही संतुष्टचित्तसे करते रहो। मनमें यह विश्वास करो—'मैं नीरोग हूँ। रोगकी जो कल्पना थी, वह भी बड़ी तेजीसे नष्ट हुई जा रही है। मेरा शरीर स्वस्थ है, मेरा मन स्वस्थ है, मेरी बुद्धि स्वस्थ है, मेरा रोम-रोम स्वस्थ है। भगवान्की कृपासे रोग मेरे पास आ ही नहीं सकता। भगवान् मेरे स्वास्थ्य हैं—मैं कभी बीमार नहीं हो सकता। भगवान् मेरी अचूक शक्ति हैं। भगवान् मेरे सब कुछ हैं। मैं सदा निर्भय हूँ; क्योंकि भगवान्, भगवत्प्रेम तथा भागवत सत्य मेरे पास हैं।'

विशुद्ध अनुरागका स्वरूप

जहाँ पवित्र प्रेम होता है, वहाँ गुणकी अपेक्षा नहीं होती, न कोई कामना होती है। प्रेम तो हृदयकी पवित्रतम वस्तु है। इसलिये वहाँ प्रेमास्पद, बस, प्रेमास्पद ही रहते हैं। उनमें किसी गुण-महत्त्वका अंश है या नहीं, यह प्रेमी नहीं देखता।

वह प्रेमास्पद कहीं बहुत बड़ा है तो हुआ करे; वह है अपना। और वह यदि सर्वथा नीच-अधम है तो परवा नहीं। उसकी नीचता-अधमतासे मतलब नहीं; वह अपना है, बस, अपना है। यही परम आदर्श 'गोपीभाव' है। विशुद्ध अनुरागका यही स्वरूप है।

आनन्दका रोना वाञ्छनीय है

रोना हृदयके परम आनन्दका भी हुआ करता है, दुःखका भी। दुःखका नहीं होना चाहिये आनन्दका होना वाञ्छनीय है। राधाजीने तो कहा था—'मैं, बस, सदा रोती ही रहूँ'—

इच्छा एक यही मन मेरे—कभी सुअवसर मैं पाऊँ।
ऊँचे स्वरसे रोकर, तज लज्जा, 'हा प्रिय ! हा प्रिय !' गाऊँ॥
रोऊँ, रोती रहूँ सदा, वह रुके नहीं मेरा क्रन्दन।
हो अनन्त सुखमय वह मेरा क्रन्दन ही, हे जीवनधन॥

भगवान्‌का हो जानेपर जागतिक दुःख तो वस्तुतः रहता ही नहीं; फिर दुःखका रोना भी कैसे हो ।

मनमें भगवत्प्रेमका सुधा-स्रोत बहता रहना चाहिये

अपने प्रेमास्पदसे मिलना न हो तो दुःख नहीं करना चाहिये—इसमें मनका स्मरण और भी तीव्र तथा अत्यन्त मधुर होगा । श्रीगोपिकाओंका जीवन देखो—वे श्रीश्यामसुन्दरसे सदा अलग रहीं, पर उनके मनको अपना मन बना लेनेके कारण उन्होंने निरन्तर श्रीश्यामसुन्दरको अपने पास ही पाया । मनमें पवित्रतम, दिव्य भगवद्भाव तथा भगवत्प्रेमका सुधा-स्रोत बहता रहना चाहिये, वह कभी सूखने न पाये; फिर शरीर कहीं रहे, किसी अवस्थामें रहे, न रहे । शरीर तो क्षणभङ्गुर है ही, यह तो नष्ट होनेवाला है ही, पर इसके नष्ट होनेपर भी पवित्रतम भगवद्भावका नाश नहीं होता । वह तो सदा-सर्वदा अक्षुण्ण बना रहता है और प्रतिक्षण भगवान्‌के स्वरूप-सौन्दर्यकी भाँति बढ़ता ही रहता है । अतएव उस भगवद्भाव तथा भगवत्प्रेमकी सदा सुरक्षा तथा वृद्धि करते रहना चाहिये । श्रीश्यामसुन्दरको नित्य-निरन्तर अपने अनुकूल मानकर प्रत्येक अवस्थामें परम प्रसन्न रहना चाहिये ।

मनका लगाव ही सच्चा है

प्रेमराज्यमें तप-त्यागकी बड़ी महिमा है । तप-त्याग प्रेमका परम विभूषण है । अतएव शरीरकी दृष्टिसे तप-त्याग करना पड़े तो उसे सानन्द स्वीकार करना चाहिये । जिस वस्तुका मनसे कभी अलगाव हो नहीं सकता, वह तो सदा रहेगी ही । वही सच्ची चिपक है, जो कभी छूटती नहीं । रही बाहरसे मिलनकी बात, सो किसी गोपीको उसकी जरा भी परवा नहीं । श्रीश्यामसुन्दरको स्वयं गरज हो तो मिलें, नहीं तो नहीं । वे न इसके लिये नाराज होती हैं न उलाहना देती हैं, न अपनेको दुःखी मानती हैं न विषाद करती हैं । सदा मौजमें रहती हैं ।

विशुद्ध प्रेममें निर्भय-निस्संकोच व्यवहार होना चाहिये

तुमने लिखा, वह है तो सत्य—लोग मुझसे बड़ा संकोच करते हैं, मेरे साथ बात करनेमें बड़े सम्मानसे बोलते हैं । कोई महात्मा समझते हैं कोई विद्वान्, कोई महान् भक्त तो कोई बड़ा आदमी मानते हैं । इनमें मैं हूँ कोई-सा भी नहीं । झूठा ही रोब बन गया है । भैया ! मैं तो साधारण संसारी मनुष्य हूँ । यदि मैं ऐसा होऊँ तो भी मुझसे क्यों संकोच होना चाहिये, क्यों डरना चाहिये ? मैं सबका अपना हूँ । प्रेममें संकोच-भय नहीं रहते । साक्षात् परात्पर ब्रह्म श्रीश्यामसुन्दर भी व्रजमें अपना बड़प्पन भूलकर प्रेमरसका आस्वादन करनेके लिये कभी यशोदाकी छड़ी देखकर रोते-दौड़ते हैं, कभी सखाओंकी फटकार सुनते हैं और उनसे हारकर घोड़ा बन जाते हैं तो कभी व्रजयुवतियोंकी महाभाग्यताका विजयघोष करते हुए उनकी चरण-रज-सेवा करनेमें परम सुखका अनुभव करते हैं ।

भैया ! वे भगवान् केवल प्रेमके वश रहते हैं । वे अन्य किसी भी गुणको नहीं देखते, न वस्तुके परिमाणको देखते हैं । वे देखते हैं—विशुद्ध प्रेम; उसे वे जहाँ पाते हैं, वहीं सारी भगवत्ताको किनारे रखकर दौड़े जाते हैं—

> गोपोंके आँगन-कीचड़में तुम प्रमुदित लोटा करते ।
> विप्रोंके शुचि यज्ञस्थलमें जाते सदा लाज मरते ॥
> गो-गोपी-वत्सोंकी बोली सुनते ही उत्तर देते ।
> सत्पुरुषोंकी शत-शत स्तुतियोंपर भी सहज मौन लेते ॥

करते व्रज-दाराओंका दासत्व नहीं तुम हो थकते ।
इन्द्रिय-जयी योगियोंका स्वामित्व नहीं तुम कर सकते ॥
किसी मूल्यमें भी तो वे तव मिलते चरण-सरोज नहीं ।
शुद्ध प्रेमसे ही उनकी, बस, होती रसमय प्राप्ति सही ॥

प्रेममें निर्भय-निस्संकोच व्यवहार होना ही चाहिये । नहीं तो रसका विकास ही नहीं होता। भय, सम्मान, सम्भ्रम, संकोच, आदर आदि स्वाभाविक ही प्रेमके उच्च-स्तरमें उत्तरोत्तर मिटते चले जाते हैं । शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—इनमें उत्तरोत्तर समीपता है और जितनी समीपता है, उतना ही भय, मान, सम्भ्रम, संकोच आदिका अभाव है ।

दुःखमें भी प्रियतमका सुख-स्पर्श ही प्राप्त करना चाहिये

तुम बड़े सौभाग्यशाली हो और तुम निश्चय समझो, तुमपर श्रीश्यामसुन्दरकी कृपा-सुधा-धारा नित्य-निरन्तर बरस रही है । तुम्हारी घबराहट भी उन्हींकी लीलाका एक अङ्ग है । पर तुम इसे स्वीकार क्यों करते हो ? तुम तो भीषण-से-भीषण कष्टमें भी कहा करो—'प्यारे ! तुम इस रूपमें आये ? आओ, लग जाओ हृदयसे । तुम किसी भी रूपमें आओ और मुझे गले लगाते रहो। यह तो सम्भव नहीं कि तुम्हारे सिवा अन्य कोई भी मुझे आलिङ्गन करे । रोग बनकर आओ और अन्य कैसा भी वीभत्स, भयानक रूप धरकर आओ, मैं तुम्हें पहचान लूँगा और प्यारे ! सदा तुम्हारा सहर्ष स्वागत करूँगा।'

तुम्हें दुःखमें भी प्रियतमका सुख-स्पर्श ही प्राप्त करना चाहिये । क्या इस रूपमें कोई दूसरा आता है ? क्या श्रीश्यामसुन्दरके प्रेमीके पास कभी कोई रोग-दुःख आ सकता है ? श्रीश्यामसुन्दर स्वयं चाहे जिस रूपमें, चाहे जिस वेषमें आ जायँ, आते हैं वे ही । फिर हम क्यों कहें कि तुम हमारे चाहे हुए रूपमें ही आया करो । तुम सदा प्रसन्न रहा करो । किसी भी अवस्थाको तुम्हें हँसते देखकर लज्जा आ जाय।

वियोग बड़ा सुखदायी होता है

वियोग बड़ा सुखदायी होता है । मिलनमें मिलन-भङ्गका भय है; वियोगका स्मृतिजनित यथार्थ मिलन सर्वथा भय-शून्य है । उसके भङ्ग होनेकी सम्भावना ही नहीं । प्रभुको नित्य अपने बाहुपाशमें बाँधे रखना—बिना किसी भय, संकोच, मर्यादा, मान, संदेहके—यह वियोग-मिलनमें ही होना सम्भव है। संयोग-मिलनमें तो बहुत-सी बाधाएँ रहती हैं ।

विशुद्ध प्रेम सर्वाकर्षक श्रीकृष्णके मनका भी आकर्षण कर लेता है

भगवान् सदा-सर्वत्र केवल निर्गुणरूपसे व्यापक ही नहीं हैं, सगुण-साकाररूपमें भी अपने प्रेमी—लोक-परलोकके भोगोंकी वासनासे शून्य और मुक्तिको भी न चाहनेवाले—के समीप नित्य रहते हैं; उसे सुख देनेके लिये नहीं, उसके सुखसे स्वयं सुख प्राप्त करनेके लिये। पूर्णकाम, आप्तकाम, निष्काममें भी पवित्र दिव्य प्रेम-सुधा-रस-पानकी दिव्य कामनाका उदय हो जाता है । अतएव भगवान्‌से सदा-सर्वदा एकाङ्गी प्रेम ही करना चाहिये । वे प्रेमास्पद जानें ही नहीं कि अमुक मुझसे प्रेम करता है । ऐसे प्रेमीके प्रेमका एक विलक्षण चमत्कार यह होता है कि वह सर्वाकर्षक श्रीकृष्णके मनका भी आकर्षण कर लेता है और प्रियतम श्रीकृष्ण निरन्तर उसके पास रहनेमें ही सुखानुभव करते हैं ।

श्रीश्यामसुन्दर तथा श्रीराधाका सेवा-सुख जीवन बन जाय

असलमें जबतक मनुष्यके मनमें जरा भी भोग-काम है, तबतक वह प्रेमके मार्गपर आ नहीं सकता। काम प्रेमका शत्रु है, काम गंदी चीज है। उस गंदगीमें पवित्र प्रेम नहीं आता और जहाँ प्रेम होता है, वहाँ प्रेमास्पदका मन ही उसका मन बन जाता है। इसीसे प्रेमास्पदकी यथार्थ महिमा, उसकी सेवाका स्वरूप, उसकी श्रद्धाका स्वरूप और उसके मनकी गुप्त बात, उसका तत्त्व वह जानता है। इस प्रकारके प्रेमीका नाम ही 'गोपी' है। भगवान् श्यामसुन्दर अर्जुनसे कहते हैं—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

इसीसे गोपीका जीवन, उसका शरीर-रक्षण, उसका प्रत्येक विचार तथा कार्य श्रीश्यामसुन्दरको सहज सुख पहुँचानेके लिये ही हुआ करता है। अपना जीवन ऐसा बने, श्रीश्यामसुन्दर तथा श्रीराधाका सेवा-सुख ही जीवनका स्वरूप बन जाय,—ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। (पुराने पत्रोंसे संग्रहीत)

संसारका स्वरूप !

जगमें काको कीजै तोस।
जासौं तनकहु बिरति कीजिये, सोई धारत रोस॥
इंद्रिय सब अपुनी दिसि खींचत चाहि-चाहि निज भोग।
मन अलभ्य बस्तुनहू भोगत मानत तनिक न सोग॥
कहति प्रतिष्ठा—हमहिं बढ़ाओ, चहति कामना काम।
ईर्षा कहति—तुमहिं इक जीअहु, करि औरन बे-काम॥
जागत-सपन काय-बाचा सौं मन सौं भोगत धाय।
घिसि गइँ इंद्रीं, प्रान सिथिल भे, तौहू नाहिं अघाय॥
जौन मिलत कै तन बल नहिं, तौ दूरहि सौं ललचाय।
जिमि सतृष्न ह्वै लखत मिठाइन, स्वाल लार टपकाय॥
सब सौं थकि कै करत स्वर्ग के अमृतादिक मैं चाह।
धिक-धिक-धिक 'हरिचंद', सतत धिक, यह जग काम अथाह॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

संकल्प

('साधुवेशमें एक पथिक')

संसारमें अनन्त शक्तिका परिचय अखण्ड गतिद्वारा मिल रहा है। प्रकृतिके कण-कणमें अनादिकालसे क्षण-क्षण गति हो रही है। सर्वत्र जो गतिका भोक्ता है, वही 'जीवात्मा' है और जिसमें गति नहीं है, जो सर्वत्र गतिका द्रष्टा है, जिसमें गतिका आरम्भ और अन्त होता है, वही अनन्त 'परमात्मा' कहा जाता है। परमात्मासे नित्ययुक्त जीवात्मामें प्रकृतिके सङ्गानुसार ही संकल्प उठते हैं। भिन्न-भिन्न संकल्पोंके अनुसार ही जीव शुभ या अशुभ कर्मोंका कर्ता बनता है और कर्ता बननेके कारण सुगति या दुर्गतिका भोक्ता बनता है। जन्मान्तरोंके वासनानुसार तथा सजातीय सङ्गसे प्रेरित होकर सभी प्राणी अपने-अपने मनोरथकी पूर्ति करते हैं, परंतु मनुष्य बुद्धिमान् होनेके कारण जब कभी श्रेष्ठ सज्जन पुरुषोंसे प्रेरित होकर अथवा सच्छास्त्रोंके अध्ययनसे अथवा गुरु-ज्ञानसे प्रेरित होकर शुभ कर्म करता है, तभी दुर्गति-भोगसे बचकर सद्गति, परम गति प्राप्त करता है। अशुभ संकल्प उसको पाप-पथमें प्रेरित करते हैं और शुभ संकल्प पुण्यपथमें। जो विद्वान् पुरुष एवं विदुषी नारी दुर्गतिसे बचकर सद्गति, परम गति चाहते हों, वे अशुभ संकल्पोंका त्याग कर शुभ संकल्पको ही दृढ़ बनायें।

कोई पुरुष हो या नारी, वह अपने भाग्यका विधाता स्वयं ही है। अपनी-अपनी सुमति या कुमतिके अनुसार ही सबकी सुगति या कुगति होती है। संकल्पके अनुसार ही हम सभी लोग कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों अथवा मन-बुद्धिद्वारा सब कुछ करते हैं। हमलोग कुछ करनेके प्रथम शुभ या अशुभ निर्णय करनेके लिये स्वतन्त्र हैं, किंतु संकल्पानुसार कर्म कर लेनेके पश्चात् उसके फल भोगनेमें परतन्त्र हैं। अशुभ संकल्पोंकी पूर्तिमें प्राप्त शक्ति एवं समयका दुरुपयोग होता है और शुभ संकल्पोंकी पूर्तिमें उसका सदुपयोग होता है। जिससे पतन होता है, दुर्गति होती है, उसकी शिक्षाके लिये कोई श्रम नहीं करना होता। जिससे उन्नति-सद्गति-परम गति होती है, उसके लिये क्रमबद्ध शिक्षा-दीक्षाकी आवश्यकता है। अपने पतनके लिये हमें कोई श्रम नहीं करना है। जो कुछ करना चाहिये, उसके प्रति असावधानी हमें स्वतः पतनके गर्तमें गिरा देगी; किंतु उन्नति, सद्गति-, परमगतिके लिये उत्तमोत्तम संगकी तथा दृढ़ संकल्प एवं साहस और निरन्तर प्रयत्न अथवा साधनाकी आवश्यकता है।

नित्य जीवन, शाश्वत जीवन अपने-आप नहीं सुलभ होता, किंतु जडता स्वतः साथ चलती है। अमरताके लिये साधना अपेक्षित है, पर मृत्यु तो स्वतः ही आती है। श्रेष्ठ विद्वानों, गुरुजनोंको आमन्त्रित करना होता है; पर कौआ, कुत्ता, मक्खी, मच्छर, छली, कपटी, चोर, धूर्तजन तो बिना बुलाये ही आनेकी घात लगाये रहते हैं। हमें यह समझाया गया है कि मनुष्य जीवन और मृत्युके मध्यमें है, वह चेतना और जडताके संयोगमें स्थित है, वह एक सिरेमें पशुमय है और दूसरे सिरेमें प्रभुमय है, वह विनाशी एवं अविनाशीके मध्यमें भूला हुआ पथिक है। वह कहीं सोया है, इसीलिये जाग्रत् हो सकता है। वह कहीं मूर्छित है, अतः होशमें आ सकता है और जहाँ गतिशील है, वहीं सद्गति—परम गति प्राप्त कर सकता है। वह कुसङ्गमें है तो सत्सङ्गसे सावधान हो सकता है। जहाँ असत् संकल्प है, वहीं सत्संकल्प हो सकता है। हम सब मानव हैं। हमें अपने होनेकी बोध-किरण प्राप्त है, इसीलिये हम अपने आपको उसके उद्गम परम सूर्यसे युक्त अनुभव कर सकते हैं, केवल दृढ़ संकल्प आवश्यक है।

मनुष्य ही वासना-प्रेरित, कुसङ्ग-प्रेरित, कुसंस्कार-प्रेरित होकर अशुभ कर्म करता है और सुसङ्ग-प्रेरित, सच्छास्त्र-प्रेरित एवं ईश्वर-प्रेरित शुभकर्मी होकर मुक्त-भक्त हो जाता है। अपनी-अपनी मतिके अनुसार सभी नर-नारी वासना-कामनाकी पूर्तिके लिये जितना दृढ़ संकल्प करते हैं, उतना दृढ़ संकल्प वासना-कामनाकी निवृत्तिके लिये जबतक नहीं करते, तबतक भोगी, रोगी, अशान्त ही होते रहते हैं। समाजमें शान्त, स्वस्थ योगी कोई बिरले ही पाये जाते हैं। प्रायः अविवेकीजन दूसरोंके श्रृङ्गार, रूप, वस्त्रों, आभूषणों अथवा किसीके वैभव-धनसे मोहित होकर वैसा ही बननेका संकल्प करते हैं; परंतु दूसरोंके सद्गुणों तथा त्याग, सेवाको अथवा दान एवं निष्काम प्रेमको देखकर तदनुसार होनेका संकल्प बिरले ही विवेकी करते हैं। हम सबके लिये यह समझने-योग्य संदेश है कि जिस शक्तिसे दुर्गतिदाता अशुभ संकल्प पूर्ण होता है, उसी शक्तिसे सद्गतिदाता शुभ संकल्प पूर्ण होता है; अतः परमार्थ-प्रेमी साधकोंको अशुभ संकल्पसे बहुत ही सावधान रहना चाहिये।

किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये पशुकी अपेक्षा है, किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये मानवकी, किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये राक्षसकी अथवा दानवकी अपेक्षा होती है, किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये देवताकी और किसी संकल्पकी पूर्तिके लिये भगवान्‌की दया अथवा कृपाकी अपेक्षा होती है। जितनी ही संकल्पोंकी पूर्ति होती है, उतनी ही गतिसे नये संकल्पोंकी उत्पत्ति होती जाती है। समस्त संकल्प अहंकारकी सीमासे ही उत्पन्न होते हैं और संकल्पोंकी पूर्तिसे अहंकार पुष्ट होता रहता है। संकल्पकी पूर्तिसे जो सुख प्रतीत होता है, वही देहाभिमानको तथा वस्तुके प्रति लोभ तथा व्यक्तिके प्रति मोहको पुष्ट करता है। यह भी सत्य है कि संकल्पकी पूर्तिमें रसास्वाद लेनेवाला काम-क्रोधादि विकारोंसे नहीं छूट पाता और विकारोंके रहते शान्ति, मुक्ति, भक्ति नहीं मिलती। संकल्पकी पूर्तिके लिये कहीं वस्तु-संग्रहकी, कहीं व्यक्तियोंके संयोगकी, कहीं पदाधिकारकी अपेक्षा रहती है, यह परापेक्षा ही विविध बन्धनों और अनर्थोंका मूल है। परमार्थी साधक जब सभी संकल्पोंका त्याग कर पाते हैं, तभी शान्तिका अनुभव करते हैं।

एक संतने समझाया है कि स्वार्थसे परमार्थकी ओर लौटनेके लिये प्रथम अपने मनोरथकी पूर्तिके संकल्पका त्याग करो और उसी शक्ति, सम्पत्ति, योग्यताद्वारा दूसरोंके शुभ संकल्पकी पूर्ति करते जाओ। जब दूसरोंका समुचित संकल्प तुम्हारे द्वारा पूरा हो, तब अपना हित समझकर उस सेवाका कोई भी बदला न चाहो और सेवक होनेका अभिमान न करो। जबतक तुम संसारकी वस्तुओंको तथा सम्बन्धित व्यक्तियोंको अपना मानकर मोही बने रहोगे, तबतक कामनाका अन्त नहीं होगा। संकल्परहित होनेके लिये किसी वस्तुको अपनी मानकर लोभी और किसी सम्बन्धित व्यक्तिको अपना मानकर मोही न बने रहो। लोभी, मोही, अभिमानी, कामी सदा परका ही चिन्तन करता है, स्मरण करता है और विषय-सङ्ग प्राप्त होते ही कामना-पूर्तिका संकल्प करते हुए उसकी पूर्तिका प्रयत्न करता है। ऐसा व्यक्ति श्रमित ही रहता है, विश्राम नहीं पाता। शरीरके द्वारा श्रमित होकर देहद्वारा ही विश्राम सभी प्राणी नित्य चाहते हैं, परंतु संकल्पके द्वारा श्रमित होकर जीवनमें विश्राम चाहनेवाले विरले ही विवेकी मिलते हैं।

जो जन दुर्गतिजनित दुःखोंसे मुक्त होना चाहते हैं, उनके लिये सनातनकालसे वेदों, शास्त्रों एवं संतोंका आदेश-उपदेश यही है कि असत्-संकल्पोंसे सावधान रहो, सदा पवित्र हितकारी संकल्प करो। सांसारिक सुखोपभोगके लिये जो वस्तुओं, व्यक्तियोंके संयोग-लाभका संकल्प होता है, वह व्यक्तिको क्षुद्र बनाता है। सर्वोपरि महान्‌के नित्ययोगका संकल्प साधकको महान् बना देता है। जिसकी प्राप्तिका संकल्प होता है, उसीसे मन भर जाता है। क्षुद्र, विनाशी, परतन्त्रसे मनका भर जाना ही महान् अविनाशी, स्वतन्त्रसे विमुख बने रहना है। संकल्पसे ही विष प्राप्त होता है और संकल्पसे ही अमृत सुलभ होता है। इस संकल्पके पीछे त्याग, दान, तप, श्रमकी क्षमता रहती है। जिसका संकल्प जितना ऊँचा होगा अर्थात् जो महान् सर्वोपरि साध्यकी प्राप्तिका संकल्प करेगा, उसमें उतना ही अधिक दोषोंके त्यागका तथा शुभ सुन्दर पवित्रके आदानका बल होगा; फलतः वह उतना ही उच्च तपस्वी होगा। तुच्छ संगतिसे मनुष्य तुच्छ संकल्पोंद्वारा कुसङ्गी, दुर्व्यसनी, आलसी, विलासी, हिंसक, दुराचारी बन जाता है और सज्जनकी संगतिसे पुरुष उच्च संकल्पके द्वारा सत्सङ्गी, संयमी, श्रमी, सेवापरायण, सदाचारी, प्रेमी हो जाता है।

इस सत्यको विवेकीजन ही जान पाते हैं कि मनुष्यकी जितनी भी दौड़ है, जितना भी घोर श्रम है, जितना संघर्ष है, कोलाहल है, चीत्कार है, पुकार है, जितने भी पाप-पुण्यके लिये घोर कर्म हैं, सभी संकल्पके ही कारण हैं। मनुष्य जहाँतक अशान्त है, वह संकल्पकी पूर्तिके लिये ही अशान्त है। संकल्पके त्यागमें ही शान्ति है, विश्राम है। संकल्पके त्यागमें ही संन्यासकी सिद्धि है। लोभी, मोही, कामी, अभिमानी ही संकल्पका त्याग नहीं कर पाता; किंतु जिसके हृदयमें प्रेम जाग्रत् होता है, वही अपने संकल्पका त्याग करते हुए अपने प्रेमपात्रका संकल्प पूर्ण करता है। अपने सुखोपभोगका संकल्प छोड़कर अपने प्रियके सुखद संकल्पोंके साथ ही हितकारी संकल्पोंकी पूर्तिका संकल्प करना दुर्गतिसे सद्गतिमें लौटनेका शुभ मुहूर्त साधना है।

सच्चा सेवक वही है, जो अपने स्वामीका शुभ संकल्प पूर्ण करे। सच्चा शिष्य वही है, जो सद्गुरुका संकल्प पूर्ण करे। पूर्ण भक्त वही है, जो अपने भगवान्‌का कार्य पूर्ण करनेमें अपना सर्वस्व समर्पित कर दे। पूर्णमुक्तप्रेमी वही है, जो अपना कोई संकल्प ही न रहने दे।

यदि तुम जीवनमें सद्गति, परम गति और परम शान्ति चाहते हो तो परमगुरु भगवान्‌का तुम्हारे लिये आदेश-संदेश है कि आरम्भमें स्वार्थीके विपरीत परार्थी और परमार्थी होनेका संकल्प करो। अपने विचारोंसे, आचरणसे, भाषणसे दूसरोंको सुख ही दो, किसीको दुःख न दो। अहिंसा-व्रती होनेका संकल्प करो। तुम किसीसे घृणा न करनेका और परमात्माकी आत्मा समझकर सबसे प्रेम करनेका ही संकल्प

करो। अज्ञानवश ही क्रोधी, मोही, अभिमानी, कामीसे पाप बनते रहते हैं। अतः किसीपर क्रोध न करके क्षमा करनेका संकल्प करो। अधिकारी-जन उसे स्वतः ही दण्ड देंगे। किसीकी हानि न करनेका तथा दूसरोंको लाभ पहुँचानेका संकल्प करो। किसी हठाग्रही-दुराग्रहीसे विवाद न करके मौन होनेका संकल्प करो। दुःखी होनेपर अपने भीतर दुःखदाताके दोषको देखनेके त्यागका संकल्प करो। दूसरोंके अधिकारानुसार अपने कर्तव्य-पालनका और दूसरोंपर अपने अधिकारके त्यागका संकल्प करो। जिस परमात्माके चिन्तन, ध्यान एवं योगसे सभी कामनाएँ अथवा सभी संकल्प पूर्ण होते हैं, उस परमात्माकी नित्य-निरन्तर योगानुभूति प्राप्त करनेका संकल्प करो। मनसे ही मनको देखो तथा मनको बार-बार आत्मामें लगाओ—यों करनेसे मन नियन्त्रित होता है। दृढ़-संकल्प होकर मनके मूलस्रोतको देखो या उसे मनको समर्पित करो, इससे मन निष्क्रिय हो जाता है। हमें यह भी समझाया गया है कि सारे संकल्प अहंकारमें ही होते हैं। अहंकार संकल्पोंकी भीड़से घिरा रहता है, इसीलिये अहंकार अपने संकल्पित क्षेत्रको देखता है, परंतु स्वयंको नहीं देख पाता। स्वयंको न देख पाना ही घोर अज्ञान है। अज्ञान ही सर्वोपरिपाप है, इस पापका परिणाम ही अगणित कष्टों एवं दुःखोंके रूपमें भोगना पड़ता है। जीवनमें विविध कष्टों, दुःखोंका अन्त करनेके लिये अहंभावके मूलस्रोतकी खोज करनी चाहिये। अहंकारसे उत्पन्न होनेवाले संकल्प ही नित्य आनन्दकी अनुभूतिमें बाधक बनते हैं। जब संकल्प नहीं होते, तब अहंकार भी शून्य होता है, तब मन भी नहीं रहता।

जबतक संकल्प उठते हैं, तबतक समर्पण पूर्ण नहीं होता। परमात्मा अर्थात् परमानन्दके पूर्ण योगमें संकल्प अत्यन्त बाधक हैं, ये ही मनकी सृष्टि रखते हैं। यह स्मरणीय सत्य है कि संकल्प शान्त होनेपर न जगत् रहता है, न जगदीश्वरके दर्शनकी प्यास रहती है; तब तो केवल आत्मानन्द ही शेष रहता है। आत्मा प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है; ऐसा कोई क्षण नहीं, जब आत्मा न हो। अपना अस्तित्व ही तो आत्मा है। संकल्पयुक्त अहंकार मनोमय बन जाता है और संकल्पसे मुक्त मन आत्मामें विलीन हो जाता है। परम गुरु भगवान्का निर्णय है कि जो देहस्थ है वही मनका निरसन होनेपर आत्मस्थ होता है। ब्रह्म-संयोगसे अत्यन्त सुख अर्थात् आनन्दको प्राप्त करनेके लिये संकल्प और संकल्पसे उत्पन्न कामनाओंको पूर्णतया त्याग करना होता है। मनसे इन्द्रियोंको स्ववश रखते हुए बुद्धिद्वारा रागका त्याग करना होता है। जब दूसरा कोई संकल्प या विचार नहीं उठता, सभी सब आत्मामें स्थिर होता है और वह साधक योगी ब्रह्मरूप हो जाता है। आत्मयोगकी साधना आरम्भमें संकल्पोंके त्यागसे, कामनारहित होकर इन्द्रियोंको स्ववश करनेसे, बुद्धिपूर्वक अटूट धैर्यके साथ ही लगातार प्रयत्नसे सिद्ध होती है।

संकल्पोंको न आने देना ध्यानयोगकी सिद्धिके लिये आरम्भिक अभ्यास है। संकल्प ही ध्यानमें विक्षेप डालते है। संकल्प-जनित विक्षेप शान्त होनेपर अहंकारके पीछे जो नित्य सनातन सत् आत्मा है, उसका अनुभव होता है, अहंकारका वही प्रकाशक है। आत्माका सीमित चिदाभास ही अहंकार है। अहंकारकी सीमा टूटनेपर, मिटनेपर वही अनन्त सत्य है। स्वयं सत्य होते हुए हम सत्यको प्राप्त करना चाहते हैं, यही मायाका रहस्य है। आत्माके बिना अहंकारका कोई अस्तित्व ही नहीं है। आत्मासे विमुख रहकर अहंकार संकल्प करता है, संकल्पोंके द्वारा ही अधोगति होती है। संकल्पके त्यागकी सामर्थ्य जिस साधकमें होती है, वही रागके बन्धनसे मुक्त होता है। जिस मनसे प्रत्येक साधक बन्धनमें पड़ता है, वह मन केवल संकल्पोंका समूह है। मनको देखनेसे मन मिलता ही नहीं। 'मैं कौन हूँ' इसे जान लेनेपर संकल्पोंका मूल समाप्त हो जाता है। 'मैं' को कुछ-न-कुछ बनाते रहना ही अहंकारको पुष्ट करते जाना है।

जबतक संकल्प शान्त नहीं होते, तबतक स्वरूपमें स्थिति नहीं होती। संकल्प ही आत्मारूपी सूर्यको आवृत कर देते हैं। वे संकल्प आत्माके ही प्रकाशसे उत्पन्न होते हैं और आत्माके ज्ञानद्वारा ही वे बादलोंकी भाँति छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। संकल्पोंकी उत्पत्ति अज्ञानमें होती है, संकल्पोंकी पूर्ति पुण्य और प्रयत्नसे होती है और संकल्पोंकी निवृत्ति आत्माके ज्ञानमें होती है। असावधानी एवं अज्ञानमें उठनेवाले व्यर्थ संकल्प ही अनर्थके हेतु बनते हैं। संकल्पशून्य चेतनके विस्तारको ही संतजन 'आत्मा' कहते हैं। आत्मा नित्य है, निरन्तर है, पूर्ण शान्त है, वही अपना स्वरूप है; परंतु संकल्पोंके न रहनेपर उसकी अनुभूति होती है। संकल्पशून्य होना, विचाररहित होना ही तो 'समाधि' है। जो अपनेसे भिन्न है, उसकी प्राप्तिका संकल्प ही परतन्त्र-पराधीन बनाता है। जो अपनेसे अभिन्न है, नित्य है, निरन्तर है, उस नित्य प्राप्तकी प्राप्तिका संकल्प ही निरर्थक है। संकल्पशून्य होनेपर जो स्वतन्त्रता आती है, उसीमें आनन्द प्रतिष्ठित है।

'होइ न बिषय बिराग !'

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

हम हैं उन मनुके वंशज, जो कहते थे—

'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन ।'

(मानस १ । १४२)

बचपन गया, जवानी गयी, प्रौढ़ावस्था गयी । आ गया बुढ़ापा । फिर भी विषयोंसे वैराग्य नहीं हो रहा है ।

बाल पक रहे हैं । दाँत हिल रहे हैं । आँखोंसे ठीक सूझता नहीं । कानोंसे ठीक सुनायी पड़ता नहीं, परंतु विषयोंकी आसक्ति कम नहीं होती ।

जीवनके तमाम सुख भोग लिये । विषयोंके खट्टे-मीठे अनुभव प्राप्त कर लिये । फिर भी विषयोंकी लालसा कम नहीं होती ।

व्रत किये, उपवास किये, संयम किये, साधना की, पर विषयोंकी लत पीछा नहीं छोड़ती ।

× × ×

लोग कहते हैं कि 'मणिकर्णिका घाटपर दो-चार घंटे बिताओ तो वैराग्य हो जायगा । चिताओंकी धू-धू करती लपटोंको देखकर संसारसे विरक्ति हो जायगी ।'

पर कहाँ ? कहाँ हो पाता है ऐसा ?

अनेक बार गया हूँ मणिकर्णिकापर । अपनोंके साथ, परायोंके साथ । परमप्रिय देहोंको अग्निको भस्मसात् करते देखा है, पर कहाँ हुआ वैराग्य !

चिताओंको ठोक-पीटकर, शवोंको जलाकर, राख कर हम घर आ जाते हैं । गङ्गामें तिलाञ्जलि दी कि ड्यूटी खतम !

'फिर वही कुंजे कफ़स, फिर वही सैयाद का घर ।'

× × ×

जगत्की नश्वरता प्रत्यक्ष है । जगत्की क्षणभङ्गुरता क्षण-क्षणपर दीखती है ।

'सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ ।'

—देखते हैं, रोज देखते हैं । (मानस २ । ९२)

पर यह सपना टूटनेका नाम नहीं लेता । हम आँख मूँदे उसका आनन्द लेते रहते हैं । कभी एकाध पलको टूट जाय तो हम फिर जोरसे आँख मूँदकर मनाने लगते हैं कि पिछली घटनाओंका क्रम फिर चालू हो जाय ।

कैसा मोहक सपना ! टूटता है तो दुःख होने लगता है ।

जीवनके थपेड़े लगते हैं । रात-दिन लगते हैं । सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मौज-पीड़ाके द्वन्द्व सताते हैं । ठोकरें लगती हैं । विश्वासी लोग धोखा दे जाते हैं । पर हम चेतनेका नाम नहीं लेते—

न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ।

× × ×

विषयोंमें सुख है, रमणीयता है, मोहकता है—इस भ्रममें पड़े हम जी रहे हैं । विषय कभी-कदाच हमसे दूर भागते हैं तो हम दौड़कर उन्हें पकड़ लेते हैं । हमें लगता है कि विषयोंके बिना हम जियेंगे कैसे !

विषयोंके लिये हमारा जी कचोटता रहता है । रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शके लिये हम व्याकुल रहते हैं—बेतहाशा दौड़ते रहते हैं इनकी तलाशमें ।

रुपया और पैसा, धन और दौलत, स्त्री और पुत्र, जमीन और जायदाद, नाम और यशकी प्राप्तिके लिये हम रात-दिन एक किये रहते हैं ।

वित्तैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा हमपर रात-दिन सवारी गाँठे रहती हैं—हमपर हावी रहती हैं ।

इन चीजोंके रहते वैराग्य !

राम कहिये ।

× × ×

हम देखते हैं, रोज देखते हैं कि यह सारा मायाजाल झूठा है, नश्वर है, क्षणस्थायी है ।

गुल-शोर, बबूला, आग, हवा, सब कीचड़-पानी-मिट्टी है ।
हम देख चुके इस दुनियाको सब धोखेकी-सी टट्टी है ॥

परंतु पलभरमें हमारी यह अनुभूति गायब हो जाती है । मायापाश हमें पुनः अपने पाशमें जकड़ लेता है । हम रात-दिन उसीमें बँधे छटपटाते रहते हैं ।

× × ×

धर्मशास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं—

ज्ञान चाहते हो—वैराग्य करो ।
भक्ति चाहते हो—वैराग्य करो ।
योग चाहते हो—वैराग्य करो ।
मोक्ष चाहते हो—वैराग्य करो ।

रामायणमें आता है—

जानिअ तबहिं जीव जग जागा । जब सब बिषय बिलास बिरागा ॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा । तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥
(मानस २ । ९२ । ४-४½)

विषयोंको छोड़ो, तब होगा विवेक । तब होगा ज्ञान । ज्ञान होनेपर ही भक्ति प्राप्त हो सकेगी । मायाके मोहमें जबतक पड़े रहोगे, तबतक तुम्हारा छुटकारा होनेवाला नहीं ।

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग ॥
(मानस ७ । ६१)

× × ×

पतञ्जलि भगवान् कहते हैं—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।' (योगदर्शन १ । २)

'चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम है—योग ।' इसका साधन—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।' (योगदर्शन १ । १२)

'चित्तकी वृत्तियोंके निरोधके साधन हैं—अभ्यास और वैराग्य ।'

गीता भी अभ्यास-वैराग्यकी बात कहती है ।

योगवासिष्ठ भी अभ्यास-वैराग्यका राग अलापता है । पर अभ्यास-वैराग्य कोई दाल-भातका कौर है !

× × ×

लोग एकान्तमें, तनहाईमें, जेलमें चले जाते हैं, तब भी विषय पीछा नहीं छोड़ते—

कैद ज़िन्दामें न छोड़ा साथ है,
इश्क मूँज़ी भी बड़ा बदज़ात है ।

× × ×

तो मूल प्रश्न यही है कि विषयोंसे वैराग्य नहीं होता । वैराग्य क्यों नहीं होता ?

इसलिये नहीं होता कि विषयोंमें राग बना हुआ है । विषयोंकी लालसा, विषयोंकी तृष्णा जबतक बनी है, तबतक वैराग्य कहाँ ?

× × ×

पर, जिस वैराग्यकी इतनी महत्ता है, जिसको भक्ति, ज्ञान, योग, मोक्ष आदिके लिये अनिवार्य बताया गया है, वह वैराग्य है क्या ? उस वैराग्यकी कोई पहचान भी है ।

क्या गेरुए कपड़े पहन लेना वैराग्य है ?
क्या लंगोटी लगा लेना वैराग्य है ?
क्या भस्म रमा लेना वैराग्य है ?
क्या चिमटा बजाने लगना वैराग्य है ?
क्या गुदड़ी पहन लेना वैराग्य है ?
क्या घरबार छोड़ जंगलमें धूनी रमा लेना वैराग्य है ।

× × ×

गुरु नानक कहते हैं—जी नहीं । ये सब वैराग्यके लक्षण नहीं, योगके लक्षण नहीं—

जोग न कंथे, जोग न डंडै, जोग न भस्म चढ़ाईए।
जोग न मुंदी मूंड मुँड़ाये जोग न सिंगी वाईए॥
अंजन माहि निरंजन रहिये, जोग जुगत इव पाईए।

गल्ली जोग न होई ।
एक दृष्टि कर सम सर जाणै जोगी कहिए सोई॥

गुदड़ी या कंथा पहन लेनेसे, दण्ड धारण कर लेनेसे—दण्डी बाबा कहलानेसे, भभूत लगा लेनेसे—भस्म रमा लेनेसे, सिर मुँडा लेनेसे, सिंगी बजानेसे, गप्पें मारनेसे—तरह-तरहके उपदेश करनेसे काम चलनेवाला नहीं ।

तब काम चलनेका उपाय क्या है ?
वैराग्यका, योगका रास्ता क्या है ?

रास्ता है—

'अंजन माहि निरंजन रहिये ।'

संसारकी बुराइयोंके बीच रहते हुए, सारे पाप-तापोंके बीच रहते हुए निर्लिप्त बने रहिये ।

आँखोंमें लगा लीजिये ऐसा अंजन, जिससे सर्वत्र उस एकमात्र प्रभुकी ही झाँकी दीख पड़े ।

बाहरी स्वाँगसे, बाहरी वेष-भूषासे कुछ काम नहीं निकलेगा ।

× × ×

आज वैरागियोंकी कमी नहीं ।

परंतु वैराग्य इतना आसान नहीं है कि भस्म रमा लेनेसे कपड़े रँग लेनेसे आ जायगा ।

वैराग्य बहुत ऊँची चीज है ।

लाखोंमें कहीं एकाध सौभाग्यवान् होते हैं, जिन्हें सच्चा वैराग्य होता है ।

× × ×

पंजाबके एक अत्यन्त सम्पन्न परिवारके नौजवानकी बात है ।

उसे संसारसे कुछ विरक्ति हुई, ले लिया उसने संन्यास ।

बड़े घरका बेटा ।

संन्यासी बननेपर भी रेशमके गेरुए वस्त्र पहनता ।

राजसी ठाट-बाटसे रहता ।

एक दिन गुरुबाबा बोले—'बेटा ! तेरे पास ये सब जो रेशमी वस्त्र हैं, इन सबको एक पोटलीमें बाँध ।'

गुरुकी आज्ञा ।

पोटली बाँधी उसने ।

बाबाने नौकापर बैठाया उसे और बीच धारामें जब पहुँचा गङ्गाके तो कहा—'फेंक दे इसे गङ्गामें ।'

बदनपर एक लंगोटीके सिवा कुछ न रहने दिया गुरुबाबाने ।

फेंक तो दी उसने पोटली गङ्गामें, पर उसकी आँखोंकी कोरें गीली हो गयीं ।

गुरुबाबा बोले—'जब तुझे इन्हीं सब राजसी कपड़ोंसे मोह था तो संन्यास लेनेकी कौन जरूरत थी ?'

× × ×

सिद्धार्थ भगवान् राजपाट छोड़कर जब पहले दिन भिक्षान्न खाने बैठे, तब 'रूखा-सूखा रामका टुकड़ा' उनके गले नहीं उतर पा रहा था ।

रोज खाते थे मोहनभोग । रोज खाते थे माल-मलीदा । रोज खाते थे षड्रस व्यञ्जन ।

पर आज—रूखा-सूखा, मोटा-झोटा अन्न सामने है ।

गला निगलनेको तैयार नहीं । पर सिद्धार्थ कहते हैं—'तुझे निगलना ही होगा यह रूखा-सूखा भिक्षान्न ।'

रूखा और सलोना क्या रे ?

क्यों ?

मेरा लक्ष्य है—आत्मज्ञान ।

मेरा लक्ष्य है—दुःखके मूल कारणका अनुसंधान ।

वैराग्य मेरा साधन है ।

'मुझे तो अपने लक्ष्यकी पूर्ति करनी है ।'

षड्रस व्यञ्जन, नाना प्रकारके भोग तो राजमहलमें उपलब्ध थे ही । तब उन्हें छोड़नेकी जरूरत क्या थी ?

अब तो—

'कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि ।'

यह होती है—वैरागीकी दृष्टि । ऐसे महापुरुष ही वैराग्यवान् बनते हैं । कहाँ वे, कहाँ हम !

चेतावनी !

मानुष कौ तन पाय, अन्हाय, अघाय पियौ किन गंग कौ पानी ।
भाषत क्यों न भयौ 'पदमाकर' रामहि-राम रसायन बानी ॥
सारँगपानि के पायन कौं तजि कै, मन को कत होत गुमानी ।
मोटी मुचंड महा मतवारिन मूँड़ पै मीच फिरै मँड़रानी ॥

और सबै सँग सापनौ है, जग आपनौ एक हितू रघुराया ।
ताहि न भूलिहुँ भूलियो तू, 'पदमाकर' पेखनौ पेख पराया ॥
नैन मुँदे पै जहाँ-की-तहाँ जकि-सी रहि जाति जमाति औ जाया ।
माया चलाई कहौ क्यों चलै, चलै आपने संग न आपनी काया ॥

—पद्माकर

आस्तिकताकी आधारशिलाएँ

भगवान्पर निर्भर होनेकी चेष्टा कीजिये

अधिक-से-अधिक भगवान्पर निर्भर होनेकी चेष्टा कीजिये। सबसे निरापद एवं पतनके भयसे सर्वथा शून्य यह मार्ग है। इसपर दृढ़ विश्वास करते रहना चाहिये—भगवान् हैं, वे हमारे हैं और हमारा मङ्गल ही करते हैं।

अपनी पसंदगी मनसे सर्वथा निकाल दीजिये। हमारी बुद्धि प्राकृत है, अज्ञानसे भरी हुई है, पापोंके संस्कारसे मलिन है, बहुत कम दूरकी बात सोचती है। बहुत बार हमलोग उस बातमें अपना मङ्गल मान लेते हैं, जिस बातसे हमारी अत्यन्त हानि होनेवाली होती है; पर भगवान्की बुद्धि भगवन्मयी है, वहाँ भूल होनेकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे हमारे लिये जो कुछ भी सोचते हैं, या सोचेंगे, उसीमें हमारा अनन्त मङ्गल है और उन्हींकी पसंदगी हमारी पसंदगी होनी चाहिये। भगवान्पर निर्भर करनेवाले भक्तको यह सदाके लिये मान लेना चाहिये कि उन्होंने (भगवान्ने) जिस परिस्थितिमें हमें रखा है, वही उन्हें (भगवान्को) मंजूर है। यदि उन्हें मंजूर न होती तो परिस्थिति अवश्य बदल जाती। ऐसा विश्वासी भक्त सारी चिन्ताओंसे मुक्त होता है। चिन्ता होती है तो इस बातकी कि कहीं हमारी निर्भरतामें तो दोष नहीं आ रहा है—हम कहीं उन्हें छोड़कर अन्य साधनोंपर, अन्य उपायोंपर तो निर्भर नहीं कर रहे हैं। भगवद्दर्शनकी चाह भी उन्हींपर छोड़ देनी चाहिये। भगवद्दर्शन शीघ्र-से-शीघ्र हो, इसका सर्वोत्तम उपाय है कि इस बातको भी उन्हींपर छोड़ दें। अत्यन्त व्याकुल हो जाना, यह दूसरे नंबरकी बात है।

जगत्का प्रत्येक प्राणी यह चाहता है कि हमारे पास जो है, वह बना रहे और जो नहीं है, वह मिल जाय। इसीके लिये सारा संसार भटकता है। पर यदि प्राणी भगवान्पर निर्भर हो सके तो उसके लिये स बातोंका भार स्वयं जगत्पति वहन करेंगे। जब वे स योगक्षेम चलायेंगे, तब वह योगक्षेम कितना सुन्दर होगा— इसकी कल्पना भी हमारा मलिन मन नहीं कर सकता वे तैयार हैं और हमसे इसके बदलेमें चाहते हैं हम इस दुःखालय संसारका चिन्तन छोड़कर उन चिन्तन करें। कोई कहे—'तुम दुःखकी चिन्ता छो दो, अपनी जलन मिटा दो, मैं तुम्हारा सब काम क दूँगा;' फिर भी ऐसा सौदा, वह भी स्वयं जगत्पतिके सा न करनेवाला महान् मूर्ख है। ये बातें भावुकताकी नहीं ध्रुव सत्य हैं। विश्वास करके आप अपने मनको पारिवा तथा अन्य सभी चिन्ताओंसे खाली करके प्रभुका चिन्त कीजिये। आप देखेंगे कि इतने सुन्दर ढंगसे आपकी लौकि एवं पारमार्थिक—सभी समस्याएँ हल होंगी कि आ मुग्ध हो जायँगे। केवल उनपर निर्भर होकर च पड़नेकी जरूरत है, प्रमाण तो पद-पदपर मिल जाय इस निर्भरताकी परीक्षा होती है—अनुकूल परिस्थि ऐसा भ्रम हो सकता है कि प्रभु-इच्छामें हमें संतोष है; परंतु सर्वथा मनके प्रतिकूल परिस्थितिमें यह भाव स्वाभाविक रहे कि 'प्रभुने बड़ा मङ्गल किया तब समझना चाहिये कि निर्भरता हुई है। विवेक द्वारा संतोष करना अर्थात् यह मानना कि 'प्रभु जो करते हैं, वह ठीक करते हैं, अतः यह भी ठीक ही हुआ होगा'—इस प्रकारसे प्रतिकूल परिस्थितिमें समाधान करना भी उत्तम है। पर जहाँ संतोष विवेकके द्वा किया जाता है, वहाँ निर्भरतामें कमी है। लाचारीसे संतोष करना अर्थात् ऐसा मानना कि 'क्या करें, हमा क्या वश है'—यह तो निर्भरतामें कलङ्क है।

वास्तविकरूपमें निर्भर होते ही सारे शुभ-अशुभ न हो जाते हैं तथा सर्वथा नये विधानके अनुसार ही नि

भक्तके जीवनके शेष दिन बीतते हैं। अतः लौकिक दृष्टिसे भी अशुभ परिस्थिति, जो अशुभ कर्मोंके फलसे प्राप्त होती है, उसके सामने प्रायः नहीं ही आती; यद्यपि किसी-किसी भक्तका सम्मान बढ़ानेके लिये—जगत्को दिखलानेके लिये कि भगवान्का भक्त महान् विपत्तिको भी किस प्रकार उनका विधान मानकर सहर्ष स्वीकार करता है, लौकिक दृष्टिसे अशुभ परिस्थितियाँ उनकी (भगवान्की) खास इच्छासे आती हैं। यद्यपि अधिकांश भक्तोंके जीवनमें अशुभ परिस्थितियाँ नहीं आतीं, फिर भी साधकको अपनी ओरसे यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं प्रतिकूल परिस्थितिको भी उनका विधान मानकर सर्वथा अम्लानचित्तसे स्वीकार करूँगा।' बस, सर्वथा सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित होकर भगवान्में मन लगानेकी चेष्टा कीजिये। यहाँ जो कुछ,जैसे भी हो रहा है, होने दीजिये और जितनी बार मन संसारके चिन्तनमें लगे, उतनी बार उसे संसारसे हटाकर प्रभुमें लगाइये—यही साधन करना है। प्रेम आता है कि नहीं, वृत्तियाँ सुधरती हैं कि नहीं—इसकी चिन्ता भी छोड़ दीजिये। चित्तवृत्तिकी धारा निरन्तर भगवान्की ओर हो, इतना ही करना है। यदि आप अपनी ओरसे पूर्ण शक्ति लगाकर प्रयत्न करेंगे तो भगवान्की कृपासे सफलता मिलेगी और बहुत शीघ्र मन भगवान्में लग जायगा।

जिस क्षण आपका हृदय कातर होकर रोने लगेगा, उसी क्षण प्रभु सुन लेंगे

आप भगवान्की यह बड़ी भारी कृपा समझें कि आसक्ति आपको आसक्तिके रूपमें दीख रही है। इसका मिटना भगवत्कृपासापेक्ष है। प्रयत्नसे यह कम होती है, पर इसके नाशका सर्वोत्तम उपाय है—भगवान्के सामने सच्चे हृदयसे प्रार्थना। जिनके एक संकल्पसे विश्वका निर्माण हो जाता है और संकल्प छोड़ते ही सब नष्ट हो जाता है, वे यदि चाहें तो उनके लिये आपके इस दोषका नाश कितनी तुच्छ बात है—यह आप सहजमें अनुमान लगा सकते हैं। अन्तर्हृदयकी करुण प्रार्थनाके द्वारा आप उनमें चाह उत्पन्न कर दें। ठीक मानिये, यदि आप सच्चे हृदयसे इस दोषका नाश चाहने लग जायँ तो प्रभुको अवश्य ही दया आ जायगी और क्षणभरमें उनकी कृपासे सारे दोष मिटकर आपका मन उनमें लग जायगा। आप चाहते नहीं हों, यह बात नहीं है; पर अभी चाह बहुत मन्द है। प्रार्थना करते-करते जिस क्षण सचमुच इन दोषोंके लिये हृदयमें जलन पैदा हो जायगी और आपका हृदय कातर होकर रोने लगेगा, उसी क्षण प्रभु सुन लेंगे। अवश्य ही यह दूसरी श्रेणीकी बात है। कुछ भी न माँगना सर्वोत्तम है।

अपने आपको सर्वथा उनपर छोड़ दीजिये

भगवान् क्या, कब, कैसे करते हैं—इसे कोई नहीं जानता। वे क्या हैं, इस बातको वस्तुतः वे ही जानते हैं। पर आजतक जितने ऊँचे-ऊँचे संत हो गये हैं और हैं, उन्होंने अनुभव किया है कि वे हैं और जो कुछ करते हैं, वही ठीक है; उसीमें प्रत्येक जीवका अनन्त मङ्गल है। उनसे कुछ भी न चाहकर अपने आपको सर्वथा उनपर छोड़ देना चाहिये। अतः आप भी अपने आपको सर्वथा उनपर छोड़ दीजिये। अपनी ओरसे केवल इतनी चेष्टा करें कि जीभके द्वारा निरन्तर नाम-जप हो; उसीमें आनन्द मानिये। इतनी बात अवश्य देख लें कि अपनी ओरसे सारी शक्ति लगा दी जाय।

संत नागा निरंकारी

(लेखक—श्रीरामलाल)

संतों और महात्माओंकी महिमाका बखान करना बड़े सौभाग्य और महान् पुण्यकी बात है । संत नागा निरंकारी परम अवधूत थे । उन्होंने लोक-लोकान्तरोंके रहस्यको जन्म-जन्मान्तरसे समझा था । प्रत्येक लोकमें अपनी महती साधना-शक्तिके द्वारा वे आ-जा सकते थे । नागा निरंकारीके अनुयायियोंकी यह मान्यता है कि वे महाभारतकालीन दिव्य-जन्मधारी कर्णके अवतार थे । महाभारतके बाद उन्होंने अनेक जन्म लिये, पर सदा निवृत्ति-मार्गमें ही रहे । उन्होंने कभी विषय-भोगमें रहकर प्रवृत्तिपरायणताका परिचय नहीं दिया । नागा निरंकारीके वेषमें शरीर धारण करनेका समय विक्रमीय सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दीमें पड़ सकता है । उनकी आयु लगभग तीन सौ सालकी रही होगी और महान् आश्चर्य तो यह है कि उनके शरीरमें विकृति—परिवर्तनका दर्शन नहीं हुआ । वे परम हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ, न जाने, कितने समयसे समान आकार-प्रकारमें दीख पड़ते-से चले आ रहे थे । उनकी प्रसिद्ध रचना 'ब्रह्मवाणी'से पता चलता है कि जिस समय मुगलोंका शासन उत्कर्षपर था, उस समय वे सिद्धावस्था प्राप्तकर आत्मानुभूतिके राज्यमें विचरते हुए लोककल्याणमें लीन थे । ऐसा लगता है कि उन्होंने दस सिख पातशाहों—नानकोंमेंसे किन्हींको देखा था । गुरु गोविन्दसिंहके बाद गुरु-परम्पराका अन्त हो गया, वे अन्तिम नानक थे । ऐसी स्थितिमें यह स्पष्ट हो जाता है कि संत नागा निरंकारी या तो उनके पहले जन्म ले चुके थे या उनके समकालीन थे । 'ब्रह्मवाणी'में उनका पद है—

भज ले (श्री)नागा निरवान रे, दीवाने मन ।
× × × ×
गुरु नानक करते फेरी, रे दीवाने मन ॥

इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाणित है कि उनके तपका प्रारम्भिक काल पंजाबमें ही बीता । उन्होंने विक्रमीय बीसवीं शतीके अन्तमें समाधि ली; ऐसी स्थितिमें इतनी लंबी आयुमें तपके प्रारम्भिक कालमें किन्हीं नानकको फेरी लगाते देखना उनके लिये सहज सम्भव है । संत नागा निरंकारी नाम-रूपके आवरणसे परे सत्स्वरूपस्थ महात्मा थे । वे अपने इस जीवनकी विभिन्न अवस्थाओंमें हरनामदास, रामदास, नागा, नागा गिरिधारी, नागा बाबा और नागा निरंकारी आदि नामोंसे प्रसिद्ध हुए ।

लगभग ढाई-तीनसौ साल पहले पंजाब प्रान्तमें रावी नदीके तटपर अठीलपुर नगरमें, जिसका [illegible] समय पता नहीं चलता, एक समृद्ध राजपरिवार था । [illegible] राज्यकी रानी संतानहीन थीं । एक बार राजप्रासादमें [illegible] संतका आगमन हुआ । संतने रानीको आशीर्वाद दिया [illegible] 'तुम्हें एक पुत्र पैदा होगा, पर स्मरण रहे कि उसके [illegible] छूरा न फिरे, नहीं तो वह घरको छोड़कर वैराग्य ग्रहण कर लेगा ।' कुछ समयके बाद संतके आशीर्वादरूपमें अठीलपुर राजप्रासादमें नागा निरंकारीका जन्म हुआ । नवजात शिशुका जन्मोत्सव धूमधामसे मनाया गया । बचपनमें नागा निरंकारीका शरीर अत्यन्त छोटा था । उनके पिता और पितामहको बड़ी चिन्ता हुई कि इतने छोटे शरीरवाले राजकुमारसे किस प्रकार राजकार्य-सम्पादन होगा । माँने संतोष किया कि यही क्या कम है कि उसकी संतान जीवित रहे । माँने अपने पतिसे कहा कि 'यदि मेरे बालकमें राजकार्य चलानेकी क्षमता नहीं होगी तो फकीरी करनेकी शक्ति तो रहेगी ही ।'

नागा निरंकारीका पालन-पोषण बड़ी समृद्धि और सुखभोगके वातावरणमें हुआ । वे ज्यों-ज्यों बड़े हो रहे थे, त्यों-त्यों जन्म-जन्मके पुण्य और दानके फलस्वरूप प्राप्त उनकी गम्भीरता और दैवी सम्पत्तिमें भी अभिवृद्धि हो रही थी । राजप्रासादके पीछे एक रमणीय सरोवर था । उन्होंने अपने शैशवावस्थाके अनेक क्षण उसी सरोवरके तटपर गम्भीर चिन्तनमें बैठकर बिताये । कभी-कभी वे बालमण्डलीमें बैठकर क्रीड़ा करते थे । माँ उन्हें बहुत मानती थीं—पिताकी अपेक्षा उनका स्नेह अपनी प्यारी संतानपर अधिक था । माता उन्हें बहुमूल्य आभूषणोंसे सजाकर बाहर खेलनेके लिये भेजा करती थीं । एक बार वे कीमती हीरेकी अँगूठी पहनकर राजप्रासादके बाहर खेलने जा रहे थे । दैवयोगसे उन्होंने एक भिक्षुकको देखा । दयासे उनके मनमें दानशीलताका भाव जाग उठा, उन्होंने बिना माँगे ही अपनी अँगुलीकी अँगूठी उतारकर भिक्षुकको दे दी । इसी प्रकार एक कीमती [illegible] खेलके समयमें ही वे कहीं बाहर भूल आये । सांसारिक पदार्थोंमें उनकी तनिक भी आसक्ति या रुचि नहीं थी ।

नागा निरंकारी जब केवल दस-बारह सालके ही थे, पंजाबपर यवनोंका भीषण आक्रमण हुआ । उनके पिताको शत्रुओंसे लड़ने रणमें जाना पड़ा । वे युद्ध-क्षेत्रमें मारे गये । कुल-परम्पराके अनुसार नागा निरंकारीकी माँ सती हो गयीं । उन्होंने पिता और माताके स्वर्ग पधारनेपर राजप्रासादका त्याग कर दिया । वे एक संतके आश्रममें पहुँच गये । तेजस्वी बालरूपमें उनको देखकर संत बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने उनका नाम हरनामदास रखा । संत किसी ओषधिके प्रयोगसे चाँदी बनाकर अपने शिष्योंकी तथा अपनी जीविका चलाते थे । नागा निरंकारी इस कार्यसे बहुत दूर रहकर बालक्रीड़ामें मग्न रहते थे । कुछ दिनोंके बाद संतके आश्रमका परित्याग कर वे तप करनेके लिये निकल पड़े ।

वे बाल अवधूतके रूपमें निर्जन स्थानोंमें निवास कर तप करने लगे । वे तपके पहले बारह सालकी अवधिमें मौन रहे । नंग-धड़ंग दिगम्बर वेषमें भ्रमण करते देखकर लोगोंने उनको 'नागा बाबा'की संज्ञासे विभूषित किया । वे बालकोंके साथ ही खेलते रहते थे । बारह सालके बाद मौन-व्रत भंग करनेपर उन्होंने वाणी-प्रतिध्वनि-व्रतका आचरण किया । उनसे मिलनेपर या उन्हें देखकर जो व्यक्ति जैसा वचन बोलता था, नागा निरंकारी उसे वैसा ही दोहरा दिया करते थे— चाहे वह प्रिय होता या अप्रिय होता । इस प्रकारके तपमें उनके जीवनके अनेक साल बीत गये । वे अनेक स्थानोंमें भ्रमणकर तप करते रहे । बालकोंके साथ खेलना ही उनकी साधनाका स्वरूप था । इस प्रकारकी साधनाके निगूढ़ भाव-का अनुभव उनकी कृपासे ही सम्भव है । बालक खेलते-खेलते उन्हें जिस स्थानपर छोड़कर चले जाते थे, वे वहीं तबतक बैठे रहते, या खड़े रहते, जबतक साथमें खेलनेवाले बालक उनका हाथ पकड़कर दूसरे स्थानपर न ले जाते । उन्हें भूख-प्यासकी तनिक भी चिन्ता नहीं रहती थी । यदि कोई खिला-पिला देता तो खा-पी लेते थे । इस प्रकार घोर तपमें उनके जीवनका अधिकाधिक समय बीतने लगा । वे पूरी अवधूत-वृत्तिमें थे ।

संत नागा निरंकारीने अनेक प्रान्तोंमें भ्रमणकर तप किया, पर सदा वे गुप्तरूपसे ही विचरते रहते थे । उनके तपोमय जीवनका अधिकांश प्रयाग और कानपुरके बीचके जनपदोंमें बीता । उत्तर प्रदेशके फतेहपुर जनपदमें असोथर नामक उपनगरीके निकटवर्ती वनमें उन्होंने घोर तप किया । इसके पहले अयोध्यामें तप करते उन्होंने अपने जीवनका आधा भाग बिताया था । असोथर एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है, इतिहासप्रसिद्ध भगवन्तरायकी पूर्वकालमें यह नगरी राजधानी थी । यह स्थान महाभारतप्रसिद्ध अमर अश्वत्थामाके नामसे भी सम्बद्ध है । नगरीसे थोड़ी दूरपर अश्वत्थामाके मठका ध्वंसावशेष अवस्थित है । मठसे लगी हुई एक अत्यन्त प्राचीन और निर्जन कन्दरामें संत नागा निरंकारी तप करने लगे । फतेहपुर जनपदके प्रसिद्ध संत मगनानन्द स्वामीने भविष्यवाणी की थी कि 'मेरे ब्रह्मलीन होनेके बाद ही दो पंजाब-प्रान्तीय महात्मा आकर यहाँ तप करेंगे, वे परम सम्मान्य संत हैं ।' उनकी भविष्यवाणीकी पूर्तिके रूपमें ही नागा निरंकारीका आगमन हुआ । उनके साथ एक और संत भी आये थे, कुछ समयतक गङ्गातटपर निवास करनेके बाद वे समाधिस्थ हो गये । नागा निरंकारी मौन-व्रत ग्रहणकर असोथरवाली कन्दरामें तप करते रहे । परम सौभाग्यका उदय होनेपर व्यक्तिविशेषको उनका दर्शन हो जाया करता था । धीरे-धीरे निकटवर्ती नगरोंमें उनकी कीर्ति फैलने लगी । वे नागा बाबा असोथरके नामसे प्रसिद्ध हो गये । तत्कालीन राजरानी उनके चरणोंमें असाधारण श्रद्धा रखती थीं । उनमें दीर्घकालीन तपके परिणामस्वरूप वाक्योक्तिका फिर आरम्भ हो रहा था, पर वाक्यज्ञान नहीं था । यदि कोई कहता था, 'बाबाजी, बैठो' तो वे भी कह पड़ते थे, 'बाबाजी, बैठो' । लोग उन्हें अपने-अपने घर ले जाने लगे तथा श्रद्धापूर्वक उनकी चरणधूलिसे अपने घरोंको पवित्र कराने लगे । साथमें खेलनेवाले बालकोंकी मण्डली रहती थी । असोथर-निवासकालमें एक बार वे विचरण कर रहे थे । संयोगसे एक थानेदारसे उनकी भेंट हो गयी । थानेदारने पूछा—'आप इस तरह नंगे क्यों घूमते हैं ?' नागा बाबाने उसकी बात दुहरायी, 'आप इस तरह नंगे क्यों घूमते हैं ।' थानेदारने कहा, 'ठीक तरह जवाब दीजिये ।' बाबाने कहा, 'ठीक तरह जवाब दीजिये ।' इसी समय कुछ लोगोंने थानेदारसे निवेदन किया, 'ये संत पुरुष हैं, इन्हें छेड़ना नहीं चाहिये ।' नागा बाबाको थानेदारने प्रणाम किया और वह चला गया । इसी तरह असोथरके थानेदारको उनके पागल होनेका भ्रम हो गया था । उसने बिना सोचे-समझे बाबाको अस्थायी कारागारमें डाल दिया । रातको नागा बाबा-ने जोर-जोरसे 'अलख' शब्दका उच्चारण किया । रानी

साहिबा उनकी आवाज पहचानती थीं। उन्होंने थानेदारको कड़ी धमकी दी और बाबा कारामुक्त हो गये।

संत नागा निरंकारी बालकोंके साथ खेलते और भ्रमण करते समय अपने आपको पूर्णरूपसे उन्हींकी चेष्टाओं-पर निर्भर कर देते थे। बालक बुलाते थे तो बोलते थे, खिलाते थे तो खाते थे; चाहे बालक उन्हें पानीमें गिरा दें, चाहे बालूमें सुला दें, चाहे ढकेल दें, उन्हें उनकी प्रत्येक चेष्टा मान्य थी। कभी-कभी तो बालमण्डलीके कारण उनके प्राण संकटमें पड़ जाते थे, पर बाल-शक्तिके रूपमें अदृश्य भगवत्-शक्ति ही उनकी ऐसे अवसरोंपर रक्षा करती थी। बालक जहाँ रातको लिटा देते थे, वहीं लेट जाते थे; कोई कुछ ओढ़ा देता था तो ओढ़ लेते थे; यदि ओढ़नेका वस्त्र नीचे गिर जाता या खिसक जाता तो उसे फिर नहीं उठाते थे। एक बार वे यमुनाजीके किनारे बालकोंके साथ खेल रहे थे। जिस गाँवके वे बालक थे, वह यमुनातटसे थोड़ी दूरपर था। नागा बाबा एक कगारपर खड़े थे, यमुनाका वेग अत्यन्त तीव्र था। बालकोंने उनको यमुनामें ढकेल दिया। वे प्रवाहके साथ बहते-बहते कोसों दूर चले आये। तटके निकट ही एक ग्राम था। कुछ बालक खेल रहे थे। नागा बाबा बाहर निकलकर पहलेकी ही तरह उनके साथ खेलने लगे।

एक बार उन्होंने यह धारणा बना ली थी कि जिस दिशाकी ओर पैर बढ़ें, उसी ओर चलते रहना चाहिये, पीछे नहीं लौटना चाहिये। उत्तर दिशाकी ओर चलनेपर नैपाल जा पहुँचे, नैपालसे तिब्बत और तिब्बतसे चीन पहुँच गये। चीनमें वे किसीकी भाषा नहीं समझ पाते थे। यदि कोई खाने-पीनेके लिये कुछ दे देता तो प्रसन्नतासे खा-पी लिया करते थे। किसीसे कुछ माँगनेकी वृत्ति तो थी ही नहीं। चीनमें वे एक अंग्रेजके बगीचेमें जा पहुँचे; जबतक वे चीनमें थे, उन्होंने उसी बगीचेमें निवास किया। अंग्रेज सज्जनने उनको भारतीय संत समझकर अनुकूल भोजन आदिका प्रबन्ध कर दिया। बड़ी सेवा की। चीनसे ब्रह्मदेश तथा आसाममें विचरते हुए वे भारत आये।

संत नागा निरंकारी उच्चकोटिके सिद्ध पुरुष थे; बड़े भगवद्विश्वासी थे। वे कहा करते थे कि 'प्रत्येक अवस्थामें भगवान्‌पर निर्भर रहना चाहिये; यही सबसे बड़ी आस्तिकता है। एक समय वे भ्रमण करते-करते एक लंबे और सघन वनमें पहुँच गये। कोसोंतक बस्तीका नाम नहीं था। वे तीन-चार दिनके भूखे-प्यासे थे। वनमें उन्हें एक सतीकी समाधि दीख पड़ी। वे ध्यानस्थ होकर बैठ गये। थोड़े समयके बाद सती थालीमें भोजन तथा मेवे, मिष्टान्न और फल लेकर प्रकट हो गयीं। नागा बाबाने भोजन किया, सती अदृश्य हो गयीं। इस तरह एक रहस्यमयी भागवती शक्ति सदा उनकी रक्षामें तत्पर थी।

एक बार नागा बाबा बदरीनारायणकी यात्रा कर रहे थे। साथमें दो व्यक्ति और थे। संत नागा लक्ष्मणझूलाके मध्य भागसे गङ्गाजीमें कूद पड़े। गङ्गाजी उस स्थानपर बहुत गहरी हैं, धारा अमित तेज है। साथके व्यक्ति लक्ष्मणझूलेवाली घटनाकी सूचना कानपुरके किसी शिष्य-को तारद्वारा देकर आगे बढ़ गये। कुछ समयके बाद फतेहपुर जनपदमें बालमण्डलीके साथ उनको खेलते और विचरते देखकर लोग आश्चर्यचकित हो गये। इस घटनाके सम्बन्धमें उन्होंने बताया था कि 'जब मैं लक्ष्मणझूलापर था, मुझे ऐसा लगा कि गङ्गाजीके नीचे ऋषिमण्डली है। मैं उसमें सम्मिलित होनेके लिये कूद पड़ा।' बात ठीक थी, ऋषिमण्डलीमें पहुँचनेपर मेरा पैर एक चक्रमें पड़ गया। ऋषियोंको मेरी उपस्थितिसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उनसे बात कर मैं लौट आया। इस घटनासे उनकी दिव्य दृष्टि और अपार योगशक्तिका पता चलता है।

वे परम तपस्वी थे। बदरीनारायण-यात्रा-कालमें ही वे एक दिन एक चट्टीपर विश्राम कर रहे थे। वे ध्यानमें तल्लीन थे। उनके साथके शिष्यने देखा कि साँपके आकार-प्रकारका एक लंबा तेजोमय प्रकाश नागाजीके सामने आकर अदृश्य हो गया। ध्यानके बाद शिष्यके पूछनेपर वे मुसकुराने लगे। उन्होंने बतलाया कि साक्षात् भगवान् बदरीनारायण अपने परम तेजोमय रूपमें उन्हें दर्शन देने आये थे।

संत नागा निरंकारी ध्यानयोगी थे। वे कहा करते थे कि 'ध्यानयोगकी बड़ी महिमा है। ध्यानयोगसे मैंने लक्ष्मीजीका दर्शन किया था, सतीजीसे भिक्षा प्राप्त की थी। ध्यानमें मुझे लक्ष्मीजीने दर्शन देकर मेरे दाहिने हाथपर अपने हाथके अंगूठेकी छाप लगा दी और कहा—

'तुमको भगवान्के पास जानेसे कोई नहीं रोक सकता।' उस छापकी सहायतासे मैं भगवद्धाममें गया। हनुमान्जीने मुझे रोकनेकी चेष्टा की, पर छाप देखकर विवश हो गये। जय-विजयका भी प्रयत्न विफल हो गया। मैंने भगवान्का परम दिव्यरूप देखा, उनके कुण्डल और किरीट-मुकुट बड़े दिव्य थे।" संत नागा निरंकारीके जीवनकी इन दिव्य घटनाओंका श्रद्धा और विश्वासके प्रकाशमें ही दर्शन किया जा सकता है। ये अतर्क्य हैं। उनका स्पष्ट कहना था कि 'जो जीव निर्भय है, उसीको हम अपना निकटस्थ मानते हैं। जो जीवात्मा जितना ही अधिक दैन्यभावसे युक्त और निरभिमानी होगा, वही ध्यानावस्थामें हमसे मिल सकता है।'

संत नागा निरंकारी संकल्प-विकल्पोंसे परे थे। सदा भगवदानन्दके पारावारमें निमग्न रहते थे। एक बार असोथरके राजपरिवारके एक विशिष्ट सदस्यके आग्रहसे वे राजप्रासादमें गये। चलते समय उनके शरीरपर उन व्यक्तिने एक कीमती दुशाला डाल दिया। वे बालमण्डलीके साथ खेलते-खेलते अपनी कुटीपर आये, धूनी जल रही थी। धूनीके सामने बैठ गये। दुशाला धूनीमें गिरकर जल गया। विरक्तिके हिमालयपर अवस्थित नागा निरंकारीने लोभकी ज्वालामुखीपर हाथ नहीं रखा।

संत नागा निरंकारी परमात्माके विराट्रूपके अखण्ड ध्यानमें लीन रहते थे। मायासे परम अलिप्त होकर वे आत्मराज्यमें सदा प्रतिष्ठित थे। वे प्रदर्शन और चमत्कारसे सदा दूर रहते थे। भगवान्के नाम-जपपर बड़ा जोर देते थे। जप और ध्यानयोगमें ही उन्होंने अपनी तपोमयी साधनाका परम स्वरूप स्थिर किया। उनकी सदा सहज समाधि लगी रहती थी। वे परमहंसपदमें प्रतिष्ठित होकर अपनी दिव्य अलौकिक दृष्टिसे विश्वमय, विश्वाधार, सत्स्वरूप परमात्माका दर्शन करते रहते थे। वे जन्म-जन्मान्तरसे वैराग्यके अभय राज्यमें विचरते हुए कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत अवस्थाओंको पार कर नागा निरंकारीके रूपमें नाम-शरीर अपनाकर अभिव्यक्त हुए थे। कर्मभोगसे ऊपर उठनेका एकमात्र उपाय उन्होंने परमात्माका भजन बताया। उन्होंने कहा कि 'पुण्यकार्य बड़ा देने तथा परमात्माका निरन्तर भजन करनेसे पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं। सुखेच्छापूर्तिमें पुण्य साधक होते हैं और पाप बाधक। उन्होंने निर्गुण-निराकार चिन्मय परमात्मतत्त्वका ही भजन किया। ध्यानस्थ होनेपर वे भगवान्के विभिन्न रूपोंका दर्शन करते थे। ध्यानमें उन्हें लोक-लोकान्तरके दृश्य दीख पड़ते थे। वे कहा करते थे, 'तत्त्वज्ञान भीतरसे होगा। भजन करो, जप करो, ध्यान करो—जो कुछ भी करो, उसे मनसे करो। सब जीव परब्रह्ममें ही रहते हैं, परब्रह्मकी खोज अपने भीतर करो। अपने आपको परब्रह्ममें ही अनुभव करो। उन्होंने सत्य-नाम कर्तापुरुषका अपने एक पदमें वर्णन किया है तथा उनसे प्रार्थना की है—

> पड़ी मेरी नइया विकट मँझधार।
> यह भारी अथाह भवसागर, तुम प्रभु करो सहार॥
> आँधी चलत, उड़ात झराझर, मेघ-नीर-बौछार।
> झाँझर नइया भरी भारसे, केवट है मतवार॥
> किहि प्रकार प्रभु लगूँ किनारे, हेरो दया-दिदार।
> तुम समान को पर-उपकारी, हो आला सरकार॥
> खुले कपाट-यंत्रिका हियके, जहँ देखूँ निरविकार।
> 'नागा' कहैं, सुनो, भाई संतो! सत्य-नाम करतार॥'
>
> (ब्रह्मवाणी)

उन्होंने अखण्ड, निर्विकार, परम चेतन तत्त्व परमात्माका आजीवन चिन्तन किया। वे लोक-लोकान्तरोंमें ध्यानमें विचरण करते थे। उन्होंने ध्यानमें सुमेरु पर्वतको भी देखा था और उसे सिद्धोंका निवासस्थान बताया था। वे ध्यानमें इन्द्रलोकमें भी गये थे। उन्होंने इन्द्रलोकका बड़ा सुन्दर अनुभवपूर्ण वर्णन किया है।

संत-वाणी परम अनुभूतिमयी होती है। संत नागा निरंकारीके अनुभवपूर्ण शब्द उतने ही सत्य हैं जितने सत्य परब्रह्म परमात्मा हैं। संत-साहित्य-जगत् उनकी महती देन 'ब्रह्मवाणी'के लिये उनका सदा आभारी रहेगा। उनकी 'ब्रह्मवाणी' अलौकिक वाङ्मय है। उनकी उक्ति है कि मन लगाकर परमेश्वरका भजन करनेसे हृदय निर्मल होनेपर सत्यज्ञानकी प्राप्ति होती है और परम शान्ति मिलती है।

संत नागा निरंकारी जीवमात्रके प्रति दयालु थे। अपने लिये वे कठोर तपस्वी और सहनशील थे। दीन-दुःखियों और अभावपीड़ितोंकी सेवा और पापियोंके समुद्धारके लिये ही उन्होंने शरीर धारण किया था। वे

किसीकी निन्दा-स्तुतिके फेरमें कभी नहीं पड़ते थे। वे परम करुणामय थे। उनकी उक्ति है—'सब परमात्माके जीव हैं, किसीपर कोप न करके दया ही करनी चाहिये। सब जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख भोगते हुए गति पाते हैं। भूमिपर चलनेवाला प्राणी एकदम आकाशमें किस तरह उड़ सकता है; सबकी उन्नति धीरे-धीरे ही होती है। सब जीवोंको परमात्मा देखते हैं। वे ही सबके स्वामी हैं। हमें अपनी ओरसे किसी जीवको भी नहीं सताना चाहिये।'

संत नागा निरंकारीने जीवनके अन्तिम दिन कानपुर जनपदके पाली-नामक स्थानपर बिताये। पालीका राजपरिवार उनमें अतुल श्रद्धा रखता था। वे पाली-निवासकालमें अपनी सहज अवधूत-अवस्थामें प्रतिष्ठित थे। पालीके कण-कणमें उनकी दिव्य आत्माभिव्यक्तिका दर्शन होता है। उन्होंने अपने परमधाम-कैलासलोक-गमनकी बात बहुत पहले ही कह दी थी। पाली-कुटीके सामने चनेका एक खेत था। नागाजीने कहा कि 'हमने ध्यानमें देखा है कि इसी चनेके खेतमें लोग हमारे शरीरको चितामें जला रहे हैं।' उन्होंने इस तरह संकेत कर दिया कि इसी स्थानपर मेरा समाधि-मन्दिर बनेगा। अपने ही कथनके अनुरूप संवत् १९९३ वि०की कार्तिक शुक्ल चतुर्दशीको उन्होंने रातमें कैलासलोककी प्राप्ति की। उनके शरीरका दाह-संस्कार पालीराज्यके उसी चनेके खेतमें विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ। उस स्थानपर उनका भव्य समाधि-मन्दिर जगत्को सत्य, शान्ति और प्रेमका दिव्य संदेश देता हुआ अवस्थित है; समाधिके दर्शनमात्रसे मन शान्तिके गम्भीर सागरमें निमग्न होकर दिव्य, शाश्वत-अखण्ड सत्यामृतका रसास्वादन करता है। नागा निरंकारीकी समाधिकी दिव्यता और नीरवतासे मन मुग्ध हो उठता है; यह समाधि-मन्दिर उनकी तपस्याका भौम स्मारक है। संत नागा निरंकारी ब्रह्मयोगी, परम अवधूत और तपस्वी संत थे।

भक्तवत्सल भगवान्‌के भरोसे निर्भय-निश्चिन्त रहिये

भगवान् भक्तवत्सल हैं; उनकी भक्तवत्सलता अनुपम एवं अनोखी है। भक्तकी पुकार सुनकर भगवान् अधीर हो जाते हैं और ऐसी चतुराईसे उसकी रक्षा करते हैं कि भक्त विस्मित हो जाता है। लोग अपने धन-मद, शक्ति-मद, अधिकार-मद, कौशल-मद आदिसे चूर होकर दूसरोंको धमकी देते हैं—'हम तुम्हारा सर्वनाश कर देंगे', परंतु जानते नहीं कि मारनेवालेसे बचानेवालेके हाथ बहुत लंबे एवं पुष्ट हैं। दूसरे, यह नियम है कि किसीका बुरा तभी होगा, जब प्रारब्धवश उसका बुरा होना होगा; अन्यथा सब प्रयास विफल हो जायँगे। हाँ, दूसरोंका बुरा करनेका प्रयत्न करके कोई अपनी आत्माका पतन, अपनी हानि चाहे कर ले। भक्तोंने इस सत्यको अनुभव किया है और सबको आश्वासन दिया है—'बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय।' भक्त सूरदासजीने निम्नाङ्कित पदमें भगवान्‌की भक्तवत्सलताका एक बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दिया है और बताया है कि पक्षीकी प्रार्थनापर भगवान् किस अनोखे ढंगसे बहेलिये एवं बाजको ही नष्ट करके उसकी रक्षा करते हैं—

अब कें राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठ्यौ द्रुम-डरियाँ, पारधि साध्यौ बान॥
ताकें डर मैं भाज्यौ चाहत, ऊपर ढुक्यौ सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयौ आनि यह, कौन उबारै प्रान?
सुमिरतहीं अहि डस्यौ पारधी, कर छूट्यौ संधान।
'सूरदास' सर-लग्यौ सचानहिं, जय-जय कृपानिधान॥

भगवान्‌की भक्तवत्सलतापर विश्वास कीजिये और हर स्थितिमें निर्भय-निश्चिन्त रहिये।

प्रार्थना

मेरे मनमें समाये घने अन्धकारको दूर कर दो !

मेरे चिर सहचर,

तुम्हीं तो मेरे जन्म-जन्मके साथी हो । मेरे मनके मीत, प्यारे-से-प्यारे, अपने-से-अपने हो तुम। तुम्हीं तो मेरे मूर्तिमान् आनन्द हो। मुझे अनन्त सुख प्रदान करनेके लिये ही तुम्हारी नित्य सत्ता है। हे आनन्दनिधान ! तुम मेरे हो, फिर भी मैं आनन्द-विरहित हूँ—यह किस कारणसे हो रहा है ?

मेरा यह जीवन दुःखरूप है। प्रारम्भसे अवसानपर्यन्त विविध वेषोंमें दुःखोंका दर्शन ही जीवनमें होता रहता है। मेरी ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण नियति तुमने क्यों की ? सागरमें रहकर भी मीन जीवनभर प्यासा ही क्यों बना है ? यह क्या विडम्बना है ?

इस दुःखालय एवं दुःखयोनि जगत्‌में जन्म धारणकर मैं भ्रमवश दुःखोंको ही सुख समझता रहा हूँ। सुख पानेकी लालसासे नये-नये तथा अधिकाधिक दुःखोंकी ही अभिलाषा मैं जीवनभर करता रहा हूँ। यत्न करके नये-नये दुःखोंकी प्राप्ति करता हूँ। दुःख पाने, दुःखोंसे ही घिरे रहनेका स्वभाव हो गया है मेरा। स्वभाववश ही दुःखी हूँ मैं।

जो यथार्थ सुख है, उससे जी चुराता हूँ। सुखकी पहचान नहीं है मुझे। जिस दुःख-पङ्कमें आकण्ठ डूबा हूँ, उससे भिन्न कोई सुख नामकी वस्तु भी है—यह विश्वास ही नहीं रहा मुझे। इसीलिये इस दुःखालयको त्यागकर सुखके केन्द्रकी ओर चल पड़नेका विचार भी कभी मनमें नहीं आता। यथार्थ सुखके अस्तित्वका आभास भी नहीं है मुझे। तुम्हीं कहो, इस दुःखरूपी संसार-महाभ्रमसे मेरी मुक्ति कब होगी ?

जब कभी भूले-भटके तुम्हारा चिन्तन करने लगता हूँ, मन सुखसे भर जाता है। तुम ही सुख हो—यह सत्य तब मेरे मनमें प्रकाशित होने लगता है। फिर भी अभ्यासवश पुनः जगत्‌के विषयोंमें ही सुख पानेकी चाहसे भटकने लगता हूँ तथा वही दुःखका आवर्त्त मुझे पुनः ग्रस्त कर लेता है।

मेरे नियन्ता ! क्या मुझे राह नहीं दिखाओगे ? क्या मेरा सम्पूर्ण जीवन इस अज्ञानव्यूहमें ही भटकता रहेगा ? इस दुःख-महाभ्रममें मैं कबतक दिङ्मूढ़ बना रहूँगा ? कबतक मेरी आँखें इस महामोहके आवरणसे आच्छादित रहेंगी ?

आओ, आओ, हे ज्ञानसूर्य ! मेरे मनमें समाये इस घने अन्धकारको अपनी सत्यरश्मियोंसे दूर कर दो ! दुःख-पङ्कमें आकण्ठ डूबे हुए मुझको अपनी सबल बाँहोंका सहारा देकर उबार लो। कीचड़से लथपथ मेरे अङ्गोंको अपने स्नेह-वारिसे प्रक्षालित करके निर्मल बना दो। अपने प्रेमपूर्ण करतलोंसे मेरी आँखोंपर पड़े हुए मोहके आवरणको दूर कर अपना ऋषि-मुनि-वाञ्छित दिव्य दर्शन प्रदानकर मेरे नेत्रोंको चिर कृतार्थ करो। मुझे सदा-सर्वदाके लिये प्रेमसमुद्रकी आनन्द-लहरियोंमें निमज्जित कर दो। अनन्तकालतक मैं प्रेमोदधिकी तरंगोंमें लहर बनकर लहराता रहूँ, ऐसी स्थिति कब करोगे, मेरे नाथ !

—तुम्हारा ही अपना एक

आशुतोष

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम्।
खलानां दण्डकृद्योऽसौ शंकरः शं तनोतु मे ॥
(मानस ६ । श्लोक३)

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'दानी कहुँ संकर सम नाहीं ।'
(विनयपत्रिका ४)

भगवान् गङ्गाधरके समान उदार दानी कहाँ मिलेगा—ऐसा दानी, जो वरदान देकर स्वयं संकटमें पड़ जाय। वृकासुर (भस्मासुर) के तपसे आप संतुष्ट हुए तो उसने वरदान माँगा—'जिसके सिरपर मैं हाथ रख दूँ, वह भस्म हो जाय !'

दुष्ट असुरके मनमें पाप है—उसकी कुदृष्टि भगवती उमापर है, क्या यह सर्वज्ञको ज्ञात नहीं था ? किंतु उन्हें यह भी ज्ञात था कि उमा जब क्रुद्ध होती हैं—महाकाली हो जाती हैं और तब समस्त सुरासुर उनके खप्परकी अग्निमें भस्म हो जाते हैं । उन निखिलेश्वरीके लिये आशङ्काका कारण कभी उत्पन्न नहीं हुआ । रही अपनी बात—अपने लिये आशुतोष किसीको 'ना' करें, यह कैसे सम्भव है । उन्होंने जानते-समझते उस असुरको 'एवमस्तु' कह दिया ।

असुर अपने वरदाताके मस्तकपर ही हाथ रखनेके लिये झपट पड़ा । भागे भोलेनाथ; क्योंकि स्वयं अपना वरदान मिथ्या किया नहीं जा सकता और जिसे एक बार स्नेह-पात्र स्वीकार कर लिया, उसपर भला त्रिशूल कैसे उठाया जा सकता है ।

'ये तो भाँग छाने रहते हैं ।' लीलामय श्रीहरि ब्रह्मचारी बनकर आ गये वृकासुरके सम्मुख और बोले—'असुरेश ! तुम इतने बुद्धिमान् होकर इन श्मशानवासी औघड़की बातपर विश्वास कैसे कर बैठे ? इतनी दौड़धूपकी क्या आवश्यकता ? इनके वरदानकी परीक्षा करनी है तो अपने सिरपर हाथ रखकर कर लो ! भला, कोई नशेमें रहनेवाले फक्कड़पर भरोसा करता है !'

वृकासुरको तो मरना था । महापुरुषकी अवमानना करके ही किसीकी कुशल नहीं होती, वह तो महेश्वरका अपमान कर रहा था । उसकी बुद्धि तो पहले ही भ्रष्ट हो चुकी थी । उसने चौंककर अपने सिरपर हाथ रखा और भस्म हो गया ।

× × ×

वाणासुर अपनी सहस्र भुजाओंमें नाना वाद्य लेकर नाचता हुआ स्तुति करने लगा तो प्रसन्न हो गये आप और बोले—'वरदान माँगो ।'

'आप मेरे नगर-रक्षक बन जाइये !' असुरने यह चिन्ता नहीं की कि त्रिभुवनके स्वामीको मैं अपना क्षेत्रपाल बना रहा हूँ ।

'एवमस्तु'—दूसरी बात कहना ही नहीं आता भगवान् चन्द्रमौलिको ! आप असुरके नगरपाल बन गये । कैलासका एकान्तवास गया और समाधि भी गयी । हाथमें त्रिशूल लिये नगररक्षा करते रहो । कबतक ? कुछ पता नहीं !

'मेरी भुजाएँ खुजला रही हैं । कोई समबल योद्धा मिलता नहीं । आप ही समबल दीखते हैं ।' उद्दण्ड वाणासुरने एक दिन युद्ध करनेकी ही चुनौती नगरपाल बने अपने इष्टदेवको दे दी ।

'मेरे समान शूर तुम्हें मिल जायगा ।' भगवान्‌ने त्रिशूल नहीं उठाया । जिसपर अनुग्रह किया, उसका अनिष्ट स्वयं अपमान सहकर भी करना उनको स्वीकार नहीं था ।

वाणासुरको तब वह शिव-समबल योधा मिला, जब द्वारकाकी नारायणी सेनाने शोणितपुरको घेर लिया और पाञ्चजन्यका घोष करके जब द्वारकानाथने अपने शार्ङ्गधनुष-पर वाण चढ़ाया, स्वयं पिनाक लिये नीलकण्ठ आश्रित असुरकी रक्षाके लिये अपने ही दूसरे स्वरूप—अपने हृदयधनसे युद्ध करने आ गये । अकेले नहीं, पूरे परिवार और गणोंके साथ भगवान् रुद्र वाणका पक्ष ले रणभूमिमें उतरे ।

भूत-प्रेत शार्ङ्गधन्वाके नामसे भागते हैं । हलधर जब अपना मुसल उठायें, कोई दो क्षण भी सम्मुख टिक नहीं सकता । दिव्यास्त्रोंकी झड़ी परस्पर टकराती रही और अन्तमें द्वारकाधीशने जृम्भणास्त्रसे भूतनाथको निद्रित कर दिया । अब उठा चक्र और उसने वाणासुरकी उप

भुजाओंको छाँटना प्रारम्भ किया, जिनके गर्वपर उसने गङ्गाधरका अपमान किया था ।

'यह मेरा है । मैंने इसे अभय दिया है । आप मुझपर अनुग्रह करके इसकी रक्षा करें ।' तन्द्रासे जागते ही आशुतोषने देख लिया कि अमोघ चक्र चल चुका है और उसका वारण तो उसका प्रयोक्ता ही कर सकता है । बाणासुरके लिये वे स्वयं प्रार्थना करने पहुँच गये ।

'आपका जो है, वह मेरा है ।' चक्रधारी हँस पड़े । 'किंतु अब यह आपका गण होकर रहेगा । आप इसके पुरपाल नहीं, इसके स्वामी !'

बाणको प्राणदान ही नहीं मिला, उसे अभिमानसे मुक्ति मिली और शाश्वत शिवगणत्वकी प्राप्ति हुई ।

× × ×

अमृत चाहिये देवता तथा असुरोंको । क्षीरोदधिका मन्थन करनेसे पूर्व किसीने सोचातक नहीं कि अमृत जहाँ होगा, वहाँ विष भी हो सकता है । सबको सदा उद्योगके प्रारम्भमें सफलताके ही स्वप्न आते हैं । समुद्र-मन्थनके फलस्वरूप सबसे प्रथम प्रकट हुआ हलाहल विष । वह वायुसे छितराने लगा । सबके प्राण सङ्कटमें पड़ गये ।

'प्रभो ! अब आप ही अपनी प्रजाकी रक्षा कर सकते हैं ।' प्रजापतियोंने कैलास पहुँचकर पुकार की ।

अमृतकी आशामें उद्योग प्रारम्भ करते समय किसीने पूछा नहीं था, किसीको शंकरजीकी सम्मति लेना आवश्यक नहीं लगा था; जब विषकी ज्वाला उठी, सब पुकारने पहुँच गये ।

'डरो मत !' जब कोई पुकारने पहुँचे, समर्थ दयाधाम उस आर्तको अभय देनेसे पीछे हट सकता है ? अपने बच्चोंको जगत्पिता अभय नहीं देगा ? विश्वनाथ उठ खड़े हुए । फैले हुए विषको उन्होंने समेटा और उठाकर पी गये । कण्ठमें स्थापित कर दिया उसे ।

भगवान्‌का विषसे नीला पड़ गया कण्ठदेश—वह तो शरणागतके लिये परमाश्वासन है । अपने चरणोंमें आये आर्तके लिये वे भव-विष पी जानेको सदा उद्यत हैं । उन नीलकण्ठके सम्मुख पहुँचकर कोई भीत, दुःखित रह नहीं सकता ।

× × ×

'प्रभु ! मेरे पूर्वजोंका उद्धार गङ्गाजलके बिना सम्भव नहीं है ।' तपसे संतुष्ट होकर चन्द्रमौलिने दर्शन दिया तो भगीरथने प्रार्थना की ।

'गङ्गा तो सृष्टिकर्ताके कमण्डलुमें हैं, वत्स !' भोलेबाबा सहजभावसे कह रहे थे ।

'वे धरापर आनेको प्रस्तुत हैं; किंतु उनका वेग धरित्री सहन नहीं कर सकती ।' भगीरथने अपनी कठिनाई निवेदन की ।

'तुम उनको अवतीर्ण होनेको कहो !' आशुतोषने समाधान कर दिया । 'मैं उनको—उनके वेगको सम्हाल लूँगा ! वे विष्णुपदी मेरे मस्तकपर पधारें ।'

भगीरथके लिये वे मृड गङ्गाधर बन गये । उन्होंने सदाके लिये गङ्गाजीको अपने मस्तकपर धारण कर लिया । धरापर एक सूक्ष्म धारा गङ्गाकी उनकी अनुकम्पासे आ सकी ।

× × ×

'यह बालक अल्पायु है ।' बड़ी तपस्यासे तो ऋषि मृकण्डके पुत्र हुआ; किंतु ज्योतिर्विदोंने उस शिशुके लक्षण देखकर ऋषिके हर्षको चिन्तामें परिवर्तित कर दिया । उन्होंने उसी दिन बतला दिया—'इसकी आयु केवल बारह वर्ष है !'

'देवि ! चिन्ता मत करो । विधाता जीवके कर्मानुसार ही आयु दे सकते हैं; किंतु मेरे स्वामी समर्थ हैं ।' मृकण्डने पत्नीको आश्वस्त किया—'भाग्यलिपिको स्वेच्छानुसार परिवर्तित कर देना भगवान् शिवके लिये विनोदमात्र है ।'

ऋषि मृकण्डके पुत्र मार्कण्डेय बढ़ने लगे । शैशव बीता और कुमारावस्थाके प्रारम्भमें ही पिताने उन्हें शिवमन्त्र-की दीक्षा तथा शिवार्चनकी शिक्षा दी । पुत्रको उसका भविष्य बताकर समझा दिया कि पुरारि ही उसे मृत्युसे बचा सकते हैं ।

माता-पिता तो दिन गिन रहे थे । बारह वर्ष आज पूरे होंगे । मार्कण्डेय मन्दिरमें बैठे हैं रात्रिसे ही और उन्होंने मृत्युंजयकी शरण ले रखी है—

'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ।' (शु० य० ३ । ६०)

सप्रणव बीजत्रय-सम्पुटित महामृत्युंजय मन्त्र चल रहा है।

काल प्रतीक्षा नहीं करता। यमराजके दूत समयपर आये और संयमनी लौट गये। उन्होंने अपने स्वामीसे निवेदन किया—'हम मार्कण्डेयतक पहुँचनेका अपनेमें साहस नहीं पाते।'

'मृकण्डके पुत्रको मैं स्वयं लाऊँगा!' दण्डधर यम महिषारूढ़ हुए और उन्हें कितने क्षण लगने थे चिन्तित स्थलपर उपस्थित होनेमें। बालक मार्कण्डेयने उन कज्जलकृष्ण, रक्तनेत्र पाशधारीको पाश उठाते देखा तो सम्मुखकी लिङ्गमूर्तिसे लिपट गया।

'हुम्!' एक अद्भुत अपूर्व हुंकार और मन्दिर, दिशाएँ जैसे प्रचण्ड प्रकाशसे चकाचौंध हो गयीं। शिवलिङ्गसे तेजोमय त्रिनेत्र गङ्गाधर चन्द्रशेखर प्रकट हो गये थे और उन्होंने त्रिशूल उठा लिया था। 'तुम मेरे आश्रितपर पाश उठानेका साहस करते हो?'

'मैं आपका सेवक!' डाँट पड़नेसे भी पूर्व यमने हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया था। वे अत्यन्त नम्र स्वरमें बोले—'कर्मानुसार जीवको इस लोकसे ले जानेका निष्ठुर कार्य प्रभुने इस सेवकको दिया है।'

'यह संयमनी नहीं जायगा! इसे मैंने अमरत्व दिया!' मृत्युंजय प्रभुकी आज्ञाको यमराज अस्वीकार कर सकते थे? उनको लेकर महिष लौटा जा रहा है, मार्कण्डेयने यह देख लिया।

'उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।'

'वृन्तच्युत खरबूजेके समान मृत्युके बन्धनसे छुड़ाकर मुझे अमृतत्व प्रदान करें।' मन्त्रके द्वारा चाहा गया वरदान उनको सम्पूर्णरूपसे उसी समय प्राप्त हो गया।

भाग्यलेख—वह औरोंके लिये अमिट होगा; किंतु आशुतोषके आश्रितोंके लिये भाग्यलेख क्या? भाग्यविधाता ब्रह्मा—भाग्यविधाता स्वयं भगवती पार्वतीसे कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी॥

× × × ×

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयो नकबानी॥

(विनयपत्रिका ५)

आक-धतूरेके फूल, बिल्वपत्र और जल—इतनी सीधी-सी पूजा पर्याप्त है भगवान् आशुतोषके लिये और उनका दरबार सबके लिये खुला है। अधिकारी-अनधिकारीका कोई प्रश्न नहीं है। देव-दानव, मानव-राक्षस—सब उनकी सेवा कर सकते हैं और सब उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं।

जो श्मशानमें या पर्वतपर वृक्षके नीचे रहता है, उसके समीप पहुँचनेमें अवरोध कहाँ। जो भूत-प्रेत-पिशाचोंको अपना गण बनाकर साथ रखता है, उसकी सेवामें अधिकारीका प्रश्न कैसा और जो धतूरे, बिल्वपत्र तथा भस्मसे संतुष्ट है, उसकी आराधनामें श्रम कहाँ। उस विश्वनाथको केवल हमारी प्रणति चाहिये। वह आशुतोष तो नित्य सुप्रसन्न है।

यम-पाशसे मुक्तिका अमोघ उपाय

न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया॥
प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्। न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥
सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः॥

(श्रीमद्भागवत ६। १। १६, १८-१९)

पापी पुरुषकी जैसी शुद्धि भगवान् श्रीकृष्णको जीवन-अर्पण करनेसे और उनके भक्तोंका सेवन करनेसे होती है, वैसी तपस्या आदिके द्वारा नहीं होती। जैसे शराबसे भरे घड़ेको नदियाँ भी पवित्र नहीं कर सकतीं, वैसेही बड़े-बड़े प्रायश्चित्त बार-बार किये जानेपर भी भगवद्विमुख मनुष्यको पवित्र करनेमें असमर्थ हैं। जिन्होंने अपने भगवद्गुणानुरागी मन-मधुकरको भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्द-मकरन्दका एक-बार पान-करा दिया, उन्होंने सारे प्रायश्चित्त कर लिये। वे स्वप्नमें भी यमराज और उनके पाशधारी दूतोंको नहीं देखते, फिर नरककी तो बात ही क्या है।

वासनाका उदात्तीकरण

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

बाजे बज रहे हैं ! शहनाईकी मङ्गलमय ध्वनि आ रही है । अतिथियोंका आना-जाना, संगीत और आवागमन-की चहल-पहल, बच्चोंकी शरारत, रंगीन वस्त्रोंमें नारियोंका जमघट है । लगता है मुहल्लेमें कोई विवाह हो रहा है ।

'आज किसका विवाह है ?'

'अरे भाई, रामकृष्णकी आयु तो केवल आठ वर्षकी ही है । इतनी छोटी अवस्थामें शादी है ! आश्चर्य है !'

'हाँ, हाँ, आश्चर्यकी तो बात ही है । उसकी दुलहिन तो बच्ची ही होगी अभी !'

'इतने छोटे अबोध बच्चोंका, जो शादीका मतलब-तक नहीं समझते, विवाह कर देना महज मूर्खता ही है ।'

'पिछड़ापन है ! इन लोगोंसे कौन कहे कि बाल-विवाह हमारे देशका एक बड़ा अभिशाप है । लड़का हुआ नहीं कि विवाह-शादीकी फिक्र होने लगती है ।'

'देखो तो, न बच्चेको पढ़ाना, न लिखाना ! न तन ढकनेकी शऊर, न वस्त्र पहननेका सलीका ''और उधर विवाह रचाया जा रहा है ! बच्चोंका खेल बना लिया है विवाहको ! यह कैसा अन्ध-विश्वास, जडता और मूर्खता है हमारे मुल्कमें !'

किंतु उपर्युक्त आलोचनाओंके बावजूद गुड्डे-गुड्डियोंकी तरह रामकृष्ण और शारदामणिका विवाह सम्पन्न करा दिया गया । नन्हीं-सी बहू छमछम करती लाल चुनरी पहने घरमें फिरने लगी । विवाहित बच्चोंका जीवन खेल-खेलमें चलता रहा ।

धीरे-धीरे बालक रामकृष्ण बड़ा हुआ । वह चिन्तन-शील प्रकृतिका समझदार बालक था । गम्भीर आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक साहित्यके प्रति उसका झुकाव था । वह क्रमशः धर्म-दर्शनकी ओर विकसित होता गया ।

कुछ युवक आयुसे पहले ही ज्ञान-वृद्ध हो जाते हैं । रामकृष्ण खूब पढ़ता, स्वाध्याय करता, दर्शन, धर्म, संस्कृति, आत्मसुधार आदि विषयोंमें अपना ज्ञान बढ़ाता गया । उसे आत्मज्ञान हुआ और उसने यह निष्कर्ष निकाला कि इस क्षणभङ्गुर भौतिक संसारकी नश्वर वस्तुएँ उसके लिये नहीं हैं, वह तो समाजमें नैतिक और आध्यात्मिक जागृति लानेके लिये, आध्यात्मिक पुनरुत्थान और धार्मिक ज्ञानके वितरण करने, समाजको वासनाके मोहक-मादक जालसे छुड़ानेके लिये आया है । ईश्वर-विश्वास और आस्तिकताकी पुनीत भावनाको जन-जनतक पहुँचानेके लिये वैराग्य और इन्द्रिय-निग्रहकी अत्यन्त आवश्यकता है । उसकी अन्तर्दृष्टिने बताया कि मनुष्य आत्मदर्शनका ध्येय लेकर ही पृथ्वीपर अवतरित हुआ है । विशाल अन्तरिक्ष, गगनस्पर्शी पर्वत, सुदूर विस्तृत सागर, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र आदि सभी परमात्माकी दैवी शक्तिकी ओर इङ्गित करते हैं । वासनापूर्ण बन्धन तो सामाजिक विकासका प्रारम्भमात्र है । हम अपने बहुमूल्य जीवनका मुख्य भाग तो वासनाके मोहक जालमें फँसे रहकर ही व्यतीत कर देते हैं । जो वासनाके मादक चंगुलमें फँसे हुए हैं, वे पशु या राक्षसकी कोटिके ही हैं—यह सोचकर वे अपनी बालिका पत्नीसे बोले—

'शारदा ! हम दोनोंके माता-पिताओंसे भारी गलती हो गयी है ।'

'गलती ! कौन-सी गलती ?' बालिकाने पूछा ।

'हमारे विवाहमें जल्दबाजी हो गयी ।' रामकृष्णने चिन्ताके स्वरमें उत्तर दिया ।

'फिर अब क्या करें ?' शारदा आग्रह करने लगी । 'आप मुझसे आयु, विद्या, बुद्धि, विवेक—सबमें बढ़े-चढ़े हैं । हर प्रकार समझदार हैं । जो गलती हो गयी, उसको ठीक कैसे किया जाय ?'

रामकृष्ण गम्भीर विचारोंमें निमग्न हो गये ! भोली बालिका नहीं समझ पा रही थी, गलतीका सुधार क्योंकर होगा ? उसके पति क्या चाहते हैं ? इतनेमें रामकृष्ण बोल उठे—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥

(गीता ३ । १८)

"शारदा, मेरा मतलब है कि आत्मवादी पुरुषका लक्षण लोकहितार्थ कर्म है, उसे हम अपनायें; क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियोंमें किसीसे स्वार्थका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। हम सभी परमात्मारूपी विश्वचेतनाके अङ्ग हैं। फिर किसीके प्रति परायेपनका भेद-भाव क्यों करें। अपने ही स्वार्थ और सुखको प्रधानता देनेमें जो लोग क्षणिक आनन्दका अनुभव कर इसमें जीवन खपा देते हैं, उनसे यह आशा नहीं रखी जा सकती कि वे आत्मोद्धार कर लेंगे। इसके विपरीत जिसे अपना जीवन सार्थक बनाना है, जिसने अपना जीवन-लक्ष्य निर्धारित कर लिया है, उसके लिये यही उचित है कि वह खुले मस्तिष्कसे सभीमें अपने आपको रमा हुआ देखे।"

'आप ठीक ही कहते हैं, पतिदेव! बात कुछ और स्पष्ट कीजिये!'

रामकृष्ण आगे कहने लगे—'आत्मज्ञान और आत्मानुभूतिके मूल उद्देश्यको लेकर ही हम इस संसारमें आये हैं। आत्मा विशाल है। उसका सेवा-क्षेत्र विशाल है। वह सेवाकार्य केवल दाम्पत्य-जीवनतक ही सीमित नहीं रह सकता। सम्पूर्ण संसार, सारा समाज, चराचर लोक और समस्त पृथ्वीमण्डल इस आत्माके क्षेत्र हैं। अपनी चेतनाको भी विश्वचेतनामें जोड़ देनेसे आत्मज्ञानका प्रकाश स्वतः प्रस्फुटित होने लगता है।'

'फिर आगेके लिये हमारी क्या योजना ठीक रहेगी?' भक्तिविभोर स्वरमें शारदाने पूछा।

तब रामकृष्णने ये अन्तिम शब्द कहे—'शारदा! बुरा न मानना। भविष्यमें तुम्हें बलिदान करना होगा, कुछ प्रण करने होंगे और उन्हें निबाहना होगा। हम दोनों पति-पत्नीको ब्रह्मचर्य और आत्मसंयमका कठोर बन्धन अपने ऊपर रखकर लोकसेवा और आध्यात्मिक जागृतिका कार्य करना होगा। मानव जब वासना और इन्द्रियजन्य परतन्त्रतासे मुक्त होने लगता है, तब उसकी महानता विकसित होने लगती है। हमें आगे इसी सांस्कृतिक पुनरुत्थानके लिये जीना होगा।'

बालिका शारदामणि बोली—'आपका जैसा आदेश होगा, हिंदू पतिव्रता नारीके रूपमें मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगी।'

'तो, हम दोनों आज संकल्प करें कि अपने भावी जीवन-में कभी वासनाके वशीभूत न होंगे! गृहस्थीमें रहकर भी पूर्ण ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करेंगे।'

बड़ा कठोर प्रण था! फिर भी शारदामणि दृढतापूर्वक बोली—'मैं भी आपके साथ आज संकल्प लेती हूँ कि जीवन-भर वासनासे दूर रहूँगी, शील-व्रतका पालन करूँगी।'

दोनोंने प्रण किया—'हम दोनों आजसे भविष्यमें सदा-सर्वदा वासनासे मुक्त रहेंगे, आत्माकी गौरवपूर्ण महत्ता प्राप्त करेंगे, अपनी प्रसुप्त दैवी महानताको जगायेंगे और नैतिकताके मार्गमें आजसे ही नहीं, अभीसे लग जायँगे, जिससे भावी जीवनका समाजके हितमें सदुपयोग हो सके।' इस प्रकार नव-दम्पतिकी वासनाको नया मोड़ मिला और वह शक्ति नये उपयोगी क्षेत्रोंमें उदात्त (Sublimate) होकर प्रवाहित होने लगी।

सारा भारत महात्मा रामकृष्ण परमहंस तथा उनकी धर्मपत्नी विदुषी शारदामणिके उपर्युक्त संकल्पको जानता है। वे आजन्म पति-पत्नीकी तरह रहे, किंतु उन्होंने आजन्म शील-व्रतका पालन किया। अपनी वासनाको मोड़कर परिष्कृत रूपोंमें—समाजसेवा, लोकोपकार, धर्म-प्रचार, सद्ज्ञानप्रचार तथा कल्याणकारी कार्योंमें लगाया। उन्होंने दिखा दिया कि गृहस्थ-जीवनकी एक वासनात्मक मर्यादा है; आदमी चाहे तो अपनी वासनाका निन्द्यमार्ग छोड़कर उसे ऊँचे उपयोगी और कलात्मक कार्योंमें लगा सकता है। मानव-जीवनका अर्थ वासनापूर्तिमात्र नहीं है। यदि वासनाका क्षणिक आनन्द ही हमारा लक्ष्य हो, तो मनुष्य और पशु-पक्षी तथा कीड़े-मकोड़ोंमें क्या अन्तर रहता! जिस प्रकार वे जानवर जो कुछ मिलता है, खाते-पीते, बच्चों-को जन्म देते, पालते और मर जाते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी मर जाया करते; लेकिन आदमी साधारण जानवरोंसे बहुत ऊँचा और संयमी विवेकशील जानवर है। वह मामूली जानवरोंकी तरह महज वासनाको पूर्ण करनेके लिये नहीं जन्मा है। कामोत्तेजना, नग्नता, यौन आकर्षण और वासनाके माया-जालसे भरा हुआ कीड़े-मकोड़ों-जैसा निम्नकोटिका जीवन विवेकशील मानवके लिये न तो योग्य है और न श्रेयस्कर!

गृहस्थीमें भी वासनाको नियन्त्रित कीजिये!

सामाजिक जीवनके सुव्यवस्थित विकासके लिये मनुष्य परिवार बसाता है, सुसंततिको जन्म देता है। उन्हें ज्ञानवान्, विवेकशील, चरित्रवान् और समाजके लिये उपयोगी बनाता है। दो-तीन बच्चोंसे अधिकको अच्छे नागरिक बनानेके लिये उसमें क्षमता और साधन नहीं

रहते । खेदके साथ स्वीकार करना पड़ता है कि ऐसे सुशिक्षित और सुनियन्त्रित परिवार आज बहुत कम हैं । लोग दिन-रात वासनाकी उत्तेजना और काम-सेवनमें ही फँसे रहते हैं । बच्चोंकी संख्या बढ़ाकर आबादी बढ़ा रहे हैं तथा भूख, बेकारी और बेरोजगारीके लिये जिम्मेदार हैं । बच्चोंकी बड़ी दुर्दशा हो रही है । न उनके लिये पौष्टिक भोजन है, न शिक्षा; न मकान, न आत्मिक विकासकी सुविधा । अनियन्त्रित वासना ही इसका कारण है । काम-वासनाकी गंदगीमें फँसे अनेक अविवेकी और मदहोश गृहस्थ अपने जीवनको नरक बना रहे हैं । इस काम-वासनाके ऊपर संयमका नियन्त्रण लगानेकी बड़ी आवश्यकता है । विवाहित जोड़े बुरी तरह वीर्यनाश करते हैं, शूकर और कुत्तोंकी तरह भोगविलासमें रत रहते हैं, संतानके साथ आनेवाली भारी जिम्मेदारियोंको नहीं समझते ।

कामान्ध पुरुष तथा स्त्रीका आरोग्य, सौन्दर्य और यौवन गायब हो जाते हैं । अधिक वीर्यनाश करनेवाला युवक आँख-से-आँख मिलाकर नहीं देख पाता । कामान्ध मनुष्यके कपोलोंपरकी गुलाबी आभा नष्ट होकर काले दाग पड़ने लगते हैं, नेत्र एवं गाल अंदर धँस जाते हैं; बाल जल्दी ही पकने और झड़ने लगते हैं । वह वृद्धकी तरह जर्जर, निर्बल और ढीला हो जाता है, परिश्रम करने एवं दौड़नेसे हाँफने लगता है, जवानीमें ही मुर्देकी तरह उत्साहहीन हो जाता है । सीनेमें धड़कन होती है, अपच और कब्जियत, अनिद्रा, मूत्ररोग, स्वप्नदोष, कमरका दर्द और मुँहासे तथा अधिक वीर्यपात—कामुकताके निन्दनीय दुष्परिणाम हैं ।

अनियन्त्रित काम-सेवनसे पुरुषका ही नहीं, बेचारी नारीका भी समयसे पूर्व स्वास्थ्य, यौवन और आरोग्य चौपट हो जाते हैं । शीघ्र ही सुन्दरता विलुप्त हो जाती है, शरीर और सुडौलता ढल जाती है । जल्दी-जल्दी बच्चोंको जन्म देनेसे युवती बचपनमें ही वृद्धा-सी लगने लगती है । उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है । वह बार-बार बीमार पड़ती है, प्रसूति-रोगसे ग्रस्त रहती है । बाल-बच्चोंके अधिक हो जानेसे सदा घरके काम-काजमें व्यस्त रहती है, जिससे कोई बड़ा काम नहीं कर पाती । प्रेम, स्नेह और रसके स्थानपर दिन-रात परिवारमें कलह-क्लेश, लड़ाई-झगड़ा, कुढ़न और आवेश छाया रहता है । यह सब कामुकतावृद्धि और लम्पटताके भयंकर दुष्परिणाम हैं । ये उन कामुक लोगोंको भुगतने पड़ते हैं, जो गृहस्थ-जीवनका पुनीत प्रयोजन भूलकर उसे काम-क्रीडाका प्राङ्गण मान बैठते हैं ।

वासनाका उदात्तीकरण सम्भव है

अपनी काम-शक्तिके रूप बदलिये । इस शक्तिको निन्द्य रूपोंसे बचाकर अपनी रुचिको ऊँचे स्वास्थ्यकर, कलात्मक, उत्पादक रास्ते दीजिये अर्थात् अपनी चित्त-वृत्तिको कामुकतासे हटाकर कल्याणकारी मार्गोंमें लगाइये । काम-वासनाके तीव्र प्रवाहको क्षुद्र सांसारिक भोग-विलासके गंदे मार्गोंसे हटाकर नवीन उत्पादक पवित्र क्षेत्रोंमें बहाया जा सकता है । कामशक्तिके सदुपयोगसे व्यक्तिगत जीवन तथा समाज और विश्वके किसी भी क्षेत्रमें अद्भुत सफलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं ।

आप कामुकतामें दिलचस्पी छोड़ किसी भी नये उपयोगी और उच्च विषयमें रुचि जाग्रत् कीजिये । जैसे-जैसे आप नये क्षेत्रमें रुचि लेंगे, वैसे-वैसे आपकी वासना उसी मार्गमें बहने लगेगी । निरन्तर कार्यमें लगे रहनेसे आप उस क्षेत्रमें चमक उठेंगे । कविता, साहित्य, विज्ञान, चित्रकारी, संगीत, नृत्य, अभिनय, वास्तुकला आदि जिस ओर भी आपकी दिलचस्पी हो, (कामवासना भूलकर) पूरी शक्ति और तन्मयतासे मनको उसमें एकाग्र कर दीजिये । अपनी सारी शक्ति इस नये प्रिय कार्यको अर्पित कर दीजिये । जितनी सचाई और ईमानदारीसे आप इन कलाओंकी साधनामें तन्मय होंगे, उनमें कुशलता और दक्षता प्राप्त करेंगे, उतनी तेजीसे आपके मनके कुविचार और वासनाएँ हटती जायँगी ।

काम एक शक्ति है । उसका मार्ग उत्पादक हो सकता है । गहरी रुचि जाग्रत् करनेकी बात मुख्य है । जैसे-जैसे उच्च सांस्कृतिक विषयों—धर्म, दर्शन, अध्यात्म आदिके प्रति आपका चाव और उत्साह बढ़ेगा, वैसे-वैसे आपकी वासना बदलकर इन्हीं सांस्कृतिक विषयोंके प्रति रुचिका रूप ग्रहण कर लेगी । आपकी वासनाकी शक्तिको बाहर निकलनेका एक नया उपयोगी और कल्याणकारी क्षेत्र प्राप्त हो जायगा । आपकी कामशक्ति अच्छे विषयोंमें परिवर्तित होकर आश्चर्यजनक करिश्मे कर दिखायेगी ।

काम-चर्चाकी बात छोड़कर आप समाज-सुधार, राजनीति और धर्मके क्षेत्रोंमें तन्मय हो सकते हैं, पशुत्वसे

देवत्वकी ओर अग्रसर हो सकते हैं । जितनी तन्मयतासे आप परोपकारके पवित्र कार्योंमें लगेंगे, उतने ही अंशोंमें गंदगीसे बचेंगे ।

गोस्वामी तुलसीदासजी, भक्त सूरदासजी, मीराँबाई आदिने अपनी कामशक्तिका प्रवाह कविता, संगीत और भक्तिके रूपोंमें बदल दिया था । अनेक महान् कहलानेवाले व्यक्ति अपने जीवनके प्रारम्भिक दिनोंमें उद्दीप्त वासनावाले रहे थे, पर बादमें अपनी गलती समझकर उन्होंने वासना-की शक्तिको नये उपयोगी रूपोंमें ढालकर उनसे समाज और देशको लाभ पहुँचाया, संसारको अपनी प्रतिभासे चकित-विस्मित किया । वह मार्ग किसीको साहित्य-सेवा, समाज-सेवा, परोपकारके कार्यों, कलाकी साधनामें तो दूसरों-को वाणिज्य, शिल्पकारी या विज्ञानकी सेवामें प्राप्त हुआ । आप वासनाको निकालनेके लिये अपनी रुचि, प्रतिभा, हैसियत एवं परिस्थितिके अनुसार नये-नये मार्ग ढूँढ़ें ।

संसारमें साहित्य, कला, काव्य, विज्ञान आदिमें तभी सफलता प्राप्त होती है, जब मनुष्य अपनी वासनाको उन्हींके साधनमें नियुक्त कर देता है, तन-मन, प्राण और आत्माको उसमें उँड़ेल देता है, क्षुद्र सांसारिक वासनाको भुलाकर उच्चतम सांस्कृतिक रूपोंमें अपनी कामशक्तिका प्रवाह करता है । अपनी वासनाको गंदे स्रोतोंसे रोककर उत्पादक पवित्र मार्गोंमें विनियोजित करते रहिये ।

अपने परिवारके सदस्योंकी सेवा, उन्हें अधिकाधिक योग्य, सच्चरित्र, विद्वान्, प्रतिभा-सम्पन्न बनाना, पिछड़े हुओंकी सेवा करना, संगीत और साहित्यकी रचना करना, परोपकारके कार्यों—जैसे अनाथालयों और चिकित्सालयोंको चलाना आदि असंख्य लोक-कल्याणके कार्य कामवासनाके उदात्तीकरणके तरीके हैं ।

एक मनोवैज्ञानिकके ये शब्द गाँठमें बाँध रखने-योग्य हैं:—

"अपने सुखोंका ध्यान 'कामुकता' है, पर दूसरोंके सुखका ध्यान 'प्रेम' है । कामुकतासे हम घोर स्वार्थी और संकीर्ण बनते हैं और दूसरोंको अपने कब्जेमें लाना चाहते हैं, पर प्रेमसे हम परोपकारी बनते हैं और अपनेको दूसरोंके लिये खो देना चाहते हैं । जो व्यक्ति जितना ही अधिक समाज-सेवा, साहित्य-सेवा, धर्म एवं परमार्थवृत्तिमें लगता है, वह उतना ही कम कामुकताकी अनुभूति करता है । काम-रोगसे बचनेका उपाय दूसरे उपयोगी कामोंमें अतिव्यस्त होना है । आदमी शुभ कार्योंमें इतना तन्मय हो जाय कि खुराफात सोचनेका अवसर ही उसे न मिले !" यह प्रक्रिया वासनाका उदात्तीकरण है ।

'स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ।'

(हितो० २ । १३९)

'उत्तम पुरुष वही है, जिसे इन्द्रियोंके विषय चलायमान न कर सकें ।' उत्तम व्यक्ति वही होता है, जो कामुकतासे चलायमान नहीं होता, संयमी और जितेन्द्रिय रहता हुआ अपने कर्तव्यमें लगा रहता है ।

चित्तको सन्मार्गपर लगाइये

दिसो दिसं यन्तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं । मिच्छापणिहितं चित्तं पापियो' नं ततो करे ॥

जितनी हानि द्वेषी द्वेषीकी और वैरी वैरीकी करता है, असत्-मार्गपर लगा हुआ चित्त उससे अधिक बुराई करता है ।

न तं माता-पिता कयिरा अञ्ञे चापि च ञातका । सम्मापणिहितं चित्तं सेय्यसो' नं ततो करे ॥

जितनी भलाई न माता-पिता कर सकते हैं, न दूसरे भाई-बन्धु, उससे अधिक भलाई सन्मार्गपर लगा चित्त करता है ।

फन्दनं चपलं चित्तं दूरक्खं दुन्निवारयं । उजुं करोति मेधावी उसुकारो' व तेजनं ॥

चञ्चल, चपल, दुर्-रक्ष्य, दुर्निवार्य चित्तको मेधावी पुरुष उसी प्रकार सीधा करता है, जिस प्रकार वाण बनानेवाला वाणको ।

—भगवान् बुद्धदेव

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

'कल्याण'के सभी पाठक-पाठिकाएँ इस बातसे परिचित हैं कि प्रतिवर्ष कार्तिक पूर्णिमासे लेकर चैत्र पूर्णिमातक अर्थात् पाँच महीनेकी अवधिमें बीस करोड़ षोडश-नाम महामन्त्र—'**हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।**' के जपकी प्रार्थना की जाती है और हजारों-हजारों व्यक्ति उस प्रार्थनाके अनुसार नाम-जप करते हैं और उसकी सूचना हमें भेजते हैं। गत वर्ष अर्थात् कार्तिक पूर्णिमा सं० २०२८ से चैत्र पूर्णिमा सं० २०२९ तक जप-संख्या बीस करोड़ मन्त्र-जपके स्थानपर लगभग ६७ करोड़ हुई थी। इससे 'कल्याण'के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंकी भगवन्नाम-जपके प्रति विशेष प्रीतिका परिचय प्राप्त होता है। 'कल्याण'के अक्टूबर अङ्कमें इस वर्ष, अर्थात् कार्तिक शुक्ल १५, तदनुसार २० नवम्बर, १९७२ से चैत्र शुक्ल १५ संवत् २०३०, तदनुसार १५ अप्रैल १९७३ तककी अवधिमें षोडश-नाम महामन्त्रके २० करोड़ जपकी पुनः प्रार्थना की गयी है। हमारा विश्वास है कि पाठक-पाठिकाएँ हमारी इस विनम्र प्रार्थनापर ध्यान देकर सदाकी भाँति बड़े ही प्रेम एवं उत्साहके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करनेमें स्वयं लग गये हैं तथा प्रेरणा देकर अपने स्वजनों, बान्धवों एवं पड़ोसियों आदिको भी लगा रहे हैं। प्रतिदिन अनेकों पत्र इस प्रकारकी सूचनाके प्राप्त हो रहे हैं। हम उन सभी बन्धुओंके हृदयसे कृतज्ञ हैं। सचमुच वे बड़े भाग्यशाली हैं, जो भगवन्नाम-जप करते हैं। नाम भगवान्‌का स्वरूप है। नामका आश्रय भगवान्‌का ही आश्रय है। अतः जो भगवान्‌के नामका आश्रय ग्रहण करते हैं, उनपर भगवान्‌की विशेष कृपाकी वर्षा होती ही है।

गत वर्ष (कार्तिक पूर्णिमा सं० २०२८ से चैत्र पूर्णिमा सं० २०२९ तक) हुए भगवन्नाम-जपके सम्बन्धमें कुछ विशेष बातें ध्यानमें आयीं, जो बड़ी ही प्रेरणाप्रद हैं—

(क) भारतका शायद ही कोई प्रदेश बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। विदेशोंमें भी जप हुआ है।

(ख) बालक-युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने जपमें भाग लिया है।

(ग) षोडश-मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी लोगोंने जप किया है।

(घ) बहुत-से लोगोंने जप करनेकी सूचना दी है, संख्या नहीं लिखी।

(च) कई लोगोंने अब इस क्रमको जीवनभर निभानेका निश्चय किया है।

(छ) अधिकांश जप व्यक्तिगतरूपमें हुआ है, कुछ सामूहिक रूपमें।

इसी प्रकार गत वर्ष १००१ स्थानोंपर नाम-जप होनेकी सूचना हमारे यहाँ नोट हुई है। गाँवोंके नाम अङ्कित करनेमें पूरी सावधानी बरती गयी है, फिर भी रोमन लिपिमें नाम लिखे रहनेसे उन्हें देवनागरी लिपिमें लिखनेपर उच्चारणमें भेद हो सकता है। बहुत-से ऐसे पत्र थे, जिनमें नाम ठीकसे पढ़नेमें नहीं आये। पूरी चेष्टा रखी गयी है कि नाम ठीकसे पढ़े जायँ; पर इसमें भूल सम्भव है। कुछ पत्र डाक-विभागकी गड़बड़ीसे, कुछ हमारे कार्यालयकी लापरवाहीसे चढ़े बिना भी रह सकते हैं। जिन स्थानोंके सम्बन्धमें ऐसी भूलें हुई हों, वहाँके जप-कर्ता महानुभावोंसे हम क्षमा-याचना करते हैं। वे कृपया हमारी विवशताको ध्यानमें रखते हुए अपनी उदारतावश इसके लिये विचार नहीं करेंगे।

स्थानोंकी सूची

अंचलवाड़ी, अकबापुर, अकावी, अकोला, अख्तियारपुर, अचलजामू, अजगरा, अजनी, अजबपुरा, अजमेर, अटवा, अठेहा, अणुवासा, अदलागुड़ी, अदौनी, अधलगुरी, अनभुला, अनूपगढ़, अन्तपैठ, अभयपुर, अमनौर, अमरावती, अमसेरा, अमिलिया, अम्पोला, अम्बाला, अम्बालमेड्डू, अम्बाह, अम्बिकापुर, अयोध्यागंज बाजार, अरई, अरड़का, अरडाद, अरसारा, अरारिया, अरारी, अर्जुनपुर, अलवर, अलीगढ़, अलीराजपुर, अल्मोड़ा, अवई, अवसेरीखेड़ा, असनावर, असवार, असवारी, अस्तरंग, अहमदाबाद, अहर, अहरोला, अहारन, आँती, आगर, आगरा, आगासौद, आजमगढ़, आठगढ़, आनन्दनगर, आमू, आरा, आरिटार, आरंग, आलमपुर, आवगिलासायर, आष्टा, इचाक, इचातु, इच्छापुर, इच्छापुर नवाबगंज, इच्छेबस्ती, इटकी, इटावा, इटौंजा, इन्दरगढ़, इन्दरा, इन्दौर, इरागुड़ा, इलाहाबाद, उखुण्डा, उजानगंगोली, उज्जैन, उडीपी, उत्तरलौला, उदयपुर, उदलियास, उना, उन्नाव, उबौरा,

उमरी, उमेदाबाद, उमरानाला, उरई, उलकानामण्डी, उस्का, ऊँइना, ऊगरपुर, ऊँझा, ऋषिकेश, एकडंगा, एकमा, औरैया, औरंगाबाद, कंचिकचर्ल, कचलाना, कछार, कजियाना, कटईआ, कटका, कटनी, कठूड़बड़ा, कडैल, कदौरा, कनासिया, कन्दना, कन्नौद, कन्हौली गजपति, कपसार, कपासन, कपूरथला, कफलौड़ी, कमर्जी, कमासीन, करगहर, करगाली, करगीरोड, करसौत, कराड, करियागोपालपुर, करीमपुर, करौता, कर्नलगंज, कलकत्ता, कलियाबाजार, कलैयाबाजार, कल्हाबाद, कसबा, कसरौर, काँकरोली, काँकेर, काँधला, काँठ, कागरी, कागूपाड़ा, काटिया, काटेमानवली, काठीकुण्ड, कदरगंजपडेरा, कानपुर, कानियाँ, कान्तावंजी, कारंजा, कारकूनखेड़ली, कालपी, कालापहाड़, कालाहण्डी, कालिम्पोंग, कासोला, किछा, किराना, किराप, किल्होवा, किशनगढ़, किशुनगंज, किशोरपुर, किसवार, कुचामनसिटी, कुटासा, कुटुम्बा, कुनकुरी, कुमराज, कुरथरी, कुरुक्षेत्र, कुसुम्ही, कूंडिया, कूचबिहार, कूनौलीबाजार, कूही, कूही-कलाँ, कृपालपुर, कृष्णगढ़, केथुनीपोल, केलवेद, केलूखेड़ा-साँथा, केवाटगामा, केसठ, केसवाँ, कैथा, कोकुलपल्ली, कोटड़ी, कोटड़ी इस्तमुरार, कोटफतूही, कोटरी, कोटा, कोटाग्राम, कोटाबाग, कोण्डापुरम्, कोतर, कोयम्बतूर, कोरगवाँ, कोरनास, कोलाशी, कोलेगल, कौड़ियागंज, कौलोडिरी, खगड़िया, खड़ेर, खड्डी, खण्डवा, खण्डेलवालनगर, खरकड़ीकलाँ, खरगोन, खरसियाँ, खरियार, खरिहानी, खरोसा, खलरी, खलीलाबाद, खापा, खामडीह, खारीकलाँ, खासापट्टी, खिरिया, खीरी, खुरथुना, खेड़ली, खैजड़ा, खैरवा, खैरा, खैरी, खैरीडीह, गंगामाटी, गंगोह, गडरारोड, गढ़, गढ़पुरा, गढ़र, गढ़ी, गढ़ीपुर, गया, गरणिया, गरीफा, गलना, गवाँ, गवाखेड़ा, गाजियाबाद, गाजीपुर, गाँवड़ी, गिरिजापुरी, गिरिजास्थान, गिर्वा, गिलोला, गुड़गाँव, गुडारियाजोगा, गुना, गुरसराय, गुलबर्गा, गूडेवल्लूर, गेगापुर, गेवरा, गैसाबाद, गोंडा, गोचीतरोंदा, गोटेगाँव, गोड़ाबाँध, गोधनी, गोनौन, गोरखपुर, गोरमी, गोरा, गोरुड्डवा, गोलाघाट, गोलाधार, गोली, गोवर्धन, ग्वालियर, घाटशिला, घुघली, घुड़हर, घोड़ाडोंगरी, घोरीकित्ता, चंगड़बान्धा, चंडेसर, चंदवासा, चक, चकराता, चकवड़िया, चकेरी, चड़गांव, चतरा, चनौहता, चन्दनपुर, चन्दनभटी, चन्दवासा, चन्दा, चन्देरी, चन्देलाकलाँ, चन्दौसी, चन्द्रापुर, चन्द्रायणधरहरा, चमथा, चरखारी, चाकूर, चारवाद, चावड़िया, चिंचौली, चिकनगाँव, चिरचारीकलाँ, चिरैयाकोट, चिलरगी, चिलरा, चिल्वरिया, चौबेपुर, चौहटन, चौहटा, छछून्द, छतरपुर, छपरा, छम्बीगढ़, छापड़ा, छिन्दवाड़ा, छीपाबड़ोद, छेरकापुर, छोटीखाटू, जंगीपुर, जगतपुर, जगदलपुर, जगदीशपुर, जनकपुर, जबलपुर, जमशेदपुर, जमुनिया, जमोलियागणेश, जम्मू, जम्मूतवी, जयनगर, जयपुर, जयरामपुर, जरीडीह, जरुआडीह, जरोड़, जलगाँव, जलालबसन्त, जलालाबाद, जलचार, जलौली, जसपुरा, जसेला, जहाँगीराबाद, जहादपुर, जाबड़ी, जामटी, जामागुडीहार, जारगीम, जालन्धर, जालापुर, जालसू, जावद, जास्का, जिन्दौरा, जीतपुर, जींद, जीराबाद, जीलूण्डा, जुरहरा, जूना-जालना, जैकोट, जैतूखाड़, जोधपुर, जोधपुरा, जोरावरडीह, जोल्हूपुर, जोशीमठ, जौडियाँ, जौनपुर, जौराना, झरिया, झरियापाली, झाँसी, झारखण्डधाम, झारसूगुड़ा, झालावाड़, झुमरीतिलैया, झुमियाँवाली, झुलाघाट, टकेटार, टानडा, टिमरनी, टूटोली, ठिकहाँ, डाडी, डालमियानगर, डाल्टनगंज, डिबाई, डीडवाना, डीहा, डुमरा, डुमरियाखुर्द, डुमरी, डेहरी, डोइला, डोलवी, डोंबिवली, ढांगल, ढाढाकलाँ, ढेहर, तपामण्डी, तरीफल, तरेंगा, तवेरा, तसुपा, ताजपुर, ताली, तिदवारी, तिरको, तिरोड़ा, तिलकपुर, तिवरखेड़, तीरमऊ, तुमसर, तेजपुर, तेजम, तेरौद, तेल्हारा, तेवरा, तृप्पुणित्तुर, त्रिवेणीथुरा, थाणा, दड़िमा कचहरी, दबायाना, दरभंगा, दरियाबाद, दरियाडीह, दरीबा, दाउदनगर, दाउदपुर, दातारपुर, दानापुर, दारी, दिगांव, दिल्ली, दुधई, दुर्ग, देवगढ़, देवठी, देवत, देवपेठ, देवबंद, देवबहार, देवल, देवास, देहरादून, दोन, दोस्तपुर, द्वारहाट, धंध, धनकुड़िया, धनगाँवा, धनबाद, धनोरा, धनौला, धरणगाँव, धरमपुर, धर्मशाला, धवली, धामपुर, धामणगाँव, धारवाड़, धीरर्वी, धुंधुका, धुरगड़गी, धूमा, धोरीकित्ता, धौरपुर, नकौड़ा, नघोड़ा, नदियामी, नमाना, नयागाँव, नयानगर, नरगोड़ा, नरमण्ड, नरवर, नरवारा, नरौरा, नर्वल, नवसारी, नवाँशहर, नवापारा, नागपुर, नागौर, नादगावपेठ, नाभा, नारदीगंज, नारायणपुर, नारायणराठ, नासिक, निगोही, नित्थर, निपनियाँ, निभौन, निरसाचट्टी, निर्मली, निवाली, नीमका थाना, नैकाछपरा, नैड़ी, नैमिषारण्य, नौजरपुर, नौली, पंचगछिया, पंचाकोट, पंडीपुरा, पकड़ीवसन्तपुर, पकरहट, पचखरा, पचमाधव, पचलखी, पचैण्डाकलाँ, पचोरा, पछाड़, पटना, पटनागढ़, पटैलपाली, पटोंदी, पट्टीकल्याण, पताही, पत्थरघट्टा, पदुमतरा, परतेवा, परसदा, परसावाँ, परसिया, परसीपुर पतौना, परेव, पहाड़ी, पाँचकोटराज, पाटन, पाड़ीव, पाण्डुनगर, पाण्डेगांव, पानीपत, पाबूसर, पायल, पारौनी, पालगंज, पालमपुर, पाली, पावटी, पिथनी, पिथौरागढ़, पिपरा वगाही, पिपराही,

पिपरौली, पिपलगाँवदेवी, पिपलानी, पिहानी, पीनना, पीवरी गहरवार, पीपलरावा पीपला, पीपाड़रोड, पुकारी, पुनासा, पुरहदा, पुरहिया, पुवायाँ, पुसौली, पूँछ, पूना, पूरेगोकुलसिंह, पूलीयुर, पेण्डरा, पेसम, पैकपार, पैंची, पैरारशाहपुर, पोड़ी, पोखरैडा, पोरबन्दर, पौलहा, प्रतापगंज, प्रतापगढ़, फगवाड़ा, फतेहपुर, फफाडीह, फरसवामी, फरहदा, फरियादपुर, फरीदनगर, फरीदाबाद, फलियावासद, फागी, फारबीसगंज, फिंगेश्वर, फिरोजपुर झिरका, फिल्लौर, फेरूसा, फैजपुर, फैजाबाद, बगड़िया, बगासपुर, बटवाड़ी, बड़कलाँ, बड़गाँव, बड़वानी, बड़हरी, बड़ाहापजान, बड़ीपोलाय, बढ़याचौक, बतरा, बनकट्टी, बमकोओी, बमराड़ी, बम्बई, बरगढ़, बरतेज, बरीका नगला, बरदाला, बरारीपुरा, बरेड़ी, बरेली, बरूधन, बलिया, बहराइच, बाँवल, बाँसगाँव, बाँसबरेली, बारापाल, बारू, बालापुर, बालोदर, बालन, बिजवार, बिरमित्रापुर, बिराटनगर, बिसरा, बिसेनगाँव, बिस्वाँब्रिज, बीकानेर, बीकौरी, बीड़मण्डी, बुढ़नतुरा, बुरला, बेगमगंज, बेतूल, बेलगाम, बेल्हुकरी, बेलोकलाँ, बेहटा, बैदवली, बौड़ा, ब्रह्मावली, भच्छी, भटवाड़ी, भटिण्डा, भट्टपुरा, भण्डारा, भद्रपुरा, भरथौली, भवदेवपुर, भाऊगढ़, भागौट, भानपुर, भावनगर, भीमडावास, भुचौमण्डी, भुत्ता, भुवनेश्वर, भुसावल, भूपतपुर, भूरेवाहा, भैरोपुर, भोकरदन, भोजपुर, भोपाल, मंगलबन्दी, मऊ, मऊगंज, मकोड़ी, मच्छरगावाँबाजार, मझरिया, मणिका, मण्डल, मथुरा, मद्रास, मधवापुर, मनकडीहा, मनफरा, मनसंघा, मनीमाजरा, मनेन्द्रगढ़, मनोहरपुर, मन्नौढ़, मरखूपुर, मरदह, मरुई, मलणगाँव, मवई, मवड़ा, मशोवरा, मसौढ़ी, महनार, महमूदपुर, महसों, महाराजपुर, महुतरीवीर्ता, महोबा, महोली, माँट, माँडल, माउर, माटीगारा, मातौल, मानपुरनगरिया, मानवत, माना, मायना, मालौनी, मिदनापुर, मियाँगाम, मियाँगंज, मियाँपुर, मिरौलिया, मीरगंज, मुंगेली, मुकन पाबूसर, मुगलसराय, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुड़केला, मुदखेड़कर, मुधोल, मुरादपुर, मुरादाबाद, मुरैना, मुरौली, मुल्लापुर, मुहम्मदपुर खाला, मेंहदावल, मेथौल, मेरठ, मेहसी, मोदीनगर, मोवाड़, म्योरपुर, म्हसावद, यवतमाल, यादवगढ़, येवले, रजऊ परसपुर, रजवास, रजौधा, रतनखेड़ी, रमना, रमनीकपुर, रमुना, रसूलाबाद, रहावली उवारी, रांगामाटी, रांची, रांटी, राउरकेला, राजकोट, राजाका ताजपुर, राजविराज, राधाउर, रानीखेत, रानीबाग, रानीपुर, रामगढ़, रामतीर्थ, रामपिपरिया, रामपुरफुल, रामपुर भटौली, रामपुरा, रामेश्वरम्, रायचूर, रायपुर, रार, रारी, रावतगीव, रासरसिकपुर, राहे, रिठद, रीगस, रुद्रनगर, रेवा, रेवदर, रोहतक, रोहिणी, रोहिनियाँ, लक्ष्मणगढ़, लक्ष्मीपुर, लत्ता, ललितपुर, ललेगाँव, लश्कर, लस्करी, लहुआकलाँ, लाखनमाजरा, लाटवसेपुर, लाठगाँव, लाड्वा, लावरिया, लावर, लालगढ़, लालपुर, लासलगाँव, लीलापट्टी बनकटिया, लुधियाना, लूम्ब, लोकनगर, लोणावला, लोधनहार, लोहानीपुर, लोहार्दा, लौकहाँ, लौरिया, वंटभूरी, वगही, वनगँवा, वम्हनी, वरदाला, वरवेज, वरियारपुर, वरौंधा, वसन्तपुर, वहबोलिया, वाँवरुड़, वारा, वाराणसी, विजयपुर, विलवी, विष्णुगढ़, विष्णुपुरवृत्त, विसावाँ, वीणा अन्दौली, वृन्दावन, वैजापुर, वैसाडीह, वोकला, वोड़ा, शकूरबस्ती, शकूराबाद, शमशेरनगर, शरफुद्दीनपुर, शल्ल, शामगढ़, शाहगंज, शिउरा, शिकारपुर, शिमला, शिरउशहापुर, शिरपुर, शिवगंज, शिवपुरी, शिवली, शिवाडीह, शिलांग, शुजालपुर, शेरघाटी, शेखूबाजार, शैलग्राम, श्रीगंगानगर, श्रीनिवासधाम, श्रीपुर, श्रीमाधोपुर, श्रीरामपुर, संगमनेर, संगरूर, संगरेड्डी, संपखण्ड, सखिनेटिपल्ली, सज्जनपुरा, सठियाँव, सतारी, सनावड़ा, सबलपुर, सबौर, समराया, समस्तीपुर, सरकण्डा, सरखों, सरगाँव, सरदारनगर, सरधापाठ, सरबाधाम, सरायस्वामी, सरिया, सरैयाहाट, सलकिया, सवैयामीरा, ससुआ, ससून्द्रा, सहजपुर, सहरसा, सहारनपुर, साँगली, साँची, साकोल, सागर, सात्धार, सातोजोगा, सादाबाद, साबरमती, सायर, सालँगीर, सास्तूर, साहीवाड़ा, सिंधिताही, सिधासा, सिकन्द्राबाद, सिध्वापुर, सिमडेगा, सिमथरी, सिमगेल, सिरलेकर, सिलदहा, सिलयारी, सिलहटा, सिवनी, सिवनी मालवा, सिसवाबाजार, सिहदापुर, सिहोरा, सींथल, सीका, सीगौन, सीतापुर, सीतामऊ, सीतारामपुर, सीवड़ी, सीवनाला, सीसवाली, सुकेत, सुजानपुर, सुठालिया, सुभाषनगर, सुल्तानगंज, सुल्तानपुर, सूरजपुर, सूरत, सूलिया, सेजपुरिया, सेंधवा, सेमली, सेमरोल, सेरौ, सेवास, सैदापुर, सैसड़, सोंसरी, सोनखेड़, सोनगरा, सोनारी, सोनीपत, सोमना, सोरखाड़कलाँ, सोलर्डिंग, सोहागी, स्वामीपुरा, हंटरगंज, हजारीबाग, हटनी, हटा, हतनूर, हत्था, हनुमानगढ़, हफीजाबाद, हरकेसा, हरदोई, हरिद्वार, हलैना, हसनपुर, हाँफा, हाजीपुर, हातनूर, हावड़ा, हावी मौआड़, हिंगुतरगढ़, हिण्डोरिया, हिनोराली, हिलोधा, हिलौली, हिवरा कोरड़े, हिसार, हैदरगढ़, हैदराबाद, हुक्केरी, हुजूराबाद, हुबली, होनावर, होशंगाबाद, होशियारपुर, होसपेट ।

दान

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

दान मनुष्यमें आत्माके जागरणकी पहली सीढ़ी है। लेना और ग्रहण करना मानवका स्वभाव है। वह माता-पितासे लेता है, मित्रोंसे लेता है, समाजसे लेता है, देश और विश्वसे लेता है और अपने चतुर्दिक् फैले निसर्ग-विस्तारसे लेता है। बिना लिये मनुष्य जी नहीं सकता। हम जिसमें साँस लेते हैं, वह हमारे चतुर्दिक् फैला वायुमण्डल, हम जिस धरतीपर चलते हैं, वह सर्वसहा पृथिवी, यह अमृत-सा जल, यह फल-फूल और अन्नका विस्तृत भंडार—सबसे हम लेते-ही-लेते हैं। यह लेना ही हमारा जीवन है। यह प्रक्रिया हमारे जन्मसे आरम्भ होती और देहावसानतक बराबर चलती रहती है।

जब लेना मनुष्यका स्वभाव है, तब देना या दान उसका संस्कार है। ज्यों-ज्यों उसमें प्रज्ञाका, विवेकका विकास होता है, त्यों-त्यों वह समझता है कि दिये बिना वह अपूर्ण है। ज्यों-ज्यों वह विकसित होता है, लेनेके साथ ही देना भी उसका स्वभाव बनता जाता है। जो जितना ही बड़ा होता है, वह उतना ही देता है; जो जितना ही देता है, वह उतना ही बड़ा होता है। जैसे मानवका ग्रहण मृत्युके पूर्व समाप्त नहीं होता, वैसे ही उसका दान भी कभी समाप्त नहीं होना चाहिये।

दान भी दो प्रकारका होता है—१. अनिच्छुक या स्वभाव-विवश और २. विवेक-सम्मत एवं संकल्प-पूर्वक। हम पढ़ाईका शुल्क देते हैं, हम रेलका किराया देते हैं, हम विविध प्रकारके कर या अधिभार देते हैं। ये सब समाजसे मिलनेवाले लाभ या ग्रहणका बदला है। परंतु उसे देनेके लिये हम विवश हैं। जो कुछ हम समाजसे ग्रहण करते हैं, उसके बदले हमें उसे नियम-विवश कुछ देना पड़ता है। परंतु यह दान अनिच्छुक या विवश दान है। इसमें देनेकी भावना नहीं है। यह एक प्रकारका बदला है; सौदा है। हमें इलाहाबाद-से वाराणसी जाना है। इसके लिये हम रेल, बस या टैक्सीका सहारा लेते हैं। इस सहारेके बदले उन्हें उनका किराया तो देना ही है। एक प्रकारसे यह परस्पर ग्रहणका विनिमय है। एकके ग्रहणमें ही दूसरे-का दान है। किसीने हमारा एक काम कर दिया, हमने बदलेमें उसे कुछ दिया—यह भी दान ही है; परंतु यह विवश तथा निम्नस्तरका दान है—यहाँतक कि यह दान नहीं, एक प्रकारका व्यवसाय है।

वास्तविक दानमें, जिसे दिया जाता है, उससे लाभ उठाने अर्थात् प्रकारान्तरसे ग्रहण करनेका भाव नहीं होता। हमारे पास है और जो हमारे पास है, उसका दूसरेके लिये उपयोग है, उसे उसकी आवश्यकता है—बस, इतना ही विचार इसमें होता है। एक धनवान् सज्जनको मैं जानता हूँ। उन्हें ज्ञात हुआ कि अमुक व्यक्ति बीमार हैं, उनके पास इलाजके लिये पैसे नहीं हैं। काफी द्रव्य हो, तभी उनके प्राण बचाये जा सकते हैं। उस आदमीने कभी उनका कोई काम नहीं किया था, कभी उनको किसी तरहका लाभ नहीं पहुँचाया था, न कोई सेवा की थी। भविष्यमें भी उनसे कोई सेवा हो सकेगी, इसकी सम्भावना नहीं थी। दोनों किसी स्तरपर भी समान नहीं थे। किंतु ज्ञात होते ही उन्होंने रुग्ण व्यक्तिके लिये रुपयोंका प्रबन्ध कर दिया। बीच-बीचमें उनके विषयमें पूछते-जाँचते रहे—'वे अच्छे तो हो रहे हैं, कबतक अस्पतालसे छूटकर सामान्य-जीवनके योग्य होंगे ?' इस दानकी महत्ता यह भी थी कि देकर उनमें देनेका किंचित् भी अहंकार

नहीं हुआ; कृतज्ञता-प्रकाश करनेपर उन्हें संकोच होता था। उनके मनमें भाव यही था कि मेरे पास जो धन था, इस कार्यसे वह सफल हो गया; क्योंकि दूसरेकी प्राण-रक्षामें उसका सदुपयोग हुआ।

मेरे एक और परिचित सज्जन हैं। स्थिति सामान्य है। एक समयकी बात है कि वे बड़े कष्टमें थे। आयके सम्पूर्ण स्रोत बंद हो गये थे। रोटी भी मुश्किलसे चलती थी। स्वयं ही परीशान थे। उन्हें ज्ञात हुआ कि पड़ोसीकी हालत बहुत बिगड़ गयी है। जहाँ पाँच-पाँच हजार गाड़ियाँ चलती थीं, वहाँ हालत यह हो गयी कि कभी भोजन बनता है, कभी नहीं। पाँच हजार रुपये मिल जानेपर उनका काम फिरसे चलनेकी सम्भावना थी। कई दिनोंतक सोचते रहे; समझमें नहीं आता था कि कैसे करें, कैसे पड़ोसीका दुःख दूर हो। अन्तमें उन्होंने अपने रहनेका एकमात्र मकान गिरवी रखकर पाँच हजार रुपये लिये और बड़े विनीतभावसे ले जाकर पड़ोसीको दे दिये। उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे। यह भी एक दान है। अपनेको खतरेमें डालकर भी दूसरोंका दुःख दूर हो, इस भावनासे प्रेरित दान!

पिछले जून मासकी बात है। मैं बम्बईके चर्चगेटमें एक मित्रसे मिलने, तेजीके साथ, चला जा रहा था। चारों ओर बड़े-बड़े भवन और अट्टालिकाएँ, वातानुकूलित कार्यालय, वर्दी पहने चपरासी! एक सड़ककी मोड़से निकली गली। उसमें पटरीपर पड़ा एक लगभग चौदह-पंद्रह वर्ष उम्रका लड़का। वह चीखता है, पर ठीक तरहसे चीख भी नहीं पाता। मालूम हुआ कि छः दिनोंसे उसके पेटमें अन्नका एक दाना नहीं गया है। पेट पीठसे मिल गया है। उसकी विकलता इस वैभवशालिनी नगरीपर एक क्रूर उपहास-सी लगती है। मोटरें फर्रसे निकल जाती हैं। उनका ताँता लगा है। इस तरह कि सड़कको पार करना मुश्किल है। उस वातावरणके वैषम्यके कारण मैं खड़ा हो जाता हूँ। जेब टटोलता हूँ और चन्द पैसे उसके पास रख देता हूँ। वहाँसे आगे बढ़नेकी सोच ही रहा हूँ कि एक भिखारी वहाँ आता है। उसके कपड़े तार-तार हो रहे हैं। पाँवमें फटा जूता है—इतना फटा कि मानो अभी साथ छोड़ देगा। एक बीड़ी सुलगा रखी है। वह आता है, ठहरता है, कुछ देरतक लड़केको देखता रहता है, फिर खिलखिलाकर अर्धविक्षिप्तकी भाँति हँसता है और यह कहकर कि 'ले, तू ही ले, आज', दिनभरकी जोड़ी सारी कमाई उसके पास रख देता है। पर लड़का फिर भी बोल नहीं पाता, उठ नहीं पाता। उसकी असमर्थता अनुभवकर वह फिरसे पैसे उठा लेता है और सामने सड़कके उस पार फुटपाथकी एक दूकानसे चाय, समोसे और कुछ भजिये लाकर उसके पास रख देता है—'ले, खा!' हाथसे उठाकर उसे बैठा देता है। लड़का खाना शुरू करता है और वह हँसता हुआ चला जाता है।

मैं वहीं गड़ गया हूँ। शर्मसे गड़ गया हूँ। यह कैसा दान है! हमारी मानवताके अहंकारको चूर-चूर कर देनेवाला, हमारी शिक्षा और संस्कारोंको चुनौती देनेवाला। दिनभरका माँगा एक-एक पैसा, स्वयं भूखे रहकर दूसरे अधिक भूखेको दे देनेकी यह उदारता और उससे भी अधिक उस उदारताकी सहजता देखकर मैं दंग रह गया। छोटा आदमी, परंतु कितना महान्!

बचपनमें महाभारतकालकी एक कथा सुनी थी। वह मुझे कभी नहीं भूलती। महाराज युधिष्ठिरका बहुप्रशंसित अश्वमेध यज्ञ प्रायः समाप्त हो रहा था। उनके सत्य और क्षमताकी धाक दूर-दूर देशोंपर छा रही थी। उनका यश चतुर्दिक् व्याप्त हो रहा था। उसी समयकी बात है। कुछ ब्राह्मण और यज्ञ करानेवाले एक स्थानपर बैठे उनके उस अश्वमेध यज्ञकी प्रशंसा कर रहे

थे। उनका मत था कि ऐसा यज्ञ और ऐसा दान न पृथ्वीपर कभी हुआ, न होगा।

इसी समय वहाँ, कहींसे चलकर, एक नेवला आ गया। यह एक विचित्र नेवला था। उसकी आँखें नीली थीं और उसके शरीरके एक ओरका भाग सोनेका था। वहाँ पहुँचते ही उसने वज्र-तुल्य भयंकर गर्जना की, जिससे समस्त मृग-पक्षीगण भयभीत हो गये। इसके बाद वह मनुष्य-की भाषामें कहने लगा—'राजाओ! तुम्हारा यह यज्ञ कुरुक्षेत्र-वासी एक उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मणके दिये हुए सेरभर सत्तूके तुल्य भी नहीं है।' इसपर सभी ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी आश्चर्यमें पड़ गये। ब्राह्मणगण उसे घेरकर खड़े हो गये तथा पूछने लगे—'तुम कौन हो और यहाँ कैसे पहुँच गये, जो इस यज्ञकी निन्दा कर रहे हो?'

नकुलने कहा—'ब्राह्मणो! मैंने जो कुछ कहा है, सच है; आपलोग धैर्यसे सुनें। कुछ दिन पहले कुरुक्षेत्रमें एक ब्राह्मण रहते थे। उनके परिवारमें स्त्री, पुत्र और पुत्रवधूके सहित चार व्यक्ति थे। वे अनाज काट लेनेके बाद खेतोंसे दाने चुनकर उञ्छवृत्तिसे सपरिवार अपने जीवनका निर्वाह करते थे। उनका प्रति तीन दिन बाद ही सपरिवार भोजनका नियम था। एक बार वहाँ बड़ा भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। इसमें कई तीन दिन निकल जानेपर भी उन्हें अन्न प्राप्त न हुआ। अन्तमें किसी दिन उन्हें एक सेर जौ मिला, जिससे उन्होंने सत्तू तैयार किया। फिर उससे अग्निहोत्र कर एक-एक पाव बाँटकर खानेके लिये उद्यत हुए। इसी बीच वहाँ एक ब्राह्मण अतिथि आ गया। तब विधिपूर्वक पाद्य-अर्घ्य आदिसे उसकी पूजा करके ब्राह्मणने उसे एक पाव सत्तू भोजनके लिये दिया। पर अतिथि उससे तृप्त न हुआ और क्रमशः वह सबके भागका सत्तू भोजन कर गया। वास्तवमें धर्म ही उस ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें उपस्थित थे। वे प्रवचनमें अत्यन्त कुशल थे, अतः प्रसन्न होकर उन्होंने ब्राह्मणसे कहा कि 'द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारे इस श्रेष्ठ दानसे मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। देखो, आकाशसे भूतलपर यह पुष्पोंकी वर्षा हो रही है और देवगण आपके दानसे विस्मित हो उसकी स्तुति कर रहे हैं। तुम्हारे समस्त पितृगण तर गये। अनेक युगोंतक आगे होनेवाली संतानें भी तुम्हारे इस पुण्यके प्रतापसे तर जायँगी। अब तुम सभी अपने धर्मके प्रभावसे सशरीर स्वर्गमें चलो। क्लेशमें भी जो मनुष्यमें दानविषयक रुचि जाग्रत् होती है, उससे उसका धर्म बढ़ता है। विशेष समय, पात्र एवं श्रद्धाके संयोगसे तो उसका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है। स्वर्गका द्वार अत्यन्त सूक्ष्म है, पर मोहाच्छन्न मनुष्य उसे देख नहीं पाता। महाराज रन्तिदेव शुद्ध हृदयसे केवल जलके दानसे ही स्वर्ग चले गये थे। पर अन्यायोपार्जित धनके दानका कोई अर्थ नहीं है। इसीलिये नृगको नरकमें जाना पड़ा। तुम्हारे दानकी तुलना अनेक यज्ञोंसे भी सम्भव नहीं, अतः तुम नीरज पद ब्रह्मलोकको जाओ। यह दिव्य विमान तुम्हारे सामने उपस्थित है। मेरी ओर देखो, मैं साक्षात् धर्म हूँ। तुम सभी सानन्द इस विमानपर चढ़ो।'

इस तरह उन सभीके सशरीर स्वर्ग जानेपर मैं जब बिलसे निकला और उन शक्तुकणोंके स्पर्श एवं घ्राणसे, जल-कीचड़के सम्पर्कसे और स्वर्गसे गिरे हुए दिव्य पुष्पोंके रौंदनेसे मेरा सिर एवं पार्श्व स्वर्णिम हो गया। तबसे मैं अनेक यज्ञोंमें घूमा, फिर यहाँ आया, पर मेरा शेष शरीर सोनेका न हुआ। अतः यह यज्ञ उस सेरभर सत्तूके दानके तुल्य नहीं है।

इस कथासे स्पष्ट हो जाता है कि दान और त्यागके परिमाणका उतना महत्त्व नहीं है; जिस वृत्तिसे दान दिया गया है, उसीका विशेष महत्त्व है। यदि दानके पीछे यशकी लिप्सा है या अहंभाव है तो वह दान दान होकर भी उच्चकोटिका नहीं हो सकता। दान देनेका गर्व, यहाँतक कि भाव भी न हो तो वह महान् दान है। यह अनुभूति कि 'सब कुछ प्रभुका है, मेरा अपना कुछ नहीं है', दानको सात्त्विक बनाती है। सब कुछ उन्हींका है, उन्हींकी सत्प्रेरणासे यह कार्य हो रहा है, इसलिये उन्हींकी कृपासे यह पुण्य कार्य हुआ और मैं धन्य हुआ, मेरा धन-धान्य या पौरुष सफल हुआ—यही भावना दानमें होनी चाहिये।

जो ईश्वरवादी या आत्मवादी नहीं हैं, उनके विचारसे भी हमारे पास जो कुछ है, सब समाजका

है। हमने जो पाया है, उसे आवश्यकता होते ही समाजको लौटानेमें तत्पर रहना इष्ट है। जहाँ देनेमें देनेका अहंकार नहीं है, अपितु आनन्द है, धनकी या दी हुई वस्तुकी सार्थकता वहीं है। दान मानव-संस्कार-की एक कसौटी है; यह इङ्गित करता है कि हममें आत्मैक्यकी, विश्व एवं समाजसे अभिन्नताकी भावनाका विकास कहाँतक हुआ है।

सभी उत्तम संस्कारोंकी तरह दानका संस्कार भी आज समाप्तप्राय हो चला है। पहलेके धनिक और आजके धनिकमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि पहलेका धनिक समाजसे अर्जन करता था तो अपने संचयको लुटाता और लौटाता भी था और सत्कार्योंमें उसका उपयोग करता था—शत-शत मन्दिर, धर्मशालाएँ, कुएँ, तालाब, नदियोंके घाट, मार्ग, विद्यालय, छात्रावास, अन्नक्षेत्र इसके प्रमाण हैं। आजका धनिक भी लौटाता है, परंतु अधिकतर प्रचार एवं विज्ञापनके माध्यमसे। दान-का स्तर भी आज गिरता जा रहा है।

'संशय-सर्प-ग्रसन उरगादः'

(लेखक—श्रीचन्द्रशेखरसिंहजी)

तुलसीने 'रामचरितमानस'में 'संशय'को विहग, तिमिर और सर्प कहा है। किसान खेतमें बीज बोता है। विहग उन्हें चुग जाना चाहते हैं। फसल पक जाती है, बालियाँ लटक जाती हैं। विभिन्न प्रकारके पक्षी उनपर टूट पड़ते हैं और एक-एक दानेको लूट ले जाना चाहते हैं। चतुर किसान तालियाँ बजा-बजाकर विहगोंको उड़ाता रहता है, ताकि बीजकी रक्षा हो, पकी फसलकी रक्षा हो। मानव-मनमें भी भक्ति-भावके सत्य बीज भरे पड़े हैं। संशयके विहग उन्हें चुग जाना चाहते हैं। तुलसी एक चतुर किसानकी युक्ति बतलाते हैं—

'राम कथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनि हारी॥'
(मानस १ । ११३ । $\frac{1}{2}$)

तिमिरमें सब कुछ छिप जाता है। दिनके प्रकाशमें जिन वस्तुओंको हम सहज ही देख पाते हैं, रात्रिके अन्धकारमें वे विलुप्त हो जाते हैं। दूर खड़ी रति भी राक्षसी लग सकती है। जब भक्तके हृदयको संशयका तिमिर आ घेरता है, तब भगवान्‌की प्राप्ति दुर्घट होने लगती है। किंतु भगवान् भक्तवत्सल हैं। वे अपना तेज प्रकट करते हैं। फलतः संशयका तिमिर फट जाता है। आत्मा आनन्दसे नाच उठती है। तुलसी कहते हैं—

'सुरपति संसय तिमिर सम, रघुपति तेज दिनेस।'

संशयके सर्प मोहान्धकारमें निर्द्वन्द्व होकर विचरण करते हैं। तर्क इनकी फुफकार है। यही संशयकी पुष्टि करता है। संशय और तर्कके अनुपातमें मनकी उद्विग्नता बढ़ती जाती है। विषादसे हृदय दहक उठता है। भक्तकी यह दारुण पीड़ा भगवान्‌से देखी नहीं जाती। वे गरुडरूपमें आते हैं और संशयके सर्पोंका आहार करते हैं। तर्कजनित विषाद शान्त हो जाता है। सुतीक्ष्ण मुनि रामकी वन्दना करते हुए कहते हैं—

'संशय सर्प ग्रसन उरगादः। शमन सुकर्कश तर्क बिषादः॥'
(मानस ३ । १० । $4\frac{1}{2}$)

इस संशय-सर्पने काकभुशुण्डिको एक बार बुरी तरह ग्रसा था। वे बड़े अधीर होकर गरुडको आप-बीती सुनाते हैं—

संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआयउ जन सुखदायक॥
(मानस ७ । ९२ । ३-$3\frac{1}{2}$)

संशयके सर्पने रामचरितमानसके विभिन्न पात्रोंको समय-समयपर ग्रसा है और उसका विष उन्हें बड़े वेगसे चढ़ा है। लगता है, अब प्रलय होकर रहेगा; जो कुछ सत् है, असत् हो जायगा। किंतु विषहर रामके सामने आते ही सारा जहर उतर जाता है। सती, सीताकी माता, परशुराम, मन्थरा, कैकेयी, दशरथ, केवट, लक्ष्मण, सीता, सुग्रीव, विभीषण, गरुड, काकभुशुण्डि आदि अनेकों संशय-सर्पसे ग्रसित हैं। राम सबका विष उतारते हैं।

बालकाण्डके शिव-पार्वती-संवादमें सतीके हृदयमें रामके प्रति संदेह उपजता है। शिव दण्डकारण्यमें विचरण कर रहे विरही रामको देखते हैं और जयकार मनाते हैं। वे राम-छवि देखकर मग्न हो रहे हैं; प्रीति रोके नहीं रुकती। सतीको संदेह होता है—

'सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी॥'
(मानस १ । ४९ । २½)

रामके ब्रह्मत्वपर विश्वास नहीं होता।

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥
(मानस १ । ५०)

सतीकी दृष्टिमें शंकर स्वयं ब्रह्मरूप हैं। अन्तर्यामी शिव सतीके हृदयमें उठ रहे तर्क-वितर्कको जान रहे हैं। वे उन्हें सचेत करते हैं—

'संसय अस न धरिअ उर काऊ।'
(मानस १ । ५० । ३)

किंतु उनके उपदेशका सतीपर कोई असर नहीं होता। वे हरिमायाकी प्रबलतापर हँसते-हँसते सतीको छूट दे देते हैं—

'जौं तुम्हरें मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥'
(मानस १ । ५१ । ½)

सती संशयका अहेर करने चल देती हैं। शिव चिन्तामें पड़ जाते हैं—

'मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥'
(मानस १ । ५१ । ३)

सती सीताका कपट-वेष धारण करती हैं; लेकिन सर्वज्ञ रामके सामने जाते ही पहचान ली जाती हैं। राम अपना परिचय देते हुए उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। फिर—

'कहेउ बहोरि कहाँ बृषकेतू। बिपिन अकेलि फिरहु केहि हेतू॥'
(मानस १ । ५२ । ४)

वृषकेतुके अभावमें अकेली फिरनेकी बात सतीको खल जाती है। वे लज्जासे गड़ जाती हैं। इस संदेहका सतीको बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है; उन्हें पार्वतीका दूसरा जन्म लेना पड़ता है, तब कहीं उन्हें पुनः शिवकी प्राप्ति होती है। उत्तरकाण्डमें पार्वतीकी स्वीकारोक्ति है—

'नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा॥'
(मानस ७ । १२८ । ४)

याज्ञवल्क्य शिव-पार्वती-संवादकी महत्ता बतलाते हैं—

'भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥'
(मानस ७ । १२९ । १)

विश्वामित्र राजा दशरथसे याचना करने आते हैं—

'अनुज समेत देहु रघुनाथा।' (मानस १ । २०६ । ५)

दशरथका हृदय काँप उठता है। मुखड़ेकी कान्ति कुम्हलाती है। यों तो सभी पुत्र उन्हें प्राणप्रिय हैं, किंतु रामको देना तो उनके लिये किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। एक ओर परम सुकुमार बालक और दूसरी ओर अत्यन्त घोर कठोर राक्षस हैं। राजाकी वाणी सुनकर विश्वामित्र विमुग्ध हैं। तब वसिष्ठ मुनि रामके अवतारत्व और विश्वामित्रके तपका प्रभाव स्पष्ट करते हैं। राजाका संदेह मिटता है—

'नृप संदेह नास कहँ पावा॥' (मानस १ । २०७ । ४)

धनुर्भङ्गके समय सीताकी माता संशयमें पड़ जाती है—

'बाल मराल कि मंदर लेहीं।' (मानस १ । २५५ । २)

किंतु एक चतुर सखी तेजवन्तोंका उदाहरण प्रस्तुत कर उन्हें संतुष्ट करती है। अगस्त्य समुद्रको सोख जाते हैं, सूर्य तीनों लोकोंको प्रकाशित करता है; ओंकारमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश—तीनों हैं, छोटा अङ्कुश मतवाले हाथीको वशमें कर लेता है, कामदेव कुसुम-सायकसे संसारको वशमें किये रहता है। अतः 'बाल मराल'के मन्दरको उठा लेनेमें रञ्चकमात्र भी संदेह नहीं है—

'देबि तजिअ संसउ अस जानी। भंजब धनुषु राम सुनु रानी॥'
(मानस १ । २५६ । १)

रामके अवतारत्वपर परशुरामको अभी संदेह है। कूद-फाँद कर लेनेके बाद वे रामसे कहते हैं—

'राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥'
(मानस १ । २८३ । ३½)

धनुष लिये जाते समय स्वयं चढ़ जाता है। परशुराम विस्मयसे भर जाते हैं। अब 'बिनय सील करुना गुन सागर।' (मानस १ । २८४ । १½) को पहचानते देर नहीं लगती।

अयोध्याकाण्डकी मन्थरा, कैकेयी और दशरथके त्रिकोणमें फँसा संदेहोंका जाल हम देखते हैं। कण्ठमें भीलनी-गीत लिये मन्थरा मृगी-कैकेयीसे कहती है कि प्रपञ्च रचकर रामके राज्यतिलकका लग्न रखा गया है—

'रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई। राम तिलक हित लगन धराई॥'
(मानस २। १७। ३)

भरतको जान-बूझकर ननिहाल भेज दिया गया है—

'पठए भरतु भूप ननिअउरें। राम मातु मत जानब रउरें॥'
(मानस २। १७। १)

संदेहकी पूरी गुंजाइश है। पंद्रह दिनसे राज्य-तिलककी तैयारी हो रही है और कैकेयीको कुछ पता भी नहीं। राजामें यदि कपट न होता तो वे इसे कैकेयीसे छिपाते क्यों?—

'भयउ पाखु दिन सजत समाजू। तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू॥'
(मानस २। १८। १½)

दशरथ इसे स्वीकार करते हैं—

राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राम मातु कछु कहेउ न काऊ॥
मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूँछें। तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें॥
(मानस २। ३१। १)

मन्थराकी बातसे कैकेयीको अपने दुःस्वप्नपर विश्वास होने लगता है—

'दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने॥'
(मानस २। १९। ३½)

मन्थराकी दृष्टिमें इस दारुण स्थितिसे उबरनेका एक ही रास्ता है—

'दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती॥'
(मानस २। २१। २½)

वरदान माँगते समय जल्दबाजी नहीं करनी है। कौन ठिकाना, राजा दशरथ पलट जायँ। अतः—

'भूपति राम सपथ जब करई। तब मागेहु जेहिं बचनु न टरई॥'
(मानस २। २१। ३½)

कैकेयी मन्थरासे प्रबोध लेकर कोपभवनमें चली जाती है। कामविद्ध दशरथ वहाँ पहुँचते हैं। लेकिन सुलोचना, चन्द्रमुखी, पिकवचनी, गजगामिनी, सुन्दरजघना कैकेयी कुछ सुनती ही नहीं। दशरथ जब रामकी शपथ खाते हैं, तब कैकेयी हँसकर दो वरदान माँगती है—

'देहु एक बर भरतहि टीका।' (मानस २। २८। ½)

और दूसरा—

'चौदह बरिस रामु बन बासी॥' (मानस २। २८। १½)

दशरथ पहला वरदान तो स्वीकार कर लेते हैं, किंतु दूसरे वरदानको लेकर असमंजसमें पड़ जाते हैं। वे बार-बार रामकी साधुताका यशोगान करते हैं। यह कैकेयीसे सुना नहीं जाता है। वह रामको भी नहीं छोड़ती है—

'रामु साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने॥'
(मानस २। ३२। ३½)

अब मीन-मेषका कोई प्रश्न नहीं रह जाता। अगर कल प्रातः राम वन नहीं गये तो कैकेयीका मरण और दशरथका अयश ध्रुव है। पौ फटते सारी घटना सुमन्त्र रामको सुनाते हैं। आनन्द-निधान राम प्रसन्नतासे मुस्कुरा उठते हैं। कितना विमल आदर्श है उनका—

'सुनु जननी सोइ सुतु बड़ भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥'
(मानस २। ४०। ३½)

और—

'भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥'
(मानस २। ४१। ½)

इतना ही नहीं;—

'मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।'
(मानस २। ४१)

केवटको रामकी चरण-धूलिपर पूरा संदेह है। यह धूलि मनुष्य बनानेवाली जड़ी है। अहल्या-उद्धारका प्रसङ्ग उसके सामने है। वह अपनी नावको स्त्रीके रूपमें परिवर्तित कराना नहीं चाहता। इससे उसकी रोजी चली जायगी। बच्चे बिलट जायँगे। इसलिये—

'मागी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥'
(मानस २। ९९। १½)

कृपासिन्धु राम मुस्कुराते हैं—

'सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥' (मानस २। १००। ½)

आदेश पा लेनेपर भी वह कठौतेमें पानी लाता है। यह देखनेके लिये कि यह स्त्री बनता है या नहीं।

चित्रकूटमें भरत रामसे मिलने आ रहे हैं। लक्ष्मणको उनकी नीयतपर संदेह है—

'जौं जियँ होति न कपट कुचाली । केहि सोहाति रथ बाजि गजाली ॥'
(मानस २ । २२७ । ३½)

इसमें भरतका कोई दोष नहीं, यह तो संसारकी रीति है—

'जग बौराइ राज पदु पाएँ ॥' (मानस २ । २२७ । ४)

रामको असहाय जानकर वे आक्रमण करने आ रहे हैं। लक्ष्मणका प्रतिशोध-भाव जग उठता है। वे सिरपर जटा बाँधकर धनुष-बाण सँभाल लेते हैं। वे भरतको समर-शिक्षा देनेके लिये कटिबद्ध हैं, जिसका फल होगा—

'सोवहुँ समर सेज दोउ भाई ॥' (मानस २ । २२९ । २)

लेकिन भरतपर रामका अटूट विश्वास है—

'भरतहि होइ न राज मदु बिधि हरि हर पद पाइ ।'
(मानस २ । २३१)

लक्ष्मण शान्त हो जाते हैं।

अरण्यकाण्डमें जयन्त रघुपतिका बल देखना चाहता है। शायद रामकी अनन्त शक्तिपर उसे संदेह है। वह सीताके चरणमें चोंच मारकर भागता है। रामकी छोड़ी हुई सींक ब्रह्मास्त्र बन जाती है। अब जयन्तको त्रिलोकीमें कहीं शरण नहीं है। नारदके इशारेपर वह 'त्राहि-त्राहि' कर रामके चरणोंमें जा गिरता है। वह तो वधका पात्र है। किंतु—

'प्रभु छाड़ेउ करि छोह को कृपाल रघुबीर सम ॥'
(मानस ३ । २)

सीताहरणके पूर्व मारीच-वध होता है। मारीच 'हा ! लक्ष्मण' कहकर गिर पड़ता है। रामपर संकट जान सीता काँप जाती हैं। वे लक्ष्मणसे कहती हैं—

'जाहु बेगि संकट अति भ्राता ।'(मानस ३ । २७ । १½)

किंतु लक्ष्मण हँसकर माता जानकीसे कहते हैं कि स्वप्नमें भी उनपर संकट नहीं आ सकता। शायद लक्ष्मणका हँसना सीताके हृदयमें संदेहको जगा देता है। इस संदेहको वाल्मीकिकी तरह तुलसीने स्पष्ट नहीं किया है। फिर भी यह संदेह व्यञ्जित हो जाता है सीताके मर्म वचनोंसे—

'मरम बचन जब सीता बोला ।' (मानस ३ । २७ । २½)

इस 'मरम वचन'के लिये सीताको कम पश्चात्ताप नहीं होता—

'हा लछिमन तुम्हार नहिं दोसा । सो फलु पायउँ कीन्हेउँ रोसा ॥'
(मानस ३ । २८ । १½)

लङ्काकाण्डमें उन्हें फिर उन वचनोंकी स्मृति होती है—
'लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए ॥' (मानस ६ । ९८ । ४)

सीताकी खोज करते हुए श्रीराम पम्पासरकी ओर जा रहे हैं। मृग उन्हें देखकर भागते हैं। तब एक मृगी कहती है— तुम इनसे भय मत करो—

'तुम्ह आनंद करहु मृग जाए । कंचन मृग खोजन ए आए ॥'
(मानस ३ । ३६ । ३)

रामको अपने-आपपर क्षोभ होता है। वे अपनेको कञ्चनकी मायासे बँधा पाते हैं। उन्हें स्वयंके संदेहका गरल-पान करना पड़ा है। आत्मनिन्दासे ग्रस्त इन रामको प्रत्येक मानव अपनी छातीसे लगा लेनेका अभिलाषी है। सुन्दरकाण्डमें विभीषण इस कपट-कुरंगकी स्मृति करते हैं—'कपट कुरंग संग धर धाए ॥' (मानस ५ । ४१ । ३½) लङ्काकाण्डमें सीता भी इसका कुफल भोगती हैं—

'जेहिं कृत कपट कनक मृग झूठा । अजहुँ सो दैव मोहि पर रूठा ॥'
(मानस ६ । ९८ । ३½)

सुन्दरकाण्डके उत्तरार्द्धमें विभीषण रावणका चरणप्रहार लाये, रामके चरणोंका ध्यान किये, सिन्धुके पार चले आते हैं। कपिगण उन्हें शत्रुका दूत समझते हैं। वे विभीषणको सागरके किनारे एक तरहसे नजरबंद कर सुग्रीवके पास आकर वृत्तान्त सुनाते हैं। नीतिज्ञ सुग्रीवको विभीषणपर संदेह हो जाता है —

'जानि न जाइ निसाचर माया । कामरूप केहि कारन आया ॥'
(मानस ५ । ४२ । ३)

वह जरूर भेद लेने आया होगा। उसे बाँध रखना चाहिये। श्रीराम सुग्रीवकी नीतिपूर्ण बातका खण्डन नहीं करते, फिर भी नीतिपर उनका शरणागत-वत्सल रूप विजयी होता है। जो नर शरणागतका त्याग करता है, वह 'पावँर पापमय' है। उसे देखनेसे भी पाप लगता है। करुणाकर राम निर्द्वन्द्व हैं, संदेहरहित हैं। यदि—

'भेद लेन पठवा दससीसा । तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥'
(मानस ५ । ४३ । ३)

और—

'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥'
(मानस ५ । ४३ । ४)

वे उभय भाँति विभीषणको हृदयसे लगा लेते हैं—

'भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥' (मानस ५ । ४५ । १)

लङ्काकाण्डमें राम-रावण-युद्धके समय विभीषण रामके प्रति अत्यधिक प्रेमके कारण संदेहमें पड़ जाते हैं—

'रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥'
(मानस ६ । ७९ । $\frac{1}{2}$)

रामके पास न रथ है न पदत्राण है। विभीषणका हृदय स्नेहजनित चिन्तासे विगलित हो जाता है। रावण-जैसा बलवान् शत्रु भला कैसे जीता जायगा। कृपानिधान राम अपने सखासे कहते हैं कि वह रथ दूसरा है, जिससे जय प्राप्त होती है। उस स्यन्दनका वर्णन राम करते हैं, जिसे सुनकर विभीषण प्रसन्न हो जाते हैं और उनके चरण पकड़ लेते हैं—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
(मानस ६ । ७९ । ३–५)

उत्तरकाण्डमें गरुडके संशयका वर्णन मिलता है। लङ्का-युद्धमें राम मेघनादके नागपाशमें बँध गये हैं। नारद गरुडको नागपाश काटनेके लिये भेजते हैं। गरुड बन्धन काट जाते हैं। किंतु उनके मनमें प्रचण्ड विषाद घर कर लेता है। राम तो 'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा।' (मानस ७ । ५७ । ३$\frac{1}{2}$) हैं, फिर उन्हें उनका बन्धन काटने क्यों आना पड़ा।

'देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदयँ मम संसय भारी॥'
(मानस ७ । ६८ । $\frac{1}{2}$)

गरुड नारदके पास जाते हैं और 'कहेसि जो संसय निज मन माहीं॥' (मानस ७ । ५८ । २$\frac{1}{2}$)। नारद स्वयं मायाके मारे हैं, इसलिये इसका दुःख जानते हैं। वे गरुडको ब्रह्माके पास भेजते हैं। मायाने ब्रह्माको भी विपुल बार नचाया है। अतः वे गरुडको शंकरके पास भेजते हैं; क्योंकि 'तहँ होइहि तव संसय हानी।' (मानस ७। ५९।४)। गरुड शंकरके पास जाते हैं और 'पुनि आपन संदेह सुनावा॥' (मानस ७ । ६० । $\frac{1}{2}$)

शंकर उन्हें सत्सङ्गकी प्रेरणा देते हैं; क्योंकि 'तबहिं होइ सब संसय भंगा।' यह सत्सङ्ग काकभुशुण्डिके यहाँ प्राप्त होगा। वहाँ पहुँचते ही 'गयउ मोह संसय नाना भ्रम।' शेष भ्रम राम-कथा सुननेपर समाप्त हो जाता है—

'गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।' (मानस ७ । ६८)

गरुड विगतसंदेह हो जाते हैं। रामके चरणोंमें उनका नेह जग उठता है।

काकभुशुण्डि भी स्वयं मोहग्रस्त हो चुके हैं। उन्हें रामका बालरूप अत्यन्त प्रिय है। लेकिन राम तो सदा चिदानन्द हैं, वे साधारण बालकका चरित्र क्यों करते हैं? वे जब समीप जाते हैं, तब राम हँसते हैं; जब भागते हैं, तब वे रोते हैं और जब चरण पकड़ने जाते हैं, तब वे भागते हैं। यह सब शिशुलीला देखकर भुशुण्डि भ्रममें पड़ जाते हैं। तब राम हँस पड़ते हैं और भुशुण्डिको पकड़नेके लिये घुटनों और हाथोंके बल दौड़ने लगते हैं। भुशुण्डि भाग चलते हैं। रामकी भुजा पीछा करती है। भुशुण्डि उड़ते हुए ब्रह्मलोकमें पहुँच जाते हैं, पर भुजा वहाँ भी उनका साथ नहीं छोड़ती। भुशुण्डि ब्रह्माण्डके सातों आवरणोंको भेदकर शक्तिभर भागते हैं, पर उन्हें कहीं चैन नहीं मिलता। वे भयभीत होकर आँखें मूँद लेते हैं और आँख खोलनेपर अपनेको अयोध्यामें पाते हैं। राम हँसते हैं और जैसे ही साँस लेते हैं, भुशुण्डि उनके मुखमें समा जाते हैं। वहाँ वे मानो शत कल्पतक भ्रमण करते हैं। राम पुनः हँसते हैं और भुशुण्डि बाहर आ जाते हैं। वे 'त्राहि-त्राहि' कर उठते हैं। रामका वरद हस्त उठता है—

'आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं॥'
(मानस ७ । ८३ । १)

भुशुण्डि प्रभु-भक्ति माँगते हैं। राम 'एवमस्तु' कहकर आशीर्वाद देते हैं—

'माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।'
(मानस ७ । ८५)

भुशुण्डि गद्गद हो जाते हैं। काक-देह पाकर वे धन्य हैं—

ताते यह तन मोहि प्रिय भयउ राम पद नेह।
निज प्रभु दरसन पायउँ गए सकल संदेह॥
(मानस ७ । ११४ क)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

जो संकल्प कर दिया, वह हाथसे छूट ही जाना चाहिये

प्रयागका हिंदी-साहित्य-सम्मेलन अपनी सेवाओंके लिये प्रसिद्ध हो चुका था। देशके गण्य-मान्य पुरुष उसके कार्यके प्रशंसक थे और उसकी योजनाओंमें शक्तिभर योगदान देते थे। इन्हीं दिनों सम्मेलनकी एक महत्त्वपूर्ण योजना बनी, जिसमें पर्याप्त धन-राशिकी आवश्यकता थी। धन एकत्रित करनेका भार मुख्यरूपसे सम्मेलनके मन्त्रीपर था। श्रीमौलिचन्द्रजी शर्मा उन दिनों सम्मेलनके प्रधान मन्त्री थे।

धन एकत्रित करनेके लिये उसका श्रीगणेश विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। आरम्भमें किन्हीं बड़े व्यक्तिसे ही रकम लेनेका प्रयत्न किया जाता है। श्रीशर्माजीने इस शुभ कार्यका आरम्भ दानवीर सेठ श्रीजुगलकिशोरजी बिड़लासे ही करनेका निश्चय किया। वे सेठजीके पास गये और योजनाका परिचय देकर उनसे आग्रह किया—'चिट्ठेमें पहली कलम आपकी ही होनी चाहिये।' श्रीसेठजीने योजनाको बड़े मनोयोगपूर्वक सुना और उसकी प्रशंसा करने लगे। इसके पश्चात् बड़े संकोचसे बोले—'पण्डितजी! आप जानते हैं, मैं व्यापार करना कभीका छोड़ चुका हूँ। अब मेरे हिस्सेका जो मिलता है, उसीमें सब कार्य चलाता हूँ। इस कारण मैं थोड़ा-सा ही दे सकूँगा।'

—यों कहते हुए उन्होंने चिट्ठेका कागज हाथमें लिया और उसपर पचीस हजार (२५,०००) रुपये लिख दिये। चिट्ठेका कागज शर्माजीके हाथमें देते हुए हाथ जोड़कर वे बोले—'पण्डितजी! क्षमा कीजियेगा। यह काम तो ऐसा है कि एक लाख भी देता तो कम ही था। अब जो बन पड़ा, लिख दिया।'

मन्त्री महोदय पहली रकम इतने बड़े रूपमें देखकर प्रसन्न थे, पर इतना देनेपर भी श्रीसेठजीकी दैन्यभरी ग्लानिने उनको मुग्ध कर दिया। ऐसा उदाहरण उनके लिये जीवनमें यह पहला था।

इस घटनाके कुछ दिन बाद श्रीसेठजीने अपने निजी सचिवके द्वारा पचीस हजार रुपयेका चेक श्रीशर्माजीके पास भेज दिया। इस प्रकार अप्रत्याशित शीघ्रतासे चेक प्राप्तकर श्रीशर्माजी बड़े ही प्रसन्न हुए। वे इसके लिये कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिये श्रीसेठजीके पास पहुँचे। उन्होंने धन्यवाद देनेके पश्चात् सेठजीसे कहा—'ऐसी क्या जल्दी थी, मैं स्वयं आकर चेक ले ही जाता।'

श्रीसेठजी सहजभावसे बोले—'पण्डितजी! दान किया हुआ धन मेरे पास पड़ा था। शरीरका क्या भरोसा; अगला श्वास आये न आये और मैं धर्मका ऋण कंधेपर लिये चला जाऊँ! जो संकल्प कर दिया, वह हाथसे छूट ही जाना चाहिये।'

(२)

नियम-पालनकी दृढ़ता

बात उन दिनोंकी है, जब श्रीगोविन्दवल्लभजी पंत उत्तर-प्रदेशके मुख्य मन्त्री थे। श्रीपंतजी गोरखपुर पधार रहे थे। नगरके प्रमुख नेता, नागरिक एवं अधिकारी—सभी उनके स्वागतके लिये स्टेशनपर एकत्रित हो रहे थे। श्रीपंतजी प्रातःकाल पहुँचनेवाली गाड़ीसे आ रहे थे। हमारे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका श्रीपंतजीसे बहुत पुराना प्रेमका सम्बन्ध था। श्रीपंतजी श्रीभाईजीके व्यक्तित्व एवं विविध क्षेत्रोंकी उनकी अमूल्य सेवाओंसे बहुत प्रभावित थे और जब-जब वे गोरखपुर आते, श्रीभाईजीसे अवश्य मिलते थे। श्रीभाईजीका यह स्वभाव था कि वे अपने प्रेमी एवं सुहृज्जनोंको सदा सम्मान देते थे, चाहे उनसे अवस्थामें कोई छोटा ही क्यों न हो। श्रीपंतजीके आगमनकी सूचना श्रीभाईजीको भी प्राप्त हो गयी थी। अतएव वे भी श्रीपंतजीका स्वागत करनेके लिये स्टेशनपर जा पहुँचे।

श्रीभाईजीने स्टेशन जानेकी चर्चा अपने साथियोंसे नहीं की। प्रातःकाल नित्य-कर्मसे निवृत्त होकर उन्होंने ड्राइवरसे गाड़ी मँगवायी और अकेले ही स्टेशन पहुँच गये। श्रीभाईजी अपनी जेबमें कभी पैसा नहीं रखते थे। खादीकी बनियान और धोती उनका नित्यका वेष था। जब बाहर जाना होता, तब ऊपरसे कुर्त्ता पहन लेते थे। उस दिन भी उन्होंने वही किया। स्टेशन पहुँचनेपर उनके ध्यानमें आया कि प्लैटफार्मके लिये पैसा तो नहीं लाये हैं। स्टेशनके सभी अधिकारी श्रीभाईजीके प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे तथा

मिलनेपर उन्हें प्रणाम करते थे। अतएव प्लैटफार्मपर उनसे प्लैटफार्मका टिकट माँगनेका कोई प्रश्न ही नहीं था। पर श्रीभाईजीका सिद्धान्त था—'नियम नियम है; कोई हमें नियम-भङ्ग करनेपर कुछ न कहे, तब भी हमें नियमका दृढ़तासे पालन करना चाहिये। मनुष्यको एकान्तमें भी किसी बुराईका आश्रय नहीं लेना चाहिये।' अतएव वे स्वाभाविक रूपसे स्टेशनके बाहर खड़े हो गये।

इस बीच उनके एक स्वजन भी, जो वर्षोंसे उनके साथ कार्य कर रहे थे, श्रीपंतजीके स्वागतके लिये स्टेशनपर पहुँचे। श्रीभाईजीके समीप आकर उन्होंने उन्हें प्रणाम किया और वहाँ रुकनेका कारण पूछा। श्रीभाईजीने सहज भावसे उत्तर दिया—'आप जानते ही हैं, मैं तो अपने पास पैसा रखता नहीं और साथमें कोई आया नहीं। बिना प्लैटफार्मका टिकट लिये भीतर कैसे जायँ? श्रीपंतजी बाहर आयेंगे ही, उनसे यहीं मिल लिया जायगा।'

स्वजनने कहा—'भाईजी! आपसे कौन प्लैटफार्मका टिकट माँगता है। पर मुझे ज्ञात है—आप नियमके पालनमें बड़े दृढ़ हैं। अच्छा, मैं अभी प्लैटफार्मका टिकट ला देता हूँ।' यों कहते हुए वे प्लैटफार्मका टिकट लेनेके लिये दौड़ पड़े। इसी बीच गाड़ी प्लैटफार्मपर आ गयी और श्रीपंतजी अपने डिब्बेसे उतरकर सबका स्वागत ग्रहण करते हुए प्लैटफार्मके बाहर पधारे। फाटकपर श्रीभाईजी खड़े थे। उन्हें देखते ही श्रीपंतजीने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। श्रीभाईजीने भी हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया। श्रीपंतजी श्रीभाईजी-के साथ बातें करने लगे और दोनों साथ-साथ आगे बढ़ने लगे। सामने श्रीपंतजीके लिये सरकारी मोटर खड़ी थी। दोनों महानुभावोंका वार्तालाप चालू था। दोनों महानुभाव साथ-साथ गाड़ीमें बैठकर डाक-बँगलेपर चले गये।

श्रीभाईजीके नियम-पालनकी इस दृढ़ताका स्मरण कर वे स्वजन आज भी गद्गद हो जाते हैं।

(३)

सत्यका मूल्य

डा० विधानचन्द्र राय पश्चिम बंगालके मुख्यमन्त्री रह चुके हैं। व्यवसायसे डाक्टर होनेपर भी उनको राजनीतिसे बड़ा प्रेम था। वे जब विद्यार्थी थे, उस समय भी वे बड़े तेजस्वी थे। इतना होनेपर भी वे कालेजके तीसरे वर्षमें अनुत्तीर्ण हो गये। इतने तेजस्वी एवं मेधावी होनेपर भी वे अनुत्तीर्ण कैसे हुए, इसका कारण जाननेकी स्वाभाविक ही जिज्ञासा होती है। प्रतिवर्ष प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण होनेवाला विद्यार्थी अकस्मात् अनुत्तीर्ण हो जाय, यह सचमुच आश्चर्यजनक घटना थी।

जिस कालेजमें वे अध्ययन कर रहे थे, उसीके फाटकके समीप एक दिन कालेजके एक प्राध्यापक महोदयकी मोटरसे दुर्घटना हो गयी। प्राध्यापक महोदयके द्वारा घटित हुई मोटर चलानेकी भूलका ही यह परिणाम था। उस समय विद्यार्थी विधानचन्द्र वहाँ खड़े थे। पुलिसने आकर घटनास्थलकी जाँच की और जो-जो वहाँ उपस्थित थे, उनके नाम लिख लिये। विधानचन्द्रका नाम भी लिखा गया।

अदालतमें प्राध्यापकके ऊपर केस चला और विधान-चन्द्र साक्षीके रूपमें न्यायालयमें उपस्थित हुए। विधानचन्द्र बचपनसे ही बड़े सत्यवादी थे। अतः अपने ही प्राध्यापकके विरुद्ध उन्होंने सच-सच बात कह दी। परिणाममें प्राध्यापककी असावधानी मानी गयी और उनपर जुर्माना हुआ।

इस प्रकार दण्डित होनेपर प्राध्यापक महोदयको बहुत बुरा लगा। अपना ही विद्यार्थी अपने विरुद्धमें साक्षी देकर उन्हें अपराधी घोषित कराये—इस बातसे उनके मनमें रोष हुआ और उन्होंने इस बातकी अपने मनमें गाँठ बाँध ली। कुछ दिनों पश्चात् परीक्षाके समय प्राध्यापकने अपने विषयमें विधानचन्द्रको बहुत कम अङ्क देकर उन्हें अनुत्तीर्ण कर दिया। विधानचन्द्रको अपने अनुत्तीर्ण होनेका कारण ध्यानमें तो आ गया, पर वे चुप रहे और दूसरे वर्षमें वे प्रथम श्रेणीमें उत्तीर्ण हो गये।

कुछ दिनोंके बाद जब उन प्राध्यापक महोदयकी विधानचन्द्रसे भेंट हुई, तब उन्होंने प्रश्न किया—'विधान-चन्द्र! गतवर्ष अनुत्तीर्ण होनेका कारण तुम जानते हो?'

'जी हाँ, महाशयजी!' विधानचन्द्रने निडरतासे स्पष्ट उत्तर देते हुए कहा—'आपने जान-बूझकर अपने विषयमें कम अङ्क देकर मुझे अनुत्तीर्ण कर दिया था; क्योंकि मैंने न्यायालयमें आपके विरुद्ध साक्षी दी थी।'

'तो जानते हुए भी तुमने ऐसी चेष्टा क्यों की?' प्राध्यापक बोले। 'मेरे पक्षमें गवाही दी होती तो तुम्हारा एक वर्ष बच जाता!'

'श्रीमन्' विधानचन्द्रने सहजभावसे कहा—'जीवनके एक वर्षसे मेरी समझमें सत्य बोलनेका मूल्य कहीं अधिक है।'

इस अप्रत्याशित उत्तरको सुनकर प्राध्यापक चुप हो गये।

—'अखण्ड आनन्द'

(४)

शिष्यकी अनुशासन-प्रियता

'महान् सम्राट्का राजदूत'—सैनिक-वेषमें अश्वसे उतरते हुए दूतने अपना परिचय दिया। कक्षाके समस्त विद्यार्थी सम्राट्के राजदूतके सम्मानमें खड़े हो गये और अवाक् दृष्टिसे उसकी ओर देखने लगे। विद्यार्थी रस्टिकसने निर्द्वन्द्व भावसे राजदूतकी ओर देखा। राजदूतने अभिवादन किया और आदरके साथ एक पत्र उनकी ओर बढ़ाया। रस्टिकसने पत्रको दूतके हाथसे ले लिया और उन्हें आदेश दिया—'आप थोड़ी देर बाहर बैठिये; यह हमारे अध्ययनका समय है। दूत आज्ञा पाकर कक्षासे बाहर चला आया और प्रतीक्षा करने लगा।

विद्यार्थी रस्टिकस उस देश (रोम) के सम्राट् होनोरियसका पुत्र था और दूरस्थित एक उच्च विद्यालयमें शिक्षा प्राप्त कर रहा था। सम्राट्को अपने पुत्रके पास एक आवश्यक संदेश भेजना पड़ा। राजदूत सम्राट्का वही संदेशपत्र लेकर राजकुमार रस्टिकसके पास आया था। संदेश बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। अतः दूत वायुवेगसे अश्वपर लंबी यात्रा करके विद्यालयमें पहुँचा था। कुछ क्षणका विलम्ब भी दूतको सह्य नहीं था, इससे दूत कक्षाके द्वारतक अश्वपर ही सवार रहा। वहाँ राजकुमारको उपस्थित देख घोड़ेसे कूदकर दूतने कक्षामें प्रवेश किया और अपना परिचय दिया।

रस्टिकसके आदेशसे दूतको बाहर जाते देख सभी विद्यार्थी चकित थे; किंतु राजकुमारके लिये यह एक सामान्य बात थी। इतना ही नहीं, गुरुजीकी उपस्थितिमें बिना उनकी अनुमतिके दूतने कक्षामें प्रवेश किया, रस्टिकसको इसका बहुत विचार हुआ। उसने यह अनुभव किया कि गुरुदेवके प्रति यह अशिष्ट व्यवहार मेरे राजपुत्र होनेके कारण ही हुआ है। अतएव यह अपराध मेरा है, दूतका नहीं। उसने गुरुदेवसे बड़ी ही नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'गुरुदेव! इस दूतकी अशिष्टताके लिये मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।' गुरुजी अपने शिष्यके इस आदर्श व्यवहारसे मुग्ध हो गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'बेटे! पिताजीके पत्रको पढ़ लो और दूतको बुलाकर जो संदेश देना चाहो, दे दो।'

रस्टिकसने उत्तर दिया—'गुरुदेव! यह मेरे अध्ययनका समय है। अध्ययनके समय पत्र पढ़ना तथा दूतको बुलाकर इसका उत्तर देना मेरी दृष्टिमें अनुचित है। आप कृपा करके अध्यापन कराइये। पाठ पूरा होनेपर मैं आपसे बाहर जानेकी अनुमति लूँगा और तभी सम्राट्का पत्र पढ़कर उसका उत्तर दूतको दूँगा।'

रस्टिकसके एक-एक शब्दसे विनम्रता, शान्ति, अनुशासन-प्रियता तथा गुरुके प्रति भक्ति प्रकट हो रही थी। गुरुदेवके मुखसे और हृदयसे एक साथ निकला—'बेटा! तुम खूब फूलो-फलो!'

(५)

परदोष-दर्शन भीषण पाप है

मुस्लिम भक्तोंकी एक टोली मक्का जा रही थी। शेख सादी उन दिनों बच्चे थे। मक्का जानेवाले दलमें अपने पिताके साथ वे भी थे।

तीर्थयात्रियोंने खुदाकी बंदगीके लिये कुछ नियम बना रखे थे। एक नियम यह भी था कि आधी रातको उठकर प्रार्थना की जाय। एक दिन रात्रिमें प्रार्थना करनेके लिये केवल शेख सादी और उनके पिता ही उठे। दलके और लोग यात्रासे इतने थक गये थे कि वे सोते ही रहे।

पिता और पुत्रने प्रार्थना की। प्रार्थना सम्पन्न होनेपर जब दोनों सोने लगे, तब सादीसे न रहा गया। आखिर बच्चे ही तो थे। वे बोले—'पिताजी! देखिये, केवल हम दोनोंने ही प्रार्थना की है। दलके ये लोग कितने आलसी हैं,—न उठते हैं न प्रार्थना करते हैं।'

बालकके ये वचन उस सरलचित्त और धर्मनिष्ठ पिताके हृदयमें तीरकी भाँति चुभ गये। उन्होंने सादीको सावधान करते हुए कहा—'मेरे सादी! तू भी प्रार्थनाके लिये न उठता तो अच्छा था। उठकर खुदाकी बंदगी की, इससे दूसरोंपर क्या अहसान किया? प्रार्थनाके लिये उठकर दूसरोंके दोष देखने तथा उसका बखान करनेसे तो न उठना ही श्रेयस्कर था।'

सादीको अपनी भूल समझमें आयी। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर पितासे अपनी भूलके लिये क्षमा माँगी। पिताने फिर कहा—'बेटा! परदोष-दर्शन ऐसा भीषण पाप है, जिसको खुदा ही क्षमा कर सकते हैं। तुम खुदासे ही अपने हृदयकी शुद्धिके लिये प्रार्थना करो।'

(६)

'धर्मपुत्री'

थोड़े दिन पूर्व मैं अपने एक रिश्तेदारसे मिलनेके लिये अस्पतालमें गया। उनकी चारपाईके सामने एक मारवाड़ी वृद्धाकी खाट थी। उसके पास एक युवक मधुर मन्द-स्वरमें भजन गा रहा था। भजनमें रस आनेसे मैं भी उसके पासमें जा बैठा।

'बेटा! एक दूसरा भजन गाओ तो।' एक भजन पूरा होते ही वृद्धा बोली। 'तेरे कण्ठमें भगवान्‌ने जितनी मिठास भरी है, उससे कहीं अधिक मिठास तेरे हृदयमें भर दी है। तेरी सेवाका बदला तो भगवान् ही देंगे।'

वृद्धाके इच्छानुसार उस भाईने सिंधी भाषामें दूसरा भजन आरम्भ किया। वह भाई सिंधी था। थोड़ी देरके बाद थरमसमें दूध, ताजे फल एवं खिचड़ी लेकर उसकी पत्नी आयी और उस वृद्धाके सामने आकर बैठ गयी।

'बेटा!' वृद्धाने भजन पूरा हो जानेके बाद कहा—'सगा पुत्र भी जितनी सेवा नहीं कर सकता, उतनी सेवा तुमलोग आज दस दिनसे कर रहे हो।'

'माँजी!' युवककी पत्नीने कहा—'आप अधिक कहेंगी तो हमलोग चले जायँगे। हमने इसमें कौन-सा उपकार किया है, जो हमें इतना यश आप दे रही हैं?'

'यह ठीक बात है, बेटी!' वृद्धाकी आँखोंमें आँसू भर आये। वह बोली—'मेरा बेटा तो खबर मिलनेके बाद भी नहीं आया, न उसने अपनी बहूको ही भेजा और तुम……'

—'तो क्या हमलोग कोई परायेके हैं?' भैया और भाभीको कोई खास काम आ गया होगा, इसलिये वे नहीं आ सके होंगे। अभी तो अस्पतालसे छुट्टी मिलनेपर हमलोग आपको अपने घर ले जानेवाले हैं। जबतक आपको पूर्ण आराम न हो जाय, तबतक हमारे साथ ही आपको रखेंगे'—सिंधी भाई बोला।

—'और माँजी'! पत्नी बोली—''शुरु-शुरुमें जब हमलोग आपके मकानमें रहनेके लिये आये थे, तब आपने मुझे कहा था—'बेटी! तुझे देखकर मुझे मेरी बेटी मोहिनीकी याद आ जाती है।' अब आप ही कहिये, माँजी! कि आपकी यह मोहिनी आपको बीमार हालतमें अकेली कैसे छोड़ सकती है? हमलोगोंने संयोगवश मकान बदल लिया, किंतु मकान बदलनेसे आपसे मिले हृदयको कैसे बदल सकते हैं?''

—मैंने उस वृद्धा और युवा सिंधी-दम्पतिके साथ जितना समय व्यतीत किया, वह मेरे लिये स्वर्गीय सुखका समय था।

'अखण्ड आनन्द' —गुणवन्ती त्रिवेदी

(७)

प्रचारिकाका आदर्श जीवन

होवर बंदरगाहपर जहाज खड़ा है। दो छोटे बच्चोंको लिये एक महिला बहुत अधीर हो रही है। उसकी आँखोंसे अश्रुबिन्दु टपक रहे हैं और हृदयकी व्यथा कभी-कभी चीत्कारके रूपमें बाहर आ जाती है। यात्रियोंकी भीड़ है। कोई अपनी टिकट बनवाने, कोई अपना सामान जहाजमें लदवाने तथा कोई अपने स्वजनों-मित्रोंसे मिलनेमें व्यस्त है। किसीको चिन्ता नहीं है कि उस महिला और उसके बच्चोंकी ओर ध्यान दे। इसी समय एक भद्र महिला वहाँ पहुँचती हैं और उस दुःखिनी बहनके पास जाकर पूछती हैं—'बहन! क्यों रो रही हो?'

जब व्यथाको कोई सहलानेवाला मिल जाता है, तब उसका वेग तीव्र हो जाता है, शान्त होनेके लिये। दुःखिनी बहन उस भद्र महिलासे चिपटकर और भी जोरसे रोने लगी। थोड़ी देरमें जब उसके दुःखका आवेग कम हुआ, तब वह बोली—'बहन! मैं अमेरिका जाना चाहती हूँ। मेरे पतिदेवने मुझे जहाजके टिकटके लिये पैसे भेजे थे, किंतु थोड़ी देर पूर्व जब मैं टिकट बनवानेके लिये यहाँ आयी, तब मेरी सरलताको देखकर एक धोखेबाजने मुझे ठग लिया। उसने अपनेको यहाँका अधिकारी बताया और मैंने विश्वासमें आकर उसे रुपये दे दिये। उसने मुझे जहाजके टिकट दिये; परंतु देखो, ये नकली टिकट उसने मुझे सौंप दिये। मैं बहुत देरसे उस अधिकारीको खोज रही हूँ, पर उनका कहींपर पता ही नहीं मिल रहा है। जहाज

चलनेकी तैयारीमें है तथा मेरे पास फिरसे टिकट लेनेके लिये पैसे नहीं हैं । इसी विवशताने मुझे अधीर बना दिया है, बहन !'

'बस, इतनी सामान्य-सी बात है, बहन ! इसमें रोनेकी क्या आवश्यकता है ? तुम और तुम्हारे बच्चे मेरे साथ अमेरिका चलेंगे ।'—भद्र महिलाने कहा ।

इतने प्यारके शब्द उस दुःखिनी बहनने आजतक नहीं सुने थे । फिर एक अपरिचित स्थानमें एक अपरिचित महिलासे इस प्रकारके स्नेह और आश्वासनसे भरे शब्द सुनकर उसका दिल भर आया । भद्र महिला उस बहनको साथ लेकर जहाजके एजेंटके पास पहुँची । अपना प्रथम श्रेणीका टिकट लौटाते हुए उन्होंने साधारण श्रेणीके दो पूरे टिकट तथा दो बालकोंके टिकट बनवा लिये और बच्चोंसहित उस महिलाके साथ जाकर जहाजके साधारण श्रेणीके स्थानपर बैठ गयीं । उनके मुखपर बड़ी प्रसन्नता एवं उल्लास बने हुए थे ।

अपनी सुख-सुविधाओंका इस प्रकार प्रसन्नतापूर्वक त्याग करनेवाली भद्र महिला थीं—थियोसोफिकल सोसाइटीकी संस्थापिका मैडम ब्लैवत्सकी । वे अपनी सोसाइटीके प्रचारकार्यसे होवर नगरमें आयी थीं और उसी जहाजसे न्यूयार्क जा रही थीं । वहाँ उनका प्रचारका बहुत व्यस्त कार्यक्रम निर्धारित हो चुका था ।

(८)

सार्थक सत्सङ्ग

गुजरातके कवीश्वर दलपतराम डाह्याभाईके साथ प्रसिद्ध नाट्यकार डाह्याभाई धोलशाजीकी किसी कारण अनबन हो गयी थी और पुत्रोंके द्वारा परस्पर चर्चाकी मिर्चें उड़ाकर जीवनमें और भी जलन बढ़ायी जा रही थी । इस प्रकार कई वर्षोंतक दोनोंमें वैमनस्य चलता रहा ।

एक दिन 'सत्सङ्ग-सभा' में किसी संतका व्याख्यान होनेवाला था । उसे सुनने डाह्याभाई धोलशाजी वहाँ गये हुए थे । प्रवचनमें उन्होंने ऐसा एक वाक्य सुना—'बुढ़ापेमें वृद्ध मनुष्यको सारा वैर-जहर भूलकर सुलह-प्रेमकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये । दो पशु जो आपसमें सींगोंसे लड़ते हैं, वे यदि परस्पर क्षमा चाहें भी तो ऐसा हृदय ईश्वरने उन्हें नहीं दिया; परंतु मनुष्यको तो प्रभुने विवेकशील हृदय दिया है ।'

ये वाक्य सुनते ही डाह्याभाईके हृदयपर एक चोट लगी और मन-ही-मन उन्होंने सोचा कि 'बात तो सत्य है। बुढ़ापा तो आशीर्वाद है, परंतु बुढ़ापेके दोष अभिशाप हैं। मनुष्यको जवानीकी भूलें बुढ़ापेमें सुधार लेनी चाहिये। कड़वी नीमोलीमें भी पकनेपर मिठास आ जाती है । इससे कवीश्वरके साथ चलते झगड़ेका अन्त करनेकी उन्हें प्रेरणा मिली और सभा समाप्त होते ही वे सीधे कवि दलपतरामके दरवाजेपर पहुँच गये ।

दलपतरामके आँगनमें जाकर डाह्याभाई सिर झुकाकर खड़े हो गये । दलपतराम उस समय घरमें हिंडोलेपर बैठे झूल रहे थे । वहींसे उनकी नजर डाह्याभाईपर पड़ी । वे कुछ क्षणोंके लिये आश्चर्यमें पड़ गये—'मैं जग रहा हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ ?' दलपतरामको लगा कि जरा भी पीछे पैर न रखनेवाला महान् योद्धा आज शस्त्र त्यागकर मेरे आँगनमें कहाँसे आ गया ? कवीश्वर हिंडोलेसे उतरकर डाह्याभाईके पास पहुँचे ।

'भाई ! आप मेरे यहाँ ?' कवीश्वरने गद्गद कण्ठसे कहा । कविका प्रेमोद्गार स्वीकार करते हुए डाह्याभाईने कहा-'हाँ भाई ! अंदर चलिये, अपने दिलकी बात करें ।'

और दोनों अनुभवी वृद्ध घरमें जाकर हिंडोलेमें बैठ गये ।

'युद्धमें यदि एक पक्ष सफेद झंडा फहरा देता है तो युद्ध रुक जाता है और सुलह हो जाती है । क्यों यह बात ठीक है न ?'—डाह्याने कवीश्वरसे पूछा ।

'हाँ भाई ! सुलहके लिये ही सफेद झंडा फहराया जाता है ।'

डाह्याभाईने सिरकी पगड़ी उतारकर कविके पास रख दी और सिरकी सफेद चोटी दिखाकर कहा—'प्रकृतिकी दी हुई इस सफेद झंडीकी उपेक्षा करके हमलोग कबतक लड़ते रहेंगे ? ऐसा विचार मनमें आते ही मैं कवि-हृदयकी क्षमा-याचना करने आपके द्वारपर चला आया ।'—डाह्याभाईने कहा ।

इसका उत्तर कवीश्वरकी जीभने नहीं, उनकी आँखोंसे झर-झर झरते हुए आँसुओंने ही दिया । दोनों वृद्ध राम-भरतकी तरह चिपट गये और जबतक जीवित रहे, पवित्र मैत्रीभावसे ही रहे । 'प्रदीप'

—धैर्यचन्द्र बुद्ध

श्रीहरिः

नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

महाभारत-चित्रावलि

[पाँच भागोंमें]

कई वर्ष पूर्व गीताप्रेससे महाभारतका सटीक संस्करण मासिकरूपमें निकाला गया था। उसमें नयी-नयी डिजाइनोंके अत्यन्त आकर्षक कलापूर्ण सुन्दर चित्र दिये गये थे, जिन्हें जनताने अत्यधिक पसंद किया था और उनके लिये अलगसे प्राप्त करनेकी बराबर माँग आती रही। इसलिये चित्रप्रेमी जनताकी रुचि देखकर महाभारतके कुछ बचे हुए तथा अन्य फुटकर चुने हुए सुन्दर चित्रोंका संग्रह पाँच भागोंमें विभक्त करके अलग प्रकाशित किया गया है। पाँचों भागोंका विवरण निम्नलिखित है—

महाभारत-चित्रावलि नं० १

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे २० एवं इकरंगे ५—कुल २५, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५०

महाभारत-चित्रावलि नं० २

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे २० एवं इकरंगे ५—कुल २५, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५०

महाभारत-चित्रावलि नं० ३

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे १० एवं इकरंगे २०—कुल ३०, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५५

महाभारत-चित्रावलि नं० ४

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे १७ एवं इकरंगे ८—कुल २५, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५०

महाभारत-चित्रावलि नं० ५

साइज ११×७।, चित्र बहुरंगे १० एवं इकरंगे २०—कुल ३०, मूल्य १.५०, डाकखर्च १.५०

आवश्यक सूचना

गत कई वर्षोंसे 'कल्याण'के 'पढ़ो, समझो और करो' शीर्षक स्तम्भमें समय-समयपर कुछ उपयोगी दवाओंके विषयमें लेख छपते रहे हैं। अब उनका प्रकाशन नियमतः बंद कर दिया गया है। कारण यह है कि उस विषयमें परमश्रद्धेय श्रीभाईजीको विशेष जानकारी थी; हमलोग इस विषयसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। यह समझकर लोगोंको इस विषयमें पत्र-व्यवहार नहीं करना चाहिये।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, दिसम्बर १९७२

चित्र-सूची

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीराम-वनगमन

चढ़ि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदयँ अवधहि सिरु नाई॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥
(रामरक्षास्तोत्र ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, दिसम्बर १९७२ { संख्या १२
पूर्ण संख्या ५५३

श्रीराम-वन-गमन

आजु रघुनाथ पयानो देत ।
बिहवल भए स्रवन सुनि पुरजन, पुत्र-पिता कौ हेत ॥
ऊँचें चढ़ि दसरथ लोचन भरि सुत-मुख देखें लेत ।
रामचंद्र-से पुत्र बिना मैं भूँजब क्यौं यह खेत ॥
देखत गमन नैन भरि आए, गात गह्यौ ज्यौं केत ।
तात-तात कहि बैन उचारत, ह्वै गए भूप अचेत ॥
कटि-तट तून, हाथ सायक, धनु, सीता-बंधु समेत ।
'सूर' गमन गह्वर कौ कीन्हौ, जानत पिता अचेत ॥

—सूरदास

कल्याण

संतोंने इस जगत्को 'दु:खालय' कहा है अर्थात् जगत्में दु:ख-ही-दु:ख है, सुखका कहीं भी लेश भी नहीं है। जन्ममें दु:ख, शैशवमें दु:ख, जरादु:ख, रुग्णावस्थामें दु:ख—सभी अवस्थाओंमें दु:ख-ही-दु:ख है। धनके उपार्जनमें दु:ख, उपभोगमें दु:ख तथा उसके विनाशमें दु:ख। इस प्रकार जगत् दु:खालय ही है। जगत्से उपरति करनेमें यह दृष्टिकोण सहायक होता है।

दूसरा दृष्टिकोण है, जिसमें भगवान्के अतिरिक्त किसी दूसरेकी सत्ता ही नहीं है। जो कुछ है, भगवान् ही हैं। गीतामें भगवान्ने कहा भी है—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७।७)

'मेरे सिवा किंचिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।' और भी वचन हैं—'**हरिरेव जगत् जगदेव हरिः**' (हरि जगत्रूप हैं और जगत् हरिरूप है) इस दृष्टिकोणसे देखनेपर जगत्में सुख-ही-सुख है, दु:खका कहीं नाम भी नहीं है; क्योंकि जो कुछ है, सब भगवान् ही हैं।

किसी भी वस्तुके दो कारण होते हैं—एक उपादानकारण, एक निमित्तकारण। कुम्हार मिट्टीसे घड़ा बनाता है। मिट्टी उपादानकारण है और कुम्हार निमित्तकारण। परंतु जगत्के निर्माणमें तो बनानेवाले भी वे ही और बननेवाले भी वे ही; जिससे बना, वह भी वे ही और बननेकी क्रिया भी वे ही हैं। अतः भगवत्कृपा-से जिनकी आँख खुल जाती है, वे जगत्के रूपमें तथा जगत्के प्रत्येक व्यापारके रूपमें भगवान्का ही अनुभव करते हैं। अनेकों भक्तोंने अपने जीवनमें ऐसा प्रत्यक्ष करके दिखाया है। रानी रत्नावतीको मारनेके लिये खूँखार सिंह छोड़ा गया। भक्तिमती रानीकी दृष्टिमें अपने भगवान्के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं। सिंहके रूपमें भी उसने अपने प्रभुके दर्शन करके उनका स्वागत किया। खूँखार सिंह रानीके सम्मुख उनकी अर्चना स्वीकार करनेके लिये शान्त-भावसे खड़ा हो गया। राजाने सिंहको नकली समझकर उसकी परीक्षा लेनेके लिये उसे खुला छुड़वाया। सिंह द्वारपालोंपर झपटा और उसने उनका काम तमाम कर दिया। इसी प्रकार भक्त प्रह्लादको तप्त खंभेमें भी भगवान्के दर्शन हुए और वह उससे चिपट गया।

इस प्रकार जगत्में जो कुछ है, वह भगवान् है और जो कुछ हो रहा है, वह सब भगवान्का खेल है—जन्म भी खेल है, मृत्यु भी खेल है, वृद्धावस्था भी खेल है, बीमारी भी खेल है। अतः जो दु:खसे छूटना चाहता है, उसे चाहिये कि वह दु:खके रूपमें—दु:खकी स्थितिके रूपमें भगवान्को देखे। जब भी कोई दु:खकी स्थिति सामने आये, तुरंत कह उठे—'भगवन्! अच्छा स्वाँग भरकर आये; आइये मेरे नाथ! मैं आपको गले लगाता हूँ'—

देख दु:खका वेष धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे, नाथ!
जहाँ दु:ख, वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥
नाथ! छिपा लो तुम मुँह अपना चाहे अति अँधियारेमें।
मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें, जग सारेमें॥
रोग-शोक, धन-हानि, दु:ख, अपमान घोर, अति दारुण क्लेश।
सबमें तुम, सब ही हैं तुममें, अथवा सब तुम्हरे ही वेश॥
तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब, तब फिर मैं किस लिये डरूँ।
मृत्यु-साज सज यदि आओ तो, चरण पकड़ सानन्द मरूँ॥
दो दर्शन, चाहे जैसा भी दु:ख-वेष धारणकर नाथ!
जहाँ दु:ख, वहाँ देख तुम्हें, मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ॥

जो इस प्रकार दु:ख, रोग, अपमान, क्लेश आदिके रूपमें भगवान्के दर्शनकर उनका स्वागत करता है, वह कृतार्थ हो जाता है तथा दूसरोंको भी कृतार्थ करता है।

'श्रीभाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

प्रयत्न करनेपर भी सुखकी प्राप्ति क्यों नहीं होती ?

संसारमें सभी लोग सुखकी खोजमें हैं, सभी परमानन्द पाना चाहते हैं तथा रात-दिन सुख ही प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगे हुए हैं; परंतु सुख तो दूर रहा, असली सुखकी तो छाया भी नहीं मिलती—इसमें क्या कारण है ? इतना प्रयत्न करनेपर भी सुख क्यों नहीं मिलता ?

इस प्रश्नपर विचार करनेपर यह पता चलता है कि हमारे सुखकी प्राप्तिमें तीन बड़े बाधक—शत्रु हैं। उन्हींके कारण हम सुखके समीप नहीं पहुँच पाते। वे हैं—मल, विक्षेप और आवरण।

'मल' है—मनकी मलिनता, 'विक्षेप' है—चञ्चलता और 'आवरण' है—अज्ञानका पर्दा। जबतक इन तीनोंका नाश नहीं होता, तबतक यथार्थ सुखकी प्राप्ति असम्भव है। इसमें आवरणका नाश तो सहज ही हो सकता है। आवरणको हटानेके लिये खास प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् स्वयं बुद्धियोग प्रदान करके सारा मोह हर लेते हैं। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १० । ९-१०)

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

जबतक मन मलिन और चञ्चल है, तबतक प्रेमपूर्वक भजन ही नहीं होता, फिर बुद्धियोग कहाँसे मिले। पापके कारण मनमें जो अनेकों प्रकारके मलिन विचार उठा करते हैं, एकान्तमें ध्यानके लिये बैठनेपर जो बुरे-बुरे भाव मनमें उत्पन्न होते हैं, यही मनकी मलिनता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, मद, अभिमान, कपट, ईर्ष्या आदि दुर्गुण और दुर्भाव मलके ही कारण होते हैं। जिस व्यक्तिमें ये दोष जितने अधिक हैं, उसका चित्त उतना ही मलसे आच्छन्न है।

मल-दोषके नाशके लिये कई उपाय बतलाये गये हैं। इनमेंसे प्रधान दो हैं—भगवान्के नामका जप और निष्काम कर्म। भगवान्का नाम पापके नाशमें जादूका-सा काम करता है। नाममें पापनाशकी अपरिमेय शक्ति है। परंतु नाममें प्रीति, श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये। जैसे लोभी व्यापारीका एकमात्र ध्येय रुपया पैदा करना और इकट्ठा करना होता है और जैसे वह निरन्तर उसी ध्येयको ध्यानमें रखकर सब काम करता है, ठीक उसी प्रकार भगवत्प्रेमको लक्ष्य बनाकर हमें रामनामरूपी सच्चा धन एकत्र करना चाहिये—

कबिरा सब जग निरधना, धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सो जानिये, जाके रामनाम धन होय॥

इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगसे भी मलका नाश होता है। निष्काम कर्मयोगके प्रधान दो भेद हैं—भक्तिप्रधान कर्मयोग और कर्मप्रधान कर्मयोग। पहलेमें भक्ति मुख्य होती है और दूसरेमें कर्मकी मुख्यता होती है। इन दोनोंमें भक्तिप्रधान कर्मयोग विशेषरूपसे श्रेष्ठ है। वास्तवमें दोनोंमें ही भगवत्-प्रीति ही लक्ष्य है, अन्य

कोई भी स्वार्थ नहीं है। स्वार्थका अभाव हुए बिना कर्मयोग बनता ही नहीं। फलासक्तिको त्यागकर भगवत्प्रेमके लिये जो शास्त्रोक्त कर्म किये जाते हैं, उन्हीं-को निष्काम कर्मयोग समझना चाहिये। इस निष्काम कर्मयोगसे हमारे मनके मलरूप दुर्गुणों और दुराचारोंका नाश होकर सद्गुण, सदाचार, शान्ति और सुखकी प्राप्ति होती है, सात्त्विक भावों और गुणोंका परम विकास होता है। इस प्रकार मलदोषका नाश होनेपर विक्षेप अपने आप ही मिट जाता है और चित्त परम निर्मल और शान्त होकर भगवान्की भक्तिमें लग जाता है। तदनन्तर भगवत्कृपासे आवरणका भङ्ग हो जाता है। आवरणका नाश होते ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है और मानव-जीवन सफल हो जाता है। मुक्ति अथवा भगवत्साक्षात्कार करनेके लिये निष्कामभावसे की हुई भगवान्की भक्तिसे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। हमारा लक्ष्य यही रहे कि भगवान्में हमारा अनन्य प्रेम हो। इसीके लिये तत्परतासे चेष्टा हो। सफलता चाहने-वाले सभी लोग अपना लक्ष्य बनाकर चलते हैं, सब अपने जीवनका एक ध्येय रखते हैं और अपनी बुद्धिके अनुसार उसी ध्येयको परम श्रेष्ठ, सर्वोत्तम मानते हैं। ध्येयमें सर्वश्रेष्ठ बुद्धि न होगी तो उस ओर बढ़ना कठिन ही नहीं, असम्भव है। अतः संसारमें सबसे बढ़कर हमारा लक्ष्य हो।

भगवान् और महापुरुष बिना कारण परमदयालु हैं

भगवत्कृपाके महत्त्वको वाणीद्वारा पूर्णरूपसे वर्णन करना असम्भव है; क्योंकि भगवान्की दयाका महत्त्व अपार है और वाणीद्वारा जो कुछ कहा जाता है, वह स्वल्प ही है। भगवान्की कृपाके महत्त्वको जो कोई महापुरुष यत्किंचित् भी समझते हैं, वे भी जितना समझते हैं, उतना वाणीद्वारा बता नहीं सकते। भगवान्-की कृपा सब जीवोंपर सदा-सर्वदा अपार है। लोगोंका इस विषयमें जितना अनुमान है, उससे भी भगवान्की कृपा बहुत अधिक है।

वास्तवमें भगवान्की दया सभी प्राणियोंपर बिना किसी कारणके समभावसे सदा ही स्वाभाविक है। अतः उसे निर्हेतुक ही कहना चाहिये, परंतु जो मनुष्य भगवान्की दयापर जितना अधिक विश्वास करता है, अपनेपर जितनी अधिक दया मानता है, वह उनकी दयाका तत्त्व उतना ही समझता है तथा उसे उतना ही अधिक प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। इसलिये उसको सहैतुक भी कहा जा सकता है; किंतु भगवान्का इसमें अपना कोई हेतु नहीं है।

भगवान् तो सर्वथा पूर्णकाम, सर्वशक्तिमान्, महान् ईश्वर हैं। उनमें किसी प्रकारकी कामना या इच्छाकी कल्पना ही कैसे हो सकती है, जिससे उनकी दयामें किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुको स्थान मिल सके। वे तो स्वभावसे ही—बिना कारण परम दयालु हैं, सबके सुहृद् हैं; उनकी सब क्रियाएँ सम्पूर्ण जीवोंके हितके लिये ही होती हैं, वास्तवमें अकर्ता होते हुए भी वे दयावश जीवोंके हितकी चेष्टा करते हैं। अजन्मा होते हुए भी साधु पुरुषोंका उद्धार, धर्मका प्रचार और दुष्टों-का संहार करनेके लिये एवं संसारमें अपनी पुनीत लीलाका विस्तार करके लोगोंमें प्रेम और श्रद्धाका संचार करनेके लिये समय-समयपर अवतार धारण करते हैं; निर्गुण, निराकार और निर्विकार होते हुए भी अपने भक्तोंके प्रेमके अधीन होकर सगुण और साकाररूपसे दर्शन देनेके लिये बाध्य होते हैं; सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी प्रेममें पिघलकर भक्तके अधीन हो जाते हैं—इन सबमें उनकी निर्हेतुकी परम दया ही कारण है।

जो भगवान्को प्राप्त हुए भगवद्भक्त हैं, जो भगवान्की दयाके महत्त्वको समझ गये हैं, जिनमें उस दयामय

परमेश्वरकी दयाका अंश व्याप्त हो गया है, उन महापुरुषोंका भी अन्य जीवोंसे किसी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। उनकी समस्त क्रियाएँ केवल लोकहितके लिये किसी प्रकारके स्वार्थरूप हेतुके बिना ही होती हैं; तब फिर भगवान्‌की दया हेतुरहित हो, इसमें तो कहना ही क्या है! महापुरुषोंका किसी भी जीवके साथ किसी भी प्रकारका स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता। इस विषयमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(गीता ३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता (तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं)।'

इसी तरह अपने विषयमें भी भगवान् कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
(गीता ३। २२)

'अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है; तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ।'

तुलसीदासजीने भी कहा है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
(मानस ७। ४६। २)

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि महापुरुषोंका और भगवान्‌का कोई कर्तव्य और प्रयोजन न रहते हुए भी लोगोंको उन्मार्गसे बचानेके लिये एवं नीति, धर्म और ईश्वरभक्तिरूप सन्मार्गमें लगानेके लिये केवल लोकहितार्थ उनके द्वारा सब क्रियाएँ हुआ करती हैं; इसमें उनकी अपार दया ही कारण है।

प्रतिदिन गीताका पाठ अवश्य करना चाहिये

संसारमें गीताके समान अध्यात्मविषयक ग्रन्थ और कोई नहीं है। गीतापर जितनी टीकाएँ, भाष्य और अनुवाद नाना प्रकारकी भाषाओं और लिपियोंमें मिलते हैं, उतने किसी धार्मिक ग्रन्थपर नहीं मिलते। गीताप्रेस, गोरखपुरमें ही संस्कृत, हिंदी, गुजराती, बँगला, मराठी, उर्दू, अरबी, फारसी, गुरुमुखी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी आदि अनेक भाषाओं और लिपियोंमें मूल तथा भाषा-टीका मिलाकर ९०० से अधिक गीताओंका संग्रह है।

गीताकी महिमा जो पद्मपुराणमें मिलती है, उसे देखनेपर ज्ञात होता है कि गीताके सदृश महिमा दूसरे किसी ग्रन्थकी नहीं। गीताकी महिमा महाभारतमें स्वयं वेदव्यासजीने भी कही है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता॥
(भीष्मपर्व ४३। १)

'गीताका अच्छी प्रकारसे गान, श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और उसको धारण करना चाहिये; अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है; क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

सर्वशास्त्रमयी गीता सर्वदेवमयो हरिः।
सर्वतीर्थमयी गङ्गा सर्ववेदमयो मनुः॥
(भीष्मपर्व ४३। २)

'जैसे मनुजी सर्ववेदमय हैं, गङ्गा सकल तीर्थमयी हैं और श्रीहरि सर्वदेवमय हैं, इसी प्रकार गीता सर्वशास्त्रमयी है।'

गीता सारे उपनिषदोंका सार है। शास्त्रमें बतलाया गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

'सम्पूर्ण उपनिषद् गायें हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण उनको दुहनेवाले (ग्वाल) हैं, कुन्तीपुत्र अर्जुन बछड़ा हैं और गीताप्रेमी सात्त्विक बुद्धियुक्त भगवत्-जन उनसे निकले हुए महान् गीतामृतरूपी दूधका पान करनेवाले हैं।'

सम्पूर्ण शास्त्रमें गीताको सर्वोपरि माना गया है। कहा है—

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

'श्रीदेवकीनन्दन श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताग्रन्थ ही एक सर्वोपरि शास्त्र है, श्रीकृष्ण ही एकमात्र सर्वोपरि देव हैं; उनके जो नाम हैं, वे ही सर्वोपरि मन्त्र हैं और उन परमदेवकी सेवा ही एकमात्र सर्वोपरि कर्म है।'

गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गङ्गामें स्नान करनेका तो अधिक-से-अधिक फल स्नान करनेवालेकी मुक्ति बताया गया है; अतः गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं ही मुक्त हो सकता है, वह दूसरोंको मुक्त नहीं कर सकता; किंतु गीतारूपी गङ्गामें स्नान करनेवाला तो स्वयं मुक्त होता है और दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

गीताकी भाषा भी मधुर, सरल, अर्थ और भावयुक्त है। अतएव सभी माता-बहनों और भाइयोंको प्रतिदिन कम-से-कम एक अध्यायका पाठ तो अर्थ और भाव समझते हुए अवश्य ही करना चाहिये। (संकलित)

समर्पण-योग

(रचयिता—श्रीआरसीप्रसाद सिंहजी)

हृदय-सम्राटको दे दो हृदयका स्वर्ण-सिंहासन।
तुम्हारे पास जो कुछ हो, वही कर दो उसे अर्पण॥
यही पुरुषार्थ अन्तिम है
यही कर्तव्य पावन है।
यही है लक्ष्य जीवनका,
यही जीवन चिरंतन है।
न माँगो मुक्ति भी, माँगो प्रणय-युवराजका शासन।
हृदय-सम्राटको दे दो हृदयका स्वर्ण-सिंहासन॥
यही आनन्द वह, जिसके
लिये संसार पागल है।
मगर मरुभूमिमें मिलता
नहीं मृगको कहीं जल है।
बिषय-बिषपान कर होता नहीं कल्याण का चिन्तन।
हृदय-सम्राट को दे दो हृदयका स्वर्ण-सिंहासन॥
अकिंचन-दीनको ही हरि-
कृपाका ज्ञान होता है।
जहाँ है प्रेम, क्या कोई
वहाँ अभिमान होता है?
यही पथ है तुम्हारा, जो मिला हरि-नामका साधन।
हृदय-सम्राटको दे दो हृदयका स्वर्ण-सिंहासन॥

एक महात्माका प्रसाद

(शिक्षक तथा शिक्षार्थियोंका कर्त्तव्य*)

शिक्षासे व्यक्तित्वमें सुन्दरता आती है। शिक्षा एक प्रकारकी सामर्थ्य है। सामर्थ्यके सदुपयोगसे ही सुन्दर समाजका निर्माण होता है—यह वैधानिक तथ्य है। इस पवित्र उद्देश्यकी पूर्तिके लिये शिक्षक तथा शिक्षार्थियोंको सदैव सजगतापूर्वक अथक प्रयत्नशील रहना है। सजगतामें ही चेतना है। उसीसे मानव अपने कर्त्तव्य और दूसरोंके अधिकारका अनुभव कर सकता है, जो परिवार, समाज तथा विश्व-शान्ति एवं भौतिक उन्नतिमें हेतु है। सभीके विकासमें अपना विकास निहित है—यह प्राकृतिक विधान है। प्राकृतिक विधानका अनुसरण करनेपर ही व्यक्ति और समाजमें गहरी एकता होती है। एकतामें ही वास्तविक सामर्थ्यकी अभिव्यक्ति होती है, जिससे मानव प्राप्त परिस्थितिके सदुपयोगमें समर्थ होता है और उसीसे वर्तमान सरस एवं भविष्य उज्ज्वल होता है तथा उसीकी माँग सदैव मानवमात्रको रहती है।

माँगकी पूर्तिमें ही मानव-समाजको सच्चा संतोष होता है। इसके होनेसे ही प्रत्येक प्रवृत्ति साधनरूप हो जाती है। साधनरूप प्रवृत्तिमें किसी प्रकारकी अस्वाभाविकता नहीं रहती, अपितु प्रत्येक प्रवृत्ति सहज तथा स्वाभाविक होने लगती है। जीवन भाररहित हो जाता है, जो सभीको स्वभावसे अभीष्ट है। भारसे दबा हुआ मानव प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग नहीं कर पाता। सामर्थ्यके दुरुपयोगसे ही व्यक्तिगत जीवनमें असमर्थता और पारिवारिक तथा सामाजिक जीवनमें संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। परिवार समाजकी एक इकाई है और समाज विश्वका ही एक अङ्ग है। सामर्थ्यके दुरुपयोगका सजग मानवके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

शिक्षारूपी सामर्थ्यके दुरुपयोगसे ही राष्ट्रमें, समाजके प्रत्येक वर्गमें अव्यवस्था आ जाती है, जिससे व्यक्ति और समाजके बीच दूरी उत्पन्न हो जाती है। व्यक्ति और समाजमें एकता न रहनेसे परस्पर अधिकार-लोलुपतासे कभी किसीका विकास नहीं हुआ, यह अनुभवसिद्ध सत्य है। इतना ही नहीं, अधिकार-लोलुपताने मानवको विद्यमान मानवतासे विमुख कर दिया है। मानवतामें पूर्णता, पूर्णतामें जीवन एवं जीवनमें रस है। इसकी माँग सभीको सदैव रहती है। इस माँगकी अपूर्ति ही मानवको पराधीनता, जडता एवं अभावमें आबद्ध करती है, जो कभी भी किसीको अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टिसे अधिकार-लोलुपतासे रहित होकर कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

कर्त्तव्य-परायणता जीवनका वह तत्त्व है, जिससे प्राप्त सामर्थ्यका सदुपयोग होने लगता है। सामर्थ्यका सदुपयोग ही सुन्दर नीति है। इससे ही सुन्दर समाजका निर्माण होता है। आज अधिकार-लोलुपतामें आबद्ध होकर शिक्षित समाज व्यक्तिगत जीवनमें अशान्ति, पारिवारिक जीवनमें अविश्वास एवं सामाजिक जीवनमें नित्य नये संघर्षोंको जन्म देता रहता है, जिससे परस्परमें एकता न रहकर भिन्नता ही पोषित होती रहती है। इसका मानवीय जीवनमें कोई स्थान नहीं है। अभिन्नतामें ही उदारता, समता एवं प्रियताकी अभिव्यक्ति होती है। उदारतासे जीवन जगत्के लिये, समतासे अपने लिये और प्रियतासे जगदाधारके लिये उपयोगी होता है। जिससे जीवन सभीके लिये उपयोगी हो जाय, वही विकसित मानव-जीवनका सुन्दर चित्र है।

जो जीवन कभी किसी भी महामानवको मिला है, वही जीवन मानवमात्रको मिल सकता है। इस वास्तविकतामें अविचल आस्था अनिवार्य है। व्यक्तिगत भिन्नताका तत्त्व सृष्टिमें प्रत्यक्ष ही है। दो व्यक्ति भी सर्वांशमें समान नहीं हैं। रुचि, योग्यता, सामर्थ्य आदिकी भिन्नतासे कोई इन्कार नहीं कर सकता। अतः व्यक्तिगत भिन्नताका तत्त्व सजग मानवको स्वीकार करना ही पड़ता है। अनेक प्रकारकी भिन्नताओंमें भी एकताका संचार करना अधिकारलोलुपतासे रहित कर्त्तव्य-परायणतासे ही साध्य है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं। यह रहस्य वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने सजगतापूर्वक शिक्षाका सदुपयोग किया है।

शिक्षित व्यक्ति जब सुख-लोलुपतामें आबद्ध होकर शिक्षाका दुरुपयोग करता है, तभी समाजमें हर प्रकारकी क्षति होती है, जिसका मूर्तिमान् चित्र आज स्पष्ट ही है। जीवन-विज्ञान मानवको यह प्रेरणा देता है कि बलके दुरुपयोगका मानवके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है।

* शिक्षार्थियोंके समक्ष दिया गया आशीर्वादात्मक भाषण।

बलके दुरुपयोगसे ही आज संघर्षकी धूम मची है । क्या शिक्षित व्यक्तियोंके सहयोगके बिना कभी कोई कार्य हो सकता है ? कदापि नहीं ।

शिक्षाके महत्त्वको अपनाकर शिक्षाके सदुपयोगमें तत्पर हो जाना आप महानुभावोंके लिये अनिवार्य हो गया है । यदि इस सत्यको आपने नहीं अपनाया तो सम्भव है, मानवी सभ्यताका अन्त हो जाय । मेरा विश्वास है कि मानव-जातिकी रक्षाके लिये अनेक प्रकारकी कठिनाइयोंको सहन करते हुए आप शिक्षाका सदुपयोग करनेके लिये अथक प्रयत्नशील रहेंगे और विद्यमान मानवताको विकसित कर मानव-जीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त करेंगे ।

जो हार स्वीकार नहीं करता, वह अवश्य विजयी होता है—यह मङ्गलमय विधान है । अब विचार यह करना है कि मानव हार मानकर क्यों बैठ जाता है । इस सम्बन्धमें मेरा स्पष्ट मत है कि बलका दुरुपयोग, विवेकका अनादर एवं आस्थामें विकल्प करनेसे ही मानव किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है, जिसका मानव-जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है ।

कोई सबल हमारे प्रति बलका दुरुपयोग करे, यह माँग कभी किसीको किसीसे नहीं होती, अपितु सभी बलके सदुपयोगकी ही आशा करते हैं । जिसकी माँग नहीं है, वह जीवनमें क्यों है ? इस सम्बन्धमें विचार करनेसे यह स्पष्ट विदित होता है कि जब मानव उदारताको नहीं अपनाता, तभी बलका दुरुपयोग करता है, यद्यपि उदारता जीवनका प्रधान अङ्ग है, इसके बिना कभी कोई किसीके लिये उपयोगी नहीं हो सकता । अनुपयोगी जीवन किसीको अभीष्ट नहीं है, अपितु उपयोगी जीवनकी माँग ही सदैव सभीको रहती है । जबतक मानव किसी-न-किसी नाते सभीको अपना नहीं मान लेता, तबतक विद्यमान उदारताकी अभिव्यक्ति नहीं होती और उसके बिना प्राप्त बलका सदुपयोग सहज तथा स्वाभाविक नहीं होता । उदारता कोई अभ्यास नहीं है, जीवनका स्वाभाविक तथ्य है । इस स्वाभाविकतासे विमुख हो जाना भारी भूल ही है, और कुछ नहीं, जिसका अन्त करना अनिवार्य है । भूलका ज्ञान ही भूल मिटानेमें समर्थ है, यह सर्वमान्य सत्य है । जिस ज्ञानसे भूलका ज्ञान होता है, वह ज्ञान मानवमें विद्यमान है । परंतु इस वास्तविकताका बोध तभी होता है, जब मानव दूसरोंके अधिकारका अपहरण न करे, अपितु स्वयं अधिकार-लोलुपतासे रहित हो जाय । यह जीवन-विज्ञान है ।

विज्ञानको अस्वीकार नहीं किया जा सकता, कारण कि वह प्राकृतिक तथ्य है । इतना ही नहीं, प्राकृतिक विधान और जीवन-विज्ञानमें विभाजन नहीं किया जा सकता। विधान और जीवनमें एकता ही विकासकी भूमि है, यह रहस्य स्पष्ट हो जानेपर जीवन विधान और विधान जीवन हो जाता है । महानुभाव ! जीवन-विज्ञानको अपनाकर सर्वांशमें बुराई-रहित हो जाना अनिवार्य है—यहाँतक कि बुराईके बदलेमें भी बुराई करना अवैधानिक अर्थात् अमानवीय है । मानव सृष्टिकी सर्वोत्कृष्ट रचना है । एकमात्र वही विधान और जीवनमें एकता रख सकता है और उसके द्वारा सभीके अधिकार स्वतः सुरक्षित होने लगते हैं। दूसरोंके अधिकार न देना और अपने अधिकार माँगना, यही वास्तवमें अमानवता है । अधिकार माँगनेका रोग मानवताके विनाशका मूल कारण है । अधिकार देनेमें ही अपना अधिकार है, इस वैज्ञानिक सत्यको अपनानेसे ही उदारताका उदय होता है और फिर व्यक्ति और समाजमें वास्तविक एकता हो जाती है । व्यक्ति समाजके अधिकारोंका पुञ्ज है और समाज व्यक्तिका कर्त्तव्य-क्षेत्र है । व्यक्ति और समाजमें विभाजन भूल है । व्यक्ति ज्यों-ज्यों समाजके लिये उपयोगी होता जाता है, त्यों-त्यों सुन्दर समाजका निर्माण स्वतः होता जाता है । अनुपयोगी जीवनसे ही समाजमें विप्लव तथा संघर्षका जन्म होता है । हम सभीके लिये उपयोगी हो जायँ, इस माँगका अनुभव करना अत्यन्त आवश्यक है ।

जीवनका दर्शन हमें यह प्रकाश देता है कि पराधीनताका मानव-जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है; कारण कि अपनेको जो चाहिये, वह अपनेमें है । इस वास्तविकताका बोध तभी होता है, जब मानव निज ज्ञानके प्रकाशमें यह अनुभव करे कि सृष्टिमें व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है । यह जीवनका सत्य है । सत्यको स्वीकार करना मानवका परम पुरुषार्थ है । इसके बिना कभी कोई स्वाधीन नहीं हो सकता । स्वाधीनताके बिना जीवनमें उदारता तथा प्रेमकी अभिव्यक्ति नहीं होती, जिसकी माँग चराचर जगत्‌को सदैव रहती है तथा जिसकी पूर्ति एकमात्र मानवके ही द्वारा हो सकती है । कैसी विचित्र बात है कि मानवकी माँग सभीको है और वह स्वयं अपनेमें ही अपनेको संतुष्ट कर

सकता है । यह महानता मानवको उसके रचयिताने अपनी अहैतुकी कृपासे प्रेरित होकर प्रदान की है । मिली हुई महानताका सदुपयोग न करना, अपितु दुरुपयोग कर बैठना अपने द्वारा ही अपना विनाश कर बैठना है। इसका सजग मानवके जीवनमें कोई स्थान ही नहीं है। सजगता निज ज्ञानके आदरमें ही निहित है । इस दृष्टिसे मानवका अपना दर्शन अपने कल्याण और जन-समाजके लिये उपयोगी है । विज्ञान और दर्शनको अपना लेनेपर जीवन जगत्के लिये तथा अपने लिये उपयोगी हो जाता है। इस वास्तविकताकी उपलब्धि यह स्पष्ट कर देती है कि विश्व मानवकी ही अपनी एक अवस्था है और यही सच्चा साम्य है । एकताके बिना साम्य सम्भव नहीं है। एकता अपनेद्वारा ही प्राप्त की जाती है । उसके लिये परिस्थितिका सदुपयोग भले ही अपेक्षित हो, किंतु किसी परिस्थितिमें एकता नहीं है । एकता उदारता और स्वाधीनतासे साध्य है, जो दर्शन तथा विज्ञानसे सिद्ध है। परिवर्तनशील वस्तुओंकी दासतामें आबद्ध होकर साम्यके गीत गाना अपनेद्वारा ही अपनेको धोखा देना है । किसी भी सजग मानवको अपनेको अपनेद्वारा धोखा नहीं देना चाहिये। सभीमें अपनापन तभी सुरक्षित रहता है, जब मानव स्वयं उदार, स्वाधीन तथा प्रेमसे भरपूर हो। किसी भी पराधीन प्राणीके द्वारा साम्यकी स्थापना नहीं हो सकती और अनुदारके द्वारा विश्व-शान्तिका प्रश्न हल हो ही नहीं सकता । मानव जीवन-दर्शन तथा जीवन-विज्ञानसे ही स्वाधीन और उदार हो सकता है, किंतु प्रेमसे भरपूर होनेके लिये तो आस्था ही मूल मन्त्र है ।

जिस प्रकार विज्ञान और दर्शन जीवनके तथ्य हैं, उसी प्रकार आस्था भी जीवनका अनिवार्य पहलू है। आस्था उसे कहते हैं, जिसके द्वारा सभी मान्यताएँ सिद्ध होती हैं। यदि आस्थाके तत्त्वको जीवनमें स्वीकार न किया तो केवल दर्शन और विज्ञानसे जीवनकी पूर्णता सिद्ध नहीं होती । कारण कि विज्ञानमें उदारताका रस और दर्शनमें स्वाधीनताका रस विद्यमान है और ये दोनों तत्त्व अपने लिये रसरूप हैं, परंतु रसका पान और स्वाधीनताके अभिमानसे अपनेको संतुष्ट करने अथवा उसमें रमण करनेसे अहंभावरूपी अणुका अत्यन्त अभाव नहीं होता । यद्यपि अहंरूपी अणु सृष्टिकी अपेक्षा अत्यन्त विभु है, तथापि जिसने मानवका निर्माण किया, उस अनन्तकी अपेक्षा तो सीमित ही है । आस्थाके तत्त्वसे मानवका अनन्तसे आत्मीय सम्बन्ध सिद्ध होता है। आत्मीय सम्बन्धमें ही अगाध, अनन्त प्रियता निहित है। प्रियता जिसमें उदय होती है, उसे अपनेसे अभिन्न कर लेती है और जिसके प्रति होती है, उसके लिये रस-रूप होती है। अर्थात् प्रेम और प्रेमास्पदका नित्य विहार होता ही रहता है। फिर किसी प्रकारकी अपूर्णता, अभाव शेष नहीं रह जाता। बस, यही मानव-जीवनकी पूर्णता है।

आप मानव हैं । मानव होनेके नाते आपको सभीके लिये उपयोगी होना है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब आप प्राप्त विज्ञान, दर्शन और आस्थाका सदुपयोग करनेके लिये सर्वदा तत्पर रहें। सफलता अवश्यम्भावी है । मानव-जीवनमें असफलता तभीतक रहती है, जबतक मानव अपने जीवनके सत्यको नहीं अपनाता। आप सभीको भलीभाँति विदित है कि मानव-शिशुके जीवनका आरम्भ अधिकार लेनेसे ही होता है अर्थात् परिवार, समाज और प्राकृतिक पदार्थ आदिके द्वारा ही उसे पोषण और शिक्षण मिलता है। उसके पश्चात् वह स्वयं कुछ करनेके योग्य अपनेको पाता है। उस कालमें भी यदि अधिकार-लोलुपता रही तो मानवका जीवन अबोध बालककी भाँति निरीह तथा पराधीन ही रह जायगा। अतः पोषित तथा शिक्षित होनेपर अधिकारको त्याग, कर्त्तव्यको अपनाकर हम सभीके लिये उपयोगी हो जायँ, बस यही जीवनकी सार्थकता है।

आशा है, मेरे प्यारे विद्यार्थी मानव-जीवनके महत्त्वको अपनाकर मानव-समाजमें सोयी हुई मानवताको जगानेके लिये आनेवाली अनेक कठिनाइयोंको हर्षपूर्वक सहन करते हुए जीवनकी सार्थकताके लिये सर्वदा उद्यत रहेंगे।

श्रीश्यामसुन्दरकी प्रेमाधीनता

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं, पचि हारे, तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥
—रसखान

उखल-बन्धन-लीला

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क पृ० १२२६ से आगे]

श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं कि माताका शरीर स्वेदसे भीग गया । उसके केशोंमें लगी मालाएँ बिखर गयीं । वह थक गयी । पुत्रका कर्त्तव्य है कि माताका परितोष करे । श्रुति है—'मातृदेवो भव ।' स्मृति है—'पितुर्दशगुणा माता' अतः उसको थकाना उचित नहीं । श्रीकृष्णने सोचा कि 'इसके कोई दूसरा पुत्र भी नहीं है, जो इसका दुःख दूर करे । मैंने ही इसे अपनी माता बनाया है । मैं गोकुलका दुःख दूर करनेके लिये प्रकट हुआ और माताका दुःख दूर न करूँ तो क्या ठीक होगा ? सौभाग्य-दानके लिये आया और इसके अलंकारोंका तिरस्कार कर दूँ ?' जो भक्तोंके दूरस्थ दुःखको भी नहीं देख सकते, वे अपने सम्मुख माताके दुःखको कैसे देख सकते हैं ? अतएव कृपानुग्रहसे श्रीकृष्णने बन्धन स्वीकार कर लिया । कृपा सब धर्म और धर्मियोंसे बलवती है । भगवान् अपनी कृपासे ही आप बँधते हैं ।

श्रीजीवगोस्वामीने यह प्रश्न उठाया है कि "पहले तो श्रीकृष्णको पूर्ण और परमेश्वर सिद्ध किया, फिर उनमें भूख, प्यास, अतृप्ति, चोरी, भय, पलायन, पकड़ा जाना, रोदन एवं बन्धनका वर्णन किया गया । इसका कोई-न-कोई रहस्य अवश्य होना चाहिये और रसिकोंके लिये आस्वादका हेतु भी; अतः वह क्या है ?' इसका समाधान करते हैं—'यह सर्वथा सत्य है कि श्रीकृष्ण परिपूर्णतम परमेश्वर हैं, तथापि उनमें भक्तोंके प्रति अनुग्रह भी अवश्य स्वीकार करना चाहिये । यदि अनुग्रह न होगा तो भगवान्‌के गुण किसीके प्रति सुखकर नहीं होंगे । कठोर-हृदय पुरुषका कुछ भी रुचिकर नहीं होता । फिर वे गुण भी नहीं रहेंगे । जन-सुखकारी धर्म निर्दयतारूप दोषमें परिणत हो जायँगे । अपहतपाप्मा परमेश्वरके साथ उनकी कोई संगति नहीं लगेगी । अतएव सभी गुणोंको गुण बनानेवाला दोषान्तर-विरोधी भक्तिके अनुरूप कृपा-गुण ही भगवान्‌में स्वीकार करना चाहिये । भक्ति भगवान्‌को वशमें करती है—यह ठीक है तो भगवान् भी भक्तिके वशमें होते हैं । इससे उनके ऐश्वर्यमें कोई त्रुटि नहीं आती; क्योंकि वे बद्ध दशामें भी नलकूबर-मणिग्रीवका उद्धार ही करते हैं । इससे सर्वोत्कर्ष और ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है । वे स्वयं ही बार-बार कहते हैं—'मैं भक्त-पराधीन हूँ, भक्त निष्कपट हैं, मैं भी निष्कपट हूँ ।' अतः भक्तोंके आनन्दके लिये उन-उन भावोंका प्रकट होना तात्त्विक ही है । यही देखकर कुन्ती देवी मुग्ध हो गयी थीं । यह भक्तोंका मन हरण करनेकी लीला है । जो अपने भक्तसे इतनी ममता कर सकता है कि उसके हाथों बँध जाय, उसकी भक्ति कोई क्यों नहीं करेगा ?"

श्रीवीरराघवाचार्य कहते हैं कि 'इस भक्तकृत बन्धनसे भगवान्‌की स्वतन्त्रतामें कोई बाधा नहीं पड़ती । ब्रह्मा, शंकर आदितक श्रीकृष्णके वशमें हैं । सम्पूर्ण जगत् उनके वशमें है, उन्होंने स्वयं ही यह प्रकट किया कि 'मैं भक्तोंके वशमें हूँ ।' सर्वत्र स्वतन्त्र, भक्तोंके परतन्त्र ।" श्रीवत्साङ्क मिश्रने कहा है—

> 'अनन्याधीनत्वं तव किल जगुर्वैदिकगिरः
>
> पराधीनं त्वां तु प्रणतपरतन्त्रं मनुमहे ।'

वेदवाणी आपको अनन्याधीन—किसीके अधीन नहीं, कहती है; परंतु हम तो प्रणत-परतन्त्र आपको पराधीन ही मानते हैं ।' आप अनन्य भक्तोंके अधीन हैं—वेदवाणीका ऐसा अभिप्राय है ।

'सारार्थदर्शिनी'कार विश्वनाथ चक्रवर्ती यह भाव व्यक्त करते हैं—"परमेश्वरका प्रेम-परवश होकर बँध जाना दूषण नहीं, भूषण है । आत्मारामकी भूख-प्यास, पूर्णकामकी अतृप्ति-तृष्णा, शुद्ध सत्त्वका कोप, स्वाराज्यलक्ष्मीके अधिपतिका चौर्य-कर्म, महाकालके कालका भय-पलायन, मनके अग्रगामीका पकड़ा जाना, आनन्दमयका दुःख-रोदन और सर्वव्यापीका बन्धन—यह सब स्वाभाविक भक्त-पराधीनताका प्रदर्शन है । अज्ञानियोंके प्रति इसका उपयोग न होनेपर भी ब्रह्मा, शंकर, सनत्कुमारादि विज्ञानियोंको भी चमत्कृत करके इसका प्रदर्शन किया गया । इसको केवल अनुकरणमात्र समझना भूल है; क्योंकि आगे 'तद्विदाम्' कहा गया है ।

'सिद्धान्तप्रदीप' कार श्रीशुकदेवका कहना है कि 'यह ठीक है, भगवान्में आन्तर-बाह्य, पूर्वापर आदिका व्यवहार न होनेपर भी उन व्यवहारोंका औचित्य भी है। वे अणु-से-अणु और महान्-से-महान् हैं। वे स्वयं अपने संकल्पसे बद्ध भी हो सकते हैं।'

अब श्रीहरिसूरिकृत 'भक्ति-रसायन'के कुछ भावोंका सप्रेम समास्वादन कीजिये—यशोदाने अपने गुणों—रस्सी एवं सद्गुणोंसे जितना-जितना उद्योग किया विभुके उदरकी पूर्तिके लिये; श्रीकृष्णने भी उतने-ही-उतने अपने गुण—असङ्गता, नित्यमुक्ति आदिको प्रकट किया। अतएव कन्हैयाकी मैयाके साथ यह परमानन्दजनक क्रीडा सम्पन्न हो गयी।

रज आदि प्राकृत गुण जिनका स्पर्श भी नहीं कर सकते, उन्हें यह छोटा-सा गुण (रस्सी) कैसे बाँध सकेगा ? अतएव गुणोंका पूरा न पड़ना उचित ही है।

इन्द्रियोंका बन्धन होता है, उनके अधिष्ठाताओंका नहीं। श्रीकृष्ण गोपति—इन्द्रियाधिपति हैं। गोबन्धक रज्जु उन्हें नहीं बाँध सकती।

यह प्रसिद्ध है कि अध्यस्त ही बद्ध होता है, अधिष्ठान नहीं। इस श्रुत्यर्थको स्पष्ट करनेके लिये विश्वावभासक परमात्मामें बन्धन न लग सका।[1]

जिसपर प्रभुका कृपा-प्रसाद उतरता है, जिसपर उनकी अनुग्रह-दृष्टि पड़ जाती है, उसे भी बन्धनका अनुभव नहीं होता। श्रीकृष्णने जब रस्सीकी ओर देखा तो वह भी मुक्त हो गयी, उसमें बन्धनकी योग्यता नहीं रही।[2]

रज्जुरूप गुणकी न्यूनता निरन्तर यह सूचना दे रही है कि संसारके सारे गुण भी उसकी पूर्तिमें समर्थ नहीं हैं।

एक अंधा जिसको नहीं देख सकता, उसको सौ अंधे भी मिलकर नहीं देख सकते। सभी दाम (रज्जु) समान हैं। व्यर्थ परिश्रमसे कोई लाभ नहीं। इसी अभिप्रायको रज्जुकी न्यूनता प्रकट करती है।

बन्धन-रज्जु दो ही अंगुल कम क्यों हुई ? इसपर श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ सुनिये—

जब मैं शुद्धान्तःकरण योगियोंको प्राप्त होता हूँ, तब केवल एकमात्र सत्त्वगुणसे ही मुझमें सम्बन्धकी स्फूर्ति होती है। रजोगुण और तमोगुणका सम्बन्ध नहीं होता। रस्सीमें दो अंगुलकी न्यूनताका प्रकट होना इसी सत्यको प्रकट करता है।[3]

जहाँ नाम-रूप होते हैं, वहीं बन्धनका औचित्य है। मुझ ब्रह्ममें ये दोनों नहीं हैं। दो अंगुलकी न्यूनतासे यही बोधन किया गया है।[4]

रज्जुने दो अंगुल न्यून होकर यह सूचना दी कि 'इन दोनों वृक्षों (नलकूबर-मणिग्रीव) का उद्धार करके इन्हें मुक्त कीजिये।'

भगवत्कृपासे द्वैतानुरागी गोकुल भी मुक्त हो जाता है और प्रेमसे भगवान् भी बद्ध हो जाते हैं—इन दो रहस्योंको दो अंगुलकी न्यूनता सूचित करती है।

श्रीहरिसूरि यह विकल्प उठाते हैं कि "यशोदा माताने घरकी छोटी-बड़ी सभी रस्सियोंको अलग-अलग कृष्णके कटिभागमें लगाया अथवा सबको एक साथ ? इनमेंसे यदि पहली बात मानी जाय तो यह भाव ध्वनित होता है कि 'समदर्शी दयानिधान भगवान्में छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं है।' दूसरी बात यह कि रज्जुने यह सूचना दी—'प्रभुके समान अनन्तता और अनादिता हम क्षुद्रोंमें कहाँसे आ सकती है। अतः हम इन्हें बाँध नहीं सकते'।"

यदि ऐसी बात मानी जाय कि सभी गुणों (रस्सियों) का प्रयोग एक साथ ही किया गया तो वे सब अनन्त गुण

---

१. अध्यस्तस्याश्रावि बन्धो जगत्यां
नाधिष्ठानस्यांशतोऽपीति लोके।
श्रुत्यर्थस्य ख्यातये नोदरेऽभूद्
बन्धस्तस्मिन् विश्वविश्वप्रकाशे॥

२. यस्मिन् कृपानुग्रहवीक्षणं विभो-
र्भवत्यसौ वेत्ति न बन्धसम्भवम्।
युक्तं तदा तद्धरिणा तथेक्षितं
मुक्तं स्वयं दाम न बन्धभागभूत्॥

३. यदाहं प्राप्यः स्यामिह सुमनसां युक्तमनसां
तदानीं सम्बन्धः स्फुरति मयि सत्त्वैकगुणतः।
द्वयोर्नेति प्रायः प्रकटितमिहैशेन स तदा
यतो द्वाभ्यामूनात्तदुचितगुणाद् बन्धयुगभूत्॥

४. यत्र स्यातां नामरूपे सरूपे बन्धस्तस्यैवोचितो नोचितोऽत्र।
द्वाभ्यामूने ब्रह्मणीति न्यबोधि दाम्ना येन द्व्यङ्गुलोनेन मन्ये॥

परमात्मामें लीन हो गये । समुद्रमें सभी नदियाँ लीन हो जाती हैं—न नाम रहता है न रूप । समुद्रमें एक मेरी श्यामता है और दूसरी यमुनाकी । दो अंगुलकी न्यूनताके द्वारा प्रभुने यह भाव प्रकट किया ।

आश्चर्य तो यह है कि भगवान्ने वामनकी भाँति अपने रूपको छोटा नहीं किया । त्रिविक्रमके समान बढ़ाया भी नहीं । रस्सी छोटी नहीं की । उनके पृथक् या युगपत् प्रयोगमें कोई बाधा नहीं डाली । फिर भी किसी रूपमें श्रीकृष्णको गुण-स्पर्श नहीं हुआ ।

माताकी थकान और भूषण-भ्रंश देखकर कृष्णके हृदयमें कृपाका उद्रेक हुआ । वे सोचने लगे—'माताके हृदयसे द्वैत-भावना दूर नहीं होती तो फिर इसके सम्मुख अपनी असङ्गता प्रकट करना व्यर्थ है । इस भावसे उन्होंने बन्धनको स्वीकार कर लिया ।'[1]

'भक्तके छोटे-से गुणको भी भगवान् पूर्ण कर देते हैं, यही सोचकर उन्होंने छोटी-सी रस्सीको भी अपने बन्धनके योग्य पूर्ण बना दिया ।'[2]

श्रीकृष्णने विचार किया—'मैं परमैश्वर्यशाली सहस्रगुण-सद्वृत्ति हूँ; तथापि भक्तोंके गुणके बिना मेरे गुण पूर्ण नहीं होते । अतएव उन्होंने यशोदाके गुणोंसे अपने उदरको भर लिया ।'[3]

'अपने भक्तके भगवत्प्रेम-पोषक परिश्रमको भी मैं नहीं सह सकता, अन्यकी तो बात ही क्या । मैं माताका खेद दूर करनेके लिये अश्लाघ्य बन्धनको भी सह लूँगा ।'[4]

'तत्त्वदृष्टिसे मुझमें कोई गुण संलग्न नहीं है; यदि गुण क्वचिद् भासमान भी हैं तो मध्यमें ही (जो आदि-अन्तमें नहीं होता, वह मध्यमें भी नहीं होता, मिथ्या ही भासता है)—श्रीकृष्णने मानो इसी श्रौत तात्पर्यको प्रकट करनेके लिये मध्यभागमें ही रस्सीका सम्बन्ध स्वीकार किया ।'[5]

गोकुलगत रज्जुओंसे बन्धन अङ्गीकार करनेका अभिप्राय है कि 'गोकुलवासी—ऐन्द्रियक व्यवहारमें संलग्न व्यक्ति भी प्रेमसे मुझे बाँध लेते हैं, वशमें कर लेते हैं ।'

महापुरुषोंका यह गौरवपूर्ण सद्गुण है कि भले ही कोई उसे न समझे, वह अभीष्ट कार्यकी पूर्ति कर देता है—यह दामोदर-लीलासे स्पष्ट है ।

यदि दैववश खल-गुणका अपने-आपसे सम्बन्ध हो जाय तो बन्धनकी प्राप्ति अवश्य होती है, भले ही वह महापुरुष ही क्यों न हो । ऊखल एवं रज्जुके सम्बन्धसे श्रीकृष्णको भी बँधना पड़ा ।

भगवान् श्रीकृष्णने माताके मनका निर्बन्ध (आग्रह) देखकर आत्मबन्धन स्वीकार कर लिया । भक्तके प्रेमके सामने भगवान्का अपना कार्य गौण हो जाता है ।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने मनमें विचार करने लगे—'देवर्षि नारदने नलकूबर-मणिग्रीवको शाप देकर वृक्ष बना दिया है और यह वचन दे दिया है कि शीघ्र ही व्रजराजकुमार तुम्हें मुक्त कर देंगे । यह ठीक है कि मैं मुक्त हूँ स्वयं और मुक्त करता हूँ दूसरोंको; तथापि देवर्षिकी वाणीने तबतकके लिये मुझे बन्धनमें डाल दिया है, जबतक इन दोनोंपर कृपा करके मैं इन्हें मुक्त नहीं कर देता ।' यही विचार करके भगवान्ने देवर्षि नारदके वचनोंके बन्धनसे ही अपनेको बद्ध बना लिया । 'यही तो भक्त-वश्यता है ।'[6]

करोड़ कल्पोंमें भी भगवत्स्वरूप बन्धनकी सम्भावनासे युक्त नहीं हो सकता; परंतु भक्तके संकल्प और अल्प

---

१. न द्वैतमस्या हृदयादपैति तत् किं वृथा स्वां प्रकटीकरोपि ।
निस्सङ्गतामित्यवधार्यं तादृग्दामस्थितेरास विभुः सबन्धः ॥

२. लघुमपि मद्भक्तगुणं हार्दस्थितितो नयामि पूर्णपदम् ।
ध्वनयन्नेवमनन्तो निन्ये पूर्णत्वमेतदल्पमपि ॥

३. षाड्गुण्यं भजतः सहस्रगुणसद्वृत्तेरनन्तात्मनो
नित्यानन्तगुणोल्लसत्सुचरितस्यापीह मेऽवस्थितिः ।
पूर्णत्वं गुणतः प्रयाति न विना मद्भावभाजां गुणा-
लम्बं जातुचिदित्यबोधयदसौ पूर्णोदरस्तद्गुणात् ॥

४. मत्प्रेमपोषकमपि श्रममात्मभक्त-
देहे सहे न भुवि जातु कुतस्तदन्यम् ।
किं चास्य खेदमपनेतुमहं सहेये-
त्यश्लाघ्यमप्यकृत बन्धतः स्फुटं सः ॥

५. न मां तत्त्वदृष्ट्या गुणः कोऽपि लग्नः
क्वचिद्भासमानोऽपि चेन्मध्य एव ।
इति श्रौतमर्थं तदानीमधीशः
स दाम्ना स्वमध्येन मन्ये व्यतानीत् ॥

६—मच्छापादचिरेण वां यदुपतिर्मोक्तेति वाचाऽर्पया
तावद् बद्ध इवाहमस्मि सततं मुक्तोऽपि मोक्तापि च ।
यावद्दार्पदादिमौ न कृपया सम्मौचितावित्यसौ
तद्दम्भाद् किमबोधयद् भुवि विभुर्भक्तैकवाग्वश्यताम् ॥

प्रयत्नसे ही बँध गये। यह लीला वस्तुतः भक्तोंका हृदय अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिये ही है और क्या कहूँ, भगवान् भक्तके वशमें।

श्रीधर स्वामीने अवतरणिकामें कहा है कि "भगवत्प्रसाद तो दूसरे भक्तोंको भी प्राप्त होता है; परंतु यशोदा माताको जो कुछ मिला, वह अत्यन्त विचित्र है। पुलकित शरीरसे शुकदेवजीने कहा कि 'ब्रह्मा पुत्र हैं, शंकर आत्मा हैं और लक्ष्मी पत्नी हैं; फिर भी उन्हें यह प्रसाद नहीं मिला। देहाभिमानी तपस्वी और अभिमानरहित ज्ञानियोंके लिये भी ये गोपिकानन्दन भगवान् सुलभ नहीं हैं। उन्हें मिलते तो हैं, परंतु भक्तोंके लिये जितने सुगम हैं, उतने उनके लिये नहीं।'"

श्रीजीव गोस्वामी विस्तारसे अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि "जब राजा परीक्षित्ने यशोदा-नन्दके उस पुण्याचरणके सम्बन्धमें प्रश्न किया, जिससे भगवान्की बाललीलाका आनन्द उन्हें मिला, तब शुकदेवजीने सामान्यरूपसे उन्हें महापुरुष ब्रह्माके कृपा-प्रसादका उल्लेख कर दिया। तब क्या धरा-द्रोण नामक वसु-दम्पतीको नैमित्तिक रूपसे ही यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ? नहीं, अब तात्त्विक समाधान किया जाता है। भक्तोंके आदिगुरु हैं—ब्रह्मा! वैष्णवोंके आदर्श हैं—शंकर! भगवान् विष्णुकी नित्यप्रेयसी हैं—लक्ष्मी। वे तो उनके वक्षःस्थलपर निवास करती हैं। उन्हें भक्तिरूप-प्रसादकी प्राप्ति हुई। भगवान् मुक्ति देना—जेलखानेसे छोड़ देना तो पसंद करते हैं, परंतु भक्ति देना अर्थात् अपनी सेवामें लगा लेना सबके लिये सुलभ नहीं करते। परंतु जो प्रसाद—अनिर्वचनीय महाप्रसाद, जिसका ठीक-ठीक निरूपण 'प्रसाद' शब्दके द्वारा भी नहीं हो सकता—वह प्रेम-परिपाक यशोदाको प्राप्त हुआ। वह ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीको भी न मिला, न मिला, न मिला। तीनों नकारका अन्वय 'लेभिरे' के साथ है। लक्ष्मीको ऐश्वर्य-ज्ञान है। अवश्य ही पतिरूपमें उनकी ममता भगवान्के प्रति विशेष है; परंतु यशोदाको ऐश्वर्य-ज्ञान न होनेके कारण केवल ममता-ही-ममता है। इसलिये यशोदाकी प्रीति ब्रह्माका प्रसाद नहीं है। वे नित्य-सिद्ध श्रीकृष्ण-माता हैं। ब्रह्मा तो स्वयं व्रजरजकी प्राप्तिके लिये लालायित रहते हैं।"

मूलमें स्पष्ट है कि भले ही तपस्या और ज्ञानसे महानारायण या परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होती हो, परंतु गोपिकानन्दनकी प्राप्ति उनके लिये भी कठिन है। बिना किसी विशेषणके गोपिका-सुत कहनेका अभिप्राय यह है कि गोपिका ही सबके लिये उपादेय है। 'इह' शब्दके प्रयोगका यह भाव है कि गोपिका और गोपिका-सुतकी स्थिति नित्य है और सभी देशमें, सभी कालमें सच्चे प्रेमियोंके लिये वे सुलभ हैं। यशोदाके समान ही नन्दबाबा आदि परिकर भी नित्य ही हैं। धरा-द्रोणके रूपमें जो उनका निरूपण किया गया था, वह तो जबतक पूर्णतया लीला-रहस्यका बोध न हो जाय, तभीतकके लिये कहा गया था।

श्रीवीर राघवाचार्यका भाव है कि 'भगवत्प्रसाद भक्तिसे ही प्राप्त होता है। उसके लिये ब्रह्मा, शंकर या लक्ष्मी होनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रेमपूर्वक अनुध्यानादि रूप भक्तिकी आवश्यकता है। जब वे गोपीके हृदयमें विद्यमान हैं, तब उसे भगवत्प्रसाद अवश्य ही प्राप्त होना चाहिये। उसीके लिये वे सुख-साध्य हैं।'

श्रीविजयध्वजतीर्थ कहते हैं कि 'निरन्तर निरतिशय भक्ति ही वह परमसुन्दरी नायिका है, जो भगवान्को भी अपनी ओर आकृष्ट करनेमें परम विदग्ध है।'

आचार्य वल्लभने कहा—'भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ नयी बात क्या दिखलायी? ऐसा भाव तो पुरातन कालसे ही शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। इसकी मीमांसा कीजिये। जो प्रसाद यशोदाको मिला, वह इससे पहले किसीको नहीं मिला। यह महान् भक्तोंको ही प्रात होता है। भक्तोंमें भक्तिसे और स्वरूपसे तीन महान् हैं—ब्रह्मा पुत्र हैं, भक्त हैं, प्रवृत्तिमार्गके सब धर्मोंके प्रवर्तक हैं और सबके पिता हैं। महादेव पौत्र हैं, निवृत्ति-धर्मोंके प्रवर्तक हैं, प्रलयके हेतु एवं गुणावतार हैं। भगवान्के लिये ही सब कुछ छोड़कर तपस्या करते हैं। इन दोनोंसे भी अन्तरङ्गा हैं लक्ष्मी, वे पत्नी हैं, ब्रह्मानन्दस्वरूपा हैं, जगज्जननी हैं। वक्षःस्थलपर निवास प्राप्त होनेपर भी चरण-सेवामें संलग्न हैं। जब इन्हींको यह प्रसाद नहीं मिला, तो दूसरेको कहाँसे मिलेगा? इनमेंसे किसी एकको तो मिला ही नहीं, पूरे समुदायको भी नहीं मिला—यह सूचित करनेके लिये तीन बार नकार और बहुवचनमें 'लेभिरे' क्रियाका प्रयोग है। इनमें कोई त्रुटि भी नहीं है; क्योंकि तीनों भगवान्के अङ्गाश्रित हैं। वक्षःस्थलपर लक्ष्मी, नाभिमें ब्रह्मा और चरणोंमें शंकर। यशोदामें ये तीनों विशेषताएँ नहीं हैं। फिर भी उन्हें जो प्रसाद मिला, वह अनिर्वचनीय है। सबको मुक्ति देनेवाला अपनेको बन्धनमें डाल दे, यह क्या कम आश्चर्य है? यदि यशोदाका दुःख ही दूर करना था तो ज्ञान या कैवल्य देकर उसे दूर कर सकते थे। सचमुच भक्तकी भक्तिके बन्धनमें अपने आपको डाल देना सबसे बड़ा प्रसाद है।'

ब्रह्मा आदि महान् हैं और यशोदा तो श्रीकृष्णको ईश्वरके रूपमें पहचानती भी नहीं। ऐसी स्थितिमें यशोदाके प्रति प्रसादानुग्रह उनके प्रति किये गये प्रसादानुग्रहसे बड़ा कैसे हो सकता है? ध्यान दीजिये, यहाँ बन्धनमात्र विवक्षित

नहीं है, किंतु वश्यता—भक्तवश्यता विवक्षित है । वह किसी औरको नहीं मिलती । देहाभिमानी कर्मी और निरभिमान मुक्त ज्ञानी—दोनोंके लिये ये भगवान् सुख-लभ्य नहीं हैं । एकमें देहाभिमान दोष है तो दूसरेमें भगवान्‌के प्रति भी निरपेक्षता । क्या पार जाने मात्रसे ही महाराजकी प्राप्ति हो जाती है । विशेषता यह है कि भक्तोंको वे इसी लोकमें मिल जाते हैं; क्योंकि वे गोपीके पुत्र हो गये हैं । इसका अभिप्राय ही यह है कि लोग इसी लोकमें, इसी अवतारमें भक्ति करें ।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—"भक्तोंके वशमें भगवान् हैं । भक्तोंमें भी श्रीव्रजेश्वरीके तो वे सर्वथा ही अधीन हैं, अपार परवशता धारण किये हुए हैं । मूलमें 'विमुक्ति' शब्दका अर्थ है—विशिष्ट मुक्ति अर्थात् प्रेम । उसे देनेवाले हैं—श्रीकृष्ण । कृष्णसे यशोदाको जो प्रसाद प्राप्त हुआ, वह ब्रह्मा-शिव-लक्ष्मीको भी नहीं मिला । नकार और क्रियापदकी तीन बार आवृत्ति कीजिये । अतिशय अप्राप्त है—यह अर्थ है । दूसरा अर्थ इस प्रकार है । ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीको प्रसाद नहीं मिला—ऐसी बात नहीं । मिला तो सही; परंतु जो प्रसाद गोपीको मिला, वह उन्हें नहीं मिला । ब्रह्मा और शिव दास हैं । उनसे श्रेष्ठ लक्ष्मी हैं, वक्षःस्थलपर स्थित प्रेमवती पत्नी । जो प्रसाद उन्हें भी नहीं मिला, वह प्रसाद यशोदाको कैसे मिला ? क्योंकि वे तो पहले वसुपत्नी धरा थीं । ब्रह्माको प्रसाद न मिले और वे जिसको वर दें, उसे मिल जाय ? ऐसा कैसे हो सकता है । ब्रह्मा व्रजरजके प्रेमी हैं । इस उक्ति-युक्तिसे सिद्ध होता है कि नन्द-यशोदा नित्यसिद्ध हैं ।"

भागवत-सिद्धान्त है कि "भगवत्प्रेम ही सब पुरुषार्थोंका शिरोमणि है । भक्त नित्यसिद्ध होंगे तो उनमें प्रेम भी नित्य प्रतिष्ठित होगा, अन्यथा अनित्य हो जायगा । भक्तोंमें गोकुलवासी श्रेष्ठ हैं; क्योंकि वे वात्सल्य, सख्य आदि भावसे प्रेम करते हैं । उनके रागानुगामी भक्तोंको ही कृष्ण सुलभ हैं । देहाभिमानी कर्मी, देहाध्यासरहित ज्ञानी और भगवान्‌के ही अवतार ब्रह्मा-शंकर तथा स्वरूप-शक्तिरूपा लक्ष्मी—ये भगवान्‌के आत्मभूत ही हैं; तथापि उनके लिये ये सुलभ नहीं हैं । ब्रह्मा, शंकर आदिको अपने-अपने लोकमें रहना पड़ता है, लक्ष्मीको भी । वे व्रजरसका आस्वादन कैसे कर सकते हैं ? व्रजवासियोंकी अनुगति भी उनके लिये अप्राप्य है ।"

'सिद्धान्तप्रदीप'कारका अभिमत है कि "भक्ति मुक्तिसे भी दुर्लभ है—यह इस प्रसङ्गमें कहा गया है । भक्ति-सम्बन्ध-वर्जित धर्म, योग, ज्ञान भगवत्प्राप्तिके साधन नहीं हैं । भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका एकमात्र साधन है ।

'भक्ति-रसायन'कार श्रीहरिसूरि कहते हैं कि 'भगवान् जिन्हें बाललीलाका सुख देते हैं, उन्हें ऐश्वर्यका सुख नहीं और जिन्हें ऐश्वर्यका सुख देते हैं, उन्हें बाललीलाका सुख नहीं । परंतु अपने श्रेष्ठ भक्तोंको वे दोनोंका ही सुख देते हैं । बन्धन न होनेसे ऐश्वर्य सुख है और होनेसे बाललीला-सुख । यशोदाको दोनों प्राप्त हुए ।'[1]

ऊखल-बन्धन-लीला भृत्यवश्यता, प्रेम-परवशता, वात्सल्य-स्नेहका अनुपम उदाहरण है । भगवान्‌में कितना अनुग्रह है और मातामें कितना प्रेम है—इन दोनोंका स्पष्ट दर्शन होता है, इस लीलामें ।

इसमें संदेह नहीं कि यह लीला भावुक भक्तोंको लीन-तन्मय कर लेती है, अपनेमें प्रेम-भक्तिके लिये उन्मुख करती है । यमलार्जुन-उद्धारकी लीलापर फिर कभी अनुसंधान करेंगे । इस प्रसङ्गमें यह उल्लेख करके कि भगवान्‌का बन्धन भी दूसरोंकी मुक्तिका साधन है—जैसे नलकूबर-मणिग्रीवका उद्धार । हरिसूरिके 'भक्तिरसायन'-स्थित एक श्लोकका रसास्वादन करते हुए हम इस निबन्धको समाप्त करते हैं—

अन्य एव मम बन्धको भव-
त्यन्य एव मम मोचकोऽपि च ।
न स्वतोऽस्ति मम बन्धनं न वा
मुक्तिरित्यकृत स स्फुटार्थकम् ॥[2]

भगवान् श्रीकृष्ण अपने मनमें विचार कर रहे हैं कि दूसरा ही कोई (जैसे माता) मुझे बन्धनमें डाल देता है, बद्ध समझ लेता है और दूसरा ही कोई (जैसे पिता नन्द) मुझे मुक्त कर देता है अर्थात् मुक्तके रूपमें साक्षात्कार कर लेता है । मेरे वास्तविक स्वरूपमें न तो बन्धन है और न मुक्ति ।

---

१. येषां बालतया सुखोदयकरस्तेषां न षाड्गुण्यतो येषां तादृशरूपतश्च सुखदस्तेषां न बालत्वतः ।
सच्चिद्रूपतया च बालकतया निस्सीमसौख्यप्रदस्तेषामेव सुभक्तिमन्त इह येऽत्रोदाहृतिर्गोपिका ॥

२. यह श्रीहरिसूरिकृत 'श्रीभक्ति-रसायन' ग्रन्थ 'प्रपा' नामकी टीकाके सहित संस्कृतमें सत्साहित्यप्रकाशन ट्रस्ट, २८ । १६, बी० जी० खेरमार्ग, बम्बई—६ से प्रकाशित है ।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

सभी अवस्थाओंमें श्रीश्यामसुन्दरकी प्रेमरस-सुधाधारामें डूबे रहो

सदा-सर्वत्र श्रीश्यामसुन्दरकी प्रेमरस-सुधाधारा प्रवाहित हो रही है—सभी अवस्थाओंमें, सभी समय। बस, निरन्तर उसीमें डूबे रहना चाहिये—

जन्म-मरण, न दुःख-सुख, कुछ हैं नहीं जिसमें कभी।
बह रही रस-सुधा-धारा नित्य प्लावित कर सभी॥
छा रहा आनन्द अनुपम परम अतुल सदा वहाँ।
नाचते रहते अनोखे नीलमणि नित हैं वहाँ॥

तुम सचमुच उसीमें डूबे हो। तुम्हारे चारों ओर भीतर-बाहर केवल नीलमणि ही नाच रहा है। नित्य नवीन विलक्षण भङ्गिमाओंमें—और उसके प्रत्येक पादक्षेपमें रस-सुधा-धारा बह रही है—नित्य। तुम संसारकी विषय-तमोमयी ज्वालाओंसे सर्वथा शून्य, परम शीतल, शान्त, कोमलतम, मधुरतम श्रीचरणोंका स्पर्श पाकर धन्य हो गये हो। अपनी इस महान् मुनि-मन-वाञ्छनीय स्थितिकी ओर देखो। तुम्हारा यह विषाद केवल तुम्हारी इस दुर्लभ स्थितिको उज्ज्वल बनानेके लिये है। तथापि तुम विषादकी यह चादर उतार दो और बहा दो—अपने अंदर-बाहर प्रेमानन्दकी सरिता। वह तो बह ही रही है। बस, दुनियाको भूलकर उसीमें बह जाओ। श्रीश्यामसुन्दर तुमपर स्वयं न्योछावर हैं। उनके नित्य सांनिध्यको तुम सहज ही प्राप्त हो। तुम्हारा अतुल सौभाग्य है। विषय-विषकी ज्वाला, मरणका भय, वियोगका भावी विषाद वहाँ हैं ही नहीं; वहाँ तो नित्य-निरन्तर शान्तिका, अमृतका, संयोगका अगाध सागर लहरा रहा है। वहाँ शरीर तथा संसारकी कोई भी सत्ता-महत्ता नहीं है। केवल प्राणप्रियतम हैं और है उनकी नित्य मधुर लीला—सभी अवस्थाओं और रसोंमें—करुण, मधुर, भयानक, बीभत्स—सभीमें उनका मधुरतम लीलारस-प्रवाह।

अमिलन परम सुखदायी भी होता है

प्रेमकी यह वास्तविक स्वरूपस्थिति है, जो भगवान्‌के नित्य पास रहनेपर भी उनका वियोग अनुभूत होता रहता है। एक बार श्रीराधाजी अपनी स्थितिका वर्णन करती हुई कहने लगीं—

वे प्रियतम मेरे श्याम प्राणधन प्यारे। रहते नित मेरे साथ, न होते न्यारे॥
खाने-पीने-सोने-जगनेके सारे। करते वे कर्म, साथ मेरे धुल तारे॥
वे घुले-मिले रहते हैं मुझसे प्रतिपल। जो देख न पाते क्षणभर, होते व्याकुल॥
मेरा सुख ही है उनका सुख अति निर्मल। वे रहते नित्य निमग्न उसीमें अविचल॥
यों नित्य पास रहते भी, मैं खो जाती। खोकर फिर उनको मैं दुखिया हो जाती॥
रोती, विलाप करती, पर उन्हें न पाती। मैं नित्यप्राप्त उन प्रियतम-हित विलखाती॥
लगता, वे रहते दूर, पास नहिं आते। मुझ प्रेमहीनको क्यों वे पास बुलाते ?
मैं रोती रहती सदा, न वे लख पाते। वे नहीं इसीसे खुद संयोग लगाते॥
वे हँसते, मुझको देख अनोखी भारी। लख नित्य-मिलनमें अमिलन-गति हियहारी॥

कहते—देखो: मैं पास तुम्हारे प्यारी। इस प्रेमदशा विचित्र पर मैं बलिहारी॥
सुधि होती, खुलते नेत्र, चेत हो जाता। रस-स्रोत मधुरमें दुःख सभी बह जाता॥
बढ़ता रसका अति वेग, परमसुख छाता। प्रियको नित पाकर साथ, न हर्ष समाता॥

इस प्रकार भगवान्‌के नित्य-सत्य-मिलनमें अमिलनका बोध घोर दुःखदायी होनेपर भी उनकी स्मृतिका कारण होनेसे परमसुखदायी ही होता है; क्योंकि यह बिछोहका महान् दुःख सब कुछ भुलाकर प्रियतम श्यामसुन्दरके स्मृति-समुद्रमें ही डुबाये रहता है।

जिसका जीवन भगवान्‌में लगा है, उनके यहाँ उसीका महत्त्व है

पैसेवालोंकी दृष्टिमें आजकल जिनके पास पैसा नहीं है, उनका मूल्य बहुत ही कम है; पर यह तो संसारका स्वरूप है। भोगमय संसारमें भोग-महत्ता स्वाभाविक ही अधिक होती है। इसलिये जिनके पास भोग हैं, उन्हींका विशेष महत्त्व भोगियोंकी दृष्टिमें होता है। परंतु भगवान्‌के यहाँ उनका न कोई महत्त्व है, न उनकी कोई पूछ। वहाँ तो उसीका महत्त्व है, जिसका जीवन भगवान्‌में लगा हो—चाहे वह जगत्‌में अत्यन्त तुच्छ, नगण्य समझा जाता हो और जगत्‌के लोग उसका कितना ही अपमान-तिरस्कार करते हों। उसे भी—जो भगवान्‌में लगा है—न अपनी तुच्छता या नगण्यताको लेकर दुःख या क्षोभ है और न वह मान तथा सत्कारकी ही इच्छा करता है। वह इन बातोंको लेकर क्षुब्ध क्यों हो? उसे तो अपने भगवान्‌में ही लगे रहना है। वह सदा-सर्वदा भगवान्‌के हृदयमें बसता है तथा भगवान्‌को अपने हृदयमें बसाये रखता है। वह क्यों किसी अन्य वस्तु या परिस्थितिकी इच्छा करेगा, क्यों मिलनेपर सुखी होगा तथा क्यों न मिलनेपर दुःखी या क्षुब्ध होगा। वह तो सदा आनन्दमग्न रहेगा। अतएव भगवान्‌के प्रेमीको संसारकी प्रत्येक परिस्थितिमें सुख या दुःखके विकारसे रहित होकर केवल भगवान्‌का ही बने रहना तथा इसीमें परमानन्दका अनुभव करना चाहिये।

नित्य जो भगवानकी अति मधुरतम स्मृतिमें सना।
रहता सदा आनन्दरत, आनन्दमय वह खुद बना॥
जगतकी ज्वाला नहीं सकती जला उसको कभी।
शान्त, शीतल हो चुके संताप बुझ करके सभी॥
जगतके जो लोग आते कभी उसके पास हैं।
वे सभी होते सुखी सत्वर बिना आयास हैं॥
क्योंकि संतत झर रहा झरना सुधाका है जहाँ।
दुःख-संकट मृत्युका विष रह नहीं सकता वहाँ॥
सुधा-सरिता बह रही नित भागवत-सुखकी बिमल।
उठ रहीं आनन्दकी लहरें मधुरतम नित प्रबल॥

मिलनकी चाह बनी रहना प्रेमका शुभ स्वरूप है

तुम निरन्तर भगवान्‌को अपना समझो, अपने समीप समझो तथा नित्य-निरन्तर उनकी परम सरस मधुरातिमधुर प्रेमसुधाका पान करते हुए प्रमत्त बने रहो। भूल जाओ संसारको, शरीरको तथा भोग-जगत्‌को। जिसके हृदयमें दिन-रात भगवान् रहते हैं, जिसका हृदय क्षणभरके लिये भी भगवान्‌को

नहीं छोड़ता, सदा उनसे संलग्न रहता है, उनके सिवा जिसको और कुछ भी सुहाता-भाता ही नहीं, उसके मनमें जगत्—जगत्‌के विषय-भोग कहाँ रह गये हैं। इतनेपर भी चाह तो बनी ही रहती है; पवित्र प्रभु-प्रेममें कहीं अन्त तो है नहीं। जिस प्रेममें प्यास बुझ जाती है, वह 'प्रेम' नहीं—वह तो गंदा 'काम' होता है। अतएव अपनेमें प्रेमकी कमी दीखना और दिन-रात प्रभु-मिलनकी चाह बनी रहना तो इसका शुभ स्वरूप है। 'मिले ही रहत पर कबहुँ मिले ना'—यही तो प्रेम है।

नित्य-निरन्तर प्रभुका अन्तर्मिलन होता रहे

प्रभु जो ठीक समझते हैं, वही होता है और वही वस्तुतः ठीक है। उसीमें परम संतुष्ट रहना चाहिये। जिसमें अनवरत प्रभु-स्मरणजनित परमसुख मिले, वह प्रभुका वियोग भी परम आदरणीय है, एवं जिसमें प्रभुकी उपेक्षा होकर स्मृति न रहे, वह संयोग या मिलन भी अवाञ्छनीय है। प्रभु अपनी चीजको चाहे जैसे बरतें, प्रेमी उनका हाथ कभी नहीं रोकता; परंतु जहाँ पद-पदमें और पल-पलमें उत्कण्ठा बढ़ाकर प्रभु अपनी ओर ही विशेषरूपसे खींच रहे हों, वहाँ तो हाथ रोकनेकी बात भी नहीं है। यह तो प्रभुका परम प्रेमदान ही है। अतएव तुम परम प्रसन्न रहो। कोई भी अवस्था तुम्हारे चित्तसे क्षणभरके लिये भी स्मृतिरूप प्रभुको न हटा सके; नित्य-निरन्तर प्रभुका अन्तर्मिलन होता ही रहे।

भगवान्‌ने जिसको अपना लिया, उनमें दोष कहाँ रहेगा ?

भगवान् हमारे दोष नहीं देखते, केवल भाव देखते हैं; और जैसे अपने सहज प्रकाशसे सूर्य घोर अन्धकारका तुरंत नाश कर देते हैं, वैसे ही अपने प्रेम-प्रकाशसे भगवान् तमाम दोषोंका नाश कर डालते हैं। भगवान्‌ने जिसको अपना लिया, उसमें दोष कहाँ रहेगा। जिनके हृदयमें भगवान् आ बसे और भगवान्‌ने अपने हृदयमें जिनको परम लोभनीय धन मानकर अत्यन्त ममतासे बसा लिया, उनमें दोष कहाँ रहे। यदि कोई दोष है तो वह भी भगवत्प्रेमरूप और प्रेमका दिव्य उद्दीपक ही है।

श्यामसुन्दर बिना संकोच-सहमके तुम्हारे साथ रहते हैं

मैं तुम्हें सदा-सर्वदा अत्यन्त प्रसन्न तथा सुखमय देखना चाहता हूँ। यह आत्यन्तिक सुख किसी भी लौकिक आशा, कामना, ममता, स्पृहा, आसक्ति आदिमें अथवा किसी भी प्राणी-पदार्थ-परिस्थितिमें है ही नहीं। यह तो एकमात्र भगवान्‌में है और वहाँ नित्य, अनन्त, असीम, अपार है। इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनको अपनेमें (भगवान्‌में) चित्त जोड़कर आशा, ममता तथा कामनाके संतापसे रहित होकर युद्ध करने तथा प्रत्येक कर्मको भगवान्‌में निक्षेप करनेकी आज्ञा दी थी। ये भगवान् नित्य ही तुम्हारे साथ, तुम्हारे अत्यन्त आत्मीयरूपमें वर्तमान हैं। क्षणभरके लिये उनके वियोगकी कल्पना नहीं। प्रत्येक देश, प्रत्येक काल तथा प्रत्येक अवस्थामें वे तुम्हारे अपने श्यामसुन्दर तुम्हारे साथ बिना किसी संकोच-सहमके रहते हैं। तुम इसका अनुभव करो तथा नित्य अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके दर्शन, स्पर्श, सम्भाषण, मिलनका सुख प्राप्त करो। वे किसी दूसरे देशसे, किसी विशेष कालमें, किसी खास स्थितिमें तुम्हारे पास नहीं आते। वे तो हर देश-काल-स्थितिमें प्रत्यक्ष तुम्हारे साथ रहते हैं। इसमें जरा-सी संदेह नहीं है। यह देख लेनेपर उनके सुखके लिये तुम भले ही कहीं जाओ, परंतु उनसे मिलनेके लिये कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि वे तो बिछुड़ते ही नहीं, कभी बिछुड़ना जानते ही नहीं।

(पुराने पत्रोंसे संग्रहीत)

साधना

(लेखक—आचार्य श्रीमुंशीरामजी शर्मा, 'सोम')

साधन और साधना दोनों अन्योन्याश्रित हैं। साधक जिस सिद्धिको उपलब्ध करना चाहता है, उसके लिये उसे साधनोंके द्वारा साधना करनी पड़ती है। यह साधना प्रमुख-रूपसे शरीर, वाणी और मन—तीनोंके संयमका नाम है। प्राण इस साधनाका प्रमुख सूत्रधार है। प्राण यदि वशमें हो तो शरीर, वाणी और मन अपने-आप वशीभूत हो जाते हैं। हठयोगमें प्राणायामकी क्रिया प्राणको स्वायत्त करनेवाली है। प्राणमें सम्पूर्ण शरीर—आभ्यन्तर एवं बाह्य अधिष्ठित है। शरीरका स्वास्थ्य ब्रह्मचर्यपर आधारित है। ब्रह्मचर्यका अर्थ है—'अन्नके अन्तिम, सर्वोत्तम अंश वीर्यका रक्षण'। ब्रह्मचर्यके अन्य अर्थ भी हैं, परंतु शरीरके स्वास्थ्य-सम्पादनके सम्बन्धमें उसका उपर्युक्त अर्थ ही समीचीन है। वेद कहता है—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।'

शरीरके अवयव-अवयवमें जो तेज फूटता है और जो शक्ति आती है, उसका एकमात्र कारण 'ब्रह्मचर्य' है। जो मृत्यु पल-पलमें प्राणीपर प्रहार किया करती है, उसका दूरीकरण ब्रह्मचर्यद्वारा ही सम्भव होता है। विद्यार्थी ही नहीं, आचार्य भी ब्रह्मचर्यसे ही अपने कार्यका सुचारु रूपसे सम्पादन कर पाता है। प्रजाका स्वास्थ्य यदि ब्रह्मचर्यसे सिद्ध होता है, तो राजा भी ब्रह्मचर्यके बलपर ही राष्ट्रकी रक्षा कर पाता है। जहाँतक शरीरका विस्तार है, वहाँतक ब्रह्मचर्यका ही प्रभुत्व है।

ब्रह्मचर्यको 'तप'की संज्ञा भी दी गयी है। 'तप'का अर्थ है—द्वन्द्वोंको सहन कर लेना। इसके द्वारा भी शरीर स्ववशी बनकर सुरक्षित रहता है। शौच या पवित्रता तपका ही परिणाम है। जिसने तप नहीं किया, उसका पवित्र बनना कठिन है। 'अतप्ततनू' को वेदने 'आम' अर्थात् कच्चा कहा है। जिस प्रकार कच्चे घड़ेमें पानी नहीं ठहर सकता, उसी प्रकार तपश्चर्यासे रहित प्राणीमें पवित्रता नहीं ठहर सकती। पवित्र व्यक्तिपर ही प्रभुकी ज्ञानामृत-धाराओंका क्षरण होता है। अतः ब्रह्मचर्य और तप शारीरिक स्वास्थ्य-के आवश्यक उपादान हैं और मानवको पवित्र प्रभुकी ओर ले जानेवाले हैं।

वाणीका संयम 'सत्य' है। जिस वाणीमें सत्यका निवास है, वहीं वाणी तेजस्विनी है। सत्यके साथ वाणीको सूनृत भी होना चाहिये। सूनृत वाणीमें मधु निवास करता है। मधुमयी वाणी जिसकी जिह्वापर खेलती हो, उसे वशीकरण-का मन्त्र सिद्ध हो गया समझिये। मधुमयी वाणी जहाँ सुखद सम्बन्धोंकी सृष्टि करती है, वहाँ कटुवाणी वैमनस्य उत्पन्न करके विरसताका प्रसार भी कर देती है। विरसतामें जीवनका दुःखद-पक्ष उद्घाटित होता है, जिससे पद-पदपर जीवन-यापनमें कठिनाइयाँ आने लगती हैं। जो मानव साधनामें लगा है, उसके मार्गमें जब विघ्न-व्यूह खड़े हो जाते हैं तो वे उसे साधना-पथसे विचलित कर देते हैं। साधना ही भङ्ग हो गयी तो सिद्धि कैसे हाथ लगेगी ? अतः मानव-को अपनी वाणीमें सत्य और माधुर्यका समावेश करके अपने साधना-पथको प्रत्यूहोंसे पृथक् रखना चाहिये। मित-भाषण भी इसके लिये एक उपयोगी साधन है। जो जल्पी है, बकवादी है, उसका प्रभाव स्वभावतः क्षीण होने लगता है। ऊलजलूल बातें करनेवाला व्यक्ति श्रोताओंकी दृष्टिमें गिर जाता है। जो व्यक्ति आवश्यक एवं तथ्यसे पूर्ण बातें करता है, उसे सुननेके लिये सभी लालायित रहते हैं। वाणी-की यह साधना स्वाध्यायकी भी अपेक्षा रखती है। स्वाध्यायशील व्यक्ति अपने मनन और चिन्तनके द्वारा नीर-क्षीर-विवेकी बनकर उपयोगी शब्दोंका ही प्रयोग करता है। नीतिकारोंका कथन है कि मानवको या तो सभामें जाना नहीं चाहिये और यदि जाता है तो उसे अपनी वाणीद्वारा सत्यका ही समर्थन करना चाहिये। असम्बद्ध तथा अनुपयोगी वार्तालाप मनुष्यको श्री एवं शोभासे वञ्चित कर देता है। उसका प्रभाव भी परिणामतः विपरीत ही होता है। समाजमें ऐसे व्यक्तिकी साख उठ जाती है। अतः वाणीका संयम साधनापथका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

मनका संयम इन दोनों संयमोंके भी ऊपर है। मनका अभिव्यञ्जन वाणीद्वारा होता है। अतः वाणीके संयमपर जो कुछ लिखा गया है, उसका कुछ अंश मनसे भी सम्बद्ध है। मन चेतनाका अंश है। उसका क्षेत्र भी विस्तृत है। उसमें मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार—चारोंका समावेश किया जा सकता है। यजुर्वेदके ३४वें अध्यायमें मनका गहन एवं विशद निरूपण हुआ है। मन बड़ा वेगवान् है।

यह ज्योतियोंकी भी ज्योति है। इसीके बलपर धीर एवं मनीषी व्यक्ति असाधारण यज्ञकर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। प्रज्ञान, चेतना, धृति और अमरत्व मनमें ही निहित हैं। इसके बिना कोई भी कर्म नहीं होता। वर्तमान, भूत और भविष्य-का ज्ञाता मन ही है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ इसीके सहारे ज्ञान-समुद्रमें डुबकी लगाकर ज्ञानामृतका संचय करती रहती हैं। ऋक्, यजुः और सामका प्रतिष्ठान मनमें ही है। कठोपनिषद्-में 'आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि, इन्द्रियोंको अश्व तो मनको लगाम कहा गया है।' लगामको रोकने अथवा ढीली छोड़ देनेसे घोड़ोंकी गतिपर प्रभाव पड़ता है। अतएव इन्द्रियोंको वशमें रखनेके लिये मनरूपी प्रग्रह (लगाम) को कसे रहना आवश्यक है।

गीता मनरूपी प्रग्रहके निग्रहको वायुके निग्रहके समान सुदुष्कर कहती है। वायु भी प्रबल वेग रखती है। उसे रोक रखना अतीव कठिन कार्य है। मनके भी वेगको संयममें रखना बहुत कठिन है। परंतु यह भी निश्चित है कि जबतक मन वशमें नहीं है, तबतक उत्थान भी असम्भव है। **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'** मन असंयत है तो बन्ध-ही-बन्ध है। इसके विरुद्ध यदि मन संयत है तो मोक्षका द्वार भी उन्मुक्त है।

मनके संयमके लिये दृढ़ एवं कल्याणकारी संकल्प एक अमोघ साधन है। वेद कहता है—**आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु।** (शु० य० २५।१४) **'भद्र क्रतु'** अर्थात् संकल्प ही हमारे अंदर आने चाहिये। यजुर्वेदके मन्त्रोंमें भी **'तन्मे मनः शिव-संकल्पमस्तु'** की टेक दुहरायी गयी है। हमारा मन शिव संकल्पोंवाला बने। शिवसंकल्प साधनापथपर आरूढ़ साधकोंके लिये परमावश्यक है। चैतन्याग्निका प्रज्वलन इसी आधारपर होता है।

ज्ञान, कर्म और भक्तिका समन्वय मनके क्षेत्रकी ही अनुपम साधना है। हठयोगमें मनको उन्मन बनानेकी प्रणाली उल्लिखित है। मनकी जो धारा विषय-वासनाओंकी ओर बहती है, उसे उलटकर, विषयोंसे विरत करके, बाह्योन्मुखीसे अन्तर्मुखी बनाना पड़ता है। संतोंकी 'उलटधार' इसी उन्मनी अवस्थाकी सूचिका है। पातञ्जल-योगमें इसीको 'प्रत्याहार' कहा गया है। जैसे पशुको चोर चुरा ले जाता है तो पशुके पद-चिह्नोंको देख-देखकर चलता हुआ पशुका स्वामी उसे प्राप्त कर लेता है, वैसे ही यदि अपनी दर्शन-शक्तिको पकड़ना है तो हमें उसके संकेतोंको समझते हुए तथा उनका अनुगमन करते हुए उसे पकड़ना पड़ता है। उन्मन इसी शक्तिको ग्रहण करनेमें समर्थ होता है। जैसे पक्षी अपने दोनों पंखोंको फड़फड़ाता हुआ आकाश-में ऊँची उड़ान भरता है, वैसे ही यह मन भी ज्ञान और कर्मके पंखोंके सहारे उड़ता हुआ ऊँचा उठ जाता है। 'उन्मन'में 'उत्'का अर्थ भी ऊँचा ही है। विषयोंमें फँसना गिरना है। शिव-संकल्पके सहारे आत्मातक पहुँचना उन्नयन है, ऊपर उठना है।

साधनामें पथके ज्ञाता, चीर्णव्रत गुरु भी अनुपम सहायक सिद्ध होते हैं। साधकको असमर्थ समझकर गुरु अपनी संकल्प-शक्तिका संचार शिष्यके अंदर कर सकता है। कभी हृदयस्थ भावके सहारे, कभी आँखोंमें आँख डालकर और कभी मनके द्वारा वह शिष्यको अपनी शक्तिके बलपर मार्गदर्शन करा देता है, गन्तव्यरूपी ज्योतिकी झलक दिखला देता है, शिष्यके अंदर उसे स्थिर भी कर देता है; परंतु फिर भी आगेका कार्य शिष्यके अपने बल-बूतेपर ही, अपने अभ्यासपर ही, अपने साधना-सम्बलपर ही अवलम्बित है। वेद कहता है—

'स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व, स्वयं यजस्व, स्वयं जुषस्व। महिमा ते अन्येन न संनशे।' (शु० य० २३।१५)

'साधक! तू स्वयं अपने शरीरकी साधना कर। स्वयं साधना-पथपर आगे बढ़। अपनी सेवा अपने आप कर। तेरी महिमा तेरेद्वारा ही सिद्ध हो सकेगी। कोई अन्य उसे तेरे लिये प्राप्त नहीं करा सकेगा।'

साधना इन्हीं तीन क्षेत्रोंतक सीमित है। साधकको प्रयत्नपूर्वक असत्से सत्की ओर चलना है, तमसे ज्योतिकी ओर बढ़ना है और मृत्युसे हटकर अमरता प्राप्त करनी है। अमरत्वका वरण ही उसका लक्ष्य है। जबतक वह अधम, मध्यम या उत्तम शरीरोंमें बँधा है, तबतक मरण ही मरण है। अमरता आत्मस्थ होनेमें है। आत्मोपलब्धि समस्त उपलब्धियोंकी उपलब्धि है। साधककी साधनाका अन्तिम बिन्दु यहीं जाकर समाप्त होता है।

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

संसारसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाइये

एक बात खूब ध्यानमें रखनेकी है—भगवान्‌के मार्गमें बढ़नेवालेको साथी नहीं खोजना चाहिये। साथ मिल जाय, ले ले; किंतु साथकी अपेक्षा न रखे। खासकर आजकल कलियुगके भीषण वातावरणमें संसारके गर्तसे निकालनेमें सहायता देनेवाले साथी बहुत कम मिलते हैं।

कालके प्रवाहमें आज जिसे मनुष्य अपना कहता है, वे सब-के-सब छिन्न-भिन्न हो जायँगे। आप ही सोचें—इस जन्मके पहले भी तो आप कहीं थे ही, परिवार भी होगा ही; किंतु आज उसकी स्मृतितक नहीं है। वे भूखे मर रहे होंगे तो भी आपको उनका पता नहीं। इसी प्रकार मृत्यु वर्तमान परिवारकी स्मृति भी नष्ट कर देगी। पर मोहवश मनुष्य विचारता नहीं। तात्पर्य यही है—संसारसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाना चाहिये। समय किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता। किंतु हताश भी होनेकी जरूरत नहीं है। कृपामयका आश्रय जिसने वाणीसे भी ले रखा है, उसका भी उद्धार वे करेंगे ही। फिर जो उनके चरणोंमें मन लगाना चाहते हैं, उनके लिये क्या कहा जाय।

भगवान्‌से मनको जोड़िये

आपका मन जिन-जिन पदार्थोंका चिन्तन करता है, उनसे कितने दिनोंसे सम्बन्ध है, जरा विचारें। इस देहके धारण करनेके समयसे ही तो उनका सम्बन्ध हुआ है। अतएव एक सीमित समयके चित्र बार-बार मनमें उलट-पलट करके आते हैं और किसीसे राग होता है, किसीसे द्वेष होता है; किसीको आप अपना मानते हैं, किसीको पराया; किसीसे दुःखी होते हैं, किसीसे प्रसन्न होते हैं—यही भूल है। हमलोगोंको इसीको मिटाना है। इन सब स्थानोंसे मनको निकालना है और सबके बदले केवल एक भगवान्‌का चिन्तन करना है। हमारे चिन्तनका जितना स्थान भगवान् ग्रहण करेंगे, उतना अंश विषयोंसे रहित होगा। जिस दिन केवल भगवान्-ही-भगवान् रहेंगे, उस दिन संसार पूर्णरूपसे निकल जायगा। हमलोग अभ्यास करें, चेष्टा करें मनको निरन्तर भगवदाकार बनानेकी। पहले विश्वास करें—'इस जगत्‌में सुख नहीं है; फिर प्रतीति होनेपर विचारके द्वारा निश्चित करें—यहाँ सुख नहीं है। 'इस प्रकार निरन्तर—'यहाँ इस जगत्‌में सुख नहीं है', इसकी भावना दृढ़ करते हुए भगवान्‌से मनको जोड़िये। देखिये, भगवान् कोई कल्पनाकी वस्तु नहीं हैं। वे हैं, सत्य हैं, नित्य हैं और आपकी प्रत्येक चेष्टाको देखते हैं। यदि सचमुच पूरी ईमानदारीसे अपनी ओरसे मनको लगानेकी पूरी चेष्टा करें तो कृपामयकी कृपा शेष कमी पूरा कर देगी। वे केवल नीयत देखते हैं। प्रयासकी तत्परता होनेपर उनकी कृपासे स्वयं संसारसे मन हटेगा और उनकी ओर लगेगा।

व्यवहार जैसे है, वैसे ही रहे; मनमें केवल उनका ही आसन रहे

पूरी चेष्टा कीजिये, मनसे और सभी आसक्तियाँ मिट जायँ। खूब गम्भीरतासे विचारें और बार-बार सोचें—स्त्री आदिके प्रति मेरा प्रेम होनेका क्या कारण है! आप देखें, इसमें एक बड़ी सुन्दर रहस्यकी बात है। आप विचारें—आपका प्रेम आपकी स्त्री आदिकी चेतन आत्मासे है अथवा उसकी देहसे? यदि देहसे प्रेम होता, तो मरनेके बाद—शरीरसे चेतन आत्माके निकल जानेके बाद भी उसे रहना चाहिये; पर सच मानिये, यदि आप कहीं जीवित रहे और आपकी स्त्री आदिमेंसे किसीकी मृत्यु हो गयी और उसके बाद यदि कोई आपको उस कमरेमें अकेले रहनेके लिये कहे तो डर लगेगा। आप शायद नहीं रहियेगा। ऐसी बात क्यों होती है? इसलिये कि अब उस देहमें भगवान्‌का जो चेतन

अंश था, वह नहीं रहा। भगवान्‌का अंश निकल जाने-पर वह चीज इतनी भयावनी हो गयी कि अब उसके पास बैठनेमें भी डर लगता है। उनका अंश जब-तक था, तबतक वह चीज प्रिय थी। अब सोचें, उनके अंशको लेकर ही तो आप इतने फँस रहे हैं। यदि स्वयं अंशी पूर्णरूपसे प्राप्त हो जायँ तो कितना मधुर लगेगा ? कितना आकर्षण होगा ? स्वयं भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीसे कहा है—

अहमात्माऽऽत्मनां धातः प्रेष्ठः सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद्देहादिर्यत्कृते प्रियः॥
(श्रीमद्भागवत ३ । ९ । ४२)

'विधाता ! मैं आत्माओंका भी आत्मा और स्त्री-पुत्रादि प्रियोंका भी प्रिय हूँ। देहादि भी मेरे ही लिये प्रिय हैं। अतः मुझसे ही प्रेम करना चाहिये।'

इन बातोंपर खूब विचार कीजिये। व्यवहार जैसे है, वैसे ही रहे; पर मनको खाली कर दीजिये। मनमें केवल उनका ही आसन रहे। संतलोग कहते हैं— ऐसी बात हो सकती है, यदि कोई सच्चे हृदयसे चाहने लगे। सच्ची चाह निर्मल अन्तःकरणमें होती है और निर्मल-अन्तःकरण बननेका सर्वोत्तम एवं सुलभ साधन है—निरन्तर नाम-रटन।

निराश मत होवें, भगवान्‌की कृपाकी बाट देखते रहें

आपको अपनी स्त्री आदिकी बीमारीकी चिन्ता है, सो स्त्री आदिके सम्बन्धमें यह बात विचारना चाहिये कि मङ्गलमयके विधानके अनुसार जो होना होगा, वही होगा। उनकी मृत्युमें हमारा मङ्गल होगा तो मृत्यु आकर ही रहेगी और यदि संयोगमें मङ्गल होगा तो संयोग वे कभी नहीं तोड़ेंगे। इसके अतिरिक्त ज्योतिषके निर्णयसे अल्पायु एवं दीर्घायुका ठीक-ठीक पता चलना आजकल कठिन है। ज्योतिषशास्त्र ठीक है, पर उसके जाननेवाले आजके युगमें बहुत कम हैं। सबसे मुख्य बात यह है कि भगवान्‌के विधानको जाना भी नहीं जा सकता। यह सोचकर इस विषयमें आपको निश्चिन्त ही रहना चाहिये। आर्थिक प्रश्नको लेकर मनमें चिन्ता होनी भी स्वाभाविक है। साथ ही आप जैसे वातावरणमें रह रहे हैं, उसमें भगवान्‌पर विश्वासकी शिथिलता होना कोई आश्चर्य नहीं है। पर आप मनमें इस बातको निश्चय कर लें कि यह बात सर्वथा प्रारब्धसे सम्बन्ध रखती है। प्रत्येक प्राणीका प्रारब्ध अलग-अलग है। सुख-दुःख जैसे, जिसके प्रारब्धमें हैं, वे आयेंगे ही। रोनेपर केवल दुःख बढ़ता है। खासकर आपको तो इन बातोंको छोड़ देना चाहिये। आप एवं आपसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त वस्तुएँ उनकी (भगवान्‌की) हैं। वे चाहे जैसे उन्हें काममें लायें। यदि विवेक बटोरकर बार-बार मनको इस प्रकार सुझाव (सजेशन) दीजियेगा तो उनकी कृपासे मन इन बातोंको ग्रहण करने लगेगा।

देखें, घबरायें बिल्कुल नहीं। उनपर निर्भर होनेकी चेष्टा कीजिये। वे स्वयं बल देंगे। देरसे दें, जल्दी दें, कभी दें, पर देंगे अवश्य। एक क्षणके लिये भी निराश मत होवें। उनकी कृपाका एक क्षणके लिये भी अनुभव होनेपर स्त्री आदिके प्रति सारा मोह, संसारका सारा प्रलोभन उसी क्षण हवा हो जायगा। कृपाका अनुभव भी उनकी कृपासे ही होगा। आप बाट देखते रहें। वस्तुतः भगवान्‌की कृपा ऐसी होती है कि हमलोग उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। बस, आवश्यकताभर बोलनेके बाद जागनेसे लेकर सोनेतक मशीनकी तरह जीभ भगवान्‌का नाम लेती रहे— यह काम अवश्य होना चाहिये। यह हो सकता है; यदि नहीं होता है तो समझ लें कि मन आपको बुरी तरह धोखा दे रहा है। सावधान हो जाइये। कम-से-कम आप इतना ही कीजिये, बाकी वे सब कर देंगे, कर देंगे, कर देंगे। सारी व्यवस्था ठीक हो जायगी, हो जायगी, हो जायगी।

दक्षिणामूर्ति

(लेखक—ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी)

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः संछिन्नसंशयाः ॥

'आश्चर्यकी बात है कि वटवृक्षकी जड़के समीप गुरु जो बैठा है, वह तो युवा है—नित्य युवा है वह और उसके समीप बैठे शिष्य ऋषि-महर्षि वृद्ध हैं। गुरु अपने मौनसे ही प्रवचन कर रहा है, मौन ही उसका प्रवचन है और इस प्रवचनसे शिष्योंके सभी संदेह मिट चुके हैं।'

वटवृक्षके नीचे वेदिकापर वामपाद लटकाये और उससे अज्ञान-पुरुषको दबाये, दक्षिणपाद वाम ऊरुपर स्थापित किये, कर्पूरगौर, त्रिलोचन, चतुर्भुज, गङ्गाधर, चन्द्रशेखर, नीलकण्ठ, हस्तिचर्माम्बर, नागयज्ञोपवीती, विभूतिभूषण, ज्ञानमुद्रासे स्थित, दक्षिणाभिमुख भगवान् शंकरकी यह दक्षिणामूर्ति गुरुमूर्ति है। यह महेश्वरका ज्ञानदाता आचार्यरूप है। परमगुरुके रूपमें यह ध्येयमूर्ति है।

परमगुरु भगवान् शिव हैं। समस्त विद्याओंके वे प्रथमाचार्य हैं और व्याकरणके मूलसूत्र—वर्णमाला-के अक्षरोंका प्रादुर्भाव उनकी डमरूध्वनिसे हुआ है। अव्यक्त वाक् मानव-स्वरमें उनके अनुग्रहसे अवतीर्ण हुई।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥
(मानस १ । ३ श्लोक)

'नित्यबोधमय गुरु भगवान् शिव—उनका आश्रय लेकर द्वितीयाका क्षीण, वक्र चन्द्र भी वन्दनीय हो गया है।'

परमगुरुकी चर्चा आयी तो मुझे स्मरण आ गया—मैं कैलास-मानसरोवरकी यात्रापर जा रहा था। गर्ब्योगसे कुछ और यात्री साथ हो गये थे। हमलोगोंने हिम-शिखरके नीचे विश्राम किया था रात्रिमें और चार बजे ही चढ़ाई प्रारम्भ कर दी थी। सूर्योदयसे पूर्व यदि हिमशिखर पार हो जाय तो ठीक। धूपमें प्रखरता आनेसे पूर्व जो बरफ पत्थर-सी कठोर है, वही धूप होनेपर नरम हो जायगी। उसमें कहाँ घुटनोंतक और कहाँ कटितक धँसना पड़ेगा, कहना कठिन है।

गर्ब्योगसे तकलाकोट जानेके इस मार्गमें केवल एक हिमशिखर पार करना पड़ता है। हम आधीके लगभग चढ़ाईपर पहुँचे होंगे कि हिमपात प्रारम्भ हो गया। इस वर्ष ग्रीष्मारम्भमें अभीतक मार्ग खुला नहीं था। केवल कुछ बकरीवाले एक दिन पूर्व गये थे। हमारा यात्री-दल पहला ही था। सर्वत्र भूमि हिमसे पर्याप्त ऊँचाई तक ढकी थी।

जैसे कद्दूकसपर कसकर बहुत पतली नारियलकी गिरी टोकरोंसे ऊपरसे गिरायी जा रही हो, ऐसा था वह हिमपात। इसमें अपने आगे कठिनाईसे एक या दो फुट दीखता था। बहुत घने कुहरेसे भी घना था वह अन्धकार।

मार्गदर्शकने हिमपातके प्रारम्भमें ही चेतावनी दी—'मेरे खोजपर ही पैर रखकर चलें। उतराईमें साथ रहें सब। जहाँ-तहाँ मार्गसे थोड़े ही इधर-उधर गहरे खड्ड हिमसे ढके हैं।'

हिमपात कोई पद-चिह्न दो क्षण भी नहीं रहने देता था। कठिन चढ़ाई, प्राणवायुकी वायुमण्डलमें कमी और ऊपरसे यह हिमवर्षा। सबको अपनी-अपनी पड़ी थी। सब आगे-पीछे हो गये। कौन कितना पीछे है, यह न देखा जा सकता था, न देखनेका अवकाश था। मार्गदर्शक अवश्य बीच-बीचमें पुकार लेता था।

मैं पूरा बल लगाकर चढ़ रहा था। दूसरोंकी अपेक्षा पर्वतीय चढ़ाईका मुझे अभ्यास भी था। मैंने मार्गदर्शकके शब्द पीछे सुने। उसकी उपेक्षा करके बढ़ता गया। किसी भी प्रकार यह विकट चढ़ाई पार कर लेनेकी धुन थी।

शिखरपर पहुँचा तो हिमपात अधिक बढ़ गया। शीतका यह हाल कि नाकसे निकली श्वासका पानी मूँछोंपर हिम बनकर जम गया था। श्वास लेनेमें कष्ट हो रहा था, उस ऊँचाईपर। अतः रुककर प्रतीक्षा कर लेनेका, साथियोंको आ जाने देनेका धैर्य नहीं रहा। मैं उतरने लग गया। जैसी खड़ी कठिन चढ़ाई थी,

ऐसा ही खड़ा उतार था। एक बार चला तो पैरों-की गति स्वतः बढ़ती गयी।

'तिष्ठ !' सहसा बड़े कड़े स्वरोंमें किसीने समीपसे कहा। मेरे पद एकाएक रुक गये। मैंने खड़े होकर इधर-उधर देखा। सघन हिमपातके कारण कुछ देखना सम्भव नहीं था। बस, ऐसा लगा कि दाहिनी ओर एक मानवाकार, पर बहुत अकल्पनीय दीर्घ कोई छाया-सी है। इससे अधिक दीखनेकी आशा उस हिमपातमें नहीं थी।

'अपनी छड़ीसे सम्मुख देखो।' अत्यन्त सरल संस्कृतमें फिर मुझसे कहा गया। मैंने हाथकी छड़ी अपनेसे थोड़े आगे भूमिमें गड़ानेका प्रयत्न किया तो वह भीतर धुसती चली गयी। एक बार मेरा पूरा शरीर काँप गया। इसका अर्थ था कि मैं कोमल हिमसे ढके किसी गहरे खड्डके कगारपर खड़ा था। एक पद और उठा होता तो पता नहीं, कई सौ या कई सहस्र फुट गहरे हिमके नीचे देह पहुँच गया होता।

'आप कौन ?' दो क्षण लगे मुझे अपनेको स्थिर करनेमें। दो पद पीछे हटा मैं और तब मैंने पूछा।

'तुम्हें इससे प्रयोजन नहीं है।' उत्तर आया। मुझे तुम्हारी रक्षाके लिये भेजा गया है।'

'किसने भेजा है ?'

'महाबुद्धने।'

'महाबुद्ध कौन ?'

'हाँ—यह तुम जान सकते हो,' उत्तर आया। तुम्हारे यहाँ देशमें बहुत मन्दिर, हैं, शिवके। उनमें प्रत्येक मन्दिरमें पूजन होता है। शिव उतने हैं क्या ?'

'नहीं, वे एक हैं।'

'प्रत्येक जिज्ञासुके पृथक्-पृथक् गुरु होते हैं; किंतु सचमुच व्यक्ति गुरु नहीं होता।' वे अदृश्य कह रहे थे। ''गुरुतत्त्व—परमगुरु एक ही है। हम उसे महाबुद्ध' कहते हैं। तुम शेष, शिव या श्री कहते हो।''

एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

मुझे गुरुवन्दनाके श्लोकका यह उत्तरार्ध स्मरण आया। एक, नित्य, विमल, अचल, समस्त बुद्धियोंका साक्षी, भावातीत और त्रिगुणरहित, भला, व्यक्ति हो कैसे सकता है ?

लगा कि दाहिनी ओर जो अस्पष्ट छायाकृति थी, वह वहाँ नहीं है। जानेसे पूर्व उसने कहा था—'अपनी वामभुजाकी ओर घूम जाओ। थोड़ी दूर चलो। हिम-रहित शिला मिले तो उसपर खड़े होना। तुम्हारे साथी तुम्हें शीघ्र मिल जायँगे।'

मैं घूम गया। थोड़ी दूरीपर पर्वतका एक भाग कुछ आगे झुका मिला। फलतः उसके समीपकी शिलापर हिम नहीं था। मैं वहाँ खड़ा ही हुआ था कि हिमपात बंद हो गया। धूप निकल आयी। मेरे साथी पर्वतसे उतरते समीप आ पहुँचे थे। भला, उनसे मैं क्या कहता।

गुरु व्यक्ति नहीं होता—जैसे मूर्ति धातु या पाषाण नहीं होती। मूर्तिमें हम सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमात्माकी आराधना करते हैं और उस माध्यममें हम उस दयामयका सांनिध्य पाते हैं। भगवत्सेवाका सुअवसर एवं भगवत्सांनिध्यका पूरा लाभ मूर्ति हमें देती है।

गुरु व्यक्ति नहीं है। उसमें व्यक्तित्व बचा है तो वह गुरु ही नहीं है। सर्वधीसाक्षिभूत परमगुरुका श्रीविग्रह है वह।

परमगुरु—आचार्यविग्रह महेश्वर भगवान् दक्षिणा-मूर्ति। विश्वको अज्ञानान्धकारसे त्राण देनेके लिये ही वे अज्ञानके अधिदेवताको अपने वामपादके नीचे दबाये ज्ञानमुद्रामें सुप्रसन्न अवस्थित हैं।

आपको योग्य गुरु नहीं मिलता ! आपने ढूँढ़ देखा—किसीमें आपकी श्रद्धा नहीं होती !

पहली बात—बहुत दयनीय हैं आप। बड़ा दृढ़-मूल है आपका अभिमान, जो कहीं आपको श्रद्धा नहीं करने देता।

दूसरी बात—क्या चौथी कक्षाका विद्यार्थी बारहवीं कक्षाके छात्रकी योग्यता जान सकता है ? अपनेसे अधिककी योग्यता जाननेका उपाय नहीं है। आप केवल यह जान सकते हैं कि यह हमसे अधिक योग्य विद्वान् या साधक है। कोई महापुरुष है या नहीं, यह आप जान नहीं सकते। इसपर आप केवल श्रद्धा कर सकते हैं।

तीसरी बात—आपके समीप एक कसौटी है। जो आपसे, संसारमें किसीसे भी कुछ चाहता है, कुछ आशा करता है—भले वह सम्मान पानेकी ही आशा-इच्छा हो, वह साधक भी नहीं है। वह महापुरुष कहाँसे होगा। महापुरुषमें कामना नहीं होती। साधकको कोई कामना हुई तो उसका आराध्य न कृपण है न असमर्थ। अतः वह अपने आराध्यको छोड़कर किसीसे कुछ नहीं चाहता।

'तीनों बातें ठीक; किंतु गुरु न मिले तो ?'

परमगुरु कहीं चले गये हैं ? वे समस्त बुद्धियोंके साक्षी हैं तो आपकी बुद्धिके साक्षी नहीं हैं ? आप उनकी—सबके आचार्यरूप दक्षिणामूर्तिकी शरण क्यों नहीं लेते ? उनकी कृपा किसी भी प्रतिबन्धकसे प्रतिरुद्ध नहीं हुआ करती। आप उनकी शरण लेंगे तो ज्ञानका प्रकाश आपके हृदयमें स्वतः होगा और यदि आपको किसी देहधारी मार्गदर्शककी ही सचमुच आवश्यकता है तो क्या उसे आपतक भेज देनेमें वे समर्थ नहीं हैं ?

आपकी आवश्यकता—इस आवश्यकताको आप ठीक-ठीक समझते हैं या वे सर्वज्ञ ? आपकी आवश्यकता-नुभूति भ्रान्त नहीं हो सकती क्या ?

कोई मार्गदर्शक होगा—वह व्यक्ति तो नहीं होगा। वह उनसे अभिन्न होकर, उन परमगुरुका प्रतीक होकर ही तो मार्ग-दर्शन करेगा। तब उसे कहीं भेज देनेमें उन्हें कोई कठिनाई है ?

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥
(दक्षिणामूर्त्यष्टकम् १

'दर्पणके भीतर प्रतिबिम्बित नगरके समान यह सम् विश्व मायासे अपने-आपमें ही उसी प्रकार बाह्यकी भाँ दीखता है, जैसे स्वप्नमें दीखनेवाला संसार—सू चन्द्र, पृथ्वी-आकाश, सचराचर प्राणी—अपने भीत होते हुए भी बाहर-सा दीखता है। इस प्रकार बोधवृत्ति उदयकालमें जो अपने अद्वय आत्मस्वरूपका साक्षात्कार क हैं, उन गुरुमूर्ति श्रीदक्षिणामूर्तिको हमारा नमस्कार।

नमस्कार—उन अद्वय, ज्ञानस्वरूप, करुणासागरक और कोई सेवा-अर्चा क्या की जा सकती है। उनके श्रीचरणोंमें अपने अहंको, अपने अस्तित्वको शिथिल करके नत हो जायँ हम, यही हमारी सबसे बड़ी सेवा है।

बाबा ! तुम शंकर हो तो और प्रलयंकर हो तो, तुम शिव हो तो और रुद्र हो तो, तुम पिता हो तो और गुरु हो तो, शिशु तुम्हारे चरणोंमें नत है। अपने कल्याण—अपने हितसे अज्ञ शिशु तुम्हारे श्रीचरणोंमें प्रणत है।

आप उन पङ्कजारुण विधि-सुर-मुनि-वन्द्य श्रीचरणोंमें मनसे नमस्कार करके, अपनेको नत करके देखें। ज्ञान-घनकी कृपावृष्टि आपको आप्लावित करके रहेगी।

आँखोंके जल-बीच डुबा दो अहंकार मम सारा

['गीताञ्जलि'के 'आमार माथा नत करे दाओ' गीतका भावानुवाद]

चरण-कमल-रज तले झुका दो अपने भाल हमारा।
आँखोंके जल-बीच डुबा दो अहंकार मम सारा॥
अपनेको कर गौरव-दान,
अपना ही करता अपमान,
घेर-घेर निजको ही प्रतिपल फिरता मारा-मारा।
आँखोंके जल-बीच डुबा दो अहंकार मम सारा॥
करूँ न निज प्रचार निज कर्मोंसे—यों मुझे बनाओ।
अपनी ही इच्छा तुम मेरे जीवन बीच पुराओ॥
माँग रहा मैं चरम शान्ति तव,
प्राणोंमें, बस, परम कान्ति तव,
बैठो मेरी आड़, हृदम्बुज आसन बने तुम्हारा।
आँखोंके जल-बीच डुबा दो अहंकार मम सारा॥

—माधवशरण

योगिराज गम्भीरनाथ

(लेखक—श्रीरामलाल)

योगिराज गम्भीरनाथ सिद्धपुरुष थे। उन्होंने हठयोग, लययोग और राजयोगके क्षेत्रमें आत्मसिद्धि प्राप्त की थी। नाथयोग-परम्परामें इधर सात-आठ सौ वर्षोंमें उनके-जैसे योगीका दर्शन नहीं हुआ था। ऋद्धियों और सिद्धियोंने उनके चरणस्पर्शको अपना परम सौभाग्य समझा। वे शान्ति और गम्भीरताके उज्ज्वलतम रूप थे। बड़े-बड़े संतों और महात्माओंने उनके चरणोंमें अपनी श्रद्धा समर्पितकर आत्ममोक्षका विधान प्राप्त किया। हिमालयसे कन्याकुमारी अन्तरीपतकके भूमिभागमें बीसवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें इतने बड़े योगीका दर्शन अन्यत्र दुर्लभ था। उन्होंने मानवताको योगशक्तिसे सम्पन्न किया। उन्होंने योगब्रह्म—शिवका साक्षात्कार-लाभ किया। भारतके प्रायः समस्त तीर्थोंमें परिभ्रमण कर योगिराज गम्भीरनाथने उनकी महिमामें विशेष अभिवृद्धि की। माना, योगिराजका प्राकट्य उस समय हुआ था, जब भारत विदेशी शक्तिकी अधीनतामें था; पर गम्भीरनाथजीके लिये तो भौतिक जगत्‌की पराधीनताका कोई महत्त्व ही नहीं था; वे तो जागतिक प्रपञ्चसे अतीत थे। वे रहस्यपूर्ण ढंगसे आध्यात्मिक क्रान्तिका सृजन कर रहे थे। उनके योग-उदयकालमें विदेशी शासनको निकाल बाहर करनेके लिये बंगाल तथा अन्य प्रान्तोंमें सशस्त्र राजक्रान्तिकी योजना कार्यरूपमें परिणत हो रही थी। महात्मा गम्भीरनाथने राजनीतिक क्रान्तिकारियोंकी आध्यात्मिक पिपासाकी तृप्ति की। अगणित वङ्गीय युवकोंने उनके पथ-प्रदर्शनमें गम्भीर, अखण्ड और शाश्वत स्वतन्त्रता-ज्योति—आत्मशान्तिका दर्शन किया।

महात्मा गम्भीरनाथने सिद्ध योगपीठ—गुरु गोरखनाथकी तपोभूमि गोरखपुरको अपनी तपस्यासे अक्षय समृद्धि प्रदान की। वे निरन्तर योगस्थ रहते थे। वे श्रीभगवद्गीताकी भागवती विज्ञप्ति—

> योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
> श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
> (६।४७)

—'सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मेरेमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझे ही निरन्तर भजता है, वह मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है।'—में अटल विश्वास रखते थे। योगिराज गम्भीरनाथ अपने समयके सर्वश्रेष्ठ योगी थे; वे धर्मतत्त्वके मर्मज्ञ और असाधारण आत्मज्ञ थे। उनके समकालीन महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीकी मान्यता थी कि 'हिमालयके देशमें—भारतदेशमें उनके-जैसा योगी कोई दूसरा नहीं है।' महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी उनकी परम योगविभूतिसे बहुत प्रभावित थे। महात्मा गम्भीरनाथकी साधना शैव-दर्शनके सिद्धान्तसे प्राणान्वित थी। वे शैव योगी होते हुए भी शुद्ध सच्चिदानन्द तत्त्वके निरपेक्ष और निष्पक्ष द्रष्टा थे। उनका योग श्रीगोरखनाथकी योगपद्धतिसे परिपुष्ट था। महात्मा गम्भीरनाथने गुरु गोरखनाथकी योग-साधनाका बीसवीं शताब्दीमें पूर्ण प्रतिनिधित्व किया। योगिराज गम्भीरनाथने योग और ज्ञानका समन्वय किया।

महात्मा गम्भीरनाथके पूर्वाश्रमके सम्बन्धमें कुछ भी निश्चितरूपसे कहना या लिखना आसान नहीं है। उनका जन्म विक्रमीय उन्नीसवीं शताब्दीके चौथे चरणमें काश्मीर प्रदेशके एक गाँवके समृद्ध परिवारमें हुआ था। उनकी शिक्षा-दीक्षा साधारण ढंगकी थी। बचपनसे ही उनके जीवनमें योगाभ्यासके साम्राज्यमें प्रवेश करनेके पहले विषय-सुखकी सुविधा उपलब्ध थी; पर उनका ध्यान उसकी ओर तनिक भी नहीं था। पूर्वाश्रमके सम्बन्धमें पूछनेपर वे कहा करते थे—'प्रपञ्चसे क्या होगा?' उनकी सांसारिक पदार्थोंमें तनिक भी आस्था नहीं थी। धन-परिवार आदिके प्रति वे स्वाभाविकरूपसे विरक्त थे। जब वे नवयुवक ही थे, उन्हें सूचना मिली कि गाँवमें एक योगीका आगमन हुआ है। योगीने श्मशानमें अपना निवास चुना था। वे योगीसे मिलने गये। उन्होंने बड़ी श्रद्धासे कहा कि 'महाराज! घरपर मेरा मन नहीं लगता, संसारके विषय-भोग मुझे काटने दौड़ते हैं। मैं योगाभ्यास करना चाहता हूँ।' योगी नाथ-सम्प्रदायके थे। उन्होंने श्रीगम्भीरनाथसे कहा—'आप गोरखपुर जाकर गोरखनाथ-मठके महन्त योगी बाबा गोपालनाथजी महाराजसे योग-दीक्षा लीजिये। मैं आपकी महत्त्वाकाङ्क्षासे बहुत प्रसन्न हूँ। आप उच्चकोटिके योगी होंगे।'

श्रीगम्भीरनाथ योगीके आदेशसे गोरखपुरके लिये चल पड़े। वे गोरखनाथ-मठमें आये। लोग उन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उनके पास पर्याप्त रुपये थे, उन्होंने अच्छे-से-अच्छे रेशमी कपड़े पहन रखे थे। वे देखनेमें बड़े सौम्य और सुन्दर थे। महन्त गोपालनाथसे मिलनेपर उन्होंने उनके चरणोंमें आत्मार्पण कर दिया। वे नाथ-सम्प्रदायके योगमार्गमें दीक्षित हो गये। राजसी वेषका परित्याग कर श्रीगम्भीरनाथने कौपीन धारण कर योग-साधनाके निष्कण्टक राज्यमें प्रवेश किया। गोपालनाथजी महाराजने उनकी शान्त मुद्रासे प्रसन्न होकर उनको 'गम्भीरनाथ' नाम प्रदान किया। निस्संदेह वे गम्भीरताके परम दिव्य सजीव समुद्र ही थे। वे गोरखनाथ-मठमें निवासकर योगाभ्यास करने लगे। उनकी गुरुनिष्ठा उच्चकोटिकी थी। वे गुरुकी प्रत्येक आज्ञाका पालन करते थे। उन्होंने बड़ी तत्परता और तपसे अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्वका निर्वाह किया। वे मौन रहा करते थे, सत्य-चिन्तन और मठके आवश्यक कार्योंके समीचीन सम्पादनमें लगे रहते थे। बाबा गोपालनाथने धीरे-धीरे उनको मठके उपास्यकी पूजा-अर्चामें नियुक्त करना आरम्भ किया। श्रीगम्भीरनाथकी उपस्थितिसे मठमें शान्ति साकार हो उठी। उन्हें गुरुने प्रसन्न होकर पुजारीका कार्यभार सौंपा। इस प्रकार श्रीगम्भीरनाथके तपोमय साधनापूर्ण जीवनमें कर्मयोग-भक्तियोगके उदय, ज्ञानयोग—परम अन्तःस्थ ज्योतिके दर्शनका पथ प्रशस्त कर दिया। बाबा गोपालनाथकी प्रसन्नता और कृपासे अभिभूत श्रीगम्भीरनाथकी प्रारम्भिक योगसाधनापर देवीपाटनके योगी शिवनाथका भी अमित प्रभाव था।

श्रीगम्भीरनाथने योग-साधनाके लिये काशीकी पैदल यात्रा की। वे वनमार्गसे भूख-प्यासकी चिन्ता किये बिना चले जा रहे थे। उनका प्रभुकी कृपापर दृढ़ विश्वास था। तीसरे दिन वे भूखसे नितान्त परिश्रान्त हो गये, पर शेष शारीरिक शक्तिपर निर्भर होकर वे पुनीत महातीर्थकी ओर बढ़ते जा रहे थे। रास्तेमें एक परिचित ब्राह्मणसे उनकी भेंट हुई। वह उन्हें देखते ही सारी स्थिति समझ गया। निकटस्थ गाँवसे दूध-चिउड़ा लाकर उसने इनसे भोजन करनेका आग्रह किया। वह जानता था कि श्रीगम्भीरनाथने भोजनके सम्बन्धमें रास्तेमें किसीसे कुछ भी नहीं कहा होगा। श्रीगम्भीरनाथने भगवत्कृपा समझकर भोजन कर लिया। काशी पहुँचनेपर उन्होंने कुछ दिनोंतक गङ्गाजीके एक निर्जन तटवर्ती स्थानपर योगाभ्यास आरम्भ किया। वे नित्य गङ्गाजीमें स्नान कर भगवान् विश्वनाथका दर्शन करने जाया करते थे। भीड़से बहुत दूर रहते थे, इसलिये वे भिक्षा माँगने नहीं जाते थे। उनकी त्यागमयी वृत्तिने साधकों और जिज्ञासुओंको खींच लिया। योगी गम्भीरनाथने जन-सम्पर्कको साधनाका बहुत बड़ा विघ्न समझा। उन्होंने काशीजीको छोड़ दिया। वे प्रयाग आ गये। प्रयागमें गङ्गा-यमुनाके पुनीत संगमकी दिव्यतासे सम्प्लावित झूसी-तटकी एक गुफामें रहकर वे तप करने लगे। दैवयोगसे मुकुटनाथ-नामक एक नाथयोगीने उनके भोजन तथा सेवा आदिकी व्यवस्था की। बाबा गम्भीरनाथ रात-दिन अनवरत उस गुफामें योगाभ्यास करने लगे। इस प्रकार प्रयागमें वे तीन सालतक रह गये। उनका आध्यात्मिक स्तर ऊँचा हो गया। उन्होंने महती योगशक्ति प्राप्त की।

साधकको छः अवस्थाओंसे निकलना पड़ता है। वे कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूतकी अवस्थाएँ हैं। एक स्थानपर रहकर साधना करनेवालेको 'कुटीचक' विशेषणसे अलंकृत किया जाता है। 'बहूदक' अनेक स्थानोंमें घूम-घूमकर तप और साधना करनेवालेकी संज्ञा है। हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूतकी अवस्थामें साधक जीवन्मुक्ति, सद्-ज्ञान-प्राप्ति और आत्मसाक्षात्कारसे समृद्ध होता है। योगिराज गम्भीरनाथने अभीतक कुटीचकव्रतका अनुसरण किया था। प्रयागमें तप करनेके बाद उन्होंने 'बहूदक'-जीवन अपनाया। उन्होंने अकेले फिरनेका संकल्प किया। महायोगी गोरखनाथकी उक्ति—'ज्ञानके समान गुरु नहीं मिला, न चित्तके समान चेला मिला और न मनके समान मेल-मिलापवाला मिला; इसलिये गोरख अकेले फिरते हैं'—उनकी स्मृतिमें जाग उठी।

> ग्यान सरीषा गुरू न मिलिया
> चित्त सरीषा चेला।
> मन्न सरीषा मेलु न मिलिया
> तीथैं गोरख फिरै अकेला॥

(गोरखबानी, सबदी १८९)

उन्होंने परिव्राजक-जीवनमें प्रवेश किया। पूरे छः सालतक बाबा गम्भीरनाथ परिव्राजक-जीवनका रसास्वादन करते रहे। वे प्रायः पैदल भ्रमण करते थे। उन्होंने कैलास, मानसरोवर, अमरनाथ, द्वारका, गङ्गासागर तथा रामेश्वर आदि तीर्थोंका दर्शन किया। उन्होंने भगवती नर्मदाकी परिक्रमा चार सालमें पूरी की और अमरकण्टकपर अधिक समयतक रह गये। नर्मदा-परिक्रमाके समय उनके जीवनमें एक विलक्षण घटना घटी थी, जो उनकी अपार योगशक्ति और महती तपस्याकी परिचायिका है। बाबा गम्भीरनाथ नर्मदाकी परिक्रमा कर रहे थे। उनका मन एक तटीय रम्य स्थानमें लग गया। वहाँ एक कुटी थी। महात्मा गम्भीरनाथने उसी कुटीमें निवास किया। पहले दिन उन्हें एक बहुत बड़ा साँप दीख पड़ा। वह उनका दर्शन कर अदृश्य हो गया। दूसरे और तीसरे दिनभी प्रभात-कालमें बाबा गम्भीरनाथने उसको देखा, उन्होंने इस ओर कुछ ध्यान न दिया। वे अपने गम्भीर चिन्तनमें तल्लीन थे। तीसरे दिन कुटीमें रहनेवाला एक ब्रह्मचारी, जो कुछ दिनोंके लिये बाहर था, आ गया। वह उस कुटीमें बारह सालसे निवास करता था। योगिराज गम्भीरनाथके आगमनसे वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने आप-बीती सुनायी कि 'मैं इस कुटीमें बारह सालसे रहता हूँ। इसीके निकट एक बहुत बड़े महात्मा सर्पके वेषमें रहते हैं। उन्हींके दर्शनके लिये मैं ठहरा हूँ।' महात्मा गम्भीरनाथने सर्प-दर्शनकी बात कही; ब्रह्मचारी आश्चर्यचकित हो गया। उसने कहा कि 'महाराज! आपका तपोबल स्तुत्य है; जिस कार्यको मैं बारह सालमें भी न कर सका, वह बिना किसी प्रयासके आपने कर दिखाया। आप धन्य हैं कि सर्प-वेषमें रहनेवाले महात्माने तीनों दिन आपपर कृपादृष्टि की।' महात्मा गम्भीरनाथने नर्मदा-परिक्रमा समाप्त की।

संवत् १९३७ वि०में योगी गोपालनाथने शिवधाम प्राप्त किया। महात्मा गम्भीरनाथने परिभ्रमण-कालमें इस घटनाको सुना। वे गुरुके प्रति आदर प्रकट करनेके लिये गोरखपुर आये। तत्कालीन महंत श्रीबलभद्रनाथजीके विशेष आग्रहपर वे कुछ दिनोंतक मठमें रह गये। उसके बाद वे बिहार प्रदेशके गया जनपदके कपिलधारा नामक स्थानमें आकर तप करने लगे। गयाकी पहाड़ियोंमें चिरकालसे तपस्वी, योगी और संतजन अपना निवास बनाते आये हैं। गयानगरसे थोड़ी दूरपर अत्यन्त शान्त, रमणीय और निर्जन कपिलधारा स्थानमें योगी गम्भीरनाथने तबतक तप करनेका निश्चय किया, जबतक अवधूत अवस्थाकी प्राप्ति न हो जाय। अक्कू नामके एक व्यक्तिने उनके चरणोंमें श्रद्धा समर्पित की। उनकी भोजन-व्यवस्था तथा सेवा आदिका सहज अधिकार उसे प्राप्त हो गया। महात्मा गम्भीरनाथके पास कौपीन, एक कम्बल और खप्परके सिवा और कुछ भी न था। कुछ दिनोंके बाद नृपतिनाथ नामके एक श्रद्धालु योग-साधकने अक्कूका कार्य हल्का कर दिया। नृपतिनाथने योगी गम्भीरनाथकी सेवामें बड़ी तत्परता दिखायी। उनकी प्रसिद्धि बड़ी तेजीसे बढ़ने लगी। वे सदा शान्तचित्तसे ध्यानस्थ रहते थे। मौन उनकी वाणीका अलंकार था, संकेत उनके भावोंका प्रहरी था, निर्जनतामयी योग-साधना ही उनकी जीवन-सङ्गिनी थी। प्रकृतिकी कमनीय कान्तिसे सम्पन्न कपिलधारा पहाड़ीकी दिव्यता उनकी योगलीलाकी रङ्गभूमि थी। रातमें दूसरी पहाड़ियोंपर तप करनेवाले सिद्ध महापुरुष और योगीजन उनका दर्शन करने तथा सत्सङ्ग प्राप्त करने आया करते थे। गयाके एक धनी पंडा माधवलालने उनके आशीर्वादसे एक गुफाका निर्माण कराया। योगी गम्भीरनाथ उसी गुफामें प्रवेश कर तप करने लगे। दर्शकों और मिलनेवालोंकी भीड़ अपने-आप कम होने लगी। गुफामें कोई दूसरा व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता था। वे केवल एक पाव दूध नित्य लेते थे। प्रत्येक मंगलवारको थोड़ी देरके लिये वे गुफासे बाहर आकर दर्शकों और भक्तोंको दर्शन देकर तृप्त करते थे। तीन वर्षोंतक उन्होंने यही क्रम रखा। उसके बाद वे प्रत्येक अमावास्या और पूर्णिमाको गुफाके बाहर आने लगे। बारह सालके कठिन योगाभ्यासके बाद उन्होंने इस नियमको भी भङ्ग कर दिया। उसके बाद वे तीन मासतक गुफासे बाहर न आये। श्रद्धालुओंकी विकलता बढ़नेपर उन्होंने दर्शन दिया। इस प्रकार कपिलधारामें उन्होंने 'अवधूत' अवस्था प्राप्त कर ली। उनकी पवित्र उपस्थितिसे उस तपोभूमिमें सत्य, शान्ति, अहिंसा और दिव्यताका साम्राज्य स्थापित हो गया।

कपिलधारा आश्रममें एक बार रातको कुछ चोर आये। उन्होंने आश्रमपर पत्थरोंके टुकड़े बरसाये। योगिराज एक कम्बल ओढ़कर कुटीके बाहर लेटे हुए थे। पत्थरके एक टुकड़ेसे उन्हें थोड़ी-सी चोट आयी। योगी नृपतिनाथ तथा दूसरे भक्तोंने चोरोंका पीछा करना चाहा। योगिराज गम्भीरनाथने चोरोंसे कहा कि 'साधुओंको तंग नहीं करना चाहिये।' उन्होंने बड़े प्रेम और मधुरतासे कहा कि 'कुटीका दरवाजा

खुला हुआ है; तुम भीतर जाकर जो कुछ भी आवश्यक समझो, ले लो।' उनके आदेशसे नृपतिनाथने दरवाजा खोल दिया। चोर आश्चर्यचकित हो गये। वे बाबाके चरणोंपर गिर गये और बोले कि 'महाराज! हम गरीब हैं, हमारे परिवारवाले कई दिनोंसे भूखों मर रहे हैं!' बाबाने कहा, 'वत्स! मैं तुम्हारी विवशता समझता हूँ। तुम जब चाहो, कुटीसे आकर भोजन ले जा सकते हो। तुम्हें कोई न रोकेगा।' चोरोंने अपनी आवश्यकताके अनुसार थोड़ा-बहुत सामान ले लिया। बाबाकी चरण-धूलि मस्तकपर चढ़ाकर वे चल पड़े। दूसरी बार आश्रममें आनेपर उनके जीवनमें बहुत बड़ा परिवर्तन देखा गया। वे चोर नहीं, सत्यवादी हो गये। योगिराजकी करुणाने उनकी कृतज्ञताको श्रद्धा और भक्तिमें रूपान्तरित कर दिया। बाबा प्रेम, माधुर्य, अहिंसा और शान्तिके साकार-सजीव विग्रह थे। शान्तिको ही वे बहुत बड़े चमत्कारकी वस्तु स्वीकार करते थे।

परिव्राजक-कालमें महाराणा उदयपुर तथा महाराजा काश्मीर आदिने बड़ी चेष्टा की कि योगिराजकी चरण-धूलि राजप्रासादमें पड़ जाय; पर ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सका। बाबाके प्रसिद्ध सेवक माधवलाल पंडाने बड़ा प्रयत्न किया कि एक क्षणके लिये भी बाबा उसके घर चलें; पर बाबा गम्भीरनाथ अपने नियमपर अडिग रहे। एक वार उनका निजी सेवक बहुत बीमार पड़ गया। उसका भाई मुन्नी दौड़ता हुआ बाबाके पास आया; आँखोंमें अश्रु भरकर उसने कहा कि 'महाराज! अक्कूका अन्तिम समय है, उसे जीवन प्रदान कीजिये अथवा चलते समय उसे अपनी चरण-धूलिसे आशीर्वाद दीजिये; वह आपके दर्शनके लिये विकल है।' करुणा-समुद्र परम शान्तिमय बाबा गम्भीरनाथ आसनसे उठ पड़े; वे अक्कूके घर आये। शरीर ठंडा हो रहा था, प्राण निकलनेवाले ही थे कि बाबाका दर्शन करते ही अक्कूकी चेतना लौट आयी; बाबाने उसे प्राण-दान दिया; स्वस्थ होनेपर वह बाबाकी सेवामें पुनः संलग्न हो गया। बाबा गम्भीरनाथकी महिमा अकथनीय है। जिस समय कपिलधारा-आश्रममें योगिराज गम्भीरनाथ तप कर रहे थे, उसी समय महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी आकाशगङ्गा पहाड़ीपर अपने कुछ भक्तोंके साथ साधनामें तल्लीन थे। वे बाबाकी योगशक्तिसे बहुत प्रभावित थे और उनके चरणोंमें अडिग श्रद्धा रखते थे। वे कभी-कभी योगिराजका दर्शन करने कपिल-धारा आया करते थे और प्रायः आधी रातके समय पधारकर दो-एक घंटे उनके सम्पर्कमें रहकर सत्सङ्ग और भजनकी सात्त्विकता और मधुरताका आस्वादन करते थे। महात्मा गम्भीरनाथ आधी रातमें सितार बजाकर भगवान्‌को भजन समर्पित किया करते थे। उनकी संगीत-माधुरी और दिव्य सितार-वादन-कलासे हिंसक जीव-जन्तु दिव्य प्रेमोन्मादमें अहिंसक बनकर उनकी चरण-धूलिके संस्पर्शसे अपने-आपको परम तृप्त मानते थे। कभी-कभी कपिलधारा-पहाड़ीपर बाबाके सितार-वादन और भजनसे आकृष्ट होकर महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी आया करते थे। एक दिन रातकी निर्जनतामें बाबा गम्भीरनाथ पहाड़ीपर सितार बजाते हुए घूम रहे थे, भगवान्‌के चरणोंमें हृदयका मधुर संगीत समर्पित कर रहे थे। चारों ओर ज्योत्स्ना फैली हुई थी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने शिष्योंसे कहा, 'अहा! कितना मधुर संगीत बाबा गम्भीरनाथ अपने आराध्य देवके चरणोंमें अर्पित कर रहे हैं। बाबा साक्षात् प्रेमरूप हैं, ऐसे योगीका दर्शन भारतवर्षमें इस समय दुर्लभ है। बाबामें सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी शक्ति है। वे क्षणमात्रमें संसारका सृजन और संहार कर सकते हैं। उन्होंने प्रेमका माधुर्य इस तपोभूमिके कण-कणमें भर दिया है।'

संवत् १९५०वि०में बाबा गम्भीरनाथ कपिलधारा-आश्रमसे प्रयाग कुम्भमेलामें पधारे हुए थे। उनकी गम्भीर मुद्रा और शान्ति तथा तपकी माधुरीने दर्शकोंका मन सहजमें ही मुग्ध कर लिया। प्रत्येक समय उनके निवास-स्थानपर संतों-साधुओंकी भीड़ लगी रहती थी। अपने शिष्योंके साथ महात्मा विजयकृष्ण उनका दर्शन करने आये थे। महात्मा विजयकृष्णके शिष्य मनोरञ्जन ठाकुरने कुम्भकी एक घटनाका वर्णन किया है, जिससे बाबाकी तपस्या और शान्तिमयी त्याग-वृत्तिका पता चलता है। एक धनी व्यक्तिने योगिराजके हाथसे सौ कम्बलोंका वितरण कराना चाहा। बाबा उस समय गम्भीर चिन्तनमें थे। थोड़ी देरके बाद उन्होंने आँख खोली, अपने सामने कम्बलोंका ढेर देखा। उन्होंने हाथसे वितरण करनेका संकेत किया और क्षणमात्रमें दीन-दुखियों और असहायोंको कम्बल वितरित कर दिये गये। कुम्भसे लोगोंके विशेष आग्रह-पर वे गोरखनाथ-मठके अध्यक्षका उत्तरदायित्व स्वीकार कर गोरखपुर आये और जीवनके अन्तिम क्षणतक उन्होंने अपना कार्य बड़ी सात्त्विकता और पवित्रतासे सम्पादित किया। नाथ-सम्प्रदायके तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ योगीके रूपमें उनकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। वे जीवन्मुक्त अवस्थामें पहुँच गये थे। वे साधु-मण्डलीमें सिद्ध पुरुषके रूपमें विख्यात थे। गोरखनाथ-

मठमें आगमनके बाद लोग उन्हें 'बूढ़ा महाराज'के विशेषणसे समलंकृत कर उनके प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट करते थे। उनके आगमनसे ऐसा लगता था मानो गोरखनाथकी तपोभूमिमें हठ योग, लययोग और राजयोगने ही मूर्ति धारणकर प्रवेश किया हो।

गोरखपुरमें गोरखनाथ-मठ-निवासकालमें एक बार उन्होंने अद्भुत यौगिक चमत्कार दिखाया था। एक विधवाका लड़का बैरिस्टरीका प्रमाणपत्र प्राप्त करने लंदन गया था। तीन-चार माससे उसके सम्बन्धमें कोई समाचार न पाकर माँकी चिन्ता बढ़ गयी। उसने बाबा गम्भीरनाथकी कृपादृष्टिका दरवाजा खटखटाया। उस समय राजकीय विद्यालयके प्रधानाचार्य रायसाहब अघोरनाथ अपने सहकर्मी अटलविहारी गुप्तके साथ बाबाका दर्शन करने आये थे। विधवाको फूट-फूटकर रोते देख योगिराज गम्भीरनाथ एक कोठरीमें चले गये, दरवाजा बंद कर लिया। बुधवार था। आधे घंटेके बाद उन्होंने बड़ी चिन्तनमयी गम्भीर मुद्रामें कहा कि 'तुम्हारा लड़का स्वस्थ और सुरक्षित है।' 'वह सोमवारको पहुँच जायगा।' 'अगले बुधवारको एक नौजवान रायसाहब अघोरनाथकी कोठीपर उनको प्रणाम करने गया। दैवयोगसे अटलविहारी गुप्त भी वहीं उपस्थित थे। रायसाहबने गुप्तसे कहा कि 'ये महाशय उसी विधवाके पुत्र हैं, जो पिछले बुधवारको बाबा (गम्भीरनाथ)के पास गयी थी।' नौजवान रायसाहबकी बातका आशय समझ नहीं सका। रायसाहब उसको साथ लेकर बाबाके पास दर्शन करने गये। अटलविहारी गुप्त भी साथ थे। नौजवानने बाबाके चरणपर सिर रखकर प्रणाम किया। उसने तत्क्षण ही बाबासे पूछा कि 'आप कब आये। मैं बम्बईमें उतरते ही इम्पीरियल मेलमें सवार हुआ, पर आपको मैंने नहीं देखा।' उसने रायसाहबसे कहा कि 'हमारे जहाजको बम्बई पहुँचनेमें एक दिन शेष रह गया था, मेरे कैबिनके सामने बाबाजी खड़े थे। भारतीय साधुको देखकर बातचीत करनेकी उत्सुकतासे मैंने कैबिनके बाहर आकर बाबासे पाँच मिनट बात की। उसके बाद बाबा अदृश्य हो गये। न तो मैंने उनको स्टीमरमें देखा, न रेलगाड़ीमें ही उनका दर्शन हुआ।' अटलविहारी गुप्तके समय पूछनेपर उसने कहा कि 'पिछले बुधवारके शामकी बात है।' समय ठीक वही था, जब बाबाने आधे घंटेके लिये कोठरीका दरवाजा बंद कर लिया था। इस घटनाका विवरण अटलविहारी गुप्त महोदयने अपनी बँगला पुस्तक 'मृत्यु और पुनर्जन्मके बाद'में विस्तारसे दिया है। बाबा गम्भीरनाथको ऊँची-से-ऊँची यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त थीं, पर उनके प्रदर्शनको वे योग-साधनाके क्षेत्रमें बहुत बड़ा विघ्न मानते थे। वे दूसरोंको किसी तरहका उपदेश देनेमें भी अमित संकोच करते थे।

महात्मा गम्भीरनाथ योगमानव थे। उन्होंने अनुभव कर लिया था कि 'यही मन शिव है, यही मन शक्ति और पाँच तत्त्वोंसे निर्मित जीव है। शिव, शक्ति और जीव—सब-के-सब एकाकार हैं। मायाके संयोगसे ही ब्रह्म मनके रूपमें अभिव्यक्त होता है। मनसे ही पञ्चभूतात्मक शरीरकी सृष्टि होती है। मनको उन्मनावस्थामें लीन करनेसे साधक सर्वज्ञ हो जाता है।' बाबा गम्भीरनाथ योगरहस्यके सर्वमान्य मर्मज्ञ थे। उन्होंने आदिनाथ—शिवद्वारा प्रवर्तित तथा गुरु गोरखनाथद्वारा प्रचारित योगकी साधना की। वे मायाके बन्धनसे पूर्ण मुक्त सिद्ध पुरुष थे। गोरखनाथजीने अपनी साधनाके सम्बन्धमें एक स्थलपर कहा है—

> 'बाहरि न भीतरि, नेड़ा न दूर,
> खोजत रहे ब्रह्मा अरु सूर।
> सेत फटिक मनि हीरै बीधा,
> इहि परमारथ गोरख सीधा॥'
>
> (गोरखबानी, सबदी १७४)

परमात्मतत्त्व न बाहर है न भीतर है, न निकट है न दूर है। ब्रह्मा और सूर्य उसे खोजते ही रह गये, किंतु उसका रहस्य न पा सके। श्वेत स्फटिकमणिको हीरेने बेध लिया, ब्रह्मका साक्षात्कार कर लिया, इसी परमार्थके लिये मैं (गोरखनाथ)ने साधना सिद्ध की।' उनकी योग-परम्पराका अनुगमन करनेवाले योगिराज गम्भीरनाथने इसी परमार्थ—योगतत्त्वकी सिद्धिके राज्यमें आधिपत्य प्राप्त किया। उन्होंने नाथयोगके सिद्धान्तके अनुसार शिव और शक्तिकी एकात्मताका योगके माध्यमसे अनुभव किया। योगिराज बाबा गम्भीरनाथने सदा कानोंमें कुण्डल और वक्षपर नाद धारण किया। उन्होंने योगस्थ होकर दिव्य परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार किया। वैराग्य उनकी योग-साधनाका प्राण था। वे कहा करते थे कि 'सद्गुरु वह है, जो आत्मानुभूति प्राप्त कर लेता है और दूसरोंको आत्मनिष्ठासे सम्पन्न करता है।' नाम-जपमें उनकी बड़ी निष्ठा थी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीकी उक्ति है कि 'मुझे भगवन्नाम-निष्ठा बाबा गम्भीर-

नाथकी कृपासे प्राप्त हुई।' वे ज्ञानी एवं हठयोगी थे। योगिराजकी श्रीमद्भगवद्गीतामें अपूर्व श्रद्धा थी। वे मायातीत, त्रिगुणातीत योगी थे। वे सत्यान्वेषक थे। वे नाम-जप, कीर्तन और भजन आदिके लिये अपने शिष्यों और भक्तोंको विशेष अवसरोंपर प्रोत्साहित किया करते थे। गीताके सम्बन्धमें उनकी उक्ति है कि 'यह सभी युगोंके लिये सम्मान्य है। सत्यके अन्वेषकोंके लिये एक गीता ही बहुत है। यह सार्वजनिक तथा सनातन शास्त्र है।' भगवच्छरणागतिके सम्बन्धमें उनकी उक्ति थी कि 'अहंता और ममताका परित्याग कर ईश्वरके चरणोंपर समर्पित हो जाना चाहिये। वे योग-क्षेमका वहन करते ही हैं। उनसे केवल सत्य और प्रेमकी ही माँग करनी चाहिये।' वे भगवन्नाम-साधनापर बड़ा जोर देते थे। उनकी यह घोषणा थी कि 'भगवान्‌के नामसे सब कुछ हो जायगा।' वे कहा करते थे—'रूप बहुत हैं, स्वरूप एक ही है, सब परमात्मस्वरूप हैं। मुक्ति-प्राप्तिके लिये साधना और अधिकारकी बड़ी आवश्यकता होती है। शिष्यके ही सत्प्रयत्नसे यह सम्भव है, गुरु तो साधना और सिद्धिका मार्ग-दर्शन करा देते हैं।'

बाबा गम्भीरनाथ सनातनधर्मके अनुरूप आचरण बनानेको बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनकी उक्ति है कि 'सनातनधर्म शाश्वत, विश्वव्यापी, अपौरुषेय और आदि-सत्यसे परिव्याप्त है।' जब कोई व्यक्ति उनसे उपदेश देनेकी प्रार्थना किया करता था, तब वे बड़ी विनम्रतासे कहा करते थे कि 'मैं वास्तवमें कुछ भी नहीं जानता, मेरे पास कोई उपदेश नहीं है। मैं क्या शिक्षा दे सकता हूँ।' वे ऐसे अवसर-पर कहा करते थे कि 'सदा सत्य बोलना चाहिये। 'अहं'से नहीं चिपकना चाहिये। दूसरोंको कभी बुरा-भला नहीं कहना चाहिये। समस्त धर्मों और मत-मतान्तरोंका आदर करना चाहिये। भिखारियों, दीन-दुखियों और असहायोंका बड़े प्रेमसे सत्कार करना चाहिये और विचार करना चाहिये कि इस प्रकार हम ईश्वरकी ही पूजा कर रहे हैं।'

विक्रमीय बीसवीं शताब्दीमें योग-सिद्धिके क्षेत्रमें उनका महत्त्व असाधारण है। उन्होंने नाथ-सम्प्रदायके योग-सिद्धान्तका फिरसे प्राकट्य किया। उनकी विशिष्टता यह थी कि उन्होंने योगके प्रकाशमें सत्य और भगवान्‌का साक्षात्कार किया। समस्त जगत्‌के कार्योंको वे ईश्वरकी लीला समझते थे। वे कहा करते थे कि 'आत्माका विचार करते रहना ही तपस्या है।' वे सदा योगस्थ रहते थे। वे सद्गुरु थे। उनकी उक्ति है—'जो शिष्यको बन्धनसे मुक्त कर देता है, वही सद्गुरु है।'

जीवनके अन्तिम दिनोंमें उन्हें मोतियाबिंद हो गया था। वे उसे ठीक करानेके लिये कलकत्ता गये हुए थे। डाक्टर मानरडने उस रोगको ठीक कर दिया। बाबा गम्भीर-नाथको देखकर मानरडने कहा था—'अरे, ये तो साक्षात् ईसाकी ही तरह दीख पड़ते हैं।'

योगिराजने गोरखपुरमें संवत् १९७५ वि०की चैत्र कृष्ण त्रयोदशीको सवा नौ बजे प्रातः परमधामकी यात्रा की। गोरखनाथ-मन्दिरके संनिकट ही उनका समाधि-मन्दिर है, जो शाश्वत सत्य और चिरन्तन शान्तिका दिव्य प्रतीक है। उसमें उनकी प्रतिमा प्रतिष्ठित है। नित्य नियमपूर्वक प्रतिमाकी पूजा-आरती होती है। शिष्योंको कभी-कभी स्वप्नमें दर्शन देकर वे उनका पथ-प्रदर्शन करते रहते हैं। योगिराज बाबा गम्भीरनाथ योग, ज्ञान, तपस्या और भक्तिके सजीव प्रतीक थे।

श्रीराधाजीके नेत्र

सागर अञ्जलि पान कियो, कछु काम बड़ो नहिं कुंभज कीन्हो,
जो हरि रूप असीम अबाध, कहै कवि 'भानु' सुसंतन चीन्हो।
राधिका नागरि रूप उजागरि, तासों अनोखो ही कौशल कीन्हो,
श्याम को रूप अनंत सो सागर, लोचन-गागरिमें भरि लीन्हो॥

—भानुप्रतापसिंह 'भानु'

प्रार्थना

मेरे अपराधोंको क्षमा कर दो !

मेरे मनमोहन !

आज तुम्हारे सम्मुख मैं अपराधीके रूपमें खड़ा हूँ। अपने दोषोंकी स्मृतिसे मेरी आँखोंमें आँसू छलक आये हैं; लज्जासे मेरा मुख अवनत है; परितापकी ज्वालासे मेरा हृदय दग्ध हो रहा है। सचमुच ही मैं दोषी हूँ—तुम्हारा ही दोषी हूँ मैं! तुम्हारे अगणित अपराध किये हैं मैंने इस अपने जीवनमें। और किसीके प्रति नहीं—केवल तुम्हारे प्रति घोर अत्याचार हुआ है मेरेद्वारा। तुम मेरे अपराधोंको क्षमा कर दो, मनमोहन ! तुम मेरे दुर्व्यवहारोंको विस्मृत कर दो।

मेरे प्यारे मधुमय सखा ! तुम मुझे किसी भी परिस्थितिमें नहीं भूले। किसी क्षण भी तुमने मेरा त्याग नहीं किया। सदैव तुम मेरे साथ रहे, मेरे अन्तःकरणमें ही विराजित रहे। विभिन्न रूपोंमें—नव-नव वेषोंमें नित्य नया आकर्षण लिये तुम मुझे सुखी बनानेको सचेष्ट रहे। मैं स्वयं ही तुम्हारी उस प्रेमभरी मङ्गल क्रियामें बाधक बनता रहा। तुम्हारी रुचिके, तुम्हारे इङ्गितके विपरीत ही मेरी गति रही। इसीलिये मैं दुःखी रहा, अधिकाधिक दुःखी होता ही गया। तुम चाहकर भी मुझे सुखी नहीं कर सके।

मैं सुख ढूँढ़ने चला विषयोंके बीहड़, प्रवञ्चनाभरे, घोर असिपत्र-वनमें, जहाँ सुखका लेश भी नहीं था। सुखके निधान तुम मेरे निकट, अत्यन्त निकट—मेरे अन्तःकरणमें ही विराजित थे, यह जानकर भी मैं अनभिज्ञ बना रहा। तुमने बारंबार अपनी उपस्थिति जतलायी, सुखकी पहचान बतलायी; पर मैं तुम्हारे संकेतोंकी अवहेलना करके विषय-वनमें ही सुख ढूँढने-हेतु अधिकाधिक प्रविष्ट होता गया। मेरा अङ्ग-अङ्ग काँटोंसे बिंधकर क्षत-विक्षत हो गया, तथापि मैंने विषयोंमें सुखकी मिथ्या आशाका त्याग नहीं किया। हृदयमें नित्य सुख-सागर सँजोये हुए भी मैं दुःखी रहा, नित्य सौभाग्य प्राप्त करके भी अभागा रहा। मेरे दुर्भाग्यकी कोई सीमा नहीं !

कामनाओंके नागपाशमें बद्ध होनेमें ही मुझे सुखकी प्रतीति हुई, जब कि सुख तो रहता है कामना-गन्ध-लेश-विवर्जित प्रीतिमें। कामनाओंमें तो सुखका अस्तित्व ही नहीं है। क्षुद्र 'मैं'-'मेरे'के चक्रव्यूहमें दिग्भ्रान्त होकर अनुकूलताके अन्वेषणके लिये भटकते-भटकते ही मेरे जीवनका अधिकांश भाग समाप्त हो गया। तुमने मुझे अहर्निश परम सुखरूपा प्रीतिकी शिक्षा दी—स्वयं निरन्तर मुझसे प्रीति करके प्रीतिका निदर्शन किया; तथापि मैं कामनाओंकी ज्वालामें ही जलता रहा, तड़पता रहा।

जब-जब मेरी दृष्टि अन्तर्मुखी हुई, मैंने सदैव तुम्हें अनन्त सुखोंकी सामग्री सँजोये अपने अन्तःकरणमें ही विराजित पाया। मेरे सुख-संयोजनके लिये तुम्हारे मुखपर एक अकथनीय उत्सुकता, अत्यन्त रुचिपूर्ण तत्परता तथा अपूर्व सौहार्दका भाव सदैव वर्तमान रहता। सदैव अनुपम प्रीतिसे परिपूर्ण तुम मेरे मुखसे कुछ भी सुननेको लालायित रहते, मेरे कुछ चाहनेपर अपनी सम्पूर्ण प्रीति मुझपर बरसानेको प्रस्तुत रहते। मेरे प्रति तुम्हारा प्यार, तुम्हारी लगन, तुम्हारा भाव अनुपमेय है। सदा अपनी धुनमें मस्त, तुम मेरी उपेक्षा, उदासीनता, हृदयहीनता, रुक्षता, प्रेमशून्य कटुता आदिको निरन्तर सहते हुए भी मुझे सुखी करनेकी चेष्टामें संलग्न रहे।

तुम्हारे-सरीखे मधुर प्रेमीको पाकर भी मैं मिथ्या अहंकार-मदमें चूर रहा। तुम्हारे अगणित कृपा-उपहारोंको मैं नगण्य मानता रहा। तुम्हारे अनुपम प्रेमदानको महत्त्वहीन समझता रहा; कभी मैंने तुम्हारी कृपाका आभार नहीं माना, कभी तुम्हारे प्रेमका सत्कार नहीं किया मैंने। कभी हठात् मुझे तुम्हारी

स्मृति हो भी आयी, तब भी मैंने तुम्हें याद नहीं किया; कभी हठात् मेरी दृष्टि तुम्हारी ओर उन्मुख हो भी गयी, तब भी मैंने तुम्हें अनदेखा कर दिया; कभी हठात् तुम्हारी कोमल प्यारभरी मनुहार मेरे अन्तःहृदयमें ध्वनित भी हो उठी, तब भी मैंने उसे अनसुना कर दिया। सचमुच मेरे कुकृत्योंकी कोई गणना नहीं, मेरे दुर्व्यवहारोंकी कोई इति नहीं, मेरी कृतघ्नताकी कोई सीमा नहीं।

मेरे मनमोहन ! अब तो तुम मेरे इस परिताप-कथनको ही अपनी अभ्यर्थना मान लो; मेरे अश्रु-सलिलको ही अपनी पूजा-सामग्री समझ लो और प्रसन्न होकर मुझे यह वरदान दे दो कि अब यह शेष जीवन तुम्हारी ही रुचिके अनुसार ढल जाय--मेरी अवशिष्ट साँसोंमें केवल तुम्हारा ही पवित्र प्यार प्रवाहित होता रहे।

मेरे अच्छे सखा ! मेरी यह अभिलाषा तुम पूर्ण कर दो।

—तुम्हारा ही अपना एक

एक शिक्षार्थीके लिये गांधीजीका आदेश

प्रसिद्ध देशभक्त श्रीजमनालालजी बजाजके सुपुत्र स्व० श्रीकमलनयन युवावस्थामें जब अध्ययनके लिये सीलोन जा रहे थे, तब वे गांधीजीके पास उनका आशीर्वाद लेने गये। उस दिन गांधीजीका मौन-दिवस था। इसलिये उन्होंने वाणीसे कुछ न कहकर कागजपर कुछ बातें लिख दीं। युवक श्रीकमलनयन बापूका लिखित आदेश पाकर बड़े प्रसन्न हुए। वे महादेवभाईका आशीर्वाद लेने गये। जब महादेवभाईने बापूका लिखित आदेश पढ़ा, तब वे बोले—

'सचमुच तुम अपने साथ एक बड़ा खजाना ले जा रहे हो। बापूने संक्षेपमें सभी कुछ कह दिया है। तुम बेशक इसपर गम्भीरतासे विचार करोगे ही। यदि तुम अपने भविष्यजीवनके मार्ग-दर्शनके लिये सिर्फ इसे याद रखोगे तो फिर तुमको और किसी बातकी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं रहेगी।'

बापूका वह लिखित आदेश सभीके लिये बड़ा उपयोगी है। अतएव उसका हिंदी-अनुवाद नीचे प्रकाशित किया जा रहा है—

१–कम बोलना।

२–सबकी सुनना, पर जो ठीक हो, उसे करना।

३–हर मिनटका हिसाब रखना और जब-जब जो करनेका निश्चय हो, उसे उसी समय करना।

४–गरीबके समान रहना; धनका अभिमान कदापि न करना।

५–पाई-पाईका हिसाब रखना।

६–ध्यानपूर्वक पढ़ाई करना।

७–कसरत करना।

८–मिताहारी रहना।

९–रोजनामचा लिखना।

१०–इसका ध्यान रखना कि बुद्धिकी तीव्रताकी अपेक्षा हृदयका बल करोड़ों-गुना बड़ा है। इसे समझनेके लिये गीता और तुलसीदासका (मानसका) मनन आवश्यक है। भजनावली (आश्रम-भजनावली) रोज पढ़ना।

११–तुम्हारी सगाई हो गयी है, इससे तुम कीलमें बँध गये हो। अन्य स्त्रीके प्रति मन न जाने देना।

१२–प्रतिसप्ताह मुझे पत्र लिखकर अपने कामका हिसाब दिया करना।

हमारी कुछ मान्यताएँ—विज्ञानकी कसौटीपर

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

इस वैज्ञानिक युगमें धर्म भी, आस्था भी, केवल उपदेश या मन्त्रणाकी वस्तु नहीं रह गये हैं। प्रत्येक धार्मिक बातको जबतक विज्ञानके सहारे न समझ लिया जाय, कोई उसे माननेको तैयार नहीं है।

प्राचीन भारतीय ग्रन्थोंके इस कथनकी काफी खिल्ली उड़ायी जाती थी कि पुराने जमानेमें सींगवाले मनुष्य होते थे। उनको राक्षस कहते थे। अब वही चीज प्रमाणित हो जानेसे शिक्षित समाजमें बड़ी हलचल मच गयी है।

दक्षिणी-पूर्वी फ्रांसमें नाइस नगरसे ३० मील उत्तर-पूरबमें ६००० फुट ऊँचा आल्प्स पर्वत है। उसपर केवल भेड़-बकरी चरानेवाले या पहाड़पर घूमनेवाले साहसी लोग जाते थे। वहाँ, उतने ऊँचे पर्वतपर विचित्र प्रतीकात्मक खुदाई कभी-कभी किसी पर्यटकको मिल जाती थी। पर किसीने उस ओर ध्यान नहीं दिया। अब हेनरी दि लमलेके अथक परिश्रमसे इन खुदी हुई चीजोंका अध्ययन होने लगा है और यह निश्चित हो गया है कि ईसासे १८०० या १५०० वर्ष पूर्व, अर्थात् आजसे लगभग ३५०० वर्ष पूर्व एक अनार्य जाति वहाँ रहती थी, जिनके पास बड़े-बड़े पत्थरके हथौड़े-से अस्त्र थे और इन हथौड़ोंमें अंग्रेजी अक्षर 'T' की तरहकी मुठिया लगी होती थी। इन लोगोंके चित्र जो दीवारपर मिले हैं, उनमें सिरपर सींग है। अन्य कई चित्रोंसे पता चलता है कि ये 'प्रतीकात्मक' भाषाका उपयोग करते थे तथा इनको कटारीका भी उपयोग ज्ञात था। वही बड़ी कटारी इनका अस्त्र था। राक्षसोंके हमारे पौराणिक वर्णनसे इनका वर्णन बहुत-कुछ मिलता-जुलता है। क्या ये 'पाताललोकवासी' राक्षस नहीं हो सकते? पौराणिक वर्णन कोरी कल्पना नहीं है।

धर्म-परिवर्तन

पैतृक धर्मसे विपरीत किसी धर्ममें दीक्षा लेनेके लिये 'शुद्धि' तथा 'दीक्षा'की क्रिया नितान्त आवश्यक है, यह सनातनी हिंदुओंका विश्वास है। केवल यह कह देनेसे 'मैं हिंदू होना चाहता हूँ', काम नहीं चलेगा। हमारी बात मूर्खतामें शामिल कर ली गयी थी। आज इज़रायलके समृद्ध देशमें बहुतसे लोग जाकर बस रहे हैं। सभी अपनेको 'यहूदी' कहनेके लिये तैयार हैं। पर वहाँकी सरकार तथा धर्मगुरु श्रीयूसुफ तथा यहूदी-सम्प्रदायके मठाधीश गुरेनने बहुत तर्क-वितर्कके साथ फतवा दिया है कि 'बिना धार्मिक दीक्षा लिये—पवित्र नदीमें स्नान कर, गुरुके सामने धर्म-परिवर्तनकी क्रिया किये, चाहे पुरुष हो या स्त्री; यहूदी नहीं माना जा सकता।' इस निर्णयका स्वागत हो रहा है तथा इस निर्णयके विरोधीको 'जड तथा दकियानूसी' कहकर उनकी भर्त्सना की जा रही है।

बस, इतना ही

भारतीय दर्शन वासनाकी तृप्ति, विलास तथा भोगसे केवल अशान्ति ही प्राप्त होनेकी चेतावनी देता है। भारतीय युवक इस पुरानी 'दकियानूसी' भावनाकी खिल्ली उड़ाता है। आज, संयुक्त-राज्य अमेरिका-जैसे विलासी, भोगी तथा सम्पन्न देशमें 'पिपिन' नामक नाट्यमय नाटक जिस मञ्चसे खेला जाता है, वहाँ भीड़ उमड़ पड़ती है। घटना सन् ७८० की है, जब फ्रेंचनरेश शार्लमेन चारों ओर विजयपताका फहराता हुआ साम्राज्यकी रचना कर रहा था। उसका लड़का 'पिपिन' (वास्तविक नाम पेपिन) 'सम्पूर्ण जीवन, 'पूर्णतः सुखी जीवन' की तलाशमें निकल पड़ता है। वह सेनामें भर्ती होकर खूब मार-काट करता है, पर उसके चित्तको शान्ति नहीं मिलती। तब वह भोग-विलासमें पड़ जाता है। उसमें भी उसे शान्ति नहीं मिलती। उसे बतलाया जाता है कि गृहस्थ-जीवनमें शान्ति मिलेगी, पर उसे वहाँ भी कुछ न मिला। उसने एक धनी विधवासे विवाह किया, पर चित्तको 'सम्पूर्ण सुख' नहीं मिला। अन्ततोगत्वा उसने अपने पिताके विरुद्ध ही विद्रोह कर दिया, पर उसका चित्त शान्त न रहा। अन्तमें वह अपनेसे प्रश्न करता है—'क्या इस जीवनसे, बस, इतना ही मिलता है?' 'पिपिन' को अन्तमें ज्ञान होता है कि सांसारिक भोग-विलास अशान्तिको ही अधिक जगाते हैं। शान्ति उनसे बहुत दूर है।

भर्तृहरि आदिकी कथामें विश्वास न रखनेवाले 'पढ़े-लिखे' भारतीय सम्राट् शार्लमेनके पुत्रकी कहानीसे शायद अधिक प्रभावित हो सकें। हमको विदेशी बात अधिक समझमें आती है। जब हमारे कवि तथा साहित्यकार कहते हैं कि पश्चिमकी वर्त्तमान सभ्यता बहुत ही उच्छृङ्खल, घातक तथा हानिकारक है, तब उनकी बात अनसुनी तथा मूर्खतापूर्ण कहकर तिरस्कृत कर दी जाती है। अभी नवम्बर, १९७२के दूसरे सप्ताहमें एजरा पाउंड नामक पश्चिममें अंग्रेजी भाषाके सबसे बड़े कविकी ८७ वर्षकी उम्रमें मृत्यु हुई है। उनकी मृत्युके बाद उनकी जो कविताएँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझी गयी हैं, उनमें एक कविता है, जिसमें आधुनिक सभ्यताको गंदी, भद्दी, भ्रमात्मक, थोथी तथा जंजाल कहा गया है। एजरा पाउंडको अपनी कविताके लिये ७ लाख रुपयेका नोबुल पुरस्कार मिला था। आजके युगको 'वैज्ञानिक युग' नहीं, बल्कि 'जादूगरीका युग' कहा है प्रसिद्ध वैज्ञानिक स्टेनिसलाव एंड्रेस्कीने। उन्होंने इसी शीर्षकसे एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक भी लिखी है।

हिंदू-धर्मका उपदेश है कि 'बिना भगवान्‌का ध्यान किये, पूजा किये अन्न मत ग्रहण करो।' हिंदू-युवक-युवतियाँ इसे दकियानूसी विचार कहते हैं। उनका कहना है कि 'भूखे भजन न होइ गोपाला।' अभी संयुक्तराज्य अमेरिकामें एक विवाद छिड़ गया था। वहाँ ४५० ऐसे 'मिशन' हैं, जो समाजमें 'पतित तथा भ्रष्ट' लोगोंका उद्धार कर उन्हें सन्मार्गपर लाते हैं। उन्हें अपने आश्रमोंमें रखकर उनका जीवन सुधारते हैं। इन आश्रमोंकी स्थापनाकी शताब्दी मनायी गयी है। इस अवसरपर इन आश्रमोंके विरुद्ध यह लाञ्छन लगाया गया है कि ये 'बिना हरेक आश्रमवासीसे ईश-प्रार्थना कराये उनको भोजन नहीं देते।' 'जेरी डुन' नामक पादरीने इसपर उत्तर दिया है—'ईसा-मसीह रोज ५००० व्यक्तियोंको उपदेश देते थे। पहले उनसे प्रार्थना कराते थे। फिर उनको भोजन करने देते थे। हम मानते हैं कि भूखोंको भोजन मिलना चाहिये। पर बिना भगवान्‌का स्मरण किये, बिना उस प्रभुका ध्यान किये, जो हमें अन्न दे रहा है, भोजन करना प्रभुके प्रति अकृतज्ञता है। प्रार्थना अनिवार्य है। सबको करनी पड़ेगी।'

मनोबल

भारतीय शास्त्र पुकार-पुकारकर मनोबलकी बात कहते हैं। मनीषी तथा तपस्वी दूसरोंके मनकी बात जान जाते हैं और कह देते हैं कि 'तुम अमुक बात सोच रहे थे।' पश्चिमीय लोग इसे 'भारतीय कल्पना' तथा 'अंधाधुंधीका तमाशा' कहते थे।

सन् १८८२में लंदनमें एक संस्था कायम हुई थी, मनोविज्ञानकी खोजके लिये। ऐसी ही एक संस्था संयुक्तराज्य, अमेरिकामें कायम हुई थी, सन् १८८५में। क्रमशः ९० तथा ८० वर्षतक लगातार खोज करनेके बाद इन दोनों संस्थाओंने भारतीय कल्पनाओंको सत्य स्वीकार कर लिया है।

भारतीय मत है कि फूल-पत्तेमें भी प्राण हैं। उन्हें भी सुख, दुःख, प्रेमका अनुभव होता है। भारतीय वैज्ञानिक डॉ० बोसने इसे पैंतालीस वर्ष पूर्व सिद्ध भी कर दिया था। हमारा धर्म कहता है कि 'रात्रिमें फूल-पत्ती मत तोड़ो। पौधोंको कष्ट होता है।' कृषि-वैज्ञानिक लूथर बरबैंकने अभी अपनी शोधके द्वारा सिद्ध कर दिया है कि 'केवल पौधे-वृक्षोंसे प्रेम करके, उनके प्रति अपने मनमें प्रेमकी सच्ची धारणाकी अभिव्यक्ति करके उनसे न केवल दुगुना फल-फूल प्राप्त किया गया है, बल्कि ८०० प्रकारके नये फूल तथा फल उन्हींसे उत्पन्न किये जा सके हैं।'

दूसरेके मनकी हजारों कोसपर बैठा व्यक्ति कैसे बात सकता है? फरवरी, १९७१ में अमेरिकन अन्तरिक्ष-यान अपोलो-१४ जब चन्द्रमाकी ओर उड़ा था, तब उसके एक चालक मिचेलने पृथ्वीके अपने मित्रोंसे कहा कि वे उस निश्चित समयमें जो मिचेलके विश्रामका समय रहेगा, पृथ्वीपर बैठे-बैठे उससे कुछ बात करें और वह उतनी दूरीसे उनकी बातको ग्रहण करेगा। इस प्रकार मिचेलने २०० 'वार्त्ताएँ' कीं। वह तपस्वी तो था नहीं, फिर भी उसने अपने मनपर जोर लगाया, चित्तको एकाग्र किया और २०० बातोंमेंसे ४० बात उसने सही-सही अपने मनमें सुन लीं। विज्ञानने मान लिया कि लाखों मीलकी दूरीसे मनसे मनकी बात हो सकती है।

प्रेतात्मासे बात

प्रेतात्माकी सत्ता है। उससे सम्पर्क स्थापित हो सकता है। मनोबल चाहिये। आत्मशक्ति चाहिये। इस सम्बन्धमें भारतमें ही नहीं, विदेशोंमें अनगिनत प्रमाण मिल चुके हैं।

प्रकाशित हो चुके हैं। किंतु, उपर्युल्लिखित मनोवैज्ञानिक समितियोंने इसे स्वीकार नहीं किया था। अब उन्होंने इसे स्वीकार किया है।

१९वीं शताब्दीमें एक श्रीमती पाइपर थीं। ३० वर्षतक वे प्रेतात्माओंसे बातें करती रहीं। उस समय एक घटनाने सबको अचंभेमें डाल दिया था। जूनोटका लड़का बेनी एक वर्ष पहले मर चुका था। जूनोट अपने प्रिय पुत्रसे सम्पर्क चाहता था। श्रीमती पाइपरने उस लड़केसे सम्पर्क ही नहीं स्थापित किया, उसका एक काम भी निपटा दिया। उस लड़केका प्रिय कुत्ता था 'रौंडर'। लड़केके मरनेके बाद घरका साईस इरविंग कुत्तेको लेकर चला गया। कुछ दिनों बाद इरविंग भी मर गया। बेनीको चिन्ता थी कि कुत्ता कहाँ है? उसने श्रीमती पाइपरसे कहा कि 'इरविंगकी प्रेतात्मासे पता लगाकर उन्हें सूचित करें कि कुत्ता कहाँ है?' इरविंगने श्रीमती पाइपरको बतलाया कि "रौंडर' जॉन वेल्श नामक व्यक्तिके पास है।' पता लगानेपर बात सही निकली।

किंतु, बिना वैज्ञानिक प्रयोगशालामें जाँच किये, वैज्ञानिक कुछ माननेको तैयार नहीं है। डॉ० जॉन कूवरने १९१७में वैज्ञानिक प्रयोग शुरू किया। १९१९ में डॉ० एच्० ब्रुगमानने प्रयोग प्रारम्भ किया। जे० बी० राइन और कुमारी लुइसा वेकेस्सरने १९२६में इस विषयकी तहतक पहुँचनेके लिये स्वयं शादी कर ली और दोनों पति-पत्नी इसी काममें जुट गये। सन् १९६५में डा० राइनने अपनी निजी प्रयोगशाला खोल ली है और अब केवल उनके मनोबलसे प्रयोगशालाकी बिजलीकी बत्तियाँ भी जल उठती हैं। इसी प्रयोगशालामें प्रेतात्मासे सम्पर्क भी सिद्ध हो चुका है।

प्रलयकी प्रतीक्षा

'एक दिन प्रलय होगा—वर्तमान भूखण्ड नष्ट हो जायगा तथा हजारों वर्षतक ऐसा ही रहेगा', यह हमारा शास्त्र कहता है; अन्य धर्मवाले भी किसी-न-किसी रूपमें इसे मानते हैं; पर नये पढ़े-लिखे लोग इसे कोरी कल्पना ही कहा करते हैं। किंतु अब विज्ञान इस कल्पनाको सत्य प्रमाणित कर रहा है। मियामी विश्वविद्यालयके वैज्ञानिकोंने, विशेषकर भूगर्भ-शास्त्र-पंडित सीजारे एमिलियानीने यह सिद्ध किया है कि 'पिछले ४ लाख वर्ष पूर्व ८ युग ऐसे थे, जिनमें घोर शीत काल था; ७ युग ऐसे थे; जब घोर उष्णता थी; भयंकर गर्मी थी और दोनों ऐसे युगोंमें कोई भी जीव-जन्तु जीवित नहीं था। लाखों वर्ष पुराने ऐसे अस्थि-अवशेष प्राप्त हुए हैं (समुद्रके गर्भसे), जो शीतलहरीमें नष्ट हो गये थे। ये प्राणी नष्ट होकर नये भूखण्ड, नयी पृथ्वीका रूप धारण कर लेते हैं और फिर इनके अवशेषपर नयी सृष्टि खड़ी होती है।'

प्रत्येक शीत या उष्णलहरी लगभग १,००,००० वर्ष तक रहती है और वह युग प्रलयका युग होता है, यह मत आजके विज्ञानका है। पर दो वैज्ञानिक गोपेस्ता बोलिन तथा डेविड इरेक्सनका मत है कि 'शीतलहरी १०,०००से २०, ००० वर्षतक रहती है और इतने ही समयतक उष्ण लहरी भी रहती है। इन दोनों युगोंके बीचके युगमें ही फिरसे जीव-जन्तु-प्राणी पनपते हैं, पैदा होते हैं और दूसरी लहरी आनेतक जीवित रहते हैं।'

वैज्ञानिकोंके अनुसार वर्तमान सृष्टिका यह युग, जिसमें प्राणी-जगत् पनपा है तथा जीवित है, १२,००० वर्षसे है। अब लक्षण पैदा हो गये हैं कि यह युग समाप्त होनेवाला है और प्रलय होनेवाला है। किंतु कितने समयमें प्रलय होगा, यह कहना कठिन है। वैज्ञानिक एमिलियानीका अनुमान है कि २—३ हजार वर्षतक ही यह पृथ्वी चलेगी और इसके बाद शीतलहरीसे नष्ट हो जायगी। पर उस समय पृथ्वी किस रूपमें रह जायगी, यह कहना कठिन है। विज्ञान अभी-तक इसकी थाह नहीं लगा पाया है। पर उनकी यह राय अब निर्विवाद समझी जाती है कि प्रलय होता है, प्राणी नष्ट होते हैं, नवीन सृष्टिका आगमन होता है।

उष्णलहरी तभी आती है, जब 'अनेक सूर्य' बहुत निकट आ जाते हैं। हमारा शास्त्र १२ आदित्योंकी बात कर चुका है। आज विज्ञानने इन १२ आदित्योंकी वास्तविकताको स्वीकार कर लिया है।

इस लेखका तात्पर्य आजके उन नये पढ़े-लिखे लोगोंका ध्यान आकृष्ट करता है, जो प्राचीन भारतकी हरेक बातको 'मूर्खतापूर्ण' तथा दकियानूसी कहकर उसका मजाक उड़ाते हैं। धीरे-धीरे हमारी सभी प्राचीन बातोंकी सत्यता आधुनिक विज्ञानसे सिद्ध हो जायगी।

श्रीराधा-कृष्ण-प्रेम-माधुरी

श्रीराधा-कृष्ण-प्रेम-समुद्रकी तरंगें बड़ी ही गूढ़ एवं विलक्षण हैं। श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं तथा श्रीराधा प्रेमिका; पर साथ ही श्रीकृष्ण राधाको अपनी प्रेमास्पदा मानते हैं और अपनेको प्रेमीके रूपमें अनुभव करते हैं। यही भाव श्रीराधाका श्रीकृष्णके प्रति है। नीचे परमपूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा रचित दो पद अर्थसहित दिये जा रहे हैं, जिनमें श्रीराधा अपनेको अत्यन्त दीना और श्रीकृष्णको प्रेमके धनीरूपमें अनुभव करके अपना प्रेम निवेदन करती हैं। श्रीराधाके प्रेमोद्गार सुनकर श्रीकृष्ण उनके उत्तरस्वरूप अपने प्रेमोद्गार श्रीराधाके प्रति प्रकट करते हैं, जिसमें वे श्रीराधाको प्रेमकी स्वामिनी और अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार करते हैं। इस प्रकार श्रीराधा-कृष्णके पारस्परिक प्रेमालापमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ताका एक विलक्षण रूप दृष्टिगोचर होता है, जो बड़ा ही मधुर है।

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

(राग आसावरी—तीनताल)

अनोखौ प्रेम तुम्हारौ स्याम !
बिनु कारन तुम नेह बढ़ायौ, सहज सुभाव बिबस अभिराम॥
स्वारथ-भरयौ हुतौ हिय मेरौ, छूँछौ सदा प्रेम के नाम।
काम-कलुष-पूरित, नित कारौ, तामें कियौ आय बिस्राम॥
नहीं प्रबेस प्रेम-चटसारैं, नहीं ककहरा सौं कछु काम।
दिब्य प्रीति-रस मोय पियायौ, अपने-आप आय रसधाम॥
छकी, प्रेम-रस छलक्यौ पावन, मधुर भयौ जीवन सुखधाम।
तुम्हरे सुरभित गुन-सुमननि के तुम ही नित्य सुभग आराम॥

'श्यामसुन्दर ! तुम्हारी प्रीति विलक्षण है। तुमने अपने सहज सुन्दर स्वभावके वशीभूत होकर ही बिना किसी हेतुके ही मुझसे स्नेह बढ़ाया। मेरा हृदय तो स्वार्थपूर्ण था, प्रेमके नाम सदासे ही शुष्क था। कामकी कालिखसे पूर्ण, नित्य ही काला था। उसमें आकर तुम बस गये। मैंने तो प्रेमकी पाठशालामें प्रवेश भी नहीं पाया, कभी प्रेमका ककहरा पढ़नेका भी कुछ काम नहीं पड़ा। ऐसी मुझको रसके धाम तुमने स्वयं आकर अलौकिक प्रेमका रस पिलाया। मैं तृप्त हो गयी, पवित्र प्रेमरस छलक उठा। मेरा जीवन मधुर, सुखधाम बन गया। तुम्हारे सुगन्धपूर्ण गुणरूपी पुष्पोंके तुम स्वयं ही नित्य सुन्दर उपवन हो।'

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

(दोहा)

विषय-कामना, भोग-रति, इन्द्रिय-सुखका चाव।
नहीं तुम्हारे हृदयमें ये तीनों दुर्भाव॥
इह-परके सुख-भोगसे तुमको सहज विराग।
मेरे सुखमें ही सदा पूर्ण नित्य अनुराग॥
छोड़ न सकता इसीसे प्रिये ! तुम्हारा संग।
अनुपम रस मिलता मुझे मधुर नित्य नव रंग॥
रहता प्यारी ! सदा मैं बसा तुम्हारे पास।
क्षण भर भी हटता नहीं, करता नित्य निवास॥

हर स्थितिमें, हर समयमें शुचि आनन्द निधान।
लेता प्रेमानन्द-रस स्वयं बिना व्यवधान॥
देख-देख तुम रीझतीं, करतीं मधु-रस-दान।
तुम ही मेरी हो परम शुचितम सुखकी खान॥
बिका तुम्हारे हाथ मैं, इन भावोंके मोल।
तो भी ऋण न चुका सका, कैसे तुले अतोल॥

'हे प्रियतमे राधे ! तुम्हारे हृदयमें विषय-कामना, भोगोंके प्रति आसक्ति तथा इन्द्रियजन्य सुखोंकी लालसा—ये तीनों दुर्भाव सर्वथा नहीं हैं। तुम्हें इस लोक तथा परलोकके सुखभोगोंसे स्वाभाविक ही विरक्ति है। सदा मेरे सुखमें ही पूर्ण तथा नित्य अनुराग है। प्रियतमे ! इसी कारण मैं तुम्हारा सङ्ग-त्याग नहीं कर सकता कि मुझे उससे अनुपमेय रसकी प्राप्ति होती है, नित्य मधुर नया रंग मिलता है। हे प्रियतमे ! मैं सदा तुम्हारे निकट ही बसा रहता हूँ। क्षणभरके लिये भी हटता नहीं, नित्य निवास करता रहता हूँ। हर स्थितिमें, हर कालमें, पवित्र आनन्दनिधान स्वरूपमें मैं स्वयं बिना किसी अन्तरायके तुम्हारे प्रेमके आनन्द-रसका आस्वादन करता रहता हूँ। तुम मुझे देख-देखकर रीझती रहती हो, मुझे मधुर रसका दान करती रहती हो। मेरे परम शुचितम सुखकी खान तुम्हीं हो। मैं तुम्हारे हाथों इन्हीं भावोंके मूल्यमें बिक गया हूँ; तथापि तुम्हारा ऋण चुका नहीं पाया हूँ। उस अमाप वस्तुका माप कैसे हो सकता है।'

गोपी-विरह-गीत

एहि मुरारे कुञ्जविहारे एहि प्रणतजनबन्धो।
हे माधव मधुमथन वरेण्य केशव करुणासिन्धो॥
रासनिकुञ्जे गुञ्जति नियतं भ्रमरशतं किल कान्त, एहि निभृतपथपान्थ।
त्वामिह याचे दर्शनदानं हे मधुसूदन शान्त॥ १॥
शून्यं कुसुमासनमिह कुञ्जे शून्यः केलिकदम्बः, दीनः केकिकदम्बः।
मृदुकलनादं किल सविषादं रोदिति यमुनास्वम्भः॥ २॥
नवनीरजधरश्यामलसुन्दर चन्द्रकुसुमरुचिवेश, गोपीगणहृदयेश।
गोवर्द्धनधर वृन्दावनचर वंशीधर परमेश॥ ३॥
राधारञ्जन कंसनिषूदन प्रणतिस्तावकचरणे, निखिलनिराश्रयशरणे।
एहि जनार्दन पीताम्बरधर कुञ्जे मन्थरपवने॥ ४॥

'हे मुरारे ! हे प्रणतजनोंके बन्धु ! विहार-कुञ्जमें आइये, आइये। हे माधव ! हे मधुमथन ! हे पूजनीय ! हे केशव ! हे करुणासिन्धो ! पधारिये। हे निभृतपथके पथिक ! हे नाथ ! रासनिकुञ्जमें सैकड़ों भ्रमर गूँज रहे हैं, पधारिये। हे शान्तिमय मधुसूदन ! आपके दर्शनदानकी हम याचना करती हैं। हे नाथ ! आपके इस क्रीड़ास्थल-कुञ्जमें बिछा हुआ यह कुसुमासन और यह लीला-कदम्ब—सब आपके बिना सूना प्रतीत हो रहा है; मयूर आदि पक्षीगण दीन हो रहे हैं, मृदु कलरव करता हुआ श्रीयमुनाजीका निर्मल जल भी आपके वियोगके कारण शोकके साथ रोता-सा जान पड़ता है। हे नवीन कमल धारण करनेवाले ! हे मेघकी-सी श्यामल सुन्दरतावाले ! हे मोरपंख और पुष्पोंसे सुशोभित वेषधारी गोपीजनोंके हृदयेश ! हे गोवर्धनधारी ! वृन्दावनविहारी ! मुरलीधर ! हे प्रभो ! पधारिये। हे राधिकाजीको प्रसन्न करनेवाले ! कंसको मारनेवाले ! सभी निराश्रयोंको आश्रय देनेवाले ! आपके चरणोंमें हम प्रणाम कर रहे हैं; हे जनार्दन ! पीताम्बरधारी ! हे प्रभो ! इस मन्द-मन्द वायुवाले कुञ्जमें पधारिये ! पधारिये !! पधारिये !!!'

'जरा-सा'

(लेखक—वैद्य श्रीनन्दकिशोरजी जोशी)

मन पथिक ! यह क्या ? पग-पगपर रुकता है, कहता है—'जरा-सा' ? क्यों, यह कैसा 'जरा-सा' ? 'जरा-सा, जरा-सा' करते तो यह दिन आया और हो गयी यह दशा ! अब भी वही 'जरा-सा' । एक सत्यवादी कहता है—'न कहो असत्य !' तब भी तू कहता 'जरा-सा ! जरा-से झूठसे क्या होता है ? धर्मराज युधिष्ठिर भी तो बोले थे जरा-सा असत्य ! तो फिर जरा-से असत्यमें हर्ज ही क्या है ?'

एक सिद्ध पुरुष कहता है—'डूबो संसार-सागरमें, इसकी इन क्षणिक मोहिनीरूपी कुमुदिनी-लताओंपर मुग्ध होकर ।' किंतु तू तो कहता है—'जरा-सा । बस, जरा-सा ही आनन्द । सिर्फ एक बार और देख लूँ जरा-सा । इससे मेरा बिगड़ेगा ही क्या ?'

एक सांसारिक मानव, जो भागता है भक्तिसे और लीन है वैभवमें, कहता है बार-बार—'जरा-सेमें क्या हानि है ? जरा-सा मांस, जरा-सी मादक मदिरा, जरा-सा तीक्ष्ण मसाला—इससे क्या ? इतनेमें थोड़े ही बिगड़ता है स्वास्थ्य या डूबता थोड़े ही है धर्म ! सिर्फ जरा-सा ही तो कहता हूँ । इससे तो स्वास्थ्य-सौन्दर्य बढ़ता ही है ।' पर हाँ ! यदि नियमित रूपसे जरा-जरा-सेके चक्करमें फँसा तो क्या दुर्गति होगी, प्रतिदिन देखता ही है ।

मन पथिक ! मत भूल, यह 'जरा-सा' तो महान् दुःखदायी है । इसी 'जरा-से'में तो हो जाता है जीवनका सर्वनाश । पूछता है कैसे ? अरे ! भूल गया उस अभागिनी माताकी कहानी । हस्तिनापुर नामक नगरमें रहती थी—एक दीन विधवा, जिसके था एकमात्र इकलौता लड़का । वह पढ़ता था पाठशालामें; चुरा लाया एक दिन पाठशालासे छोटा-सा पेंसिलका टुकड़ा और लाकर दिया माताको । माताने उसको डाँटा-फटकारा नहीं, बल्कि किया उलटा प्यार । और कहा-'अच्छा बेटा ! पढ़ो ।' फिर चुरा लाया कुछ दिनके बाद एक पुस्तक । माताने पुस्तकको बेच दिया और दिला दी बदलेमें मिठाई । इस प्रकार बीत गये अधिक दिन और पड़ गयी लड़केको चोरी करनेकी आदत । जब ज्ञात हुआ अध्यापकको तो निकाल दिया उसे पाठशालासे । अब वह लड़का हो गया और भी स्वच्छन्द तथा करने लगा और भी बड़ी-बड़ी चोरियाँ । इस प्रकार धीरे-धीरे लड़का बड़ा हुआ । एक दिन उसने राजमहलमें चोरी की और असावधानीके कारण पकड़ा गया । दण्डरूपमें हो गया फाँसीका हुक्म । पर कहा गया—क्या है तेरी अब अन्तिम अभिलाषा ?' लड़केने कहा—"मुझे मिलना है मेरी मातासे 'जरा-सा' ।" शीघ्र ही बुलायी गयी माता । जब समीप पहुँची माता, तब कानमें बात कहनेके बहाने लड़का समीप मुँह ले गया और काट ली दाँतोंसे माताकी नाक । दर्शकोंने कहा—'अरे दुष्ट ! यह क्या किया तूने ? मर रहा है तू, फिर क्यों मारता है इसे ?' लड़केने कहा—"यदि न करती यह 'जरा-से' पेंसिलके टुकड़ेके बदलेमें प्यार तथा न खरीद देती चुरायी हुई पुस्तकके बदलेमें मिठाई तो क्यों आता आज यह दिन और क्यों जाते मुफ्तमें प्राण ! इसके ही 'जरा-से' लोभ एवं असावधानीने किया है मेरा सर्वनाश ।"

हमारे शास्त्र, हमारे इतिहास—महाभारत-रामायण आदिमें भी सहस्रों ऐसे उपाख्यान हैं, जिनमें हम देखते हैं कि 'जरा-सी' सावधानी या असावधानी, 'जरा-सा' सद्व्यवहार या असद्व्यवहार कितना बड़ा शुभ या अशुभ सृष्ट कर देता है तथा इतिहासको मोड़ देता है ।

इस प्रकार यह 'जरा-सा' सदा अहितकर है । इसी 'जरा-से' में बाल्यकाल गया, यौवन गया, अब यह 'जरा-

सा' जराको भी तो जरा-जरा-सा करके खा जायेगा। फिर तू कैसे पहुँच सकेगा अपनी मंजिलपर ? मन पथिक ! तू पराश्रित भी तो है—तुझे तो इस नश्वर पञ्चभूतमय शरीरके द्वारा ही तो करना है सब कुछ। पथिक ! भूल जा इस 'जरा-सा' को, नहीं तो यह 'जरा-सा' न जाने क्या-क्या कर दिखायेगा। तुझे मालूम होना चाहिये कि यह 'जरा-सा' ही तो है सर्वनाशका द्योतक ! मन पथिक ! शत्रु कहता है—"मुझे 'जरा-सी' आग तुम्हारे फूँसके घरसे स्पर्श कराने दो। क्या होता है, थोड़े ही कुछ बिगड़ेगा 'जरा-सी' आगसे।" वृश्चिक कहता है—"मुझे 'जरा-सा' ही तो स्थान चाहिये अपने पतलेसे डंककी नोकको रखनेके लिये।" किंतु तू तो इनसे भागता है कोसों दूर। क्यों ? वह तो 'जरा-सा' ही तो चाहता है, स्थान, क्षणिक विश्रामके लिये।

इस 'जरा-से' में ही कैसी होली हो जाती है। राजा बलिसे भगवान् वामनने भी तो माँगी थी 'जरा-सी' भूमि—सिर्फ साढ़े तीन हाथ—विश्रामके लिये ! किंतु बलिने खो दिया था सब कुछ। यह कैसा 'जरा-सा' ? एक नाविक उपेक्षा करता है 'जरा-से' छिद्रकी। किंतु इस 'जरा-सी' ही उपेक्षाका परिणाम इतना भयंकर होता है कि हजारों यात्री समुद्रके गर्भमें हो जाते हैं गर्क और करते हैं अपनी जीवन-यात्राका अन्त। विमान-चालक, कार-ड्राइवर, रेल-ड्राइवर आदिकी 'जरा-सी' असावधानीसे कितने घर उजड़ जाते हैं—यह हम प्रतिदिन देखते हैं। ऊँची-सी पहाड़ीपर विचरनेवाला प्राणी 'जरा-सी' ही असावधानीसे कर देता है अपना सर्वनाश। प्रबल वेगवती नदीमें 'जरा-सी' भूलसे ही तो पहुँचता है मानव यमपुर।

मन पथिक ! 'जरा-सा' तो अपना साथ न छोड़ेगा, पड़ा है पीछे, करनेको अन्त। किंतु पथिक ! यह 'जरा-सा' जिस प्रकार हानिकारक है, उसी प्रकार लाभप्रद भी तो है। 'जरा-सा' सत्सङ्ग कितना सुखकर है। रत्नाकर 'जरा-से' सत्सङ्गसे ही तो वाल्मीकि बना। 'जरा-जरा-से' रज-कणसे बना है—हिमालय। उसी प्रकार 'जरा-जरा-से' पानीसे ही तो भरा है—महासागर। यही बात है अखिल विश्वकी, यह भी तो बना है 'जरा-जरा-से' परमाणुओंसे मिलकर। इसी प्रकार 'जरा-सी' ही दयासे तो हो सकती है छोटे-छोटे लाखों जीवोंकी रक्षा और मिल सकता है उन्हें जीवन-दान। इसी प्रकार परम पिता परमात्माकी 'जरा-सी' ही कृपासे होता है—अखिल विश्वका कल्याण तथा 'जरा-सी' ही भृकुटीके बंकमात्रसे होता है—महाप्रलय।

मन पथिक ! 'जरा-जरा-सा' हरि भजन यदि किया जाय प्रतिदिन तो मिल सकती है मुक्ति; किंतु, पथिक ! तुझे क्या, तू क्यों उलझता है इस 'जरा-से'के झगड़ेमें ? तू तो चला चल सत्पथपर और किये जा निरन्तर हरि-भजन, जिससे पहुँचेगा अवश्य ही लक्षित स्थानपर और प्राप्त कर सकेगा वास्तविक सुख, शान्ति और कल्याण।

सरस्वती-वन्दना

कल्पना-विहंगके लगा दे व्योमव्यापी पंख
विश्वकी विशालतासे विस्तृत विचार दे।
सारे वायुमण्डलसे परिचय पाने हेतु,
साँसकी ससीमता को विशद प्रसार दे॥
हृदय-सितारके जो ढीले पड़े तार उन्हें,
चावसे सुधार दे, नवीन झंकार दे।
मातृवत् प्यार दे, पसार दे दयाका हाथ,
सारे कार्य साध दे ! हे शारदे ! विशारदे !!

—विष्णुदेवसिंह चौहान

एक सज्जनके पत्रके उत्तरमें नम्र निवेदन

प्रिय महोदय,

सप्रेम भगवत्स्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि आपके मनमें केवल एक ही इच्छा है कि आपको और आपकी पत्नीको भगवत्प्रेमकी प्राप्ति हो जाय। ऐसी ऐकान्तिक इच्छा तो सचमुच बड़े भाग्यसे हृदयमें जाग्रत् होती है। आप विश्वास रखें कि भगवत्प्रेमको प्राप्त करनेकी इच्छा मनमें जाग्रत् होनेपर भगवान् उसे अवश्य पूर्ण करते हैं। अवश्य ही यह इच्छा होनी चाहिये सच्ची। हमारी प्रेम-प्राप्तिकी इच्छा सच्ची है या नहीं—इसकी परीक्षा भी भगवान्की ओरसे होती है और यदि हम उस परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाते हैं तो भगवान् हमें हमारी अभिलषित वस्तु दिये बिना रह नहीं सकते। अवश्य ही उसे वे पूर्ण तभी करेंगे, जब वे ठीक समझेंगे। इच्छा हमारी सच्ची है या नहीं—इसकी पहचान यही है कि वह इच्छा अदम्य होती है; पूर्तिमें विलम्ब होनेपर वह इच्छा बढ़ती है, घटती नहीं।

इस इच्छाकी पूर्ति भगवान् किसी शर्तपर नहीं करते। आपने यह लिखा कि 'यह इच्छा आपकी तब पूर्ण हो, जब आप प्रभुकी आज्ञाका पालन करें तथा उनकी शरण ग्रहण कर लें।' ऐसी बात नहीं है। भगवान् केवल यही देखते हैं कि हमारी इच्छा ऐकान्तिक तथा सच्ची है या नहीं। बाकी काम वे स्वयं कर देते हैं। अतः आपसे यही प्रार्थना है कि आप अपनी इस इच्छाको प्रबल बनाइये, उसे किसी कारणसे भी शिथिल न पड़ने दें। मनमें यह विश्वास रखें कि भगवान् आपकी इस इच्छाको अवश्य पूर्ण करेंगे और करेंगे अपनी कृपासे, आपकी किसी योग्यताको देखकर नहीं। विश्वास मानिये—भगवान् पात्रता-अपात्रता नहीं देखते। वे देखते हैं केवल हमारी सचाईको, हमारी लगनको, हमारी तड़पको। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि हम सच्चे मनसे चाहें कि हमें उनका प्रेम प्राप्त हो। अवश्य ही हमारे मनमें यह तैयारी होनी चाहिये कि इसके लिये वे हमसे जो भी मूल्य चाहें, हम उसे सहर्ष चुका दें—यद्यपि भगवत्प्रेमका कोई मूल्य है ही नहीं, जिसे हम चुका सकें। यदि ऐसी तैयारी हमारे अंदर नहीं है तो हमने उसका महत्त्व कहाँ समझा।

आप भगवान्की परीक्षा लेना छोड़ दें। उन्हें अपने मनकी करने दें। आप अपनी जानमें उन्हें निरन्तर स्मरण रखनेकी चेष्टा करते रहिये। पापसे भी यथासम्भव बचते रहिये। मनसे अपनेको प्रभुके चरणोंमें डाल दें। वे क्या करते हैं और क्या नहीं करते, इसकी चिन्ता छोड़ दें। अपना कर्तव्य, जो भी समझमें आये, यथाशक्ति करते चले जाइये। प्रभु-कृपापर विश्वासको डिगने मत दीजिये। सब कुछ उनकी कृपासे ही होगा—यह निश्चय मानिये। परंतु अपना प्रयत्न भी न छोड़िये। कृपापर विश्वासका अर्थ यह नहीं कि आप अपनी ओरसे प्रयत्न करना छोड़ दें। प्रयत्न सफल होता दीखे तो उस सफलताका श्रेय प्रभु-कृपाको ही दें। यदि प्रयत्नमें आप असफल सिद्ध होते हैं तो उसमें हेतु अपने प्रयत्नकी कमीको मानिये, प्रभुकृपाको दोष मत दीजिये। आस्तिक बनिये।

भगवान्से उनके प्रेमके लिये, कृपाके लिये, विश्वासके लिये, मन-इन्द्रियोंपर काबू पानेकी शक्तिके लिये, उनके आज्ञानुसार—शास्त्राज्ञानुसार चलनेकी शक्तिके लिये प्रार्थना करते रहिये। परंतु यदि सुनवाई न होती दीखे तो निराश न होइये, भगवान्को कोसिये मत, प्रार्थना करना छोड़िये मत। उस मुस्लिम संतके जीवनसे शिक्षा ग्रहण कीजिये, जो जीवनभर सिजदा (भगवान्की बंदगी) करता रहा, परंतु जिसकी

एक भी बंदगी भगवान्‌को स्वीकार नहीं हुई । फिर भी वह निराश नहीं हुआ और उसने बंदगी करना छोड़ा नहीं ।

भगवत्कृपाका रहस्य प्रश्नोत्तरसे अथवा पुस्तकीय ज्ञानसे समझमें नहीं आयेगा । वह भगवत्कृपाके आश्रित होनेसे, उनकी कृपापर अपनेको डाल देनेसे ही समझमें आयेगा । ऊपर लिखी प्रार्थनापर ध्यान दें और भगवान्‌को अपने मनकी करने दें । वे कब क्या करते हैं और क्यों करते हैं—इसका विचार छोड़ दें । उनको बालकवत् पुकारते रहें इस अटल विश्वासके साथ कि **'कबहुँक दीनदयाल कें भनक परैगी कान ।'** शेष भगवत्कृपा ।

आपका,

चिम्मनलाल गोस्वामी

प्रार्थनाका महत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान्‌की प्रार्थनामें बड़ा बल होता है । हमारी न्यायोचित माँग ईश्वर स्वयं पूर्ण करते हैं । उन्हें प्रत्येककी सहायताका सदैव ध्यान रहता है । ईश्वरकी सृष्टिमें हर प्रकारके जीव-जन्तु, पशु-पक्षी मौजूद हैं । उनके लिये भिन्न-भिन्न प्रकारके भोजन तथा रक्षणकी आवश्यकता होती है । इस असंख्य और अपरिमित जीव-जगत्‌का रक्षण, भरण-पोषण ईश्वरके द्वारा होता रहता है । इस महान् कृतिको जीवित रखनेके लिये प्रत्येक अणुमें उनकी सत्ता व्याप्त है । परमात्माका नियम है कि उनके राज्यमें कोई भूखा न रहे, प्राणीमात्र आनन्द प्राप्त करें । प्रत्येक व्यक्ति अपनी विवेक-बुद्धिके द्वारा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ईश्वरके अस्तित्वको पहचाने, अपनी दिव्य शक्तियोंका सदुपयोग करे । प्रार्थना वह साधन है, जो हमारे लिये ईश्वरीय सहायताका द्वार खोल देती है ।

यदि थोड़ा भी ध्यान दें तो हम पद-पदपर प्रार्थनाका अद्भुत प्रभाव अनुभव कर सकते हैं । अनादिकालसे सभी देशोंके तथा सभी श्रेणियोंके व्यक्ति प्रार्थनाका महत्त्व अनुभव करते आये हैं । आजके बड़े-बड़े बुद्धिजीवी भी प्रार्थनाके महत्त्वको स्वीकार करते हैं । महात्मा गांधी प्रार्थनाको 'आत्माका भोजन' कहते थे और वे जीवनभर प्रार्थना करते रहे । उनकी सायंकालकी प्रार्थनाका इतना दृढ़ नियम था कि समय हो जानेपर वे अन्य किसी भी महत्त्व-से-महत्त्वपूर्ण कार्यकी भी परवा नहीं करते थे और प्रार्थना अवश्य करते थे । उनका जीवन प्रार्थनाके विलक्षण चमत्कारोंसे भरा पड़ा है ।

विदेशोंमें भी प्रार्थनाका महत्त्व सर्वत्र स्वीकृत है । आज विज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी वहाँ लोग व्यक्तिगत रूपसे एवं सामूहिक रूपसे प्रार्थना करते हैं । स्वर्गीय डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागरने अपने विदेश-प्रवासके अनुभव लिखते समय इंग्लैंडके जार्ज मूलरके जीवनकी कुछ घटनाओंद्वारा प्रमाणित किया है कि आज भी वहाँ प्रार्थनापर लोगोंका दृढ़ विश्वास है और उससे असम्भव कार्य भी होते देखे जाते हैं । वे लिखते हैं—

"विलायतके प्रसिद्ध आर्तसेवी जार्ज मूलरने सैकड़ों अनाथालय स्थापित किये हैं, जिनका सारा खर्चा प्रार्थनापर ही चलता है । वे सहायताके लिये कभी किसीके पास याचना करने नहीं जाते थे । कोठरी बंदकर वे प्रभुसे ही प्रार्थनाद्वारा माँग किया करते थे । जब-जब उनके सामने कोई पेचीदगी उपस्थित होती, उसी समय वे चुपचाप ईश-प्रार्थनामें तन्मय हो ईश्वरीय सांनिध्य प्राप्त करते । ईश्वर उनकी प्रार्थना स्वीकार करता । प्रार्थनाके बलपर प्रारम्भसे ही उन्हें अनाथालय चलानेके लिये धन प्राप्त हुआ करता था । लाखों रुपये उनके पास घर बैठे ही आ जाते थे । दो करोड़से ऊपर रुपये बिना माँगे प्रार्थनाके बलसे ही मूलर साहबको प्राप्त हुए थे । उन्हें प्रार्थनाकी शक्तिमें पूर्ण विश्वास था ।

"एक बार संयोगसे उनके अनाथालयके दो हजार बालकोंके लिये भोजन नहीं था । विषम स्थिति थी । बच्चोंकी भूखको कैसे शान्त किया जाय, यह समस्या उपस्थित हो गयी थी ।

मूलर साहबको प्रार्थनामें पूरा भरोसा था । वे अनाथालयके प्रबन्धकसे बोले—'आप अपना काम कीजिये । बालकोंको भोजन परोसनेके लिये टेबल, तश्तरी और पानीका प्रबन्ध कीजिये । ईश्वर कहीं-न-कहींसे शीघ्र ही भोजन भेजनेवाले हैं ।'

प्रबन्धक सोचने लगा कि मूलर साहब पागल तो नहीं हो गये हैं ! वह निष्क्रिय खड़ा रहा । भला, भोजन कहाँसे आयेगा ।

थोड़ी देर बाद प्रबन्धकसे उन्होंने फिर भोजनका प्रबन्ध करनेका आदेश दिया ! बच्चोंके भोजनको परोसनेका समय अब बिल्कुल निकट आ गया था । उधर कहींसे भोजनके आनेकी सम्भावना न दीखती थी ।

'आप अपना काम जारी रखिये । बच्चोंको भोजन परोसनेका प्रबन्ध कीजिये ।' मूलर साहबने फिर दोहराया । वे प्रभुकी दिव्य सहायताकी प्रार्थना कर रहे थे ।

इतनेपर भी प्रबन्धकको संतोष न हुआ । उसने पुनः मूलर साहबके पास आकर आग्रहपूर्वक कहा—'अब तो खानेका समय आ ही गया है । मेज और तश्तरी इत्यादि रखी जा चुकी हैं । क्या बच्चोंको भोजनालयमें बुलानेकी घंटी बजा दी जाय ?'

'हाँ, भोजनालयमें बुलानेकी घंटी बजा दो । हमने प्रार्थनाद्वारा जो कुछ करना था, वह कर दिया है । अब शेष जिनका काम है, वे अपना कार्य करेंगे । देखना है, यह कार्य कैसे सिद्ध होता है ?'

इतनेमें घंटी बजी । भोजन खानेके लिये बालक जल्दी-जल्दी एकत्र होने लगे । भोजनालयमें आकर सब अपने-अपने स्थानपर बैठ गये ।

इतनेमें एक आश्चर्यजनक घटना घटी ।

तुरंत ही रोटियाँ, सब्जी, मिठाई, पकवान तथा अन्य भोज्य पदार्थोंसे भरी हुई एक गाड़ी अनाथालयमें आ पहुँची । सभी अचरजमें खड़े थे । यह सब कैसे हो गया ! इतने बड़े परिमाणमें भोजन कहाँसे आ पहुँचा था ? वह किसने भिजवाया था ?

ईश्वरके अपना उद्देश्य पूर्ण करनेके अलग उपाय होते हैं । उन्हें पता रहता है कि कब किसकी सहायता कैसे करनी है ।

बात यों हुई कि किसी बड़े अमीरने उसी दिन अपने मित्रोंको एक बड़ा भोज देनेका आयोजन किया था और एक प्रसिद्ध होटलमें भोजन पकवाया था; किंतु यकायक किसी कारणवश उसे उस दिन वह दावत स्थगित करनी पड़ी थी । उस मनुष्यको दिव्य भगवत्प्रेरणा हुई कि यह सब पका हुआ भोजन सड़ जायगा । इसलिये उसने होटलके मैनेजरको आदेश दिया—'आप इस सब भोजनको मूलर साहबके अनाथालयमें भेज दीजिये । अनाथालयके बालकोंके काम आ जायगा ।'

फिर क्या था, सब बच्चोंने खुशीसे भरपेट भोजन पाया । प्रार्थनाका तत्काल उत्तर मिलनेकी इस घटनापर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ । मूलर साहबने प्रार्थनासे उठकर प्रबन्धकको बुलाया और उसे चेतावनी दी—'तुम्हारे-जैसे व्यक्तिकी हमें आवश्यकता नहीं है, जिसे उस दानी, परमपिता परमेश्वर-पर घंटेभरके लिये भी विश्वास नहीं है' ।''

मूलर साहबके जीवनकी एक और घटना है । एक बार वे जलयानमें बैठकर कहीं 'ईश्वर-प्रार्थनासे लाभ' विषयपर व्याख्यान देने जा रहे थे । संयोगसे मार्गमें बड़े जोरोंका तूफान और कुहरा पड़ा । सर्वत्र धुंध छायी हुई थी और रास्ता बिल्कुल नहीं दीखता था ।

'महाशय ! मुझे शनिवारके दिन पहली तारीखको सायंकालसे पूर्व क्वेबेक नगर अवश्य पहुँचकर ईश-प्रार्थनापर भाषण देना है ।' मूलर साहबने पानीके जहाजके कप्तानसे कहा ।

'आज मौसम बड़ा खतरनाक है । देखो, कैसा कुहरा पड़ रहा है । जहाजका तूफानमें जाना असम्भव दीखता है !' कप्तानने दुःख प्रकट करते हुए उत्तर दिया ।

'हम एक उपाय कर सकते हैं । उससे मुसीबतें दूर हो जायँगी ।' मूलर साहबने ढाढ़स बँधाया ।

'वह क्या है ?' कप्तानने जिज्ञासा प्रकट की ।

'आओ, ईश्वरसे प्रार्थना करें कि यह विपत्ति दूर हो जाय ।' मूलर साहबने मार्ग सुझाया ।

'आप किस पागलखानेसे आये हैं, जो इस प्रकारकी अनहोनी बातें करते हैं ।'

'मैंने प्रार्थना की है और मुझे ईश्वरीय गुप्त सहायताम विश्वास है । मैं अनन्त सामर्थ्यों और असीम विभूतियोंके स्वामी ईश्वरको अपना सहायक मानता हूँ । इस संसारमें सर्वत्र जिनकी सत्ता जो फैला हुआ है । जो इतने शक्तिशाली

पिताका पुत्र है, वह निस्सहाय होनेकी बात क्योंकर सोच सकता है । ईश्वरको अपनेसे असम्बद्ध माननेसे ही निराशा आती है । मैं सत्तावन वर्षसे अपने प्रभुसे गुप्त दिव्य सहायता पा रहा हूँ और अभीतक मेरी प्रार्थनाके अचूक उत्तर मिले हैं । मेरी दृष्टि उस परमप्रभुकी ओर है, जो जीवनकी प्रत्येक स्थितिपर शासन करता है । डेकपर जाओ; देखो, कुहरा उतर रहा है । ईश्वरकी सहायताके कारण मौसम अनुकूल होता जा रहा है ।'

कप्तान केबिनसे बाहर गया । आश्चर्यसे उसने देखा कि सचमुच कुहरा दूर होने लगा था । लगता था, जल्दी ही वह मौसम अनुकूल हो जायगा । कप्तान इस सीधे-साधे, भोले भक्तकी प्रार्थनाके प्रभावको देखकर चकित हो गया ।

वैसा ही हुआ ! ईश्वरकी प्रार्थनाके बलसे कुहरा दूर हुआ और मूलर क्वेबेक ठीक उसी समय पहुँचे, जब उनका वहाँ पहुँचना आवश्यक था ।

जार्ज मूलर ९४ वर्ष जीवित रहे । जन्मसे ही वे दुर्बल-शरीर थे । फिर भी सत्तर वर्षकी उम्रके बाद भी सारे विश्वमें भ्रमण कर ईश्वरवादका प्रचार करते रहे । जो-जो प्रेरणाएँ प्रार्थनाके समय होती थीं, उन्हींके अनुसार वे अपना कार्य-क्रम जारी रखते थे ।

इस घटनामें कोई अतिशयोक्ति नहीं है । अनेक व्यक्तियोंके जीवनमें ऐसी अजीब घटनाएँ घटती रही हैं । लोगोंको अनेक प्रकारकी परीशानियोंसे मुक्ति ईश्वरीय प्रार्थना-के बलपर मिली है । विश्वकी इतनी बड़ी रचनामें जो चैतन्य समाया है, वह कितना समर्थ है—यह बात ऐसी घटनाओंसे स्पष्ट हो जाती है ।

पं० शिवदत्त शर्माने अपने एक परिचितका उल्लेख किया है । एक बार उनकी पुत्री अत्यन्त बीमार पड़ी और क्रमशः मरणासन्न दशामें पहुँच गयी । जब उन्होंने समस्त युक्तियाँ निष्फल देखीं, तब वे सबको छोड़कर अपने घरकी तीसरी मंजिलपर भगवान्के मन्दिरमें उनकी मूर्तिके सामने जाकर रोने लगे । आकाशमें ईश्वरको हाथ जोड़कर पृथ्वीकी ओर मुँह कर साष्टाङ्ग गिर पड़े । फिर अत्यन्त दैन्य-भावसे प्रार्थना की—

'हे नाथ ! मेरे तो समस्त सांसारिक प्रयत्न, सम्पूर्ण आशाएँ अब निष्फल हो चुकी हैं । अब मैं सहायता और शक्तिके लिये आपके शरण आया हूँ । आपकी कृपासे सब आधि-व्याधि दूर होती है । अब इस बालिकाकी प्राणरक्षा आपके ही हाथ है । प्रभो ! अपने इस भक्तकी ओर निहारिये और बच्चीको जीवन-दान दीजिये ।'

पूरे विश्वासी और एकनिष्ठ हो वे सच्चिदानन्द परमात्मा-की पूर्ण अनुभूति करते रहे । अपने अश्रु-बिन्दुओंसे हृदय-स्थित प्रभुकी मानस-मूर्तिके चरण पखारते रहे । उनके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, जब वहाँसे नीचे उतरकर उन्होंने देखा कि लड़की क्रमशः चेतना-लाभ कर रही है । ईश्वरीय शक्तिके प्रभावसे उसका रोग और पीड़ा बहुत कम हो गयी है और वह स्वस्थ हो रही है ।

इस प्रकार अनेक आस्थावान् व्यक्तियोंने शारीरिक, मानसिक और स्वास्थ्य-सम्बन्धी कठिनाइयोंको प्रार्थनाके बल-से दूर किया है । रोगीको बिना देखे प्रार्थनाकी शक्तिसे इलाज किया जाता है । विपत्ति, चिन्ता, भय, बीमारी, दरिद्रता, हानि, बेकारी आदि सब संकट-कालीन परिस्थितियोंमें प्रार्थनाद्वारा अदृष्ट शक्ति मिलती रही है ।

निश्चय जानिये, प्रार्थना वह पुष्ट आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जो उत्तेजित और विक्षुब्ध मनको ठंडा करती है और उसे संतुलित और संतुष्ट करती है ।

प्रार्थना मनुष्यके दैवी गुणोंका विकास करती है, उन्नति और सफलताके अभिनव मार्ग खोलती है ।

यह हाड़-मांसका मानव कहलानेवाला पुतला हमारे गुप्त मनसे संचालित होता है । प्रार्थना हमारे गुप्त मनको दैवी शक्तिसे जोड़ देती है । हम कठिनाइयोंसे डटकर मुकाबला करनेकी शक्तिको विकसित करते हैं । यह हमारे सोये हुए आत्म-विश्वासको जाग्रत् कर देती है । हम अपने-आपको कमजोर माननेके बजाय ईश्वरको अपने साथ रक्षकके रूपमें मानने लगते हैं । इस प्रकार प्रार्थना हमें नयी हिम्मत और आत्मबल देती है । हमारी विषम परिस्थितियाँ बदलकर उपयोगी बन जाती हैं ।

सिगरेटने मुझको मार डाला !

मार्क वाटर्स नामक अमरीकन लेखकने अपनी कहानी मरनेसे चार दिन पहले लिखी। उसके सम्बन्धमें उसने स्पष्ट कह दिया—"यह मेरा 'मृत्यु-पत्र' है और मैं इस उद्देश्यसे लिख रहा हूँ कि शायद कोई इससे लाभ उठा सके।' कहानी इस प्रकार है—

"सिगरेट मेरे लिये मृत्यु सिद्ध हुई। अपने इस घातकके साथ मेरा परिचय १४ सालकी उम्रमें हुआ था, जब मैं अपने पिताकी जेबसे चोरीसे सिगरेटें निकालकर पीने लगा। आरम्भमें धुआँ भीतर जानेपर जी कुछ मिचलाता था, पर धीरे-धीरे अभ्यास हो गया।

"कुछ समय पश्चात् मैंने जहाजी सेवामें नाम लिखा लिया। वहाँ सिगरेटें बहुत कम कीमतमें मिल जाती थीं। मैं हर रोज दो पैकेट पी जाता था। जब मैं २० सालतक जल-सेनाकी नौकरी पूरी कर चुका, तब फिरसे विश्वविद्यालयमें दाखिल होकर बी० ए० की डिग्री प्राप्त की और एक अखबारमें काम करने लगा। एक रातको जब मैं अपनी मोटरकी तरफ जा रहा था, तब मुझे अपने भीतर एक हल्का धक्का-सा जान पड़ा और मैं एक तरफ लड़खड़ा गया। उस रातको मैं एकके बाद दूसरी सिगरेट पीता जाता था। बादको मैंने तथा मेरी स्त्रीने भी इस घटनाका ध्यान भुला दिया।

"पर मेरा स्वास्थ्य बराबर गिरता जाता था, मेरे मुँहका स्वाद हमेशा बड़ा खराब रहता था, भूख मारी गयी थी, साँस लेनेमें कठिनाई होती थी और छातीमें जल्दी ही ठंडका असर हो जाता था। जून १९६५ में मेरे पेटमें तकलीफ रहने लगी, जिसमें मैं रातको एक-एक घंटे बाद उठकर दूध पीता और सिगरेट भी। सितम्बरमें बड़े जोरसे खाँसी आने लगी और फेफड़ेमें दर्द अनुभव होने लगा। मैं डाक्टरके पास गया तो उसने एक्सरेसे जाँच करके बताया कि फेफड़ेमें गाँठ पैदा हो गयी है। एक सर्जनने उसे ऑपरेशन करके निकाल दिया। मैं एक महीना बाद अपने कामपर लौट आया और तीन महीनेतक अच्छी तरह काम करता रहा। तब मैंने सिगरेट पीना छोड़ दिया था; क्योंकि उसके पीते ही फेफड़ेमें कष्ट होने लगता था।

"जनवरीमें मुझे ठंड लगनेसे फिर बीमारीने आ घेरा। अब मुझे बार-बार डाक्टरके पास जाना पड़ता था। बादमें मुझे मालूम हुआ कि डाक्टरने पहले ऑपरेशनके बाद ही मेरी स्त्रीसे कह दिया था कि यह सालभर भी जिंदा नहीं रह सकता, पर उसने न तो उसकी बातपर विश्वास किया और न मुझसे ही कहा। डाक्टरने बतलाया कि 'फेफड़ेका कैंसर चार तरहका होता है, जिसमेंसे कोई धीरे-धीरे बढ़ता है और कोई बहुत जल्दी। उसने यह भी कहा कि 'कैंसरके बीस बीमारोंमेंसे एक बच पाता है। जो लोग बहुत अधिक सिगरेट पीते हैं, उनमेंसे १५-२० प्रतिशत व्यक्तियोंको कैंसर अवश्य हो जाता है। सिगरेट पीनेसे केवल कैंसर ही पैदा नहीं होता, वरन् कई प्रकारके अन्य शारीरिक दोष भी वृद्धिको प्राप्त हो जाते हैं, जिससे जल्दी मृत्यु हो जाती है।'

"मैं नहीं जानता कि मेरी यह आप-बीती कहानी किसीकी सिगरेट पीनेकी आदतको रोक सकेगी या नहीं? किंतु लोग इस सत्यसे अपरिचित न रह जायँ, इसलिये यह कहानी लिख रहा हूँ। मेरी साँस इतनी जल्दी भर जाती है कि मैं बिना बैठे पाँच कदम भी नहीं चल सकता। कैंसर मेरे यकृत्तक पहुँच चुका है। इसलिये अब मेरे बचनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मैंने तो सावधान होनेमें बहुत देर कर दी, पर शायद आपके लिये अभी समय है।"

('युग-निर्माण-योजनासे' साभार)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

अनर्थरूप अर्थ

परमहंस रामकृष्णदेवने अपने आपको माँ कालीके समर्पित कर दिया था। 'माँ काली ही मेरे योगक्षेमका वहन करती हैं'—उनका ऐसा दृढ़ विश्वास था। अर्थ (रुपये-पैसे) को जड मानकर वे उसका स्पर्शतक नहीं करते थे।

श्रीलक्ष्मीनारायण नामके एक सज्जन कभी-कभी उनके दर्शन करने आया करते थे। वे श्रीमद्भागवत और श्रीगीताजीके मर्मज्ञ थे। श्रीलक्ष्मीनारायणने एक दिन देखा कि परमहंसदेवके बिछौनेकी चद्दर फट गयी है। उन्होंने उसे बदलनेका आग्रह किया; परंतु परमहंसदेवने कहा—'मालिकके मनमें जब आयेगा, तब वे अपने-आप ही बदल देंगे।' श्रीलक्ष्मीनारायणने कहा—'यह बात ठीक नहीं है।' उनके मनमें आया कि धनीलोग साधु-संतोंकी उपेक्षा करते हैं, यह उचित नहीं है। संतलोग कहाँ माँगते फिरेंगे'—ऐसा विचार करके उन्होंने परमहंसदेवसे निवेदन किया—'महाराजजी! मैं कंपनी (ईस्ट इण्डिया) सरकारमें आपके नामसे दस हजार रुपयेका कागज खरीदकर जमा कर देता हूँ। उससे चालीस रुपये मासिककी आय होगी और आपका काम आसानीसे चल जायगा।'

परमहंसदेवने सहजभावसे उत्तर दिया—'देह भी जड है, अर्थ भी जड है; देहके लिये अर्थकी आवश्यकता है, मेरे लिये कदापि नहीं। आप समझते होंगे कि रानी रासमणि मेरा पालन करती हैं, पर यह मिथ्या है; वे क्या पालन कर सकती हैं? मेरी काली माँ ही मेरे लिये भोजन-वस्त्र आदिकी व्यवस्था करती हैं। अर्थ मनुष्यको पतित बना देता है। मनुष्य विषय-सेवन कर अर्थके द्वारा पाप कमाता है। अतः मेरे लिये अर्थकी व्यवस्था करके मुझे पतनके गड्ढेमें मत डालिये।'

परमहंसदेवकी इन बातोंसे श्रीलक्ष्मीनारायणको विशेष संतोष नहीं हो सका। उन्होंने अपनी बातपर जोर देकर आग्रहपूर्वक कहा—'आप अपने नामसे जमा न करवाना चाहें तो ऐसे आदमीको बताइये, जिसके नामसे रुपया जमा हो जाय और आपका काम चलता रहे।'

परमहंसदेवने उत्तर दिया—'यह तो और भी अधिक अशान्तिका कारण होगा। यह तो बहुत बड़ी चोरी है, बेईमानी है कि अपने नामसे रुपया न जमा कर दूसरेके नाम रखकर उसका उपभोग किया जाय। यह महान् पाप है, इससे नाम और भी कलङ्कित होता है।'

श्रीलक्ष्मीनारायणने पुनः आग्रह किया और कहा—'मैं रुपये वापस नहीं ले जा सकता। इसे आपको स्वीकार करना ही होगा।'

श्रीलक्ष्मीनारायणका अनुचित आग्रह किसी भी रूपमें मानना परमहंसदेवके लिये सम्भव नहीं था। वे जोर-जोरसे रोने लगे और काली माँसे प्रार्थना करने लगे—'माँ! आप ऐसे लोगोंको मेरे पास क्यों भेजती हैं, जो मुझे आपसे दूर करना चाहते हैं?' ऐसा कहते-कहते वे समाधिस्थ हो गये। श्रीलक्ष्मीनारायण परमहंसदेवकी यह स्थिति देखकर चकित हो गये। पीछे समाधि-भङ्ग होनेपर परमहंसदेवने बड़े प्रेमसे उन्हें समझाया कि अर्थका लोभ दिखाकर वे कितना बड़ा अनर्थ कर रहे थे।

(२)

हृदय-परिवर्तन

एक बार मैं अपनी बहनके गाँव गया था। वहाँ एक सज्जनने मुझे अपने जीवनका एक अनुभव सुनाया, जिसे मैं उन्हींके शब्दोंमें यहाँ देता हूँ—

'एक बार मुझे अपने भानजेकी शादीमें भातका नेग* लेकर जाना था। दो-तीन दिनोंसे आवश्यक वस्तुओंकी व्यवस्था करनेके प्रयासमें हमलोग थे। दस तोले सोनेके जेवर भी बनवाकर एक डिब्बेमें रख दिये थे। डिब्बेको एक संदूकमें बंद कर दिया था और हम दूसरी चीजोंकी तैयारी कर रहे थे। अगले दिन सुबह दस बजेकी गाड़ीसे जाना था।

''शामके समय मेरा छोटा पुत्र घरपर आया और उसने मुझसे कहा—'पिताजी! संदूकके आपने अभीतक ताला नहीं लगाया; मुझे चाभी दीजिये, मैं लगा दूँ।'

''मैं स्वयं ताला लगानेको खड़ा हुआ। स्वाभाविक रूपसे

* बहनके बच्चोंकी शादीमें दिये जानेवाले वस्त्राभूषण आदि।

मैंने संदूक खोलकर देखा कि सब सामान तो ठीकसे हैं न। देखनेके बाद पता चला कि उसमें गहनेका डिब्बा नहीं है। यह देखते ही मैं सन्न रह गया। मैंने अपनी पत्नीसे धीरेसे पूछा कि उसने डिब्बेको कहीं अलग सँभालकर तो नहीं रखा है। उसने विस्मयसे पूछा—'क्या संदूकमें डिब्बा नहीं है?' और इतना कहकर वह उदास हो गयी। मैंने उसको धीरज बँधाया और कहा—'अब शोरगुल करनेका कोई अर्थ नहीं है।'

"मैं चिन्तातुर हो गया—कल सुबह जाना है, रातभरमें दस तोलेके जेवर तैयार हों तो कैसे? बिना जेवर जाना भी ठीक नहीं। घरमें भी जैसे जेवर चाहिये, वैसे नहीं हो सकते। घरके बच्चोंने तो उस समय भोजन कर लिया, पर मुझे और मेरी पत्नीको भोजन करनेकी इच्छा ही नहीं हुई। हमलोग बिना भोजन किये ही रहे।'

"हमारे यहाँ खेतीके कार्यमें सहयोग देनेवाले दो साथी (खेत-मजदूर) रखे हुए थे। उनमेंसे एकने आकर रातके दस बजे मुझसे पूछा—'भाई साहब! आपने भोजन क्यों नहीं किया? क्या तबियत अच्छी नहीं है?' मैंने उसे जेवरके डिब्बेकी बात बतलाकर कहा—'किसीको कहना मत।' और वह सोनेके लिये चला गया।

"मुझे चिन्ताके कारण नींद नहीं आ रही थी। रातके बारह बजे वही साथी (खेत-मजदूर) मेरे पास फिर आया और कहने लगा—'भाई साहब! मैं आपसे एक बात कहने आया हूँ, पर मेरा हृदय काँप रहा है।' मैंने कहा—'बेखटके जो भी कहना हो, कहो; मैं किसीसे तुम्हारी बातकी चर्चा नहीं करूँगा।'

"मेरे द्वारा आश्वस्त होनेपर उस कर्मचारीने अपनी धोतीमें लपेटा हुआ डिब्बा मेरे सामने रख दिया और करुण स्वरसे कहने लगा—'मैंने ही आपकी संदूकसे यह डिब्बा निकाल लिया था। मैंने सोचा था कि इसे बेचकर पैसे बना लूँगा; किंतु आपकी उदासी देखनेके बाद मुझे बड़ा पछतावा हुआ। मुझे भी नींद हराम हो गयी। मेरे द्वारा यह बहुत बड़ा पाप हो गया, जो आपकी बहनको देनेके जेवरोंकी मैंने चोरी की। आपके अन्नका अंश मेरी आँतोंमें भरा हुआ है, उसकी भी मुझे शर्म नहीं आयी। जैसे वह आपकी बहन है, वैसे मेरी भी है। अब आप इस डिब्बेको सँभाल लीजिये और ये पाँच रुपये मेरी ओरसे बहनको·······।' इतना कहते-कहते वह मेरे पाँव पकड़कर रोने लगा।

"मैंने उसे शान्त करते हुए कहा—'तुम अब चिन्ता न करो; मनुष्यसे भूल तो हो जाती है, किंतु पश्चात्तापद्वारा भूलको सुधार लेनेवाला देव होता है। मैं यह बात किसीको नहीं कहूँगा। किंतु अब मेरी एक बात तुम्हें माननी पड़ेगी।' 'आप जो भी कहेंगे मैं मान लूँगा, मालिक'—उसने कहा।

"मैंने कहा—'कल सुबह तुम्हें हमारे साथ विवाहमें सम्मिलित होना है; तुम अपने ही हाथसे ये पाँच रुपये बहनको देना।'

"वह राजी हो गया। बहनके घरमें उसने घरके सदस्यके समान शादीका काम-काज किया। आज उस घटनाको बहुत समय बीत गया है। अब उसके पास स्वयंका खेत है और वह सुखी है। मैं भी उस बातको भूलकर उसके घर प्रसङ्गवश आता-जाता हूँ।"

'अखण्ड आनन्द' —जैसंगकुमार भरजिया

(३)

'मैं रहूँगा तो ब्राह्मण-परिवार भी रहेगा'

बात संवत् १९८६ की है। हमारे परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) उन दिनों गोरखपुर शहरके उत्तरी भागमें रेलवे इंजन-शेडके समीप स्थित एक बगीचेमें रहते थे। यह बगीचा श्रीकान्तिबाबूका था और श्रीभाईजीने इसे किरायेपर ले रखा था। उन दिनों श्रीभाईजीपर भगवान्की कृपाकी वर्षा हो रही थी। भगवत्कृपाके विलक्षण प्रसङ्ग उस बगीचेमें घटित होनेके कारण श्रीभाईजीके प्रति स्नेह-सद्भाव रखनेवाले स्थानीय जालान (मारवाड़ी वैश्य) परिवारके एक बन्धुने वह बगीचा श्रीकान्तिबाबूसे खरीद लिया। उस बगीचेको खरीदनेमें उनकी आन्तरिक अभिलाषा यही थी कि श्रीभाईजी वहाँ बराबर रहें और उनकी उपस्थितिसे उसका महत्त्व बढ़ता चला जाय। परंतु दैवका कुछ और ही विधान था—'तेरे मन कछु और है, कर्त्ताके कछु और।'

उन दिनों गोरखपुर शहरमें बहुधा प्लेगका प्रकोप हो जाता था। उस वर्ष भी प्लेगका प्रकोप हुआ। शहरके लोग अपने घर खाली करके शहरके बाहरी हिस्सोंमें जाकर

रहने लगे। पर निर्धनता बड़ी क्रूर होती है। शहरके प्रसिद्ध साहबगंज मुहल्लेमें रहनेवाला एक निर्धन मारवाड़ी ब्राह्मण, जिसका नाम बनारसी था, प्लेगकी चपेटमें आया और ठीकसे उपचार न होनेके कारण चल बसा। उसकी अनाथा स्त्री और बच्चे प्लेगका प्रकोप देखकर ही आतङ्कित थे, अपने पति-पिताको प्लेगका ग्रास होते देखकर तो वे और भी भयभीत हो गये। अब वे घर छोड़कर शहरके बाहर कहीं शरण लेनेके लिये व्यग्र हो गये; किंतु निर्धनको कौन आश्रय दे? ऐसे भीषण समयमें जब सभी 'शरणार्थी' बने हुए थे, कौन उनकी व्यवस्था करे? ब्राह्मणपत्नीको किसीने श्रीभाईजीकी शरण ग्रहण करनेके लिये प्रेरित किया। ब्राह्मणपत्नी श्रीभाईजीसे मिली और श्रीभाईजीने उसे अपने आवास-स्थान—किरायेके बगीचेमें आकर रहनेके लिये कह दिया।

बगीचेके मालिक जालान-बन्धु भी साहबगंज मुहल्लेमें रहते थे। प्लेगके प्रकोपको देखकर वे भी बगीचेके उस हिस्सेमें जाकर रहने लगे थे, जो हिस्सा श्रीभाईजीके किरायेमें नहीं था। जालान-बन्धुको जब यह बात ज्ञात हुई कि बनारसी ब्राह्मणकी विधवा पत्नी और बच्चोंको श्रीभाईजी अपने हिस्सेके कमरोंमें लाकर ठहरा रहे हैं, तब वे भयभीत हो गये। जिस परिवारमें प्लेगके प्रकोपसे एक व्यक्तिकी मृत्यु हुई है, उसे अपने साथ शरण देना जालान-बन्धुको निरापद प्रतीत नहीं हुआ। मौतकी आशङ्कासे उनका हृदय काँप उठा। उन्होंने श्रीभाईजीसे प्रार्थना की—'उस ब्राह्मण-परिवारको बगीचेमें शरण नहीं देनी चाहिये। हमलोग भी सपरिवार वहाँपर रहने लगे हैं। ब्राह्मणकी मृत्यु प्लेगसे हुई है। अतएव उसके परिवारवालोंके साथ रहनेमें सभीको प्लेग हो जानेका भय है।'

श्रीभाईजीने उन बन्धुकी बात सुन ली और उन्हें प्रेमपूर्वक समझाया—'उस असहाय परिवारको शरण देना हमलोगोंका कर्तव्य है। किसी घरका एक व्यक्ति यदि प्लेगसे मर जाय तो क्या उसके अन्य सदस्योंसे भी प्लेग हो जानेका भय करना चाहिये? जब रोगका प्रकोप हो रहा है, उस समय बिना किसी भेद-भाव अथवा अन्यथा विचारके अपनी शक्तिभर लोगोंको शरण देनी चाहिये।'

श्रीभाईजीकी इस सीखका कुछ भी प्रभाव जालान-बन्धुपर नहीं पड़ा। वे किसी भी हालतमें अनाथ ब्राह्मण-परिवारका बगीचेमें रहना स्वीकार नहीं कर सके। आत्म-रक्षाकी चिन्तामें उन्होंने श्रीभाईजीके प्रति अपने प्यार और सद्भावको भी कोई महत्त्व नहीं दिया।

श्रीभाईजीको जालान-बन्धुकी यह हठधर्मी एवं भय सर्वथा अनुचित प्रतीत हुए। उन्होंने जालान-बन्धुको स्पष्ट कह दिया—'बगीचेमें मैं रहूँगा तो ब्राह्मण-परिवार भी रहेगा। यदि ब्राह्मण-परिवारको बगीचेमें शरण नहीं मिलेगी तो मैं भी इस बगीचेमें नहीं रहूँगा।' श्रीभाईजीके इतना कहनेपर भी जालान-बन्धुने अपना निश्चय नहीं बदला। उधर श्रीभाईजी अपनी कर्तव्य-भावनापर अडिग थे। परिणामस्वरूप उन्होंने जल्दी ही श्रीगोरखनाथ-मन्दिरके उत्तरकी ओर श्रीबालमुकुन्दजी गुप्ताका बगीचा किरायेपर ले लिया और उसमें स्थानान्तरित हो गये। पीछे जब श्रीभाईजी बगीचा छोड़कर जाने लगे, तब जालान-बन्धुको अपनी हठधर्मीपर बड़ा विचार हुआ, किंतु श्रीभाईजी उनके उस आग्रहको मान नहीं सके।

(४)

यह कर्जा कौन चुकायेगा?

'ईद नजदीक आ गयी है। बच्चोंके कपड़े बनवाने हैं। यदि आप अपनी तीन दिनकी तनख्वाह मुझे एक साथ दे दें तो मैं उससे बच्चोंके कपड़े बनवा लूँ।'—बगदादके एक खलीफाकी बेगमने अपने पतिदेवसे कहा। ये खलीफा बड़े ही नेकनीयत और ईमानदार थे। राज-काज तथा प्रजाकी सेवाके बदले वे रोज शामको केवल तीन किरम (बगदादका उस समयका प्रचलित सिक्का) पुरस्काररूपमें लिया करते थे। राज्यकी धन-दौलतसे उनका कोई सरोकार नहीं था। वे उसे प्रजाकी वस्तु मानते थे और स्वयंको उसका ट्रस्टी—सँभाल करनेवाला।

खलीफाने गम्भीर भावसे कहा—'तुम आज यह क्या बात कह रही हो? राज्यके खजानेसे तीन दिनका पुरस्कार पेशगी ले लूँ? यदि मैं तीन दिन जिंदा न रहा तो यह कर्जा कौन चुकायेगा? तुम खुदासे मेरे लिये तीन दिनकी जिंदगीका पट्टा ला दो तो मैं तुम्हें राज्यके खजानेसे तीन दिनका पुरस्कार पेशगी लेकर दे दूँगा।'

बेगम पतिदेवका उत्तर सुनकर चुप हो गयी ।

(५)

सच्चे विश्वासका प्रभाव

गाँवके बाहर एक छोटी-सी किरानेकी दूकान थी। दूकानदारका स्वभाव इतना अच्छा था कि गाँवके सभी लोग उसकी दूकानसे माल खरीदना चाहते थे। दूकानदार प्रभुभक्त था। रात्रिमें चौकमें बैठकर वह सुमधुर कण्ठसे भजन गाता था। गाँवके लोग वहाँ आकर भजन सुनते थे तथा स्वयं भी प्रेमसे गाते थे।

जैसा लोगोंका विश्वास व्यापारीके ऊपर था, वैसा ही दृढ़ विश्वास व्यापारीका भी लोगोंके ऊपर था। दोपहरको भोजन करनेके लिये अपने घर जानेके समय दूकानपर बैठे हुए किसी भी व्यक्तिको वह दूकानदार अपनी दूकान सौंपकर भोजन करने चला जाता था। यह उसका नित्यका क्रम बन गया था।

एक दिन दोपहरके समय उसकी दूकानपर एक प्रसिद्ध डाकू आया और वहीं बैठ गया। कोई भी उसे पहचानता नहीं था कि वह डाकू है। भोजनका समय होते ही दूकानदारने उस डाकूको अपनी दूकान सौंप दी और स्वयं घर चला गया। उसके जानेके बाद वह डाकू दूकान-पर बैठ गया और दूकानका लेन-देनका काम करने लगा।

उस समय डाकूकी टोलीका एक आदमी कुछ खरीद करनेके लिये आया और दूकानपर अपने साथीको ही बैठा हुआ देखकर उसने कहा—'दोस्त! बहुत अच्छा मौका मिला है, आज दोपहरके समयमें हाथ मारनेमें कोई मुश्किल नहीं। एक ही बारमें बेड़ा पार हो जायगा।'

'तुम जल्दीसे चले जाओ यहाँसे!'—दूकानपर बैठे हुए डाकूने लाल आँखें करके कहा। 'ऐसा विश्वासघात करनेसे तो हमारा सर्वनाश हो जायगा। यदि इस समय दूकानके प्रति तुम कुदृष्टि डालोगे तो तुम्हारी खैर नहीं।' अपने साथीसे इस प्रकारका उत्तर पाकर वह व्यक्ति चुप हो गया और अपनी आवश्यकताकी वस्तु खरीदकर चुपचाप लौट गया।

थोड़ी देरमें भोजन करके दूकानदार लौट आया। दूकान सँभाले हुए डाकूने खड़े होकर कहा—'महाशय! सँभाल लीजिये आपकी यह दूकान और गिन लीजिये पैसे; कोई हेर-फेर तो नहीं हुआ?'

'अरे भाई'—दूकानदार बोला। 'इस प्रकार क्यों बोलते हैं आप? मैं तो आपपर पूरा विश्वास करके ही दूकान सौंपकर गया था, फिर देखने-सुननेकी बात ही कहाँ है।'

दूकानदारके मुखसे ऐसे आत्मीयताभरे शब्द सुनकर डाकूका हृदय भर आया। उसने झुककर दूकानदारके चरणस्पर्श किये और अपना परिचय दिया। इतना ही नहीं, उसने प्रतिज्ञा की कि 'अब भविष्यमें कभी चोरी या डकैती नहीं करूँगा।'

एक अत्यन्त सामान्य व्यक्तिके ऊपर विश्वास करके उसके जीवनमें परिवर्तन लानेवाले दूकानदारका नाम था—'संत तुकाराम।' 'सुविचार'

—उपेन्द्र पंचाल

(६)

विश्वम्भर सबको सँभालता है

अपने उत्तरभारतके प्रवासकालमें स्वामी विवेकानन्द मध्याह्नमें एक छोटे-से स्टेशनपर रेलगाड़ीसे उतरे। उनके पास कपड़ेके रूपमें कौपीनके अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। साथमें पीनेका पानीतक नहीं था। बड़े जोरकी लू चल रही थी। प्लैटफार्मपर वे एक वृक्षकी छायामें बैठने गये, पर वहाँसे उठा दिये जानेपर एक खंभेका सहारा लेकर बैठ गये।

सामने ही एक बनिया एक छप्परमें दरी बिछाकर बैठा था। उसने स्वामीजीके साथ ही गाड़ीमें यात्रा की थी। यात्राकालमें स्वामीजीके पास पैसा न होनेसे वे पानीतकके लिये त्रस्त रहे और शरीर प्याससे जल रहा था। बनिया तो बीचमें प्रत्येक स्टेशनपर ठंडा पानी मँगवाकर पीता रहा और स्वामीजीसे कहता रहा—

'हे साधु भाई! देखो मैं कितना ठंडा पानी पी रहा हूँ। अगर तुम मेहनत करके पैसा कमाओ तो इसी तरह ठंडा पानी और सुस्वादु भोजन मिलता रहेगा।'

अब वही बनिया स्वामीजीके सामने छप्परमें बैठकर उनका मजाक उड़ा रहा था। जब वह दरी बिछाकर मौजसे भोजन करने लगा, तब स्वामीजी थोड़े आड़में पड़ गये। फिर भी वह उनको सुना-सुनाकर कहने लगा—

'देखो बाबाजी ! मैं किस तरह लड्डू, पूड़ी, जलेबी आदिका मजा ले रहा हूँ और आरामसे छाँहमें बैठा हूँ। तुम भूखसे तड़प रहे हो ।'

यों बोलते-बोलते वह हँसने लगा । उसकी ऐसी धृष्टता देखकर भी स्वामीजी चुपचाप बैठे रहे ।

इसी बीच भगवान्की कृपासे एक हलवाई आता हुआ दीख पड़ा । उसके एक हाथमें पोटली थी, दूसरे हाथमें जलपात्र तथा बगलमें दरी थी । जल्दी-जल्दी आकर उसने जलपात्र और पोटलीको नीचे रख दिया एवं वृक्षकी छाँहमें दरी बिछाकर हाथ जोड़कर स्वामीजीसे कहा—

'बाबाजी ! पधारिये और भोजन कर लीजिये ।'

स्वामीजी आश्चर्यसे देखते रहे । उन्होंने सोचा—'मुझे भोजन देनेवाला यह ईश्वरभक्त कहाँसे निकल आया ।' स्वामीजीने कहा—

'भाई ! मैं तो तुम्हें पहचानता नहीं; कदाचित् तुम किसी दूसरेके लिये भोजन लाये हो ।'

स्वामीजीकी बातके बीचमें ही वह बोल उठा—

'नहीं, महाराज ! यह भोजन तो मैं आपके लिये ही लाया हूँ । मैं देख रहा हूँ कि वे आप ही हैं, जिनके लिये मैं भोजन लाया हूँ ।'

स्वामीजीने फिर कहा—'तुम मुझे अच्छी तरह देख लो ।'

आगन्तुक सज्जनने उत्तर दिया—''देखिये स्वामीजी ! मैं आपसे अपनेमें बीती बात बताता हूँ । इस स्टेशनपर मेरी दूकान है । मैं हलवाई हूँ । अभी थोड़ी देर पूर्व मेरी आँख लग गयी थी, तब स्वप्नमें मुझे श्रीरामजीके दर्शन हुए । आपका भी दर्शन कराते हुए उन्होंने कहा—'मेरा यह भक्त पिछले दिनसे भूखा है । उसके लिये जल्दीसे पूड़ी और साग तैयार कर लो तथा जाकर उसको भोजन कराओ । साथमें ठंडा पानी भी लेते जाओ; क्योंकि इस समय ठंडा पानी नहीं मिलता ।' इसी बीचमें मेरा स्वप्न टूट गया और मैं श्रीरामजीकी आज्ञाके अनुसार पूड़ी और साग बनाकर तथा थोड़ी ताजी मिठाई रखकर ले आया हूँ । आप भोजन कर लीजिये ।''

स्वप्नकी बात सुनकर तथा भगवान्के सौहार्दका स्मरण करके स्वामीजीके नेत्र भर आये । वे चुपचाप बैठ गये और भगवान्का भेजा हुआ प्रसाद पाने लगे ।

दूर बैठा बनिया यह सब देखकर आश्चर्यचकित हो गया । उसे अनुभव हुआ—'मैंने स्वामीजीके साथ अभद्र व्यवहार किया है, अपनी अभद्रताके लिये मुझे उनसे क्षमा माँगनी चाहिये ।' वह स्वामीजीके पास आया और उनके चरणोंपर गिर पड़ा तथा अपने अभद्र व्यवहारके लिये क्षमा माँगने लगा । इतना ही नहीं, उसने स्वामीजीके चरणोंकी धूल लेकर अपने मस्तकपर चढ़ायी ।

स्वामीजीके मनमें तो कुछ था ही नहीं । वे तो विश्वम्भरकी वत्सलताका स्मरण करके गद्गद हो रहे थे ।

(७)

शिष्यको गुरुके चरणोंमें उपस्थित होना ही चाहिये

'डाक्टर ! आप मुझे शरीर-शास्त्रकी दृष्टिसे रंगका विश्लेषण नहीं सिखायेंगे ?' भारतके ही नहीं, विश्वके प्रसिद्ध वैज्ञानिक नोबेल-पुरस्कारप्राप्त डा० सी० वी० रामन्ने एक युवक वैज्ञानिकसे प्रश्न किया । इस युवक वैज्ञानिकने शरीर-शास्त्रकी दृष्टिसे रंगका अध्ययन किया था और डाक्टर रामन्का भौतिक-शास्त्रकी दृष्टिसे रंगका अध्ययन था ।

डा० रामन्के प्रश्नको सुनते ही युवक वैज्ञानिक आश्चर्यचकित हो गया । उसके लिये यह अकल्पनीय बात थी । इतने महान् वैज्ञानिक उससे वार्तालाप ही कर लें—यह उसके लिये गौरवकी बात थी; फिर वे उससे कुछ सीखनेकी इच्छा प्रकट कर रहे हैं—यह देखकर युवकका हृदय भर आया । उसने बड़ी ही नम्रतासे निवेदन किया—'महाशयजी ! मैं आपके समक्ष एक नगण्य विद्यार्थी हूँ । हाँ, आपकी सेवामें अपने अध्ययनके विषयकी कुछ जानकारी निवेदन करनेमें मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी । आप अपनी सुविधाका समय बतानेकी कृपा करें; मैं उसी समय अपने विषयका साहित्य, चार्ट, नक्शे आदि लेकर सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा ।'

डाक्टर रामन्ने सहज भावसे हँसते हुए उत्तर दिया—'डाक्टर ! हमलोग भारतीय हैं । हमारे देशकी यह गौरवमयी परम्परा है कि शिष्य गुरुके चरणोंमें उपस्थित होता है । जिससे कुछ सीखा जाय, वही गुरु । मैं आपसे एक विषयकी

जानकारी प्राप्त करना चाहता हूँ; आप उस विषयमें मेरे गुरु होंगे । अतः मुझे आपके पास आना ही चाहिये । आप अपना समय बता दें, मैं उसी समय आपके पास आ जाऊँगा ।'

डाक्टर रामन्‌के ये शब्द इतनी आत्मीयतासे पूर्ण थे कि युवक वैज्ञानिकको समय बताना पड़ा । डाक्टर रामन् एक शिष्यकी विनम्रता, आदरभाव और जिज्ञासा लेकर वैज्ञानिकके यहाँ गये ।

(८)

कर्त्तव्य-भावना

अपने एक स्नेहीसे, जो अस्पतालमें भर्ती थे, मिलनेके लिये मैं गया । परस्पर कुशल-समाचार पूछनेके बाद हम बैठे-बैठे बातचीत कर रहे थे कि हमलोगोंके पाससे एक सज्जन निकले । मेरे स्नेही भाईने उनका परिचय देते हुए कहा—'ये सज्जन प्रत्येक रोगीके बिछौनेपर जाकर प्रतिदिन दतुअन दे जाते हैं ।' मैंने अनुमान लगाया कि यह व्यवस्था अस्पतालकी ओरसे होगी । हमलोग इस सम्बन्धमें चर्चा कर ही रहे थे कि वे सज्जन हमारे पास आये और मेरे स्नेहीको उन्होंने दो दतुअन दिये । वे सफेद सादे कपड़ोंमें थे और उनकी अवस्था लगभग पैंतीस वर्षकी होगी ।

मेरे स्नेहीने उनसे प्रश्न किया—'यह कार्य आपको अस्पतालवालोंकी ओरसे सौंपा हुआ है क्या ?' इसके उत्तरमें वे बड़ी नम्रतासे कहने लगे—'नहीं, मैं यह कार्य स्वयंकी प्रेरणासे ही कर रहा हूँ । दतुअन-जैसी तुच्छ वस्तुसे यदि मानव-सेवाका कार्य हो सकता हो तो उसमें कर्त्तव्य-पालनका संतोष तो मिलता ही है ।'

'इस कार्यके लिये आपको कहींसे सहायता मिलती है ? अगर कोई सहायता देना चाहे तो आप उसे स्वीकार कर सकते हैं या नहीं ?'—बीचमें ही मैंने प्रश्न किया ।

'जी हाँ' वे सज्जन बोले । 'सहायता ली जा सकती है, किंतु पैसेके रूपमें नहीं । दतुअनके रूपमें यदि कोई सहायता देना चाहे तो दे सकते हैं ।'

'दतुअनके बदले यदि कोई पैसा देना चाहे तो ?' मैंने फिर प्रश्न किया ।

'जी नहीं'—उन सज्जनने हँसते-हँसते उत्तर दिया । 'किसीको भविष्यमें ऐसी शङ्का होने लगे कि पैसे लेकर यह अपना लाभ उठाता होगा; अतः आरम्भसे ही यह निश्चय कर लिया गया है कि जिनको सहायता करनेकी इच्छा हो, वे दतुअन खरीदकर मुझे दे दें ।'

'कितना समय लगता है इस कार्यको करनेमें ?' मैंने पुनः पूछा । उन सज्जनने बताया—'प्रतिदिन तीन-चार घंटे तो लग ही जाते हैं । मैं शिक्षक हूँ, इतना समय तो सहजमें निकाल लेता हूँ ।'

'जैसे दतुअन प्राप्त करनेमें किसीकी सहायता मिल जाती है, वैसे ही इस वितरण-कार्यमें भी आपको किसीकी सहायता मिल जाती होगी ?' मैंने अन्तिम प्रश्न कर दिया ।

'यह सेवा बहुत छोटी है ।'—बड़ी ही नम्रतासे उन्होंने उत्तर दिया । 'आजके प्रवृत्तिमय युगमें ऐसे कार्यमें कौन ध्यान देगा ? हाँ, कभी-कभी मेरी पत्नी रोगियोंके पास दतुअन पहुँचानेके कार्यमें सहायता कर देती है । इस कार्यमें परिश्रम तो अधिक लगता है; परंतु जबतक शरीरमें शक्ति है, तबतक इस कर्त्तव्य-भावनाके निर्वाहमें मुझे बड़ा आनन्द मिलता है ।'

'आपने यह मौलिक सेवाका काम उठाया है'—मैंने धन्यवादके साथ वन्दन करते हुए कहा । '**सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**—सेवाधर्म बड़ा कठिन है, योगियोंके लिये भी वह अगम्य है ।'

'मैं धनवान् तो नहीं हूँ'—वे बोले । 'परंतु स्वयम्भू प्रेरणासे यह सेवाव्रत लिया है; आपलोगोंके सहयोगसे उसे परमात्मा निभा रहे हैं ।' यों कहते हुए वे दूसरे बिछौनेकी ओर आगे बढ़ गये । हम दोनोंने कर्त्तव्य-भावनासे अनुप्राणित उन महानुभावका हृदयसे वन्दन किया ।

'अखण्ड आनन्द' —बकुलेश हरिकेश भट्ट

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ४६

[साधारण अङ्क-संख्या २ से १२ तककी विषय-सूची। विशेषाङ्ककी विषय-सूची उसीके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है]

सं० २०२८-२०२९ वि०

सन् १९७२ ई०

की

निबन्ध, कविता और संकलित विषय

तथा

चित्र-सूची

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
[प्रकाशक—मोतीलाल जालान]

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य भारतमें रु० १०.००
विदेशके लिये रु० १६.०० (१८ शिलिंग)

साधारण अङ्क—बिना मूल्य

निबन्ध-सूची

पद्य

संकलित पद्य

संकलित

तिरंगे चित्र

रेखाचित्र

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

आकार—डबल-क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०२, सुन्दर तिरंगे चित्र १२, कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द, मूल्य ९.००, डाकखर्च २.३०, कुल लागत ११.३० ।

परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अत्यन्त निकटस्थ एक 'साधु'ने आजसे लगभग छब्बीस वर्ष पहले उनके प्रेमपूर्ण अनुरोधपर भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजलीलाओंका एक छोटा-सा शब्दचित्र प्रतिमास 'कल्याण'में देनेके लिये प्रस्तुत कर देना स्वीकार किया था और यह क्रम कई वर्षोंतक अनवरतरूपसे चलता रहा । वे शब्दचित्र 'श्रीकृष्ण-लीलाका चिन्तन' शीर्षकसे धारावाहिकरूपसे 'कल्याण'में छपते रहे । 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंके आग्रहसे उन्हींको पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया गया है ।

इस ग्रन्थमें लीलाओंका क्रम श्रीमद्भागवतके अनुसार रखा गया है और भगवान्‌के जन्मसे लेकर उनकी बाल-लीलाओं एवं पौगण्ड-लीलाओंका ही वर्णन इसमें है । आशा है, पाठकोंको इस ग्रन्थके अध्ययनसे श्रीकृष्णकी दिव्य मनोहारिणी लीलाओंका अनुशीलन करनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी ।

श्रीमद्भागवतगान

(रचयिता—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीरामदत्तजी पर्वतीकर 'वीणा महाराज')

आकार—डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २८०, सचित्र, कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द, मूल्य ४.५०, डाकखर्च १.७०, कुल लागत ६.२० ।

श्रीपर्वतीकरजी संत तथा परमभागवत भक्त हैं । यह किसी कविके द्वारा रचित ग्रन्थ नहीं है, इसके पीछे है रचयिताका पवित्र भागवत-जीवन । इसी दृष्टिसे इस ग्रन्थको प्रकाशित किया गया है और इसी दृष्टिसे इसे पढ़ना-सुनना चाहिये; तभी इसका मर्म समझमें आयेगा । यों इसकी भाषा 'संतई' है, जो वर्तमान प्रचलित हिंदीसे भिन्न है । महाराष्ट्रके प्राचीन संतोंने जिस हिंदीमें काव्य-रचनाएँ की हैं, प्रायः उसी भाषामें इसकी भी रचना हुई है । आशा है, पाठकगण इस संत-रचित ग्रन्थसे लाभ उठायेंगे ।

श्रीनारायणीयम्

(सरल भावार्थसहित)

आकार—डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ४०४, विश्वविमोहन मोहनका सुन्दर तिरंगा चित्र, कपड़ेकी मजबूत सुन्दर जिल्द, मूल्य ३.००, डाकखर्च १.६०, कुल लागत ४.६० ।

यह छोटा-सा स्तोत्रात्मक काव्य केरल-प्रदेशनिवासी विद्वान् भक्त श्रीमद्भनारायणतिरिकी रचना है । इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की गयी है और श्रीमद्भागवतके प्रायः सारे प्रसङ्ग संक्षेपमें वर्णित हैं । इस ग्रन्थरत्नमें कुल १०३६ पद्य हैं । पूरा ग्रन्थ सौ दशकोंमें विभक्त है; इनमेंसे एक दशकमें नौ तथा शेषमेंसे कुछमें दस और कुछमें ग्यारह पद्य निबद्ध हैं । भक्ति-रसका परिपोषक होनेके कारण यह 'स्तोत्ररत्न' तो है ही, काव्यगुण भी इसमें प्रचुर मात्रामें होनेसे इसे 'काव्यरत्न' भी कह सकते हैं । श्रीमद्भागवतके समान इसे भी लोग आशीर्वादात्मक ग्रन्थ मानते हैं । केरल-प्रदेशमें लौकिक मनोरथोंकी सिद्धिके लिये श्रीमद्भागवतकी तरह इसका भी लोग पारायण करके अभीष्ट-लाभ करते हैं । आशा है, भगवदनुरागी लोग इससे लाभ उठायेंगे ।

[महर्षि वेदव्यासप्रणीत]

श्रीनरसिंहपुराण

(मूल संस्कृत हिंदी-अनुवादसहित)

आकार—डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २७८, सचित्र, मूल्य ३.००, डाकखर्च, १.७० कुल लागत ४.७० ।

इस पुराणकी गणना यद्यपि उपपुराणोंमें है, तथापि यह एक परम प्राचीन ग्रन्थ है । यह पुराण सभी प्रकार पवित्र, आकर्षक, धर्म-सदाचारादिके उपदेशोंसे सुसज्जित, भगवद्भक्ति एवं ज्ञान-विज्ञानसे ओत-प्रोत है । भगवान् विष्णुके अवतारोंकी कथा इसमें विस्तारसे प्रतिपादित है । यह 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें निकल चुका है; परंतु पाठकोंके आग्रहवश अब इसे अलगसे प्रकाशित किया गया है । आशा है, श्रेयस्कामी भक्त एवं विद्वान् पाठक इससे लाभ उठायेंगे ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

'कल्याण'के कृपालु हितैषियों, ग्राहकों और पाठकोंसे नम्र-निवेदन

(१) भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे इस अङ्कमें 'कल्याण'का ४६ वाँ वर्ष पूरा हो रहा है। मार्च १९७१ में हमारे परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके नित्यलीलालीन हो जानेपर हम सर्वथा असहाय हो गये थे और सोच नहीं पा रहे थे कि 'कल्याण' किस प्रकार चलेगा; परंतु भगवान्‌की मङ्गलमयी इच्छा, प्रेरणा एवं शक्तिसे आरम्भ हुआ 'कल्याण' उनकी इच्छा और कृपासे निरन्तर विकसित होता रहा और आशा है, भविष्यमें भी इसी प्रकार विकसित होता रहेगा। इन २१ मासमें भी उस कृपाने ही सँभाला है उसे। श्रीभाईजी भी अपरोक्षरूपमें हमें सँभाले हुए हैं ही। २१ मासकी यह अर्चना कितनी सरस, कितनी सुवासित तथा कितनी भावपूर्ण हुई है, यह तो हमारे सहृदय पाठक-पाठिकाएँ ही जानते हैं; हम तो उसमें त्रुटि-ही-त्रुटि अनुभव करते हैं।

भगवान्‌की मङ्गलमयी व्यवस्थाके अनुसार देशके सभी प्रमुख आचार्यों, महात्माओं, संतों, विद्वानों, विचारकों, भक्तों आदिने 'कल्याण'को उसके प्रवर्तनकालसे ही अपना माना है तथा अपने आशीर्वाद, सत्परामर्श एवं अमूल्य रचनाओंद्वारा इसे परम उपादेय और समुन्नत करनेका प्रयत्न किया है एवं इसके प्रचार-प्रसारमें भी अकथनीय सहयोग दिया है। हम अपने उन सभी गुरुजनों, प्रेमियों, हितैषियों, स्वजनोंके ज्ञात-अज्ञात उपकारों, सौहार्द एवं आत्मीयताके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं। हमारी उन सभी महानुभावोंके श्रीचरणोंमें विनम्र प्रार्थना है कि भविष्यमें भी वे अपना सहज आशीर्वाद एवं सहयोग इसी प्रकार प्रदान करते रहें।

(२) आगामी विशेषाङ्क 'श्रीविष्णु-अङ्क'में भगवान् श्रीविष्णुसे सम्बद्ध सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयोंपर प्रामाणिक एवं सुरुचिपूर्ण सामग्री रहेगी। भगवान्‌के चौबीस अवतारोंके चरित भी विभिन्न ग्रन्थोंके आधारपर तैयार करवाकर दिये गये हैं। अङ्कका कार्य तेजीसे चल रहा है। आशा है, जनवरीके अन्तिम सप्ताहतक अङ्क तैयार हो जायगा और फरवरीके प्रथम सप्ताहसे उसे ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें भेजना आरम्भ कर दिया जायगा। ग्राहक महानुभाव उस अवधितक कृपया धैर्य रखें, पत्र-व्यवहार न करें तथा इस विलम्बके लिये अपने शील एवं सौहार्दकी ओर देखकर हमें क्षमा करें।

(३) इस वर्ष भी 'कल्याण'का मूल्य दस रुपये ही है। ग्राहकोंको शीघ्र अपना वार्षिक शुल्क भेज देना चाहिये। नये ग्राहकोंको भी शीघ्र रुपया भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है। रुपये भेजते समय पुराने ग्राहक मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। नाम, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें। रुपये व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये। जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ ही 'कल्याण'-कार्यालयको डाक-खर्चकी हानि न सहनी पड़े। इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। वैसे सजिल्द अङ्कका मूल्य ११.५० (ग्यारह रुपये पचास पैसे) है।

—सम्पादक